भारतीय सभ्यता

तथा

संस्कृति का विकास

बी. एन. लुणिया, एम. ए.
भू. पू. प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट आर्ट्स एण्ड
कॉमर्स कॉलेज, इन्दौर (म०प्र०)

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल : आगरा-३

मूल्य : रु० 22·00

मुद्रक : प्रिन्टवैल, धूलिया गंज, आगरा–3

द्वादशम् संस्करण

इस संस्करण को आद्योपान्त संशोधित किया जाकर समस्त त्रुटियो का निराकरण किया गया है तथा भाषा सम्बन्धी अनेक असगतियो को भी भरसक सुधारने की चेष्टा की गयी है। फिर भी, पाठको से निवेदन है कि जहाँ कोई भी कमी अनुभव हो, उसे हमारी दृष्टि मे लाने की कृपा करे। आशा है, सदैव से अपनाये जाने वाले इस ग्रन्थ को उसी प्रकार मान्यता मिलती रहेगी।

—बी. एन. लुणिया

पूर्व संस्करण

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास' का यह संस्करण पाठको व विद्यार्थियों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। बारह वर्षों की अल्पावधि मे इस पुस्तक के ग्यारह सस्करणो की समाप्ति से, जो उसकी लोकप्रियता का द्योतक है, पुस्तक को प्रत्येक बार सशोधित व परिवर्द्धित करते रहने मे हमें सदैव रुचि रही है और उससे हमारा उत्साह भी बढा है। फिर भी, सम्भव है कि इस सस्करण मे कुछ अभाव रह गया हो, किन्तु हम आशा करते हैं कि भारतीय संस्कृति मे रुचि रखने वाले पाठक व विद्यार्थी इसको पहले के समान ही अपनावेंगे।

—बी. एन. लुणिया

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास को काव्य के अतिरिक्त शायद ही कभी रुचिकर बनाया गया हो, यह कार्य कठिन ही प्रतीत हुआ। फलत भारत का गौरवपूर्ण अतीत कतिपय विद्वानो को छोडकर अज्ञात ही रहा। फिर भी कुछ वर्षों से विद्वान इतिहासज्ञों के अकथनीय प्रयत्नों ने भारतीय इतिहास पर खूब प्रकाश डाला है परन्तु उसके अनुसन्धान प्रमुखतया विशेषज्ञो के लिए ही सीमित रहे। परिणामस्वरूप, भारत के आध्यात्मवाद और सस्कृति से आज भी अनेक व्यक्ति अवगत नही है। बहुत-से भारतीयों को न तो भारत के अतीत की गौरव-गाथा ही मालूम है और न भारतीय सस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त ही। आज भी उन्हे यह ज्ञात नही है कि विश्व की संस्कृति को भारत की क्या देन रही है।

आज जब भारत उत्कर्ष के मार्ग पर रथारूढ हुआ चला जा रहा है और एशिया का अग्रणी बन रहा है, हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि हम धर्म, कला, साहित्य, राजनीति, समाज आदि के क्षेत्र मे भारत की सफलता-सिद्धियो को विश्व के सम्मुख प्रकट करे। अब तो विश्व के विभिन्न देश भी भारतीय सस्कृति के प्रति अधिक जागरूक हो रहे है। जनसाधारण का अनुराग भी भारतीय सस्कृति मे दिन-प्रतिदिन बढ रहा है। जिस सस्कृति ने विश्व को भगवान बुद्ध के समान धर्म-प्रवर्तक, अशोक और अकबर, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और हर्ष, कृष्णदेवराय और शिवाजी जैसे शासक, महात्मा गाँधी जैसे महान् सन्त और राजनीतिज्ञ; कालिदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि, वराहमिहिर और आर्यभट्ट, जगदीशचन्द्र बोस और चन्द्रशेखर वेंकटरमण जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक; अजन्ता और बाघ के भित्ति-चित्र, साँची और बोरूबुदर के भव्य कलात्मक स्तूप और समस्त भारत मे बिखरे हुए मन्दिरो और मस्जिदो, राजप्रासादो और दुर्गों की अनमोल निधि दी है, उस सस्कृति को न समझना या उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखना घोरतम अपराध है।

अतएव प्रस्तुत पुस्तक मे मैने भारतीय सस्कृति और सभ्यता के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालने का साहस किया है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का सरल और मनोरंजक रूप से विवेचन करने का प्रयास मैने इन पृष्ठो में किया है। सस्कृति की परिभाषा लिखना कठिन है। मैने यहाँ भारतीय सस्कृति मे मोटे रूप में उन सभी अंगो, उपागो और आन्दोलनो को सम्मिलित कर लिया है, जिन्होने हमारे सामाजिक व राजनीतिक विचारो, धार्मिक और आर्थिक जीवन, कला और साहित्य, शिष्टाचार व नैतिकता आदि को ढाला है। मैने भारतीय इतिहास की सूक्ष्म बातों, अपरिचित नामो और अज्ञात घटनाओ को टाल दिया है तथा अपने आपको जानबूझकर भारतीय सस्कृति के अगो और आधारभूत सिद्धान्तो तक सीमित रखा है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रमुख ध्येय भारतीय सभ्यता व सस्कृति की प्रधान विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए उनके क्रमिक विकास का विवेचन करना है। भारतीय सस्कृति की अपनी मौलिकता है, उसकी अपनी विशिष्टताओ का अलग ससार है। इसकी प्रथम विशेषता

का प्रारम्भिक साहित्य वश-परम्परानुकूल मौखिक रूप से उत्तराधिकारियो को प्राप्त होता रहता था।

इस युग के ऐसे विशाल भवनों के हवाले है जो सहस्रों स्तम्भों पर आधारित थे तथा जिनमें सहस्रो द्वार होते थे। साथ ही पाषाण-प्रासादो तथा सहस्रो दीवारों वाले भवनो का भी विवरण है। ये सब यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि ऋग्वेदकालीन भारत मे स्थापत्य-कला की समुचित उन्नति हो चुकी थी। कुछ विद्वानों के अनुसार इन्द्र की मूर्तियों के प्रकरण यह सकेत करते है कि उस युग में तक्षण-कला (भास्कर्य) का सूत्रपात हो चुका था।

औषधि-विज्ञान ने भी कुछ प्रगति कर ली थी। इसने अनेक रोगो की विभिन्नताओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। परन्तु चिकित्सक (भिषक) अभी तक रोगो का ज्ञाता तथा पिशाच-नाशक समझा जाता था। स्वास्थ्यप्रद जड़ी-बूटियों तथा औषधियो के समान ही जादू-टोना एव मन्त्र प्रभावोत्पादक तथा गुणकारी माने जाते थे। प्राकृतिक टाँगो के स्थान पर लोहे की टाँगों का प्रयोग यह सकेत करता है कि शल्य-शास्त्र मे भी कुछ प्रगति हो चुकी थी। प्राकृतिक ज्योतिर्विज्ञान में भी निश्चय ही उन्नति हुई थी और कुछ तारागणो का निरीक्षण कर उनका नामकरण भी कर दिया गया था।

धर्म—अपने वैदिक जीवन के अन्य दृष्टिकोणो के समान ही प्राचीन आर्यो का धर्म भी सादा तथा सरल था। वे अनेक दैवी शक्तियों तथा प्राकृतिक शक्तियो, जैसे सूर्य, चन्द्र, आकाश, ऊषा, मेघ-ध्वनि, मरुत तथा वायु की उपासना करते थे। जहाँ कही भी आर्यो को किसी जीवित शक्ति का आभास मिला, वही उन्होने एक देवता की सृष्टि कर दी। अतएव अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे देवतागण प्राकृतिक शक्तियो के प्रतीक मात्र थे। धीरे-धीरे वे उन वस्तुओ से पृथक् कर दिये गये जिनका मौलिक रूप में वे प्रतिनिधित्व करते थे और अन्त में स्वय उनकी ही उपासना होने लगी। परन्तु उनकी वास्तविक प्रकृति का विस्मरण कभी न हो पाया था और अब हमारे लिए यह अनुमान लगा लेना अधिक सम्भव है कि प्रत्येक देवता के पीछे कौनसी प्राकृतिक शक्ति अन्तर्निहित थी।

आर्यो का धर्म बहुदेववाद था और यह स्वाभाविक ही था क्योकि सूक्तो का प्रजनन पुरोहितो के दीर्घकालिक प्रयास का परिणाम है एवं उनमे अनेक 'जनों' के विविध देवताओ का स्तवन समाहृत है। मरुत तथा आदित्य के समान सामूहिक देवताओ के अतिरिक्त आर्यो के तेंतीस देवता और थे जो (1) स्वर्गस्थ, (2) आकाशस्थ, तथा (3) पार्थिव वर्गो में विभक्त थे। इनमें वरुण, द्योत, अश्विन, सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषण और विष्णु प्रथम वर्ग के; इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्यादि द्वितीय वर्ग के, और पृथ्वी, सोम, अग्न्यादि तृतीय वर्ग के है। कुछ देवताओ के स्वभाव का सक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है। द्योत (आकाश) पिता, नभ का चमकता हुआ देवता, तथा पृथ्वी माता वैदिक देवताओ मे सबसे प्राचीनतम है, परन्तु ऋचाएँ कठिनाई से ही उनकी प्राचीन महत्ता का आभास प्रकट करती है। कालान्तर मे नभ के देवता वरुण तया मेघ-गर्जन व वर्षा के देवता इन्द्र ने इन देवताओ को पृष्भभूमि मे डाल दिया था। प्राचीन वैदिक देवगणो मे वरुण सर्वोत्कृष्ट देवता था। यह यथार्थ सत्य और नैतिकता (ऋत) का अधिपति माना जाता था। विश्व के त्रिकालदर्शी शासन के रूप मे उनकी कल्पना की गयी थी तथा कोई भी पापी उसकी सतर्क दृष्टि से नही बच सकता। वह सर्वत्र एव सर्वसाक्षी माना गया था। पाप-शान्ति के लिए लोग

उससे क्षमायाचना करते थे, जैसा वाद में विष्णु से करने लगे थे। वरुण के प्रति कुछ अत्यन्त सुन्दर व शालीन सूक्त ऋषियो ने गाये है। वरुण के वाद इन्द्र का स्थान है। यह सर्वाधिक लोकप्रिय देवता था। इसकी स्तुति मे सवसे अधिक ऋचाएँ ऋग्वेद-संहिता मे पायी गयी है। वैदिक देवताओ मे इन्द्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वह देवो का अग्रणी तथा अपरिमित शक्तिशाली था। प्राय हम उसे आकाशस्थ राक्षसो (वृत्र) से, जो वर्पा का जल चुरा ले जाने वाले समझे जाते थे, युद्ध करते देखते है। इन्द्र ने उनका पीछा किया, उन पर वज्र-प्रहार करके उन्हे पराजित किया एवं जल छीन लिया जो इन्द्र के उपासको के देश मे धाराओ मे गिरा। इस प्रकार जल वरसा कर वह भूमि की शुष्कता को दूर करता था। आर्यो के युद्ध एवं कृपि-प्रधान जीवन में इन्द्र विशेप सहायक था। वह उनके शत्रुओ का सहार करता एव उनके पुर-दुर्गो को चूर-चूर कर देता था। युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के हेतु आर्य उसका आह्वान करते थे।

इन्द्र के अतिरिक्त वायुमण्डल या आकाश के प्रमुख देवताओं मे मरुत (तूफान के देवता), वायु एव वात (पवन देवता), रुद्र (झझावात व विद्युत् के देवता) एवं पर्जन्य (वर्पा के देवता) थे। मरुत दैत्यो को तितर-वितर करने मे इन्द्र का सहायक था। रुद्र भयानक, भीषण चमक वाला तथा अत्यन्त क्रोधी देवता माना जाता था। उसकी उपासना में लेशमात्र भूल होने से वह क्रुद्ध हो जाता था।

पार्थिव देवताओ मे अग्नि, सोम, तथा सरस्वती प्रमुख माने जाते थे। अग्नि देवताओं का प्रमुख तथा संवाद-वाहक माना जाता था क्योकि भक्तो द्वारा दी हुई आहुति को देवताओ तक वही पहुँचाता था। इसके लिए विशेष उपासना व श्रद्धा की आवश्यकता होती थी क्योकि उसको भेट न देने से कोई भी यज्ञ-कर्म नही किया जा सकता था। दो सौ से अधिक सूत्र अग्नि की स्तुति में गाये गये है। ऋग्वेद के प्रथम सूत्र का यही देवता है। सोम का तर्पण भी अत्यधिक पुनीत समझा जाता था। वस्तुत. सोम एक पौधे का रस होता था जो पहाड़ियों पर उगता था और इससे विस्तृत कर्मकाण्ड करके एक मादक पेय पदार्थ निकाला जाता था जिसका प्रयोग धर्म-विधि के अनुसार किया जाता था एव यह रस देवताओं को भेटस्वरूप दिया जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसका प्रयोग करने वाला व्यक्ति इसके स्फूर्ति एवं आनन्ददायक प्रभाव के कारण स्वर्गद्वार तक पहुँच जाते थे। रहस्यपूर्ण ढग से सोम की समता चन्द्रमा के साथ की जाती थी, जो वनस्पति-जगत को नियन्त्रण करने वाला माना जाता था और जिसका प्याला सदैव अपनी कला की वृद्धि तथा क्षय के साथ साथ भरता तथा रिक्त होता रहता था। सूर्य देवता की उपासना ,मित्र (सूर्य के दानशील रूप का मानवीकरण), सूर्य (प्रकाशवान्), सवितृ (उत्तेजक), पूपण (पोपण), विष्णु उपक्रम (विस्तृत मार्ग पर चलने वाला सूर्य), सवितृ, अश्विन् (सम्भवतः प्रात. तथा सध्याकाल के तारे और कालान्तर में चिकित्सा के देवता) तथा ऊपा (प्रात काल की सुन्दर देवी) के रूप मे होती थी। "रात्रि मे पृथ्वी पर अधिकार कर लेने वाले अन्धकार रूपी दैत्यो का सूर्यदेव संहार करते है तथा दिन मे अपने विजय-रथ को आकाश-मार्ग द्वारा ले जाते है।"

धातृ (सस्थापन करने वाली), विधात्री (निर्दिष्ट करने वाली), विश्वकर्मन (सवका सृजन करने वाला), प्रजापति (प्राणियो का स्वामी), श्रद्धा (विश्वास) और मन्यु (क्रोध) नामक सूक्ष्म और अमूर्त्त देवता वाद मे प्रकट हुए।

वैदिक धर्म की विशेषताएँ—प्रथम, उपरोक्त देवताओं की शृंखला से यह भ्रान्ति न होनी चाहिए कि इनमें किसी प्रकार की उच्चावच परम्परा थी। आर्य ऋषियों ने प्रसंगवश सभी देवताओं की महिमा गायी है और एक दूसरे से बढ़ कर माना है। जिस-जिस क्षेत्र का जो-जो देवता है वह उस-उस क्षेत्र में प्रधान माना गया है और उसी मात्रा में उसकी स्तुति की गयी है। ऋग्वेद में श्रद्धा तथा मन्यु (क्रोध) जैसे अमूर्त्त देवताओं का भी गुणानुवाद है। देवियों में ऊषा का स्थान सबसे ऊँचा है। प्रभात की मनोरम आभा व छटा को देवी का यह रूप देना आचार्यों की सुन्दरतम कल्पना है। ऋग्वेद में उनके प्रति जो संगीतमय, सुकुमार तथा मनोरम ऋचाएँ गायी गयी हैं वे विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं। ऋग्वेद में तो सबसे अधिक काव्यमय प्रसंग है ही नहीं।

उपरोक्त वर्णित वैदिक देवताओं का प्रमुख स्वभाव उनकी दानशीलता तथा दया थी। उनकी अनुकम्पा की उपलब्धि हेतु उनकी आराधना की जाती थी। देवताओं की शक्ति उनके रक्षाकारक स्वरूप का एक आवश्यक गुण मात्र था किन्तु उनका यह प्रमुख लक्षण नहीं था। आर्य वैदिक देवताओं से भयभीत नहीं होते थे वे उन्हें मानव-जाति के मित्र मानते थे। अतः प्रार्थना द्वारा देवताओं की उपासना के अतिरिक्त आर्य लोग घृत, दूध, अन्न, आमिष तथा सोम का उपहार देकर उन्हें सन्तुष्ट किया करते थे। यह क्रिया सरल थी। इनमें मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ यज्ञ में हवि (आहुति) दी जाती थी। इस प्रकार देवताओं के प्रसादन के निमित्त आर्य यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। दूध, घी, अन्न, मांसादि की बलि प्रदान करते थे एवं स्तुति में मन्त्र गाते थे। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड में यज्ञ का प्रमुख स्थान है परन्तु यज्ञ स्वयं ही सब कुछ नहीं होते थे, अपितु ये तो देवताओं को प्रसन्न करने के साधनमात्र थे। यज्ञानुष्ठान यजमान को समृद्धि व सुख प्रदान करने वाले समझे जाते थे। वे किसी रहस्यात्मक भेद से परिपूर्ण नहीं होते थे तथा वे अपनी सामर्थ्य के आधार पर किसी याज्ञिक को कोई वरदान नहीं दे सकते थे।

द्वितीय, मृत्यु के उपरान्त जीवन के विषय में ऋग्वेद की ऋचाओं में कोई दृढ सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है। मृत्यु के पश्चात् शव चिता पर ले जाया जाता था जिसके साथ मृतक की पत्नी एवं सम्बन्धी भी जाते थे। यदि मृत पुरुष ब्राह्मण होता तो उसके दाहिने हाथ में लाठी रख दी जाती थी, यदि वह क्षत्रिय होता तो उसके दाहिने हाथ में धनुष रखा जाता था और वैश्य होने पर उसकी बैल हाँकने की छड़ी रख दी जाती थी। उसकी पत्नी उसके समीप तब तक बैठी रहती थी जब तक कि उसे "अरे महिला! उठो, और जीवित लोगों के लोक में जाओ" कह कर हटाया नहीं जाता था। इसके पश्चात् उस व्यक्ति के परिवार के अग्नि-स्थल (सम्भवतः चूल्हा) से लाई हुई आग से चिता प्रज्वलित की जाती थी तथा मृत पुरुष के लिए यह ऋचा पढ़ी जाती थी, "पुरखाओं के मार्ग पर जाओ!" (ऋग्वेद 10—14)। जब अग्नि-ज्वालाएँ शव को पूर्णतः भस्म कर देती थी, तब अस्थियाँ एकत्र कर ली जाती थी तथा उन्हें धो कर एवं कलश में रख कर गाड़ दिया जाता था। मृत्यु के पश्चात् जीवन के विषय में वैदिक विचार अत्यन्त ही अस्पष्ट थे। ऋग्वेद के नवें मण्डल में यह कहा गया है कि आत्मा मृत्यु के पश्चात् पितृलोक को चली जाती है जहाँ मृतकों का नरेश यम उसका स्वागत करता है और मृत पुरुष के कर्मानुसार उसे पुरस्कृत अथवा दण्डित करता है। बाद में प्रचलित आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त अभी तक विकसित नहीं हुआ था।

तृतीय, वैदिक काल के धार्मिक जीवन का प्रमुख लक्षण था पुरोहित-वर्ग की अनुपस्थिति। प्रत्येक गृहपति स्वयं पुरोहित था जो अपने गृह मे यज्ञ-अग्नि प्रज्वलित करता तथा मन्त्रोच्चारण करता था। धार्मिक विषयों पर मनन करने के हेतु लोग वनो मे जाकर कठोर तप नही करते थे।

चतुर्थ. ऋग्वेदकालीन ऋषि विश्व को अमंगलकारी कष्ट का स्थान नही मानते थे। लोगो में शरीर से मुक्ति प्राप्त करने तथा सासारिक बन्धनो से छुटकारा पाने के लिए कोई तीव्र उत्कण्ठा नही थी। उनके लिए विश्व उत्तम स्थान था। ऋग्वेद-कालीन ऋषियो की यह धारणा थी कि यह ससार धर्मपरायण पुरुषो के लिए उदार देवताओ के सरक्षण में सात्विक जीवन व्यतीत करने हेतु उचित स्थान है। अन्य स्थानो मे अधिक उच्च एवं आनन्दमय जीवन बिताने के लिए यह ससार सच्ची आधारशिला का कार्य करता है। ऋग्वैदिक काल के धर्म तथा दर्शन मे ससार को निराशावादिता से देखने का लेशमात्र भी सकेत नही है। अधर्म और अधर्मी व पापी मनुष्यों के भाग्य का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता है। मृत्यु के उपरान्त धर्मपरायण पुरुषो को प्राप्त होने वाले यश-गौरव पर अधिक जोर दिया जाता था। स्वर्ग तथा इससे भी अधिक उच्च स्थलो का उल्लेख आया है परन्तु नरक के लिए कोई शब्द प्रयुक्त नही हुए है। ऋग्वेदकालीन ऋषियो के लिए आध्यात्मिक पथ, आत्मा की सच्ची प्रगति की एक लम्बी पीढी में, यह एक सीढी (Rung) मात्र था। मनुष्य के वर्तमान तथा भविष्य के विषय मे कोई सघर्ष न था। धर्म, अर्थ व काम के बीच मे कोई विरोधाभास ही न था। यह कल्पना की जाती थी कि मानव सुन्दर समन्वय की एक ईकाई है।

पचम, वैदिक धर्म में पुरुष-भावों की प्रधानता थी। पृथ्वी, अदिति, ऊषा एव सरस्वती जैसी देवियो को अति निम्न स्थान प्राप्त था। इस बात मे वैदिक संस्कृति सिन्धु-घाटी-सस्कृति के, जहाँ मातृदेवी अपने पुरुष-साथी के बराबर है, विपरीत है। कालान्तर मे देवताओ की उत्पत्ति तथा उनकी सफलता-सिद्धि के विषय मे गाथाओं का आविर्भाव हुआ और प्रायः इनकी कल्पना अनुराग से मानव रूप मे होने लगी, परन्तु मनुष्य रूप मे उनकी मूर्तियाँ नही बनी थी। इसमे से एक के विषय मे यह कहा जाता है कि "उसका शब्द सुनायी देता है, परन्तु उसका आकार अदृष्ट है।" उस युग मे न तो मन्दिर थे, न वेदियाँ, न प्रतिमाएँ थी और न वश-परम्परानुकूल पुरोहित। इस प्रकार प्रारम्भिक वैदिक धर्म सर्वोच्च देवोपासक (Henotheism) था। इसका अर्थ यह है कि भक्त अपने देवता में सभी गुण मान लेता है और जिस देवता की वह आराधना करता है उसे सबसे बड़ा बताता है। उस समय लोगों का विश्वास एक देवता मे होता था। इसमें से प्रत्येक अपने अवसर पर सर्वोच्च देवता होता था, वह सृष्टि का सृजन करने वाला तथा पोषक होता था, वह मनुष्य को सबसे अधिक आनन्द प्रदान करने वाला होता था, और वह मनुष्य का सरक्षक और उसे समृद्ध बनाने वाला था। बहुदेववाद प्रचलित था। कालान्तर मे विशद कर्मकाण्ड प्रचलित हो गया तथा प्रकृति और देवताओं के विषय मे आर्यो के मत मे भी निश्चित परिवर्तन हो गया। ऋग्वेद की बाद की ऋचाओ मे एकेश्वरवाद की भावना और अद्वैतवाद की प्रवृत्ति के भी निश्चित सकेत प्राप्त होते है। उपासक प्रकृति की ऐश्वर्य-पूर्ण विलक्षणता का गुणगान करता था और सृष्टि तथा उसके सृजनकर्ता के रहस्यों को समझाने के लिए उसने सफल प्रयास भी किये। सार्वभौमिक एकता की भावना

का प्रतिविम्व ऋग्वेद की ऋचाओ मे झलकता है । ये ऋचाएँ यह वात भी प्रकट करती है कि ईश्वर एक है यद्यपि उसके अनेकों नाम है । 'सभी देवता एक ही जैसे हैं, केवल ऋषिगण उनका वर्णन विभिन्नता से करते है ।' (ऋग्वेद) । हिरण्यगर्भ सूक्त मे एकेश्वरवाद का सुन्दर प्रतिपादन है । इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन व नियन्त्रण करने वाली सर्वोच्च सत्ता का विचार अन्त मे समुचित हो गया था । इस मत ने पहले वाले मत को कि अनेकों देवता इस महान सृष्टि का नियन्त्रण करने में परस्पर एक-दूसरे का सहयोग कर रहे है, ढक दिया था । अतएव ऋग्वेदकालीन आर्यो का धर्म प्रगतिशील धर्म माना जा सकता है, जो प्रकृति से प्रकृति के रचयिता ईश्वर की ओर प्रगति कर रहा था ।

वैदिक धर्म एवं हिन्दू धर्म

ऋग्वेदकालीन धर्म वाद के हिन्दू धर्म से निम्न वातो में भिन्न है :

(1) ऋग्वेदकालीन धर्म मे मूर्ति पूजा का सर्वथा अभाव था । ऋग्वेद मे केवल एक ही स्थान पर इन्द्र की प्रतिमा का वर्णन है । प्राय' देवगणो की अभ्यर्थना मन्त्र द्वारा आहुति देकर की जाती थी । उस काल का धर्म यज्ञ-अनुष्ठान-प्रधान था । हिन्दू धर्म की भक्ति-प्रधान उपासना का उसमें सर्वथा अभाव था ।

(2) ऋग्वैदिक काल का प्रमुख देवता इन्द्र था । प्रारम्भ मे महत्त्वशाली देवता वरुण गौरव का कालान्तर मे विलुप्त हो गया था । धीरे-धीरे अनेक वैदिक देवताओ, जैसे पर्जन्य, ऊपा, मरुत, अग्नि आदि का भी लोप हो गया था । इनके स्थान पर हिन्दू धर्म मे तीन प्रमुख देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रादुर्भाव हुआ। इन तीनो मे से केवल विष्णु और रुद्र का उल्लेख ऋग्वेद मे है । परन्तु उस युग मे ये गौण देवता थे । हिन्दू धर्म के वाद मे आने वाले अनेक देवी-देवताओ का, जैसे, पार्वती, कुवेर, दत्तात्रेय आदि का वेदो मे उल्लेख नही है ।

(3) ऋग्वैदिक काल मे देवगणो मे नारीत्व को प्रधानता नही प्राप्त हुई थी । उस युग के अधिकाश देवता पुरुप ही थे परन्तु हिन्दू धर्म मे देवताओ की शक्तियाँ नारी रूप में पूजी जाती है । ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ उनकी शक्तियाँ सरस्वती, लक्ष्मी एव पार्वती का पूजन होता है ।

(4) ऋग्वैदिक काल का धर्म सदैव आशावादी तथा ओजस्वी रहा, उसमे निराशा एव विपाद को लेशमात्र भी स्थान न था, पर हिन्दू धर्म मे इस जीवन और पारलौकिक जीवन दोनो के लिए गहन चिन्तन एवं मनन है । वैदिक उपासक अपने इष्ट देवगणों से इस लोक की सुखदायक वस्तुओ, जैसे पशु, अन्न, तेज, विजय और आनन्द, वैभव आदि माँगता था । "उसका जीवन लट्ठ और लोहे का, खोज और विचार का, विजय और स्वतन्त्रता का, कविता और कल्पना का, मौज और मस्ती का था । उसका धर्म भी उसके अनुरूप ही था ।"

साधारण निष्कर्ष

सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त का विकास—ऋग्वेदकालीन आर्य पजाव तथा सीमान्त प्रदेश तक ही सीमित थे । यद्यपि यमुना तथा गगा का उल्लेख ऋग्वेद मे प्रसंगवश आया है, परन्तु आर्यो का भौगोलिक प्रसार सुदूर-पूर्व तक नही हो पाया था, क्योकि मध्यकालीन मुसलमानों की भाँति आर्यो का आगमन एवं प्रसार अवाध गति से निरन्तर नही हुआ था । अत यह सिद्धान्त स्वीकृत नही किया जा सकता कि शेप

भारत में आर्य लोग धीरे-धीरे बस गये थे। प्रथम, आर्य लोग अनार्यो के सम्पर्क में आये, उनमे घुलमिल गये और तत्पश्चात् पूर्व की ओर बढे। जब धीरे-धीरे आर्य लोग पंजाब मे बस गये थे, वे अपने मुखियाओ के नेतृत्व मे अनार्यों या दस्युओ से लड़े और उनकी भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। जब इस प्रकार प्रादेशिक सत्ता का विकास हुआ तब आर्य नेतागण नरेश बन गये। जब आर्यो के उपनिवेशों का प्रसार सिन्धु-गंगा के मैदान की ओर हुआ, उस समय भरत जाति के एक नवीन राज्य का आविर्भाव हुआ, क्योकि भरत जाति के अन्तर्गत आदिवासी अनार्यो की सख्या अधिक थी। यह नवीन राज्य एक भिन्न आधार पर सगठित हुआ था। पजाब के आर्य उपनिवेशो के 'नेता' राज्यो और इस भरत राज्य में कोई समानता न थी। अतएव इन दोनो राजनीतिक प्रणालियो मे सार्वभौमिक सत्ता के लिए सघर्ष होना अवश्यम्भावी था। इस प्रकार ऋग्वेद मे वर्णित दस राजाओ का महायुद्ध हुआ था। भारतीय इतिहास मे यह प्रथम प्रामाणिक घटना है। सिन्धु-गगा मैदान की भरत-जाति के राजा सुदास ने आर्यो के पहले के उपनिवेशो के दस मित्र-नरेशो से युद्ध किया था। वह घटना इस बात की ओर संकेत करती है कि दस राजाओ का युद्ध केवल आर्य लोगो का ही युद्ध नही था, अपितु अपने मुखियाओ के नेतृत्व मे अनार्य लोग भी दोनो ओर सम्मिलित हुए थे। इस युद्ध मे सुदास की विजय का परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा सुदूर प्रभावशाली हुआ। प्रथम, सुदास अपनी इस सफलता से सार्वभौमिक नरेश बन गया। विजित प्रदेशो को अपने राज्य मे मिलाने की अपेक्षा उसने वहाँ अपनी प्रभुता स्थापित कर दी। सुदास की विजय के फलस्वरूप विशाल राज्य बनाने के लिए पराजित राज्यो को अपने राज्य मे सम्मिलित करने की अपेक्षा विजयी नरेश की उन पर अपनी सार्वभौमिक सत्ता स्थापित करने की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। जो राजा शत्रु के प्रदेशो को अपने राज्य मे सम्मिलित कर लेते थे, वे धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले माने जाते थे। साधारण प्रथा यह हो गई थी कि विजित नरेश कर देवे और अपने अधिपति राजा की सार्वभौमिक सत्ता को स्वीकृत करे। अधिपति की यह भावना बाद मे सम्राट के रूप मे हो गयी। कालान्तर मे होने वाली दिग्विजय की भावना जिसमें स्थानीय शासको को निर्विघ्न छोड दिया जाता था, सार्वभौमिक नरेश की भावना के सिद्धान्त का प्रतिफल था।

आर्यों से पूर्व संस्कृति के लक्षणों से युक्त हिन्दू संस्कृति का समुदय एवं प्रारम्भिक विकास—दस राजाओ के युद्ध ने "आर्य" या विशुद्ध आर्यो का अन्त कर दिया था। पजाब के प्रारम्भिक उपनिवेश विशेषत: आर्यो के ही थे। परन्तु यमुना के पूर्व मे स्थित सुदास का नवीन राज्य था, जो विभिन्न छोटे-छोटे राज्यो से बना था और जहाँ आर्यो की जनसख्या थी यद्यपि वहाँ उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव था जो अपेक्षाकृत कम था। सुदास की विजय आर्यो एवं स्थानीय आदिवासी अनार्यो के सयुक्त सघ की विजय थी। वे यक्ष और अन्य जातियाँ जो सुदास की ओर से अपने ही राजा के नेतृत्व में लडी थी, अनार्य थी। अतएव इस विजय ने गगा के मैदान वाले आर्यो के नवीन उपनिवेश मे आर्यो तथा अनार्यों के बीच राजनीतिक सामजस्य स्थापित कर दिया।

अनार्यो और आर्यो के इस राजनीतिक एकीकरण और समन्वय का स्वाभाविक परिणाम आर्य नाम की एक सभ्यता का विकास था; पर यह विशेष रूप से विजित आदिवासियो की सभ्यता थी। आर्य और अनार्य लोगो के सयोग एवं समन्वय से हिन्दू सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें आर्यो के पूर्व की सभ्यता व सस्कृति के चिह्न

अभी भी अवशिष्ट है। इसका सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण आर्यो के उस दृष्टिकोण से प्राप्त होता है जो उन्होने अनार्यो के लिगम् और उस ईश्वर के प्रति, जिसका वह प्रतीक है, अपनाया था। इस विषय मे ऋग्वेद मे (7, 21-5) एक महत्त्वशाली उल्लेख मिलता है, 'जिनका देवता 'लिंग' है, वे हमारे पुण्यस्थल में प्रविष्ट न होने पावे।' आर्यो के पूर्व की सभ्यता की इस लिंग-उपासना के प्रति आर्यो का जो भय था, वह बाद मे जाता रहा। वैदिक कर्मकाण्ड में लिंग-उपासना को कालान्तर में स्वीकार कर लिया जाता है और 'लिंगम्' को अश्वमेध यज्ञ तक में स्थान प्राप्त हो जाता है। बाद के वेदो मे तो अनार्यों के देवता शिव, पशुपति अधिक महत्त्वशाली स्थान प्राप्त कर लेते है और यजुर्वेद के युग से तो शिव बडे महान देवता का रूप धारण कर लेते है।

आर्यो एव अनार्यो के हेल-मेल से नवीन हिन्दू-सस्कृति का समुदय हुआ जिसमें अनार्यो की सभ्यता एव सस्कृति के चिह्न है—इस कथन की पुष्टि के लिए दूसरा स्पष्ट प्रमाण यह है कि उत्तर वैदिक सभ्यता के युग मे आर्य देवतागण धीरे-धीरे विलुप्त हो जाते हैं। 'वरुण' जिसकी स्तुति मे अनेक ऋचाएँ रची गयी थी, आर्यों के देवगण-समूह से लुप्त हो जाता है और केवल दिक्पाल मात्र रह जाता है। 'वायु' धीरे-धीरे पृष्ठभूमि मे चला जाता है और प्रारम्भिक वैदिक युग मे नगरों का शक्तिशाली सहारक और यज्ञ के प्रधान भाग का उपभोक्ता इन्द्र भी निम्न स्वर्ग का अधिराज-मात्र रह जाता है, जहाँ वह विलासमय राज-सभा करता है और विषय-वासनायुक्त जीवन व्यतीत करता है। ज्यो ही आर्यो ने अनार्यो या दस्युओ पर विजयश्री प्राप्त की, वैदिक देवताओ का अवसान हो गया और जब बाद मे शक्तिहीन देवताओ के लिए कई छोटे-छोटे यज्ञ किये जाने लगे तब इनका पुनर्जन्म हुआ। इन्ही प्राचीन मन्त्रो की पुनरुक्ति कर उनका उच्चारण उन देवताओ के लिए किया जाने लगा जिनकी पूजा अब नही होती थी। यह भी सम्भव है कि हिन्दू आर्यो ने जिस लिपि का विकास किया वह भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता की लिपि के ऊपर आधारित हो सकता है। यह तो स्पष्ट है कि पशुपालक कार्यो ने क्रमशः स्थानीय लोगो पर विजय प्राप्त की तथा उनकी सभ्यता व सस्कृति से अपनी सस्कृति व सभ्यता का एकीकरण कर लिया। फलत· हिन्दू धर्म, जैसा वह आज है, इस समन्वय का परिणाम है। अत. इस सिद्धान्त को विशिष्ट रूप से संशोधित करता है कि हिन्दू-सभ्यता का उद्गम-स्थान आर्य-सभ्यता है।

तृतीय प्रमाण यह है कि उत्तर वैदिककालीन उपनिषदो के ऋषियो का वैदिक देवताओ से अब कोई सम्बन्ध न रहा था। उत्तर वैदिक साहित्य मे मातृदेवी के संकेत भी प्राप्त होते है, जो अनार्य धर्म के प्रभाव की ओर निर्देश करते है। उत्तर वैदिक काल के अनेक ऋषियो का उल्लेख उनकी माता के नाम से किया गया है। आर्यो का समाज पितृसत्तात्मक था। अत परिचय प्राप्त करने की यह प्रथा यहाँ के अनार्य निवासियो के मातृसत्तात्मक प्रणाली के प्रभाव का ओर सकेत करती है। इस प्रकार आर्यो तथा अनार्यो के सम्पर्क से जिस प्रथा का विकास हुआ था, वह एक ऐसा एकीकरण था जिसमे विजयी आर्यो का बाह्य रूप तो प्रधान था, परन्तु विचित्र एवं परम्परागत प्रथाएँ नवीन रूप मे अभिव्यक्त हुई थी।

चतुर्थ प्रमाण यह है कि ऋग्वेदकाल मे ही क्रमश पशुपालक आर्यो के कृषक समाज मे परिवर्तित हो जाने से 'ग्राम' का समुदय हुआ। धीरे-धीरे इसे महत्त्वपूर्ण

स्थान प्राप्त हो गया। यह बहुत सम्भव है कि आत्मतुष्ट ग्राम ऋग्वेदकालीन आर्यो के उपनिवेश का परिणाम न हो, अपितु आर्यो से पूर्व लोगो से सगठन का अविच्छन्न रूप रहा हो जिसे आर्यो ने भी वनाये रखा। मोहनजोदडो जैसे विशाल नगरो का उत्थान और समृद्धि तो सविस्तृत कृपि-प्रणाली एव ग्रामीण आर्थिक नीति के आधार पर ही हो सकती थी। अत यह अनुमान करना अधिक युक्तिसगत है कि जब आर्य लोग कृपक वन गये तब उन्होने ग्राम-पद्धति को आदिवासी अनार्यो के सगठन मे जिस रूप मे पाया या उसी को अपना लिया।

आर्यो की जातीय विशिष्टता एवं वर्ण-भेद—आर्यो ने भारत मे जातीय विशिष्टता एवं वर्ण की विचारधारा को जन्म दिया। यहाँ के कृष्ण वर्ण अनार्यो की तुलना मे अपने गौर वर्ण की भावना उनके सम्पूर्ण विचार-जगत पर छा गयी थी। इसके साथ ही उनकी यह विचारधारा भी मिल गयी कि ईश्वर वेदो द्वारा उनके सम्मुख प्रकट हुआ है तथा दस्युओ पर विजय प्राप्त करने की उनकी शक्ति उन्हे रहस्यात्मक कर्मकाण्ड तथा इन्द्रजालिक क्रिया-विधियो से प्राप्त हुई है और इसे अवोध रूप से गुप्त रखना अनिवार्य था। उनके पवित्र ज्ञान के साथ उनकी वर्ण-भेद की नीति ने मिल कर आर्यो व अनार्यो के मध्य अथवा द्विजो व शूद्रो के मध्य भेद-भाव को पूर्ण स्थित कर दिया। 'द्विज' वे लोग थे जो कतिपय रहस्यात्मक धार्मिक क्रियाएँ सम्पूर्ण करने पर पवित्र ज्ञान को प्राप्त करने एव आर्य-उपासना-पद्धति मे सम्मिलित होने के अधिकारी हो जाते थे। जाति-प्रथा का यह सूत्रपात था जिसे आगे चल कर धर्मशास्त्र के लेखको ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का विस्तृत रूप प्रदान कर दिया।

परन्तु यह वात ध्यान देने योग्य है कि वर्ण तथा जाति-भेद का यह सिद्धान्त—कृष्ण वर्ण लोगो को वहिष्कृत कर उन्हे निम्न-स्तर पर कर देना—पूर्ण रूप से फलीभूत नही हुआ। यह प्रमाणित करने के लिए प्रमाण है कि जातियाँ परस्पर घुल-मिल गयी थी और आर्यो ने कृष्ण वर्ण ऋपियो तक को अगीकार कर लिया था। वादरायण वेद व्यास जिन्होने वेदो को व्यवस्थित करके उनका सपादन किया था, आर्य ऋपि व कृष्ण वर्ण केवट स्त्री से उत्पन्न पुत्र थे तथा श्याम वादरायण कहे जाते हैं। इस सिद्धान्त से कि अनार्य अथवा अद्विज निम्न श्रेणी के व्यक्ति थे, देशी अनार्य शासको की, जिनकी सहायता की याचना राजा सुदास ने की थी, सत्ता पर कोई प्रभाव नही पडा था। राजाओ एव पुरोहितो तक के साथ देशी लोगो के वैवाहिक सम्वन्धो के होने के प्राय अनेक उल्लेख प्राप्त होते है। इससे यह मत दृढ हो जाता है कि जाति-व्यवस्था के वनने के पूर्व ही आर्य और अनार्यो के रुधिर का पर्याप्त मात्रा मे सम्मिश्रण हो चुका था। यद्यपि जातिगत विशिष्टता आर्यो के लिए सैद्धान्तिक रूप मे वनी रही फिर भी वैदिक मन्त्रो के गोपनीय रहस्यो की दीक्षा ही द्विजो और अद्विजो की कसौटी हो गयी और कालान्तर मे आर्यत्व की भावना वर्ण अथवा रग मे न रह कर सामाजिक स्थिति व सस्कृति के रूप मे आ गयी।

प्रश्नावली

1. 'प्रकृति से प्रकृति के देवताओ की ओर' यह ऋग्वेदकालीन आर्यो के धार्मिक विश्वासो का सार है।' समझाइये।
2. वेदो मे वर्णित आर्यो के समाज की दशा का विवेचन कीजिए।
3 ऋग्वेद कितना प्राचीन है ? इससे आर्यो की सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
4. ऋग्वेद के आधार पर आर्यो के जीवन की दशा का वर्णन कीजिये।

5 द्रविड तथा आर्यो की सभ्यताओ की समानता व विभिन्नता की प्रमुख बातो का उल्लेख कीजिये। आर्यों ने द्रविड सभ्यता को कहाँ तक अपना लिया था ?

6 वैदिक युग के हिन्दू-आर्यो की सभ्यता व संस्कृति के प्रधान तत्त्वो का वर्णन कीजिये।

7. ऋग्वेदकालीन धर्म की क्या विशिष्टताएँ थी ? हिन्दू धर्म से उनकी तुलना कीजिये।

8. वेदो के विषय मे आप क्या जानते हैं ? वैदिक साहित्य का सक्षेप में वर्णन कीजिये।

9 'आर्यो और अनार्यो के पूर्व के लोगो के समन्वय का परिणाम हिन्दू सभ्यता हुई, जिसमे आर्यो के पूर्व की श्रेष्ठ सभ्यता व सस्कृति के चिह्न अवशिष्ट है।' इस कथन का विवेचन कीजिये।

10. वेदकालीन राजतन्त्र का वर्णन सावधानी से कीजिये।

11 वैदिक साहित्य आर्यो की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव डालता है ?

12. ऋग्वैदिक सस्कृति की प्रमुख विशेपताओ का वर्णन करिये।

13. सिंधुघाटी के प्राचीन निवासियो कथा ऋग्वैदिक काल के आर्यो की सांस्कृतिक एव धार्मिक मान्यताओ का तुलनात्मक वर्णन करिये।

14. हिन्दुओ के पवित्र धार्मिक ग्रंथ, वैदिक युग के आर्यो के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर क्या प्रकाश डालते है ?

उत्तर वैदिक युग और महाकाव्यों का काल

ऋग्वेदकाल के बाद का समय उत्तर वैदिक युग के नाम से प्रख्यात है। इस युग मे तीन वैदिक संहिताएँ—अथर्ववेद सहिता, सामवेद सहिता और यजुर्वेद सहिता—और चारो वेदों के उपनिपद् और ब्राह्मण तथा रामायण एव महाभारत के दो महाकाव्यो को रचना हुई थी। बाद के इस वैदिक साहित्य और महाभारत से हम उस युग की घटनाओ के विकास-क्रम तथा सस्कृति को समझने मे समर्थ है।

आर्यों का विस्तार—ऋग्वेदकाल मे आर्य कबीले काबुल से ले कर गगा की ऊपरी घाटी के क्षेत्र में फैल गये थे और इन्होने यहाँ छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे जिनमे अधिकांश कुलागत नरेशो के आधिपत्य मे थे। ऋग्वैदिक काल मे परस्पर सघर्ष और युद्ध के परिणामस्वरूप, जो कुछ कबीलो मे चल रहा था, दुर्बल कबीलो को उनके शक्तिशाली पड़ौसियो ने अपने मे मिला लिया था। विजेता-कबीलो से प्रदेशो तथा धन-द्रव्यो मे जो वृद्धि हुई थी, वह उनके विशाल राज्यो पर शासन करने वाले नरेशो की बढती हुई सत्ता मे झलकती थी। वैदिक ग्रन्थो मे अब सर्वप्रथम भव्य नगरों एव विस्तृत राज्यो का उल्लेख मिलता है। विशाल राज्यो की वृद्धि के साथ-साथ आर्यो का सास्कृतिक एव राजनीतिक प्रभुत्व भी पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने लगा। वैदिक युग के अन्त तक आर्यों ने यमुना, गंगा और सदा नीरा (गडक) नदियो द्वारा सिंचित उर्वरा मैदान पर पूर्णरूपेण अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। विन्ध्या के सघन दुर्गम वनो मे आर्यों के साहसी समूह प्रविष्ट होने लगे थे और उन्होने दक्षिण मे गोदावरी के उत्तर मे शक्तिशाली राज्यो की नीव डाल दी थी।

आर्यो के विस्तार एव बढते हुए उपनिवेशो के साथ-साथ पश्चिमी पजाब क्रमश उपेक्षित हो चला था और अब आर्य-सस्कृति का केन्द्र पजाब से हट कर सरस्वती और गगा के बीच के प्रदेश मे आ गया था। यह प्रदेश 'मध्य प्रदेश' अथवा 'आर्यावर्त' कहलाता था। इसी क्षेत्र से ही आर्यो की सस्कृति पूर्व एव दक्षिण की ओर अन्य प्रदेशो मे फैली। ऋग्वेदकालीन अनेक कबीले और जातियाँ अब विलुप्त हो गयी थी और उनके स्थान पर नवीन कबीलो और जातियो का आविर्भाव हुआ था। भारत और पुरु कबीलो और जातियो का स्थान कुरु, पाचाल और काशी ने ले लिया था जिन्होने उत्तरवैदिक काल की राजनीति मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। कुरुओ की राजधानी आसन्दीवत थी और पाचालो की काम्पिल्य। इसके आगे पूर्व की ओर कोशल (अवध), काशी और विदेह (उत्तर बिहार) के राज्य आर्यो के नवीन केन्द्र बन चुके थे। इनसे आगे मगध (दक्षिण बिहार) और अग राज्य सम्भवत आर्य प्रभाव से अभी बाहर थे और इनके अधिवासी अपरिचित माने जाते थे। इस युग मे प्रथम बार हम आन्ध्रो, बगाल के पुण्ड्रों, उड़ीसा और मध्य

प्रान्त के शबरों तथा दक्षिण-पश्चिम के पुलिन्दो के नामो को सुनते है। ऐतरेय और जेमिनीय ब्राह्मणो के पिछले भागों मे विदर्भ (वरार) का उल्लेख भी दो बार आया है। उसके अतिरिक्त, मत्स्य सूरसेन और गांधार जैसी कुछ अन्य जातियों के नाम भी मिलते है। इनका अपना स्वशासन था। इससे प्रमाणित होता है कि हिमालय से विन्ध्याचल से बीच का प्राय सारा उत्तरी भारत, सम्भवत. इससे बाहर का भाग भी, आर्यो की ज्ञानपरिधि मे आ चुका था।

राज्यसत्ता की वृद्धि—कबीलो और जातियो के सम्मिश्रण, नवीन प्रदेशों की विजय और फलस्वरूप राज्यो का विस्तार एव युद्धो मे नरेशो के सफल नेतृत्व से राजा की सत्ता और उसके परमाधिकारो मे वृद्धि हुई। "बिना ग्वाले के चौपायो की जो स्थिति होती है वही बिना राजा के मनुष्यो की होती है।" यह सिद्धान्त अगीकार कर लिया गया था। राजा अपनी प्रजा पर अनियन्त्रित राज्यसत्ता रखने का दावा करते थे। यहाँ तक कि ब्राह्मण भी उनकी इच्छानुसार अलग कर दिये जाते थे। साधारण व्यक्ति को 'बलि,' 'शुल्क' और 'भाग' नामक कर देने पडते थे और राजा की इच्छानुसार उसे यातना दी जा सकती थी। निम्न श्रेणी के लोगो को इच्छानुसार मार दिया जाता था और निर्वासित भी किया जाता था। राजा को जनसाधारण से उच्च पद पर निर्दिष्ट करने के लिए यज्ञो एव आराधनाओ सहित विस्तृत अनुष्ठान होते थे। यद्यपि उस समय राजा के दैवी अधिकार न थे परन्तु उनमे दैवी गुण माने जाते थे। सफल राजा सार्वभौम, एकराष्ट्र, विराट्, अधिराज आदि प्रतिष्ठित पदो के प्राप्त करने का दावा करते थे और 'वाजपेय,' 'राजसूय,' 'अश्वमेध' यज्ञो का अनुष्ठान कर अपनी उत्तरोत्तर बढती हुई शक्ति का परिचय देने लगे थे। ये सब साम्राज्यवाद और सामन्तवादी विचारो के द्योतक है।

राजा के प्रमुख कर्तव्य सैनिक और न्याय सम्बन्धी कार्य होते थे। वह अपनी प्रजा और कानूनो का सरक्षक था एव उनके शत्रुओ का सहारक था। यद्यपि वह दण्ड-विधान से स्वय विमुक्त था परन्तु दण्ड देने की सर्वोपरि सत्ता उसके हाथो मे थी। राज्य पूर्ववत कुलागत ही होता था। अथर्ववेद मे राज्याभिषेक के समय गीतो से प्रकट होता है कि सम्भवत प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन भी होता था। युद्ध मे वह अब भी सेना का नेतृत्व करता था, यद्यपि सेना का साधारण सचालक सेनानी था। यह सदिग्ध है कि वह भूमि का स्वामी था, परन्तु निस्सन्देह उस पर उसका बहुत कुछ स्वत्व था।

राज्यसत्ता की वृद्धि होने पर भी राजा पूर्ण रूप से निरकुश नही हो पाये थे। समर्पण-समारोह के समय कुछ ऐसी क्रिया-विधियाँ होती थी जिससे राजा को सिंहासन के नीचे उतरकर ब्राह्मणों को प्रणाम करना पडता था। अपने राज्याभिषेक के समय उसे धर्म-भक्ति की एव ब्राह्मणो तथा राज्य के कानूनों के सरक्षण की शपथ लेनी पडती थी। राज्याभिषेक के समय राजा से कहा जाता था, 'हे राजन्! यह राज्य तुम्हे कृषि, प्रगति एव साधारण जनता के सुख-वैभव के लिए दिया जाता है।' इसका अभिप्राय यह है कि राज्य स्वत्वाधिकार की वस्तु नही अपितु एक धरोहर था और इसे अधिकार मे रखने के लिए यह शर्त थी कि राजा जनसाधारण का कल्याण करे। ऋग्वेदकालीन साधारण जनता की राजनीतिक सार्वजनिक सस्थाएँ—सभा और समिति—इस युग मे भी विद्यमान थी। अथर्ववेद मे यह उल्लेख है कि राजा और इन सस्थाओ मे परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग व सामजस्य राज्य की समृद्धि के हेतु

अनिवार्य है। कभी-कभी जनता का क्रोध इस भयकरता से प्रकट होता था कि अत्याचारी निरकुश नरेशो को उनके अपराधी अधिकारियों सहित पदच्युत कर दिया जाता था। दूसरे शब्दो मे, हम कह सकते हैं कि उत्तर वैदिक युग मे शासन-व्यवस्था और प्रणाली पहले की अपेक्षा अधिक प्रजातन्त्रवादी थी क्योंकि आर्य जाति के नेताओ की सत्ता को राजा अभी भी मानते थे।

शासन-प्रणाली का विस्तार—राज्यसत्ता की वृद्धि के साथ-साथ ही शासन-व्यवस्था के सूत्रो का भी विस्तार हुआ। राजा और उसके अधिकारियो का महत्त्व भी बहुत बढ गया था। इस युग मे राज्य-अधिकारियो को 'वीर' अथवा 'रत्नी' कहते थे। इसमे प्रमुख सग्रहीतृ (कोपाध्यक्ष), भागदुघ (कर एकत्र करने वाला प्रमुख अधिकारी), सूत (राज्य का वृतान्त रखने वाला भाट), क्षत्री (राज्य-परिवार का निरीक्षक), अक्षवाप (हिसाव रखने वाला अधिकारी), गोविकर्तन (वन-निरीक्षक या आखेट मे राजा का साथी), पालागल (सन्देश-वाहक) और तीन प्राचीनतम अधिकारी सेनानी, पुरोहित और ग्रामीण थे। ऋग्वैदिक युग मे ग्रामणी प्रधानतया सैनिक अधिकारी था परन्तु उत्तर वैदिक युग मे वह सैनिक और असैनिक दोनो प्रकार का उच्च अधिकारी था और नगर तथा ग्राम, जहाँ कही न्यायालय की बैठक होती थी, उसका सभापतित्व करता था। पुलिस के अधिकारियो को इस समय उग्र या जीवग्रभ कहते थे। सौ गाँवो के अधिकारी को 'सभापति' और सीमान्त के शासक को 'स्थपति' कहते थे। इन अधिकारियो के हवाले प्रान्तीय शासन की नियमित प्रणाली की ओर संकेत करते है। न्याय-शासन मे राजा का भाग अधिक होता था परन्तु कभी-कभी न्याय करने के अधिकार 'अध्यक्ष' नामक अधिकारी को दे दिये जाते थे। जाति या कवीलो की 'सभासद' नाम की एक छोटी सभा होती थी जो विशेष अवस्था मे न्यायकार्य करती थी। ग्राम मे छोटे-छोटे मामलो का निर्णय ग्राम के न्यायाधीश 'ग्राम्यवादीन' और उसका न्यायालय 'सभा' करती थी।

उत्तर वैदिक युग मे राजतन्त्र के साथ-साथ गणतन्त्र का विकास हुआ था। पश्चिम के सौराष्ट्र, कच्छ और सौवीर (आधुनिक सिन्ध) एव हिमालय के उत्तर कुरुओ मे गणतन्त्र शासन-व्यवस्था का प्रचलन था। पश्चिमी राज्यों की व्यवस्था का नाम 'स्वराज्य' था और उत्तरी प्रदेश मे वैराज्य (राजाविहीन राज्य) शासन-व्यवस्था थी।

समाज

इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है कि उत्तर वैदिक काल मे सामाजिक जीवन सुस्थित हो चुका था। उस युग मे जो सामाजिक परिवर्तन हुए उनकी झलक उस काल के साहित्य मे है। इनका विवरण निम्न प्रकार है

वसन एवं मनोरंजन—यद्यपि गृहो के निर्माण तथा वेश-भूषा मे कोई उल्लेख-नीय परिवर्तन नही हुए थे परन्तु आहार मे मास-भक्षण और सुरा-पान को अनुचित समझा जाने लगा। अथर्ववेद के एक सूक्त मे ऐसे आहार को पाप कहा गया है। सम्भवत यह अहिंसा के उस सिद्धान्त का परिणाम था जिसका अकुर भारतीय धर्म-भूमि में जम चला था। आमोद-प्रमोद के नवीन साधन प्रचलित हो चले थे। विभिन्न स्थानो पर 'सैलूश' (अभिनेता) का उल्लेख प्राप्त होता है तथा वडे-बडे सामाजिक उत्सवो और समारोहो के अवसर पर 'वीणा-गाथिन' (वीणा वजाने वाले) गाता था अथवा गीतिकाव्य सगीत वाद्यो के साथ गाते थे। इन वाद्यो मे कभी-कभी सौ-सौ

तार (शततन्तु) लगे होते थे। ऐसी गाथाओ मे हमें उन 'विजय-गीतो' का आभास मिलता है जो महाकाव्यकाल में विकसित हुए थे।

स्त्रियाँ—स्त्रियो की दशा अवनत हो गयी थी। वह सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नही हो सकती थी और उसका उपार्जित धन या तो उसके पति का अथवा पिता का समझा जाता था। कन्या-जन्म दुख का विषय समझा जाता था तथा पुत्र मनोकामना का लक्ष्य माना जाता था। स्त्रियाँ जातीय परिपदो या सभाओ में प्रवेश नही कर सकती थी। वहुपत्नी-विवाह प्रचलित था तथा कुलीन वर्गो की विवाहित नारियो को अपनी सौतो की उपस्थिति के कारण कष्ट सहन करने पडते थे। इस सम्वन्ध मे रानियों का भाग्य विशेप रूप से ईर्ष्या से परे था। उनमे से कुछ रानियों को जैसे प्रधान रानी (महिपी) तथा इष्टप्रिया को प्यार तथा सम्मान प्राप्त होता था, अन्य रानियाँ जैसे 'परिवृक्ति' उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थी। परन्तु वे धार्मिक क्रिया-विधियो और अनुष्ठानो मे भाग लेती रहती थी। शिक्षा, जो उनमें से कुछ को प्राप्त होती थी, उच्च श्रेणी की होती थी क्योकि इससे वे राजसभा मे होने वाले दार्शनिक तर्क-वितर्को मे प्रमुख भाग लेने मे समर्थ होती थी। गार्गी, वाचक्नवी, मैत्रेयी के दृष्टान्तो से प्रमाणित है कि नारियाँ शिक्षित होती थी और इनमे से कुछ ने तो वौद्धिक गौरव भी प्राप्त कर लिया था। कर्मकाण्ड की जटिलता मे वृद्धि होने के फलस्वरूप अव स्त्रियाँ पतियो के साथ वैठकर समूची यज्ञ-क्रिया नही कर सकती थी एव यज्ञ की कुछ क्रियाएँ पुरोहित करने लगे थे। विवाह विपयक नियम परिवर्तित होकर अधिक कठोर हो गये थे; वाल-विवाह का उल्लेख भी मिलता है। इस युग मे सर्वप्रथम गौतम धर्म-सूत्र मे यह विचार प्रदर्शित होता है कि कन्या का विवाह उसके वाल्यकाल मे ही (ऋतुमती होने के पूर्व) कर देना चाहिए।

वर्णाश्रम धर्म का सामाजिक सिद्धान्त—वर्णाश्रम धर्म एक सामाजिक धारणा है जो जीवन की विभिन्न अवस्थाओ के लिए उपयुक्त कार्यों का निरूपण करती है। इसके अनुसार जीवन को चार कालो मे विभक्त किया गया—'ब्रह्मचर्य' (अविवाहित दशा मे शिक्षण-काल), 'गृहस्थ' (घरेलू या गृहस्थी के जीवन का समय), 'वानप्रस्थ' (सासारिक कार्यों से विभक्त होकर वन मे निर्जन स्थान मे आत्मचिन्तन और ध्यान का समय), और 'सन्यास' (त्याग का जीवन एवं परमात्मा की खोज का समय); प्रत्येक काल 'आश्रम' के नाम से प्रख्यात था। वानप्रस्थो के आश्रम परिपक्व अनुभव, स्पष्ट, निर्भीक एव निष्पक्ष विचारो और मतो के केन्द्रस्थल होते थे। इन वानप्रस्थियों तथा सन्यासियो से देश को अपरिमित लाभ पहुँचता था। उत्तर वैदिक काल के इन आश्रमो के आदर्श का पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था। विश्व के किसी अन्य देश मे इस प्रकार के आदर्श तथा उपयोगी सामाजिक सगठन एवं सुव्यवस्था का उदय और विकास नही हुआ था।

चतुर्वर्ण-व्यवस्था अथवा जाति-प्रथा—ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे समाज तीन वर्णो मे विभक्त था—'ब्राह्मण' (पुरोहित), 'राजन्य' (जनता का सम्भ्रान्त अथवा कुलीन वशीय भाग) और 'विश' (सामान्य जनता)। यह विभाजन वहुत कुछ व्यवसाय पर निर्भर था तथा इसका जाति-क्रम से कोई सम्वन्ध नही था जैसे आगे चलकर विकास हुआ। वश-परम्परागत व्यवसाय और उद्यम का कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता। एक ही कुल व वर्ग मे वैवाहिक सम्वन्ध निपिद्ध नही था और लोग भी विभक्त नही थे। पर उत्तर वैदिक काल मे इस पद्धति का विकास पर्याप्त रूप से हो

गया था। उत्तर वैदिक काल में सामाजिक स्तर स्पष्ट हो चले थे और वर्ण-व्यवस्था अपने नियत वर्ग-आकार और वर्ण-सघर्ष की ओर द्रुत गति से वढ चली थी। वर्ण-व्यवस्था का प्रधान आधार पूर्व वैदिक काल मे गौर रंग आर्यो और कृष्णकाय दस्युओ का पारस्परिक वर्णान्तर था। किन्तु उत्तर वैदिक काल तक पहुँचते-पहुँचते आर्यो के निरन्तर रणक्रम, उनकी राजनीति की नित्य वर्द्धित नवीन दशाओ और श्रम-विभाजन के उत्तरोत्तर उपक्रम से स्वाभाविक ही वश-परम्परागत पेशेवर दल निर्मित हो गये। इस प्रकार इस युग मे चार वर्णो—'ब्राह्मण' (जिसका कर्तव्य पठन-पाठन था), 'क्षत्रिय' (योद्धा, सरक्षक तथा शासक), की 'वैश्य' (आर्थिक कार्यो मे सलग्न) तथा 'शूद्र' (सामान्य जन, कृपक) की स्थापना हुई। उत्तर वैदिक युग के शास्त्रकारो ने प्रथम वार इन चार वर्गो या वर्णो के कर्तव्यो का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया और उनके लिए पृथक्-पृथक् नियम वनायें।

उत्तर वैदिक काल मे जो लोग धर्म की व्यवस्था को जानते थे, कर्मकाण्ड और यज्ञानुष्ठान मे निपुण थे और दान ग्रहण करते थे, ब्राह्मण कहलाये। यज्ञो के विकास ने इनकी वृद्धि की। अपने ज्ञान, तपस्या और त्याग से ब्राह्मण जनसाधारण से ऊँचे उठ गये थे। उनसे सविस्तृत कर्मकाण्ड के जानने एव उचित उच्चादर्श का पालन करने की आशा की जाती थी। प्रजा के आध्यात्मिक जीवन के सरक्षक होने से वे समाज मे अपनी उच्च प्रतिष्ठा वनाये रखने मे समर्थ हुए तथा उन्होने अपनी दिव्य उत्पत्ति की प्रामाणिक व्यवस्था की और शेप आर्यो से अपने पृथकत्व को वनाये रखने के लिए शास्त्रीय आदेश प्रस्तुत किये।

जो युद्ध करते थे, भूमि के स्वामी थे और राजनीति मे अधिकार के साथ सक्रिय भाग लेते थे, वे क्षत्रिय हुए। क्षत्रियो ने इस युग के तत्त्व-ज्ञान मे गहरी अभि-रुचि दिखलायी। यज्ञ-प्रणाली के विषय मे वे कभी-कभी ब्राह्मणो से भी वाद-विवाद कर वैठते थे। किन्ही-किन्ही क्षत्रियो ने कभी-कभी विशिष्ट ज्ञान के आधार पर अपने आपको ब्राह्मणो के पद तक ऊँचा उठा लिया था। उन्होने अपने ज्ञान द्वारा सर्वोच्च सुख प्राप्त करने का सतत प्रयत्न किया। हमारे पास दो क्षत्रिय राजाओ—जनक और विश्वामित्र के माने हुए उदाहरण है। इनमे एक आचार्य हो गया जिसके चरणो के समीप बैठकर ब्राह्मण भी उनका उपदेश सुनते थे तथा दूसरा ऋपि वन गया जिसने वैदिक ऋचाओ की रचना की। ऐसे अनेक प्रमाण है जो ब्राह्मणों और क्षत्रियो की परस्पर-प्रतिद्वन्द्विता की ओर सकेत करते है। क्षत्रियो ने ब्राह्मणो के सर्वोपरि अधि-कार का विरोध दीर्घ काल तक किया और उनका कथन था कि उनसे अधिक उच्च कोई नही है एव पुरोहित तो केवल राजा का अनुयायीमात्र होता है।

ब्राह्मणो और क्षत्रियो को छोड़ शेप समस्त आर्य जनता, जिसमे वणिक, कृपक और शिल्पी थे, वैश्य कहलाये। वैश्य लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो उच्च जातियों से भिन्न थे क्योकि उनमे पुरोहित और कुलीन राजवश के रक्त का अभाव था एव वे स्वतन्त्र होने के कारण शूद्रो से उच्च श्रेणी के समझे जाते थे। ब्राह्मणो और क्षत्रियो के अधिकारो तथा सुविधाओ का उपयोग वैश्यो के लिए निपिद्ध था। एक प्रमाणिक ग्रन्थ मे कहा गया है कि "वह (वैश्य) अन्य लोगो को कर देता है, अन्य व्यक्ति उसकी जीविका मे भागी हो सकते है और दूसरे उस पर स्वेच्छापूर्वक शासन कर सकते है।" परन्तु इनमे 'श्रेष्ठिन' (आधुनिक सेठ) कहे जाने वाले अधिक धन-सम्पन्न व्यक्तियो तथ 'गृहपति' (गृहस्थी) का राज-सभा मे वडा सम्मान होता था।

उपर्युक्त वर्णित वर्ण-व्यवस्था का निम्नतम स्तर उन 'शूद्रों से बना था जो विजित-वर्ग के दास और दस्यु थे और जिनका कर्म ऊपर के तीनो वर्णो की सेवा करना था। शूद्रो की स्थिति अत्यधिक दीनतापूर्ण थी। वही ग्रन्थ जो वैश्यो की स्थिति का वर्णन करता है शूद्रो के विषय मे इस प्रकार कहता है, "वह (शूद्र) अन्य व्यक्तियो का सेवक है जिसका इच्छानुकूल निष्कासन तथा वध किया जा सकता है।" शास्त्रोक्त क्रिया-विधियो मे शूद्रो को कोई भी अधिकार प्राप्त नही था। वह अपवित्र समझा जाता था तथा अग्निदेव की आहुति मे चढाने का दूध स्पर्श करने की आज्ञा उसे नही थी। फिर भी, प्राय. इसकी गणना वैश्य-वर्ग के अन्तर्गत की जाती थी और ये दोनों मिलकर पुरोहित और सामन्त का विरोध करते थे। शूद्र के जीवित रहने और प्रगति करने का अधिकार क्रमश स्वीकार किया जा चुका था एव उसके ऐश्वर्य के लिए आराधना की जाती थी। आर्यो की सामाजिक व्यवस्था में अनेक नवीन आदिम जातियो के प्रवेश करने से शूद्रो का वर्ग निरन्तर बढ़ता ही रहा।

व्यवस्थित जाति-क्रम के बाहर लोगों के दो प्रमुख वर्ग थे जो 'व्रात्य' और 'निषाद' कहे जाते थे। 'व्रात्य, लोग सम्भवत ब्राह्मण धर्म की सीमा के बाहर थे। वे ब्राह्मण धर्म के नियमों का पालन नही करते थे, वे प्राकृत भाषा बोलते थे और घुमक्कडो जैसा जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मगधवासियो से उनका कोई घनिष्ठ सम्पर्क था तथा शैव एवं 'अर्हत' सम्प्रदायो से उनका विशिष्ट सम्बन्ध था। कुछ स्वीकृत सस्कारो को करने के पश्चात वे ब्राह्मण समुदाय के सदस्य हो सकते थे। निषाद लोग अनार्य थे जो अपने पृथक् ग्रामो मे निवास करते थे तथा पृथक् शासक (स्थापित) होते थे। निषाद आधुनिक युग के भीलो के समान थे।

उत्तरकालीन युगो की भाँति इस वर्ण-व्यवस्था मे अभी कठोरता और जटिलता नही आयी थी और वर्ण आजकल के समान जाति-पाँति के सकीर्ण क्षेत्रो में नहीं थे। उनके पारस्परिक सम्बन्ध अभी सम्भाव्य था। इस सम्बन्ध मे इस काल के अनेक अन्तर्वर्ण-विवाहो के हवाले दिये जा सकते है। 'च्यवन' ब्रह्मर्षि थे परन्तु उन्होने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय वश की पुत्री सुकन्या से विवाह किया; विदेह के जनक, काशी के अजातपुत्र और पाँचाल के प्रवाहण जैवलि ने ब्रह्मज्ञान मे ख्याति अर्जित की और राजन्य देवापि ने अपने भाई राजा शान्तनु के अश्वमेघ प्रमुख पुरोहित का कार्य किया। इस प्रकार उत्तर वैदिक युग मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो में खान-पान और विवाह के बन्धन न तो इतने कठोर ही थे और न व्यवसाय-परिवर्तन पर प्रतिबन्ध ही था।

कालान्तर में जैसे-जैसे प्रादेशिक विशेषताएँ एव ब्राह्मणो की प्रभुत्ता बढती गयी वैसे ही जैसे वर्गो की विशेषता भी बढती गयी और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाने लगा। युद्ध के प्रभाव, समाज की उत्तरोत्तर बढती आवश्यकताओ एव व्यापार-व्यवस्था की प्रगति के फलस्वरूप शिल्पियो तथा व्यापारियों के परम्परागत समूहो का निर्माण होने लग गया था। साधारण, स्वतन्त्र व्यक्तियो की विशाल जाति अपने कार्यो और व्यवसाय के अनुकूल छोटे-छोटे वर्गो मे विभक्त हो रही थी और समाज अनेक व्यवसाय-वर्गो का एक अद्भुत सगठन बन गया जिसमे प्रत्येक अपने स्वतन्त्र विधानो से व्यवस्थित था। कृषि-कर्म और पशुपालन मे सलग्न रहने वाले लोगो के अतिरिक्त व्यापारी, रथकार, लोहाकार, बढई, चर्मकार मछुआ आदि जातियो का स्पष्ट उल्लेख है। उनमे से कुछ लोग सामाजिक दृष्टिकोण

से पतित होते जा रहे थे और उनके स्पर्श से धार्मिक क्रियाएँ व अनुष्ठान अपवित्र माने जाने लगे थे। फिर भी नियमो की यह कठोरता बाद मे होने वाली कठोरता के समान नही थी क्योंकि एक ब्राह्मण ऋषि के क्षत्रिय कन्या से विवाह करने का उल्लेख हमको प्राप्त होता है।

विद्या—शिक्षा की दृष्टि से आर्यों के समाज मे उच्चतम मानसिक और बौद्धिक विकास हो चुका था। विद्या धार्मिक और लौकिक दोनो प्रकार की हो गयी थी। वेदो, गौण ग्रन्थो तथा उपनपिदो के अतिरिक्त, व्याकरण, तर्क-शास्त्र तथा कानून भी अध्ययन के पाठ्यक्रम मे सम्मिलित थे। विद्यार्थी-जीवन के हेतु स्पष्ट नियम बना दिये गये थे। प्रथम नियम या सस्कार 'उपनयन' कहलाता था जिससे ब्रह्मचारी को नवीन जीवन मे प्रवेश करने की दीक्षा दी जाती थी। उसे संयमी जीवन व्यतीत करने का अभ्यास करना पडता था; भोजन के लिए भिक्षा माँगनी पडती थी और विनम्रता की भावना अपनानी पड़ती थी। उसे सदैव अपने सम्मुख विद्या के छह उद्देश्य रखने पड़ते थे—ज्ञान, श्रद्धा, पूजा, धन, आयु और अमृतत्व।

वेदो की ऋचाएँ अब भी पवित्र मानी जाती थी और उन्हे लिपिबद्ध करना अपवित्र और दूपित कृत्य माना जाता था। पूर्वजो द्वारा रचित ऋचाओ को पुरोहित कण्ठस्थ कर लेते थे और इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य वंश-परम्परानुकूल रीति से उपलब्ध होता रहा था। इस साहित्य को विशुद्ध और पवित्र रखने के लिए कई उपायो को अपनाया गया और इनमे से एक शाकल्य द्वारा रचित ऋग्वेद संहिता का 'पद-पाठ' है। यह एक ऐसी रचना है जिसमे प्रत्येक ऋचा का हर एक शब्द साहित्य की शुद्धि के प्रमाण के लिए अलग-अलग रखा गया था। निस्सन्देह इस प्रकार प्रगतिशील उच्च साहित्य के साथ-साथ व्याकरण के कुछ ग्रन्थ अवश्य रहे होगे पर दुर्भाग्यवश वे सभी आज विलुप्त हैं।

भाषा—साधारण जनता की भाषा अनार्यों के सम्पर्क से अवश्य परिवर्तित हुई होगी जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक विभाषाओं की उत्पति हुई। प्रत्येक प्रदेश के लिए अपनी ही 'प्राकृत' का विकास करना स्वाभाविक था। प्रारम्भिक युग मे इस प्रकार की तीन प्राकृत भाषाएँ थी—'शोरसेनी' जो शूरसेन जिले (केन्द्रीय दोआव) मे, 'मागधी' मगध या पूर्व भारत में और 'महाराष्ट्रीय' जो सम्भवत. पश्चिमी भाग मे बोली जाती थी। कालान्तर मे इनमे से प्रत्येक की अपनी-अपनी प्रशाखाओ का उदय और विकास हुआ और बाद मे साहित्यिक कृतियो में इनका उपयोग होने लगा। इस प्रकार वैदिक भाषा से दो स्वतन्त्र भाषाओं का विकास हुआ—प्रथम 'सस्कृत' जिसका रूप ईसवी पूर्व सातवीं सदी के व्याकरण पाणिनी ने स्थिर किया और द्वितीय, प्राकृत भाषाएँ जो समय की आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तित होती रही। सम्भव है 'सस्कृत' सभ्य और शिक्षित लोगो की भाषा रही हो और समस्त भारत मे विद्वानों की अन्तरप्रदेशीय भाषा हो गयी हो। सम्भवत: पाणिनी पेशावर जिले का निवासी था जिसने 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। व्याकरण पर इसकी प्रामाणिकता मानी जाती है। व्याकरण के समस्त अगो का उसने थोडे-से स्थान में सूक्ष्म विवेचन किया है। उसकी गणना विश्व के महान वैयाकरणो मे है।

चिकित्सा—बहुधा पशुओ का वध कर उनके विभिन्न अग-प्रत्यगो को अग्नि मे हवि देने से लोग निस्सन्देह प्रारम्भिक शरीर-रचनाशास्त्र से अवगत हो गये होगे।

परन्तु चिकित्सा अब भी आदिकालीन रूप मे रही होगी जिस पर जादू-टोने और मन्त्र-तन्त्र का प्रभाव था।

ज्योतिषशास्त्र—चिकित्साशास्त्र की अपेक्षा ज्योतिप-ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हुई थी। तिथियो अथवा चन्द्रमा की कलाओं का यथेष्ट और स्पष्ट ज्ञान लोगों को हो गया था एव रवि-मार्ग 27 भागो मे विभक्त कर दिया गया जिन्हे 'नक्षत्र' कहते थे।

धातु-ज्ञान—इस युग मे धातु-ज्ञान की वृद्धि हुई थी। ऋग्वेद मे केवल स्वर्ण एव अज्ञातार्थ 'अयस्' का उल्लेख हुआ है। परन्तु उत्तर वैदिक काल के साहित्य मे शीशा, टिन (त्रपु), चाँदी (रजत), स्वर्ण (हिरण्य), लाल (लोहित), अयस् (ताँबा) और श्याम अयस् (लोहा) का वर्णन है। सोना-चाँदी का प्रयोग आभूपण, वरतन कटोरियाँ आदि वनाने के लिए होता था। नदी की तलहटियों से, भूमि को अथवा कच्ची मटियाली धातु को शोध-पिघलाकर स्वर्ण उपलब्ध किया जाता था।

आर्थिक दशा

कृषि—लोगो के प्रधान उद्यमो में कृपि-कर्म अभी भी था। इस समय कृपि प्रधान आजीविका वन चुकी थी। इसमें वहुत उन्नति हो चुकी थी और अनेक प्रकार की उपज होने लगी थी, जैसे चावल, गेहूँ, तिलहन आदि। कृपि के औजारो मे भी वहुत उन्नति हुई थी और कभी-कभी हल में 24 वैल जोते जाते थे। कृपि-कार्य के लिए अधिक भूमि का उपयोग होने लगा था। हल का आकार और उसकी उपादेयता खूब वढ गयी थी और उपज की वृद्धि के लिए खाद की उपयोगिता समझी जाने लगी थी। उपजाऊ भूमि से जिसे लोग जोतते थे वर्प भर मे दो फसले उत्पन्न होती थी, परन्तु कृपक कष्ट-मुक्त नही था। प्राकृतिक विपत्तियो में दुर्भिक्ष भी पडते थे। एक उपनिपद् मे ओले गिरने तथा टिड्डी दल के आक्रमण का उल्लेख है जिससे कुरुओ का देश अत्यन्त दुखी हो गया था और फलत. असख्य लोगो को देश छोड़ने पर वाध्य होना पडा था। यद्यपि साधारण जनता जिसमें धनाढ्य लोग भी थे अव भी ग्राम मे रहती थी, परन्तु फिर भी नागरिक जीवन की सुख-सुविधा और मनोज्ञता से लोग अनभिज्ञ नही थे। कुछ गाँवो के विवरण मे हमे यह वात विदित होती है कि खेतो मे कार्य करने वाले भूमि के स्वामी कृपको का स्थान जमीदार-वर्ग के लोग लेते जा रहे थे जिन्होने सम्पूर्ण ग्रामो को अपने अधिकार मे कर लिया था, फिर भी इस युग मे भूमि-स्वत्व-परिवर्तन को जनसाधारण ने स्वीकार नहीं किया था और भूमि का विभाजन और नियतन सजातीय लोगो की स्वीकृति से ही हो सकता था।

व्यापार तथा उद्यम—उद्यमों मे दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति हो रही थी। उद्यम क्षेत्र मे विशिष्टीकरण वहुत वढ गया था और श्रम-विभाजन मे वृद्धि हो रही थी। जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक पेशे उठ खड़े हुए थे। औद्योगिक धन्धो का वाहुल्य आश्चर्यजनक था। इस युग के साहित्य में निम्नलिखित प्रमुख ग्रन्थो के हवाले मिलते हे—आखेटकारी, मछुए, व्याध, घर के सेवक, हल जोतने वाले, क्षेत्र-श्रमिक, टोकरी वनाने वाले, रस्सी वनाने वाले, रथकार, धनुप वनाने वाले, चर्मकार, वढ़ई, धीवर, गड़रिये, धोवी, रगसाज, जुलाहे, नाई, खटीक कुम्हार, धातुकार, व्यापारी, नट, गायक, ऋण देने वाले, आदि। स्त्रियाँ भी औद्योगिक कार्यो मे भाग लेती थी, जैसे वसनो पर कसीदा काढना, रंगसाजी आदि। वश-परम्परानुकूल व्यापारियो (वणिज) का वर्ग निमित हो चुका था। चाँदी का प्रयोग वढ गया था और उससे अनेक आभूषण वनाये जाते थे।

पर्वतो पर निवास करने वाले किरातो से व्यापार होता था। ऊँची चट्टानों पर से खोदी हुई औपधियो के वदले मे वे वस्त्र, चटाइयाँ और सालें लेते थे। लोग समुद्र से पूर्णतः परिचित थे तथा 'शतपथ ब्राह्मण' मे उल्लिखित जल-प्रलय की कथा कुछ विद्वानो के मतानुकूल भारत और वेवीलोन के मध्य सम्पर्क की ओर सकेत करती है। यद्यपि सिक्को का प्रचलन अभी नही हुआ था, तो भी 'निष्क', 'शतमान' और 'कृष्णला' नामक मूल्य की इकाइयो से व्यापार सुगम हो गया था। परन्तु इसमे सन्देह है कि इनमे सामान्य सिक्को के सभी गुण विद्यमान थे। 'निष्क' जो पहले कण्ठहार होता था अव सम्भवत स्वर्ण का टुकडा हो गया था जिसका निर्दिष्ट वजन 320 रत्ती था और 'शतमान' का भी यही वजन था। 'कृष्णला' का वजन 1 रत्ती अथवा 1·8 ग्रेन था। 'गण' अथवा श्रेष्ठिन' के उल्लेख से प्रतीत होता है कि व्यापारी-वर्ग ने सम्भवतः संघ-व्यवस्था स्थापित कर ली थी।

धर्म

उत्तर वैदिक युग मे लोगो के धार्मिक जीवन मे गहरा परिवर्तन हो गया था। पूर्व वैदिक युग के देवताओ मे कुछ परिवर्तन हो गया था। इस युग मे तीन स्पष्ट धार्मिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है—धार्मिक क्रिया-विधियाँ, तत्त्व-ज्ञान और तपस्या सम्वन्धी विचारधाराएँ।

देवता—ऋग्वैदिक युग के देवताओ का गौरव क्रमश. तिरोहित हो गया था, यद्यपि अथर्ववेद मे यत्र-तत्र 'वरुण' की सर्वज्ञता या पृथ्वी देवी की उदारता के सम्वन्ध मे सुन्दर मन्त्र है। ऋग्वेदकालीन कुछ देवताओ के प्रति अभी भी साधारण जनता का अनुराग और श्रद्धा थी। यद्यपि ये देवता अभी स्तुत्य थे, परन्तु इन्द्र या वरुण के समान महत्त्वशाली नही थे। इनमे से एक 'रुद्र' था जिसे पहले 'शिव' की उपाधि मिली थी और जो अव 'पशुपति' और 'महादेव' कहा जाने लगा था। सम्भवत इसकी लोकप्रियता का कारण यह था कि प्रागैतिहासिक सिन्धु-घाटी-सभ्यता के लोगो के प्रमुख नर-देवता के साथ इसका अनन्यीकरण कर दिया गया था। रुद्र की महत्ता और विकास का प्रधान कारण संस्कृतियो का सम्मिश्रण माना गया है।

रुद्र के साथ ही साथ 'विष्णु' नामक देवता का भी महत्त्व वढ चला था। ऋग्वेदकाल मे यह अपनी तीन विशिष्टताओ के लिए प्रसिद्ध था। ऐहिक और नैतिक शक्ति का मूल, कष्ट मे मानव का उद्धारक और देवताओ का तारक माना जाकर विष्णु ने शीघ्र ही वरुण का स्थान ग्रहण कर लिया। इस युग मे दिव्य देवताओ मे विष्णु सवसे अधिक प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ माना जाने लगा और उसके चरणो की प्राप्ति सन्त और ऋषियो के जीवन का लक्ष्य हो गया। वैदिक युग के अवसान के पूर्व ही विष्णु का अनन्यीकरण 'वासदेव' के साथ हो गया जो महाकाव्ययुगीन अनुश्रुति में कृष्ण-देवकी पुत्र नाम से उपास्य देव थे।

धार्मिक क्रिया-विधियाँ और यज्ञ—इस युग मे जो अन्य परिवर्तन हुआ वह प्राचीन वैदिक धर्म की क्रिया-विधियो और समारोहो के विकास के सम्वन्ध मे था। ऋग्वैदिक काल में पूजन के ढंग और यज्ञ-विधियाँ इतनी सादी व सरल थी कि प्रत्येक गृहस्थ उन्हे कर सकता था। सार्वजनिक यज्ञो के अवसर पर जाति या कवीले का प्रधान उच्च पुरोहित का कार्य भी करता था। परन्तु वाद के युग के पूजन में यज्ञ ही सव कुछ महत्त्वशाली हो गया था। देवता भी यज्ञो के अधीनस्थ माने जाने लगे थे। ऐसी धारणा हो गयी थी कि यज्ञो के यथाविधि सम्पादित होने पर देवताओ को

भी झुकना पड़ता है। यज्ञो और उनसे सम्बद्ध प्रत्येक क्रिया रहस्यमय तथा अव्यक्त शक्तियो से अनुप्राणित मानी जाने लगी थी। वैदिक ऋचाओ को जादू-टोने का आकर्षक मन्त्र मान लिया था जिनका प्रयोग यज्ञो के अवसर पर होता था। ऐसा विश्वास हो गया था कि यजमान का कल्याण यज्ञ की प्रत्येक क्रिया को विस्तारपूर्वक करने में था। यज्ञ के पेचीदे जटिल अनुष्ठानो मे से एक का भी उल्लघन अत्यन्त अभाग्य का कारण माना जाता था। वस्तुत. इस युग मे यज्ञो ने वह गौरव धारण किया और उनकी महत्ता इतनी बढी कि वे फल के साधन नही इच्छित परिणाम बन गये। प्रेतात्माओ, जादू-टोने, इन्द्रजाल, वशीकरण आदि मे विश्वास बढ चला था और इस लोकप्रिय अन्धविश्वास को धर्म मे स्थान प्राप्त हो गया था। कर्मकाण्ड की क्रिया-विधि अधिक विस्तृत, जटिल और कष्टसाध्य हो गयी थी और धर्म अनुष्ठान-क्रियाओ की एक अटूट परम्परा बन गया था। क्रिया-विधियो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग का निरूपण किया गया। इन क्रिया-विधिओ के अगणित भेद नियोजित हो गये और प्रत्येक किसी न किसी सफलता की सिद्धि के हेतु था। इस विश्वास ने कि देवतागण यज्ञो से प्रसन्न होते है प्रत्येक गृहस्थ के लिए नियोजित यज्ञो की सख्या, भेद और दिव्यता में वृद्धि कर दी। हम इस युग मे ऐसे यज्ञों का वर्णन सुनते है जो अनेक वर्षो तक चलते थे और जिनके लिए सत्रह पुरोहितो की आवश्यकता होती थी और इनमे से प्रत्येक का विविध अवस्था मे निर्दिष्ट कर्म था। वस्तुतः उस युग मे एक आर्य का जीवन ब्राह्मण पुरोहितो के निरोक्षण मे सम्पादित यज्ञो की एक शृ खला था। इससे ब्राह्मणों की प्रभुता दृढतापूर्वक स्थापित हो गयी थी।

परब्रह्म, पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष का सिद्धान्त—जब वैदिक धर्म की सादी आराधना और धर्म की योग्य सत्य-भावना विलुप्त हो रही थी और पुरोहित तथा धर्मशास्त्र यज्ञ सम्बन्धी विस्तृत क्रिया-विधियो का विकास कर रहे थे. तब अन्य वैदिक विचारधारा प्रवाहित हो रही थी। दार्शनिकों ने कर्मकाण्ड की दक्षता को सन्देह की दृष्टि से देखा और सृष्टि की आन्तरिक सारभूत एकता की कल्पना की। उत्सुक मस्तिष्क सृष्टि-सृजन, जीवन और मृत्यु की समस्याओ का गहन चिन्तन करने लगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सृष्टि के पार एक अपरिवर्तनशील शक्ति—'ब्रह्म'—है जो समस्त सृष्टि का स्रष्टा और नियन्त्रण करने वाला है। वह स्वय परमात्मा ही है जो प्रत्येक मे निवास करता है। किसी भी व्यक्ति के देहावसान के पश्चात् उसकी आत्मा अन्य शरीर मे प्रवेश करती है और इसके बाद फिर दूसरी देह मे, और इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा अपने बन्धनो मे मुक्त होकर परमात्मा मे विलीन न हो जाय। आत्मा के पुनर्जन्म के बाद का यही सिद्धान्त है, इसी से सयुक्त कर्म का सिद्धान्त निकलता है जिसके अनुसार कोई भी कर्म निष्फल नही जाता। सभी प्रकार के, उचित या अनुचित, भले या बुरे, कार्यो का समय आने पर परिणाम फलता है। आत्मा को पुनर्जन्म लेना पडता है और उसे अपने पूर्व-जन्मो का फल भुगतना पडता है।

कर्म और आत्मा से लिप्त आवागमन के सिद्धान्तों से लगा हुआ मोक्ष का सिद्धान्त है। मोक्ष जन्म और मरण से मुक्त अमरत्व की अवस्था है। आत्मा की यात्रा में यह ऐसी अवस्था है जब तक वह अनन्त जन्म-मरण के त्रास से मुक्त हो जाती है और उस दिव्य अनन्त 'ब्रह्म' में विलीन हो जाती है जिसका वह एक सूक्ष्म अणुमात्र है। मोक्ष का यह आदर्श अपने सम्मुख रखना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य था और उससे ऐसी आशा की जाती थी कि वह इस आदर्श की प्राप्ति के हेतु यत्नशील रहेगा।

इन सिद्धान्तो और ईश्वर प्रकृति (Matter), आत्मा, सृजन, मरण आदि की दार्शनिक कल्पनाओ का विवेचन ही उपनिषदो मे है जिनकी रचना इस युग मे हुई थी और विश्व के दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे सर्वोच्च देन है। इन्हीं समस्याओ का युक्तिसगत और नियमित विवेचन पुन उन ग्रन्थों मे किया गया है जिन्हे छह दर्शन कहते है—साख्य, योग्य, न्याय, वैशेपिक, पूर्व-मीमासा और उत्तर-मीमासा।

तप और संन्यास—उत्तर वैदिक युग की पूर्ण समाप्ति के पूर्व एक अन्य धार्मिक विचारधारा प्रस्फुटित हुई थी जिनमे जीवन से वैराग्य और तप का आदर्श था। इसके अनुसार तप और ब्रह्मचर्य पर खूब जोर दिया गया और सन्यास-जीवन अति गौरवपूर्ण माना जाने लगा। तपस्वी वह व्यक्ति होता था जो प्रलोभनकारी सासारिक जीवन का परित्याग कर वन की निर्जनता मे जीवन की आध्यात्मिक समस्याओ पर अनन्य निष्ठा और एकाग्रता के साथ गहन मनन के हेतु निवास करता था। जाति-प्रथा की उपेक्षा करते हुए वह आत्मा के पुनर्जन्म और कर्म मे विश्वास करता था। वह अपने शरीर को अनेक यातनाएँ देता था। उसके जीवन का दृष्टिकोण तपस्या था जिसकी विशिष्टता शारीरिक यातना और आत्म-पीडन था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यह आत्मा की शुद्धि करने, अलौकिक विलक्षण शक्ति प्राप्त करने और परमात्मा मे विलीन होने का एक साधन था। इस तप-मार्ग का प्रतिपादन खूब किया जाने लगा और वाद के महाकाव्यकाल मे तो प्रचुरता के साथ इनका अभ्यास किया गया।

सूत्रों और धर्मशास्त्रों का युग

उत्तर वैदिक युग के वाद आर्यों का सामाजिक तथा धार्मिक जीवन जटिल होता गया। वर्ण-व्यवस्था के नियम-उपनियम भी कठोर होते गये और धार्मिक कर्मकाण्ड मे वृद्धि हुई। धर्म सम्बन्धी परम्परा और तत्सम्बन्धी क्रिया-विधियो की सघनता बढती जा रही थी और कर्मकाण्ड के पेच दिन-प्रतिदिन सघन होते जा रहे थे। इसलिए इस वात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि जीवन के विभिन्न पहलुओ से सम्बन्ध रखने वाले नियमो को क्रमानुसार सगठित कर दिया जाय और धार्मिक परम्परा के विचार तथा उनकी पद्धतियाँ लिख डाली जाये, जिससे मौलिक आदान-प्रदान मे उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो जाय एव भावी पीढियाँ भी लिखित ग्रन्थो से लाभ उठा सके। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सूत्र साहित्य की रचना हुई। सूत्र वे ग्रन्थ है जिनमे विधि-विधान एकत्र कर परस्पर जोड दिये गये। सूत्रो की विशेपता यह थी कि कम से कम सूत्रो मे अधिक से अधिक भाव व्यक्त करना। इससे उन्हे कण्ठस्थ करने मे सरलता होती थी। वास्तव में विभिन्न विधानो के स्मरण करने के लिए इन ग्रन्थो के वाक्य "सूत्र" (सूत्र=डोरे) हो गये। प्रारम्भ मे तो यह नवीन गद्य-शैली सुविधाजनक प्रमाणित हुई, किन्तु आगे चलकर उसकी सूक्ष्मता के कारण सूत्र-ग्रन्थो का समझना कठिन हो गया और तव उन पर अनेक टीकाएँ रचने की आवश्यकता हुई। उनमे पतजलि का 'महाभाष्य' प्रमुख है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' भी सूत्र-पद्धति के ग्रन्थो मे वेजोड है। इसमें वैज्ञानिक ढंग से व्याकरण के सूक्ष्म से सूक्ष्म नियमो को सूत्रबद्ध कर दिया गया है। विद्वानो का मत है कि सूत्रो का काल साधारणत ईसा से छठी अथवा सातवी सदी पूर्व और प्राय. दूसरी सदी ईसवी पूर्व के बीच है।

सूत्र-ग्रन्थ—उत्तर वैदिक काल मे वैदिक ऋचाओ और मन्त्र के व्यवस्थित अध्ययन और धर्म की व्यावहारिक आवश्यकताओं से कालान्तर मे 'वेदांगो' का जन्म हुआ है। वेदाग छह है—व्याकरण, शिक्षा (उच्चारण), कल्प (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्द-विज्ञान), छन्दस और ज्योतिष। इन वेदागो का उद्देश्य वैदिक स्थलो की 'व्याख्या, रक्षा और प्रयोग' करना था। ऊपर जिस कल्प का वर्णन है उसमे धर्म सम्बन्धी सूत्र है। यह तीन वर्गो मे विभाजित है—(1) श्रौत सूत्र, (2) गृह्य सूत्र, (3) धर्म सूत्र।

श्रौत सूत्रो का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नही है। उनका सम्बन्ध हवि और सोम के वैदिक यज्ञ की विधियो और अन्य धार्मिक अनुष्ठानो मे है। गृह्य सूत्रो का सम्बन्ध गार्हस्थ्य अनुष्ठानों मे है। इसमे व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कर्मकाण्डो और अनुष्ठानो का वर्णन है। इन सूत्रो ने व्यक्ति को जीवन गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक अनेक कालों मे विभक्त कर दिया है। प्रत्येक काल से सम्बन्धित सविस्तृत क्रिया-विधियाँ है जिनके अपने-अपने विधान हैं। इन क्रिया-विधियो मे सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ण-संस्कार है। जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, मृत्यु आदि प्रमुख सोलह सस्कारो का सूक्ष्म विधान दिया गया है और इन संस्कारो के विस्तृत नियमो को सूत्रबद्ध किया गया है। धर्म सूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार के नियमो से है। दैनिक, सामाजिक जीवन के नियमों-उपनियमो, प्रणालियो आदि का इनमे विस्तृत विवेचन है। हिन्दू सामाजिक कानून-व्यवस्था का श्रीगणेश इन्ही सूत्रों से होता है। इसमे गौतम बौधायन, आपस्तम्ब और वशिष्ट के सूत्र सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र हिन्दुओ के कानून ग्रन्थ है। इनमे मनु द्वारा रचित मानव-धर्मशास्त्र अधिक प्रसिद्ध है। मनु को हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ विधायक (Law-giver) माना जाता है। मानव-धर्मशास्त्र को मनुस्मृति भी कहते है।

सांस्कृतिक दृष्टि से सूत्र-युग का महत्त्व

संस्कृति के विकास मे इन सूत्रों का महत्त्व है। इन्होंने समाज को व्यवस्थित व सुसंगठित किया। गृह्य सूत्र ने मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त कर्तव्यों का सविस्तृत संविधान बतलाकर, प्रत्येक अवसर के हेतु सस्कारो को निश्चित कर गृहस्थ के लौकिक जीवन को निर्धारित किया तथा परिवार सम्बन्धी अनुशासन-व्यवस्था निर्दिष्ट की। इन्ही घरेलू क्रिया-विधियों, सस्कारो और इनकी अनुशासन-व्यवस्था ने समाज को एक जाति मे ढाल दिया जो कालान्तर मे हिन्दू जाति के नाम से प्रख्यात हुई। गृह्य सूत्र के समान ही धर्म सूत्र भी महत्त्वपूर्ण है जिनमें सामाजिक प्रथाओ तथा रूढियों का विवरण है। इनमें साधारण दीवानी और फौजदारी दण्ड-विधान के सामाजिक व्यवहार और सम्बन्ध के नियमो एव सम्पत्ति के सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है। ये अब निस्सन्देह इस ओर संकेत कर सकते है कि उस युग मे समाज मे जाग्रति के आधार पर सगठित एव व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति थी।

सूत्रों में सांस्कृतिक जीवन की झलक

इन सूत्रो मे तत्कालीन सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की झलक मिलती है। उस काल में सामाजिक व्यवस्था अधोलिखित प्रकार की थी

सामाजिक दशा—उस युग मे वर्णाश्रम-धर्म समाज मे पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चला था। प्रत्येक-वर्ण के कर्तव्यों और अधिकारियो को निर्धारित कर दिया गया था

और प्रत्येक मनुष्य से ऐसी आशा की जाती थी कि वह उन नियमो का पालन करेगा। द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का जीवन चार आश्रमो मे विभाजित कर दिया गया था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। वर्णो की विशुद्धता पर अधिक वल दिया गया था। द्विजो को शूद्रो के हाथ से भोजन ग्रहण करना एव उनसे विवाह-सम्वन्ध करना निपिद्ध था। उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भोजन और अछूत-वर्ग का स्पर्श वर्जित हो गया था। इन विपयो मे सूत्रों के विधान कडे और स्पष्ट हो गये थे। सूत्रो मे नारियो को निम्न स्थान दिया गया था। साधारण धर्म सूत्र का दृष्टिकोण सकुचित था। इन सूत्रो ने समुद्र-यात्रा करना एव विदेशियो का भापा सीखना निपिद्ध कर दिया था।

राजनीतिक दशा—धर्म सूत्रो मे नरेशो के विविध कर्तव्यो का निरूपण किया गया है। प्रजा की पूर्णतया रक्षा करना, देश को वाह्य आक्रमणो से सुरक्षित रखना, आततायियो का दमन करना, अभियुक्तो को दण्ड देना, ब्राह्मणो, श्रोत्रियों, स्नातकों, विद्यार्थियो, दुर्बलो एव अपगो की सहायता करना, युद्ध के समय सैन्य-सचालन कर वीरता से लडना, शान्ति के समय न्याय करना आदि राजाओं के विशिष्ट कर्तव्य माने गये थे। उनका निवास 'पुर' (राजधानी) के एक विशाल भवन मे था। राजप्रासाद (वेशम) के अतिरिक्त ऐसे भी भवन थे जहाँ अतिथियो का सत्कार एव रनुाजसभा के अधिवेशन होते थे। राजाओ के अधिकार सीमित थे। वे अपनी इच्छा-कूल स्वय राजनियम नही वना सकते थे। नगरो एव ग्रामो मे चोरो तथा लुटेरो से जनता की रक्षा के हेतु स्वामिभक्त और ईमानदार कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। चोर को न पकड सकने पर अथवा चोरी या लूट की सम्पत्ति प्राप्त न कर सकने पर इन कर्मचारियो को अपने व्यय से क्षतिपूर्ति करनी पडती थी।

शासन-प्रवन्ध और राष्ट्र-संरक्षण के लिए प्रजा को विविध कर देने पडते थे। भूमि, विक्रय की वस्तुओ, मवेशी, स्वर्ण, कन्द-मूल, फल, औषधियाँ, मधु, मास, घास और ईंधन पर कर लगे हुए थे। कानून का आधार वेद, अनुश्रुति और वेदो के ज्ञाता के आधार थे। गौतम के धर्म सूत्र के अनुसार न्याय-दान वेदो, धर्मशास्त्रो, वेदागो, प्रादेशिक आचार-विचार, वर्णो और कुलो के आचार और कृपको, सौदागरों, गोपालो, महाजनो एव शिल्पियो के रीति-रिवाज के अनुसार होता था। इससे प्रकट होता है कि विभिन्न वर्गो और श्रेणियो के रीति-रिवाज और प्रथाएँ राज्य द्वारा मान्य थी। इस युग के ब्राह्मणो को सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रो मे इतने अधिक विशिष्ट अधिकार प्राप्त हो गये थे कि वे मृत्यु-दण्ड से मुक्त थे। समान अपराध के लिए जहाँ शूद्र शुल्क से दण्डित होता था वहाँ अधिकतर ब्राह्मण सर्वथा छूट जाता था।

महाकाव्य

महाकाव्य, उनके लेखक और उनका रचनाकाल—'रामायण' और 'महाभारत' दो वडे महाकाव्य है। उनकी कहानियाँ इतनी अधिक प्रचलित व प्रख्यात है कि उनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक नही है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि और महाभारत के ऋपि व्यास माने जाते है। परन्तु महाकाव्य आज जिस रूप मे हमारे सम्मुख है वह किसी एक युग की अथवा एक ही लेखक की कृति नही है। इन महाकाव्यो का वर्तमान रूप इनके मूल ग्रन्थो मे समय-समय पर किये गये अनेक सशोधनो और परिवर्तनो का परिणाम है। रामायण का अन्तिम सस्करण जो आज

हमारे सम्मुख है ईसवी पूर्व सन् 200 के लगभग की रचना है और महाभारत का अन्तिम संस्करण इसी के आस-पास या इसके थोड़े समय बाद का है। रामायण के मूल ग्रन्थ का रचनाकाल ई० पू० 200 या 300 माना जाता है और महाभारत का इससे भी पूर्व का, सम्भवतः ईसवी पूर्व चतुर्थ सदी। फिर भी ईसवी पूर्व द्वितीय सदी मे इन ग्रन्थों के अधिकाश भागो की रचना पूर्ण हो चुकी थी। परन्तु दोनों ही महाकाव्य अपने रचनाकाल के बहुत ही पूर्व के समय का वर्णन करते हैं।

महाकाव्यों का महत्त्व—ये दोनो महाकाव्य न तो कवि-कल्पना की कृति हैं, न विशुद्ध पौराणिक गाथा, और न दृष्टान्त और रूपक की कथा ही है, परन्तु इनमें वास्तविक घटनाएँ, कहानियाँ और गाथाएँ निस्सन्देह घनिष्ठतापूर्वक मिश्रित हो गयी है। दोनो महाकाव्यो का उदय इन प्राचीन आख्यानो, गाथाओ, वीरो की प्रशस्तियों तथा वीरता की घटनाओ से सम्बन्ध रखता है जिन्हे पेशेवर गायक या भाट राजसभा में अथवा धार्मिक समारोहो और यज्ञों के अवसरों पर गाया करते थे। इन वीरता की गाथाओं के कुछ अवशिष्ट भाग हमारे दो बडे महाकाव्यों मे अभी भी सुरक्षित हैं। रामायण और महाभारत प्राचीन वीरो और वीरांगनाओ के पारस्परिक प्रणय और विद्रोह, जय और पराजय की गाथाएँ है तथा प्राचीनतम प्रचलित अनुश्रुतियों की संहिताएँ हैं। मोटे रूप मे रामायण आर्यो के दक्षिण भारत मे प्रवेश करने के इतिहास का विवेचन करता है। महाभारत की कथा यह बताती है कि किस प्रकार छोटे-से महत्त्वहीन घरेलू झगड़े से हिन्दू आर्यो की दीर्घ काल की विवादग्रस्त समस्याएँ प्रज्वलित हो उठी।

भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए दोनो महाकाव्य अधिक महत्त्व के है, क्योंकि ये महाकाव्यकाल की सामाजिक, सास्कृतिक और राजनीतिक दशा व सस्थाओ के विषय मे बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करते है। साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से भी ये कम महत्त्व के नही हैं। भारतीय साहित्य की ये सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ है। ऐतिहासिक दृष्टि से रामचन्द्र की दक्षिण-यात्रा आर्यो की दक्षिण-विजय का प्रथम वृत्तान्त है। अनुमानत इसके पश्चात् आर्यो की सभ्यता व सस्कृति का विस्तृत प्रभाव दक्षिण मे फैला।

इनके ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त ये दो महाकाव्य प्रत्येक प्रकार की सामग्री के भण्डार है। इनमें वर्णित धर्म, आचार-विचार, सस्थाएँ, प्रथाएँ, प्रणालियाँ और आदर्श सदियो से भारतीयो को प्रेरणा दे रहे है और हमारे सास्कृतिक जीवन-निर्माण मे प्रमुख भाग लेते रहे है। साधारण मनुष्य के लिए ये काव्य ही नही, धर्म के मूल स्रोत, सामाजिक आचार के मेरुदण्ड और सस्कृति के प्राण रहे हैं। ये गृहस्थ-जीवन के उन उज्ज्वल और उच्च आदर्शो को लोकप्रिय और मनोरजक ढंग से प्रस्तुत करते है जिनकी जड सदियो से भारतीय विचाराधारा और अनुश्रुति मे दृढ हो गयी है। सदियो से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर रहे है और देश की सास्कृतिक एकता की वृद्धि कर रहे है। इन काव्यो के पात्र हिन्दुओ की पीढियो की नैतिकता के उदाहरण रहे है। आज भी राम अनेक आदर्शों के पुंज माने जाते है। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति और अपनी प्राणाधिक प्रियतमा को लोकानुरंजन के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं। राम-राज्य आज तक आदर्श राज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतीक है। भारतीय स्त्रियो के लिए वह पवित्रता और पतिव्रत धर्म मे आज

भी आदर्श है। सदियों से ललनाएँ सीता के उदात्त उदाहरणों का अनुसरण करती आ रही है। कौशल्या जैसी माता और लक्ष्मण जैसे भाई आज भी हिन्दू समाज मे आदर्श और अनुकरणीय माने जाते है।

महाभारत केवल कौरव-पाण्डवो के सघर्ष की कथा ही नही अपितु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वाङ्गीण विकास की गाथा भी है। इसमे तत्कालीन धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शो का अमूल्य एवं अक्षय सग्रह है तथा भारतीय नीति का विशाल दर्पण है। कतिपय विद्वान् महाभारत को सर्वप्रधान काव्य, समस्त दर्शनो का सार, स्मृति, इतिहास एव चरित्र-निर्माण की खान तथा पंचम वेद मानते है। मानव-जीवन की ऐसी कोई समस्या या पहलू नही जिस पर इस ग्रन्थ मे सविस्तृत विवेचन न हो युधिष्ठिर आज भी सत्य के प्रतीक माने जाते है और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता है। विस्तार मे कोई भी काव्य महाभारत की समता नही कर सकता। यूनानियो के महाकाव्य इलियड और ओडेसी दोनो मिलाकर इसका आठवाँ भाग है। उपाख्यानो द्वारा लोक-धर्म के अनेक अगो पर प्रकाश डाले जाने से इसे उपदेशात्मक ग्रन्थ कहते हैं और धार्मिक, दार्शनिक विचारो का समावेश होने से इसे हिन्दू धर्म का धर्मशास्त्र कहा गया है। वस्तुत. सदियो से भारतीयो ने अपने सुख-दुख मे, अपने श्रमपूर्ण दैनिक जीवन मे इन दोनो महाकाव्यो की ओर प्रेरणा और शान्ति के लिए देखा है। इस रूप मे ये ग्रन्थ राष्ट्रीय सम्पत्ति हो गये है और इन्होने पृथकत्व, संघर्ष, कष्ट और दुर्दैव के सुदीर्घ काल मे मूल उद्गम, विकास और परम्परा के विचारो को सदैव जीवित रखा है। "भारत के वाहर जहाँ कही भी हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ, रामायण के साथ-साथ वहाँ महाभारत का भी प्रचार हुआ। दूसरी सदी ईसवी पूर्व में यूनानी राजदूत इसके उपदेशो को उद्धृत करते है। छठी सदी ईसवी मे सुदूर-कम्बोडिया के मन्दिरो मे इसका पाठ होने लगता है, सातवी सदी मे मगोलिया के तुर्क अपनी भाषा मे हिडम्वा वध आदि उपाख्यानो का आनन्द लेने लगते है और दसवी सदी में जावा की लोक-भाषा मे इसका अनुवाद हो जाता है।" ये ग्रन्थ वास्तव मे भारतीय सभ्यता व संस्कृति की अमर कृतियाँ है। इन ग्रन्थो से उनके प्राचीन काल सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियो पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इसका सक्षिप्त विवेचन अधोलिखित है

भगवद्गीता—गीता महाभारत का एक अग है। इसमे भगवान के गुण, प्रभाव और धर्म का सरल वर्णन है और निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग और साख्ययोग की विवेचना है। इसमे सम्पूर्ण वेदो, उपनिषदो, पुराणो आदि का सार है। गीता के अनुसार ससार से मुक्ति के लिये ज्ञान, तपस्या व वैराग्य का मार्ग ही आवश्यक नही है, परन्तु भक्ति मार्ग भी मोक्ष प्राप्ति का साधन है। मुक्ति शुष्क नैतिक आचरण मे नही किन्तु भक्ति मे है और इस भक्ति-मार्ग मे जाति व स्त्री-पुरुष का कोई भेद नही है। इसके अतिरिक्त सव कुछ भगवान को समझकर आसक्ति एवं फल की इच्छा का त्याग करके, सभी भगवान को अर्पण करके कार्य करें। यह निष्काम कर्म है। इन सिद्धान्तो के अलावा गीता ने आत्मा की अमरता का पाठ पढाकर मानव को शरीर की आसक्ति से मुक्त किया है।

राजनीतिक दशा

महाकाव्यकाल मे आर्य अव अधिक पूर्व की ओर वढ़ गये थे और मगध, अग जैसे राज्यो का इनमे वर्णन है। इन राज्यो का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थो मे नही है।

राजनीतिक क्षितिज पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था और सार्वभौम साम्राज्य की धारणा निर्मित हो गयी थी। 'सम्राट' और 'साम्राज्य' के आदर्श ने जिनका हवाला ब्राह्मण ग्रन्थो मे है, महकाव्य के साहित्य में निर्दिष्ट रूप धारण कर लिया था। जो नरेश 'राजन्य' कहाने वाले छोटे-छोटे शासको को अपने आधिपत्य में कर लेते थे, वे सम्राट की उपाधि धारण करते थे। 'दिग्विजय' राजनीतिक प्रभुता का प्रतीक था, किन्तु पराजित देशो को वास्तव मे विजित राज्यो मे नही मिलाया जाता था। पराजित राजा द्वारा प्रभुता को स्वीकृत कर लेना ही पर्याप्त माना जाता था। साधारणतया राजसूय अथवा अश्वमेघ यज्ञ करके 'सम्राट' की उपाधि ग्रहण की जाती थी। ये यज्ञ नरेश द्वारा प्राप्त सम्मान, शक्ति और गौरव के प्रतीक थे। अधीनस्थ राजा इन समारोहों में सामन्तो के समान उपस्थित होते थे और धन-जन से अपने सम्राटो को युद्धकाल मे सहायता और सहयोग देते थे। इस प्रकार सामन्त-वाद जिसने प्रारम्भिक और मध्यकालीन भारत की राजनीति मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, भलीभाँति स्थापित हो चुका था। वंश-परम्परानुसार राजा का उत्तरा-धिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था। परन्तु ज्येष्ठ पुत्र शारीरिक या मानसिक रूप से पंगु होने पर राज्यारोहण से वंचित कर दिया जाता था। उदाहरणार्थ, धृतराष्ट्र के जन्म से अन्धे होने के कारण कनिष्ठ पुत्र पाण्डु राजा हुआ।

महाकाव्यकाल का राजा सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी नही था। उसे अपने बन्धुओं, मन्त्रियों, परामर्शदाताओ, पुरोहितो और जनता के मत का सम्मान करना पडता था। कुल, जाति और श्रेणी के आचार-विचार के नियमों को भी उसे अगीकार करना पडता था। यह माना जाता था कि राजा प्रजा का अनुरजन और रक्षण करता है और उसके कष्ट-निवारण करता है। दुष्ट, निरकुश, अत्याचारी राजा सिहासन से उतार दिया जाता था। 'पागल कुत्ते की भॉति' उसका वध कर दिया जाता था। जब राग-द्वेषवश राजा वेन ने प्रजा पर अत्याचार किये तब ऋषियों ने उसे गद्दी से उतार दिया। राजा अपार ऐश्वर्य का केन्द्र था, वह बडी शान-शौकत और तड़क-भड़क से रहता था एव नर्तकियॉ तथा शिथिल आचरण की नारियॉ उसकी सतत अनुगामिनी होती थी। संगीत, द्यूत-क्रीडा, आखेट एवं पशु तथा मल्लयुद्ध उसके मनोरंजन के साधन थे। न्यायदान करना उसका एक प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। राज्य की राजधानी प्राचीरो से सुरक्षित होती थी। इस प्राचीर में भव्य प्रवेशद्वार और बुर्ज होते थे और इसके चतुर्दिक विस्तृत गहरी जलपूरित खाई होती थी। राजधानी मे जीवन की आवश्यकताओ और सुख-सामग्री के सभी साधन और सुविधाएँ उपलब्ध थे। राजधानी राजप्रासादो, सगीतशालाओ, उद्यानों, मनो-रजन के स्थलो तथा अन्य सुन्दर भवनो से सुशोभित रहती थी। उसमे विस्तृत पथ और राजमार्ग होते थे।

राजा राज्य का शासन-संचालन मन्त्रि-परिषद की सहायता व सहयोग से करता था। प्रधान-मन्त्री एव अन्य अमात्य नीति-कुशल, आचारवान, सत्य-प्रिय तथा ईमानदार होते थे। शासन की निम्नतम इकाई ग्राम थी जिसका मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था। राज्य में अन्य अधिकारी भी थे। इनमे से प्रत्येक अपने से ऊपर वाले के प्रति उत्तरदायी होता था और अन्त में सभी राजाओ के प्रति उत्तरदायी थे। उस समय भी राज्य-कर्मचारी रिश्वतखोर और लूटने वाले होते थे। अतएव राजा का कर्तव्य माना गया था कि ऐसे व्यक्तियो से प्रजा की रक्षा करे। राज्य की आय के

प्रमुख स्रोत भूमि की उपज, वाणिज्य-व्यापार, खानो, समुद्रो तथा वनों की उत्पत्ति पर लगाये हुए कर थे। अधिकारीगण अपने क्षेत्र का कर वसूल कर ऊपर के राजकोप मे भेजते थे। कर का उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि और सुरक्षा ही माना जाता था।

उस युग मे गणराज्य था प्रजातन्त्र राज्य भी विद्यमान थे। (महाभारत का शान्ति-पर्व, अध्याय 107)। इन राज्यो मे जन-सत्ता का विशेप सम्मान था। कभी-कभी अनेक गण मिलकर अपना 'सघ' संगठित कर लेते थे। ऐसे ही एक अन्धक-वृष्णि-सघ का उल्लेख महाभारत के शान्ति-पर्व मे हुआ है।

स्वदेश की विदेशी आक्रमणो से रक्षा तथा युद्धो के लिए विशाल सेनाएँ रखी जाती थीं। राजा की यह सेना आर्य अभिजातकुलीनो और साधारण जनता द्वारा निर्मित होती थी। यह सेना स्थायी तथा स्वयसेवक दोनो प्रकार की होती थी। सेना के चार अग थे—पदाति, अश्व, हाथी और रथ। इन चार अंगो के अतिरिक्त जल-सेना, यातायात और गुप्तचर विभाग भी थे। ढाल, तलवार, गदा, भाला, धनुप-वाण आदि प्रकार के अस्त्र-शस्त्र थे। कवच का प्रयोग सब करते थे। चक्र और वाणो की भाँति अज्ञात प्रक्रिया से जल उठने वाले चक्र आदि। अस्त्रो का प्रयोग होता था और सेना के लिये अनेक व्यूह बनाये जाते थे। सेनानी या योद्धा रणक्षेत्र मे युद्ध करते हुए प्राण दे देने को प्रस्तुत रहता था। क्षत्रिय यशोपार्जन तथा अपने स्वमी एव नेता के लिए युद्ध करते थे। आत्म-समर्पण का रूप दाँतो तले तृण दवा करविजेता के सम्मुख उपस्थित होता था। वर्तमान युद्ध-नियमो की भाँति उस समय भी युद्ध की कुछ उल्लेखनीय व्यवस्थाएँ थी। नि शस्त्र, निष्कवच और युद्ध से पीठ दिखाने वाले पर प्रहार नही किया जाता था। प्रहार करने से पूर्व शत्रु को सूचित किया जाता था; विश्वास देकर या घबराहट मे डाल कर प्रहार करना एव परस्पर छलना अनुचित माना जाता था।

सामाजिक दशा—महाकाव्यकाल के हिन्दू महान सादगी, न्याय-निष्ठा, सचाई और सत्याशीलता का जीवन व्यतीत करते थे। वे अपने प्रात स्नान, प्रार्थना और पूजन मे कदाचित ही कभी चूकते थे। उनका आहार और वेषभूषा भी सादे थे। भोजन मे माँस और सुरा का प्रयोग, जिसका उल्लेख वैदिक युग मे अनेक बार हुआ है, बहुत कम होता जा रहा था, समाज मे शाकाहारियो की सख्या नित्यप्रति बढती जा रही थी। परन्तु कुछ अन्य सामाजिक दुर्गुण, जैसे द्यूत-क्रीडा, समाज के उच्च-वर्गो मे अभी विद्यमान थे। फलो मे आम का सर्वप्रथम उल्लेख महाकाव्यो मे आया है। एक हिन्दू की वेश-भूपा मे तीन वस्त्र थे—धड से ऊपरी भाग के लिए वस्त्र का लम्बा टुकडा, नीचे भाग के लिए अन्य टुकडा और सिर के हेतु पगडी। पाजामे, कोट और कमीज अज्ञात थे।

वैदिक युग की भाँति इस काल मे जीवन का दृष्टिकोण आशावादी था। भाग्य की उपेक्षा पौरुप पर अधिक महत्त्व दिया जाता था। महाभारत में बार-बार पुरुपार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है और महत्त्वाकाक्षा, सतत, अथक परिश्रम एव भगीरथ प्रयत्न सम्पत्ति के मूल माने गये है। अधिकतर साधारण जनता मिट्टी के दुर्ग के चतुर्दिक ग्राम मे रहती थी और पशु-पालन तथा कृषि-कर्म करती थी। आपत्तिकाल मे लोग इन्ही दुर्गो मे आश्रय लेते थे। वणिक तथा अन्य व्यवसायी एवं नागरिक नगरो मे रहते थे।

समाज में जाति-प्रथा पहले की अपेक्षा अधिक निर्दिष्ट हो गयी थी। वर्ण-व्यवस्था मे अभिजातकुलीन राज्य और ब्राह्मण विशिष्ट माने जाते थे। उन्होंने समाज की समस्त सुविधाएँ स्वायत्त कर ली थी। ब्राह्मणो की प्रभुता जिनको उपनिषदो के युग मे चुनौती दी गयी थी, पुन: प्रतिष्ठित हो गयी थी। साधारणतया राजा का मन्त्री ब्राह्मण होता था जो उसे परामर्श देता और उसका पथ प्रदर्शित करता था। कभी-कभी ब्राह्मण मन्त्री उसका आध्यात्मिक गुरु भी होता था। राजा से लेकर कृपक तक प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण को प्रसन्न करने और उसे कष्ट देने में डरता था, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि ब्राह्मण-क्रोधाग्नि कष्ट देने वालो को जलाकर भस्मीभूत कर देने की सामर्थ्य रखती थी। अनार्य शूद्रो की दशा दासो की सी थी। इनके स्वयं के कोई अधिकार नही थे। इनका कर्तव्य केवल द्विजो की सेवा-सुश्रूपा करना था।

वैदिक युग की अपेक्षा इस युग में नारियो का स्तर समाज मे गिरता जा रहा था। नारीविरोधी-वर्ग पुत्रियो के जन्म को बुरा मानता था और उन्हें समस्त दुर्गुणों का मूल समझता था, किन्तु अन्य विचारक ऐसा विश्वास करते थे कि स्त्रियो की प्रतिष्ठा से देवता प्रसन्न रहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निम्न जातियो की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे, पर शूद्रों को अपनी जाति मे ही विवाह करने का आदेश था। सती-प्रथा जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नही है, महाकाव्यकाल मे प्रचलित हो चली थी। बालविवाह-प्रथा से लोग अवगत नही थे और बहुविवाह प्रथा धनिकों और राजसी-वर्ग मे खूब प्रचलित थी। प्राय: यौवनावस्था प्राप्त होने पर कन्याओ का विवाह होता था। उन्हे अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी और स्वयवर-प्रथा का प्रचार था। उच्च-वर्ग की कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी और उन्हे नृत्य तथा संगीत का नियमित अभ्यास कराया जाता था। यत्र-तत्र पर्दे का उल्लेख प्राप्त होता है। पर सम्भवत: यह प्रथा राज-सभाओ और राजप्रासादो तक ही सीमित थी। किन्तु फिर भी स्त्रियों मे मध्य-युग जैसी परतन्त्रता एव घोर पर्दा-प्रथा नही थी। गृहस्थ जीवन में पत्नी का स्थान पति के बराबर समझा जाता था। उन्हे पुरुष की अर्द्धांगिनी एव समस्त सुखो का स्रोत माना जाता था। अपने विवाहित जीवन में वे पतिव्रता के उच्च आदर्श का पालन करती थी।

महाकाव्यकाल मे हम परिषदो और शिक्षा के ऐसे केन्द्रों के विषय मे सुनते है जहाँ आचार्य विद्या-दान के लिए शिष्य रखते थे। विद्या के हेतु शैशवकाल मे ही बालक को शिक्षक के पास रख देते थे। उसके पास बालक कठोर सयम व अनुशासन मे अनेक वर्षो तक रहता था। राज-कुल के राजकुमारो तथा अन्य क्षत्रिय विद्यार्थियों को अन्य कलाओ के साथ शासन-विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी और वे धनुर्विद्या, तलवार तथा भाले के प्रयोग में निपुण होते थे। वेदों का अध्ययन सबसे अधिक महत्त्वशाली कर्तव्य माना जाता था और ज्योतिप, भूमिति, गणित, काव्य आदि विपयो का अध्ययन केवल आनुपगिक शिक्षा मानी जाती थी।

आर्थिक दशा—अधिकतर जनता पशुपालन और कृपि-कर्म करती थी। सिंचाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था और उद्यान-कला का विकास होने लगा था। पशु अभी भी सम्पत्ति के प्रधान अग माने जाते थे। विविध प्रकार के शिल्प-व्यवसाय प्रचलित थे, जिनमे वस्त्र-व्यवसाय अधिक उन्नति पर था। रेश्मी वस्त्रो का भी प्रचार था। स्वर्ण, चाँदी, लोहा, सीसा और राँगे से विविध पदार्थ तैयार किये जाते थे। समुद्र से मोती एव दक्षिण की खदानो से अनेक मणियाँ निकाली जाती थी। विभिन्न

शिल्पो को राज्य की ओर से प्रोत्साहन देने के लिए सहायता का प्रवन्ध था। व्यापार प्रमुख रूप से वैश्यो के हाथ में था। सौदागर दूर से वस्तुओं को लाते एवं उन पर चुगी देते थे। व्यापारिक माल की ढुलाई पशुओ तथा वैलगाड़ियो से होती थी। यत्र-तत्र खोटे काँटो का भी हवाला मिलता है जिनके अनुशासन के लिए वाजार के ऊपर सम्भवत तीव्र दृष्टि रखनी पडती होगी। वणिको और शिल्पियो की 'श्रेणियो' या सघो का प्रभूत प्रभाव था। इन श्रेणियो के प्रधानो का-जिन्हे महाजन कहते थे, विशेप सम्मान होता था।

धार्मिक दशा—वैदिक युग से महाकाव्यकाल के धर्म मे गहन भेद उत्पन्न हो गया था। प्राकृतिक शक्तियो का प्राचीन पूजन अव वहुत पीछे छूट गया था। प्राकृतिक शक्तियो के सूचक वैदिक देवताओ का अव लोप हो चुका था और उनका स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती आदि देवी-देवताओ ने लिया था। जिस प्रकार वैदिक युग मे समस्त देवता एक ईश्वर की विभिन्न शक्तियो के सूचक थे, उसी प्रकार इस युग में ईश्वर के तीन मुख्य उत्पादक, धारक और सहारक-शक्तियो के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो गये थे। इस त्रिमूर्ति का उत्कर्ष इस युग की विशेपता है। विष्णु का महत्त्व अधिक वढ रहा था और धीरे-धीरे यह विश्वास वन गया था कि धर्म की प्रतिष्ठा के लिए विष्णु वार-वार अवतार लेते है। रामायण के समय तक यज्ञो का महत्त्व खूब रहा। यद्यपि महाभारत के समय ये सर्वथा विलुप्त नही हुए थे तो भी क्रूर रक्तिम यज्ञो के स्थान पर आत्म-सयम और चरित्र-शुद्धि पर अधिक वल दिया जाने लगा था। ऐसी धारणा होने लगी थी कि सच्चा यज्ञ तो सत्य, अहिंसा, सयम, वैराग्य, आचार-शुद्धि एव तृष्णा तथा क्रोध का परित्याग है। तपस्या, कर्म और आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त भी पूर्णत. मान्य हो चले थे।

महाभारत के एक भाग भगवद्गीता मे इस युग के धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रदर्शित होता है। उसमे कर्म, ज्ञान और तप तीनो ही साधनो द्वारा मोक्ष की प्राप्ति वतायी गयी है। गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का पूर्ण पालन करने पर मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है। गीता का प्रधान उपदेश है कि फल की आशा छोड़ निष्काम वुद्धि से अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गीता ने सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किया। उसने मोक्ष का द्वार समस्त समाज के लिए खोल दिया। गीता ने पहली वार स्त्री और पुरुप, ऊँच और नीच, द्विज और शूद्र, आर्य और अनार्य, सभी को मोक्ष का अधिकारी समझा। कृष्ण के उपासक तो मोक्ष के अधिकारी है ही, परन्तु वे सभी जो किसी भी अन्य देवता का श्रद्धापूर्वक स्मरण कर उसकी उपासना करते है, भगवान की ही भक्ति करते है। इस प्रकार गीता मे प्रतिपादित धर्म किसी विशिष्ट देवता की उपासना या भक्ति नही अपितु वह सार्वभौम धर्म था जो जाति, देश, सम्प्रदाय आदि के वन्धनो से वहुत ऊपर उठा हुआ था।

रामायण और महाभारत की सामग्री से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग मे आधुनिक सामाजिक और धार्मिक विश्वासो की ओर सस्थाओ की नीव पूर्णतया रखी गयी थी। जाति-प्रथा भी इनमे से एक थी। भारतीय सस्कृति के विकास मे इसका वडा हाथ रहा है। अतएव इसका यहाँ विवेचन करना अप्रासगिक न होगा।

जाति-प्रथा

हिन्दुओ की जाति-प्रथा का वर्तमान रूप उत्तर-वैदिक काल और महाकाव्यो

के युग में विकसित हुआ है। अतएव यह 2000 वर्ष से भी अधिक प्राचीनतम है। कालान्तर मे यह प्रथा अधिक जटिल हो गयी और इसने हिन्दू समाज को तीन हजार से अधिक जातियो और उपजातियो मे विभक्त कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्मिथ के मतानुसार जाति उन परिवारो का एक समूह है जो धार्मिक क्रिया-विधि की विशुद्धता को विशेषकर खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता के विशिष्ट नियमों को पालने से परस्पर सगठित है। परन्तु आज यह परिभाषा अनुपयुक्त है; क्योंकि अब खान-पान सम्बन्धी कठोर और अपरिवर्तनशील नियम नही रहे। आज तो जाति-प्रथा बहुत ढीली और नाम-मात्र की है।

जाति-प्रथा की उत्पत्ति—किस रूप मे और कब इस जाति-प्रथा का प्रारम्भ हुआ, निश्चित रूप मे ठीक-ठीक कहना दुष्कर है। निस्सन्देह भारतीय आर्यो की सभ्यता के प्रारम्भ मे भी कोई सामाजिक या पेशेवर समुदाय नही थे। पहले तो ये सजातीय भावना वाले एक ही जन-समुदाय मे रहते थे। ऋग्वेदकाल में समाज में केवल दो ही जातियाँ थी—आर्य और अनार्य अथवा गौरवर्ण आर्य एव कृष्णकाय आदिवासी। आर्यो मे विजेता के गर्व की भावना विद्यमान रही और इससे वे पराजित दस्युओं को अपनी जाति मे मिलाने के विरोधी रहे। रक्त और वर्ण की विशुद्धता बनाये रखने के लिए वे चिन्तित रहे थे। आर्यो के समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मे विभाजन सदियो के बाद हुआ और इस प्रणाली की रूपरेखा धीरे-धीरे विकसित होती रही।

उत्तर वैदिक युग मे जब कबीलो के प्रमुख बड़े प्रादेशिक शासक हो गये, तब वे महान और शानदार राजसभाओ तथा राजप्रासादो मे निवास करने लगे और धार्मिक अनुष्ठानो को भव्य और सुविस्तृत रूप मे करने के अनुरागी हो गये थे। इसलिए धार्मिक कर्मकाण्ड मे सूक्ष्म विद्दानो और प्रकारो का दृढतापूर्वक अनुकरण करना पड़ता था। इसके साथ ही साधारण मनुष्य अपने दैनिक कृत्यों मे इतना सलग्न होने लगा था कि वह अपनी धार्मिक क्रिया-विधियो को करने मे असमर्थ हो गया और पवित्र ऋचाओ और उनके वास्तविक उचित महत्त्व को समझना उसके लिए दुष्कर हो गया। अतएव ये सब धार्मिक कृत्य विशेषज्ञो के एक वर्ग के करने के लिए पर्याप्त थे और इसलिए ऋग्वेदकाल के पुरोहित-वर्ग के उत्तराधिकारियों मे एक ही सिद्धहस्त विशेषज्ञो के समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने लोगो और राजाओ के लिए इन विस्तृत धार्मिक क्रिया-विधियो व यज्ञो को करना स्वीकार कर लिया और अपने स्वामियों की विजय की प्रशसा के हेतु इन्होंने गीतों की रचना की। इनके हाथों मे समाज के धार्मिक और आध्यात्मिक कार्य होने से इन्होने यज्ञ और पूजन की विशद और विस्तृत क्रिया-विधियो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपना समस्त जीवन अर्पण कर दिया। इस प्रकार इन्होने धार्मिक कृत्यो को उनके 'सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधान-सहित पूर्ण करने के लिए विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि इन लोगो ने आर्यो के समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा, जो अपने सासारिक कार्यो मे अधिक संलग्न थे, पृथकत्व का उच्च प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण जाति के बाद मे होने वाले उत्कर्ष और सर्वोपरिता का यही कारण है।

इस प्रकार समाज के एक वर्ग के प्रति विभेद हो जाने पर अन्य कार्यो के क्षेत्रो मे भी ऐसे विभाजन शीघ्र ही प्रकट हो गये और इन्होंने अपने कार्य-स्तर और महत्त्व के अनुसार 'समाज मे अपना स्थान निर्दिष्ट कर दिया। ऋग्वेदकाल के

प्रारम्भिक वर्षो मे जातीय युद्धो के समय प्रत्येक स्वस्थ शरीर का व्यक्ति रणक्षेत्र मे अपनी जाति के प्रमुख के साथ जाता था और शान्ति के समय कृषि-कर्म करता था। परन्तु आर्यो के अनवरत युद्धो और राज्य-सीमाओ के विस्तार के परिणामस्वरूप आर्य शासको को ऐसे प्रशिक्षित और रण-कुशल सैनिको को सदैव सेवा मे रखने के लिए बाध्य होना पडा जिनकी सेवाएँ किसी भी क्षण अवसर आने पर प्राप्त हो सके। ऐसे व्यक्तियो के समुदायों पर ही रक्षा-कार्य और युद्ध का भार पड़ा। इससे युद्धकाल मे अशिक्षित कृषको की सेवा का उपयोग करने की प्रथा धीरे-धीरे विलुप्त हो गयी। इस प्रकार कालान्तर मे सेनानियो और योद्धाओ के इस वर्ग ने अपने सामाजिक और राजनीतिक परम्पराओ सहित अपना एक पृथक् वर्ग निर्मित कर लिया और जो कृषि मे संलग्न थे, वैश्य कहलाये और समाज मे इन्हे क्षत्रियो की अपेक्षा निम्न स्तर प्राप्त हुआ। मनुष्य का चतुर्थ वर्ग जिसमे अधिकाश जनता थी, शूद्र कहलाया, जिसका कर्तव्य तीन अन्य वर्गो की सेवा करना था। शूद्रो का समुदाय जो समाज मे सबसे निम्न स्तर पर था, आदिवासियो के सम्मिश्रण से अधिक बढ गया।

जाति-प्रथा की यह ऐतिहासिक उत्पत्ति है। जैसा ऊपर वर्णित है यह आवश्यकतानुसार श्रम-विभाजन के आधार पर निर्मित थी। अतएव इसके मूल रूप मे यह जाति-प्रथा की अपेक्षा वर्ग-प्रथा थी। विभेद और विभाजन का मूल व्यवसाय व उद्योग थे। इस प्रकार के वैज्ञानिक तथा विवेकशील आधार होने से मनुष्य के लिए जाति परिवर्तन करना दुष्कर कार्य नही था। यह बात कि आर्यो के देवगणो मे द्रविडों के देवता मिला दिये और द्रविड पुरोहितो को ब्राह्मण स्वीकार कर लिया गया, इस कथन की पुष्टि है कि प्रारम्भ मे जाति-प्रथा मे कठोरता और अपरिवर्तनशीलता न थी। किसी व्यक्ति का वर्ग या उसकी श्रेणी उसके धन्धे या आचार-विचार से निर्दिष्ट होती थी, न कि उसके जन्म से, जैसा आज है। महाभारत के प्रसिद्ध कौरव-पाण्डव के विख्यात शिक्षक द्रोणाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे, महान ऋषि वशिष्ठ एक वेश्या से उत्पन्न हुए थे और व्यास मछुआ महिला से, एव धृतराष्ट्र के मित्र और पथ-प्रदर्शक दार्शनिक विदुर दासी-पुत्र थे। उत्तर वैदिक युग और महाकाव्यकाल मे अन्य आवश्यक नियमो के सम्बन्ध मे ऐसा कोई विशिष्ट सबल प्रमाण नही है जिससे यह सिद्ध हो कि विभिन्न वर्गो में खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध दृढतापूर्वक निषिद्ध थे, परन्तु तीन उच्च वर्गो और शूद्रो के निम्न-वर्ग मे परस्पर स्वतन्त्र सामाजिक व्यवहार अनुचित समझा जाता था।

जाति-प्रथा का विकास—रक्त और वश की भावना, कार्य की दार्शनिकता, राजनीतिक प्रभुता का आधारभूत विचार और श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति, सभी ने जाति-प्रथा के निर्माण में अपना-अपना योग दिया है, फिर भी चार वर्णो से मूलत आरम्भ होने वाली जाति-प्रथा अधिक जटिल हो गयी है। कालान्तर मे ये चार श्रेणियाँ छोटी-छोटी जातियो और उपजातियो मे विभाजित होती ही गयी। आज ये जातियाँ धन्धों, धार्मिक विश्वासो या दार्शनिक सिद्धान्तो पर अवलम्बित नही है, परन्तु केवल जन्म से ही मनुष्य की जाति या उपजाति निर्दिष्ट हो जाती है। जातियो की सख्या की वृद्धि के साथ-साथ इस प्रथा की कठोरता और अपरिवर्तनशीलता भी विकसित हो गयी। निम्नलिखित बातो ने जाति-प्रथा की अपरिवर्तनशीलता की वृद्धि मे योग दिया।

पुरोहित-वर्ग की स्वार्थलोलुपता से वर्गो के विभाजन कुलागत हो गये। इस पुरोहित-वर्ग ने अपनी उत्पत्ति के विषय मे मनगढन्त, काल्पनिक और अलौकिक

प्राचीन युगों में इसने व्यापार और उद्योग में प्रतिस्पर्द्धा के दुर्गुणों को बहुत कम कर दिया, व्यावसायिक अनुमान और प्रतिष्ठा को बनाये रखा और श्रमिक-संघों का कार्य किया। इसके अतिरिक्त जब राज्य प्रारम्भिक निर्माण की धूमिल अवस्था में था, तब यह राजनीतिक संगठन की इकाई थी; इसने हिन्दू समाज को प्रजातन्त्रात्मक व्यावहारिक कार्य-प्रणाली प्रदान की।

ऊपर वर्णित लाभ के अतिरिक्त जाति-प्रथा ने बन्धुत्व की भावना को प्रेरणा दी और एक जाति के सदस्यों में अधिक एकता, दृढ़ता और संगठन उत्पन्न किया। संकट और बेकारी के समय एक ही जाति के सदस्य सदैव अपनी जाति के अन्य बन्धुओं की सहायता और सहयोग पर निर्भर रहते थे। इस प्रकार स्वार्थ-त्याग, प्रेम और लोकसेवा के नागरिक गुणों को प्रोत्साहित करने में यह प्रथा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। साथ ही जाति की पंचायतों और उनके नियमों ने व्यक्ति को संगठित संस्था के अधीनस्थ कर दिया, दुर्गुणों का निरोध किया, जीवन को संयमित किया और दरिद्रता का निवारण किया। अतएव जाति-प्रथा लाभप्रद सामाजिक संस्था प्रमाणित हुई है।

जाति-प्रथा के दोष—यदि जाति की संस्था हिन्दू धर्म और समाज के लिए अधिक लाभकारी हुई है तो साथ ही यह मानना पड़ेगा कि इस प्रथा में अनेक दोष प्रकट हुए हैं। इसने हिन्दू समाज को सैकड़ों वंश-परम्परागत जाति और उपजातियों में विभाजित कर दिया और इस प्रकार अपने वर्ग-अभिमान और पृथकत्व की भावना प्रज्वलित की, दृष्टिकोण संकीर्ण किया और समाज के अनेक विभागों के मध्य परस्पर गहरी खाइयाँ खोद दी। इस रूप में इसने राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इस प्रकार यह प्रथा एकता के तत्व की अपेक्षा विभिन्नीकरण और विश्लेषण का तत्त्व प्रमाणित हुई।

आर्थिक और बौद्धिक प्रगति को इस प्रथा ने रोक दिया और सामाजिक सुधार के पथ में यह रोड़े अटकाती रही, क्योंकि यह आर्थिक और बौद्धिक प्रगति के सुअवसर जनसाधारण के एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रखती रही। उदाहरण के लिए, एक मेहतर या चमार को शिक्षण में प्रगति करने अथवा कोई वैज्ञानिक व्यवसाय अपनाने की कोई अनुमति नहीं है, चाहे इसके लिए उसकी अभिरुचि हो और उसमें शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्य भी हो। सुयोग्य और अनुभवी व्यक्ति जाति-प्रथा की कठोरता के कारण अपने लिए उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रथा की यह अपरिवर्तनशीलता ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का दमन करती है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचलती है और मनुष्य की प्रेरणा-शक्ति पर मृत्यु का बोझ है। मानव-शक्ति और प्रतिभा के अधिकांश भाग का समाज द्वारा सदुपयोग नहीं हो सकता और इससे उसकी सभ्यता और संस्कृति को भारी आघात पहुँचता है।

आर्थिक क्षेत्र में जाति-प्रथा श्रम की दक्षता और कुशलता का विनाश करती है और उत्पादक प्रयास, श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता को रोकती है। अतएव न तो बड़े पैमाने के उद्योग विकसित हो पाते हैं और न देश के आर्थिक शक्तियों और साधनों का लोगों के हित के लिए सदुपयोग हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रथा आर्थिक दृष्टि से निर्धन व दुर्बल और सामाजिक दृष्टि से हीन-वर्गों के शोषण में सहायक है और विशेषाधिकार-प्राप्त-वर्गों की रक्षक है। इस प्रकार यह आर्थिक असन्तोष और सामाजिक ईर्ष्या-द्वेष को प्रोत्साहन देती है। जातियों की अनावश्यक वृद्धि और उसकी बाद की अपरिवर्तनशीलता तथा प्रत्येक जाति के कठोर सामाजिक

नियम और प्रतिबन्धो के कारण समय, धन और शक्ति का अपरिमित व्यय हो रहा है। यह हिन्दुओ को जीवन के नवीन और अधिक उत्तम साधन अपनाने की अनुमति नही देती है और अहिन्दुओ से स्वतन्त्र सम्पर्क स्थापित करने मे बाधक है। फलस्वरूप विश्व की प्रभूत प्रगति के साथ-साथ चलने मे हिन्दू असमर्थ रहे। जाति-प्रथा द्वारा विदेशियो के प्रवेश को निपिद्ध कर देने से हिन्दू समाज और धर्म दिन-प्रतिदिन सकुचित होते जा रहे हैं। कोई भी व्यक्ति न तो हिन्दू धर्म ग्रहण कर सकता है और न हिन्दू समाज मे प्रवेश ही कर सकता है, चाहे वह इसमें कितना ही दृढ विश्वास रखता हो। इसके अतिरिक्त आज यह प्रथा अत्याचार, अनाचार और सहिष्णुता का बड़ा भारी साधन हो गयी है। इसने समाज के बहुसख्यक लोगों को पतन के जीवन की ओर इतना ढकेल दिया है कि उनके उत्थान और उत्कर्ष की कोई आशा ही नही है। इसने अस्पृश्यता के अभिशाप को प्रस्तुत किया है। यह एक ऐसा दुर्गुण है जो हिन्दू समाज के शक्ति-रस को सोख रहा है। जब तक अस्पृश्यता के रूप मे सामाजिक अत्याचार व निरकुशता का अस्तित्व है, राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नही है।

जाति-प्रथा ने देश के राजनीतिक इतिहास पर भी गहरा प्रभाव डाला है। जाति के ईर्ष्या, द्वेप और सघर्ष ने समाज को इतने अधिक प्रतिद्वन्द्वी समुदाय मे विभक्त कर दिया कि वे विदेशियो के आक्रमणो और राष्ट्रीय संकट के अवसर पर भी एकत्र होकर परस्पर संगठित न हो सके। देश की रक्षा का भार क्षत्रियो पर ही होने के कारण साधारण जनता आक्रमण के समय चिन्तातुर नही रहती थी। भारत की मुसलमानी आक्रमण के समय शायद ही कभी साधारण जनता जाग्रत हुई हो। क्षत्रियो को ही, जो जनता का केवल एक समुदाय था, युद्ध के प्रहारो को झेलना पड़ा।

सक्षेप मे, जाति-प्रथा के कारण हिन्दू धर्म अपनी श्रेणियो का विस्तार करने में समर्थ हो सका, कुशल श्रम का परिरक्षण हो सका, हिन्दू सस्कृति सुरक्षित रह सकी और सुस्थिरीकरण की शक्ति बनी रही। इसके विपरीत, जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज की घनिष्ठता को विनष्ट कर दिया, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचल दिया, अत्याचार का साधन प्रस्तुत किया एव राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे विभिन्नी-करण की शक्तियो को प्रोत्साहित किया। हिन्दुओ के गले मे यह लटकता हुआ मील का बड़ा भारी पत्थर है जो इन्हे राजनीतिक और सामाजिक अध पतन की ओर तीव्र गति से घसीटे जा रहा है।

जाति-प्रथा का भविष्य—यद्यपि जाति-प्रथा भूतकाल मे लाभप्रद रही परन्तु आज तो इसकी आवश्यकता नही है। भारत मे आज की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिरिस्थतियाँ चिरकाल-सम्मानित जाति-प्रथा के विभेदो को बनाये रखने के लिए अनुपयुक्त है। अनेक ऐसे तत्त्व है जो दृढतापूर्वक इस प्रथा की जड खोद रहे है। पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा, आधुनिक व्यावसायिक और आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा ने अनेक जातियो को अनेक धन्धो से वंचित कर दिया है। जाति-प्रथा व धन्धे और व्यवसाय का भेद लगभग विलुप्त हो गया है। आज किसी जाति मे जन्मा हुआ व्यक्ति अपने पूर्वजो के ही धन्धो को नही अपनाता, परन्तु वह वही धन्धा या व्यवसाय करता है जिसके लिए उसकी प्रतिभा उपयुक्त है या वही कार्य करता है जिसकी ओर भाग्य ने उसे ढकेल दिया है। यातायात के सरल, सुलभ और वेगशील साधन, विशाल नगरो की वृद्धि, बड़े कारखानो की स्थापना, राजनीतिक और सामाजिक सस्थाएँ,

विद्यालय, महाविद्यालय, सिनेमागृह आदि ने विभिन्न जातियों और समुदायों मे परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया है। फलस्वरूप, जातियो में परस्पर खान-पान होने लगा है और सामाजिक उत्सवो और समारोहो पर लोग मिश्रित होने लगे है। इससे जातियो की अपरिवर्तनशीलता, रूढ़िवादिता, संकीर्णता एवं पृथकत्व विनष्ट हो गये। शासन ने कानून द्वारा स्थावर सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध को तथा अन्तर्जातीय विवाहो से उत्पन्न हुए बालकों की अवैधता और अयोग्यताओं को दूर करने का प्रयत्न किया। जाति-सभाओ और जाति की पंचायतो को उनके अनुशासन की अधिकाश शक्तियो और अधिकारो से कानून ने वचित कर दिया। सौभाग्य की दूसरी बात यह है कि हमारे महान सामाजिक और राजनीतिक नेतागण और हिन्दू समाज का शिक्षित और प्रगतिशील अग हिन्दू समाज के अभिशाप जाति-प्रथा को दूर करने मे प्रयत्नशील है। यद्यपि आज जाति-प्रथा अपनी प्रभुता और शक्ति को अधिकाश अशो मे खो चुकी है, परन्तु फिर भी हिन्दू सस्कृति के विकास में इसका बड़ा हाथ रहा है।

निष्कर्ष

वैदिक युग का प्रभाव—आर्यो का वैदिक युग सभ्यता की उत्कृष्टता के पद पर पहुँच गया था। इस काल मे आर्य ज्ञान, शक्ति और सामाजिक सगठन मे उच्च स्तर पर पहुँच गये थे। प्राग्वैदिक और ऋग्वैदिक कालो में भारतीय संस्कृति तरल द्रव के रूप मे थी, पर उत्तर वैदिक युग मे इसकी नीव ठोस हो गयी और उसका व्यक्तित्व मूर्त्त रूप धारण कर गया। "वास्तव मे भारतीय सस्कृति और सभ्यता की मूल स्थापना इसी काल मे होती है।" इससे आगे आने वाले युगो की संस्कृति पर इस युग की सस्कृति की गहरी छाप पडी। भारतीय तत्त्वज्ञान और धर्म मे वैदिक सभ्यता का गहन आभास दृष्टिगोचर होता है। हिन्दुओं के दर्शनशास्त्र मे वैदिक युग की विचारधाराओ का प्रतिपादन किया गया और हिन्दू धर्म मे वैदिक युग के धर्म के प्रमुख आध्यात्मिक सिद्धान्तो का विकास हुआ।

उत्तर वैदिक काल की प्रमुख सिद्धि व सफलताएं—के. एम. पाणिक्कर के मतानुसार हिन्दू धर्म का सगठन उत्तर वैदिककाल की एक प्रमुख सफलता व सिद्धि है। हिन्दू धर्म उन सिद्धान्तो का पद्धतिबद्ध और व्यवस्थित संग्रह है जो उत्तर वैदिक काल के साहित्य—ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्य में प्रतिपादित किये गये है। आत्मा और ब्रह्म का सिद्धान्त, ईश्वर और मानव का सम्बन्ध, कर्म, माया, मुक्ति का सिद्धान्त, आत्मा का आवागमन और अन्य विशिष्ट तत्त्वों का उल्लेख, विकास और विस्तार उपनिषदो मे हो चुका था और इन्होंने ही हिन्दू विचारधारा को प्रभावित किया तथा प्रत्येक हिन्दू के जीवन को निश्चित साँचे मे ढाल दिया। हिन्दू धर्म का यह सैद्धान्तिक आधार ही उत्तर वैदिक युग में स्थापित नही हुआ, परन्तु जीवन का सामाजिक आधार भी पूर्णरूपेण दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका था। गृह्य सूत्र ने जन्म से मरण तक के प्रत्येक अवसर व समारोह, नामकरण, उपनयन, शिक्षा, विवाह आदि के कर्तव्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है। इससे गृहस्थ जीवन की धार्मिक विधियो का सृजन हुआ तथा गृहस्थी के अनुशासन-नियमो का निर्माण हुआ और इस प्रकार भारत के लोगों का हिन्दुओ से विशद समुदाय मे रूपान्तर हो गया। यदि गृह्य सूत्र ने हिन्दू समुदाय का सृजन किया तो धर्म सूत्र ने सामाजिक प्रथाओ, रूढ़ियो, रीति-रिवाजो, कानून आदि को प्रणीत कर हिन्दू समाज को निर्दिष्ट रूप से सगठित कर दिया।

गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र के अतिरिक्त 'वर्णाश्रम-धर्म' का सामाजिक सिद्धान्त भी समान रूप से ही महत्त्वशाली है। यह वह सामाजिक विचारधारा थी जिसके अनुसार जीवन— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—चार भागो मे विभाजित था। प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ को दस आदर्शो का पालन करना पडता था। उत्तर वैदिक युग की दूसरी सफलता जाति-प्रथा या चतुर्वर्ण-प्रथा का विकास है। इसके अनुसार समाज चार वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—मे विभाजित था। भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक विकास मे जाति-प्रथा सामाजिक सस्था के रूप मे सफल हुई। परन्तु यह सब कार्य राष्ट्रीय एकता तथा सजातीयता की बलि पर हुआ। यद्यपि यह सस्था राष्ट्रीयता की विरोधी प्रमाणित हुई, परन्तु फिर भी इसने सामाजिक शक्तियो के सन्तुलन को स्थिर रखा और देश की उचित सेवा की।

परन्तु इस युग की प्रमुखतम सफलता तो भारत की भौगोलिक विजय है। इस युग तक वस्तुत. सम्पूर्ण भारत का अन्वेपण किया जा चुका था। भारत की प्रत्येक भाग की सरिताओं, पर्वत-श्रेणियो तथा सामान्य भौगोलिक स्थिति का ज्ञान हो चुका था। महाकाव्यकाल तक भारत की यह भौगोलिक खोज पूर्ण हो चुकी थी। वैदिक युग के आर्य तो केवल सिन्धु-गगा-घाटी से ही अवगत थे। परन्तु धर्म सूत्रों में अनेक विभिन्न देशो और स्थानीय प्रथाओं का उल्लेख है और गृह्य सूत्र के युग मे सम्भवत इस देश के भूगोल का पूर्ण ज्ञान हो चुका था। कैलाश शृग, मानसरोवर झील, हिमालय एव उसकी उत्तरी सीमा पर स्थित देश आदि सभी महाभारत के काल तक जान लिये गये थे। हिन्दू धर्म तथा हिन्दू सस्कृति का प्रचार सम्पूर्ण देश मे हो रहा था। रामायण मे जिन वनों के आश्रमो का उल्लेख है, वे कालान्तर मे उपनिवेश या ऐसे केन्द्र बन गये, जहाँ हिन्दू सास्कृतिक जीवन चतुर्दिक विस्तीर्ण होता था। धीरे-धीरे सघन वन काट डाले गये, आवागमन के हेतु नदियो मे नावे चलने लगी, दिन-प्रतिदिन अधिक भूमि पर कृषि होने लगी और तदनन्तर आदिवासी धीरे-धीरे आर्यों के सामाजिक जीवन मे मिश्रित हो गये। आदिम जाति का इस प्रकार हिन्दू समाज और धर्म मे घुल-मिल जाने का ढंग उत्तर वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो चला था और आज भी उसी प्रकार चल रहा है।

आर्यों की देन

पिछले पृष्ठो मे वेदकालीन आर्य-सभ्यता के प्रधान लक्षणों का विवेचन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि आर्यों ने अपनी देन द्वारा भारतीय जीवन को अधिक सुसस्कृत और सम्पन्न बना दिया। आर्यो की इस देन का सूक्ष्म विवेचन अधोलिखित है

1. **धर्म और आध्यात्मिकता**—आर्यो ने धर्म और आध्यात्मिकता की बड़ी उच्च भावना प्रस्तुत की और उन्होने अनार्य तत्त्वो को भी परिशोधित कर दिया है। जब आर्य भारत मे आये तब उन्होने यहाँ पर प्रचलित धर्म के प्रमुख सिद्धान्तो का अपने धार्मिक सिद्धान्तो के साथ समन्वय कर दिया। समय-समय पर इसमें अन्य नवीन धार्मिक विचारो को भी सम्मिलित कर दिया। परिणामस्वरूप, धर्म का एक निर्दिष्ट रूप हो गया जो कालान्तर मे हिन्दू धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। कर्म, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, मुक्तिवाद, ईश्वर की एकता, अवतारवाद, वेदो की प्रामाणिकता और सत्यता आदि आर्यो के धर्म के प्रमुख सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त वर्णो और आश्रमो की व्यवस्था मे निष्ठा, श्रुतियो के प्रति श्रद्धा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि

भी इस धर्म के लक्षण है । शिखा, सूत्र, व्रत-उपवास, पर्व-उत्सव, भजन-पूजन, उपासना-आराधना, तथा कीर्तन, दान-दक्षिणा, जप-तप, होम यज्ञ, ध्या-स्वाध्याय आदि का भी कम महत्व नही है । इन्ही सिद्धान्तो, लक्षणो और विशेषताओं पर अवलम्वित आर्यो के धर्म का अधिक विकास, प्रसार व प्रचार हुआ और आज भी यह हिन्दू धर्म के नाम से भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपो मे प्रचलित है ।

2. **आर्यो का साहित्य**—आर्यो का साहित्य विश्व को उनकी अनुपम देन है । वेद, पुराण, स्मृति, सूत्र, वेदांग, रामायण, महाभारत आदि आर्यो की ही अनुपम कृतियाँ हैं । वे विश्व के सवसे प्राचीन ग्रन्थ हैं । ये चार है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । प्रत्येक वेद के सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद नामक भाग हैं । प्रत्येक वेद का एक उपवेद होता है—ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद या अस्त्रवेद, सामवेद का गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र है । कठिन व जटिल वैदिक विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए शिक्षा, छन्द स, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष नामक छह वेदाग वनाये गये । वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों और विधि-विधान को कम से कम शब्दो में अधिक से अधिक अर्थ प्रतिपादन करने वाले छोटे से छोटे वाक्यो में रचा गया । इन सारगर्भित वाक्यो को सूत्र कहते हैं । सूत्र साहित्य मे कल्प सूत्र अधिक महत्त्व का है । कल्प सूत्र तीन भागो मे विभक्त है—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, और धर्म सूत्र/दर्शन सम्भवतः आर्य संस्कृति की समुज्जवलतम देन है । आध्यात्मिक विज्ञान को दर्शन कहते हैं । इसका उद्देश्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापो से सन्तप्त मानवता के क्लेशो की निवृत्ति है । आर्यो के प्रसिद्ध छह दर्शन है—पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमासा, साख्य, न्याय, योग और वैशेषिक । ये आस्तिक दर्शन हैं । कालान्तर मे नास्तिक दर्शन का प्रादुर्भाव भी हुआ जो वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर मे विश्वास नही रखता है । इस प्रकार आर्यो ने नियमित व व्यवस्थित ढंग से राजनीति, दर्शन व्याकरण, ज्योतिष, गणित, नीतिशास्त्र, नियम-उपनियम, चिकित्सा, कर्मकाण्ड आदि पर अनेक निवन्ध व ग्रन्थ लिखे । आर्यो के साहित्य मे प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र में उसके प्रत्येक अंग का सूक्ष्म विवेचन है जिसमे विचारो की क्रमवद्ध व्यवस्था है । वाद में भारतीय दर्शन-शास्त्र तथा विचारो के विकास मे इससे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई । इसके अतिरिक्त उनके साहित्य और कलात्मक कृतियों मे कल्पना का एक क्रम है जो अमिताचार, विलक्षणता तथा भावाधिक्य से मुक्त है ।

3. **जाति-प्रथा और वर्णाश्रम धर्म**—आर्यो की अन्य महत्त्वशाली देने जाति-प्रथा और वर्णाश्रम-धर्म की सामाजिक सस्थाएँ और प्रथाएँ है । कालान्तर मे ये हिन्दू धर्म व हिन्दू सस्कृति का प्रधान अग वन गयी । जाति-व्यवस्था में लोगों के व्यावसायिक कार्यो के विभेद का कल्पित वंश-परम्परा में आधार पर विभिन्न समूहों मे वर्गीकरण किया गया था । इसका उद्देश्य विभिन्न जातियो और व्यक्तियो का एक ही सामाजिक संगठन मे एकीकरण करने का उद्देश्य था, जिससे वे हिल-मिलकर एक ही प्रकार का सामाजिक जीवन व्यतीत करने मे समर्थ हो ।

वर्णाश्रम-धर्म एक प्रकार के आर्यो की जीवन विषयक विलक्षण भावना थी । इसमे पार्थिवता तथा आध्यात्मिकता, सांसारिक सफलता और आध्यात्मिक श्रेष्ठता का सुन्दर समन्वय करने का प्रयास किया गया । प्रत्येक मनुष्य को जीवन के चार स्तरों—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम—को

पार करना पडता था। इस आश्रम-व्यवस्था मे मानव आकाक्षा या कर्म का कोई भी पहलू उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा गया है। इसी आश्रम-प्रथा ने आर्य-संस्कृति को सुरक्षित रखने मे वहुत योग दिया।

4 **पारिवारिक जीवन**—पारिवारिक जीवन आर्यो की एक अन्य देन है। उन्होने परिवार को समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई वना दिया। परन्तु आर्यो ने द्रविडो के मातृसत्तात्मक परिवार की अपेक्षा पितृसत्तात्मक परिवार की नीव डाली। उनके अनुसार परिवार का प्रधान सवसे अधिक वयोवृद्ध व्यक्ति होता था, जिसे दम्पन्ति या गृहपति कहते थे। इसके अधिकार विस्तृत थे और नियन्त्रण अधिक था। आर्यो ने इस पारिवारिक जीवन को आमोद-प्रमोदमय वना दिया और कालान्तर में सयुक्त परिवार की प्रथा का विकास किया जो आज भी कतिपय परिवर्तनो के साथ भारत मे विद्यमान है।

5. **नारी-सम्मान**—आर्यो का वह सम्मान और उच्च पद उल्लेखनीय है जो उन्होने अपने समाज मे नारियो को दिया था। उन्होने अपने से पूर्व के समाज में प्रचलित स्त्री सम्वन्धी प्रथाओ व सस्थाओ, जैसे मातृसत्तात्मक परिवार-प्रथा, वहुपति विवाह-प्रथा आदि का परित्याग कर दिया था। स्त्रियो को उन्होने वे समस्त अधिकार व सुविधाएँ दी थी जिनसे उनके व्यक्तित्व व आत्मा का विकास सम्भव था। सामाजिक व धार्मिक कृत्यो मे वे पुरुषो के साथ वरावर भाग लेती थी। यज्ञ, हवन, कर्मकाण्ड आदि मे पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। शिक्षा मे भी उन्हे पुरुषों के समान ही अधिकार थे। फलत अनेक प्रसिद्ध और विदुषी स्त्रियाँ आर्यो मे थी।

6. **ग्राम्य-जीवन**—आर्यो का जीवन चरवाहो और कृपको का था। इससे उन्होने ग्राम की स्थापना की। कालान्तर मे ये ग्राम आर्यो के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई वन गये। स्वायत्त-शासन का समुदाय इन ग्रामो में ही हुआ जिसके फलस्वरूप श्रेष्ठ प्रजातन्त्र का विकास सुलभ हो गया। शताव्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी आर्यो की सभ्यता के अनेक अवशेप आज भी भारतीय ग्रामों मे विद्यमान है।

7 **संस्कृति**—आर्यों की अन्य महत्त्वपूर्ण देन सस्कृत भापा है जिसने भारत की समस्त भापाओ, अनेक शव्द-भण्डार तथा रचना को अत्यधिक प्रभावित किया है। इसका प्रभाव इतना गहन रहा है कि विद्वानो का मत है कि समस्त भारतीय भापाओ का मूल स्रोत सस्कृत ही रहा है। हिन्दी, वगला, गुजराती, मराठी आदि सस्कृत से ही निकली मानी जाती हैं। तामिल जैसी उन्नत भापा भी, जिसके साहित्य का वहुत कुछ विकास आर्यो के आगमन के पूर्व ही हो चुका था, इस प्रभाव से वञ्चित न रह सकी। इतने दीर्घ काल के वाद भी सस्कृत की परम्पराएँ क्षीण नही है। नवीन भाषाओ ने, जो भारत मे आक्रमणकारियो के साथ यहाँ आयी थी, सस्कृत की महत्ता को चुनौती दी, परन्तु सस्कृत ने अपने प्रभाव को स्थिर ही नही रखा वरन उसे और भी सुदृढ और गहन कर दिया। फलस्वरूप, सभी भारतीय भाषाओ के शव्द-भण्डार मे अधिक समानता है और उनकी व्याकरण-रचना मे एक विलक्षण साम्य होता है।

8. **तपोवन आश्रम**—अन्त मे, ईसाई धर्मावलम्वी यूरोप के नगरो मे विश्व-विद्यालयो तथा अविवाहितो के मठो से स्पष्ट रूप से भिन्न, आर्यो के तपोवन आश्रम, आर्यो की एक अनुपम देन है। भारतीय सस्कृति के प्रसार तथा ज्ञान-विकास में इन आश्रमो का वड़ा हाथ रहा है। प्राचीन ऋषि-मुनि वनो मे अपना तपोवन आश्रम

स्थापित करते थे । वहाँ उनका सारा समय गुणो के संकलन, और ज्ञानार्जन में व्यतीत होता था । साधारण व्यक्ति और राजकुमार भी शिक्षा-दीक्षा के लिए इन आश्रमों में रहते थे । अपनी तपस्या के साथ-साथ इन आश्रमो मे ऋषिगण अज्ञानान्धकार का नाश कर ज्ञान का प्रसार करते, वर्बर जगली जातियों को सभ्यता का पाठ पढाते और उन्हे उच्च नैतिकता एवं धर्म की दीक्षा देते थे । इसके अतिरिक्त वे तपोवन आश्रमों के सुरम्य एकान्त मे लौकिक और आध्यात्मिक समस्याओ पर गहन चिन्तन करते, दार्शनिक विचारो का विवेचन करते और आचारशास्त्र तथा धर्म की गहन गुत्थियाँ सुलझाते थे । परिणामस्वरूप, ये आश्रम ज्ञान के केन्द्र (विश्वविद्यालय) हो गये और प्राचीन हिन्दू सस्कृति के स्रोत वन गये । सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "इस आश्रम-प्रथा के द्वारा शान्तिवन उपवनो में हमारे दर्शनशास्त्र की उन्नति हुई तथा आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र एव साहित्य की शाखाओं को जीवन मिला । यही पर हमारी सच्ची प्राचीन सभ्यता विद्यमान थी और इन सव वातों का श्रेय हमारे प्राचीन आर्यो को था ।"

भारतीय इतिहास मे महाकाव्यकाल के ईसा पूर्व छठी शताब्दियो के वीच का सुदीर्घ युग घटनाओ के अस्त-व्यस्त विस्तृत विवरण और अनेक राजवंशो की स्पष्ट ऐतिहासिक गाथाओ से परिपूर्ण है । उनका उल्लेख पुराणो मे है जो धर्म, पुरातन विश्वास, परम्पराओ, अनुश्रुतियो, देवी-देवता की गाथाओ तथा इतिहास के विश्व-कोष माने जाते है । यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि उनकी महत्ता अधिक अशो मे नष्ट हो जाती है क्योकि इनका इतिहास धर्म तथा कल्पित कथाओ मे घुल-मिल गया है । ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक का विश्वसनीय राज-नीतिक इतिहास निर्माण करने के पूर्व दीर्घ मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा । यह कार्य कठिनाइयो से परिपूर्ण है, परन्तु हमारा विषय तो यहाँ पर राजनीतिक इति-हास नही, वल्कि प्रमुख सास्कृतिक धाराएँ है । अतएव काल-ज्ञान के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओ को त्यागकर अव अगले अध्याय में हम ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उन प्रमुख धार्मिक आन्दोलनो का विवेचन करते है जिन्होने भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता के क्रम को विशेष रूप से प्रभावित किया है ।

प्रश्नावली

1. उत्तर वैदिक युग मे आर्यों की सभ्यता व सस्कृति का वर्णन कीजिये । ऋग्वेद-काल की सभ्यता व सस्कृति से यह किस प्रकार भिन्न थी ?
2. उत्तर वैदिक युग के धर्म का उल्लेख कीजिये । ऋग्वेदकालीन धर्म से इनकी तुलना कीजिये ।
3. "उत्तर वैदिक युग मे जीवन का सामाजिक आधार दृढतापूर्वक निर्मित हो गया था ।" (के० एम० पाणिक्कर) । इस कथन का विवेचन कीजिये ।
4. रामायण और महाभारत दोनो महाकाव्यो के ऐतिहासिक मूल्य और सांस्कृ-तिक महत्त्व का वर्णन कीजिये ।
5. महाकाव्यकाल के लोगो के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन पर दोनो महाकाव्य क्या प्रकाश डालते है ? ऋग्वेदकाल की सस्कृति और जीवन से यह किस प्रकार भिन्न था ?
6. हिन्दू सस्कृति पर दोनो महाकाव्यो ने क्या प्रभाव डाला है ?

7. "हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज का संगठन उत्तर वैदिक युग की प्रमुख सफलताओ मे एक है।" इस कथन को समझाइये।
8 "आर्य संस्कृति समस्त भारत पर शासन करती है और हमारे भूगोल, जाति तथा राजनीतिक इतिहास द्वारा निर्मित विभिन्नता के होने पर भी इसने भारत को आन्तरिक एकता प्रदान की है।" (जदुनाथ सरकार)। विवेचन कीजिये।
9 "आर्यो ने अपनी देन द्वारा भारतीय जीवन को सुसम्पन्न किया है।" आर्यो की देन पर प्रकाश डालते हुए इसे समझाइये।
10 जाति-प्रथा के उत्कर्ष और विकास मे योग देने वाली दशाओ का वर्णन कीजिये। अहिंसा और मुस्लिम-विजय का जाति-प्रथा पर क्या प्रभाव पड़ा ?
11. जाति-प्रथा के गुण-दोषो का विवेचन कीजिये। इसने हिन्दू सस्कृति को कहाँ तक प्रभावित किया ?
12 जाति-प्रथा की उत्पत्ति और उसके रूप का विवेचन कीजिये तथा इस कथन को समझाइये कि समाज मे जाति-प्रथा का भाग शान्त होते हुए भी अत्यन्त महान रहा है।
13. टिप्पणियाँ लिखिए
सूत्र, उपनिपद, सहिता, पुराण, भगवद्गीता, वर्णाश्रम-धर्म, चतुर्वर्ण-व्यवस्था, आर्यो के आश्रम व तपोवन, पाणिनि और जाति-प्रथा।
14. हमारी सास्कृतिक विरासत (heritage) को आर्यो की जो देन है उसका विवेचन कीजिये।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

आन्दोलन का युग—ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में विश्व मे एक महान धार्मिक आन्दोलन हुआ। इसी युग मे अनेक देशो के समाज मे साधारणतया आध्यात्मिक एव नैतिक अशान्ति हो गयी तथा अद्वितीय बौद्धिक और चिन्तन के आन्दोलन चले। फलस्वरूप, समस्त विश्व में सुधारको ने तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की और इस व्यवस्था को नवीन आधारो पर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। यूनान के द्वीप इओनिया मे हिराक्लिटस (Heraclitus) ने नवीन सिद्धान्तो का उपदेश दिया। फारस देश में जरतुश्त (Zoroaster) ने तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया। चीन मे लोगो ने कनफ्यूश (Confuscius) के दार्शनिक सिद्धान्तो का स्वागत किया। यह वह युग था जब भारत में भी लोग प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों से उकता गये थे और पूजन की समस्त विधियो एवं इस पार्थिव जीवन के कष्टो व आपत्तियो से मुक्ति पाने के हेतु सतत् प्रयत्नशील थे। धर्म एव चिन्तन के क्षेत्र मे नवीन नेताओ का प्रादुर्भाव हुआ और अनेक असामान्य चिन्तक सत्य की अनवरत खोज में संलग्न रहने लगे। अत. यह आन्दोलन का युग था, प्राचीन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का युग था। यह विप्लव सामाजिक व्यवस्था की प्रामाणिकता, धार्मिक क्रिया-विधियो, पुरोहितो की अपरिमित शक्ति और सुविधाओं तथा मरणासन्न सस्कृति के प्राणघातक भार के विरुद्ध था। इस आन्दोलन का नवीन दर्शन वाह्य रूप मे असामाजिक पर आन्तरिक रूप मे अजातीय था। इसने जाति और समाज की कट्टरता का विरोध किया। इसने विशुद्ध व्यक्तिवाद और अध्यात्मवाद का उपदेश दिया। इसने समाज की स्थिरता, जातिहीनता, असमानता तथा न्याय का घोर विरोध किया। इसने मानव-बुद्धि-विवेक की पवित्रता तथा उसकी स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। इसने इस वात को न्यायसगत वताया कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष को मनुष्य के नाते स्वय अपना भाग्य-निर्माण करने और मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है। इस आन्दोलन का अन्तिम उद्देश्य पार्थिव नही अपितु आध्यात्मिक था, जीवन को सामाजिक ढाँचे मे नही वरन अध्यात्मवाद के ढाँचे मे ढालना था।

समय की अन्तरात्मा अनेक सुधारवादी-आन्दोलनो के रूप मे प्रकट हुई। रक्तिम यज्ञो और निरर्थक जटिल कर्मकाण्ड मे जनता का विश्वास ज्यो-ज्यो कम होता जा रहा था, मानव के दयावादी और आस्तिकवादी-आन्दोलन अधिक प्रवल होते जा रहे थे। ये आन्दोलन मानव-उन्नति को मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के रूप मे नापते थे। जीवन अध्यात्मवाद का एक साधन माना जाता था। इन नये आन्दोलनो के चिन्तक विशुद्ध बुद्धिवादी थे। ये पूर्णतया दार्शनिक थे जिन्होने यह कल्पना की थी कि

जीवन ज्ञान और शक्ति का एक तत्त्व-ज्ञान है। आध्यात्मिक नेतृत्व ब्राह्मणो एव याज्ञिको के अधिकार से निकलकर परिव्राजको, वैरागियो और संन्यासियों के हाथो में आ गया था। इन्होने सासारिक तृष्णा, वासना एवं लालसा के विनाश पर अधिक जोर दिया। सन्यासियों और परिव्राजको ने वेदों की प्रामाणिकता और वैदिक पुरोहितो की प्रधानता को अस्वीकार किया, रक्तिम यज्ञो का, जो ब्राह्मणो की क्रिया-विधियो का बहुत प्रमुख भाग था, विरोध किया और ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नही किया। उन्होने घोषणा की कि उचित आचार-विचार ही ससार और कर्म की भूलभुलैया मे से निकलने का एकमात्र साधन है। इस ठीक और उचित आचार-विचार में अन्य गुणो के अतिरिक्त अहिंसा-व्रत भी था। इन परिव्राजक उपदेशको मे सबसे महान क्षत्रिय राजकुमार वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। प्रथम के तत्त्व-ज्ञान और विचारधारा ने उस सुधारवादी-आन्दोलन को रूप दिया जिसे जैन धर्म कहते है और दूसरे के विचारो एव दर्शन से अन्य आन्दोलन, जिसे बौद्ध धर्म कहते हैं, का आविर्भाव हुआ।

यूरोप के लूथर और केलविन के समान ही महावीर और गौतम ने उस भ्रष्टता का विरोध किया था जो हिन्दू धर्म मे घुस गयी थी। जिस प्रकार सुधारवादी ईसाई धर्म मे लूथर और केलविन के सम्प्रदाय लूथरज्मि और केलविनिज्म (Lutherism and Calvinism) हैं, वैसे ही सुधारवादी हिन्दू धर्म मे जैन और बौद्ध सम्प्रदाय है। महावीर और बुद्ध हिन्दू धर्म के उन महान विचारकों में से थे जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही रहकर शाश्वत सत्य की अनवरत खोज मे सलग्न थे। ये दोनो मत ब्राह्मण धर्म या वैदिक धर्म की प्रशाखाएँ ही हैं, जिन्होने कुछ अवाछनीय धार्मिक विधियों एव प्रथाओ का घोर विरोध किया और कुछ विशिष्ट वातो पर अधिक बल दिया। जिन नैतिक सिद्धान्तो का इन दोनो मतों ने प्रतिपादन किया है, वे उपनिषदो मे वर्णित है। जिज्ञासु की भावना एव बौद्धिक वाद-विवाद, जिसे इन दोनो मतो ने प्रोत्साहित किया, उत्तर वैदिक युग में कोई नवीन बात नही थी। उपनिषदों मे ही ऐसे प्रसिद्ध वाद-विवादो का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इन मतो के तत्त्व-ज्ञान और क्रिया-विधियो के अकुर मे तत्कालीन अनेक सन्यासियो के समुदाय दृष्टिगोचर होते है। जिस वैराग्य, तप और एकान्तवास का महत्त्व इन दोनो सम्प्रदायो मे है, यह वेदों एव उपनिषदों मे भी वर्णित है। वेदो मे उन ऋषियों का उल्लेख है जिन्होने सत्य-ज्ञान की अभिप्राप्ति के हेतु तपस्या की। उपनिषदो मे तो यह बात स्पष्ट कर दी गयी कि आत्म-ज्ञान के जिज्ञासु ससार से विरक्त हो अरण्य मे ही रहकर चिन्तन व तप करे। स्मृति में भी मानव-जीवन के चार आश्रमो का उल्लेख करते हुए सन्यास आश्रम पर अधिक जोर दिया गया। छठी शताब्दी मे पाणिनि के समय ऐसे परिव्राजक सन्यासियों एवं ऋषियो का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होने अपने-अपने संघ-समुदाय बना लिये थे। इनमे प्रमुख आजीविक, जटिलिक, मुण्डसावक, मागन्धिक गोमतक, तेदण्डित थे। इनके ही समुदायो के आधार पर बुद्ध ने अपने सघ का निर्माण किया और उनके जीवन के हेतु विविध नियमो तथा उपनियमो की रचना की थी। सत्य बात तो यह है कि उस समय जनता ब्राह्मणो की प्रभुता, कर्मकाण्ड की निरर्थकता तथा नैतिकता व तपस्या के सिद्धान्तो से ऊब गयी थी। उसके लिए बाह्य आडम्बरपूर्ण रक्तिम यज्ञ तथा रहस्यवाद से ओत-प्रोत उपनिषद समान रूप से जटिल एवं दुर्बोध हो गये थे। वह सरल धर्म, व्यावहारिक, तथा सादे आचार-विचार के लिए

तरस रही थी। इस आवश्यकता को जैन और बौद्ध धर्म ने पूर्ण किया। अतएव दोनों ही धर्म भारत के आध्यात्मिक जीवन के विकास के महत्त्वशाली अंग है। दोनो ही न तो नास्तिक है और न पूर्णतया किसी नवीन मूल धर्म का प्रतिपादन ही करते है।

जैन धर्म भारत की सीमा के पार कभी नही गया, वह आज भी धन-सम्पन्न वैश्यो का धर्म है। परन्तु बौद्ध धर्म पन्द्रह सौ वर्षो के देदीप्यमान जीवन के पश्चात अपने जन्म-स्थान मे लुप्तप्राय होने पर भी विश्व की आध्यात्मिक शक्तियो में से आज भी एक विशिष्ट शक्ति है तथा मानव-विश्वास की दृढ भित्ति है।

नवीन धार्मिक आन्दोलन के समुदय के कारण

इस देश में जैन और बौद्ध धर्म नामक धार्मिक सम्प्रदायो के आविर्भाव एवं विकास के हेतु अधोलिखित परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल रही

1. **कर्मकाण्ड एवं विधि-संस्कारों का बोझ**—ईसा से पूर्व छठी शताब्दी तक वैदिक तत्व-ज्ञान और धर्म की मूल विशुद्धता लुप्तप्राय हो चुकी थी और धर्म का स्थान जटिल निरर्थक कर्मकाण्ड ने ले लिया था। विधियाँ और संस्कार इतने विस्तृत तथा व्ययसाध्य थे कि वे साधारण व्यक्ति की शक्ति से बाहर हो गये थे। अतएव साधारण जनता कर्मकाण्ड के भारी बोझ से कराह रही थी।

2 **मन्त्रों में विश्वास**—यदि वैदिक धर्म कर्मकाण्ड में संलिप्त हो गया था तो जनता का आध्यात्मिक दृष्टिकोण अन्धविश्वास से लद गया था। वैदिक ऋचाओ का स्थान मन्त्रो ने ले लिया था। ऐसी धारणा थी कि ये मन्त्र दैवी शक्ति रखते है। सर्वसाधारण का विश्वास था कि मन्त्रोच्चारण से लोगों को रोग-मुक्त किया जा सकता है, युद्ध में विजयश्री या पराजय प्राप्त हो सकती है, किसी राज्य की समृद्धि दृढ की जा सकती है अथवा उसके शत्रुओ का संहार किया जा सकता है, विरोधी के तर्क-वितर्क को शान्त किया जा सकता है और यहाँ तक कि खाँसी को रोका जा सकता है और केश-राशि की वृद्धि को प्रोत्साहित किया जा सकता है। संक्षेप मे, मन्त्रो के अन्तर्गत समस्त विश्व को ले लिया गया था। दैनिक जीवन का ऐसा कोई भी छोटा या बडा भाग अवशिष्ट नहीं था जो हित या अहित की दृष्टि से मन्त्रो द्वारा प्रभावित न हुआ हो।

3. **यज्ञ**—यज्ञ की दैवी-शक्ति मे आर्यो का जो दृढ विश्वास था, पुरोहित-वर्ग ने उसका दुरुपयोग किया। कुछ विशिष्ट अवसरो पर पशुओं को और कभी-कभी मानवो को भी मारकर यज्ञ मे उनकी आहुति देने से एक विद्रोह की भावना जाग्रत हो गयी और अनेक हृदयो मे ऐसे कुकृत्यो के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। अभिषेक तथा अश्वमेध-यज्ञ जैसे महान समारोह राज्यकोष को खाली कर देते थे। इसके अतिरिक्त गृहस्थ की ऐसी अनेक क्रिया-विधियाँ, अनुष्ठान व संस्कार थे जिनके हेतु ब्राह्मणो की सेवाएँ अनिवार्य थी। ये प्रथाएँ विप्लवकारी थी। इन्होने जनसाधारण को ब्राह्मणो के विरुद्ध ही नही अपितु उस प्रणाली व व्यवस्था के विरुद्ध भी, जिसका प्रतिनिधित्व ब्राह्मण करते थे, भडका दिया।

4. **कर्म और तप-मार्ग के सिद्धान्तों से उत्पन्न बौद्धिक परिश्रान्ति**—जब जनता ऊबकर उपर्युक्त बुराइयो को दूर करने के लिए उत्सुक थी, तब अनेक व्यक्ति जीवन और मृत्यु की जटिल समस्याओ पर चिन्तन कर रहे थे और वे जीवन की दुखद दुर्गति से आत्मा को मुक्त करने के उपायो की खोज मे प्रयत्नशील थे, पुरोहित-

वर्ग ने इस बात पर अधिक जोर दिया की अपनी आत्मा की मुक्ति के इच्छुक मनुष्य धार्मिक क्रिया-विधियो, अनुष्ठानो एव सस्कारो को पूर्ण रूप से करे। यह कर्म-मार्ग था। परन्तु मुक्ति प्राप्त करने का कर्म-मार्ग एकमात्र साधन नही माना जाता था। शीघ्र ही आत्म-ज्ञान के निमित्त तपस्या के सिद्धान्तो का विकास और प्रचार हुआ। इन सिद्धान्तो का मूल सार यह था कि मनुष्य अरण्य मे घोर तपस्या करे, इन्द्रिय-निग्रह कर भौतिक वासनाओ पर अकुश रखे एव परमब्रह्म के साक्षात्कार के हेतु मनन एव ध्यान करने की शक्ति का विकास करे। ऐसा माना जाने लगा था कि देवता भी उन व्यक्तियों के उपाश्रित हो जाते थे, जो अपनी वासनाओं का दमन कर वनो के एकान्त मे घोर तपस्या और प्रायश्चित करते थे।

इस प्रकार जब जनसाधारण मे कर्म और तप-मार्ग अधिक लोकप्रिय हो रहे थे, बुद्धिजीवियो को यह विश्वास हो चला था कि मोक्ष ज्ञान-मार्ग से प्राप्त हो सकता है। उन्होने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि "वह जो ईश्वर को जानता है, ईश्वर को प्राप्त करता है, अपितु वह स्वयं ही ईश्वर है।" आत्मा वस्तुत ईश्वर का अभिन्न अंग है। वह ईश्वर से एव ईश्वर की है, अतएव उसे ईश्वर मे हो विलीन होना चाहिए। अतएव उन्होने कर्म व तप-मार्गों का खण्डन किया। उनका कथन था कि मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति तथा अनन्त आनन्द व सुख की प्राप्ति के हेतु आत्मा का ईश्वर में विलीन होना अनिवार्य है। परन्तु इन तप एव कर्म तथा बुद्धिवादियो के सिद्धान्त इतने गूढ थे कि स्थूल-बुद्धि वाले सामान्य मनुष्य के लिए वे अति दुर्बोध हो गये। इन सिद्धान्तो ने मनुष्य की धार्मिक आकांक्षाओ की पूर्ति करने की अपेक्षा बौद्धिक परिभ्रान्ति उत्पन्न कर दी।

5. **ब्राह्मणों का प्रभुत्व**—मोक्ष-प्राप्ति के इन परस्पर विरोधी मतो एव साधनो ने आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र मे अशान्ति तथा परिभ्रान्ति पैदा कर दी। इस बौद्धिक परिभ्रान्ति और अशान्ति के अतिरिक्त पुरोहित-वर्ग का एकाधिकार और प्रभुता भी उत्तरोत्तर वृद्धि पा रही थी। जनसाधारण इनके कष्टकारी प्रभुत्व से ऊब गये थे। वे अपने आपको वैदिक धर्म व परम्पराओ की प्रमुख व्याख्या करने वाले होने का दावा करते थे। ऐसे अनेक विस्तृत यज्ञो एव अनुष्ठानो की विधियाँ थी जिनके लिए ब्राह्मणो की उपस्थिति अनिवार्य थी। जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उनका प्रभुत्व था। उनकी पण्डिताई और सरक्षण से कही भी छुटकारा नही था। उनके अहकार, आधिपत्य और वर्णवाद की एकागिता ने समाज को सर्वथा जकड दिया। यहाँ तक कि शासन-सचालन भी वे ही करते थे। क्षत्रिय राजाओ और राजकुमारो के परामर्शदाता और मन्त्री भी ब्राह्मण ही होते थे। इन्ही ब्राह्मणो ने राज्य-शासन के समस्त पदो एवं सत्ता पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। इन्हे विशिष्ट सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त थी और समाज मे अन्य वर्गो की अपेक्षा ये अधिक श्रेष्ठ एव प्रतिष्ठित माने जाते थे। ये चाहते थे कि जनसाधारण उनके ब्राह्मण धर्म मे पूर्ण विश्वास एवं अनुराग रखे। परन्तु साधारण जनता इसे अंगीकार करने को उद्यत नही थी।

6. **जाति-प्रथा**—जाति-बन्धन की बेडियाँ अधिक कठोर एव दृढ होती जा रही थी। जाति-परिवर्तन असम्भव-सा हो गया था। निम्न जाति के लोगो की दशा अत्यन्त ही हीन व दयनीय थी। अब्राह्मण जातियाँ तप करने तथा सन्यास-जीवन व्यतीत करने से सर्वथा वञ्चित कर दी गयी थी। इन सब कारणो से तत्कालीन

ब्राह्मण धर्म के प्रति साधारण जनता मे घोर तिरस्कार व विरोध की भावनाउत्पन्न हो गयी थी।

7. **स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति**—ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे वैशाली, कपिलवस्तु आदि राज्यो मे गणराज्य थे और प्रजातान्त्रिक वातावरण व्याप्त था। इससे जन-साधारण मे स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति जाग्रत हुई, जिसकी अभिव्यक्ति धार्मिक क्षेत्र में जैन और बौद्ध धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई।

अनेक प्रमुख आचार्यो तथा विद्वानो ने इस काल की भावना को अपने कार्यो मे अभिव्यक्त किया और धार्मिक सम्प्रदायो की स्थापना की। इनमे से प्रत्येक ने सबके लिए आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने तथा आत्मा की मुक्ति के हेतु सरल, सुलभ और व्यावहारिक मार्ग ढूँढने के प्रयत्न किये। आत्मा और परमात्मा के रहस्योद्घाटन तथा जन्म-मरण की शृंखला से मोक्ष के पथ के हेतु सभी प्रयत्नशील रहे। पाली ग्रन्थों के अनुसार ये सम्प्रदाय बासठ से कम नही थे तथा जैन धार्मिक ग्रन्थो के अनुसार इनकी सख्या तीन सौ से अधिक थी। इन सम्प्रदायों मे बौद्ध और जैन सम्प्रदाय अधिक समर्थ सिद्ध हुए और शेष कालान्तर में लुप्तप्रायः हो गये।

जैन धर्म

जैन धर्म की प्राचीनता—जैन धर्म का प्रादुर्भाव सुदूर अतीत मे लुप्त है। कहा जाता है कि ऋग्वेद के मन्त्रो मे जैनियो के दो तीर्थंकरो ऋषभ तथा अरिष्टनेमि का हवाला है। ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक माने गये हैं। ऋषभदेव की कहानी का उल्लेख विष्णु पुराण और भागवत पुराण में भी है, जहाँ इन्हे नारायण का अवतार माना गया है। ये सब इस बात की ओर सकेत करते है कि जैन धर्म यदि अधिक नही तो उतना ही पुराना है जितना वैदिक धर्म। जैनियो का विश्वास है कि जैन धर्म चौबीस तीर्थंकरो के उपदेशो का परिणाम है। प्रथम बाईस तीर्थंकरो के जीवन काल्पनिक कथाओ तथा नितान्त अस्पष्ट और अतर्क्य जन-विश्वासो से इतने आच्छादित हैं कि उनके विषय मे निश्चयात्मक रूप मे कुछ कहना दुष्कर है। तेईसवें तीर्थंकर जिनका नाम पार्श्वनाथ था और जो वर्द्धमान महावीर से 250 वर्ष पूर्व हो चुके थे, वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वे वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के निमित्त राजकीय विलास का जीवन त्याग दिया। उनके प्रमुख उपदेश चार थे—अहिंसा, सत्य भाषण, अस्तेय और सम्पत्ति का त्याग। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ ने अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया था। बुद्ध के समय के सब संघों में जैन साधु-साध्वियों का संघ सबसे विशाल था। यह ज्ञात नही है कि पार्श्वनाथ कहाँ तक अपने धार्मिक प्रचार मे सफल हुए, परन्तु चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने उनके धर्म को विशेष प्रतिष्ठा दी। वर्द्धमान महावीर के माता-पिता और उनके परिवार के लोग पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक था कि महावीर अपनी युवावस्था मे जैन सिद्धान्तों द्वारा अधिक प्रभावित हुए। पार्श्वनाथ के बाद दूसरे और अन्तिम तीर्थंकर स्वयं वर्द्धमान महावीर थे।

वर्द्धमान महावीर (599-527 ईसा पूर्व)—वर्द्धमान महावीर का जन्म वैशाली के समीप, कुण्डग्राम मे (बिहार के वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले मे) ईसा पूर्व 599 मे एक धन-सम्पन्न क्षत्रिय परिवार मे हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय ज्ञात्रिक कुल के प्रधान थे और उनकी माता त्रिशला वैशाली के सबसे प्रसिद्ध लिच्छवि

राजा चेटक की भगिनी थी। मगध के राजा बिम्बसार ने चेटक की पुत्री चेलना से विवाह किया था। अतएव वर्द्धमान मगध के प्रमुख व प्रतिष्ठित राजवश से सम्बन्धित थे। इस प्रकार वर्द्धमान का कुल अभिजातवर्गीय था और इससे उनके धर्म-प्रसार मे बड़ी सहायता मिली होगी। ज्ञान तथा कला सभी क्षेत्रो मे वर्द्धमान को उच्च शिक्षा दी गयी और यशोदा नामक एक युवती से इनका विवाह हो गया। इनसे एक कन्या उत्पन्न हुई थी जिसका पति महावीर का प्रथम शिष्य हुआ और तत्पश्चात जैन धर्म की प्रथम शाखा का नेता बन गया। अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात तीस वर्ष की अवस्था मे इन्होंने अपना गृह त्याग दिया और सत्य की खोज मे सन्यासी परिव्राजक हो गये।

कई बार नालन्दा जाने पर एक बार वहाँ गोशाल मक्खलीपुत्त नामक सन्यासी से वर्द्धमान का परिचय हो गया। वह अब वर्द्धमान के साथ रहने लगा, पर छह वर्ष के पश्चात उसने इनका साथ छोड दिया और आजीविक नामक एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय की नीव डाली। बारह वर्ष के कठोर तप के बाद तेरहवे वर्ष मे वैशाख माह की दशमी के दिवस जृम्भिकग्राम के बाहर, पार्श्वनाथ शैलशिखरो के पास ऋजुपालिका नदी के उत्तर तट पर वर्द्धमान को 'केवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इस सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान की उपलब्धि तथा सासारिक सुख-दुख से अन्तिम मुक्ति प्राप्त होने से वर्द्ध-अब अर्हत (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धनरहित) और महावीर कहलाये एवं लोगो ने उनके अनुयायियो को निर्ग्रन्थ (बन्धनमुक्त) कहा। इसके बाद तीस वर्ष तक वे एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करते रहे तथा कौशल, मगध और इसके पूर्व के प्रदेशो मे निरन्तर अपने उपदेशो और सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे। उन्होने अनेक बार बिम्बिसार और अजातशत्रु से भेट की जो उन्हे अत्यधिक सम्मान व प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। ईसा पूर्व 527 मे पटना जिले मे पावापुरी मे 72 वर्ष की अवस्था मे उनका देहान्त हुआ। ये गौतम बुद्ध के समकालीन थे। इन्होंने एक धार्मिक संघ की स्थापना की जो साधु-साध्वियो तथा पुरुप-स्त्रियो सभी के लिए खुला था।

महावीर के सिद्धान्त—महावीर द्वैतवादी तत्त्व-ज्ञान मे विश्वास करते थे। उनका मत था कि प्रकृति और आत्मा केवल दो तत्त्व है जो सदैव रहते है। दूसरे शब्दों मे, यो कहा जा सकता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व भौतिकी और आध्यात्मिक दो अंशो से बना है। प्रथम नाशवान है और द्वितीय अनन्त और विकासशील है। उनके मतानुसार कर्म के कारण आत्मा अनेक विगत जन्मो की सचित वासनाओ तथा अभिलापाओ के बन्धन मे है। अनेक जन्मों मे निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप कर्म के बन्धन, जो आत्मा को बाँधे हुए हैं, नष्ट किये जा सकते हैं और आत्मा को वासना से मुक्त किया जा सकता है। कर्म की शक्तियों का विनाश और विकेन्द्रीकरण ही जीव की अन्तिम मुक्ति है। तप करने तथा शरीर को कठोर यन्त्रणाओ के अनुशासन मे रखने से नवीन कर्मो का निर्माण और उनका एकीकरण अवरुद्ध हो जाता है और पहले के सचित कर्म धीरे-धीरे नष्ट हो जाते है। कर्म के इस प्रकार विनाश के साथ ही साथ आत्मा के वास्तविक गुण उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होते हैं और आत्मा पूर्ण आभा तथा अनन्त महानता और भव्यता से देदीप्यमान होती है। यह मोक्ष का प्रतीक है और तब आत्मा उस पवित्र परमात्मा मे एक हो जाती है।

महावीर ने गृहस्थ तथा परिव्राजक साधु के लिए नैतिक नियम निर्माण किये है। जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होने से मनुष्य को अशुभ कर्म न करना चाहिए और

धीरे-धीरे सभी प्रकार के नवीन कर्मों का निर्माण रोकना चाहिए तथा संचित कर्मों को नष्ट करना चाहिए। इस हेतु गृहस्थ को पाँच प्रतिज्ञाएँ माननी पड़ती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इससे ठीक आचार-विचार होता है। इसको सम्यक् व्यापार कहते हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थ को अन्य दो और सिद्धान्तों का अनुकरण करना होता है—ये हैं सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान। प्रथम का अर्थ है जैन तीर्थंकरों में विश्वास और दूसरे का अभिप्राय है मुक्ति का ज्ञान तथा सभी वस्तुओं में सजीवता। साधुओं के लिए इससे भी कठोर नैतिक नियमोपनियम हैं।

महावीर इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि ईश्वर इस विश्व का स्रष्टा है और वह इस पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। उनके मतानुसार विश्व का सृजन नहीं हुआ और कोई सर्वोपरि स्रष्टा भी नहीं है तथा "ईश्वर उन शक्तियों का उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तिकरण है जो मनुष्य की आत्मा में निहित होती है।" उनका विश्वास था कि सभी वस्तुओं—जड़ और चेतन दोनों—में जीव हैं। उनमें प्राण है और आघात पहुँचाने पर वे कष्ट का अनुभव करते हैं। अतएव अहिंसा के सिद्धान्त पर जैन धर्म में अधिक जोर दिया गया है। छोटे से छोटे जीव के प्रति, चाहे उसका विकास कितना ही निम्न क्यों न हो, हिंसा का विचार जैनियों के लिए अत्यन्त अग्राह्य और असह्य है।

महावीर ने वेदों की सत्ता और प्रामाणिकता तथा अपौरुषेयता को अस्वीकार नहीं किया और वैदिक क्रिया-विधियों तथा ब्राह्मणों के प्रभुत्व का घोर विरोध किया। जैसा ऊपर वर्णित है, उन्होंने जीवन के हेतु बहुत पावन, नैतिक और श्रेष्ठ नियमोपनियमों का निर्माण किया और मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त कठोर तप और संयम के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वर्तमान जैन धर्म महावीर के इन्हीं सिद्धान्तों को अपनाये हुए है।

जैन संघ—महावीर ने सफलतापूर्वक जैन संघ की स्थापना की। उनके कठोर तप व संयम तथा सादे व सरल सिद्धान्तों के कारण उनके अनेक अनुयायी हो गये। उनके ग्यारह घनिष्ठ और प्रिय शिष्य थे। उनमें से एक जिसका नाम आर्य सुधर्मन था महावीर के पश्चात भी जीवित रहा। वह उनकी मृत्यु के पश्चात जैन संघ का प्रमुख हो गया और 22 वर्ष तक इस पद पर रहा। उसका उत्तराधिकारी जम्बू था जो 44 वर्ष तक इस पद पर आरूढ़ रहा। इसके बाद इन प्रधानों की तीन पीढ़ियाँ बीत गयीं और मगध के अन्तिम नन्द नरेश के समय जैन संघ में दो प्रमुख थे—सम्भूतविजय और जैनियों के कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहु। लगभग 150 वर्ष तक जैन संघ के विषय में कोई विशेष एवं विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होता है। इसके जन्म से लेकर ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी तक जैन संघ के इतिहास की जानकारी के लिए हमें भद्रबाहु के कल्पसूत्र की सहायता लेनी पड़ती है। महावीर की मृत्यु के पश्चात भद्रबाहु जैन संघ का छठा प्रमुख था और सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। ऐसा कहा जाता है कि महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष पश्चात भद्रबाहु का देहावसान हुआ था। जैनियों के कल्पसूत्र में महावीर को छोड़कर 13 तीर्थंकरों की जीवनियाँ हैं। उनमें जैन संघ के प्रमुखों तथा मतों का विवरण है और जैन तपस्वियों के हेतु नियम हैं।

प्रथम जैन परिषद, महान मतभेद एवं विभाग—प्राचीन जैन धार्मिक ग्रन्थों को जो चौदह 'पूर्व' कहे जाते हैं और जिनका उपदेश स्वयं महावीर ने अपने प्रमुख शिष्यों

को दिया था, सभूतविजय और भद्रवाहु ने सम्पूर्ण किये थे। सभूतविजय का देहावसान चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के वर्ष मे हो गया था। ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग मे जब निरन्तर वारह वर्ष तक भयकर अकाल पडा, तब जैनियो का महत्त्वशाली समुदाय भद्रवाहु के नेतृत्व मे मैसूर चला गया। फिर भी अनेक जैन सभूतविजय के शिष्य स्थूलभद्र के नेतृत्व मे मगध में ही रह गये थे। उन्होने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के ज्ञान को, जो लुप्त हो रहा था, पुन एकत्र करने के लिए पाटलिपुत्र मे एक सभा आमन्त्रित की। परिणामस्वरूप, वारह अगो की रचना हुई जो जैन धर्म के सिद्धान्तो में सबसे अधिक महत्त्वशाली भाग है। भद्रवाहु के अनुयायी जब मगध मे लौटे तो उन्होने इन 'अगो' की प्रामाणिकता स्वीकार नही की। इसके अतिरिक्त जो मगध से प्रवास कर गये थे और जो मगध मे रह गये थे उनमे भी परस्पर एक विशाल खाई-सी हो गयी थी। प्रथम जैनी अब भी वस्त्रहीन रहकर महावीर के सिद्धान्तो का अनुकरण करते थे, पर दूसरे मगध मे रहने वालो ने श्वेत वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया था तथा महावीर के सिद्धान्तो से दूर हो गये थे। इस प्रकार जैनियों मे सर्वप्रथम दो श्रेणियाँ हो गयी—दिगम्बर और श्वेताम्बर।

512 ई० में वलभि में द्वितीय जैन परिषद—कालान्तर मे श्वेताम्बरो के सिद्धान्त अस्त-व्यस्त हो गये और उसके लुप्त होने का भय हो गया। अतएव 512 ई० मे गुजरात मे वलभि नामक नगर मे देवर्धिक्षमाश्रमण के सभापतित्व मे धार्मिक ग्रन्थो को एकत्र करने एव उनकी रचना करने के हेतु एक परिषद आमन्त्रित हुई। पाटलिपुत्र की प्रथम परिषद मे जिन वारह 'अगो' की रचना हुई थी उनमें से उस समय केवल ग्यारह ही अवशेष थे।

कालान्तर मे दिगम्बरो और श्वेताम्बरो मे और भी अधिक मतभेद की वृद्धि हुई। इनमे एक ऐसे समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसने मूर्ति-पूजा का सर्वथा वहिष्कार किया एव धार्मिक ग्रन्थो का पूजन अपना लक्ष्य वनाया। श्वेताम्बरो मे इन्हे तेरापथी एव दिगम्बरो मे समाई कहते है। इस सम्प्रदाय का समुदाय छठीं शताब्दी के पूर्व नही हुआ।

जैन धर्म का विकास एवं उत्थान—अभिलेख तथा साहित्यिक प्रमाण यह सकेत करते है कि जैन धर्म का आविर्भाव एवं उत्थान उसकी प्रारम्भिक अवस्था मे बौद्ध धर्म की अपेक्षा यथेष्ट था। उसे अपूर्व सफलता मिली थी। महावीर द्वारा अपने उपदेशों के लिए सस्कृत की अपेक्षा साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग, आत्मा एव परमात्मा के रहस्य के दुर्वोध तथा गूढ सिद्धान्तो की अपेक्षा उनके सुलभ व्यावहारिक नैतिक सिद्धान्त, साधारण जनता को विना किसी भेदभाव के आध्यात्मिक सत्य का उपदेश, जैन भिक्षुको के सक्रिय प्रचार तथा राजकीय आश्रय एव संरक्षण ने जैन धर्म के विकास एव उत्थान मे अपूर्व सहायता प्रदान की।

सुदृढ एव सुव्यवस्थित धार्मिक सघ ने, जिसे महावीर अपने पीछे छोड गये थे, निरन्तर धार्मिक प्रचार तथा प्रसार किया। इससे रक्तिम यज्ञों मे पशुवलि अप्रिय हो चली थी और समाज के उन वर्गो के लोगों मे भी जिन्होने जैन धर्म को नही अपनाया था, अहिंसा का सिद्धान्त जीवन के दैनिक नियम के समान स्थापित हो गया। महावीर के अनुयायी धीरे-धीरे समस्त देश मे फैल गये। यहाँ तक कि सिकन्दर महान के आक्रमणकाल मे जैन सन्त तथा साधु सिन्ध नदी के तट पर विद्यमान थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयन अनुरागी और श्रद्धालु जैन

था। सम्भवतः मगध के नरेश नन्द भी जैन थे। ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे जैन सन्त व साधुओ के एक समुदाय ने मगध से भद्रबाहु के नेतृत्व मे दक्षिण भारत मे प्रवास किया था। वहाँ उसने मैसूर में श्रवण बेलगोला को अपना प्रमुख केन्द्र-स्थल बनाकर समस्त दक्षिण भारत मे जैन धर्म का खूब प्रचार एवं प्रसार किया। 900 ई० का एक शिलालेख यह बताता है कि मैसूर के चन्द्रगिरि पर्वत के शृंग पर भद्रबाहु एव चन्द्रगुप्त मुनिपति के पद-चिह्न अंकित है। दक्षिण मे जैन धर्म विशेपकर वाणिज्य-व्यवसायी-वर्ग में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था।

जैन धर्म को राजकीय आश्रय व संरक्षण भी प्राप्त हुआ था। महान मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म के बडे धार्मिक श्रद्धालु संरक्षक थे। ऊपर जैसा वर्णित है, वे स्वय भद्रबाहु के शिष्य बनकर दक्षिण मे उनके साथ गये थे। एक गुफा उनको ही समर्पित कर दी गयी और वह पर्वत जिसमें वह गुफा है, उनके नाम चन्द्रगुप्त के आधार पर चन्द्रगिरि नाम से प्रख्यात हो गया। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मे कलिंग (उड़ीसा) के राजा खारवेल ने जैन धर्म अगीकार कर लिया था। वह स्वयं एक विशाल जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर जैन धर्म का प्रसिद्ध संरक्षक हो गया। जैन सन्त कालकाचार्य तथा उज्जैन-नरेश गर्दभिल्ल और उसके पुत्र विक्रम की गाथाओं से प्रतीत होता है कि ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में मालवा की राजधानी उज्जैन जैन धर्म का एक महान केन्द्र-स्थल रहा होगा। कुषाण-युग मे जैन धर्म मथुरा मे अधिक समृद्ध ओर हर्ष के काल मे पूर्वी भारत मे इनका प्रभुत्व अधिक था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियो मे उत्तरी भारत में मथुरा और दक्षिण मे श्रवण बेलगोला जैन धर्म के प्रचार के महान् केन्द्र थे। इन दोनो स्थानो पर जो अनेक शिलालेख, मूर्तियाँ तथा अन्य स्मारक चिह्न एव समाधि-स्थल प्राप्त हुए है, वे इस कथन की सबल पुष्टि करते है। पाँचवी से बारहवी सदी तक दक्षिण के अनेक राजवशो, जैसे गग, कदम्ब, चालुक्य और राष्ट्रकूट ने इस धर्म को आश्रय दिया था। आठवी से दसवी सदी तक मान्य-खेत के कतिपय राष्ट्रकूट नरेश तो विशेष रूप से जैन धर्म के पक्षपाती थे। वे उसके उत्साही सरक्षक थे और जैन कला और साहित्य के विकास मे उन्होने अत्यन्त प्रोत्साहन दिया। प्रख्यात जैन कवि उनके राज्याश्रय मे ही फले-फूले। अमोघवर्ष के राज्यकाल मे ही जिनसेन और गणभद्र ने अपने महापुराण की रचना की। अमोघवर्ष स्वय लेखक था और उसका जैन ग्रन्थ सभी सम्प्रदाय के लोगो मे अधिक लोकप्रिय हो गया। ऐसा कहा जाता है कि अमोघवर्ष अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे जैन साधु हो गया था। अभिलेखो के प्रमाण के अनुसार उसके एक उत्तराधिकारी इन्द्र चतुर्थ ने जैन धर्म के अनुसार संसार त्याग कर व कठोर तप कर अपने जीवन की इतिश्री की थी। ईसवी सन् 1100 के लगभग गुजरात में जैन धर्म का अत्यधिक उत्थान हुआ, क्योंकि वहाँ अन्हिलवाड के राजा और गुजराती गाथाओ के लोकप्रिय नायक सोलंकी नरेश सिद्धराज (सन् 1094-1143) और उसके पुत्र कुमारपाल जैन सम्प्रदाय के महान संरक्षक थे। उन्होने जैन धर्म को पूर्णरूपेण अगीकार कर लिया था और जैनियो के साहित्य तथा उनकी मन्दिर-निर्माणकला को खूब प्रोत्साहन दिया था। सिद्धराज के उत्तरा-धिकारी कुमारपाल की राजसभा मे प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र, जो राजपुरोहित व इतिहासज्ञ था, रहता था। मुस्लिम-युग मे जैन धर्म विद्यमान रहा क्योकि जैनियो की अधिक शान्तिप्रिय विधियो तथा उनकी धार्मिक उग्रता के अभाव मे यवन शासको ने उन्हे अधिक सताया नही, परन्तु जैन धर्मावलम्बियो की संख्या दिन-प्रति-दिन न्यून

होती जा रही थी। सहिष्णु व उदार मुगल बादशाह अकबर के संरक्षण में जैनियो ने पुनः अपनी उन्नति की। परन्तु इस यवनकाल वे जैनियो की सख्या मे राजपूताने की रियासतो मे विशेष रूप से वृद्धि हुई। इन राज्यों में अनेक जैन उच्च शासकीय तथा मन्त्रियो के पदो पर सुशोभित थे। परन्तु इसके पश्चात के युग मे उनकी अवनति होती चली गयी।

जैन धर्म का ह्रास—जैन सघ के अनेक त्यागी और सेवाभावी धार्मिक उपदेशकों तथा प्रचारको की सख्या दिन-प्रतिदिन गिरने लगी और वे अब अपने धार्मिक कृत्यों में पहले जैसे उत्साही न रहे। जैनियो के दो सम्प्रदायो (श्वेताम्बर व दिगम्बर) मे विभक्त हो जाने से वे ठोस कार्य करने मे असमर्थ हो गये। राजकीय सरक्षण और आश्रय के दिन व्यतीत हो चुके थे। साधारण जनता आन्तरिक मतभेदो तथा विभागो मे वँट गयी थी। अतएव किसी ठोस कार्य के लिए उनका एकीकरण प्राय. असम्भव-सा हो गया था। जाति-प्रथा के भेद-भाव जो पहले बहिष्कृत हो चुके थे, पुन जनता पर लाद दिये गये और जाति-प्रथा के अपरिवर्तनशील बन्धन व क्लिष्टता पुन सक्रिय हो गयी। यद्यपि जैन समाज ने अपना अस्तित्व विद्यमान रखा, परन्तु जाति-प्रथा के इन दुर्गुणो ने उसकी मौलिक शक्ति और उत्साह को सोखकर शुष्क कर दिया। इसी बीच मे हिन्दू धर्म मे सुधार हुआ एवं उसका पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। इसका प्रभाव जैन धर्म के लिए विनाशकारी हुआ। दक्षिण मे शैव मत के प्रचारकों ने जैन धर्म को खूब क्षति पहुँचायी। शिव-भक्त चोल नरेशो ने जैन धर्म के विनाश का पर्याप्त प्रयत्न किया। ग्यारहवी-बारहवी सदी मे चालुक्य नरेशो ने भी जैन धर्म को नष्ट करने की चेष्टा की व जैनियो पर अत्याचार किये।

आज भारत मे विभिन्न प्रान्तो को मिलाकर जैन धर्मावलम्बियो की संख्या लगभग तेरह लाख है, परन्तु राजस्थान, गुजरात, मध्यभारत तथा दक्षिण के जिलो मे ही इनकी सख्या अधिक हे। अधिकाश मे ये धन-सम्पन्न है और समृद्धशाली व्यवसायी तथा उद्योगपति हे। इन्होने देश मे अनेक धार्मिक सस्थाएँ, जैसे औषधालय, धर्मशाला गौशाला, अन्न-क्षेत्र आदि दानस्वरूप स्थापित किये हैं। आजकल इन्होने अपना ध्यान अपने समाज-सुधार, शिक्षा-प्रसार, जैन धर्म की जाग्रति, जैन मन्दिरो तथा समाधियों के निर्माण एव जीर्णोद्धार, और शताब्दियो से अनेक स्थलों पर जैन मन्दिरो में विविध हस्तलिखित ग्रन्थो के रूप मे अज्ञात पड़े हुए प्राचीन जैन साहित्य के प्रकाशन की ओर आकर्षित किया है।

जैन साहित्य और कला—यद्यपि जैन समुदाय छोटा-सा है तथापि देश की भाषाओ के विकास मे इसका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मणो के धार्मिक प्रचार, उपदेश तथा पवित्र ग्रन्थो की भाषा सदैव सस्कृत रही और बौद्धो की पाली भाषा। परन्तु जैनियो ने अपने धर्म-प्रसार तथा ज्ञान-सचय व रक्षा के हेतु विभिन्न स्थलों पर विविध युगो की तत्कालीन भाषाओं का सदुपयोग किया। प्राकृत भाषा मे रचित उनका साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषाओ के विकास में उनका प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा है। उस युग की बोलचाल की भाषाओं को उन्होने साहित्यिक रूप दिया। स्वय महावीर ने मिश्रित उपभाषा अर्द्धमागधी मे अपना उपदेश दिया था, जिससे मागधी या सूरसेनी बोलने वाली जनता उन्हे पूर्णरूपेण समझ सके। उनके धर्मोपदेश जो 'श्रुताग' नामक बारह पुस्तकों मे सगृहीत है, अर्द्धमागधी भाषा में लिखित हैं, थोड़े समय पूर्व ही जैनियो द्वारा रचित सम्पन्न साहित्य प्रकाश में आया

है। इस साहित्य में वह भाषा परिलक्षित है जो आधुनिक हिन्दी, गुजराती तथा मराठी के विकास के पूर्व प्रचलित थी। यह साहित्य 'अपभ्रंश' नामक भाषा में लिखा हुआ है। यह भाषा एक ओर यदि संस्कृत और प्राकृत को जोड़ती है तो दूसरी ओर आधुनिक काल की भाषाओं को परस्पर मिलाती है। अतएव भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'अपभ्रंश' का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जैन विचारधारा और प्रेरणा दक्षिण के साहित्य में भी पायी गयी है। कन्नड भाषा का प्रारम्भिक साहित्य जैन-प्रभाव से वंचित नहीं है। जैनियों ने संस्कृत में भी वर्णनात्मक तथा दार्शनिक दोनों प्रकार के सम्पन्न साहित्य की रचना की है एवं व्याकरण, काव्य, कोष, रचनाशास्त्र, तथा गणित जैसे विशिष्ट 'टेकनिकल' विषयों पर भी उसके ग्रन्थों का अभाव नहीं है।

ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदियों में जैनकला का सौन्दर्य अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में जैनियों ने भी अपने समकालीन बौद्ध धर्मावलम्बियों के समान अपने सन्तों की प्रतिष्ठा में स्तूपों का निर्माण किया था। इन स्तूपों में पाषाण 'रेलिंग' (Railings), अलंकृत प्रवेश-द्वार, पाषाण-छत्र, रूप-शिल्प के उत्कीर्ण स्तम्भ एवं प्रचुर प्रतिमाएँ थीं। इनके कुछ नमूने मथुरा में उपलब्ध हुए हैं। मध्य भारत तथा बुन्देलखण्ड ग्यारहवीं एवं बारहवीं सदियों की जैन मूर्तियों से भरे पड़े हैं। मैसूर में श्रवण बेलगोला तथा कर्कल में बाहुबली की विशाल दैत्याकार प्रतिमा जो गोमतेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है विश्व की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है। सत्तर फुट ऊँची यह प्रतिमा जो पहाड़ी के शिखर पर स्थित है, सन् 984 में गंग नरेश राजमल्ल चतुर्थ (लगभग सन् 977-95) के मन्त्री और सेनापति जैन चामुण्डराय ने स्थापित की थी। यह विशाल ग्रेनाइट चट्टान में से काटी गयी है। दक्षिण मध्य भारत में बड़वानी नगर के समीप इसी प्रकार लगभग 29 मीटर ऊँची जैन तीर्थंकर की विशालकाय प्रतिमा आज भी विद्यमान है। ग्वालियर दुर्ग में जैनियों द्वारा चट्टानों पर उत्कीर्ण जो कला के नमूने हैं वे पन्द्रहवीं सदी के हैं। जैनियों ने चट्टानों को काटकर मन्दिरों का भी निर्माण किया था। इनमें सबसे पूर्व के उदाहरण ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी पूर्व और उसके बाद के हैं और आज भी उड़ीसा में हाथी गुम्फा नामक गुहाओं में विद्यमान हैं। विभिन्न काल की जैनकला के अन्य नमूने जूनागढ़ (गिरनार), जुनार, उस्मानाबाद, ऊन (मध्य भारत) में आज भी हैं। जैनियों के अनेक तीर्थस्थानों, जैसे पार्श्वनाथ पर्वत, बिहार में पावापुरी और राजगृह तथा काठियावाड (सौराष्ट्र) में गिरनार और पालिताना में विभिन्न युगों के जैन मन्दिर और अन्य कलापूर्ण स्मारक हैं। चित्तौड़ दुर्ग में जैनियों का स्तम्भ (Tower) जैन स्थापत्यकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। राजस्थान में आबू पर्वत पर देलवाड़ा के पास ग्यारहवीं सदी के जो जैन मन्दिर बने हुए हैं उनमें भारतीय कला-प्रतिभा शिल्पी की अलंकृत पाषाण-आकृतियों में अपनी परम पराकाष्ठा पर मिलती है। जैनियों ने चित्रकला के विकास में भी योग दिया। उन्होंने अपनी चित्रकला का प्रदर्शन अपनी हस्तलिखित पुस्तकों में किया जिनमें चमकीले रंगों का प्रयोग किया गया। कतिपय विद्वानों का मत है कि जैनियों की कला सादगी से पूर्ण है। उसमें हिन्दू कला की चमक-दमक का अभाव है।

निष्कर्ष—इतिहास में जैन धर्म के अवशेष बहुत ही पूर्व-युग से चले आते हैं और निस्सन्देह ये वैदिक धर्म से नहीं तो बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीनतम हैं ही। यद्यपि यह भारत में सबसे अधिक प्रभुत्वशाली धर्म नहीं रहा तथापि देश में यह एक

सशक्त सम्प्रदाय अवश्य ही बना रहा। जैन धर्म की रूढिवादिता, ब्राह्मण धर्म से इसकी सदृशता, धर्म-प्रचार की उग्र भावना के अभाव तथा अन्य धर्मों के विरोधाभास के दुर्भाव होने से जैन धर्म देश के विभिन्न भागो मे आज भी विद्यमान है।

बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र—वह आन्दोलन जिसने ब्राह्मण धर्म को सबसे भारी आघात पहुँचाया था, महावीर के प्रसिद्ध समकालीन गौतम बुद्ध द्वारा प्रारम्भ किया गया था। वे नेपाल की तराई मे कपिलवस्तु के शाक्य जाति के प्रधान शुद्धोधन के पुत्र थे। उनकी माता पार्श्ववर्ती कोलिय कुल की राजकुमारी थी। कपिलवस्तु से कुछ मील दूर लुम्बिनी ग्राम मे 566 ईसा पूर्व मे उनका जन्म हुआ था। यह स्थान आज मौर्य सम्राट अशोक के रूम्मिन्देह स्तम्भ जिस पर 249 ईसा पूर्व का अभिलेख है, सुशोभित है। प्रसव-पीडा से माता का देहावसान हो जाने पर सिद्धार्थ की विमाता प्रजापति गौतिमी ने इनका लालन-पालन किया। इसलिए इन्हे गौतम भी कहते है।

बाल्यकाल से ही सिद्धार्थ में मस्तिष्क की चिन्तन-प्रवृत्ति एव सहृदयता तथा दयालुता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। शैशवकाल मे भी राजकीय वैभव राजकुमार के हृदय को मोहित करने मे सर्वथा असमर्थ रहा। अपने पुत्र मे सांसारिक जीवन के प्रति गहरी उदासीनता देखकर शुद्धोधन ने उनका विवाह यशोधरा नाम की सुन्दर राजकुमारी से कर दिया। इस नवविवाहित दम्पत्ति के प्रासाद को शुद्धोधन ने भोग-विलास एव आनन्द की सर्वोत्कृष्ट सामग्री और साधनो से परिपूर्ण कर दिया। परन्तु दुःखी और विषादग्रस्त विश्व के बीच भोग के इन उपकरणो से गौतम के आकुल व चिन्तित हृदय को शान्ति न मिली। एक वृद्ध, रुग्ण, मानव-शव तथा सन्यासी के दृश्य ने ससार के प्रति उनकी उदासीनता और भी दृढ करदी और उनके हृदय से सासारिक सुखो के साधनो की निष्फलता को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया। जीवन की अनन्त समस्याओ, उसके कष्टो तथा मृत्यु की भावना से वे आक्रान्त हो गये, उनकी शान्ति भग हो गयी और वे वासना से रहित एकान्तवास की गम्भीर शान्ति की ओर अधिक आकर्षित हुए। अपनी आयु के 29वें वर्ष 533 ईसा पूर्व मे उन्होने सन्यासी जीवन द्वारा शाश्वत सत्य की खोज करने के लिए अपने प्रासाद एव राज्य को एक रात्रि को छोड़ दिया। यह गृह-त्याग महाभिनिष्क्रमण के नाम से प्रसिद्ध है।

निरन्तर छह वर्षो तक वे सन्यासी का जीवन व्यतीत करते रहे। इस काल मे उन्होने दो ब्राह्मण आचार्यो के आश्रमो का अध्ययन किया एव पटना जिले के राजगृह तथा गया के समीप उरुवेला आदि अनेक स्थानो मे भ्रमण किया। इतने पर भी उनकी जिज्ञासा न मिटी और उन्हे सन्तोष न हुआ। तब उन्होने उरवेला के सघन वन मे कठोर तप किया और अपने शरीर को अनेक कडी यातनाएँ दी एव सत्य की प्राप्ति के लिए निष्फल प्रयत्न किये। अन्त मे उन्होने तपस्वी जीवन को त्याग दिया, शरीर-यातना छोड दी तथा निरजना नदी मे स्नान कर वर्तमान बोद्ध गया मे पीपल वृक्ष के नीचे तृण के आसन पर बैठ गये। यहाँ उन्हे सहसा सत्य के दर्शन हुए एव ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हे यह प्रकाश मिला कि महान शान्ति उनके हृदय मे ही है, उन्हे वही उसकी खोज करनी चाहिए। यही 'महान बुद्धत्व' कहा गया है तब से वे 'बौद्ध' या 'तथागत' कहलाए। इस प्रकार अपनी आयु के पैंतीसवे वर्ष मे गौतम ने

बुद्धत्व प्राप्त किया । इसके बाद वे वाराणसी के समीप सारनाथ के हिरणकुंज में गये और वहाँ उन्होंने अपना धार्मिक उपदेश दिया, जिसके परिणामस्वरूप पाँच शिष्य उनके साथ हो गये । उनके भावी जीवन के शेष पैंतालीस वर्ष अनवरत परिश्रम तथा सक्रियता के थे । वे इस काल मे एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते रहे और अवध, बिहार तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में अपना सन्देश राजा और रंक सबको सुनाते रहे । कौशल नरेश प्रसेनजीत एव मगध नृपति बिम्बिसार तथा अजातशत्रु ने उनके सिद्धान्तों को अंगीकार कर लिया और उनके शिष्य हो गये । उन्होंने अपने अनुयायी साधुओ का एक 'सघ' स्थापित किया । दीर्घ काल तक मुक्ति के हेतु उपदेश देते, अनवरत प्रचार करते एवं वार्तालाप करते हुए धर्म के ये महारथी अन्त में अस्सी वर्ष की अवस्था मे 486 ईसा पूर्व में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले मे कुशीनगर (वर्तमान कसिया) मे निर्वाण को प्राप्त हुए । इसे महापरिनिर्वाण कहते है । वैसाख पूर्णिमा के दिन गौतम बुद्ध का जन्म हुआ, इसी पूर्णिमा के दिन इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और इनका निर्वाण भी वैसाख पूर्णिमा को ही हुआ । विश्व-इतिहास में ऐसा उदाहरण किसी अन्य के जीवन में नही मिलता ।

महात्मा बुद्ध के सिद्धान्त—गौतम बुद्ध ने कोई नवीनतम धर्म या सम्प्रदाय स्थापित करने का प्रयास नही किया । न तो उन्होने धार्मिक सिद्धान्तो तथा रूढियो के विषय में चर्चा की और न नियमों एव विधियों के विषय मे । उन्होंने तो केवल जीवन के एक नवीन पथ की ओर सकेत किया । सद्‌गुणों के इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति जीवन तथा मरण के बन्धन से मुक्ति पा सकता है । उन्होंने किसी मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया अपितु आध्यात्मिक विकास की युक्तिमूलक विवेकशील योजना बतायी । उनके उपदेशो का आधार आत्मा, कार्य तथा आचार-विचार की पवित्रता है, उन्होने वेदो की प्रामाणिकता और अपौरुषेयता को अस्वीकृत किया, रक्तिम पशु-यज्ञो को आपत्तिजनक बताते हुए उनकी निन्दा की, जटिल अर्थहीन विस्तृत धार्मिक विधियो एवं अनुष्ठानो का घोर विरोध किया, जाति-प्रथा तथा ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी, और विश्व के सृजन करने वाले ईश्वर के अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया । आत्मा और परमात्मा के झगडो में वे नही पडे । उनके मतानुसार अपने स्वय के विकास के हेतु व्यक्तिगत श्रम एवं सात्विक जीवन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । जिस सात्विक तथा सद्‌गुणपूर्ण मार्ग को उन्होने सुझाया है वह व्यावहारिक नैतिक गुणो का एक समूह है और वह विवेकशील है । अतएव बौद्ध धर्म धार्मिक क्रान्ति की अपेक्षा सामाजिक क्रान्ति ही अधिक था ।

बुद्ध ने अपने अनुयायियो को चार आर्य सत्यो (चत्तारि-अरिय-सच्चानि) का उपदेश दिया था । ये सत्य निम्नलिखित थे—दुःख, दुःख का कारण (दुःख समुदय), दुःख का दमन (दुख निरोध) और दुःख के शमन का मार्ग (दुःख निरोध गामिनी प्रतिवाद) । दूसरे शब्दों मे, उन्होने बताया कि जीवन मे कष्ट है, इस कष्ट का मूल कारण है और उस कारण को नष्ट करके इस कष्ट का निवारण किया जा सकता है । कष्ट का कारण भौतिक वस्तुओं का सुख भोगने की वासना या इच्छा या तृष्णा है । यह तृष्णा मानव के जन्म और मृत्यु का कारण है । जब यह तृष्णा या जीवन का मोह मनुष्य मे नही रहता है, तभी आत्मा के लिए निर्वाण प्राप्त करना सम्भव हो सकता है । इस तृष्णा का किस प्रकार विनाश किया जाय यही मनुष्य के सम्मुख वास्तविक समस्या है । उनके मतानुसार यौगिक क्रियाएँ या तपस्या अथवा शारीरिक यातनाएँ न तो तृष्णा का अन्त ही कर सकती है और न पुनर्जन्म तथा उसके कष्टों

से मुक्ति ही दिला सकती हैं। मस्तिष्क को वासनाओं एवं तृष्णा से विरक्त करने के लिए बारम्बार प्रार्थना, या यज्ञ या वेद-मंत्रो का उच्चारण निष्फल है। बुद्ध ने बताया कि इस तृष्णा का विनाश 'आष्टांगिक-मार्ग' के अनुकरण से ही हो सकता है। इस आष्टांगिक-मार्ग मे ये बातें है :

1. **सत्य दृष्टि या विश्वास**—जिन चार सत्यों का बुद्ध ने अपने प्रथम धर्मोपदेश मे वर्णन किया है उनका ज्ञान और उनमे विश्वास व श्रद्धा।

2. **सत्य भाव**—इसका अर्थ यह है कि हमे विलासिता की वस्तुओ को त्याग देना चाहिए एव किसी से न तो ईर्ष्या या द्वेष रखना चाहिए और न दूसरों को कष्ट पहुँचाना चाहिए।

3. **सत्य भाषण**—इसका महत्त्व यह है कि हम अपने आपको असत्य भाषण, निन्दा, गाली-गलौज, कठोर शब्द और अर्थहीन वार्तालाप से दूर रखे।

4. **सत्य कर्म**—इसका अर्थ है कि जो वस्तु हमारी नही है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करें एव अत्यधिक शारीरिक तथा सासारिक विषय-वासना में लिप्त न रहे।

5. **सत्य निर्वाह**—इसका महत्त्व यह है कि जीवन के जो मार्ग निषिद्ध है उनका अनुकरण न किया जाय।

6. **सत्य प्रयत्न**—इसका अभिप्राय यह है कि अनिष्टकारक परिस्थितियो के आविर्भाव का दमन करना, जिनका प्रादुर्भाव हो चुका है उन्हे समूल नष्ट करना तथा शुभ मगलकारी परिस्थितियो के समुदय मे सहयोग देना।

7. **सत्य विचार**—इसके अनुसार आत्मा तथा शरीर को ऐसी दृष्टि से देखना कि स्वय पर नियन्त्रण रहे, सतर्कता हो एव तीव्र लालसा, उग्र वासना व विषाद पर विजय प्राप्त हो सके।

8. **सत्य ध्यान**—इसका अर्थ चार प्रकार की समाधि या ध्यान को अपनाना है। आष्टांगिक-मार्ग का यह अन्तिम और श्रेष्ठ भाग है।

यह आष्टांगिक मार्ग एक ओर अत्यन्त भोग-विलास तथा दूसरी ओर कठोर तप एव कडी शारीरिक यातनाओ के बीच का मार्ग है। इसीलिए इसे मध्यम मार्ग (मज्झिम-मग्ग) कहा गया है। इसमे मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि वह अपना धार्मिक और नैतिक जीवन किस प्रकार व्यतीत करे। बुद्ध के अनुसार इसी मार्ग का अनुकरण करने से निर्वाण की प्राप्ति होगी। निर्वाण का अर्थ है जीवन के मोह का अन्त और कष्टो का निवारण एव अनन्त शान्ति की प्राप्ति। इसके अतिरिक्त निर्वाण का अभिप्राय है पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति। पर इसका अर्थ यह नही कि बौद्ध धर्म अनुद्योग या अकर्म की शिक्षा देता है। यह धर्म वस्तुत. अनिष्कारी कार्यों के करने का उपदेश देता है। अतएव बुद्धि ने अपने अनुयायियो के हेतु नैतिक नियमो का प्रतिपादन किया। उन्होने चरित्र की पवित्रता, सत्य, प्रेम एव उदारता, माता-पिता की आज्ञा का पालन, गुरुजनो के प्रति श्रद्धा, मद्यपान-निषेध, दान तथा प्राणिमात्र के प्रति दया का आदेश दिया। मिथ्या या अति प्रशंसा उन्हे अप्रिय थी। एक बार उन्होने एक मनुष्य को जो उनकी प्रशसा मे सलग्न था खूब बुरा-भला कहा। सत्य मार्ग के अनुसरण को वे अधिक महत्त्व देते थे। बुद्ध दुष्कर्मी या पापी से नही अपितु दुष्कर्म या पाप से घृणा करते थे। एक बार उन्होने वैशाली के कुलीन महाप्रतिष्ठित

महानुभावो के स्वादिष्ट, अत्युत्तम भोजन के निमन्त्रण को त्यागकर वहाँ आम्रपल्ली नामक निन्दनीय नर्तकी का भोजन-निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था। यह घटना इस बात का प्रतीक है कि उनके हृदय मे दया का समुद्र था तथा वे साधारण जनता के सुख का सदैव ध्यान रखते थे।

दूसरा सिद्धान्त जिस पर बुद्ध ने जोर दिया, वह कर्म, उसकी क्रिया एव आत्मा का पुनर्जन्म था। उन्होंने युक्तिपूर्वक समझाया कि मनुष्य का यह जीवन एव परलोक का जीवन उसके स्वय के कर्मो पर अवलम्बित है। न तो देवता के प्रति किये गये यज्ञ दुष्कर्मो का निवारण कर सकते है, और न किसी पुरोहित की प्रार्थना या किसी मनुष्य की स्तुति अथवा आराधना उसके स्वय के लिए या अन्य मनुष्यों के लिए किसी भी प्रकार से मगलकारी होगी। मनुष्य जैसा बोता है, वह वैसा ही काटता है, जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही भोगता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपने भाग्य का निर्माता है और कोई देवता या देवगण इसमे किंचितमात्र भी परिवर्तन नही कर सकते। हम अपने कर्मो के परिणामो से अपना पिण्ड नही छुडा सकते। यही कर्म का विधान है। यदि कोई व्यक्ति दुष्कर्म नही करता, तो उसकी मृत्यु भी नही होती, और जब उसका देहावसान नही होता है, तो उसका पुनर्जन्म भी नही होता है और इस प्रकार वह अन्तिम निर्वाण-पद को प्राप्त होता है।

बुद्ध के सिद्धान्तो का अन्य महत्त्वपूर्ण अंग अहिंसा है। उसकी शिक्षा के अनुसार प्रेम की भावना शुभ कर्मो से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा उनकी व्यावहारिक और क्रियात्मक नैतिकता से सिद्धान्तो का एक अविच्छिन्न भाग है। परन्तु उनकी दृष्टि में अहिंसा कोई एकान्तिक धर्म नही था। जैन धर्म ने अहिंसा को जिस पराकाष्ठा तक पहुँचाया, उतना उन्होंने नही। यद्यपि बुद्ध ने प्राणिमात्र के लिए अहिंसा तथा प्रेम का आदेश दिया, परन्तु उन्होने अपने अनुयायियो को कुछ विशेष अवस्थाओ में मास भक्षण की भी अनुमति दी थी।

अपने धार्मिक सिद्धान्तो मे बुद्ध अज्ञेयवादी थे क्योंकि उन्होने ईश्वर के अस्तित्व को न तो स्वीकृत किया न अस्वीकृत। उन्होने ईश्वर या आत्मा के विषय में वाद-विवाद के झगडे में पडने से इन्कार कर दिया। जब कभी उनसे ईश्वर या आत्मा के विषय मे प्रश्न पूछे गये उन्होंने या तो मौन धारण कर लिया अथवा यह कह दिया कि ईश्वर और देवतागण भी शाश्वत कर्म के नियमो के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका लक्ष्य केवल मनुष्य का सासारिक कष्टों से उद्धार करने का था। अन्य वस्तुएँ उनके उद्देश्य की सीमा से परे थी।

मौलिक बौद्ध धर्म नवीन हिन्दू धर्म था और बुद्ध नवीन धर्म के संस्थापक नहीं, सुधारक थे—यहाँ इस बात का विवेचन करना उपयुक्त है कि मौलिक बौद्ध धर्म निर्दिष्ट रूप से नवीन धर्म नही था, परन्तु तत्कालीन हिन्दू धर्म और समाज मे अधिक नैतिक और पवित्रतम जीवन व्यतीत करने के लिए एक सुलभ मार्ग था। बौद्ध धर्म सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म मे प्रविष्ट व उत्पन्न त्रुटियों का निवारण करना था। बुद्ध कोई नवीन धर्म-प्रवर्तक या पैगम्बर नही थे परन्तु एक महान सन्त या ऋषि थे जिन्होने अपने श्रोताओ को अपने दुर्गुणो को त्याग देने और पवित्र व सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया था। सच्चे धर्म का सार-तत्त्व भी यही है। उन्होंने स्वय न तो किसी नवीन धर्म की घोषणा ही की और न नवीन सिद्धान्तो व नवीन धार्मिक क्रिया-विधियों या नवीन दार्शनिक तत्त्वो का ही

आदेश दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही शाश्वत सत्य की खोज की। जिन नैतिक सिद्धान्तो का उन्होने प्रतिपादन किया वे उपनिषदो मे वर्णित है।

बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त तत्कालीन हिन्दू साख्य-दर्शन और वाद के उपनिपदो से लिये गये है। मानव-जीवन कष्टमय है, इन कष्टो की वृद्धि स्वय आत्मा द्वारा होती है जो पुनर्जन्म के चक्र मे से गुजरती रहती है और इस पुनर्जन्म का अन्त ही इन कष्टो का अवसान है तथा ऐसा अवसान नैतिक आत्म-नियन्त्रण और समस्त वासनाओ के दमन से ही प्राप्त होता है—बुद्ध के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदो मे है। पुनर्जन्म के अवसान और वासनाओ के विकास हेतु बुद्ध ने जो अष्टागिक-मार्ग बताया वह साधारण नैतिक नियमावली है, न कि निर्दिष्ट स्पष्ट धर्म के विशिष्ट सिद्धान्त। बुद्ध ने स्वय प्राचीन ऋषियों के सद्गुणो और नैतिक आचार-विचार की बार-बार मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। अत बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म के पवित्र रीति-रिवाज और नैतिक आचरण के अनेक सिद्धान्त अपना लिये। कर्न (Kern) ने अपनी पुस्तक, Manual of Indian Buddhism मे इस बात का विवेचन किया है कि बौद्ध संघ के भिक्षु-भिक्षुणियो के कर्तव्यो और उनके आचरण के नियमो को छोड़ कर बौद्ध सम्प्रदाय का स्वय कोई मौलिक सिद्धान्त या नैतिक विधान न था। इस प्रकार जहाँ तक आधारभूत दर्शन का प्रश्न है, बुद्ध और उनके पूर्व के हिन्दू ऋषि-मुनियो मे अन्तर नही है। जातक-ग्रन्थो के अनुसार बुद्ध ने बार-बार यह कहा है कि सच्ची पवित्रता निर्दिष्ट प्रार्थनाओ के दुहराने या कर्मकाण्ड के सम्पादन मे नही अपितु पवित्र जीवन और मरण मे है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक सम्राट अशोक ने भी अपने स्तम्भ-लेख मे इस बात पर अधिक महत्त्व दिया कि धर्म जनता के बहु-कल्याण, दान, सत्य और पवित्रता में ही निहित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बुद्ध का तत्त्व-ज्ञान और बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त प्राचीन ही थे। पर बुद्ध ने अपने व्यक्तित्व की छाप उन पर लगा दी।

यदि बौद्ध धर्म की धार्मिक क्रिया-विधियो की ओर दृष्टिपात किया जाय तो बुद्ध ने अपने अनुयायियो के लिये कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड निर्दिष्ट नही किया था। उन्होने जो एक नवीन कार्य किया, वह है धर्म-प्रचारक भिक्षु-भिक्षुणियो के सघ का निर्माण। पर इस सघ के अनुशासन के कठोर नियमो का प्रादुर्भाव उनके देहावसान के बाद हुआ था जैसा बौद्ध धर्म की सभाओ से विदित होता है। बुद्ध ने रक्तिम यज्ञो का निषेध किया, पर यह भी कोई नवीन बात नही थी। यज्ञो के विरुद्ध उप-निपदो ने भी आवाज बुलन्द की थी और यह घोपणा की थी कि ससार-सागर पार करने के लिए यज्ञ टूटी नाव के समान है, परन्तु यज्ञो के विरोध मे उन्होने जिस ज्ञान और ब्रह्म-विद्या पर बल दिया वह केवल बुद्धिजीवी-वर्ग को ही प्रभावित कर सका। जनसाधारण के लिए तो आडम्बरपूर्ण रक्तिम यज्ञ और रहस्यवाद से ओत-प्रोत उप-निषद दोनो ही समान रूप से जटिल व दुर्बोध थे। जनता तो सरल, सुबोध एवं भक्ति-प्रधान धर्म के लिए तरस रही थी। प्रथम दो आवश्यकताओ को बौद्ध धर्म ने कार्य-श्रृंखला का महत्त्व समझाकर शुभ कार्यो पर जोर दिया और इस मत का प्रतिपादन किया कि मनुष्य पवित्रतम उत्तम कार्यो से ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध धर्म की महासभाएँ एवं धार्मिक ग्रन्थ—जब बुद्ध अपनी मृत्यु-शैया पर थे उन्होने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि "जिस सघ की मैंने स्थापना की है, उसके सत्य और नियमों को मेरे देहावसान के बाद तुम सबके लिए शिक्षक होने

दो।" अतएव, बुद्ध की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही बुद्ध धर्म की प्रथम महासभा 483 ईसा पूर्व राजगृह के समीप सत्तपन्नी गुहाओं में 'धर्म' (धार्मिक सिद्धान्तों) एवं 'विनय' (संघ के नियमो) के सकलन के हेतु हुई थी। विभिन्न स्थानीय संघों के पांच सौ भिक्षुगण प्रतिनिधि के रूप मे इसमे भाग लेने के लिए एकत्र हुए। उन्होंने प्राथमिकता से बुद्ध के उपदेशो को दो भागों मे विभाजित कर दिया—विनय-पिटक और धम्म-पिटक। कुछ शताब्दियो बाद, लगभग 90 ईसा पूर्व मे इन्हे लका मे पाली भाषा में लिपिबद्ध कर दिया गया और इसी रूप मे आज भी ये हमारे सम्मुख विद्यमान हैं।

एक शताब्दी के पश्चात् संघ के अनुशासन के नियमो के विषय में वाद-विवाद खडा हो गया, क्योंकि वैशाली के भिक्षुगण अनुशासन सम्बन्धी दस बातो के बन्धन में कुछ ढिलाई चाहते थे। जब साधारण जनता स्वर्ण या चाँदी स्वय उपहार मे दे तब भिक्षुओं को उसे स्वीकृत करना चाहिए या नही, इस पर परस्पर गहरा मतभेद हो गया। अतएव वैशाली में 383 ईसा पूर्व मे द्वितीय महासभा आमन्त्रित हुई। वैशाली के भिक्षुगणो के अपने मत पर डटे रहने के कारण कोई समझौता न हो सका और इस परिषद् का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के अनुयायी दो भागो मे विभक्त हो गये—'स्थविर' एवं 'महासाधिक'। प्रथम प्राचीन 'विनय' का प्रतिपादन करते थे और द्वितीय परिवर्तन के इच्छुक थे। तृतीय महासभा अशोक के राज्यकाल में बुद्ध के देहावसान के 236 वर्ष बाद, विद्वान भिक्षुक मोगग्लीपुत्त तिस्सा के सभापतित्व में पाटलिपुत्र मे हुई थी। इसके दो परिणाम हुए। प्रथम, बौद्ध धार्मिक ग्रन्थो में 'अभिधम्म-पिटक' नाम का तृतीय पिटक का सकलन हुआ। इसमे प्राचीन दो पिटको के सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की गयी। द्वितीय, धार्मिक सिद्धान्तो एवं विधियो का साहित्य निश्चयात्मक एवं प्रामाणिकता से निर्दिष्ट हो गया। बौद्ध धर्म की चतुर्थ महासभा कनिष्क के राज्यकाल मे ज्येष्ठ वसुमित्र एवं महान् विद्वान अश्वघोष के सभापतित्व में हुई। यह महासभा समस्त बौद्ध जनता की नही थी, परन्तु सम्भवत: यह उत्तरी भारत के हीनयान मतावलम्बियो की सभा थी। इसमें गान्धार एवं कश्मीर के आचार्यों के परस्पर मतभेद का निर्णय हुआ तथा तीनों पिटकों के तीन विशाल भाष्यों की रचना हुई और इसी के आधार पर बाद मे महायान का विकास हुआ।

बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ पिटक कहलाते हैं। ये तीन भागो में विभाजित हैं—सुत्त, विनय और अभिधम्म। सुत्त-पिटक मे बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्त और उपदेश है, अतएव यह बौद्ध धर्म-ग्रन्थो का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अग है। विनय-पिटक मे बौद्ध भिक्षुओं तथा सघ के नियमो का प्रतिपादन है। अभिधम्म-पिटक मे बुद्ध के सिद्धान्तो की आध्यात्मिक विवेचना है। बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना त्रिपिटक है। सुत्त-पिटक के पाँचवे भाग मे प्रसिद्ध 'जातक' या बुद्ध-जन्म की कहानियाँ हैं। वे ईसा से पूर्व दूसरी सदी मे इतनी अधिक प्रचलित नहीं थी जितनी ईसा से पूर्व पाँचवी सदी मे। जातको का बौद्ध साहित्य मे विशेष महत्त्व है। ऐसा माना गया है कि बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व बुद्ध के अनेक जन्म हो चुके थे। जातकों की 550 कथाओ का सम्बन्ध इन्ही जन्मों से है। तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का इन कथाओ में उत्तम चित्रण है। अतएव इनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है।

बौद्ध धर्म

बुद्ध के शिष्य दो प्रकार के थे, भिक्षु एवं उपासक (साधारण जनता)। भिक्षुओ को उन्होंने संघ के रूप में व्यवस्थित कर दिया। संघ की सदस्यता सभी व्यक्तियो के

लिए थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ऊपर कोई भी स्त्री या पुरुष, जो कुष्ट, क्षय और अन्य संक्रामक रोगो से तथा अभियोग व दड से मुक्त था, सघ का सदस्य बिना किसी भेदभाव के हो सकता था। जो व्यक्ति राज्य-सेवा मे या अन्य व्यक्ति की सेवा मे थे अथवा ऋणी थे या अपराधी एव लुटेरे थे, सघ में प्रवेश पाने से वंचित थे। परन्तु कभी-कभी दासो, अभियुक्तो, तथा अपंग व्यक्तियो के हेतु इस नियम का उल्लघन किया जाता था। संघ मे प्रवेश करने के लिए जाति के बन्धन नही थे। इस प्रकार संघ उन व्यक्तियो का एक समुदाय था जो शारीरिक तथा नैतिक रूप से सेवा करने के लिए योग्य थे। यह पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित तथा बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु शक्तिशाली शस्त्र हो गया। कालान्तर मे यह विश्व का सर्वश्रेष्ठ महान धार्मिक समुदाय बन गया। वास्तव मे यह एक आदर्श था जिसके आधार पर अन्य धर्मों के संघ निर्मित हुए। बौद्ध धर्म के शीघ्र विकास का प्रमुख कारण इस सघ की निःस्वार्थ सेवा थी। बौद्ध धर्मावलम्बी साधारण जनता ने दान देकर इस संघ को बनाये रखा जैसा आज भी बर्मा मे है।

संघ में प्रवेश और उसका शासन—संघ मे प्रवेश व दीक्षा की विधि सरल व सादी थी। जब कभी कोई व्यक्ति—स्त्री या पुरुष—संघ मे प्रवेश करने का इच्छुक होता था; तब उसे केश-मुण्डन कर, पीले वस्त्र धारण कर स्थानीय सघ के सभापति के सम्मुख बौद्ध धर्म व संघ की भक्ति के प्रति निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती थी :

बुद्धं शरण गच्छामि।
धम्मं शरण गच्छामि।
संघं शरण गच्छामि।

इसके पश्चात् उसे बुद्ध के दस आदेशो[1] को दुहराना पडता था। तब उसे एक भिक्षु के साथ रहना पडता था जो उसे कुछ प्रारम्भिक प्रशिक्षण देकर भिक्षु को एक परिषद् मे उपस्थित करता और उसे संघ मे प्रविष्ट करने के हेतु एक प्रस्ताव रखता था। स्वीकृति प्राप्त होने पर वह भिक्षु बन जाता था। इसके बाद उसे सघ के आन्तरिक अनुशासन को मानना पड़ता था।

सघ का संगठन एवं शासन जनतन्त्रवादी प्रणाली के अनुसार था। अपने सदस्यो को अनुशासन मे रखने की उसे सत्ता प्राप्त थी और अनुशासन को भग करने वाले दोषी भिक्षु को दण्ड देने का अधिकार भी उसे था। जब कभी सघ की सभा (meeting) होती थी, भिक्षुगण अपनी वरिष्ठता (seniority) के अनुसार शासन ग्रहण करते थे। जब तक दस भिक्षुगण उपस्थित न होते, सभा नही होती थी। गण-पूर्ति की यह सख्या सीमावर्ती प्रदेशों मे पाँच कर दी गयी थी। स्त्रियाँ तथा नूतनाभ्यासी मत देने के अधिकार से वचित थे। प्रत्येक प्रश्न उपस्थित भिक्षुओ के बहुमत से निश्चित होता था। सभा मे अनेक प्रश्नो, समस्याओ और विवादो का बुद्ध के

---

1. भिक्षु के दस आदेश या नियम अधोलिखित थे :
(1) पर-द्रव्य की चाह न करना, (2) हिंसा न करना, (3) असत्य भाषण न करना, (4) मद्यपान या मादक द्रव्यो का सेवन न करना, (5) व्यभिचार न करना, (6) सगीत व नृत्यो मे भाग न लेना, (7) अंजन, फूल और सुवासित द्रव्यो का प्रयोग न करना, (8) कुसमय भोजन न करना, (9) सुखप्रद शैय्या का उपयोग न करना, (10) द्रव्य ग्रहण न करना और न रखना।

आदेशो व उपदेशों के अनुसार ही निर्णय होता था। सभापति को यह अधिकार था कि वह देखे कि सघ अपनी सीमा का उल्लघन तो नही कर रहा है। अन्तिम सत्ता संघ की महासभा के हाथो मे निहित थी। पूर्ण अनुशासन रखने के हेतु प्रत्येक बौद्ध विहार मे प्रति माह दो सभाएँ होती थी जिनमे अनुशासन के नियम पढे जाते एवं अपराध स्वीकृत किये जाते तथा अभियुक्तों को समुचित दण्ड दिया जाता था।

भिक्षु का जीवन—भिक्षु एवं भिक्षुणी का जीवन सघ के नियमो एवं बुद्ध के दस आदेशो द्वारा नियन्त्रित होता था। उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने, फूल-मालाएँ एव सुवासित गन्धों का प्रयोग करने, मादक द्रव्यो का सेवन करने, माँस भक्षण करने एव नृत्य या सगीत मे भाग लेना निषिद्ध था। वे भिक्षावृत्ति द्वारा अपना दैनिक भोजन प्राप्त करते थे। भिक्षुणियों के नियम और भी कठोर थे। उनको यह भय था कि यदि उन्हे समानता दी जायेगी तो इससे अनुशासन भग होगा तथा अनैतिकता की वृद्धि होगी। गौतम बुद्ध सघ में स्त्रियो के सम्मलित होने के पक्ष मे नहीं थे, परन्तु अपने प्रमुख शिष्य आनन्द के बार-बार निवेदन करने पर उन्होने इसके लिए अनिच्छा से स्वीकृति दे दी।

वर्ष के आठ माह तक भिक्षु बौद्ध विहार के पार्श्ववर्ती प्रदेशो मे भ्रमण करते तथा उपदेश देते थे और वर्षा के चार माह के लिए विहार मे रहते थे। इस काल में सध्या को वे साधारण जनता को वर्तमान युग की 'कथा' के समान पवित्र धर्म का उपदेश देते थे।

संघ के दोष व गुण—सघ का महान दोष यह था कि समस्त स्थानीय संघों का समन्वय करने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता न थी और न विभिन्न सघो का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई केन्द्रीय संस्था ही थी। परिणामस्वरूप, छोटे-छोटे मतभेद पर फूट व भेद की भावना को प्रोत्साहन मिला। अतएव बार-बार महासभा को आमन्त्रित कर मतभेदो पर विचार-विनिमय कर उनका निर्णय करना पडा।

सघ की महत्त्वशाली बात यह थी कि अपने धार्मिक ग्रन्थों व उपदेशो के प्रसार के लिए जनसाधारण की बोलचाल की भाषा अपनायी गयी, सस्कृत को टाल दिया गया क्योंकि वह साधारण जनता के लिए दुर्बोध थी। सघ ने बौद्ध धर्म के विकास मे बडा सहयोग दिया। "इसे नागार्जुन, अरुण, वसुबन्ध, आर्यदेव जैसे धुरन्धर विद्वान, बोधिधर्म, दीपकर, श्रीज्ञान जैसे प्रचारक, धर्मकीर्ति और दिग्नाग जैसे वाद-विवाद-महारथी, विमुक्तसेन, कमलशील जैसे लेखक, तथा कुमारजीव, जिनमित्र जैसे अनुवादक उत्पन्न करने का श्रेय है। इनसे एशिया के बडे भाग को प्रकाशित करने वाले बौद्ध ज्ञान का आलोक प्रसारित हुआ।"

बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म की विवेचना—यह अनेक बार कहा गया है कि बौद्ध धर्म नवीन धर्म नही था। यह तो ब्राह्मणो की धर्म की व्यापारिक क्रिया-विधियो के विरुद्ध क्रान्ति एव जाति-प्रथा के विरोध मे एक दृढ आन्दोलन था। इसने जनता के सम्मुख व्यावहारिक नैतिक नियम रखे जिनसे वह पहले ही परिचित थी। वस्तुतः यह धर्म-सुधार का एक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म मे घुसे दोषो का निवारण करना था। अतएव कोई आश्चर्य नहीं, यदि हिन्दू तथा बौद्ध धर्म मे परस्पर अनेक बातो मे समानता हो।

सिद्धान्त—हिन्दू धर्म का विश्वास है कि ईश्वर, प्रकृति (Matter) और आत्मा तीनों के अपने अस्तित्व है और ईश्वर सृष्टि का सृजन करने वाला है। वौद्ध धर्म प्रकृति और आत्मा के दो विभिन्न अस्तित्वो मे विश्वास करता है। वौद्ध विचार-धारा में ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है। बुद्ध ही सर्वप्रथम व्यक्ति नही थे जो अज्ञेयवाद को अपनाकर हिन्दू धर्म से विलग हुए। इनके पूर्व कपिल तथा कणाद ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया था।

हिन्दू धर्म वेदो को पवित्र तथा अपौरुषेय मानता है और इस धर्म के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के हेतु वैदिक क्रिया-विधियो तथा अनुष्ठानो का होना अनिवार्य है। वस्तुत वेद हिन्दू धर्म की हड्डी है। परन्तु वौद्ध धर्म वेदो की प्रामाणिकता को अगीकार नही करता और यज्ञों एव अन्य कर्मकाण्डो मे भी विश्वास नही करता। वैदिक कर्मकाण्ड मुक्ति प्रदान करने के लिए अनिवार्य नही है। वास्तव में वौद्ध धर्म यज्ञो तथा कर्मकाण्डो के विरुद्ध क्रान्ति थी।

दोनो धर्मो मे जीवन का अन्तिम लक्ष्य एक ही है—जीवन और मरण की श्रृंखला से छुटकारा पाकर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना। दोनो ही धर्म आत्मा के पुनर्जन्म एव कर्म के नियमो मे दृढ़ विश्वास करते हैं। गौतम बुद्ध के सिद्धान्त वास्तव मे ब्राह्मणो के पुनर्जन्म, कर्म एव मोक्ष के विचारो पर अवलम्बित थे। अपने जीवन-काल मे ही बुद्धि के शिष्यो मे अनेक योग्य ब्राह्मण थे। ब्राह्मण धर्म पर आक्रमण करने का उन्होने निषेध कर दिया था और उन्होंने इस धर्म के साथ संघर्ष या मतभेद को कभी भी प्रोत्साहित नही किया। हिन्दू धर्म के वेदो में वर्णित सिद्धान्त अति जटिल, गूढ तथा साधारण जनता के लिए दुर्बोध हैं। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के सिद्धान्त बहुत ही सादे तथा संक्षिप्त एवं साधारण जनता के लिए बोधगम्य है। हिन्दू धर्म भाव-प्रधान, अमूर्त्त एवं दार्शनिक है, पर वौद्ध धर्म व्यावहारिक, क्रियाशील एव नैतिक है।

धार्मिक विधियाँ—धार्मिक रीति-रिवाजो मे हिन्दू धर्म विस्तृत समारोह, कर्मकाण्ड, मन्त्रोच्चारण, दैनिक प्रार्थनाएँ एव स्तुति मे विश्वास करता है। यह नैतिक और सद्गुण-सम्पन्न जीवन पर, जो मुक्ति की ओर ले जाता है, अधिक जोर देता है। हिन्दू धर्म के समारोह तथा अनुष्ठान मे यज्ञ और पशु-वलि होती है। इसके विपरीत, वौद्ध धर्म मे प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा के सिद्धान्त को प्रतिपादन किया जाता है। वस्तुत अहिंसा वौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्तो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है।

हिन्दू धर्म मे कोई व्यक्तिगत तत्त्व नही है परन्तु वौद्ध धर्म मे इसे प्रवृत्त कर दिया गया और बुद्धि को रक्षक मानकर बाद मे प्रतिमा के रूप मे उसकी पूजा तथा आराधना की गयी। बुद्धि ने देवता या ईश्वर का स्थान ले लिया।

हिन्दू धर्म सस्कृत के माध्यम द्वारा, जो उनके धार्मिक ग्रन्थो की भाषा थी, आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपदेश देता रहा। परन्तु वौद्ध धर्म जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा मे अपने आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करता रहा और उसी मे अपने धार्मिक ग्रन्थ की रचना का सकलन किया।

यद्यपि जिन व्यावहारिक नैतिक सिद्धान्तो का उपदेश वौद्ध धर्म ने दिया, ये हिन्दू जीवन के आदर्शो से भिन्न नही थे, तथा एक ब्राह्मण या हिन्दू इहलोक व परलोक के जीवन की समस्याओ पर विचार-विनिमय कर सकता था। इसके विपरीत, एक

बौद्ध-धर्मावलम्बी इस पृथ्वी पर इस जीवन की सचरित्रता, सदाचारिता एवं धर्म-परायणता पर ही जोर देता था।

सामाजिक व धार्मिक संस्थाएँ—दोनों धर्मों की सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं की दृष्टि से हिन्दू समाज चतुर्वर्ण-व्यवस्था पर, जिसमें ब्राह्मणों का प्रभुत्व है, सगठित है। जाति-प्रथा एव ब्राह्मणों की प्रधानता हिन्दू धर्म की दो विशिष्टताएँ है। बौद्ध धर्म में ऐसा कोई भेदभाव नही है। वहाँ सभी समान है। वह पुरोहित-वर्ग के अस्तित्व को नही मानता। बौद्ध समाज लोकतन्त्रात्मक है जिसमे एक निम्न श्रेणी के व्यक्ति को वे ही अधिकार व सुविधाएँ है जो कुलीन-वर्ग के व्यक्ति को, यदि उसका चरित्र ठीक है। बुद्धि की सबसे क्रान्तिकारी घोषणा यही थी कि उनके सन्देश सबके लिए हैं। नर और नारी, युवा एवं वृद्ध, रंक तथा राजा सभी समान रूप से उस पर आचरण कर सकते है।

हिन्दू धर्म में साधुगणों या साध्वियों का कोई नियमित सुव्यवस्थित संघ नही रहा है। बौद्ध धर्म ने ऐसे सघ की स्थापना की। बौद्ध धर्म के आविर्भाव तथा विकास मे इन विहारो एव सघों ने अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है। सघों में धर्म-प्रचार की तीव्र भावना से बौद्ध धर्म बहुत गतिशील रहा और यही कारण था कि मानव-जाति के चतुर्थांश लोग इसके अनुयायी हो गये। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म मे कभी भी उग्र धर्म-प्रसार की भावना न रही और उसने कभी भी विधर्मियो को परिवृत्त करने का प्रयास नहीं किया, अतएव यह सदैव गतिहीन ही रहा।

सामाजिक दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म मे अन्तर्ग्राह्यता या अनुकूलीकरणक्षमता (adaptability) न थी परन्तु बौद्ध धर्म बहुत परिवर्तनशील रहा और जिन देशो में इसका प्रचार हुआ वहाँ वह आवश्यकताओं के अनुकूल हो गया।

जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

समानताएँ—जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म मे अनेक पारस्परिक समानताएँ है। दोनो ही हिन्दू धर्म की भ्रष्टता के विरोध मे धार्मिक सुधार के आन्दोलन करते रहे। ये दोनो ही धार्मिक क्रान्ति के परिणाम थे, जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे हुई थी। ये हिन्दू धर्म की प्रशाखाएँ थी। शाश्वत सत्य की अपनी खोज मे इन्होने कोई नवीन धार्मिक मार्ग का प्रतिपादन नही किया, परन्तु हिन्दू धर्म के प्राचीनतम पथ का ही अनुकरण किया। साधारण जनता के सम्मुख जिस उद्देश्य (निर्वाण) को उन्होंने रखा था, वह वही था जिसके लिए हिन्दू धर्म सतत् प्रयत्नशील था। अतएव दोनों ने हिन्दू धर्म के दो प्रसिद्ध सिद्धान्त—कर्म एवं आत्मा का पुनर्जन्म—अंगीकार कर लिये। ये इन्हे मोक्ष-प्राप्ति के अर्थ मे अपरिहार्य मानते थे। दोनों ने व्यक्ति के पुनर्जन्म का कारण कर्म बताया। दोनो ही रूढिवादी सनातनी हिन्दू धर्म के इस विश्वास में भिन्न थे कि कर्म के नियमो की प्रक्रिया निर्दयता से अपने आप ही होती रहती है। जैन और बौद्ध धर्म दोनो ही का यह मत था कि कर्म का कानून मनुष्य या देवता सभी प्राणियो के ऊपर है और ईश्वर या देवगण भी कर्म के नियमो की प्रक्रिया मे परिवर्तन करने मे असमर्थ है। अतएव ब्राह्मणो की देवगणो को यज्ञो से प्रसन्न करने की विधियो एव वैदिक अनुष्ठान मोक्ष-प्राप्ति के लिए सर्वथा निरर्थक है। अपने स्वयं के सद्गुण-सम्पन्न कार्यो से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, ईश्वर या देवताओं का ध्यान करने के नहीं, क्योकि ये स्वयं भी कर्म के कानून के अन्तर्गत हैं। अतएव जैन

और बौद्ध दोनो धर्मों ने ब्राह्मणों की धार्मिक क्रिया-विधियो व समारोहो का विरोध किया, वेदो की प्रामाणिकता स्वीकृत नही की, रक्तिम यज्ञो से घृणा कर उनकी घोर निन्दा की एवं ईश्वर को विश्व का स्रष्टा नही अगीकार किया। ब्रह्मा के विषय मे वे उदासीन थे।

बौद्ध एवं जैन धर्म दोनो ने ही सच्चरित्रता, धर्मपरायणता तथा पवित्र जीवन का समर्थन किया और अशुभ विचारो एवं कार्यों का निषेध किया तथा कर्म व वचन से प्राणिमात्र को कष्ट न देने का आदेश दिया। दोनो ने ही अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया। इस विषय मे जैन बौद्धो से अधिक आगे बढ़े हुए है।

महावीर एव बुद्ध दोनो ने ही अपने धर्म का उपदेश साधारण जनता की बोलचाल की भाषा मे दिया, जाति-प्रथा का प्रतिरोध किया और नर-नारी की समानता का समर्थन किया। दोनो ही श्रद्धालु व अनुरागी धर्म-प्रचारको के सुव्यवस्थित सघ थे और दोनो ही सासारिक विषय- वासनाओ से मुक्त अपने-अपने धार्मिक सघ की सहायता व सहयोग पर अवलम्बित थे। हिन्दू धर्म मे इसका सर्वथा अभाव था।

जैन व बौद्ध दोनो धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रिय राजकुमार थे जिन्होने उपनिषदो के उपदेशो से प्रेरणा-ग्रहण की। अतएव उनकी सफलता अधिकाशत. क्षत्रिय नरेशो तथा राजकुमारो के आश्रय पर निर्भर थी।

विषमताएँ—समान काल मे उदित एव समान देश मे प्रचारित होने के कारण जैन तथा बौद्ध धर्मों की समानता स्वाभाविक थी परन्तु इनमे पारस्परिक गहरे मूल विरोध भी थे। जैन धर्म मे साधारण जनता को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था परन्तु बौद्ध धर्म ने सघ की शक्ति पर विश्वास किया। निर्वाण के सम्बन्ध मे उनके विचार मूलत असमान है। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण अस्तित्व से मुक्त है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार निर्वाण शरीर से छुटकारा है। बौद्धो के अनुसार निर्वाण वह अवस्था है जिसमे व्यक्ति का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है, लेकिन जैनियो के लिए निर्वाण एक अनन्त आनन्द की अवस्था है। जैन लोग कठोर तपस्या मे विश्वास करते है एवं शरीर को यातनाएँ देना निर्वाण-प्राप्ति के लिए अनिवार्य मानते है, परन्तु बौद्ध लोग इससे घृणा करते है और इसकी घोर निन्दा करते है। शरीर की यातना को जहाँ जैन इतना गौरव प्रदान करते है, वहाँ बौद्ध अत्यन्त विलासिता एव तप के बीच के मध्यम मार्ग को सराहते हैं। अहिंसा के सिद्धान्त मे दोनो ने विश्वास किया, परन्तु जैनियो ने अहिसा को उस पराकाष्ठा तक पहुचाया है जिसकी कल्पना भी बौद्ध लोग नही कर सकते थे। जैनियो का विश्वास है कि पेड़-पौधो तथा वनस्पति-वर्ग मे प्राण है। ये विश्व के कण-कण मे जीवन का साक्षात्कार करते है।

जैन धर्म ब्राह्मणो की अनेक धार्मिक विधियो तथा समारोहो का एव जाति-प्रथा का सुधरा हुआ रूप अपनाये हुए है, किन्तु बौद्धो ने इन्हे पूर्णतया अपने से अलग कर दिया है। बौद्ध धर्म भारत के बाहर अनेक देशो मे प्रसारित हुआ और यह आज भी विश्व मे चतुर्थांश मानवो का धर्म है। किन्तु जैन धर्म का प्रचार भारत से बाहर कभी नही हुआ और इसके अनुयायियो की संख्या बहुत ही सीमित रही।

बौद्ध धर्म की प्रशाखाएँ—बुद्ध के देहावसान के एक सदी पश्चात बौद्ध सघ दो प्रशाखाओ मे विभाजित हो गया—'महासाधिक' एव 'स्थविर वादिन'। बौद्ध धर्म को 'जातक' तथा 'अवदान' द्वारा अधिक लोकप्रिय बनाने का यह परिणाम था। वी प्रगतिशील प्रशाखा जो अनुशासन के नियमो की कठोरता को कम करना चाहतीथह

'महासाघिक' नाम से प्रख्यात हुई, किन्तु वह रूढिवादी प्रशाखा जो कठोर सघ-जीवन के मूल के विचार तथा दृढ अनुशासन के नियमो का प्रतिपादन करती थी, 'थेरा' या 'स्थविर वादिन' नाम से प्रसिद्ध हुई। महासाघिक ने, जो बौद्ध भिक्षुओ का प्रगतिशील भाग था, साधारण जनता मे बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के हेतु 'परिमित (दान, सहिष्णुता, उदारता के गुण) के सिद्धान्तो का उपदेश देना प्रारम्भ किया। पाली-पिटकों मे प्रतिपादित कठोर भिक्षु-जीवन के विरोध मे उन्होने एक नवीन आन्दोलन का श्रीगणेश किया। यह आन्दोलन बौद्ध धर्म को एकान्त विहारो मे से नगरो एव ग्रामों मे ले आया और इसे एकान्तवासियो के धर्म से जनता के धर्म में परिवर्तित कर दिया। अब साधारण व्यक्ति चैत्य या बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण और उसकी फूलों से पूजा कर तथा कुछ भेट आदि समर्पण कर धर्म का लाभ उठा सकता था। जब भिक्षुगण उग्र, शुष्क एवं कठोर विधियो का पालन अपने विहारो में करते थे, लोग बुद्ध की पूजा करते और विशाल स्मारक निर्माण कर, उनके ऊपर बुद्ध के जीवन के विविध दृश्यो को अकित कर ईश्वर के प्रति श्रद्धा व भक्ति की अभिव्य-जना करते थे (क्योकि अब बुद्ध उनके लिए एक महान सन्त नही, अपितु ईश्वर हो गये)। यह अलकृत तथा भाव-प्रधान बौद्ध धर्म लोकप्रिय हो गया। इसका आविर्भाव ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी मे हुआ और सम्राट अशोक के राज्यकाल मे यह फला-फूला। ईसा से पूर्व प्रथम सदी मे बौद्धो की चतुर्थ महासभा के पश्चात सम्राट कनिष्क के शासनकाल मे इस धर्म मे अधिक सैद्धान्तिक परिवर्तन कर दिये गये। इससे महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह कुछ अशो मे तो अश्वघोष जैसे विद्वान ब्राह्मणो के, जिन्होने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया था, हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध धर्म को परस्पर समन्वय करने के प्रयासो का फल था, और कुछ अशो मे उन अनेक नवीन प्रभावो—यूनानी, ईसाई, पारसी, मध्य एशिया—का फल था जो उत्तर-पश्चिमी भारत के जीवन मे घर कर रहे थे। जब विदेशी आक्रमणकारियो ने बौद्ध धर्म को अपना लिया तब उसकी मूल विशिष्टताएँ विलुप्त हो गयी। बुद्ध अतीत के धर्मोपदेशक नही रहे, पर वे राम और कृष्ण के समान मानव-जाति की मुक्ति के उद्धारक व ईश्वर हो गये। बौद्धो ने अवतार-सिद्धान्त को अपना लिया और ऐतिहासिक गौतम बुद्ध आदि-बुद्ध के विविध अवतारों के अन्तिम अवतार माने जाने लगे और उनकी प्रतिमा की पूजा होने लगी। इसके साथ ही साथ अनेक लक्षणो तथा विशिष्टताओ वाले कई देवी-देवताओं की भी उत्पत्ति हुई। यह बौद्ध धर्म का एक नवीन रूप, महायान था। आदि-बुद्ध के अवतार के रूप मे बुद्ध की पूजा करने के अतिरिक्त महायान मत ने यह भी घोषणा की कि निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात मनुष्य पुन इस पृथ्वी पर नही आता, अतएव वह किसी भी कार्य के लिए मानवता की सेवा के लिए भी सर्वथा असमर्थ है। किन्तु जिन्हे अभी तक निर्वाण प्राप्त नही हुआ है और जो उसकी अभिप्राप्ति के हेतु प्रयत्न-शील है, वास्तव मे वे पीड़ित ससार का बहुत कुछ कल्याण कर सकते है। बोधिसत्व ही ऐसा व्यक्ति है जो अनेक जीवनो से बुद्धत्व-पद प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है; इसलिए वही मानवता का वास्तविक उपकारकर्ता है। अत महायान ने बुद्ध की अपेक्षा बोधिसत्व के आदर्श को अधिक महत्त्व दिया है। महायानियो ने अवलोकितेश्वर, मजुश्री आदि बोधिसत्वो मे विश्वास किया एव उनकी मूर्ति-पूजा से मुक्ति मानी। यद्यपि बोधिसत्वो की कल्पना से बौद्ध लोग बहुत पहले से ही अवगत थे, तथापि महायान मत ने इसे अधिक महत्त्वशाली बताया और इसे एक सम्प्रदाय बना दिया। इस महा यान का महान समर्थक नागार्जुन था जो दूसरी या तीसरी सदी में था। अन्य समर्थकों

मे वसुबन्धु, आसंग, दिग्नाग और धर्मकीर्ति थे। कालान्तर मे महायान भी अनेक प्रशाखाओ, जैसे शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि मे विभक्त हो गया।

यह महायान प्राचीन वास्तविक बौद्ध धर्म से जिसे हीनयान कहते थे, अनेक वातो मे भिन्न था। बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ, जो महायान मत की विलक्षणता थी, हीनयान मत के सर्वथा प्रतिकूल थी। दूसरी विरोधी विलक्षणता यह थी कि हीनयानियो की यह धारणा थी कि व्यक्तिगत रूप से सच्चरित्र जीवन व्यतीत करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, पर महायानियो का विश्वास था कि निर्वाण की अभिप्राप्ति के हेतु बुद्ध के प्रति भक्ति एव श्रद्धा तथा उनका पूजन अनिवार्य है। अतएव उन्होने धार्मिक विधियो, समारोहो, आकर्षणो तथा सूत्रो से मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ व प्रसार किया। विश्वास और श्रद्धा ने विवेक का स्थान ले लिया और भक्ति भावपूर्ण पूजन ने स्वयं-प्रयास का स्थान ग्रहण कर लिया। इन दोनो सम्प्रदायो में दूसरा महत्त्वशाली अन्तर यह था कि हीनयान के समस्त धार्मिक ग्रन्थ पाली भापा मे लिखे गये परन्तु महायान ने सस्कृत का आश्रय लिया। इसके अतिरिक्त दोनों यानों में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रश्नो तथा बुद्ध के वास्तविक स्वरूप पर मौलिक मतभेद था।

बौद्ध धर्म का उत्थान

थोड़े ही समय मे वौद्ध धर्म समस्त भारत मे व्याप्त हो गया। अपने देहावसान के पूर्व ही बुद्ध को देखकर सन्तोष हुआ था कि मगध, कोशल, कौशाम्वी जैसे शक्तिशाली राज्यो के नरेश एवं जनता तथा वज्जी, मल्ल तथा शाक्य प्रजातन्त्रवादी राज्यो की साधारण जनता ने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया था और समस्त मध्य भारत (मज्झिम देश या Middle India) में वौद्ध विहारो का जाल-सा विस्तृत था। अशोक तथा कनिष्क के शासन मे वह राज्य-धर्म हो गया था। सातवी सदी के अन्त तक यह समृद्धिशाली रहा जैसा ह्वानच्याग तथा इत्सिग के वर्णनो से प्रमाणित होता है। नालन्दा के महान विहार वौद्ध धर्म के महत्त्वशाली केन्द्र थे। वारहवी तथा तेरहवी शताब्दियों में वगाल और विहार के पाल नरेशो के राज्याश्रम में यह धर्म वना रहा। इस पाल-युग मे अनेक भारतीय वौद्ध आचार्य तिब्बत गये जहाँ उन्होने वौद्ध धर्म को सुदृढ वनाया तथा सहस्रो वौद्ध ग्रन्थो का तिब्वती भापा में अनुवाद किया। पाल राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश मे कान्यकुब्ज (कन्नौज) के शासक वौद्ध धर्म के सरक्षक थे। उन्होने भव्य वौद्ध विहारो का निर्माण किया और उन्हे उदारता से दान दिया। नवी तथा दसवी सदी की अनेक वौद्ध गुफाएँ धर्मराजेश्वर, एलौरा, नासिक तथा दक्षिण के अन्य अनेक भागो मे दृष्टिगोचर हुई है। औरगावाद तथा अन्य स्थलो में अपूर्ण वौद्ध गुहा-मन्दिर पाये गये है। वारहवी सदी तक वौद्ध धर्म आन्तरिक रूप से दुर्वल और भ्रष्ट होने पर भी भारत मे प्रचलित था। इसके वाद यवनकाल मे भारत से यह विलुप्त हो गया परन्तु भारत के वाहर फलता-फूलता रहा।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे जव सम्राट अशोक इस धर्म के महान भक्त और उपासक हुए, तव वौद्ध धर्म भारत के वाहर व्याप्त होने लगा। वौद्ध धर्म के प्रचारकों ने लका और ब्रह्मा (वर्मा) को अपने धर्म मे परिवर्तित कर लिया। एशिया माइनर के मेसोपोटामिया तथा सीरिया देशो, अफ्रीका के मिस्र तया यूरोप से मकदूनिया के देशो मे भी पहुँच गये। उसी युग में वौद्ध धर्म मध्य एशिया में भी प्रसारित हो गया और एक अनुश्रुति के अनुसार अशोक का एक पुत्र कच्छ और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेशो

पर अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने तथा बौद्ध धर्म का प्रचार करने में सफल रहा। अन्य अनुश्रुति के अनुसार चीन देश मे बौद्ध धर्म बहुत ही पहले युग मे पहुँच गया था। चीनी भापा मे बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद सर्वप्रथम कश्यप मातंग ने किया जो चीन देश को सन् 56 मे गया था। बौद्ध धर्म में कोरिया ने सन् 373 में प्रवेश किया जहाँ से वह जापान सन् 538 में पहुचा। ईसा की तीसरी सदी के पूर्व ही इण्डोचीन मे बौद्ध धर्म व्याप्त हो चुका था और तिब्बत में सन् 640 मे। बौद्ध धर्म के भारत व अन्य देशो मे लोकप्रिय होकर प्रसारित होने के अधोलिखित कारण है :

1. **बौद्ध धर्म सरल जनवादी धर्म**—बौद्ध धर्म भारत का प्रथम सरल व लोकप्रिय धर्म था। यह वास्तव मे भारत मे ईसा पूर्व छठी सदी मे प्रचलित यज्ञो एवं कर्मकाण्डो की जटिल प्रथा के विरुद्ध क्रान्ति थी। तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो से लोग ऊब गये थे। ब्राह्मणो का अपने आदर्शो से पतन हो चुका था। समाज की नस-नस मे अन्धविश्वास घर कर चुका था एव तीव्र तपस्या, निष्ठुर शारीरिक यातनाएँ, घोर पश्चाताप, रक्तिम यज्ञों, बाह्य आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डो तथा मन्त्रोच्चारण ने जनता मे ब्राह्मण धर्म को अत्यन्त ही अप्रिय कर दिया था। बौद्ध धर्म ने अपने व्यावहारिक-नैतिक सिद्धान्तों सहित ऐसे अनाचार व अत्याचार से मुक्ति के लिए उद्धारक का कार्य किया। इस-धर्म की सरलता एव श्रेष्ठता से साधारण जनता आकर्षित हो गयी और सहस्रों की सख्या में लोग इस धर्म के उपासक हो गये। धर्म को खर्चीले तथा विस्तृत कर्मकाण्ड से मुक्त कर बुद्ध ने इसका द्वार जनसाधारण के लिए खोल दिया। बुद्ध ने जनसाधारण के लिये बिना किसी भेदभाव के अपने उपदेश दिये और समस्त वर्गो के लिये धर्म तथा मोक्ष के द्वार खोल दिये। इससे बौद्ध धर्म किसी वर्ग विशेप का नहीं अपितु अपनी सरलता ओर सुबोधता से पूरी मानवता का त्राण बन गया। वह प्रगतिशील और विशुद्ध मानवतावादी हो गया। उसकी सफलता उसके विवादहीन तथा सर्वोपकारी जन-कल्याणकारी रूप मे निहित थी।

2. **बौद्ध धर्म की सरलता और व्यावहारिकता**—बौद्ध धर्म मे धार्मिक अधविश्वास, कर्मकाण्ड की जटिलता, कठोर शारीरिक यातनाओ का विधान, रक्तिम यज्ञो का आडम्बर और दार्शनिक दुर्बोधता नहीं थी। यह धर्म ऐसे नैतिक आचरणो और सदाचार के नियमो पर आधारित था जो सर्वग्राह्य थे और दैनिक जीवन मे व्यावहारिक थे। अहिसा, सत्य भाषण, सत्कर्म, गुरुजनो का आदर, आज्ञापालन, परनिन्दा का त्याग, अन्त.शुद्धि आदि धर्म के ऐसे सरल, सुबोध और श्रेष्ठ नियम थे जिनका पालन करना कठिन नही था। बुद्ध ने व्यापारिक नैतिक आचरणो पर जोर देकर जनता का जीवन अधिक सुखी एव स्वस्थ बना दिया। उस समय प्रचलित वौद्धिक धर्म मे प्राकृतिक शक्तियो के प्रतीक देवी-देवता मुख्य रूप से उपास्य थे और उपनिपदो मे निर्गुण ब्रह्म गीत गाये थे। ये दोनो ही साधारण जनता के लिये दुर्बोध तथा दुरूह हो गये थे। इसके विपरीत बौद्ध धर्म के अत्यन्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक सिद्धान्तो ने तथा जीवन एव सृष्टि की समस्याओ के सम्बन्ध मे बुद्ध के विवेकशील मत ने जनता को आकर्पित कर लिया था। इन सबसे साधारण जनता बौद्ध धर्म की ओर अधिक आकर्षित हो गयी।

3. **स्वतंत्रता और समानता की भावना**—बौद्ध धर्म की भावना अति उदार एव अधिवासनशील (accommodating) थी। इसने जाति-प्रथा तथा पुरोहित-वर्ग

की प्रधानता में विश्वास नही किया। इसने सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखा। बौद्ध धर्म मे सभी मनुष्य समान थे और सभी व्यक्ति किसी भेदभाव के निर्वाण प्राप्ति के अधिकारी थे। प्रत्येक को अपने व्यक्तित्व के विकास की, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रगति की स्वतंत्रता थी। बुद्ध के मतानुसार जाति सर्वोच्च-सत्य-प्राप्ति के लिए अवरोधक नही थीं। उनके धर्म का दरवाजा सभी के लिए—ऊँच और नीच, शिक्षित और अशिक्षित, ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष—खुला था। उसमे किसी प्रकार का वर्ग-भेद, ऊँच-नीच या जाति-पाँति का भेद नही था। जाति के भेद-भावो का वहिष्कार कर प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों की स्थापना कर बुद्ध ने समाज के उन श्रेणी के लोगो का स्तर उच्च कर दिया था। जिन्होने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया था। इससे सामाजिक व आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। दलित-वर्ग को बौद्ध धर्म एक सामाजिक मुक्ति का दरवाजा-सा दिखाई दिया।

4. **मध्यममार्गी धर्म**—बौद्ध धर्म मे न तो अधिक भोग विलास और आसक्ति से रहने का आदेश था और न अधिक कठोर शारीरिक यातनाएँ और तप, उपवास, व्रत आदि से शुष्क निर्मम जीवन व्यतीत करने का उपदेश ही था। इस धर्म मे बीच का मार्ग, मध्यम मार्ग था। साधारण लोगों के लिये ऐसा धर्म सुगम, सादा और अनुकरणीय था।

5. **बौद्ध धर्म की उदारता और सहिष्णुता**—बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में अधिक उदारता, आकर्षण और सहिष्णुता थी। उसमे वलपूर्वक धर्म प्रचार करने की कटु उग्र मनोवृत्ति और सकीर्ण धर्मान्धता नही थी।

6. **बौद्ध धर्म की अनुकूलता और परिवर्तन की शक्ति**—बौद्ध धर्म महान परिवर्तनशील रहा है। वह सभी देशो की आवश्यकताओ के अनुकूल हो जाता था। थोडे-से परिवर्तन व सुधार से वह धर्म प्रत्येक स्थान के हेतु उपयुक्त हो जाता था। बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानकर उसकी पूजा करने वाले, वोधिसत्वो मे विश्वास रखने वाले, जादू-टोने, मंत्र-तन्त्र, और मूर्ति पूजा को मानने वाले तथा माँसाहारी व्यक्ति भी बौद्ध धर्म को अपना सकते थे। इसलिए यह भारत मे ही नही, अपितु भारत की सीमा के परे अधिक प्रसारित हो सका था।

7. **लोकप्रिय भाषा का प्रयोग**—हिन्दू धर्म सस्कृत भाषा मे गोपनीय हो गया था। जनता के लिए यह भाषा दुर्बोध हो गयी थी। इसके विपरीत, बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो का उपदेश जनता की बोलचाल की भाषा मे दिया। लोकप्रिय भाषा मे दिये गये बुद्ध के व्यावहारिक तथा क्रियात्मक उपदेश साधारण अशिक्षित नर-नारी भी सरलता से समझ सके। महान आध्यात्मिक सत्य उनकी ही भाषा में उनकी ग्राह्य-शक्ति के अन्तर्गत आ सके। इससे जनता अधिक आकर्षित हुई।

8 **अनुकूल परिस्थितियाँ**—जिस समय बौद्ध धर्म का प्रचार हो रहा था, उस समय तत्कालीन परिस्थितियाँ बौद्ध धर्म के अनुकूल थी। उस युग मे ब्राह्मणो की सर्वोपरिता, पुरोहित वर्ग की एकाधिकारिता, चातुर्वण्य व्यवस्था की जटिलता, व्यय-साध्य दुरूह यज्ञ, पशु बलि, समाज मे ऊँच-नीच के भेद-भाव, धार्मिक आडम्बर, आदि से लोग ऊब गये थे। उस समय ब्राह्मण धर्म मे ऐसी गूढता, दुरूहता और अपरिवर्तनशीलता आ गयी थी कि साधारण मनुष्य भी धार्मिक परिवर्तन का इच्छुक हो गया था। वह सरल, सुबोध और सादे धर्म की आकाक्षा करता था। बौद्ध धर्म ने यह आकाक्षा पूर्ण की।

9. **बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व एवं पवित्र चरित्र**—बुध का आकर्षक व्यक्तित्व उन सभी व्यक्तियो के लिए जो उनके सम्पर्क मे आये पारस पत्थर के समान था। उनका चरित्र इतना सरल एवं पवित्र था कि जो कोई भी उनके सम्पर्क मे आया, उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहा। बुद्ध का व्यक्तित्व चितक, सुधारक, उपदेशक, जनसेवक और आदर्शवादी नीति प्रचारक के विभिन्न गुणो का सम्मिश्रण था। उसी विशालता मे बुद्ध की सफलता अन्तर्निहित थी। विद्वान ब्राह्मणो की युक्तियो का जिस अकाट्य तर्क से खण्डन करते थे और उनके उपदेशो की गहरी मानवता की जो प्रेरणा थी, उससे पुरोहित प्रजा तथा राजा सभी सन्तुष्ट हो गये थे। उनके कठोर, सच्चरित्र एव पवित्र जीवन, उनके आकट्य तर्क, सशक्त युक्तियाँ और सबल दलीलें, पूर्ण विवेक, मधुर, धारावाही तथा हृदयग्राही उपदेश से बुद्ध अपने ब्राह्मण-विरोधियो पर खुले शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त कर सके। परिणामस्वरूप, उनके महाकश्यप, सारिपुत्त, मोग्गल्लायन जैसे अनेक शिष्य ब्राह्मण थे जिन्होने यज्ञो की निरर्थकता को समझ लिया था और बुद्ध के कर्म-नियमो की व्याख्या मान ली थी। वास्तव मे अपने आदर्श सिद्धान्तो को अपने जीवन में पूर्णरूपेण चरितार्थ करके बुद्ध ने अपने उपदेशों की श्रेष्ठता की धाक जनता पर जमा दी थी।

10. **बुद्ध के उपदेश धर्म और प्रचार की रोचक शैली**—बुद्ध के उपदेश देने और अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने की शैली बड़ी रोचक और प्रभावोत्पादक थी। उन्होने धर्म प्रचार और उपदेश के समय न तो दार्शनिक बातो का उपयोग किया और न श्रोताओ को गहन विवादग्रस्त विषयो में डाला। उनके सिद्धान्त और उपदेश दैनिक जीवन से सम्बन्धित होते थे। वे अपने सिद्धान्तो का निरूपण प्रश्नोत्तर के रूप मे करते थे और प्रवचन को उदाहरणो, उपमाओ, रूपको, कथा कहानियो, लोकोक्तियों और मुहावरो से सुबोध, आकर्षक और रोचक बना देते थे। इससे जनता कठिन आध्यात्मिक विषयो को भी सरलता से समझ सकती थी, उपदेश के समय बुद्ध अपने अकाट्य तर्क, न्यायसगत बाते, बलशाली उक्तियाँ, सरल सशक्त दलीले क्रमबद्ध धाराप्रवाह प्रवचन, मधुर वाणी और बुद्धि विवेक से बडे-बडे शास्त्रियो, विरोधी पडितो और विद्वानो को शास्त्रार्थ मे नतमस्तक कर सके।

11 **राजकीय संरक्षण एवं आश्रय**—यदि राजकीय आश्रम का सहारा बौद्ध धर्म को न प्राप्त होता तो बौद्ध धर्म उपरोक्त विशिष्टताओ के होने पर भी हिन्दू धर्म की एक छोटी-सी प्रशाखा या सम्प्रदाय ही बना रहता। स्वय कुलीन क्षत्रिय वर्ग के होने से बुद्ध के उपदेशो को नरेशो, राजकुमारो और अनेक कुलीन वशो के लोगो एवं क्षत्रियो ने श्रवण किया तथा उन्हे अगीकार भी कर लिया। इसके बाद बौद्ध धर्म का विश्वव्यापी प्रचार अशोक और कनिष्क के राज्याश्रय से हुआ। अशोक, जिसने बौद्ध धर्म को राज्य-धर्म के स्तर पर लाने के लिए कोई कसर उठा न रखी, इसे बहुत दूर-दूर तक प्रसारित किया। उसका पुत्र महेन्द्र तथा कन्या सघमित्रा बौद्ध धर्म-प्रचारक हो गये थे और लका मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने मे वे अत्यधिक सफल हुए। अशोक ने अपने धर्म के सिद्धान्त स्तम्भो तथा चट्टानो पर उत्कीर्ण करा दिये। परिणामस्वरूप जहाँ मानव-वाणी पहुँचने मे असमर्थ थी वहाँ ये पाषाण जनता तक पहुँचकर उन्हें ज्ञान-आलोक देते थे। इस प्रकार अशोक के सतत् प्रयासो ने भारत मे बौद्ध धर्म को प्रधान धर्म बना दिया। यह राजकीय आश्रय एव सरक्षण अन्य प्राचीन सम्राटो, जैसे

मिलिन्द (मिनेण्डर), कनिष्क और हर्ष ने बनाये रखा। इनके युग में बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य को बहुत प्रोत्साहन व बल प्राप्त हुआ।

12. **बौद्ध संघ**—शायद बौद्ध धर्म की लोकप्रियता और विकास का प्रमुख कारण बौद्ध सघ के प्रचार-कार्य थे। बौद्ध धर्म-प्रचारक ज्ञान आलोक के केन्द्र थे। वे नि.स्वार्थी, त्यागी, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले सच्चरित्र व्यक्ति थे। बौद्ध भिक्षुओ का जीवन इतना पवित्र और सरल था, उनमे सेवा की भावना इतनी कूट-कूट कर भरी थी, उनमे आध्यात्मिक ज्ञान और नैतिकता का इतना बाहुल्य था कि साधारण जनता पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। बुद्ध ने उन्हे आदेश दिया था, "सदैव भ्रमण करते रहो।" उन्होंने कहा था, "ऐ भिक्षुओं, अनेक के लाभ के लिए, अनेक के सुख के लिए, विश्व के प्रति दयालुता के लिए, शुभ काम के लिए, हित के लिए एव मनुष्य और देवताओ के कल्याण के लिए जाओ और भ्रमण करो।" इस प्रकार बौद्ध धर्म-प्रचारक मुक्ति का सन्देश घर-घर ले जाने के लिए, रक और राजा, ऊँचे और नीचे, सभी को समान रूप से देने के लिए प्रोत्साहित किये गये। इतिहास मे बहुत कम धर्माचार्य ऐसे हुए है जिनके शिष्यो ने इतनी तत्परता और लगन के साथ, इतने त्याग और परिश्रम के साथ, इतनी नैतिकता और पवित्रता के साथ अपने गुरु के उपदेशो को देश-देशान्तर मे प्रसारित करने का प्रयास किया हो, जितना बुद्ध के शिष्यो ने। यही नही, जब भिक्षुगण वर्षा ऋतु मे विहार मे रहते थे, तब भी वे अपना समय नष्ट नही करते थे। वे विहार मे एकत्रित होने वाली उत्सुक जनता को आध्यात्मिक तथा नैतिक उपदेश देकर समय का सदुपयोग करते थे। इस प्रकार बौद्ध विहार वह केन्द्र था जहाँ ग्राम व नगर की जनता को नि शुल्क नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी, जिससे मानव-आत्मा सुखी होती और उसका कल्याण होता था। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षु जिन साधारण नैतिक बातो का उपदेश देते थे, वे साधारण मनुष्य के लिए बोधगम्य थी, परन्तु ब्राह्मण, संन्यासी और आचार्य गूढ एव जटिल दार्शनिक समस्याओं को समझाने के प्रयास करते और सस्कृत मे रचित अपने धार्मिक ग्रन्थो मे से प्रमाण देते थे। यह सब औसत मनुष्य के लिए दुर्बोध था। इस प्रकार बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियो ने अपने जीवन और उच्च आदर्शो के साथ, अपने अदम्य उत्साह और नि स्वार्थ सेवा की भावनाओ से जनता के हृदयो को उनकी गहराई तक उत्तेजित कर दिया और बौद्ध धर्म का प्रचार-कार्य बड़ी दक्षता तथा सफलतापूर्वक किया।

13. **उग्र प्रतिस्पर्द्धा वाले सम्प्रदाय का अभाव**—धर्म-प्रचार के कार्य मे बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा मे कोई अन्य सम्प्रदाय नही था। हिन्दू धर्म मे तो धर्म-प्रचारक की भावना का सर्वथा अभाव था। ईसाई मत और इस्लाम धर्म का तो अभी आविर्भाव नही हुआ था।

14. **महायान सम्प्रदाय का योगदान**—बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के विद्वानो ने बौद्ध धर्म पर विशिष्ट मौलिक ग्रन्थ लिखकर बुद्धिवादियो को बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित किया। महायान सम्प्रदाय ने बुद्ध और बोधिसत्वो की पूजा, आराधना और भक्ति से जन-साधारण को बौद्ध धर्म की ओर अधिकाधिक आकृष्ट किया। इसी सम्प्रदाय के अनुयायियो ने बुद्ध, बोधिसत्वो तथा अन्य देवी-देवताओ की मूर्तियाँ पूजन-अर्चन के लिए अनेक स्थानो पर प्रतिष्ठित की। ये बौद्ध धर्म-प्रचार का एक बड़ा साधन प्रमाणित हुई। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय ने बौद्ध धर्म को भारत तथा भारत के बाहर प्रसारित करने मे विशेष योगदान दिया।

15. **बौद्ध विश्वविद्यालय**—तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशील, औदन्तपुरी आदि के बौद्ध विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के लिए भारतीयों और विदेशियों को सदियों तक आकर्षित करते रहे। इन विश्वविद्यालयों की शैक्षणिक श्रेष्ठता उनमें बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों के अध्यापन, विचारों की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सहनशीलता, वहाँ कार्यरत बौद्ध अध्यापकों, आचार्यों और विद्वानों के अतुलनीय पांडित्य ने बौद्ध धर्म के प्रसार में प्रशंसनीय योगदान दिया।

इस प्रकार बौद्ध धर्म अपनी इच्छानुसार प्रत्येक दिशा में स्वच्छन्दता से प्रसारित हो सका।

बौद्ध धर्म की अवनति

यद्यपि बौद्ध धर्म जनता में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था, परन्तु यह हिन्दू धर्म को समूल नष्ट करने में सर्वथा असमर्थ रहा। जब बौद्ध धर्म अपनी उन्नति की चरमसीमा पर था, तब भी उसकी प्रतिस्पर्द्धा वाले हिन्दू धर्म ने अपना अस्तित्व बनाये रखा। इसके बाद, जब बौद्ध धर्म अपने चरित्र में भ्रष्ट हो गया, तब हिन्दू नरेशों के संरक्षण में हिन्दू धर्म का पुनः उदय और विकास हुआ और बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया। जब तक हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान न हो गया यह प्रक्रिया सदियों तक चलती रही। अन्त में बौद्ध धर्म की प्राचीन शक्ति और सम्मान अपनी जन्मभूमि से ही पूर्णरूपेण विलुप्त हो गया। अधोलिखित कारणों से इसका ह्रास हुआ :

1. **बौद्ध धर्म का मूल दोष**—बौद्ध धर्म का प्रारम्भ एक सरल और सादे धर्म के रूप में हुआ था। परन्तु कालान्तर में यह अति संयमी हो गया। समय आने पर इसका कठोर अनुशासन इसके अनुयायियों के लिए कष्टमय हो गया और वे इससे छुटकारा पाने के लिए लालायित हो गये। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ईश्वर के प्रति उदासीन रहा, जबकि उसके प्रतिद्वन्द्वी हिन्दू धर्म ने अलौकिक व्यक्तियों की समस्त रहस्यमयी बातों के साथ ईश्वर को प्रधानता दी। बौद्ध धर्म के अनात्मवाद और अनीश्वरवाद या उसकी नास्तिकता की प्रवृत्ति से लोगों ने उससे मुँह मोड़ लिया।

2. **बौद्ध धर्म में नैतिक पतन**—कालान्तर में बौद्ध धर्म में ब्राह्मण धर्म के वे ही अंग प्रविष्ट हो गये जिनके विरुद्ध बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने अपनी आवाज बुलन्द की थी। महायान के प्रादुर्भाव ने बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा तथा उपासना प्रारम्भ करदी और अनेक देवताओं का सृजन किया, जैसे अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि। प्रत्येक स्थल पर बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा होने लगी और इनके लिए लोगों ने महान भव्य मन्दिरों का निर्माण किया।

बौद्ध विहारों में जिन अनेक अयोग्य व्यक्तियों ने प्रवेश किया था, उन्होंने अनुशासन के अनेक नियमों की अवहेलना की एवं दूषित विलासप्रिय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। अत: उन्होंने कुछ ऐसी क्रिया-विधियों को चलाना चाहा जो बौद्ध धर्म की नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध थी और उन्होंने स्वयं अपने सिद्धान्तों पर अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। बौद्ध धर्म का यह रूप तान्त्रिक या वज्रयान बौद्ध धर्म कहलाता है। इस रूप ने अनेक गूढ रहस्यमय क्रिया-विधियों का, जिनमें स्त्री और मद्य अत्यन्त ही अनिवार्य थे, प्रतिपादन किया। वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी शक्तियों को प्राप्त कर लेने का दावा किया। ये शक्तियाँ अध्यात्मवाद मानी जाने लगी। गूढ रहस्यमय क्रिया-विधियों के प्रचलन, ईश्वर का आत्मा सम्बन्धी शक्तियों का प्रदर्शन, जादू-टोने, मन्त्र-तन्त्र और मन्दिरों

तथा विहारो मे सैकड़ो देवी-देवताओं के पूजन ने शाक्य मुनि के बौद्धधर्म को बारहवीं सदी के अन्त मे इस प्रकार पूर्णरूपेण परिवर्तित कर दिया था कि प्राचीन बौद्ध धर्म का कोई चिह्न भी अवशिष्ट न रहा था और रहस्यवाद तथा तन्त्रवाद ने इसका स्थान ले लिया था।

इस मत का प्रतिपादन किया जाने लगा था कि बुद्ध की मूर्ति पूजा अर्चना और भक्ति मन्त्र से ही निर्वाण सुलभ है। वज्रयान सम्प्रदाय के अन्तर्गत बौद्ध धर्म में हठयोग, तन्त्र-मन्त्र, सुरा-सुन्दरी, और भोग विलास का प्रवेश हुआ। ऐसे अनेक सिद्धान्तों और गूढ रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रारम्भ हुआ जो बौद्ध धर्म की नैतिकता से सदा विपरीत थे। अव बौद्ध भिक्षु और विद्वान, सरल, पवित्र, सन्यासी नही रहे, अपितु जादू, टोने, तन्त्र-मन्त्र के निपुण पण्डित हो गये और अनेक अनैतिक कार्य करने लगे। वे तन्त्र-मन्त्र से ब्रह्मा और आत्मा सम्बन्धी शक्तियो और आध्यात्मिक सत्ता प्राप्त करने का दावा करने लगे। फलतः बौद्ध धर्म की समस्त पवित्रता और नैतिक शक्तियाँ नष्ट हो गयी और बौद्ध विहार तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने के गढ वन गये। बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय निरर्थक विधियो, जटिलताओ और भारी आडम्वरो से पूर्ण हो गये। इससे बौद्ध धर्म के प्रति जनसाधारण की भक्ति और श्रद्धा का लोप होने लगा और उसके अनुयायियो की संख्या द्रुतगति से कम हो गयी।

3. **बौद्ध संघों का अधःपतन**—कालान्तर में संघ मे अनेक दुर्गुण घर कर गये। तान्त्रिक बौद्ध ने सघो के नैतिक उत्साह और स्फूर्ति को नष्ट करने मे योग दिया। इसके अतिरिक्त बौद्ध विहारो को धनवान और गरीबो ने सोना-चाँदी और रत्नों के जो उपहार दिये थे उनसे सघो के कोपो में नृपतियो के कोपो की अपेक्षा अधिक धन-द्रव्य संगृहीत हो गया था। इमसे विहारो मे भोग-विलास तथा-वैभव के जीवन का सूत्रपात हुआ जिसके परिणामस्वरूप अध्यात्मवाद विपाक्त हो गया। वुद्ध के दस आदेशो की प्राय. अवहेलना की जाने लगी और त्याग तथा सेवा का जीवन लुप्त हो गया। जैसे ही संघों और विहारो मे भ्रष्टाचार की वृद्धि हुई, बौद्ध भिक्षुओ की, जो समस्त बौद्ध समाज के नेता थे, सच्चरित्रता तथा अन्य प्रशमनीय गुणो का यश-गौरव नष्ट हो गया। उनकी प्रतिष्ठा और सत्ता की नीव डगमगा उठी और परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म के प्रचार का सबसे अधिक प्रभावशाली यन्त्र—संघ—नष्ट हो गया।

4. **राज्याश्रय का अभाव**— अपने राजवशीय उपासको के अलौकिक प्रयासों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म विश्व-धर्म के पद पर पहुँच गया था। अशोक, कनिष्क, और हर्ष जैसे सम्राटो ने बौद्ध धर्म के हेतु अपने राज्य की शक्तियो का प्रयोग किया। उनके देहावसान के पश्चात् बौद्ध धर्म से राज्य सरक्षण जाता रहा। फलत उसका पतन शीघ्र हो गया।

5. **हिन्दू धर्म की समवन्य और एकीकरण की शक्ति**—हिन्दू धर्म मे अन्य धर्मो की एकीकरण कर लेने की विलक्षण शक्ति है। विदेशी धार्मिक विश्वासों, सिद्धान्तो और सस्कृतियो को अपना लेने की यथेष्ट योग्यता हिन्दू धर्म में है। हिन्दू धर्म की इस समन्वयात्मक शक्ति के कारण ही हूणो के समान विदेशी लोग भी हिन्दू समाज व धर्म मे अपना लिये गये। ब्राह्मण धर्म मे बौद्ध धर्म के श्रेष्ठ सिद्धान्तो का एकीकरण कर लिया गया और बुद्ध को ईश्वर का अवतार मान लिया गया। परिणामस्वरूप, हिन्दू धर्म के अनुयायियों की संख्या वढ़ती गयी। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म

के उपासकों की संख्या, उनके कठोर संयम तथा एकात्मवादिता के कारण कम होती गयी।

6. **ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान**—राजनीतिक क्षेत्र में गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष के साथ-साथ ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन, जिसका सूत्रपात पहले ही हो चुका था, अत्यधिक गतिशील हो गया। गुप्त सम्राट उत्साही हिन्दू थे और उदारता से उन्होंने ब्राह्मणों का, उनके धर्म तथा उनकी भाषा—संस्कृत—का संरक्षण किया था। उनकी सक्रिय सहायता से ब्राह्मण धर्म ने पुनः अपना उत्साह प्राप्त कर लिया और बौद्ध धर्म का घोर विरोध किया। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के समय ब्राह्मण विचारकों ने हिन्दू धर्म की सर्वश्रेष्ठता का प्रदर्शन किया। उन्होंने ब्राह्मण धर्म के दोषों को दूर करके उसे अधिक आकृष्ट और श्रेष्ठ धर्म बना दिया। इसी बीच भक्ति-मार्गी सन्तों ने भी भक्ति के सरल माध्यम द्वारा ब्राह्मण धर्म को लोकप्रिय बना दिया। परिणामस्वरूप, हिन्दू धर्म अपनी लोकप्रियता को पुनः प्राप्त करने लगा और बौद्ध धर्म क्षीण होने लगा।

7. **प्रभावशाली बौद्धधर्माचार्यों और दार्शनिकों का अभाव**—पांचवीं शताब्दी के पश्चात बौद्ध धर्म में प्रकाण्ड विद्वान, प्रख्यात धर्मपरायण भिक्षु और दार्शनिकों का अभाव आ गया था। ऐसे सुयोग्य कर्मठ अनुभवी बौद्ध संगठनकर्ता भी नहीं थे जो कि बौद्धों का संगठन करके उनकी शक्ति और महत्त्व में वृद्धि करते। इसके विपरीत इस युग में ब्राह्मण धर्म के शंकराचार्य, कुमारिलभट्ट, रामानुज आदि के समान बौद्ध धर्म में प्रसिद्ध प्रभावशाली विचारक दार्शनिक धर्म प्रचारक और धर्माचार्य नहीं थे जो जन साधारण को प्रभावित कर सकें और बौद्ध धर्म के प्रसार में अपूर्व योगदान दे सकें। इसके अतिरिक्त इस युग में बौद्ध धर्म की ऐसी कोई धार्मिक संगीत, सभाएँ या अधिवेशन भी नहीं हुए जो बौद्ध धर्म में व्याप्त दोषों को दूर करते, संघ में फैले भ्रष्टाचार का निवारण करते और बौद्ध धर्म की पुरातन शुचिता, सरलता और ग्राह्यता को फिर से स्थापित करते।

8. **राजपूतों का अभ्युदय**—राजपूत स्वाभिमानी, स्वतन्त्रता प्रिय, युद्धप्रिय और वीर तथा साहसी थे। निरन्तर युद्ध करते रहने की इनकी नीति, आखेट में अभिरुचि तथा हिंसा वृत्ति, बौद्धों की अहिंसा और अन्य सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल थी। बौद्ध धर्म और उसके सिद्धान्त राजपूतों की नीतियों, मनोवृत्तियों और कार्यों के घोर विरोधी थे। इसलिये बौद्ध धर्म राजपूतों का समर्थन और संरक्षण प्राप्त नहीं कर सका। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म राजपूतों के राजकीय संरक्षण से फलने-फूलने लगा। इस प्रकार राजपूतों के अभ्युदय ने बौद्ध धर्म को पतन की ओर ढकेल दिया।

9. **विदेशियों के आक्रमण**—पांचवीं और छठी सदी में भारत में हूणों के निरन्तर आक्रमण हुए। जिन प्रदेशों में इनके आक्रमण हुए वहाँ उन्होंने बौद्ध विहारों और मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इससे बौद्ध धर्म को गहरा आघात लगा। ग्यारहवीं सदी में तुर्कों ने और बाद में पठानों (अफगानों) ने भारत पर निरन्तर आक्रमण करके बौद्ध विहारों, मन्दिरों, चैत्यों, स्तूपों और बौद्ध, विश्वविद्यालयों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और अनेक भिक्षु-भिक्षुणियों को मौत को घाट उतार दिया। नालन्दा, विक्रमशिला, और उदन्तपुरी के प्रसिद्ध बौद्ध विहार लूट लिये गये और जलाकर भस्मीभूत कर दिये गये। ये बौद्ध धर्म के मस्तिष्क थे, उसके स्रोत और केन्द्र थे। इनके संहार के पश्चात अवशिष्ट बौद्ध भिक्षु तिब्बत और नेपाल की ओर अपने प्राण रक्षार्थ चले गये

और उनके भक्तों ने ब्राह्मण धर्म अपना लिया। इससे तेरहवी सदी तक बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि भारत से पूर्णतया लुप्त हो गया।

राज्याश्रय के अभाव, हिन्दू धर्म की समवन्य-शक्ति और गुप्त सम्राटो के संरक्षण में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान ने इस देश मे बौद्ध धर्म को विलुप्त करने मे पूर्ण योग दिया था। परन्तु वास्तविक कारण तो बौद्ध धर्म और बौद्ध सघ का वह नैतिक अध पतन और भ्रष्टता थी जो उनके अस्तित्व के अन्तिम दिनो मे उनमें आ गयी थी। वह उसी काल में हुआ जब मुसलमानो से आक्रमण, सपीडन और सहार का दौर प्रारम्भ हो गया था। परन्तु यह कहना कि मुसलमानो के सपीड़न और सहार से बौद्ध धर्म विलुप्त हो गया, असत्य है। बौद्ध धर्म का पतन इतना गहन था और उसके सघ इतने विलासप्रिय और लज्जाविहीन हो गये थे कि बौद्ध धर्म अवसन्न हो गया था। परन्तु इसी युग मे ब्राह्मण धर्म मुस्लिम संपीडन मे रहने पर भी जीवित रहा और बाद मे समृद्धवादी हुआ। यवनो की यातनाओ और सपीड़न के कारण अनेक बौद्ध विहार और भिक्षुओ का विनाश हो गया और अनेक भारत से नेपाल तथा तिब्बत जैसे सुरक्षित स्थानो को भाग जाने के लिए बाध्य किये गये। बौद्ध धर्म के अनुयायी इस प्रकार त्याग दिये गये और वे बिना पथ-पदर्शक के रह गये। कालान्तर मे इनमे से, जिन लोगो के सम्बन्धी तथा जाति वाले ब्राह्मण धर्म मे थे, उन्होने ब्राह्मण धर्म अगीकार कर लिया तथा अन्य जो निम्न श्रेणी के थे, अथवा सवर्ण उच्च जातियो के सामाजिक और आर्थिक अत्याचारो से पीडित थे, उन्होने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार चौदहवी सदी मे बौद्ध धर्म उत्तर भारत मे विलुप्त हो गया। यद्यपि यह अन्य स्थानों मे कतिपय वर्षो के लिए बना रहा, परन्तु यह बिना मेरुदण्ड वाले शरीर के समान होने के कारण पुन खडा न हो सका और फलत बौद्ध धर्म का लोप अपनी जन्मभूमि से पूर्णरूपेण हो गया।

भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान—थोडे वर्ष पूर्व से बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के हेतु भारत की महाबोधि-सस्था, जिसकी स्थापना स्वर्गीय देवमित्र धर्मपाल ने की थी, सफल प्रयास कर रही है। सारनाथ का मूलगन्धकुटी विहार का भव्य भवन निर्माण कर पुन यथापूर्व स्थापित कर दिया गया है। उसके समीप ही बौद्ध भिक्षुओ तथा यात्रियो के लिए धर्मशाला, औषधालय, पाठशाला एव पुस्तकालय-भवन भी निर्मित कर दिये गये हैं। सारनाथ मे बुद्ध ने सर्वप्रथम अपना धर्मोपदेश दिया था और इस घटना को चिरस्मरणीय करने के हेतु सम्राट अशोक ने वहाँ एक विहार का निर्माण कराया तथा एक स्तम्भ खडा कराया था। आज पुन कई सदियो के बाद भारत बौद्ध सस्था का केन्द्रस्थल बनकर जीवन की चहल-पहल से गुंजित हो रहा है। कुशीनारा, श्रावस्ती और कलकत्ता मे नवीन विहार निर्मित हुए हैं। बौद्धगया मे महाबोधि मन्दिर के समीप एक बौद्ध धर्मशाला का भी निर्माण हुआ है। भारत मे विविध स्थानो पर महाबोधि-सभा की अनेक प्रशाखाएँ खोल दी गयी हैं जो धर्म के पुनरुत्थान के हेतु अनवरत प्रयास कर रही है।

भारतीय संस्कृत को बौद्ध धर्म की देन

भारतीय जीवन के विविध अगो को ढालने मे बौद्ध धर्म की प्रगति का बहुत बडा हाथ रहा। सास्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी अगो पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पडा।

1. **सरल, सुबोध, लोकप्रिय धर्म**—बौद्ध धर्म ने जटिल तथा दुर्बोध कर्म-

काण्डरहित सरल, सुबोध, सीधा-साधा विशुद्ध आचारवादी लोकप्रिय धर्म दिया। इसके पूर्व वैदिक धर्म, जिसमें प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक-देवताओं की उपासना प्रधान थी और जिसमें जटिल, दुर्बोध, कर्मकाण्ड का बाहुल्य था और जिसके उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के गीत गाये गये थे, जन साधारण के लिए दुरूह था। परन्तु बौद्ध धर्म अति सरल, सुबोध तथा नैतिक आचरण पर बल देने वाला था एवं इसका द्वार सबके लिए खुला था। इस धर्म की सादगी, भाव-प्रधानता, सरल नैतिक नियम, जनप्रिय भाषा का प्रयोग, उपमा और दृष्टान्तों से धर्मोपदेश का सर्वसमान ढंग तथा सामूहिक प्रार्थना और पूजन ने जनता के हृदयों पर गहरी छाप जमा दी। इसने सर्वप्रथम व्यक्तित्व को धर्म मे प्रधानता दी और धर्म में मानव-उद्धारक के रूप में व्यक्तिगत तत्त्व प्रस्तुत किया। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने धार्मिक दुरूहता दूर कर दी।

2. **उच्च नैतिक आदर्श**—बौद्ध धर्म ने सदाचार, पवित्र जीवन, नैतिकता, मन-वचन-कर्म की शुद्धि, जन-सेवा और स्वार्थ-त्याग के उच्च आदर्शों पर अधिक जोर दिया। इस धर्म ने सत्य भाषण, आत्म संयम, अहिंसा, गुरुजनों का सम्मान और उनकी आज्ञा पालन, प्राणिमात्र के प्रति दया, दान-दक्षिणा, निंदा का त्याग, जीविकोपार्जन के नैतिक साधन, विशुद्ध विवेकपूर्ण प्रयास, सत्कर्म, इन्द्रिय दमन आदि गुणों को अपनाने पर बल दिया गया। यद्यपि इससे पूर्व भी उपनिषदों तथा महाभारत में इन गुणों पर बल दिया था परन्तु उससे साधारण जनता के सदाचार और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया था। बौद्ध धर्म के महायान-मतावलम्बियो ने बोधिसत्व के रूप में जन-सेवा का श्रेष्ठ आदर्श लोगो के सम्मुख रखा। बोधिसत्व बुद्धत्व की ओर बढने वाले वे महान व्यक्ति थे जो अपनी मुक्ति की चिन्ता नही करते थे, अपितु वे अपना ध्यान और समय दूसरो के दुःखो के निवारण हेतु लगाते थे। बोधिसत्व के इस आदर्श ने एक ओर बौद्ध धर्म के प्रचार मे महत्त्वपूर्ण योग दिया तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म को भी अत्यधिक प्रभावित किया। भागवतपुराण मे रन्तिदेव (9। 21। 12) और ध्रुव की युक्तियाँ उसके सुन्दर नमूने है। ऐसे श्रेष्ठ सिद्धान्तो और आदर्शों से समाज में सदाचार और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा उठा और भारतीय समाज को स्वस्थ, सौम्य, नैतिक और पवित्र बनाया। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने इस आदर्श का भी प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मानव अपने भविष्य को अपने ही कर्मों द्वारा निर्मित कर सकता है। इससे ब्राह्मण धर्म के स्थान पर व्यक्तिगत धर्म तथा व्यक्तिगत जीवन-निर्वाह के मार्ग का उत्कर्ष हुआ।

3. **हिन्दू धर्म पर प्रभाव**—बाद के हिन्दू धर्म पर बौद्ध विचार और नैतिकता के गहरे प्रभाव के सबल प्रमाण है। यद्यपि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म को उसके उच्च स्थल से कभी भी ढकेल न सका, परन्तु इसने उस पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी है। अहिंसा के जिस सिद्धान्त पर बौद्धो ने अधिक जोर दिया, जिसका भक्तिपूर्वक प्रचार किया और जिसे दैनिक जीवन में क्रियात्मक कर दिया, उसे ब्राह्मणों ने अपने धर्मोपदेश मे पूर्णरूपेण समाविष्ट कर लिया। इससे प्राणिमात्र के प्रति श्रद्धा बढी और रक्तिम यज्ञो की भावना का ह्रास हो गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म पर मानव-दयावाद का प्रभाव डाला। कालान्तर में बौद्ध धर्म के अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण भागवत धर्म का जन्म हुआ। जिसने 'अहिंसा परमो धर्म.' के सिद्धान्त को पूर्णतया ग्रहण कर लिया।

4. **संघ-व्यवस्था**—धार्मिक अनुयायियों को अनुशासनशील समुदायो में संग-

ठित कर प्रजातन्त्र-प्रणाली पर संघ-व्यव- निर्माण करने का श्रेय बौद्ध धर्म को ही है। इससे पूर्व हिन्दू धर्म मे वनो मे तप करने वाले ऋषि-मुनियो एवं ज्ञान-प्रसार करने वाले आचार्यों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु उनमे अपना सुव्यवस्थित सगठन बनाकर कार्य करने की प्रथा न थी। हिन्दू धर्म के रामद्वारे, मठ और सन्यासी-सम्प्रदायो के अखाडे और महन्तो के समुदाय बौद्ध धर्म के सम्पर्क के ही परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त भारत मे साधारण जनता के लिए संगठित व्यवस्थित रूप से आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा-प्रचार का प्रथम प्रयास बौद्ध संघों ने किया। इस प्रकार प्रथम व्यवस्थित शिक्षा-केन्द्र नालन्दा का बौद्ध विहार था।

5 **दर्शन की नवीन विचारधाराएँ**—बौद्ध विद्वानो, विचारको और दार्शनिको ने तत्व ज्ञान की विविध समस्याओ पर नि.सन्देह स्वतन्त्रतापूर्वक मनन और चिन्तन किया। फलत दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में नवीन विचारधाराओ का प्रादुर्भाव हुआ तथा नवीन दार्शनिक सम्प्रदायो ओर मतो का उदय हुआ। नागार्जुन ने शून्यवाद और माध्यमिक दर्शन का प्रतिपादन किया। विज्ञानवाद का भी उदय हुआ। शून्यवाद से अभिप्राय है कि परम तत्त्व को बुद्धि तथा विचार की शक्ति से नही जाना जा सकता, अपितु शून्य दृष्टि से उसके विपय मे ज्ञात प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञानवाद का सिद्धान्त है कि चित्त अथवा विज्ञान के अतिरिक्त इस विश्व मे अन्य कोई वस्तु सत्त और शाश्वत नही है। सभी माया और धोखा है। शून्यवाद विज्ञानवाद के अतिरिक्त प्रतीत्य, समुत्पाद सर्वास्तिवाद सौत्रातिक, अनित्य-वाद, योगाचार, आदि अन्य दार्शनिक विचारधाराएँ, मत और प्रणालियाँ प्रारम्भ हुई। नागार्जुन ने अश्वघोप, असग, वसुमित्र, धर्मकीर्ति, दिग्नाग आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक थे जिन्होंने विस्तृत और समृद्ध बौद्ध दार्शनिक साहित्य का सृजन किया।

6. **मूर्तिपूजा-प्रसार**—भारत मे मूर्ति-पूजा का व्यापक प्रसार बौद्ध धर्म ने किया। महायान बौद्धों का अनुकरण कर हिन्दुओ के भी अपने इष्ट देवताओ की प्रतिमाएँ बनायी, उनका पूजन किया और अपने देवी-देवताओ के सम्मान मे मन्दिरो का निर्माण किया। ये तत्त्व आर्य धर्म के नही थे, उनमे तो तो खुली वेदियो पर यज्ञ अनुष्ठानादि करना ही प्रमुख था।

7. **लोक-साहित्य का विकास**—बौद्ध धर्म ने बोलचाल की भापाओं को अधिक लोकप्रिय बनाया। स्वय बुद्ध ने अपने धर्मोपदेश के हेतु जनसाधारण की बोलचाल की भापा को अपनाया। बौद्ध संघो और विहारो मे भी प्रवचन और शिक्षा-प्रसार के लिए इन्ही भापाओ का प्रयोग किया गया। इससे बोलचाल की भापा (प्राकृत) मे विस्तृत साहित्य की सृष्टि हुई। पाली भापा का समूचा साहित्य बौद्ध धर्म के अभ्युदय का परिणाम था। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने जनता की लोकप्रिय भापा के साहित्य की अभिवृद्धि की।

8. **बौद्ध साहित्य की ऐतिहासिक देन**—धार्मिक, साहित्यिक देन के अतिरिक्त बौद्ध विद्वानो, कवियो और लेखको ने पाली और सस्कृत मे महाकाव्य, जीवन-चरित्र ऐतिहासिक ग्रन्थ, आदि की रचना भी की, जैसे बुद्धि चरित्र, सारिपुत्र प्रकरण (नाटक) मजूश्री मूलकल्प, दिव्यावदान, ललित विस्तार मिलिन्द पन्हो सद्धर्मपुंड्रिक आदि। यद्यपि इन ग्रन्थो मे बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का विवेचन और प्रतिपादन तो होता ही है, परन्तु इनमे प्राचीन भारत के इतिहास निर्माण की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। इससे प्राचीन भारत के इतिहास निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

9. **समानता और सहनशीलता**—बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-प्रथा के ऊँच-नीच के भावों के विरुद्ध समानता का उपदेश दिया और मनुष्यों को सबका कल्याण करने की शिक्षा दी। इससे समस्त जातियों व नर-नारी का भेद-भाव विलीन हो गया। इस धर्म ने राजाओं को प्रेम, शान्ति, सहनशीलता व प्रजावत्सलता का उपदेश दिया जिसने राजाओं की नीति व प्रवृत्ति बदली।

10. **राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता**—बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-पाँति के ऊँच-नीच के भावों का विनाश कर सामाजिक और सांस्कृतिक एकता को दृढ करने का प्रयत्न किया। बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने से यह एकता और भी दृढ हो गयी। इसके अतिरिक्त इस धर्म ने अपने श्रोताओं की प्रमुख भावनाओं को अधिक प्रभावित किया। इसकी सादगी और सरलता से यह साधारण जनता का अधिक प्रिय धर्म हो गया और वे उसे देश का धर्म समझने लगे। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतीय राष्ट्र के विकास मे योग दिया एवं भारत की राजनीतिक एकता का मार्ग सुलभ कर दिया।

11. **बौद्धिक स्वतन्त्रता**—वैदिक धर्म मे वेदो की प्रामाणिकता तथा पुरोहित वर्ग के एकाधिकार एव कर्मकाण्ड की प्रधानता ने व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतन्त्रता का विनाश कर दिया था। इसके विपरीत बुद्ध ने स्वतन्त्र विचारों को प्रोत्साहित किया और धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि वे उनके वचनो एवं आदेशों को गुरु वचन मानकर स्वीकार न करें, अपितु अपनी बुद्धि-विवेक की कसौटी पर वैसे ही कसें जैसे एक स्वर्णकार सोने को कसता है। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि वे 'आत्मदीप' हो और अपनी आत्मा को स्वयं अपना मार्ग-दर्शक बनायें। अतएव बौद्ध दार्शनिकों ने निर्बाध होकर तत्त्व-ज्ञान की समस्त समस्याओं पर निस्सन्देह स्वतन्त्रता से मनन किया फलत. दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उनकी विचारधाराएँ भारतीय तत्त्व ज्ञान के उच्चतम विकास की ओर सकेत करती है। नागार्जुन, आसंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध दार्शनिक विश्व के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिको में से हैं।

12. **भारतीय कला**—भारतीय जीवन में बौद्ध धर्म की सर्वोत्कृष्ट देन वास्तु-कला और स्थापत्यकला के क्षेत्र में है। बौद्ध धर्म के विकास से पूर्व कला धर्म की चेरी थी। फलत. वैदिक युग में इसका अधिक विकास न हो पाया। उस युग मे यज्ञ-अनुष्ठान ही धर्म के प्रधान तत्त्व थे और इनके लिए विशाल मण्डप बनाये जाते थे तथा यूप गाड़े जाते थे। पर इनका अस्तित्व यज्ञ की समाप्ति तक सीमित था। अतएव उस युग में कला की अभिव्यक्ति के हेतु किसी स्थायी आधार का अभाव होने से कला की विशिष्ट प्रगति हुई। परन्तु बौद्ध धर्म के अन्तर्गत मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का श्रेष्ठतम विकास हुआ। बौद्ध धर्म ने वास्तुकला को खूब प्रोत्साहन दिया। आज प्राय: विश्व के प्रत्येक महान सग्रहालय में बौद्ध कला के अवशेष है। बौद्ध भिक्षुओ के स्थायी निवास-स्थान के हेतु समस्त देश मे विहार निर्मित किये गये। धर्मपरायण बौद्धों ने अपने धर्म-प्रवर्तक बुद्ध तथा अन्य पवित्र सन्तों की स्मृति और सम्मान में धार्मिक लक्षणो तथा उपदेश वाले स्तम्भ खडे किये। इसी प्रकार बुद्ध तथा बोधिसत्वो की अवशिष्ट स्मृतियो पर पाषाण के स्तूप निर्मित किये गये। ये विहार, स्तूप और स्तम्भ स्थायी थे। फलत. उनके आश्रय मे कला की सभी प्रशाखाएँ—चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला उन्नत हुईं। बुद्ध के समस्त जीवन की कहानी

पाषाणकला मे अभिव्यक्त की गयी। मूर्तिकला की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ बुद्ध से सम्बन्ध रखती है। विहारो, मन्दिरो, एव स्मारको को कलापूर्ण ढग से अलकृत किया गया और इस प्रकार कालान्तर मे वास्तुकला और स्थापत्यकला की एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। बौध स्थापत्यकला के कुछ नमूने विश्व में कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने जाते है। साँची, भरहुत और अमरावती के स्तूपो तथा अशोक के शिला-स्तम्भो एवं कार्ली की बौद्ध गुफाओ की गणना भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनो में होती है। साँची का स्तूप, उसकी चहारदीवारी और उसके कलापूर्ण चार प्रवेश-द्वार विश्व मे बेजोड़ है। गया का बौद्ध मन्दिर एवं विशाल व सुन्दर भवन आज भी बौद्धकालीन कला की श्रेष्ठता को प्रकट करते हैं। यदि शिल्पकार की छैनी बौद्ध आदर्शों के पाषाण मे अभिव्यक्त करने में सलग्न थी, तो चित्रकार का ब्रुश भी पीछे नही था। गुहाओ एव मन्दिरो की भित्तियाँ सुन्दर चित्रकला मे अलकृत की गयी थी। अजन्ता, एलौरा, बाघ और बारबरा गुहाओ मे बौद्धकालीन स्थापत्यकला, और चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। बौद्धकालीन मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, पच्चीकारी आदि के अवशिष्ट नमूने आज भी किसी व्यक्ति को प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त है।

13. **भारतीय इतिहास पर प्रभाव**—भारत के राजनीतिक इतिहास पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप है बौद्ध धर्म ने भारतीय राजा एव राजकुमारो के हृदयो मे रक्तपात तथा युद्ध के लिए घृणा उत्पन्न कर दी। बौद्ध सिद्धान्तों और नियमो ने ही अशोक को युद्ध त्याग करने के लिए तथा शान्ति की नीति का अनुकरण करने के हेतु प्रेरित किया था। अशोक के शान्ति और अहिंसा के मत से मगध के सम्राटो की साम्राज्यवादी नीति पर भारी कुठाराघात हुआ। अशोक की नीति ने मगध के प्रादेशिक विस्तार का मार्ग अवरुद्ध ही नही किया, अपितु अशोक की अलौकिक मानव-दयामय-नीति ने साम्राज्य के अस्तित्व को सकट मे डाल दिया। तीस वर्ष की लम्बी अवधि मे सैनिक कार्य के अभाव के कारण अशोक की सेना की नैतिक और सामरिक शक्ति का ह्रास हो गया। यूनानियो ने देश पर आक्रमण किया तब इस सेना के पैर उखड़ गये। अशोक के समय राज्य की नीति अधिक दयापूर्ण, परोपकारिणी एव लोकानुरागिणी हो गयी थी और दण्ड-विधान को सशोधित करके पहले की अपेक्षा उसे अधिक उदार व सहानुभूतिपूर्ण कर दिया गया था। अशोक की सरकार ने अपने कार्यो का क्षेत्र अधिक विस्तृत कर लिया एवं मानवो तथा पशुओं दोनो के लिए नि शुल्क औपधालय खोल दिये। ऐसा प्रतीत होता है कि पिंजरापोल, गौशाला तथा अन्नक्षेत्र जैसी सस्थाओ का जो आधुनिक हिन्दू दानशीलता की प्रमुख विशेषताएँ है, उद्भव अशोक के निशुल्क औपधालयो और दान क्षेत्रो से हुआ।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने अपने अनुयायियो की सख्या मे वृद्धि करने के हेतु अन्य धर्मो के समान तलवार तथा सस्कृति-विध्वसक कार्यो को कभी नही अपनाया। इससे भारतीय राष्ट्र रक्तपात से सकुचाने लगा और उसने अपनी प्रकृति शान्त बना ली। युद्ध की भयानक घटनाओ के वर्णन ने भारतीयों को भयभीत कर दिया और वे युद्ध तथा राजनीति के जीवन से दूर हो गये। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने देश में सैनिक भावनाओं को कम कर दिया। फलस्वरूप, भारत-निवासी सैनिक क्रियाकलापो और कार्यो से घृणा करने लगे और कालान्तर मे उत्तर से आने वाले बलशाली आक्रमणकारियो के वे शिकार हो गये।

14. **भारतीय संस्कृति का प्रसार**—ऊपर वर्णित दुःखद प्रभाव के होने पर भी सबसे महत्त्वशाली बात यह है कि बौद्ध धर्म सुसंस्कृत करने वाली शक्तियों में से एक शक्ति थी कि जिसे भारत ने अपने पड़ोसी-देशों को दिया था। बौद्ध धर्म ने भारत की पृथकता भंग कर दी और भारत तथा बाह्य देशों के बीच मैत्रीपूर्ण घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया। बाह्य विश्व को भारत की यह सबसे महान देन थी। भारतीय साधु-सन्तों, आचार्यों और विद्वानों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया और इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी सदी से भारतीय संस्कृति का विदेशों में अप्रत्यक्ष रूप से प्रसार हुआ। मध्य एशिया, चीन, मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया, जापान, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, लंका आदि में भारतीय संस्कृति और सभ्यता बौद्ध प्रचारकों द्वारा पहुँची। वृहत्तर भारत के निर्माण में उन्होंने सबसे अधिक योग दिया। ईसा पूर्व तीसरी सदी के बाद बौद्ध धर्म के विदेशी अनुयायी भारत को पवित्र भूमि और धार्मिक तीर्थस्थान मानने लगे और इस देश की यात्रा उनके जीवन की सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा होने लगी। धर्म की इस भावना ने अनेक विदेशियों का हमारे देश से गठबन्धन कर दिया एवं विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार के हेतु मार्ग सुलभ कर दिया।

अन्य सम्प्रदाय

बौद्ध और जैन साहित्य में इस युग में विभिन्न सिद्धान्तों का उपदेश देने वाला अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख है। इनमें से अधोलिखित प्रमुख थे :

सर्वप्रथम आजीविक हैं जो शूद्र सन्यासी कहे जाते थे और जिनका नेता मक्खली गोशाल था। गोशाल जो जन्म से ही दास थे, अति मौलिक उपदेशक हो गये थे। इन्होंने हिन्दू विचारधारा के मूल सिद्धान्त—कर्मवाद—को भी स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क था कि मानव-जीवन प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। अतएव केवल कर्म मनुष्य को अवश्यम्भावी परिणाम से मुक्त नहीं कर सकता। इसलिए जीवन का शान्तिमय रूप ही वांछनीय है। कौशल की राजधानी श्रावस्ती गोशाल के अनुयायियों का केन्द्र-स्थल थी। यहीं पर उपदेश करते हुए महावीर से सोलह वर्ष पूर्व गोशाल दिवंगत हुए। आजीविक धर्म एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में प्रसारित होने के बाद चौदहवीं सदी में भारत से विलुप्त हो गया।

अन्य प्रतिक्रियावादी सम्प्रदाय अजीत केशकम्बलन का था जिसने यह उपदेश दिया कि प्रत्येक का मृत्यु के साथ विनाश हो जाता है, यह इस प्रकार शून्यवादिन मत का अग्रदूत था। दूसरा सम्प्रदाय एक ब्राह्मण उपदेशक पुराण कश्यप का था जिसका मूल सिद्धान्त था कि कार्य न तो पुण्यमय या श्रेयस्कर है न पापमय या अश्रेयस्कर है। यह अधिक लोकप्रिय उपदेशक था।

उपरोक्त वर्णित सुधारवादी सम्प्रदायों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म में कुछ ऐसे भी सम्प्रदायों का विकास हो रहा था जिन्होंने स्पष्ट रूप से वेदों का विरोध नहीं किया। ये हिन्दू धर्म में आगे चलकर बहुत ही महत्त्वशाली सम्प्रदाय बन गये। इन सम्प्रदायों की विशिष्टता यह थी कि ये एक विशेष देवता की उपासना सर्वोच्च इष्टदेव के रूप में करते थे। इसी युग में वैदिक देवताओं की पुनर्व्यवस्था हुई, इनमें से कुछ का महत्त्व घट गया और कुछ का बढ़ गया। एक दूसरे वर्ग में विष्णु और रुद्र हैं जो वैदिक युग के विष्णु और रुद्र देवताओं से चरित्र में सर्वथा भिन्न हैं। विष्णु के उपासकों—वैष्णवों या भागवतों—ने भागवत नामक सम्प्रदाय चलाया और रुद्र के पुजारियों ने शैव नामक सम्प्रदाय का प्रसार किया। वैष्णवों ने महाभारत के नायक वासुदेवकृष्ण को,

जिसका सर्वोपरि ईश्वर से एकरूपण किया गया, भक्ति का प्रतिपादन किया। ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि पृथ्वी को पापाचार से बचाने के लिए विष्णु ने अनेक अवतार लिये। रामायण के नायक राम ऐसे ही एक अवतार बाद मे माने जाने लगे। मानवीय तत्त्वों से ओतप्रोत अपने इष्टदेव के प्रति उपासकों की भक्ति ने भागवत धर्म को जनता के लिए अधिक आकर्षक बना लिया। बाद मे यह सम्प्रदाय समस्त भारत मे फैल गया और मानव-तत्त्वो और भावनाओ से परिपूर्ण होने के कारण यह अधिक जनप्रिय हो गया।

आर्यो के पूर्व के युग मे मोहनजोदडो में शिव की एक प्रतिमूर्ति के पूजन में ही शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति निहित थी। कालान्तर मे आर्यो के पूर्व के इस देवता का साम्य वैदिक युग के रुद्र नामक देवता से कर दिया गया और इसे हिन्दू धर्म के देवताओ मे उच्च स्थान प्राप्त हुआ; उसे सौम्य और भयकर दोनो ही माना गया। इस देवता के विषय मे ऐसी कल्पना की गयी कि यह एक महायोगी है जो मृग चर्म धारण किये, वन्य-पशुओ तथा भूत-पिशाचो से आवृत्त, श्मशानो मे भ्रमण करते हुए, अपने प्रिय कुटुम्ब के सहित कैलाश पर्वत पर रहता है तथा सगीत एव नृत्य मे आनन्द लेता है। बहुत पहले से ही लिग के रूप मे शिव की पूजा होती थी जो आज भी हमारे देश मे अत्यधिक रूप मे प्रचलित है। शैवों का एक कट्टर सम्प्रदाय कापालिकों का था जो विलक्षण क्रिया-विधियो का अनुकरण करते थे।

निष्कर्ष

ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दू समाज दृढ रूप से स्थायी हो चुका था। यह आर्यो और अनार्यों के सामाजिक तत्त्वो के सम्मिश्रण का परिणाम था। समाज मे एक नवीन सस्कृति का विकास हो रहा था जो बाद मे हिन्दू सस्कृति के नाम से प्रख्यात हुई। सस्कृति की प्रमुख विशेषता धर्म का प्रमुत्व एव पुरोहित-वर्ग की प्रधानता थी। परन्तु यह धर्म जो धीरे-धीरे वैदिक धर्म से उद्भासित हो रहा था, जटिल, गूढ, अर्थहीन कर्मकाण्ड में परिवर्तित हो गया। यह बाद में नीरस और औपचारिक हो गया और जनता से इसका सम्पर्क निलुप्त हो गया। फलत. विचार और धर्म के नवीन नेताओ का प्रादुर्भाव हुआ और हिन्दू धर्म को उसकी भ्रष्ट क्रिया-विधियो से मुक्त करने के लिए अनेक सुधारवादी-आन्दोलन प्रारम्भ किये गये। भारत मे ईसा से पूर्व छठी सदी में ऐसे ही आन्दोलनो का जन्म हुआ था। परन्तु ऐसे आन्दोलनों मे केवल दो ही—जैन धर्म और बौद्ध धर्म—काल की परीक्षा मे सफल हुए और अब तक जीवित है। ये आध्यात्मिक सत्य और प्रेम के सन्देश को दरिद्रों की झोपडियो से लेकर नरेशों के राजमहलो तक ले गये और भारतीय इतिहास पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड़ गये। कला द्वारा धर्म की अभिव्यक्ति पर इन्होने भारतीय सस्कृति को सम्पन्न किया। इसके परिणामस्वरूप वास्तुकला, स्थापत्यकला और चित्रकला की एक नवीन शैली का सूत्रपात हुआ, जिसने विश्व मे कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने उत्पन्न किये है। परन्तु इससे भी अधिक, भारतीय सस्कृति और धर्म के दीप को भारत की सीमा के परे बौद्ध धर्म सफलतापूर्वक ले गया।

प्रश्नावली

1. "ईसा पूर्व छठी शताब्दी ने धार्मिक आन्दोलनो की महान उथल-पुथल देखी है।" भारत का विशिष्ट हवाला देते हुए उपरोक्त कथन का विवेचन कीजिये।

2. ईसा पूर्व छठी शताब्दी में सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन के उत्कर्ष में किन-किन परिस्थितियो ने योग दिया ?
3. "उन्हे ब्राह्मण धर्म और सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करने वाला नही माना जा सकता।" गौतम बुद्ध के विषय मे इस मत से आप कहाँ तक सहमत है ?
4. गौतम बुद्ध के जीवन और उपदेशो का हाल लिखिये।
5 जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना कीजिये।
6. किस रूप मे बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के समान है और फिर भी उससे भिन्न है ?

अथवा

"बौद्ध धर्म अपने प्रारम्भ से ही हिन्दू धर्म से बहुत कुछ समानता रखता था, फिर भी उसकी विभिन्नताएँ पूर्ण स्पष्ट थी।" विवेचना कीजिये।

7. वर्द्धमान महावीर के जीवन और उपदेशो का वर्णन कीजिये। यह कहना कहाँ तक न्यायोचित है कि जैन धर्म यदि अधिक प्राचीन नही, तब भी वह उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म ?
8. भारत में बौद्ध धर्म के उत्कर्ष और अपकर्ष के कारण लिखिये।
9. भारतीय सस्कृति को सुसम्पन्न करने मे बौद्ध धर्म और जैन धर्म की देन का मूल्याकन कीजिये।
10. "बौद्ध धर्म भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रज्वलित दीप भारत की सीमा के पार सफलतापूर्वक ले गया।" विवेचना कीजिए।
11. बौद्ध सघो के विषय मे आप क्या जानते है ? उनमें भिक्षुगण किस प्रकार रहते थे ? बौद्ध धर्म के प्रसार मे ये किस प्रकार सहायक प्रमाणित हुए ?
12. 'महावीर और गौतम बुद्ध का उद्देश्य प्रचलित ब्राह्मण धर्म को सुधारने का था। हिन्दू धर्म से भिन्न सम्प्रदाय स्थापित करने की उनकी कोई लालसा नही थी।" इस कथन का विवेचन कीजिये।
13. "मौलिक बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का केवल नवीन रूप था।" (जदुनाथ सरकार)। आप इस मत से कहाँ तक सहमत है ?
14. बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान धर्म की विभिन्नता बताइये।
15. भारत के राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का मूल्याकन कीजिये।

अथवा

भारतीय सस्कृति व जीवन को बौद्ध धर्म की क्या-क्या महत्त्वशाली देन है ?

16. टिप्पणियाँ लिखिये :

आष्टागिक-मार्ग, बौद्ध सघ, त्रिपिटक, हीनयान, भद्रबाहु, बौद्ध धर्म की सभाएँ, वज्रयान, जातक, गोमतेश्वर, महायान, आजीविक, जैन धर्म की सभाएँ, बौद्ध-कला और दिगम्बर।

17. जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना कीजिये और इनके प्रसार के कारण पर प्रकाश डालिये।

अथवा

भारतीय कला और साहित्य को बौद्ध धर्म की क्या देन रही है ?

18. बौद्ध धर्म अपने धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक रूपो में भारतीय बुद्धि की एक स्वाभाविक देन है । इस कथन का विवेचन करिये ।
19. "जैन तथा बौद्ध धर्मो के तत्त्व तथा प्रणाली मे अन्तर होने पर भी उनके उद्देश्यों मे समानता थी" विवेचन कीजिये ?
20. "जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म, यद्यपि अपने मार्गो तथा शिक्षाओ मे भिन्न थे, किन्तु उनका उद्देश्य एक ही था।" समझाइये ।

6

मौर्यों से पूर्व का युग (650-321 ईसा पूर्व)

ईसा पूर्व सातवी सदी के प्रारम्भ से भारतीय इतिहास स्पष्ट और निश्चित हो जाता है। इनसे पूर्व प्रत्येक घटना अस्पष्ट और काल-निर्माण अनिश्चित है। भारत के राजनीतिक इतिहास के सकलन के हेतु जैन और बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री है। ये ग्रन्थ यह प्रकट करते है कि इस युग मे समस्त उत्तरी भारत छोटे-बड़े सोलह राजतन्त्रो तथा अनेक अल्प जनतन्त्र-राज्यो में विभक्त था। इनमे से प्रमुख थे कौशल जिसकी राजधानी श्रावस्ती, काशी जिसकी राजधानी वाराणसी; अवन्ती जिसकी राजधानी उज्जैन; वत्स जिसकी राजधानी कौशाम्वी, और मगध जिसकी राजधानी राजगृह थी। जनतन्त्र-राज्यों में वृजि या विज्जी जिसकी राजधानी वैशाली थी, सवसे अधिक महत्त्वशाली था। इस युग की प्रमुख राजनीतिक घटना मगध का उत्कर्ष है। आगे की दो सदियो में उपरोक्त समस्त राज्यों का एकीकरण कर, प्रथम शिशुनाग राजवंश ने (642 से 413 ईसा पूर्व) और वाद मे नन्द राजवश (413-322 ईसा पूर्व) ने मगध मे एक साम्राज्यवादी सत्ता की स्थापना की। शिशुनाग राजवंश का विम्विसार मगध की महानता का वास्तविक संस्थापक था। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र अजातशत्रु (491-459 ईसा पूर्व) था। उसके शासनकाल में बुद्ध और महावीर दोनो ने ही उपदेश दिया था। इस वंश का यह सवसे अधिक महत्त्वशाली नरेश था। इसके राजत्वकाल में मगध पूर्व भारत में प्रभुत्वशाली राज्य हो गया। इसके पौत्र उदयन के उत्तराधिकारी नन्दीवर्धन और महानन्दिन थे। महानन्दिन के अवैध पुत्र महापद्मनन्द[1] ने नन्दवंश की स्थापना की। महापद्मनन्द ने मगध राज्य की सीमाओ और प्रभाव का विस्तार किया। उसके और उसके उत्तराधिकारियो के शासनकाल में पूर्व मे वगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम मे सतलज नदी तक मगध एक शक्तिशाली साम्राज्य हो गया। नन्दवंश के अन्तिम नरेश धननन्द को चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिहासनच्युत कर दिया।

भारतीय सीमा-प्रान्त पर ईरानियों का आधिपत्य

जव भारत मे मगध के नरेश अपने साम्राज्य को विस्तृत कर रहे थे, फारस या ईरान के नरेश भी अपनी शक्ति की वृद्धि कर रहे थे। ईरानी साम्राज्य के सस्थापक कालपुरुष (Cyrus लगभग ईसा पूर्व 558 से 530) ने हिन्दूकुश पर्वत तक अपने साम्राज्य की सीमा वढा दी और गान्धार उसके साम्राज्य का एक प्रदेश हो

---

1. महापद्मनन्द के मूल के विषय में परस्पर विरोधी अनुश्रुतियाँ है। कुछ इतिहासकार उसे शूद्र जाति का वताते है।

गया । ईरानी साम्राज्य के एक अन्य शासक डेरियस प्रथम (Darius I, ईसा पूर्व 522 से 486) ने ईसा पूर्व 517-16 मे भारत पर आक्रमण किया और पजाव के एक भाग को अपने राज्य मे मिला लिया । ईरानी साम्राज्य का यह वीसवाँ प्रान्त था जिसमे समस्त सिन्धु-घाटी सम्मिलित थी । पंजाब इस साम्राज्य का सबसे अधिक धनवान और घना बसा हुआ प्रान्त था जिसकी मालगुजारी डेढ करोड रुपये की थी । ईरानी प्रान्तपति और जिला अधिकारी पजाब मे रहते थे और पजावी भी ईरानी सेना मे भरती किये जाते थे और ये यूनान देश मे ईरानियों की ओर से रणक्षेत्र मे लड़े भी थे ।

भारत के साथ ईरानी सम्पर्क का प्रभाव—ईरानी विजय ने सम्भवतः सर्वप्रथम भारत को पाश्चात्य ससार के सम्मुख प्रकाशित किया और भारतीय तथा ईरान-निवासियो से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया । इससे दोनो देशो को लाभ हुआ एवं पारस्परिक व्यापार व सस्कृति के सम्मिश्रण को नवीन प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, क्योकि एशिया महाद्वीप के स्थल-मार्ग, जो एक ओर भूमध्यसागर के तट पर और दूसरी ओर सिन्धु नदी के तट पर समाप्त होते थे, ईरान के सम्राट द्वारा नियन्त्रित थे । व्यापारिक सम्पर्क से दोनो देशो के बीच सामाजिक और राजनीतिक विचार-विनिमय का मार्ग सुलभ हो गया और इनसे सम्भवत. शिशुनाग तथा मौर्य सम्राटो की छत्र-छाया में उत्तरी भारत को एक सूत्र में सगठित करने की कल्पना को जन्म दिया । फारसी लेखको ने भारत में अर्मई लिपि (Armaie Script) का प्रचार किया जिससे कालान्तर मे दाहिनी ओर से वायी ओर लिखी जाने वाली प्रसिद्ध खरोष्ठी लिपि विकसित हुई । पश्चिमोत्तर भारत मे इसी लिपि मे अभिलेख प्राप्त हुए है और यह लिपि ईसवी सन् की तीसरी सदी तक निरन्तर प्रचलित रही । कुछ विद्वानो का मत है कि पाटलिपुत्र मे अशोक का स्तम्भो वाला विशाल कमरा (hall), चट्टानों और स्तम्भो पर उनके अभिलेख, स्तम्भ-शीर्षों की घण्टानुमा आकृतियाँ तथा वृपभ और हिंसयुक्त शीर्ष का मूल स्रोत ईरानी प्रभाव था । मौर्यकला पर, जो अशोक के शासनकाल मे अपनी प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुच चुकी थी, ईरानी कला की अमिट छाप है । यह ईरानी कला ईसा पूर्व चौथी और तीसरी सदी मे कुछ अशो तक यूनानी लोगो के घनिष्ठ सम्पर्क से प्रवाहित हुई थी । तक्षशिला मे प्रचलित कुछ सामाजिक प्रथाओ पर ईरानी प्रभाव का आभास प्राप्त होता है । भारत में ईरानी शब्द 'क्षत्रप' का प्रयोग, चन्द्रगुप्त मौर्य की केशधोवन-विधि और पवित्र अग्नि को प्रज्वलित करने की प्रथा, जिसका सम्राट कनिष्क ने अनुकरण किया था, ईरानी प्रभाव का परिणाम माना जाता है । मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने ईरानी सम्राटों की राजसभा के कुछ समारोहो को अपते यहाँ चलाया था और मौर्य शासन-सेवा में ईरान के शासकीय अनुभव वाले योग्य कुलीन सामन्तों को नियुक्त किया था । उदाहरण के लिए काठियावाड का प्रान्तपति तुशाष्फ ऐसे ही व्यक्तियो मे था, जिसका नाम तथा पद जूनागढ़ (गिरनार) के अभिलेख में आज भी अकित है ।

सिकन्दर का आक्रमण

अपने पिता फिलिप के देवहासान के पश्चात सिकन्दर 336 ईसा पूर्व मे मकदूनिया का राजा हो गया । सम्पूर्ण यूनान पर विजय प्राप्त करने के पश्चात उसने ईरान, एशिया माइनर, मिस्र आदि देशो पर अपना आधिपत्य कर लिया और 326 ईसा पूर्व मे यह भारत की ओर मुड़ा । यहाँ यह वात ध्यान देने योग्य है कि

उसने भारत पर नही अपितु पंजाब प्रान्त पर, जो ईरानी साम्राज्य मे सम्मिलित था आक्रमण किया। भारत मे सिकन्दर के युद्ध किसी सुव्यवस्थित राज्य के विरुद्ध नही थे पर उन छोटे-छोटे स्थानीय नरेशो और गणराज्यो के विरुद्ध थे जिन्होने ईरानी सम्राट की प्रभुता स्वीकार कर ली थी। अत. सरलता से उसने उन्हे पराजित कर दिया और व्यास नदी तक, जहाँ ईरानी सीमा समाप्त होती थी बढता चला आया। इसी बीच में तक्षशिला के नरेश, भारत के द्वाररक्षक, ने सिकन्दर को आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु उसके पार्श्ववर्ती राज्य के नरेश पोरस ने मकदूनिया-नरेश के आक्रमण को रोकने का दृढ़ निश्चय किया। अतएव करी के मैदान में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें पोरस पराजित हुआ। परन्तु सिकन्दर ने उसके शौर्य और दर्पपूर्ण उत्तर से प्रभावित होकर उदारता से उसका राज्य उसे लौटा दिया। इसके पश्चात सिकन्दर मगध पर आक्रमण करने की आशा से पूर्व की ओर अग्रसर हुआ, पर उसकी सेना सहमत न हुई। विवश होकर उसे भारतीय गणराज्यो से भयंकर सघर्ष करते हुए लौटना पडा और अन्त में ईसा पूर्व 323 मे बेबीलोन पहुँचने पर उसकी अकाल मृत्यु हो गयी।

सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव——सिकन्दर के आक्रमण ने भारतीयो पर कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं डाला, क्योकि उसका आक्रमण भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तक ही सीमित था। उसका आक्रमण तो सीमान्त प्रान्तों पर केवल एक छोटा धावा था। यद्यपि उसने गान्धार और सिन्धु नदी की घाटी को मकदूनिया साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, परन्तु वे शीघ्र ही स्वतन्त्र हो गये और सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात दो वर्ष मे ही उसके आक्रमण तथा अल्पकालीन यूनानी शासन के समस्त चिह्न विलुप्त हो गये। अतएव कोई आश्चर्य नहीं यदि भारतीय लोग सिकन्दर के आक्रमण के प्रति उदासीन रहे। वह झझावात के सदृश आया, भारत में उन्नीस मास तक रहा और भारत के केन्द्र को स्पर्श किये बिना ही यहाँ से प्रस्थान कर गया। भारतीयो के लिए तो वह केवल एक साधारण आक्रमण था जिसने इस देश के एक भू-भाग की शान्ति को थोडे समय के लिए विच्छिन्न कर दिया और भयंकर रक्तपात, क्रूरता तथा नृशसता में चगेजखाँ और तैमूर को भी ढकता हुआ भारत से कूच कर गया। सीमान्त प्रदेश की दृष्टि से देखते हुए सिकन्दर के आक्रमण का कोई महत्त्व नही है। यह तो इतना छोटा बवण्डर था जो भारतीय लेखको का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहा।

भारतीय घटनाओ मे सिकन्दर की सामरिक योग्यता को देखते हुए वह विशिष्ट सैनिक प्रतिभा वाला व्यक्ति नही प्रतीत होता। भारत में उसने जो कुछ सफलता-सिद्धि प्राप्त की वह पजाब में एक छोटे से राज्य के नृपति पोरस पर भयकर युद्ध के बाद प्राप्त विजय थी और वह भी एक अन्य भारतीय नरेश आम्भी की सहायता और सहयोग से, जो पोरस का घोर शत्रु था और जिसने एक विदेशी के लिए भारत के द्वार को अनावृत कर देशद्रोही का कार्य किया था। वस्तुत. यह भारत के एक दूरस्थ कोने में एक महत्त्वहीन सामान्त पर एक महान सेनानायक की विजय थी। उसकी पराजय से शेष भारत पर कोई प्रभाव नही पड़ा, पूर्व पर पश्चिम की विजय तो बहुत दूर की बात थी।

परन्तु यदि भारतीयों ने सिकन्दर के आक्रमण के महत्त्व का अनुमान कम किया तो यूनानियों ने उसकी अतिशयोक्ति कर दी। एरियन (Arrian), कर्टियस (Curtius) आदि यूनानी लेखको ने इस आक्रमण के वर्णन के विषय मे पृष्ठ के बाद

पृष्ठ लिखकर उसके महत्त्व की अत्युक्ति कर दी है। उसके लिए सिकन्दर विश्व के महान विजेताओं मे से था।

इतने पर भी, भारतीयो के लिए सिकन्दर के आक्रमण की पूर्णरूपेण उपेक्षा करना अनुचित है। भारतीय इतिहास पर इसका प्रत्यक्ष और शीघ्र प्रभाव पडा था। लघु और परस्पर युद्ध करने वाले राज्यों और जातियो की, जिनका पजाब और सिन्धु मे वाहुल्य था, शक्ति को पंगु करके सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के लिए उत्तर-पश्चिमी भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित करने और उसे मगध के साम्राज्य का पूर्ण भाग बनाने के हेतु मार्ग सुलभ कर दिया। इस प्रकार यदि पूर्व मे महापद्मनन्द चन्द्रगुप्त का पूर्वगामी था, तो सिकन्दर उत्तर-पश्चिम मे उसके साम्राज्य का अग्रदूत था। इस प्रकार सिकन्दर के आक्रमण के प्रत्यक्ष और शीघ्र परिणाम के फलस्वरूप यदि पंजाब और सिन्ध एकीकृत शासन का आनन्द उठाने लगे थे, तो सभी भारतीयो ने यूनानी युद्धकला की उत्कृष्ठता की अवज्ञा की। भारतीयो नरेशो और उनके सेनापतियो ने यूनानी युद्धकला की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। वे अपनी परम्परागत युद्ध-प्रथाओ का अनुकरण करते रहे। यद्यपि इस आक्रमण ने भारतीयों को यह सुझाव दिया कि उनका सैन्य संगठन और युद्ध-कौशल अपर्याप्त और दोपपूर्ण है एव उचित रूप से प्रशिक्षित तथा कुशल सेना अल्पसख्यक होते हुए भी विजयी हो सकती है, परन्तु भारतीयो ने इसकी भी अवहेलना की।

सिकन्दर के आक्रमण की 326 ईसा पूर्व की तिथि मे ऐतिहासिक लाभ हुआ है। सिकन्दर की भारतीय लडाइयो का स्पष्ट और तिथिपूर्ण वर्णन, जो उसके साथियों व अनुयायियो ने लिखा है, से भारतीय इतिहास के काल-निर्णय करने और बाद की राजनीतिक घटनाओं का निर्दिष्ट आधार पर वर्णन करने मे वडी सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त इस आक्रमण के फलस्वरूप अनेक प्रसिद्ध यूनानी भारत मे आये। उन्होने इसका विवरण लिखा है जो भारतीय इतिहास के लिए महत्त्वशाली सामग्री है। इससे तत्कालीन संस्कृति की झलक मिलती है जो अधोलिखित है :

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय संस्कृति—यूनानी लेखको के अनुसार सोफाइटिज (पजाब मे सौभूति) के राज्य मे सौन्दर्य की वडी महिमा थी। यदि नवजात शिशु शरीर से अस्वस्थ, रुग्ण, अपग या अगहीन होता तो मृत्यु के लिए त्याग दिया जाता था। विवाह के लिए वश से कही बढ़कर शारीरिक यौवन और सौन्दर्य की महिमा थी। विवाह का आधार कुल की उच्चता नही, रूप का आकर्षण था। समाज मे सती-प्रथा प्रचलित थी और मानव के क्रय-विक्रय का प्रचार था। तक्षशिला मे यूनानियों ने दरिद्र पिताओ को अपनी पुत्रियो को बेचते हुए देखा था। बहु-पत्नी-विवाह-प्रथा भी प्रचलित थी। मृतको के शव गिद्धो के भक्षण करने को छोड़ दिये जाते थे।

ब्राह्मण धर्म का विशेप प्रभाव था। सिकन्दर के आक्रमण के समय उसके साथ आने वाले एक यूनानी इतिहासकार ने ब्राह्मण सन्यासियो के विविध विलक्षण आचारो का उल्लेख किया है। अपने गम्भीर ज्ञान, सच्चरित्रता एवं स्वार्थ-त्याग के लिए देश मे ब्राह्मण अति प्रतिष्ठित थे और नरेश उनके आदेशो पर चलने के लिए प्रस्तुत रहते थे। ब्राह्मण सन्यासियों के अतिरिक्त श्रमण, बौद्ध एव अन्य सम्प्रदायो के परिव्राजक भी थे, जो वनो में रहते, कन्द-मूल-फल खाते तथा वृक्ष की छाल पहनते थे। साधारण जनता वर्षा के देवता इन्द्र (जीअस ओम्बियस) तथा कृष्ण के अग्रज

बलराम (हलधर, हिरैक्लिटस) की पूजा करती थी। आज के समान ही गंगा स्तुत्य थी। कतिपय वृक्ष इतने पावन माने जाते थे कि उनको अपवित्र करने का दण्ड वध था।

देश में महत्त्वपूर्ण विस्तृत नगरों का बाहुल्य था। मस्सग, ओरनस, तक्षशिला, प्रिप्रमा, संगल, पत्तल आदि नगर देश की उच्चतम आर्थिक दशा और समृद्धि के उदाहरण हैं। उनकी बनावट, स्थिति एवं दुर्गीकरण तत्कालीन श्रेष्ठ निर्माण-शैली के द्योतक हैं। देश की धन-सम्पत्ति का अनुमान सिकन्दर को अपने आक्रमणकाल में प्राप्त हुए अगणित उपहारों से किया जा सकता है। "सुनहरे वस्त्र पहने हुए क्षुद्रक-दूतों ने उसे बहुतेरे सूती थान, कच्छप-त्वक् (खाल), वृषभत्वक के बने वकन्स तथा लोहे के सौभार; तक्षशिला के आम्भी ने सोने-चाँदी के ताज (सिक्के) तौल की 280 मात्रा में उसे प्रदान किये।" पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश में भारतीयों का मुख्य व्यवसाय कृषि-धर्म और पशुपालन था। यह प्रदेश वृषभों की मनमोहक सुन्दरता व स्वस्थता के लिए प्रख्यात था। अन्य व्यवसायों में बढ़ई का कार्य महत्त्वशील था क्योंकि वह युद्ध के लिए रथ और कृषि तथा व्यापार आदि के लिए गाड़ियों तथा छकड़ों का निर्माण करता था। पंजाब में अनेक नदियों के अस्तित्व और सिकन्दर की सेना का नौकाओं के बेड़े से नदियों में यात्रा करना इस बात के द्योतक हैं कि उस युग में नौ-निर्माण-शिल्पकला प्रचलित थी और जल-यात्रा से लोग अवगत थे।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप आवागमन तथा स्थलीय और सामुद्रिक व्यापार के नवीन मार्ग खुल गये जिससे भारत तथा पाश्चात्य देशों में परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ा और उनमें सांस्कृतिक विनिमय का कार्य सुलभ हो गया। स्ट्रैबो (Strabo) और सिल्यूकस के उत्तराधिकारी के जल-सेनानायक पेट्रोक्लीज (Patrocles) ने इन मार्गों का उल्लेख किया है। बेबीलोन में ढले हुए यूनानी ढंग के सिक्के जो भारत के सीमाप्रान्त में बहुसंख्या में प्राप्त हुए हैं इस बात के प्रमाण है कि इन मार्गों से खूब व्यापार होता था।

सिकन्दर के आक्रमण के ऊपर वर्णित परिणामों के अतिरिक्त कुछ स्पष्ट सांस्कृतिक प्रभाव भी हुए हैं। भारत और उसकी सीमा पर अनेक यूनानी केन्द्र प्रतिष्ठित हो गये। सिकन्दर ने जो सेना अपने पीछे छोड़ी थी, वह तो उसके लौटने के बाद शीघ्र ही विनष्ट हो गयी परन्तु उसके बसाये हुए नगर दीर्घ काल तक रहे। इसके अतिरिक्त सिकन्दर के साम्राज्य के विकिरण के पश्चात सीरिया, बैक्ट्रिया और एशिया के अन्य भागों में जो यूनानी राज्य स्थापित हुए थे उन्होंने और भारत में बसाये हुए यूनानी नगरों और केन्द्रों ने भारत और यूरोप के मध्य सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित कर दिया। इसी सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय सिक्कों के मुद्रण में प्रगति हुई। अब भारत में यूनानी ढंग के आधार पर उचित आकृति और मुद्रण के सिक्कों का प्रचलन हुआ। इससे पूर्व चिह्न-मुद्रित सिक्के चलते थे। सम्पर्क का दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारतीय ज्योतिष यूनानी ज्योतिष-प्रणाली से बहुत प्रभावित हुई। सम्राट कनिष्क के शासनकाल में जब बैक्ट्रिया उसके साम्राज्य का एक भाग था, तब उसने यूनानी शिल्पकारों को बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं के निर्माण के लिए आमन्त्रित किया था। इससे भारतीय और यूनानी मूर्तिकला का सम्मिश्रण हुआ। तक्षण कला में गान्धार-शैली का प्रादुर्भाव सिकन्दर के आक्रमण का दूरस्थ स्पष्ट परिणाम है।

यूनानियों ने भी अपने सम्पर्क के काल में भारतीयों से विज्ञान, कला, दर्शन, गणित और चिकित्साशास्त्र का बहुत कुछ ज्ञान ग्रहण किया। भारतीय दर्शन ने यूनानी संस्कृति और विचारधारा को बहुत कुछ प्रभावित किया। यह भी सुझाया गया है कि इसने ईसाई धर्म पर भी प्रभाव डाला है। इसका उल्लेख आगे अध्याय 7 में किया गया है।

मौर्यों के पूर्व-युग अथवा प्रारम्भिक मगध के युग में सांस्कृतिक जीवन

जैन और बौद्ध-साहित्य, विशेषत: त्रिपिटक और जातक ग्रन्थ, मौर्य साम्राज्य के पूर्व तीन सौ वर्षों के युग मे उत्तरी भारत के सामाजिक-राजनीतिक, तथा धार्मिक जीवन पर विशेष प्रकाश डालते है। इसका वर्णन अधोलिखित है :

राज-पद्धति—राजनीतिक दृष्टि से भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जिनमें से कुछ तो साम्राज्य-निर्माण के लिए युद्ध करने वाले राजतन्त्र थे और कुछ कबाइली प्रदेशो में गणतन्त्र राज्य थे। यद्यपि शासक-वर्ग क्षत्रिय था, तो भी अक्षत्रिय नरेश होते थे। जातक 2-326 में हमें यह पढने को मिलता है कि एक अत्याचारी क्षत्रिय नरेश को पदच्युत कर एक ब्राह्मण राजा बनाया गया। जिन राज्यो में राजा शासन करता था, वहाँ उसे विशेष सर्वोपरि अधिकार और सुविधाएँ होती थी। भूमि-कर और अन्य करो पर राजा का अधिकार होता था। राजकीय करो मे एक ऐसा भी कर होता था जिसे जनता राजा के उत्तराधिकारी के जन्म के अवसर पर देती थी। व्यापारी चुंगी (octroi) तथा अन्य प्रकार के कर देते थे। कभी-कभी राजा बेगार भी लेता था तथा वन्य-भूमि और बिना स्वामी की सम्पदा पर भी अपना स्वत्त्व रखता था। प्राय: राजा कुलागत होते थे और शासन करने वाला नरेश अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत भी करता था। परन्तु राजा के निर्वाचन के हवाले भी प्राप्त हुए हैं। यद्यपि निर्वाचन राजवंश के सदस्यो तक ही सीमित था परन्तु कभी-कभी बाहर के अन्य व्यक्तियों को भी पसन्द कर लिया जाता था।

राज्यो की वृद्धि और नवीन प्रदेशो को जीतकर अधीनस्थ प्रान्त बनाने से महाक्षत्रप (viceroy) और प्रान्तपति का पद दिन-प्रतिदिन अधिक महत्त्वशाली होता गया और प्राय. इस पद पर राजवंश के राजकुमार होते थे। कभी-कभी इसके लिए राजसभा के प्रमुख सेनापतियों को भी पसन्द कर लिया जाता था। राज्याधिकारियो मे पुरोहित विशेष महत्त्व का होता था कभी-कभी एक ही व्यक्ति तीन राज्यो का पुरोहित होता था, जैसा काशी, कौशल और विदेह मे था। कुछ राज्यों मे पुरोहित की अपेक्षा सेनापति का, जो प्राय. राजकुमार या उच्च राजकीय पद का व्यक्ति होता था, महत्त्व अधिक होता था। अपने सैनिक कर्तव्यों के अतिरिक्त उसे देश के कुछ भागों मे न्याय भी करना पड़ता था। राजा की प्रमुख कार्यकारिणी मे पुरोहित, सेनापति और अन्य मन्त्री होते थे।

इस युग मे शासन-विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण अग महामात्र नामक उच्च अधिकारी-वर्ग का प्रादुर्भाव था। वैदिक युग मे ये अज्ञात थे और मौर्य तथा सातवाहन युग के बाद विलुप्त हो गये। इनके कर्तव्य विभिन्न प्रकार के थे। कुछ सामान्य शासन की देखभाल करते, कुछ न्याय करते, कुछ के अधिकार मे सेना थी और कुछ अन्य भूमि-कर आदि की व्यवस्था करते थे।

न्याय-शासन में यद्यपि राजा निर्णय देकर महत्त्वशाली कार्य करता था, पर न्याय का अधिक कार्य अब 'व्यावहारिकों' या न्यायाधीशों को सौंप दिया गया था। एक के ऊपर एक अनेक न्यायालय थे। लड़ाकू हाथियों को सेना का नियमित अंग बनाकर सैनिक-व्यवस्था मे महत्त्वशाली परिवर्तन किये गये। इस युग की सेना के चार विभाग थे—पैदल सिपाही, अश्वारोही, रथ और हाथी। इनके अतिरिक्त श्रमिक, गुप्तचर और स्थानीय पथ-प्रदर्शक भी थे। यूनानी लेखकों ने यह संकेत किया है कि युद्धकाल मे एशिया के अन्य लोगों की अपेक्षा भारतीय अधिक श्रेष्ठ थे।

राजाविहीन राज्य 'गण' नाम से प्रख्यात थे। ये विभिन्न प्रकार के थे—कुछ सार्वभौमिक राज्य थे और अन्य पार्श्ववर्ती प्रभुसत्तात्मक राज्यों को कर देते थे, परन्तु ये स्वायत्त-शासन का पूर्ण लाभ उठाते थे। प्रत्येक की एक 'परिषद' होती थी जो कई अधिवेशन करती थी और कानून बनाती थी। राजधानी में इस साधारण-सभा के अतिरिक्त राज्य में सभी महत्त्वशाली स्थानों में स्थानीय परिषदें होती थी। इन गणराज्यो मे कार्यकारिणी की सत्ता एक ही प्रमुख व्यक्ति या अनेक प्रधान व्यक्तियों के हाथों मे रहती थी जिन्हे 'राजन', 'गण-राजन्', या 'संघ मुख्य' कहते थे। राजन् की उपाधि राज्य के सभी प्रधान व्यक्तियों के लिए थी। राजन् के अतिरिक्त 'उप-राजन्,' 'सेनापति,' 'भण्डारिक' आदि अन्य अधिकारीगण थे। कुछ गणतन्त्र राज्यो के शासन मे नियमित पुलिस-अधिकारियों का भी उल्लेख है।

सामाजिक जीवन

जातक कहानियों मे वर्णित नागरिक जीवन की झलक यह संकेत करती है कि यदि वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप प्राप्त आधुनिक जीवन की कुछ सुविधाओं और सभ्यता को अलग कर दिया जाय तो उस प्रारम्भिक युग में भी मनुष्य उसी सुख-वैभव से रहते थे जैसे आज। यद्यपि अधिकांश मे साधारण जनता मिट्टी के बने कच्चे मकानों व ग्रामों मे रहती थी पर फिर भी प्राचीरों से सुरक्षित नगर भी थे। गरीबों के मकान छोटे और साधारण तथा धनिको के विशाल और आकर्षक होते थे, जो बाहर-भीतर सुन्दर और रंगे-पुते होते थे। यद्यपि नगरो की संख्या कम थी परन्तु उनमे महत्त्वपूर्ण भवन होते थे, जैसे परिषद-भवन, न्यायालय, राजमहल, उच्च प्राचीरो मे प्रहरी-स्तम्भ और द्वार आदि। इन नगरो मे जीवन, के सभी आमोद-प्रमोद के साधन तथा सुविधा वाले स्थान थे जैसे मनोरंजन के उद्यान, पानी से छिडके हुए प्रकाशयुक्त जन-मार्ग, जुआ-घर, नृत्य भवन, आमोद-प्रमोद के स्थान, व्यापारियो और शिल्पियों के स्थान आदि, राजमहल लकडी और पाषाण के होते थे। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में सात मंजिल वाली उच्च अट्टालिकाओ का उल्लेख है। लोग गायन और नृत्य के शौकीन थे और उन्हो पशु-युद्ध, शतरंज-सा एक खेल, और नटो की क्रीड़ाओं में अधिक अभिरुचि थी। योद्धाओं का प्रमुख आमोद-प्रमोद द्यूत-क्रीडा, आखेट, युद्ध की कहानियों का श्रवण, रंग-भूमि और अखाड़े के खेल थे। सिन्धु-घाटी मे जनता के वसन मे एक सूती कर्ता और अन्य दो वस्त्र और होते थे जिनमे एक तो उनके कन्धों पर लपेटा जाता था और दूसरा मस्तक पर बाँधा जाता था। पुरुष कान में बालियाँ पहनते थे, अपनी दाढ़ी को रंगते थे और खालों तथा जूतों का उपयोग करते थे। कुलीन-वर्ग की नारियाँ अपने मस्तक को स्वर्णिम तारो से अलंकृत करती थीं और अनेक बहुमूल्य रत्नजड़ित हार और चूड़ियाँ पहनती थी। गगा के प्रदेश मे कुलीन-वर्ग की कन्याएँ हार-कन्दीरे और घुँघरू वाले नूपुर और पायजेब पहनती थी; सन या पीले अथवा लाल रंग के रेशम के चमकीले वसन धारण करती थी।

पशु-वध क्रूर, नृशंस और घृणास्पद माना जाता था। खाद्य-सामग्री की बनी हुई पशुओ की प्रतिमूर्तियो को प्राणधारियो के लिए स्थानापन्न करने की प्रथा तथा निरपराध गाय को न मारने की धारणा में प्राणिमात्र के प्रति बढती हुई दया के भाव की आभा झलकती है और इसीलिए मास का प्रयोग दिन-प्रति-दिन कम होता जा रहा था। फिर भी यूनानी निरीक्षको के अनुसार उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के भारतीयो का भोजन चावल और स्वादिष्ट परिपक्व मास था जो मेज पर स्वर्णिम थालो में परोसा जाता था। जब लोग खुले मे खाते थे तब एक ही साथ भोजन करने की प्रथा प्रचलित थी। धार्मिक समारोहो और उत्सवों के अतिरिक्त मद्यपान की प्रथा का विशेष प्रचार नही था।

घर मे सबसे वृद्ध व्यक्ति ही परिवार का स्वामी होता था। वही परिवार के अन्य सदस्यो की देखभाल करता था। सन्तानोत्पत्ति पर बड़ा समारोह मनाया जाता था और नवजात शिशु के माता-पिता को विविध उपहार दिये जाते थे, परन्तु पुत्र-जन्म पर जो आनन्दोत्सव मनाया जाता था, वह पुत्री-जन्म पर नही। अतिथि-सत्कार गृहस्थ का कर्तव्य माना जाता था।

इस युग मे स्त्रियों की स्थिति मे वैदिक युग की अपेक्षा अधिक पतन हो चुका था। समाज मे उनकी स्थिति इतनी उपाश्रित थी कि स्वय गौतम बुद्ध अपने सघ मे नारियो को प्रवेश करने के विषय मे परागमुख थे। यद्यपि रूढिवादी कानूनज्ञो ने विधवाओ को चिता में जल मरने की स्वीकृति नही दी थी, परन्तु उत्तर-पश्चिम मे सती-प्रथा से लोग अवगत थे, क्योकि यूनानी लेखको ने एक भारतीय सेनापति की विधवा का उल्लेख किया है जो पाणिग्रहण के समय के समान शानदार शृगारो से अलकृत होकर चिता मे स्वयं जलकर भस्म हो गयी थी। सिकन्दर के समकालीन लेखको ने वर्णन किया है कि नारियाँ रण मे खेत रहे अपने सम्बन्धियों के अस्त्र-शस्त्र लेकर पुरुषो से कन्धे से कन्धा भिडाकर अपने देश के शत्रुओ के विरुद्ध लडती थी। स्त्रियो को शिक्षा से वचित नही किया जाता था। कुछ नारियाँ तो अपने ज्ञान, विद्वत्ता और तर्क-विद्या के लिए प्रसिद्ध थी। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ राजकुमारियो द्वारा रचित कुछ छन्दो का उल्लेख करते हैं और ये 'थेरी गाथा' मे अभी भी सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त नारियाँ नृत्य और सगीतकला मे कुशल थी। अल्प-अवस्था मे विवाह का प्रचलन था। अनेक कुमारियो के स्वयवर के दृष्टान्त, जो उपलब्ध हुए है, इस बात के द्योतक है कि उस युग मे स्वयवर-प्रथा प्रचलित थी, पर्दा-प्रथा का कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता। केवल राजकुल की स्त्रियाँ पर्दायुक्त पालकी या सवारियो पर जाती थी परन्तु कभी-कभी वे इस नियम की अवहेलना भी करती थी। स्त्रियो को पूर्णरूपेण स्वच्छन्दता थी। यदि राजमहलो की रानिया स्वतन्त्रता से घूमती और मन्त्रियो से विचार-विनिमय करती थी, तो साधारण स्त्रियां मेलो, उत्सवो और समारोहो मे सम्मिलित होती थी। कुछ स्त्रियो के वैराग्य लेने तथा भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करने के विवरण प्राप्त हुए है। ये परिव्राजिकाएँ विदुषी तथा बुद्धिमान होती थी एव ससार से निर्लिप्त होकर धर्मोपदेशको के सत्सग का लाभ उठाती थी।

समाज जाति-प्रथा के आधार पर व्यवस्थित था। बुद्ध और महावीर का उपदेश कि किसी व्यक्ति की जाति जन्म से ही निर्दिष्ट नही होनी चाहिए, सर्वसम्मति से स्वीकृत नही हुआ था। सामाजिक भेद-भाव दृढ होते जा रहे थे और इस युग के अन्त मे यूनानी लेखको ने लिखा है कि अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध थे और सामाजिक

प्रथाओं के अनुसार धन्धे और जाति-परिवर्तन की अनुमति थी, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह कभी-कभी राजवंश के तथा उच्च श्रेणी के लोगों में होते थे। बौद्ध लेखकों ने दस्युओ, जाति-बहिष्कृत व्यक्ति और आदिवासियो के अतिरिक्त, चार 'वर्ण एवं अनेक निम्न श्रेणी की जातियो और व्यवसायो ('हीन' जाति और 'हीन' शिल्प) के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यद्यपि बौद्ध ग्रन्थ यह प्रकट करते है कि जाति-प्रथा अत्यन्त हीन या अस्पर्श्य जातियों सहित समाज मे घर कर गयी थी, तो भी वे इस बात का उल्लेख करते हैं कि विवाह-प्रथा, एक पत्तल मे भोजन करने की प्रणाली और व्यवसाय-परिवर्तन के जाति-नियमो मे कुछ परिवर्तनशीलता थी। ब्राह्मणों ने राजवंश की स्त्रियो से विवाह किये थे। राजकुमार, पुरोहित और विक्रेता एक साथ भोजन करते और परस्पर विवाह करते थे, ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी जाति और सामाजिक सम्मान के खोये बिना ही कृषि-कर्म करते, व्यापार करते, और भृत्य (नौकर) का कार्य करते थे। अतएव यह स्पष्ट है कि सामाजिक जाति विभाग और आर्थिक व्यवसाय परस्पर पूर्ण रूप से समावृत नही होते थे, यद्यपि बौद्ध ग्रन्थ यह प्रमाणित करते है कि शिल्पकारों, विक्रेताओं और व्यवसायियों मे अपने पूर्वजो के धन्धे को अपनाने का स्वाभाविक अनुराग था।

आर्थिक दशा

अधिकतर लोग पास-पास सटे हुए ग्रामो मे रहते थे और शान्तिपूर्वक कृषि-कर्म करते थे। गाँव के चतुर्दिक बाहर की ओर खेत (ग्राम-क्षेत्र) होते थे। सींचने वाली नाली-नालियो द्वारा खेत अनेक टुकडों मे विभक्त होते थे। प्रायः खेतों के भाग छोटे ही होते थे यद्यपि बड़े टुकडों का अभाव न था। प्रत्येक परिवार के अपने खेत होते थे जो उसके स्वामी और उसके पुत्रो अथवा उनके द्वारा लगाये हुए श्रमिको द्वारा जोते जाते थे। ग्रामो मे विशाल भूमि वाले जमीदारो, भिखारियों और अत्यन्त दरिद्र व्यक्तियो का कोई उल्लेख नही है। चावल, जौ और गन्ने की उपज मुख्य थी। गाँव के शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था ग्राम के मुखिया, ग्रामभोजक, के अधिकृत गाँव की परिषद् करती थी। ग्रामभोजक गाँव की परिषद् या पंचायत द्वारा चुना जाता था, न कि प्रदेश के राजा द्वारा। ग्रामभोजक ही राज-कर की, जो भूमि की उपज का छठे से बारहवे भाग तक होता था, वसूली के लिए उत्तरदायी था। यह राज-कर अनाज के रूप में एकत्र किया जाता था और देश के अनेक भागो मे स्थित अन्न-गोदामों में अकाल या शुष्कता के विरुद्ध सुरक्षा के हेतु सगृहीत किया जाता था। गाँव के कृषक साधारणतया सन्तुष्ट होते थे। उनमें सार्वजनिक हित के लिए सहयोगपूर्ण जीवन-प्रणाली और दृढ नागरिक भावना का विकास हो चुका था। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ यह उल्लेख करते है कि स्वस्थ शरीर वाले समस्त ग्रामीण तालाबो, सडको, सिचाई की नहरो आदि सार्वजनिक हित के कार्यों में परस्पर सहयोग देते थे। देहाती जनता मे ग्राम-कृषकों के अतिरिक्त बहुसंख्यक 'गोपालक' होते थे जो पशुओं को चराया करते थे। इनकी नियुक्ति राजकीय पशुओ की रक्षा करने के हेतु और ग्रामीणों के पशुओं के समूहो को ग्राम के सार्वजनिक चरागाहो पर ले जाकर चराने के लिए होती थी। साधारणत. गाँव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय करता था और वहाँ जीवन सादा, सरल और स्वाभाविक था तथा ग्रामीण सुखी और सन्तुष्ट थे। अपराध विरले ही होते थे।

देहात और नगर दोनो क्षेत्रो की आवादी का वहुसंख्यक भाग हस्त-शिल्पकारो का था । व्यवसायो की संख्या अधिक थी और इनमे हाथीदाँत का कार्य करने वाले, जुलाहे, चित्रकार और पाषाण-कार्य के शिल्पियो की कमी न थी । कुछ शिल्पकलाएँ और व्यवसाय उनके कार्य की वृत्ति के अनुसार उच्च और निम्न श्रेणी के माने जाते थे । उदाहरण के लिए, शिकारी, मछुए, चर्मकार, कसाई, सँपेरे, सगीतज्ञ, नृत्य और अभिनय करने वाले, आभूषणो व रत्नो का कार्य करने वाले, हलवाई, धातुकार, कुम्हार, माली, नाई, धनुष-बाण वनाने वाले आदि की अपेक्षा निम्न श्रेणी के माने जाते थे । शिल्प-कलाओ में लोग पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुके थे । कुछ व्यवसायो मे अत्यधिक विशिष्टीकरण हो चुका था । परन्तु वे व्यवसाय स्थानीय थे और कुछ परिवारों तक ही सीमित थे । साधारणत पेशे कुलागत हो चुके थे, फिर भी दूसरो के पेशे अपनाने मे कोई असुविधा नही थी, क्योकि वर्ण या जाति के अनुकूल सर्वदा व्यवसाय या वृत्ति चुनने की अनिवार्यता न थी । यही कारण है कि कभी-कभी जुलाहे को धनुर्धर वनते, क्षत्रिय को कृषि करते और ब्राह्मण को सुनारी, पशुपालन या वाणिज्य-व्यवसाय करते पाया गया है । एक ही धन्धा करने वाले लोग वहुधा अपने को शिल्प-सघ या 'श्रेणी' मे सगठित करते थे । इनमे से प्रत्येक का एक सभापति होता था जिसे 'प्रमुख,' 'ज्येष्ठक' या 'श्रेष्ठिन' कहते थे । 'महाश्रेष्ठिन' सर्वोपरि प्रधान और 'अनुश्रेष्ठिन' उपप्रधान भी होते थे । कभी-कभी विविध श्रेणियाँ या सघ अपनी रक्षा, उन्नति व लाभ के लिए एक ही प्रधान के नीचे सगठित हो जाती थी । शिल्पी और व्यापारियो के सघ या श्रेणियाँ प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले (उम्मीदवार) भी रखती थी जिन्हे 'अन्तेवासी' कहते थे । जातक मे व्यापारियों के सघो के वीच उद्योग तथा व्यापार के हेतु विस्तृत साझे के हवाले है ।

देशी और विदेशी व्यापार अत्यन्त प्रगति की दशा मे था । वाणिज्य-व्यापार के लिए भारत के अनेक भागो मे व्यापार के प्रमुख केन्द्रो को जोडते हुए अनेक वणिक-पथ थे । एक वडा लम्वा वणिक-पथ श्रावस्ती, नालन्दा, राजगृह जैसे औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रो को तक्षशिला के समृद्धिशाली नगर से होता हुआ मध्य और पश्चिमी एशिया से जोडता था । दूसरा पथ राजगृह से अवध मे श्रावस्ती होता हुआ दक्षिण गोदावरी के तट तक जाता था । तीसरा जो अधिक दुर्गम था राजस्थान की मरुभूमि से होता हुआ सिन्धु-घाटी के निम्न प्रदेश मे सौवीर वन्दरगाहो को और दक्षिण के ऊपरी भाग मे नर्मदा के मुहाने तक जाता था । इन पथो की प्रशाखाएँ श्रावस्ती, उज्जैन, कौशाम्वी और वाराणसी को, जो समृद्धिशाली व्यापारिक केन्द्र थे, जोडती थी, विनय-पिटक मे पूर्व से पश्चिम को गगा मे जाने वाले प्रमुख जलमार्ग का विवरण है । यह मार्ग गगा किनारे शहजती पर समाप्त होकर फिर जमुना नदी मे होता हुआ कौशाम्वी तक पहुँचता था । व्यापारिक वस्तुओ को लद्दू पशुओ और वैलगाडियो मे ले जाते थे । इनकी दीर्घ पक्तियाँ किराये के सशस्त्र सैनिको के सरक्षण मे आगे वढती थी । यात्री और व्यापारीगण अपनी यात्रा अनेक मजिलो मे पूर्ण करते थे । राजस्थान की मरुभूमि को पार करते हुए सार्थवाह (कारवाँ) शीतल रात्रि के समय नक्षत्रो की गति जानने वाले पथ-प्रदर्शको का अनुसरण करते थे । इन राजमार्गो पर डकैतियाँ अधिक होती थी, विशेषकर निर्जन मार्ग पर व्यापारिक वस्तुएँ लेकर चलना तो भयपूर्ण था ।

भारत से वाहर के देशो के साथ स्थानीय और सामुद्रिक दोनो मार्गो से व्यापार होता था । भारत का विदेशी व्यापार एशिया के वड़े स्थलमार्ग से होता था

जो गान्धार देश के तक्षशिला नगर और मध्य एशिया से होता हुआ भूमध्यसागर के तट तक जाता था। अरव और पाश्चात्य देशो के साथ भारतीय व्यापार फारस की खाड़ी और लाल समुद्र के जलमार्ग से होता था। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थो मे इस वात का प्रमाण है कि भारत का समुद्री व्यापार सिंहलद्वीप (लंका), वर्मा, सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप से वगाल की खाडी के जलमार्ग से होता था। भारतीय इन देशों का समुद्री यात्राएँ और व्यापार के हेतु देशाटन करते थे। भृगुकच्छ (आधुनिक भडौच), सूरपरक (सोपारा, वम्वई के उत्तर मे), ताम्रलिप्ति (पश्चिम वंगाल में तामलुक) प्रसिद्ध वन्दरगाह थे। जमुना-तट पर कौशाम्वी, सरयू पर अयोध्या, ताप्ती पर श्रावस्ती, गोदावरी पर पोतना, गगा पर काशी, चम्पा और वाद मे पाटलिपुत्र और सिन्धु पर पट्टल नदीतट के वन्दरगाहों मे से विशेप उल्लेखनीय है।

निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ, रेशम, मलमल, किमख्वाव, चाकू-कैंची, कसीदे, कढे हुए वस्त्र, कम्वल, सुवासित द्रव, औपधियाँ, हाथीदाँत और हाथीदाँत का सामान, सोने-चाँदी के रत्नजटित आभूपण आदि थे। इनके व्यवसाय से सौदागर अनन्त धन अर्जित करते थे। यद्यपि वस्तु-विनिमय की प्रथा सर्वथा विलुप्त नही हुई थी, परन्तु सिक्को का प्रचलन क्रय-विक्रय के माध्यम के लिए हो चला था। मूल्य की सर्वमान्य इकाई ताँवे का सिक्का था, जिसको 'कर्पापण' कहते थे। इसका वजन 146 ग्रेन से कुछ अधिक होता था। चाँदी का कर्पापण 58 ग्रेन से थोडा-सा कुछ अधिक होता था। इसके अतिरिक्त 'निक्ख' (निष्क) और 'सुवरण' (सुवर्ण) नाम के सोने के सिक्के भी होते थे। ताँवे के छोटे सिक्क 'मासक' और 'काकनिक' कहलाते थे। इन सिक्को का वजन और मूल्य, ऐसा प्रतीत होता है, विभिन्न भागों मे भिन्न-भिन्न था। परन्तु वहुत विशाल नगरो के सिवाय सिक्कों का प्रयोग वहुत अधिक नही था। व्यापारी अथवा महत्त्वशाली व्यावसायी-वर्ग श्रेणियाँ इन सिक्खो पर वजन आदि नियमित करने के लिए अपने चिह्न छाप देती थी।

धर्म—धार्मिक दृष्टि से मगध-उत्कर्ष के प्रारम्भिक दिन भारतीय इतिहास में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थे। ब्राह्मण धर्म मे महान परिवर्तन हुए। इस धर्म में अनेक सम्प्रदायों के अतिरिक्त नवीन सुधारवादी-आन्दोलन इस धर्म की दूपित प्रथाओं को दूर करने के लिए अधिक गतिशील हो गये। इसका विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

प्रश्नावली

1. भारत के ईरानी आधिपत्य का हाल लिखिये। हिन्दू संस्कृति पर इसके अस्थायी अवशिष्ट चिह्नों का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिये।
2. "सिकन्दर के भारतीय युद्ध के सास्कृतिक महत्त्व की अतिशयोक्ति और कम मूल्याकन दोनों ही हो गये है।" विवेचन कीजिये।
3. सिकन्दर के आक्रमण ने कहाँ तक भारत के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन को प्रभावित किया है ?
4. यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय भारतीय सास्कृतिक जीवन का क्या विवरण लिखा है ?
5. मौर्यों के पूर्व के युग के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन कीजिये।

7

साम्राज्यों का युग

मौर्य साम्राज्य और महत्त्व (322 से 185 ईसा पूर्व)

प्राचीन भारत के राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए मौर्यकाल विशेष अभिरुचि का है। भारत के राजनीतिक इतिहास मे मौर्य वश से नव-युग का श्री गणेश होता है। इतिहासकारो के लिए मौर्यो का आगमन अन्धकार से प्रकाश का मार्ग है। इसी मौर्यकाल मे ही समस्त भारत को सर्वप्रथम एक ही छत्र और शासन के अन्तर्गत एक सूत्र मे सगठित कर दिया गया था। मौर्य साम्राज्य के सस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने पजाब और सिन्धु से यूनानी सैन्यो को खदेडकर उत्तरी भारत मे एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसे उसने और उसके उत्तराधिकारियो ने एक शताब्दी से भी अधिक वर्षो तक सफलतापूर्वक बनाये रखा। यह राजनीतिक एकता कालविज्ञान-ज्ञान को अधिक ठीक और स्पष्ट कर देती है और इतिहासकार इससे आगे देश का श्रृखलाबद्ध विवरण प्रस्तुत कर सकता है एव विविध नगण्य छोटे-छोटे राज्यो की अस्त-व्यस्तता की भूलभूलैयो मे अपने को विलुप्त नही कर सकता। इस प्रकार राजनीतिक एकता से सास्कृतिक और ऐतिहासिक एकता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त मौर्य राजवश की छत्रछाया मे ही शासन की एक-सी प्रणाली, जिसकी दक्षता की प्रशसा वर्तमान लेखकों ने मुक्तकण्ठ से की है, समस्त विशाल मौर्य साम्राज्य मे स्थापित की गयी। चन्द्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियो के एक-से शासन के फलस्वरूप देश की सास्कृतिक उन्नति भी सुलभ हो सकी।

मौर्य सम्राटो ने विश्व के अन्य सुसस्कृत शासको, जैसे सीरिया के सिल्यूकस, मिस्र के टाल्मी, मेसिडोनिया के अस्टीगोनस, लका के तिस्सा और नेपाल के राजाओ से अपने राजनीतिक और सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इस सम्पर्क से भारतीय और पश्चिमी सस्कृति का परस्पर हेल-मेल बढा। मौर्यकाल मे ही भारत पृथ्वी के दूरस्थ प्रदेशो मे अपनी सभ्यता, सस्कृति और धर्मप्रसार के हेतु प्रचारक भेजकर विश्व का अग्रगामी सास्कृतिक दूत बन गया। अशोक के धार्मिक उत्साह ने धर्म के अनेक दूतो को प्रेरणा दी कि वे भारत की सीमा के पार जाकर मनुष्यमात्र का कष्ट निवारण कर वास्तविक मानव-सेवा का कार्य करे। प्राकृतिक और भौगोलिक सीमाओ को न मानने वाली अशोक की धार्मिक नीति और सहिष्णुता विश्व-बन्धुत्व पर निर्भर थी। इस प्रकार मौर्यो की छत्रछाया मे भारत ने शान्ति, बन्धुत्व और सास्कृतिक एकता के आधार पर एक नवीन विश्व के निर्माण का प्रयास किया। अन्त मे मौर्य-युग मे भारत ने निरन्तर शान्ति का आनन्द उठाया और परिणामस्वरूप देश मे वाणिज्य-व्यवसाय, विज्ञान, साहित्य और कला की प्रभूत प्रगति हुई।

मौर्य साम्राज्य

चन्द्रगुप्त मौर्य (322-298 ईसा पूर्व)—चन्द्रगुप्त मौर्य ने जो पिप्पलीवन के क्षत्रिय मौर्य वंश में से था, कौटिल्य की सहायता से अन्तिम नन्द-नरेश धननन्द का नाश कर दिया और समस्त उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्यूकस ने 305 ईसा पूर्व भारत पर आक्रमण किया था, पर चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर दिया। अतएव उसने हिरात से लेकर बलूचिस्तान तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिया। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त अपने पुत्र को सिंहासन दे उपवास और तप करके मृत्यु को प्राप्त हुआ। वह कुशल, प्रतिभाशाली योद्धा, प्रजाहितैषी शासक व सफल राजनीतिज्ञ था। विश्व के महान सम्राटों में उसका स्थान है।

बिन्दुसार (298-273 ईसा पूर्व)—चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार राजसिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल में तक्षशिला में विद्रोह हो गया परन्तु वह दबा दिया गया। अपने पिता चन्द्रगुप्त के समान ही उसने पड़ोसी यूनानी राजाओं और एशिया की अन्य शक्तियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखा। वह शक्तिशाली शासक था और उसने अपने पिता के साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाये रखा।

अशोक (273-233 ईसा पूर्व)—बिन्दुसार के बाद उसका पुत्र अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ। वह भारत के इतिहास में महान प्रतिभावान व्यक्ति है और उसका शासन भारतीय इतिहास में युग-प्रवर्तक है। उसने भारतीय जीवन में एक नवीन चेतना और भावना फूंक दी जो आज भी विद्यमान है। 273 ईसा पूर्व में सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व वह तक्षशिला और उज्जैन का प्रान्तीय शासक था। सन् 262 ईसा पूर्व में उसने कलिंग से युद्ध किया। इस युद्ध ने उसकी जीवनधारा के प्रवाह को दूसरी ओर पलट दिया। इस संग्राम में मनुष्यों का इतना संहार हुआ कि उसकी भीषणता और अवर्णनीय कष्ट ने विजेता अशोक के मर्म को छू लिया और वह इतना द्रवित हुआ कि उसने प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में युद्ध न करेगा वरन पवित्रता तथा धर्म के नियमों से जनता के हृदयों पर विजय प्राप्त करेगा। कलिंग-युद्ध के पश्चात गगनभेदी 'भेरी-घोष' सदैव के लिए मूक हो गया और 'धम्म-घोष' का शान्ति और सुखप्रद तथा नैहशिचित नाद चहुँ ओर दिग-दिगन्त में गूंज उठा। उपगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु के प्रभाव में अशोक ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया और बौद्ध धर्म का सबसे महान आश्रयदाता बन गया। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए कोई कसर न उठा रखी और उसी के सफल सतत प्रयासों के परिणामस्वरूप ही बौद्ध धर्म, जो एक साधारण सम्प्रदाय था, विश्वव्यापी सार्वभौमिक धर्म हो गया। वह शान्ति और नैतिक उदारता और मानवता का सबसे महान पुजारी था और वह विश्व-इतिहास के सबसे महान व्यक्तियों में से है।

अशोक के उत्तराधिकारी—अशोक के सशक्त करों से राजदण्ड के छूटते ही मौर्य वंश के भाग्य निम्नाभिमुख हो गये और उसके उत्तराधिकारियों में गड़बड़ हो गयी। अनुश्रुतियों के अनुसार उसके पौत्र दशरथ और सम्प्रति उसके उत्तराधिकारी हुए पर दोनों ही अपने प्रसिद्ध पितामह की केवल छायामात्र ही थे। उनका शासन लघुकालीन और महत्वहीन था। इनके उत्तराधिकारी तो अत्यधिक दुर्बल थे। इनके शासनकाल में मौर्य शक्ति गिरती ही गयी और अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ क

उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मार डाला और एक नवीन ब्राह्मण राजकुल की स्थापना की।

मौर्यो के पतन के पश्चात भारत मे राजनीतिक एकता विलीन हो गयी और भारत तथा अफगानिस्तान मे पुनः अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। मौर्यो के बाद शुंग नरेशों ने राज्य किया और शुगो के पश्चात कण्व राजाओ ने। कलिग एक स्वतन्त्र प्रान्त हो गया और चेतराज-कुल के खारवेल की छत्रछाया मे उसकी प्रभूत उन्नति हुई। दक्षिण मे आन्ध्र राज-वश शक्तिशाली हो गया और अफगानिस्तान मे, जो मौर्यो के अधीन था, इण्डो-ग्रीक राज्यों का उदय हुआ।

शुंग साम्राज्य और उसका महत्त्व (187-75 ईसा पूर्व)

पुष्यमित्र शुंग—पुष्यमित्र शुग ने मगध मे एक नये राजवश की नीव डाली जिसे शुग वंश कहते है और जिसने 112 वर्षो तक राज्य किया। वह सुदृढ़ शासक था और उसका साम्राज्य दक्षिण मे नर्मदा नदी तक विस्तृत था। वह समस्त मध्य देश का सार्वभौम सम्राट था। अतएव उसका अश्वमेध-अनुष्ठान करना न्यायसगत था। उसके शासनकाल में ही यूनानी नरेश मिनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किया था और पाटलिपुत्र को भयभीत कर दिया था, परन्तु उसे पराजित करके पीछे खदेड़ दिया गया। पुष्यमित्र हिन्दू था और ब्राह्मण धर्म का उत्साही संरक्षक था। अतएव उसके शासनकाल मे ब्राह्मण धर्म सक्रिय हो गया और बौद्ध धर्म का अहिसा का सिद्धान्त क्षीण हो गया।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी—पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अग्निमित्र हुआ जिसका पुत्र वसुमित्र उसके बाद सिहासनारूढ हुआ। वसुमित्र के सात उत्तराधिकारी हुए परन्तु वे समस्त अयोग्य थे। अन्तिम नरेश देवभूति का ईसा पूर्व 75 मे उसके मन्त्री वासुदेव कण्व द्वारा वध कर दिया गया और तब वह सिंहासन पर बैठा।

शुग संस्कृति, धर्म, साहित्य और कला—मौर्यो की दुर्बल, शान्त और बौद्ध राजसत्ता मे प्रतिरोधस्वरूप ब्राह्मणो ने जो विद्रोह किया था; शुग शासन उसी का परिणाम था। अतएव शुंग शासन ने ब्राह्मण धर्म, उसके यज्ञो की क्रिया-विधियो को ब्राह्मण की प्रभुता सहित पुनःस्थापना की और इस प्रकार बौद्ध धर्म को भारी आघात पहुँचाया। शुगो के समय मे साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रभूत उन्नति हुई। शुग नरेशो के संरक्षण मे सस्कृत में विद्वान पतंजलि ने व्याकरण पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा और इस प्रकार सस्कृत मे एक नवीन प्रेरणा दी। सम्भवत मनुस्मृति भी इसी काल मे रची गयी। वस्तुत ब्राह्मण धर्म और साहित्य के पुनरुद्धार का, जो गुप्त सम्राटो के शासनकाल मे पूर्णरूपेण विकसित हुआ था, शुगो के साहित्य के समय मे श्रीगणेश हुआ था। मध्य भारत के बेसनगर-स्तम्भलेख (विदिशा) से यह सिद्ध होता है कि शुगो के काल का हिन्दू धर्म आज की भाँति सकुचित न था, अपितु इसकी छाया मे विदेशी भी साँस ले सकते थे। भागवत धर्म का प्रचार विशेष रूप से था और इसके अनुयायियो की सख्या नित्यप्रति बढती जा रही थी।

इसके अतिरिक्त शुगकाल से भवन-निर्माणकला मे एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। मौर्य और पूर्व-मौर्य युगो के बौद्ध स्तूपो मे लकडी की रेलिग के स्थान पर पाषाण की रेलिग बनायी गयी एव भव्य पाषाण के प्रवेश-द्वारो का निर्माण किया गया। भरहुत स्तूप की रेलिग (Railings), जिसका निर्माण शुगकाल मे हुआ था,

इसका उदाहरण है। प्रवेश-द्वारो और रेलिग के स्तम्भों की तक्षणकला प्रकृति और जातक-ग्रन्थो की कहानियो का सुन्दर चित्रण करती है। यह भी कहा जाता है कि विदिशा के गजदन्त शिल्पियो ने ही साँची के असाधारण द्वार तोरण का निर्माण किया था। पूना के समीपवर्ती प्रसिद्ध विहार और इसके पास ही का चैत्य-हॉल, चट्टानो मे से कटे हुए स्तूपो के समूह, अजन्ता और नासिक के चैत्य-हॉल, अमरावती का स्तूप, बौद्ध-गया की सुन्दर रेलिग और मध्य भारत मे बेसनगर का गरुण-स्तम्भ तथा भरहुत स्तूप की सुन्दर रेलिग शुंग स्मारको और भास्करकला के अनुपम उदाहरण है।

कण्व-कुल (75-30 ईसा पूर्व)

शुंग राजवश के अन्तिम नरेश का वध करके वासुदेव ने कण्व या काण्वकुल की स्थापना की। यह राजवश अल्पकालीन था और इसमे वासुदेव के अतिरिक्त भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन नाम के तीन और नरेश हुए। इनका राज्य पाटलिपुत्र की सीमा तक ही परिमित था। इस वश के अन्तिम नरेश को आन्ध्र वश ने अलग कर दिया था। कण्व-वश केवल 45 वर्ष तक रहा और भारतीय सांस्कृतिक जीवन मे उसकी कोई उल्लेखनीय देन नही है।

सातवाहन या आन्ध्रों का साम्राज्य

आन्ध्र द्रविड लोगो के वश के थे और तेलगू भाषा बोलते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ये गोदावरी-कृष्णा नदी के मध्य के प्रदेश पर शासन करते थे और मौर्यों से शक्ति में थोडे कम ही थे। अशोक की मृत्यु के बाद अपने नरेश सिमुक के नेतृत्व मे ये स्वतन्त्र हो गये। यद्यपि सिमुक इस राजवश का संस्थापक था परन्तु इसे गौरव के शिखर पर पहुँचाने वाला शातकर्णी प्रथम था। वह बहुत शक्तिशाली सार्वभौम नरेश था जिसने विन्ध्या के आसपास के विस्तृत प्रदेशो पर शासन किया। इसकी मृत्यु के पश्चात सातवाहनों की शक्ति सिथियन आक्रमणो के कारण क्षीण हो गयी थी परन्तु ईसा पूर्व 30 मे, जब मगध के अन्तिम कण्व-नरेश सुशर्मन का आन्ध्र नरेश ने बध कर दिया, हमे पुनः सातवाहनों का हाल मालूम होता है। गौतमीपुत्र शातकर्णी ने सातवाहन-कुल के गौरव का पुन.स्थापना की। इसने महाराष्ट्र के नहपाण को पराजित किया, गुजरात और मालवा के प्रदेशो पर विजय प्राप्त की और एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो उत्तर मे मालवा से लेकर दक्षिण मे कन्नड प्रदेश तक विस्तृत था। यज्ञश्री (166-196 ई०) सातवाहन वश का अन्तिम शक्तिशाली नृपति था। उसके पश्चात आन्ध्रो का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उनकी प्रभुता 225 ई० मे सर्वथा लुप्त हो गयी।

तामिल देश—वैंकट पहाड़ियों के पार सुदूर-दक्षिण मे (तामिल या द्रविड देश) स्थित है जो अनेक राज्यो मे विभक्त था। इनमें से चेल, पाड्ड् और केरल राज्य प्रसिद्ध थे। वर्तमान तजौर और त्रिचनापल्ली के और उनके समीपवर्ती प्रदेशो पर चोलों का प्रभुत्व था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में इनकी सामरिक शक्ति बढी-चढी थी। एक चोल नरेश ने लका पर भी विजय प्राप्त की थी। पाड्य नरेशो ने जिन्होने मदुरा और टिनेवेल्ली के जिले तथा दक्षिण ट्रावनकोर के भाग पर अपना अधिकार कर लिया था, ज्ञान, वाणिज्य और व्यापार मे प्रभूत प्रगति की थी। ईसा पूर्व प्रथम सदी मे एक पाड्य नरेश ने रोमन सम्राट ऑगस्टस के पास अपना दूत भेजा था।

केरल राज्य, जिसमें मलावार-कोचीन और उत्तरी ट्रावनकोर थे, पाड्य-राज्य के उत्तर व पश्चिम मे था।

इण्डो-ग्रीक (Indo-Greek) शासन (190-50 ईसा पूर्व)—मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारत की राजनीतिक एकता विलुप्त हो गयी और लगभग दो सदियों तक उत्तर-पश्चिमी भारत इण्डो-ग्रीक-नरेशो के आधिपत्य में रहा। ईसा पूर्व 250 मे वैक्ट्रिया स्वतन्त्र हो गया और उसके शासक डैमिट्रियस ने मगध साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त को जीत लिया और 190 ईसा पूर्व में वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। जब वह भारत मे अपने भाग्य-निर्माण मे सलग्न था, वैक्ट्रिया मे विद्रोह हुआ और युक्रेटाइड्ज ने एक नवीन राजवश की स्थापना की और इसने कावुल तथा पंजाव मे भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस, प्रकार पजाव दो भागो मे विभाजित हो गया—झेलम नदी के पूर्व का प्रदेश डेमिट्रियस के राजकुल के अधिकार मे था और उसके पश्चिम का हिन्दूकुश पर्वत तक का भाग युक्रेटाइड्ज के वश के अधिकार मे था। डेमिट्रियस के राजवश का राजा मिनेण्डर इण्डो-ग्रीक नरेशो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व शक्तिशाली था। पाटलिपुत्र तक उसका प्रभुत्व था। वह धर्म-परायण वौद्ध धर्मावलम्वी था और वौद्ध अनुश्रुतियो में वह मिलिन्द नाम से प्रसिद्ध है।

पार्थियन और शाक्य या सिथियन—वैक्ट्रियन विद्रोह के साथ ही पार्थिया स्वतन्त्र हो गया। मिथिडेट्ज भारत पर आक्रमण कर झेलम और सिन्ध नदी के बीच के प्रदेश पर शासन करने वाला प्रथम पार्थियन नरेश था। इण्डो-पार्थियन शासन ईसा की प्रथम सदी मे विलुप्त हो गया।

शक या सिथियन घुमक्कड़ जाति थी जिसे यूची जाति ने भारत की ओर खदेड दिया था और इन शको ने इण्डो-ग्रीक राज्यों का नाश कर दिया और अपनी सत्ता स्थापित कर ली। ईसा पूर्व दूसरी सदी के मध्य मे शको ने भारत मे अपने शासन की नीव डाल दी—तक्षशिला और मथुरा उनके उत्तरी शासन के केन्द्र थे और गुजरात तथा मालवा उनके पश्चिमी सत्ता के केन्द्र थे। पश्चिम के शको का, जिन्हे पाश्चात्य क्षत्रप कहते हैं, दक्षिण के आन्ध्र नरेशो से दीर्घ काल तक नियमित रूप से सघर्ष चलता रहा और बाद मे गुप्त सम्राटो के सशक्त आक्रमण के आगे उनके घुटने टिक गये। गुजरात के पाश्चात्य क्षत्रपों के भूमक और नहपाण दो प्रसिद्ध शासक थे और रुद्रदमन मालवा मे उज्जैन का शक्तिशाली क्षत्रप नृपति था। भारतीय कला और सस्कृति को जो सरक्षण शको ने दिया, वह वास्तव मे वर्णनीय है।

भारत मे कुषाण साम्राज्य—वैक्ट्रिया, कावुल और पजाव में जो यूनानी शासन और सत्ता थी, उसे शको ने छिन्न-भिन्न कर दिया परन्तु शको के राज्यो को कुषाणो ने, जो प्रसिद्ध घुमक्कड जाति यूची एक शाखा थी, ग्रस लिया था। 40 ई० मे कुषाणो ने अन्य जातियो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और उनका प्रथम नृपति कडफिसीस प्रथम (25-78 ई०) था। उसके उत्तराधिकारी कडफिसीस द्वितीय (78-120 ई०) ने अपना राज्य उत्तरी भारत के अधिकाश प्रदेशो तक वढा लिया था। उसके वाद कनिष्क (120-162 ई०) सिंहासनारूढ हुआ जो कुषाण नरेशों मे सवसे अधिक महत्त्वशाली था। उसने पेशावर को अपनी राजधानी वनाया और पूर्व मे वाराणसी तक, उत्तर मे तुर्किस्तान तक, दक्षिण-पश्चिम मे मालवा और गुजरात के प्रदेशो तक दिग्विजय की। अशोक के समान, ही वह वौद्ध धर्म का महान सरक्षक था और उसने कश्मीर मे वौद्ध धर्म की महान सभा आमन्त्रित की जिसने वौद्ध

धार्मिक ग्रन्थों का पुनः अधिकृत प्रणयन किया। उसके शासनकाल में बौद्ध धर्म में महान परिवर्तन हुआ और महायान मत का प्रादुर्भाव हुआ। वह वास्तुकला और स्थापत्यकला का बडा प्रेमी था। फलतः कला के क्षेत्र मे एक नवीन, गान्धार-शैली का आविर्भाव हुआ। उसने पेशावर में एक स्मारक-स्तम्भ बनाया और कनिष्कपुर नाम का एक नगर बसाया। उसकी राजसभा मे नागार्जुन, अश्वघोप, वसुमित्र और चरक जैसे मेधावी पुरुप थे। कनिष्क का उत्तराधिकारी हुविष्क था जो 162 ई० मे सिंहासनारूढ हुआ। परन्तु हुविष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के राज्यकाल में कुपाण साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था। नाग-राजवंश की दो लोकप्रिय प्रशाखाओ के उत्कर्प के कारण कुपाण साम्राज्य विलुप्त हो गया।

मौर्य-युग में सभ्यता और संस्कृति

मौर्य-युग की शासन-व्यवस्था—मौर्यों का शासन जनहितवादी निरकुश शासन-सत्ता थी। मौर्य नरेश फारस के नृपति डेरियस के समान निरंकुश स्वेच्छाचारी शासक नही थे और न उनके कोई दैवी अधिकार ही थे। उनके कार्य आर्यावर्त के साधारण कानूनो तथा मन्त्रियो के परामर्श से सीमित थे।

केन्द्रीय शासन—राजा—केन्द्रीय शासन मे राजा प्रधान था। वह समस्त सत्ता का स्रोत था। उसके कर्तव्य विविध प्रकार के थे और उसकी सत्ता विस्तृत थी। वह न्याय, कानून और सेना का प्रधान था। इनमें उसका विधान और आदेश अन्तिम व अनिवार्य था। वह उच्चस्थ कर्मचारियो की नियुक्ति करता, नीति निर्धारित करता और राज्याधिकारियों के लिए आदेश देता था। यद्यपि उसके हाथों में विस्तृत राजसत्ता थी परन्तु वह सदैव अपने को प्रजा का दास मानता था और प्रजा-कल्याण करने का कार्य सतत करता रहता था।

मन्त्रि-परिषद् और शासन-सेवा के अधिकारी—राजा अपने शासन-सचालन और कर्तव्य-कार्य मे मन्त्रि-परिपद से सहायता लेता था। ये मन्त्री राज्य के 'आमात्य' नामक अधिकारियों में से चुने जाते थे। शासन-संचालन के लिए एक अत्युत्तम और सुव्यवस्थित सचिवालय था जिसमे अनेक विभाग थे। शासन के विविध विभाग उच्च पदस्थ कर्मचारियो के निरीक्षण मे कार्य करते थे। 'आमात्य' नाम के विशेप अधिकारी शासन-सेवा मे थे। सभी उच्च पदो पर इनकी ही नियुक्तियाँ होती थी। इसके अतिरिक्त 'अग्रनोमी' (जिला अधिकारी), 'अस्टयनोमी' (नगर के अधिकारी), देहात के हित के लिए 'राजुक', जिलो के लिए 'प्रादेशिक' एव अन्य उच्च कार्यो के लिए 'महामात्र' या 'महामात्य' नामक अधिकारी होते थे। प्राचीन परम्परागत अठारह 'तीर्थ' या विभागाध्यक्ष होते थे जिनमे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज प्रमुख होते थे। अशोक ने धर्म-प्रचार के हेतु 'धर्म महामात्र' नामक अधिकारियो की एक नवीन श्रेणी निर्मित की थी।

प्रान्तीय शासन—सुविस्तृत होने के कारण शासन की सुविधा व दक्षता के लिए साम्राज्य अनेक प्रान्तो मे विभक्त था। तक्षशिला उत्तरी प्रान्त, उज्जैन पश्चिमी प्रान्त, स्वर्णगिरि दक्षिण प्रान्त, और तोशाली पूर्वीय प्रान्त के केन्द्र थे। इन प्रान्तो का प्रबन्ध राजकुलीन व्यक्ति या सम्राट द्वारा नियुक्त अधिकारी करता था जिन्हे 'कुमार' कहते थे। उसे राजा की ओर से शासन और नीति सम्बन्धी विस्तृत आदेश दिये जाते थे। शासन का कार्य क्रमागत अध्यक्षों का वर्ग (नौकरशाही) करता था।

प्रत्येक प्रान्त जिलो और ग्रामो मे विभक्त था। जिले का अधिकार 'स्थानिक' और ग्राम का अधिकारी 'गोप' कहलाता था।

चर-प्रथा—मौर्य साम्राज्य मे चर-प्रथा या जासूस-प्रथा का विस्तृत और सुदृढ जाल बिछा हुआ था। शासक के अधिकारियों पर कड़ी दृष्टि रखने के हेतु गुप्तचर नियुक्त थे। इससे राजा को हर बात की खबर मिलती रहती थी और फलतः वह समीपस्थ और दूरस्थ अधिकारियों के शासन का व्यक्तिगत निरीक्षण करने मे समर्थ था। इसके अतिरिक्त चर-कार्य की व्यवस्था सुदूर प्रान्तो की प्रजा की कर्मचारियों की धाँधली से रक्षा करने मे सहायक हुई होगी।

न्याय-दान—यद्यपि मौर्य नरेश न्याय-विभाग का प्रमुख था, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों और नगरो मे विविध प्रकार के विशिष्ट न्यायालय को 'धर्मस्थेय' कहते थे। देहातो मे छोटे मुकदमे ग्राम के वृद्ध पुरुषो की सहायता से ग्राम का प्रधान—ग्रामिक—करता था। अशोक ने न्याय-विभाग मे न्याय-दान के सम्बन्ध मे अनेक सुधार किये ये। मृत्यु-दण्ड पाये हुए व्यक्ति को दया की याचना करने के लिए या आध्यात्मिक रूप से मृत्यु की तैयारी करने के लिए तीन दिवस की अधिक अवधि दी जाने लगी थी। निष्पक्ष न्याय के लिए और भ्रष्टाचार को रोकने के हेतु अशोक ने न्यायालय के निरीक्षक नियुक्त किये थे। तत्कालीन दण्ड-नीति अत्यन्त ही कठोर थी और उसे दृढतापूर्वक कार्यान्वित किया जाता था। साधारणतः अभियुक्त जुर्माने से दण्डित होते थे, परन्तु भीषण दण्डो का अभाव न था। झूठी गवाही देने, सरकारी कर को टालने, शिल्पी की अंग-हानि करने, विश्वासघात और व्यभिचार करने का दण्ड अगच्छेद और प्राणदण्ड था। अभियुक्तो और अपराधियो से अपराध स्वीकार कराने के लिए विविध यातनाओं का प्रयोग होता था। निस्सन्देह यह दण्ड-नीति कठोर थी पर इससे शान्ति और व्यवस्था बनी रही और इस नीति की कठोरता ही अपराधो के अवरोध में पर्याप्त सफल हुई। फलतः मेगस्थनीज के अनुसार लोग अपने गृहो मे ताले नही लगाते थे।

सैनिक व्यवस्था—मौर्य सेना अत्यन्त ही सुव्यवस्थित थी। यह पूर्ण रूप से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी और अनुशासन का बहुत ध्यान रखा जाता था। नरेश स्वयं सेना का नेतृत्व करता था और युद्ध-स्थल मे उपस्थित रहता था परन्तु अन्तिम मौर्य नरेश के समय यह कार्य सेनापति करने लगा था। सेना मे पैदल सिपाही, अश्वारोही, हाथी, माल ढोने वाला विभाग और जहाजी बेड़ा होता था। रथो को सशक्त बैल चलाते थे और उनमे दो सेनानी और एक चालक होता था। हाथियो पर महावत के अतिरिक्त तीन धनुर्धारी होते थे। यूनानी लेखकों के अनुसार मौर्य सेना में अश्वारोही और हाथियों की टुकडी विशेष रूप से सशक्त होती थी और रण-क्षेत्र में विजय इन पर ही निर्भर रहती थी। सेनानियो के प्रशिक्षण के हेतु विस्तृत नियम थे और सेना मे रुग्ण तथा घायलो का विशेष ध्यान रखा जाता था और इसके लिए सेना मे डॉक्टरों और नर्सों की एक टुकडी होती थी। सेना का समस्त नियन्त्रण नरेश द्वारा नियुक्त सेनापति के हाथो मे था। सेना की सुव्यवस्था के लिए सेना का दफ्तर था जिसके तीस सदस्य होते थे और जो पाँच सदस्यो के छह मण्डलो मे विभाजित थे। जल-सेना, सेना का माल ढोने वाला विभाग और सेना को रसद पहुँचाने वाला दफ्तर मौर्यो के नवीन प्रवर्तन थे। राज्य सेना तथा व्यापार-वाणिज्य के लिए बन्दरगाहो, घाटो, पुलो और जहाजो की देखभाल करता था।

राज्य की आय—धान्य और मुद्राएँ दोनों के रूप में ही कर लगाये जाते थे और स्थानीय अधिकारियो द्वारा संगृहीत किये जाते थे। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था और यह भूमि की कुल उपज का चतुर्थांश होता था। इसके अतिरिक्त आय के अन्य साधन विक्रय-कर, मदिरा पर कर, वन-सीमाओ पर कर, खानो पर कर, जल में से मोतियो के निकालने और मछलियो के पकडने के लिए कर, सिंचाई का कर, दण्ड के जुर्माने, विशेषज्ञो से शुल्क (Licence Fees) तथा घाटों और पुलो के कर होते थे। मौर्यो की कर-प्रणाली आज की भारतीय कर-प्रणाली से सैद्धान्तिक रूप से भिन्न नही है। चाणक्य की ही आय-प्रणाली अंग्रेजी शासन तक चली आयी और उन्होने उसे समुचित रूप से परिपूर्ण कर दिया।

सिंचाई-व्यवस्था—मौर्य शासन ने सिंचाई के लिए नियमित विभाग स्थापित किया था जो सिंचाई के साधनो की देखभाल करता, सिंचाई होने वाली भूमि को नापता, खेतो मे सिंचाई के लिए पानी देने की मात्रा निर्धारित करता और नहरो का निरीक्षण करता था। नहरों से पानी के लिए कृषकों को कर देना पड़ता था। नहरों, तालावो का निर्माण और उनकी व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य माना जाता था। गिरनार मे सुप्रसिद्ध सुदर्शन झील चन्द्रगुप्त के शासनकाल मे प्रान्तपति पुष्यगुप्त के निरीक्षण मे निर्मित की गयी थी और सम्राट अशोक के समय प्रान्तपति तुशाष्फ ने इसी झील मे से नहरे निकाली थी।

आवागमन के साधन—मौर्य शासन के विविध विभागो मे सड़को का भी एक विभाग था जो जन-मार्गो की व्यवस्था करता, यात्रियो के लिए धर्मशालाओं की देखभाल करता और नदियो पर पुल वनाने आदि का कार्य करता था। सड़कें लगभग 10 मीटर चौडी थी और कुछ प्रमुख सडके तो दूनी चौड़ी होती थी। दूरी प्रकट करने के लिए प्रति 1850 मीटर पर दूरी के लिये किलोमीटर के समान पत्थर लगे थे। अशोक ने सड़क के दोनो ओर छायादार वृक्ष लगवाये, कुएँ खुदवाये और मनुष्यो तथा पशुओ के लिए औषधालय स्थापित किये।

स्वायत्त-शासन—शासन मे इतना अधिक केन्द्रीकरण होने पर भी स्वायत्त-शासन के लिए क्षेत्र खुला था। मौर्यकालीन भारत मे स्वायत्त-गणराज्य थे तथा देहातो और नगरो मे न्याय और स्थानीय विषयो का प्रवन्ध स्वायत्त-शासन के आधार पर होता था। स्वय पाटलिपुत्र नगर का प्रवन्ध तीस व्यक्तियो की एक सभा करती थी। इनके पाँच-पाँच सदस्य छह छोटे मण्डलो मे विभक्त होकर शिल्पियो का निरीक्षण, विदेशियो की गतिविधि देखना, जनगणना करना, वाणिज्य-व्यवसाय एव वस्तु-निरीक्षण तथा कर-वसूली के कार्य करते थे। इससे यह अनुमान है कि राज्य के तक्षशिला और उज्जैन जैसे विशाल नगर ऐसी ही प्रणाली से शासित होते होगे।

नौ-चालन—चन्द्रगुप्त मौर्य ने नौ-वाहिनी विभाग का निर्माण किया था। राज्य का यह वडा विभाग एक मन्त्री के अधिकार मे था जो नौ-चालन (navigation) और पोत सम्बन्धी विषयो का प्रवन्ध करता था। मौर्य सरकार पोतो का निर्माण करती और उन्हें वाणिज्य-व्यापार मे यातायात के हेतु किराये पर देती थी।

जनगणना—मेगस्थनीज और अर्थशास्त्र से ऐसा प्रकट होता है कि वार्षिक जनगणना के लिए मौर्य राज्य का एक स्थायी विभाग था। ग्राम के अधिकारी और जनगणना विभाग प्रत्येक ग्रामो मे चारो वर्णो के निवासियो का लेखा-जोखा रखते थे और कृषको, ग्वालो, व्यापारियो, शिल्पियो, दासो, प्रत्येक परिवार के युवको और वूढ़े

मनुष्यो की संख्या, उनके चरित्र, व्यवसाय, आय-व्यय आदि की गणना करते थे। इसी प्रकार नगरों में नगर के अधिकारी भी ये कार्य करते थे। विदेशो से आने और जाने वाले व्यक्तियो तथा संदिग्ध मनुष्यों का विवरण भी रखा जाता था।

जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता— जनता के सुख-स्वास्थ्य के लिए भी मौर्य सरकार सतर्क थी। औषधि-उपचार के लिए पूर्ण व्यवस्था थी और विशाल औषधालय थे। अर्थशास्त्र मे वैद्यों, शल्य-चिकित्सको, शल्य-यन्त्रो, नर्सो (nurses) और विष के विशेषज्ञो का विवरण है। जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के हेतु धान्य, तेल, नमक, सुवासित पदार्थ, औषधि और क्षार वाले पदार्थो मे किसी प्रकार का मिश्रण करना राजकीय कानून द्वारा दण्डनीय अपराध माना जाता था। नगरो और घनी बस्तियो वाले स्थानों में स्वच्छता के लिए भी कठोर कानून थे। सड़को और जन-मार्गो मे कूड़ा-कचरा फेंकना और गन्दा पानी इकट्ठा करना दण्डनीय अपराध था। मन्दिरो, राजकीय भवनो, तीर्थस्थानो, जलाशयो और तालावो के समीप उत्पात करना या मल-मूत्रादि से उनको अपवित्र करना भयकर अभियोग माना जाता था। मृत पशुओ को या मानव-शव नगर मे फेंक देने पर जुर्माने होते थे।

राज्य का विस्तृत कार्यक्षेत्र—राज्य के कार्यक्षेत्र मे मौर्यकाल मे आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। पहले राज्य का उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवो तथा वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना था, परन्तु अव उसका ध्येय राज्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति समझा जाने लगा। आर्थिक प्रगति तथा भौतिक दृष्टि से देश को समृद्धिशाली वनाने के लिए राज्य ने उद्योगो और व्यवसायो को चलाने, नवीन नगरो और वस्तियो को वसाने, नयी भूमि को कृषिकर्म योग्य वनाने, बाँध निर्माण करने, खाने खुदवाने तथा शिल्पियो को संरक्षण देने की नीति अपनायी। साधारण जनता तथा उपभोक्ताओ के हितो का ध्यान रखते हुए स्वास्थ्य और स्वच्छता के कठोर नियम राज्य की ओर से वनाये गये। नाप और तौल को स्थिर करने, वस्तुओ के क्रय-विक्रयो को नियन्त्रित करने एव वस्तुओ के संचय और मुनाफाखोरी को रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी और निरीक्षक नियुक्त किये जाने लगे। श्रम-कानूनों का प्रारम्भ मौर्य राज्य से ही हुआ। शिल्पी का हाथ या आँख वेकार कर देने अथवा उसके शरीर को कष्ट पहुँचाने पर प्राणदण्ड दिया जाता था। वर्तमान युग मे राज्य जिस आयोजित अर्थव्यवस्था को श्रेयस्कर समझकर कार्यान्वित करने का सतत प्रयत्न कर रहे है, मौर्यराज्य में उसका प्रतिपादन किया जा चुका था। राज्य का कार्यक्षेत्र भौतिक समृद्धि तक ही सीमित नही था वरन जनता की धार्मिक, नैतिक एव सास्कृतिक प्रगति की ओर राज्य सदैव प्रयत्नशील रहता था। फलत मद्यपान, घूस, वेश्यावृत्ति आदि दुष्ट प्रवृत्तियाँ राज्य द्वारा नियन्त्रित थी। नैतिक वृद्धि एव धार्मिक प्रगति के लिए राज्य ने धर्म महामात्र नामक अधिकारी नियुक्त किये थे तथा धर्म-प्रसारकों, कलाकारों एवं विद्वानो को राज्य प्रोत्साहित करता था। अनाथो, निस्सहायो एव दरिद्रो के कष्टनिवारणार्थ धर्मशालाएँ और अन्न क्षेत्र स्थापित किये गये थे।

मौर्य राज्य ने ऐसी शासन-व्यवस्था का निर्माण किया जिसने विस्तृत प्रदेशों पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने और कृषि, व्यापार, व्यवसाय आदि से सम्वन्धित नियमो को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। यह वात कि मौर्य शासन ने केवल करो की वसूली करने की ओर ही ध्यान दिया वरन उत्पादन एव व्यापार सम्वन्धी कार्यों पर भी पूर्ण नियन्त्रण रखा जो प्राचीन शासन-प्रणाली मे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन

था। मौर्यो की राज्य-व्यवस्था-प्रणाली युगों तक चलती रही। हिन्दू नरेशों ने अन्त तक मौर्य साम्राज्य की शासन-व्यवस्था के भूमि कर, नौकरशाही और पुलिस—तीन महत्त्वपूर्ण अगो का अनुकरण किया। जिस रूप मे यह व्यवस्था मुस्लिम नरेशों को प्राप्त हुई, उन्होने इसे अपनाया और बाद में उनसे अंग्रेजों ने। यदि वर्तमान भारतीय शासन का उसके आधारो तक विश्लेषण किया जाय तो मौर्य राज्य की व्यवस्था के सिद्धान्त और प्रथाएँ आज भी कार्यान्वित रूप मे दृष्टिगोचर होगी।

सामाजिक दशा

जनता की समृद्धि—मेगस्थनीज के विवरण से हमें यह विदित होता है कि लोग सुखी और समृद्धिशाली थे। वे पूर्णरूपेण आत्म-निर्भर थे। यूनानी लोग भारत मे 'भूमि की उर्वरता, सरिताओं की विशालता, खनिज-पदार्थों की विविधता और सम्पन्नता तथा वनस्पति और पशु-वर्ग पर आश्चर्य करते थे।' जीवन की आवश्यकताएँ ही नही अपितु सामाजिक जीवन की सुख-सुविधाएँ लोगो को प्राप्त थी।

समाज की उच्च नैतिकता और सामग्री—मेगस्थनीज के पर्यवेक्षण उसके समय के भारतीयो मे व्यक्तिगत नैतिकता और समाज का उच्च स्तर प्रकट करते है। लोग मितव्ययितापूर्वक रहते थे और अच्छी सामाजिक स्थिति को बनाये रखते थे। उनमें चरित्र की श्रेष्ठ सादगी और विशिष्ट बौद्धिक प्रतिभा थी। वे साहसी, वीर और सत्यप्रिय थे और असत्य भाषण के लिए वे शायद ही कभी दोषी हुए हों। धरोहर और वचनो के लिए न तो वे मुकदमेबाजी करते थे और न गवाहो अथवा मुहरो (Seals) की उन्हे आवश्यकता होती थी, परन्तु वे परस्पर एक-दूसरे मे अटूट विश्वास करते थे और अपनी धरोहर रखते थे। चोरियाँ बहुत कम होती थी और गृह तथा सम्पत्ति अरक्षित ही रहती थी। यज्ञ के अवसरो के अतिरिक्त लोग कभी मद्यपान नही करते थे। चावल उनका प्रमुख भोजन था। सुरापान के सयमन और भोजन की सात्विकता के फलस्वरूप लोग अधिकतर रोगो से मुक्त रहते थे। अशोक के नैतिक आदेशो का जनता के ऊपर स्वस्थ प्रभाव पड़ा। समकालीन साहित्य एव अशोक की राज्य-घोषणाएँ तथा अभिलेख यह प्रकट करते है कि उस समय पाप-पुण्य, परलोक और स्वर्ग मे सभी विश्वास करते थे। इससे औसत मनुष्य धर्मपरायणता और सदाचार के पथ पर सदैव आरूढ रहता था।

सामाजिक प्रथाएँ और व्यावहारिक रीतियाँ—समाज मे दासता की प्रथा थी। स्मृतियों और राजनीतिक साहित्य में ही इसे अंगीकार नही किया गया अपितु अभिलेखो मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। अशोक ने एक दास और श्रमिक मे भेद बताया है और सबके लिए दयापूर्ण व्यवहार का सुझाव दिया है। नारियो मे सती-प्रथा विशिष्ट रूप से प्रचलित नही थी। यह तक्षशिला और पजाब के कथाई तक ही सीमित थी।

आमोद-प्रमोद—लोग अनेक उत्सवो और समारोहों को मानते थे और अत्यन्त ही आल्हादित होते थे। वसन्तोत्सव, दीपावली, गिरिपूजा आदि समारोहो का अनेक स्थलो पर उल्लेख है। पुष्प-समारोहो के भी हवाले है। वस्तुत ऋतु-परिवर्तन समुचित आमोद-प्रमोद सहित मनाया जाता था। चौपड के तो सभी आदी थे और द्यूत-क्रीडा-गृहो पर शुल्क था और वे शासन द्वारा नियन्त्रित थे। नारियाँ गेद के खेलो मे अधिक अभिरुचि रखती थी। स्त्रियों की वाटिकाओ और उद्यानो मे प्राय: कन्दुक-क्रीडा का उल्लेख है। आखेट भी लोकप्रिय था। नाव चलाना, तैरना और धनुर्विद्या अन्य साहसी

खेल थे जिनमें युवक परस्पर एक-दूसरे की होड करते थे। मनुष्यो, हाथियों और अन्य पशुओ में परस्पर युद्ध होता था और अश्वो तथा वृषभो को जोत कर रथों की दौड होती थी। मनुष्यो और पशुओ के मल-युद्ध से प्राय रक्तपात होने के फलस्वरूप अशोक ने वाद मे ऐसे युद्धो का निषेध कर दिया था और इनके स्थान पर धार्मिक दृष्यो के खेल-तमाशे प्रचलित किये जिनसे मनोरंजन और नैतिक उपदेश दोनो ही प्राप्त होते थे। बौद्ध लेखकों ने वर्गो की आठ या दस पक्तियो वाले लकड़ी के तख्ते पर खेले जाने वाले खेल का उल्लेख किया है और इसी खेल के अन्त मे शतरज के खेल का विकास हुआ। ब्रह्मा, पशुपति, शिव या सरस्वती जैसे देवी-देवताओ के उपलक्ष मे प्राय: आनन्दोत्सव होते थे जिन्हे 'समाज' कहा जाता था। इन उत्सवो में से कुछ की यह विलक्षणता थी कि उनमे अस्त्र-शस्त्रो की नकली लड़ाई होती थी, जिसमें दूर-दूर के प्रदेशो के पहलवान और मल्ल भाग लेते थे।

इसके अतिरिक्त गायन, नृत्य और वाद्य-सगीत भी विस्तृत रूप से प्रचलित थे और वीणा पर अधिकाश लोग गाते और बजाते थे। जाति-भेद की दृष्टि से नृत्य के शिक्षको का समाज में निम्न स्थान था, परन्तु नरेशो द्वारा नियुक्त शिक्षक राजसभा मे महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली पदों पर थे। चौसठ कलाओ मे, जिनसे एक सुरक्षित मनुष्य अवगत समझा जाता था, नृत्य और सगीत का स्थान उच्च था और सभी श्रेणियो के नर-नारियो को इनका अभ्यास करने का आदेश था।

सामाजिक श्रेणियाँ या वर्ग—मौर्य-युग मे हिन्दू समाज की दो प्रमुख विशिष्ट प्रथाएँ—वर्ण और आश्रम—निर्दिष्ट स्तर पर पहुँच चुकी थी। यूनानी लेखक संकेत करते है कि किसी भी व्यक्ति को अपनी जाति के बाहर विवाह करने या अपने स्वयं के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय को अपनाने की अनुमति नही थी। उदाहरणार्थ, एक सैनिक न तो कृषक, न शिल्पी और न दार्शनिक ही हो सकता था। अशोक के अभिलेख गृहस्थियो और परिव्राजको का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार चार आश्रमों की प्रथा मौर्य-युग में भलीभाँति प्रतिष्ठित थी। विभिन्न सम्प्रदायो के उत्कर्ष, विदेशियों का वहसख्या मे आगमन और अन्य अनेक कारणों से जाति के नियमों की दृढता और अपरिवर्तनशीलता कुछ अशों तक प्रभावित हुई थी। मेगस्थनीज सकेत करता है कि समाज सात वर्गों या श्रेणियो मे विभक्त था अर्थात् दार्शनिक, कृपक, शिकारी और गोपाल (पशुपालको), व्यापारी, शिल्पी, सैनिक, गुप्तचर या निरीक्षक और मन्त्री ये सात वर्ग थे। ग्रीक राजदूत का वर्णन प्रमाणतः अशुद्ध और दोपपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि जातियो और विभिन्न व्यवसायो मे सलग्न मनुष्यो की श्रेणियो को समझने मे मेगस्थनीज को भ्रान्ति हो गयी थी। फिर भी अशोक के समय मे जब देश मे बौद्ध धर्म प्रभुत्वशाली था, जातियो की अपरिवर्तनशीलता बहुत कुछ ढीली हो गयी थी।

स्त्रियाँ—यूनानी लेखक और समकालीन अभिलेख नारियो की दशा पर प्रकाश डालते है। कुछ दर्शनशास्त्र का अध्ययन करती थी और सन्तोपप्रद जीवन व्यतीत करती थी। परन्तु विवाहित स्त्रियो को अपने पतियो के साथ पवित्र ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नही था। बौद्ध और जैन दोनो ही धर्मों की भिक्षुणियो को स्वतन्त्रतापूर्वक दीक्षा दी जाती थी। वे समस्त देश मे भ्रमण करती थी और महलों तथा कुटियो मे स्वच्छन्दता से आ-जा सकती थीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। नरेशों व सामन्तो मे वहुविवाह-प्रथा प्रचलित थी। नारियाँ राजा की अगरक्षक होती थी। ऐसा उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की शरीर-

रक्षा का भार सशस्त्र महिलाओ पर था। अशोक ने अपना मत प्रकट किया है कि नारियाँ अनेक अनावश्यक और तुच्छ समारोहो और क्रिया-विधियों में अभिरुचि रखती थी। अशोक की द्वितीय रानी करुवकी के दान-दक्षिणा के वृत्तान्त से विदित होता है कि पत्नी अपने स्वामी के साथ बैठकर धार्मिक क्रिया-विधियो मे प्रमुख भाग लेती थी। महिलाओ के प्रति किये जाने वाले समस्त अभियोग दण्डनीय होते थे। कारागृहों और कारखानो के अधिकारी भी स्त्रियो के प्रति अपराध करने पर क्रूरतापूर्वक दण्डित होते थे। किसी महिला का वध करना एक ब्राह्मण की हत्या के बराबर माना जाता था।

शिक्षा—शिक्षा का विस्तृत प्रसार था। जनता से दान और राज्य द्वारा पाठशालाएँ और उच्च शिक्षण-सस्थाएँ चलायी जाती थी, शिक्षा देना ब्राह्मणों का कर्तव्य था, परन्तु बुद्ध के युग के बाद जनता की शिक्षा-दीक्षा का बहुत कुछ भार बौद्ध सघ ने अपने ऊपर ले लिया था। योग्य शिक्षक के पास अभ्यास करने और कुलीन-वर्ग मे घर पर योग्य शिक्षक को नियुक्त करने की प्राचीन रूढि अभी भी विद्यमान थी। तक्षशिला, उज्जैन और वाराणसी के विश्वविद्यालय शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र माने जाते थे परन्तु उनकी शिक्षा प्रमुखतया धार्मिक और साहित्यिक होती थी। धर्मशास्त्र, व्याकरण, अलकारशास्त्र, वर्त (राजनीति और अर्थशास्त्र) का खूब अध्ययन किया जाता था और इनका उल्लेख अनिवार्य विषयों मे है। पाणिनि के समय (ईसा पूर्व छठी सदी) से व्याकरण का विशेष महत्त्व माना जाने लगा था और यह अध्ययन का प्रमुख अग बन गया था। अशोक के अभिलेख और शिलालेख यह सकेत करते है कि जनसाधारण मे साक्षरता का प्रचार था और मेगस्थनीज ने भी यह देखा था कि मौर्य-युग मे शिक्षा का काफी प्रसार था। स्ट्रेबो का कथन है कि भारत-निवासी सन के वस्त्र के टुकड़ो पर लिखते थे और कर्टियस बतलाता है कि लिखने के लिए वृक्षो की छाल का उपयोग होता था। यद्यपि स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण नही है, परन्तु भिक्षुणियों के द्वारा महिला समाज तक शिक्षा का प्रसार हुआ होगा। व्यावसायिक शिक्षण शिल्पी-संघ द्वारा दिया जाता था।

कृषकों की दशा—साधारण जनता अधोलिखित तीन वर्गो मे विभक्त थी—कृषक, गोपाल या ग्वाले और शिकारी, व्यापारी और शिल्पी। जनसख्या का अधिकाश भाग कृषक ही था। वे सुखी और समृद्ध थे तथा युद्ध एव अन्य सार्वजनिक सेवाओ से मुक्त थे। वे अपना समस्त समय कृषि-कर्म मे ही अर्पित करते थे। वे जनता के उपकारक और पवित्र वर्ग के माने जाते थे और युद्ध तथा संघर्ष के समय उन्हे क्षति नही पहुँचायी जाती थी। वे भूमि-कर के अतिरिक्त भूमि की उपज का चतुर्थांश राज्य-कोष मे जमा करते थे। संकटकालीन व्यवस्था में परोपकारिता और दया के नाते कर देने पड़ते थे। परन्तु ऐसे कर कभी-कभी लगाये जाते थे। ग्राम्य क्षेत्र बाढ, अग्नि और टिड्डी-दल से भयभीत रहते थे। पर इसके लिए मौर्य राज्य ने निवारणात्मक उपाय और सहायता-कार्य की व्यवस्था की थी। अकाल के विरुद्ध पूर्वोपाय करने के लिए शासन ने सकटकालीन स्थिति के हेतु अन्नागार स्थापित किये थे। आपत्ति के समय राज्य कृषको को बीज और अन्न देता था तथा सहायता के कार्य की व्यवस्था करता था। वर्षा ऋतु मे बाढ़ के विरुद्ध पूर्वोपाय के लिए लोगों को नदियों के तटो से पहले ही हटा दिया जाता था। फसलों को विनाश से बचाने के लिए शासन ने चूहो, टिड्डियो, हानिप्रद कीड़ो व जगली पशु-पक्षियो के मारने का प्रबन्ध किया

था। आग से जान-माल की रक्षा के लिए भी राज्य ने पूर्वोपाय निर्दिष्ट कर रखे थे। इन उपायो मे सहायता के दस यन्त्र थे, जैसे- अनेक वरतन, पानी के घड़े, सीढी, कुल्हाड़ी तथा जलती हुई लकड़ी को रस्सी से नीचे खीचने के लिए हुक (hook) आदि। कृषि-कर्म के औजार शिल्पी वनाते थे जो करो से ही मुक्त नही थे वरन उन्हे राज्य-कोष से कुछ उपवेतन भी प्राप्त होता था।

व्यापार और उद्योग—पाटलिपुत्र की म्युनिसिपैलिटी की एक कमेटी का कर्तव्य राजधानी में निर्मित वस्तुओ का निरीक्षण करना भी था। इससे मौर्यकाल में वस्तु-निर्माण करने वाले उद्योगो का अस्तित्व प्रकट होता है। यूनानी लेखक भी अस्त्र-शस्त्रों और कृषि-औजारो के वनाने और पोतों के निर्माण करने का उल्लेख करते हैं। स्ट्रैवो का कथन है कि वेष-भूषा के वस्त्रों मे स्वर्णिम तारो का काम होता था, वे वहुमूल्य रत्नों से अलकृत होते थे और सुन्दर मलमल के वसनो पर आकर्षक फूल होते थे। गगा की घाटी के निचले प्रदेश मे सर्वोत्कृष्ट मलमल उत्पन्न की जाती थी और दक्षिण भारत की अनेक मण्डियो से विशाल मात्रा मे मलमल निर्यात होती थी। उत्तर-पश्चिमी भारत अपने सूती वस्त्र और रेशम के लिए प्रख्यात था। कपड़ा वुनने का उद्योग समृद्धशाली था और इससे सैकड़ों निस्सहाय स्त्रियो को रोजी प्राप्त होती थी। जुलाहे और अन्य शिल्पी संघों में, जिन्हे 'श्रेणी' कहते थे, संगठित थे। श्रेणी शक्तिशाली संस्थाएँ थी। उदाहरण के लिए, साँची-स्तूप का अभिलेख यह उल्लेख करता है कि वहाँ की नक्काशी विदिशा के हाथीदाँत के काम करने वाले शिल्पियों के सघो ने वनवायी थी। जुलाहो, ठठेरो, तेलियों, वनियो, वाँस का काम करने वाले वंसफोडो आदि के संघो के हवाले है। ये सव प्राय. आधुनिक वैको का कार्य करते थे। उद्योगों के सघो मे संगठित होने से शिल्पियो को महान राजनीतिक और आर्थिक शक्ति प्राप्त हो गयी थी। समृद्धशाली उद्योगों से आन्तरिक और वाह्य व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था। आन्तरिक व्यापार के लिए, जो सावधानी व सतर्कता से नियन्त्रित होता था, नावो की सुव्यवस्था थी और समस्त मौर्य साम्राज्य मे सुरक्षित आवागमन के मार्गो का विकास हुआ था। गोदामों और माल लाने-ले जाने के लिए साधनो का प्रवन्ध और व्यापारिक मार्गो की सुरक्षा के लिए विशिष्ट व्यवस्था थी। उस समय अनेक दीर्घ राजपथ थे और वणिकपथ थे। वर्तमान ग्राण्ड ट्रक रोड का अग्रगामी, उस समय तक 1700 किलोमीटर से भी अधिक लम्वा विशाल राजकीय दीर्घ पथ था, जो राजधानी पाटलिपुत्र को तक्षशिला और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से संयुक्त करता था। महान व्यापारिक महत्त्व वाला अन्य दीर्घ पथ काशी और उज्जैन होता हुआ जाता था और राजधानी को पश्चिम भारत के विशाल वन्दरगाहो से जोड़ता था। आन्तरिक व्यापार के लिए अन्य अच्छा पथ निर्मित किया गया था जो ताम्रलिप्ति के वन्दरगाह को पाटलिपुत्र से जोडता था। इनके सामरिक महत्त्व के अतिरिक्त इन महान स्थलमार्गो ने व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग दिया और फलस्वरूप तक्षशिला, उज्जैन, कौशाम्वी, काशी और पाटलिपुत्र जैसे विशाल नगर थे, जहाँ विविध मार्ग मिलते थे एव आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार के व्यापार के केन्द्र वन गये थे।

सामुद्रिक व्यापार—मौर्य-युग मे सामुद्रिक व्यापार की अत्यधिक वृद्धि हुई। कलिग-विजय के वाद कलिग समुद्रतट के महान वन्दरगाह मौर्य शासन के नियन्त्रण में आ गये। परिणामस्वरूप, नौ-चालन कार्यो का अधिक महत्त्व हो गया जैसा अशोक

की पुत्री संघमित्रा को सामुद्रिक यात्रा से लंका जाने की अनुमति मिल जाने से प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त मौर्ययुगीन भारत ने सीरिया, मिस्र और यूनानी प्रभावक्षेत्र के अन्य पाश्चात्य देशों से सम्पर्क और सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे और ईसा से पूर्व की प्रथम सदी में भारत और रोम साम्राज्य के मध्य भी सम्पर्क स्थापित हो चुका था। पाटलिपुत्र में विदेशी निवासियों की संख्या भी बहुत थी। सम्भवतः उनमें से अनेक अपने व्यापार-विनिमय सम्बन्धी कार्यों के लिए राजधानी में आने वाले व्यापारी थे। प्राचीन ग्रन्थों में भारतीय नाविकों के साहस और कार्यों के वृत्तान्त भारतीयों के सबल सामूहिक कार्यों और समृद्ध वाह्य व्यापार की ओर संकेत करते हैं। सुमधुर स्वादिष्ट सुरा, बहुमूल्य चाँदी के बरतन, अन्तःपुर के लिए गाने वाले बालक और लावण्यमयी सुन्दरियाँ, महीन वस्त्र और सर्वोत्कृष्ट मलमल भारत के आयात की कुछ वस्तुएँ थीं और भारत ऐश्वर्य एवं भोग विलास की वस्तुएँ और सुन्दर महीन मलमल वाह्य देशों को भेजता था।

पूँजीवाद का उत्कर्ष—साधारण शान्ति से, देश में व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि से, साहसी सामुद्रिक उद्योग और समुद्रपार के व्यापार में वृद्धि हुई और इसके फलस्वरूप पूँजीवाद का उत्कर्ष हुआ। अभिलेखों में यह उल्लेख है कि मौर्ययुगीन भारत में धन-द्रव्य का आधिक्य था। साँची-स्तूप के अभिलेख बहुत धनाढ्य व्यापारियों (श्रेष्ठिन) द्वारा दिये गये दान-उपहारों का वर्णन करते हैं। उन व्यापारियों के नामों के भी उल्लेख हैं जिन्होंने व्ययसाध्य जीर्णोद्धार किये। विहारों और मन्दिरों को प्रभूत दान देने की प्रथा प्रचलित थी। बौद्ध और जैन इतिहासवेत्ता इस बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि व्यापारिक वर्गों के पास प्रचुर धन-द्रव्य था।

नागरिक जीवन—नगर अनेक थे। सोन और गंगा के संगम पर बसा हुआ तथा साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र भव्य और शानदार नगर था। यह समचतुर्भुज आकृति का था और लम्बाई में लगभग 15 किलोमीटर व चौड़ाई में ढाई किलोमीटर था। इसके चतुर्दिक ईंटों की विशाल प्राचीर थी जिसमें 64 द्वार और 370 बुर्ज थे। इसकी सुरक्षा के हेतु लगभग 196 मीटर चौड़ी गहरी खाई थी जिसमें सोन नदी का पानी भरा रहता था। राजा का महल केन्द्र में स्थित था और मेगस्थनीज के अनुसार आकर्षण, सौन्दर्य और भव्यता में यह सूसा और एकबताना (Ecbatana) के राज-प्रासादों से भी बढ़ा-चढ़ा था। नगरों में नदी के तट का दृश्य; उसके उद्यानों का सौन्दर्य और उसके भवनों की भव्यता और शान लोकोक्ति हो गयी थी। 'कथा-सरित्सा-गर' में वर्णित पाटलिपुत्र पुरुषों का नगर, ज्ञान, संस्कृति और ललितकलाओं का भण्डार तथा 'विश्व के नगरों की रानी' था। नगर में विश्व के समस्त देशों के निवासी विद्यमान थे। पाटलिपुत्र से कुछ कम महत्त्व के नगर, जैसे वैशाली, उज्जैन, वाराणसी और तक्षशिला, नगरों की समृद्धि में समभागी थे।

नगरों के विकास और शहरों में जीवन की सुख-सुविधाओं और रम्यता की वृद्धि से धनिक-वर्गों में नागरिक जीवन लोकप्रिय हो गया था। उस समय 'नागरिक' से उस व्यक्ति का बोध होता था जिसकी सुविकसित रुचि और प्रवृत्तियाँ होती थीं, जिसके आचार-विचार और चरित्र के विशिष्ट नियम होते थे, जो भोग-विलास और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करता था और जिसे रसिक जीवन प्रिय था। वात्स्यायन का 'नागरिक' के जीवन का वर्णन उस युग के नागरिक जीवन की दशा का चित्रण करता है। सामान्यतः घरों के चारों ओर उद्यान होता था जिसमें बैठकें, कुंज, पुष्प-

युक्त पौधे और फल के वृक्ष होते थे। चाँदनी रात में समारोहो और प्रीतिभोजो का आनन्द उठाने के लिए मकानो के ऊपर खुली हुई चौरस छत होती थी। सुख और आनन्द के हेतु कमरे सुन्दर और आकर्पक ढग से सुसज्जित होते थे। चित्रकला की पेटियाँ, सगीत के वाद्य-यन्त्र आदि वस्तुएँ रखने के लिए हाथीदाँत की दीवारगीरों का प्रयोग होता था। शृंगार की वस्तुओ को रखने के लिए मेज होती थी और कुर्सियो के स्थानो पर दरियो का प्रयोग होता था। कमरा पुष्पो से सुसज्जित होता था और वाहर वरामदे मे पालतू पशु-पक्षी रखे जाते थे। 'नागरिक' की वेश-भूपा सुन्दर और आकर्पक होती थी, उसके वसनो मे धीमी सस्त सुगन्ध महकती थी। उसके नयनों मे काजल लगा होता था, उसके ओष्ठो पर रग की लाली छायी रहती थी, उसका ऊपरी वसन रगीन रेशम का होता था, कभी यह कसीदेदार और कभी सादा होता था और साधारणतया सुन्दर महीन वनावट का होता था। विविध आकृति के कलापूर्ण आभूपण वेप-भूषा के सौन्दर्य मे वृद्धि अरते थे। वसनो की श्रेणी और प्रकार प्राय मनुष्य की सस्कृति और प्रतिष्ठा तथा स्तर की कसौटी होते थे। मेगस्थनीज का कथन है कि नगर के लोग ललितकलाओ, वेश-भूपाओ, और रत्न-जडित अलकारो मे निपुण थे। "वे सुन्दरता और अलकारो से प्रेम करते है। उनकी वेश-भूषा मे स्वर्ण के तारो का कसीदा होता है और वह वहुमूल्य रत्नो से अलंकृत होता है और वे सवसे सुन्दर महीन मलमल के पुष्पित वसन पहनते है।"

शरीर की मालिश करने की प्रथा का सुविस्तृत प्रचलन था और व्यायाम की, जिससे शरीर की गठन और दृढता बनी रहती थी, 'नागरिक' कभी उपेक्षा नही करता था। वह प्रतिदिन दो वार भोजन करता था। चावल, गेहूँ, जौ, दूध जैसे प्रमुख भोजन के अतिरिक्त माँस-भोजन भी लोकप्रिय और महत्त्वशाली वस्तु था। वौद्ध साहित्य मे भी आमिप भोजन के वार-वार हवाले दिये गये है। विविध प्रकार की सुरा—'मधु' (मीठी) और 'आसव' (शुष्क)—का अत्यधिक प्रचार था। वस्तुत, मद्यपान लोकप्रिय था परन्तु उनका विक्रय भली-भाँति नियन्त्रित था।

नागरिक जीवन का यह चित्र उन अवकाश-प्राप्त धनाढ्य-वर्गो का था जिनमे जीवन के सुख-भोग की तीव्र लालसा थी, जो उत्सवों और समारोहो का आनन्द लेते थे, सगीत और अन्य आमोद-प्रमोद तथा विनोद मे अपना मन वहलाते थे एव मनोरजन के सार्वजनिक स्थानो का सरक्षण करते थे। मध्यम-वर्ग के मनुष्य का जीवन भी सुसस्कृत, सन्तुलन और भौतिक रूप से प्रगतिशील था। वह सुखप्रद गृहो और सुसकृत सगीत मे लिप्त रहता था। वह धार्मिक क्रिया-विधियाँ और दैनिक कर्म करता था जिससे उसे आध्यात्मिक शान्ति और समाज मे निर्दिप्ट गौरवमय स्थान प्राप्त होता था। उसका गहस्थ और सामाजिक जीवन उन विधिवत नियमो से भलीभाँति नियन्त्रित था जिसे सभी स्वीकार कर चुके थे। उसे उच्च समृद्धशाली साम्राज्य के नागरिक की सुख-सुविधाओ का लाभ होता था। सभ्य जीवन की आवश्यक वस्तुएँ ही नही अपितु सुख, ऐश्वर्य और भोग-विलास की वस्तुएँ भी उसके लिए उपलब्ध थी। यद्यपि गाँवो मे साधारण औसत मनुष्य के जीवन और धन-सम्पन्न नागरिक जीवन मे कोई परस्पर सम्बन्ध नही था, परन्तु यह उस मिथ्यावादी सभ्यता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसका विकास नगरो मे सदियो की भौतिक समृद्धि और शान्त, स्थिर शासन के परिणामस्वरूप हुआ था।

धर्म—वैदिक देवताओ की उपासना अभी भी प्रचलित थी। इन्द्र और वरुण दोनो की स्तुति की जाती थी। इसके साथ ही साथ अन्य देवताओ का प्रादुर्भाव भी

हुआ जो महाकाव्यकाल से लोकप्रिय हो चले थे। उदाहरण के लिए, धर्म-ग्रन्थों के लेखकों ने गंगा नदी को उपास्य बताया है। पाणिनि ने वासुदेव का उल्लेख किया है और यद्यपि कृष्ण की उपासना बाद में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी थी तथापि उनके भ्राता बलराम की उपासना ईसा की तीसरी शताब्दी मे ही प्रचलित हो चली थी। मौर्यो द्वारा शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियो के विक्रम और प्रदर्शन का उल्लेख पतंजलि ने किया है।

इस युग मे यज्ञो का खूब प्रचार था। ये व्यक्तिगत रूप से सम्पन्न होते थे और इनके लिए दार्शनिको की सेवाओं का उपयोग होता था। ऐसे अवसरो पर प्राणियों के वध को अशोक ने निषिद्ध करने का प्रयत्न किया था परन्तु वैष्णव धर्म के सुधारकों ने यज्ञो को अशोक ने निषिद्ध करने का प्रयत्न किया था परन्तु वैष्णव धर्म के सुधारकों ने यज्ञों को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया। मौर्य राजवंश के पतन के पश्चात ब्राह्मण धर्म में विशद पुनरुद्धार की लहर दौड़ पडी और अश्वमेघ और वाजपेय जैसी क्रिया-विधियाँ और अनुष्ठानों को भव्य रूप में राजा और रंक दोनों ही मानने लगे थे।

मुख धार्मिक सम्प्रदाय ब्राह्मण, बौद्ध और जैन थे। इनके अतिरिक्त योगी, साधु, वैरागी और आजीविक भी थे। अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। अन्य अनेक सम्प्रदायो के अनुसार आजीविको के प्रतिस्पर्द्धी वाले सम्प्रदाय ने भी सम्राट अशोक और दशरथ की दानशीलता का आनन्द उठाया था और बौद्ध धर्म अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था। बाद मे मिनेण्डर का भी इस पर विशिष्ट अनुग्रह रहा और कनिष्क ने इसे ग्रहण कर लिया था। अन्य दूसरा सम्प्रदाय जिसका नियमित रूप से उत्कर्ष हो रहा था, भागवत धर्म था, जिसने भक्ति पर अधिक जोर दिया। इसके साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म की एक प्रशाखा शैव मत भी प्रगति कर रही थी।

साहित्यिक गतिविधि—मौर्य-युग में निश्चित रूप से भारतीय ग्रन्थों का विस्तार बताना दुष्कर है। अनुश्रुति के अनुसार तीन ग्रन्थ—कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र,' भद्रबाहु का 'कल्प-सूत्र' और बौद्ध 'कथावस्तु' उन व्यक्तियों की कृतियाँ है जो मौर्य-युग में समृद्ध हुए थे। सस्कृति की वृद्धि ने मौर्य-युग को भारतीय सभ्यता के विषय मे आधारभूत कर दिया। ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' संस्कृत में युग-प्रवर्तक है। संस्कृत इस काल में सुविकसित भाषा हो गयी और पाणिनि ने संस्कृत को ऐसा व्याकरण प्रदान किया जो आज तक भी व्याकरणाचार्यो के लिए आदर्श रूप है। 500 से 150 ईसा पूर्व के युग में कात्यायन और पतंजलि के महान ग्रन्थों की रचना हुई और इनके मध्य मे पाणिनि का प्रभुत्व स्थापित हो गया। परिणाम-स्वरूप, संस्कृत का वह रूप निर्मित हो गया जो आज विद्यमान है।

अर्थशास्त्र—मौर्य युग की विश्व प्रसिद्ध साहित्यिक कृति चाणक्य द्वारा रचित "अर्थशास्त्र" है। इसमे 15 भाग और 170 उपभाग है तथा लगभग 6000 श्लोक हैं। यह राजनीति और प्रशासन पर एक अनोखा ग्रन्थ है। एक विद्वान के अनुसार अर्थशास्त्र वह अमृत है जो राजनीतिक वुद्धि रूपी समुद्र को मथकर निकाला गया है। इस ग्रन्थ मे राजनीति पर लिखने वाले प्राचीन लेखकों का उल्लेख है। चाणक्य ने इस ग्रन्थ में राजतन्त्र, गणतन्त्र, निरकुंश शासन, देश द्रोह, राजद्रोह, शान्ति, युद्ध, सन्धि, मन्त्रिपरिषद, पुरोहित, प्रशासकीय अधिकारियों, निरीक्षको, उनके कर्तव्यों

और उत्तरदायित्वों, राजा के कर्तव्यों, अधिकारों, प्रजाहित के कार्यों, राजत्व के श्रेष्ठ आदर्श, प्रशासन के हेतु राज्य के अठारह विभागो या महकमो, राजकीय अर्थ-व्यवस्था, कर प्रणाली, गुप्तचर प्रथा, न्याय-दान व्यवस्था, दण्ड विधान आदि राजनीति के विभिन्न विषयों, सिद्धान्तो और नीतियों का विशद विवेचन किया है। इस ग्रन्थ से मौर्ययुग के शासन-प्रवन्ध, तथा राजनीतिक और सामाजिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है।

मौर्य कला

मौर्य कला भारतीय कला के इतिहास मे युग-प्रवर्तक है। हमारे पास ऐसे कोई प्राचीन अवशिष्ट स्मारक नही हैं जिनका सम्बन्ध मौर्यो से पूर्व की भारतीय कला से हो। अशोक के राज्यकाल मे ही हमे उच्च श्रेणी के वहुसख्यक स्मारक दृष्टिगोचर होते हैं। इससे हम भारतीय कला की प्रवृत्ति के विपय मे निश्चित मत निर्मित करने मे समर्थ हुए है। वस्तुत भारतीय कला का इतिहास मौर्यो के उत्कर्प से ही प्रारम्भ होता है। मौर्य सम्राट असाधारण निर्माता थे। उन्होने भव्य भवनो और अन्य कलापूर्ण स्मारकों का निर्माण किया था जिनमे से आज कुछ अवशिष्ट हैं। प्राचीन कला के सर्वोत्कृष्ट नमूनो में इनकी गणना होती है।

चन्द्रगुप्त के भवन, राजप्रासाद और स्मारक लकड़ी होने के कारण नष्ट हो गये। परन्तु अशोक के पाषाण-स्मारक ही काल के क्रूर हाथों से वच पाये हैं। और भारतीय सभ्यता की सवसे पूर्व की कला के उन नमूने मे से है जिनकी अव तक खोज हो पायी है। अशोक के पूर्व के भवन प्रायः लकडी के ही वनाये जाते थे। साधारणतया पाषाण का प्रयोग अशोक के राज्यकाल से प्रारम्भ होता है। अशोक-युगीन भारतीय पाषाण-कृतियो की विशिष्टता कला के सुविकसित रूप की ओर सकेत करती है जिसके लिए अनेक सदियो पूर्व से ही शिल्पियो का सतत प्रयास होता रहा होगा। भास्करकला ने जो पूर्णता इस युग मे प्राप्त की, उससे प्रकट होता है, कि इस कला के निरन्तर और सतत विकास का सुदीर्घ युग रहा होगा। वस्तुत कतिपय यूरोपीय विद्वानो की तो यह धारणा हो चली थी कि मौर्य-युग के वाद भारतीय कला का इतिहास केवल उसके पतन का ही इतिहास है।

अशोकयुगीन भास्करकला और वास्तुकला—अशोकयुगीन कला के स्मारक अधोलिखित चार भागो मे वर्णित है :

(1) स्तूप, (2) स्तम्भ, (3) राजप्रासाद, और (4) गुहाएँ।

1. **स्तूप और चैत्य**—स्तूप गोल आकृति के आधार पर स्थित पाषाण या ईंटो का ठोस गुम्वद के आकार का होता था। कभी-कभी इसके चतुर्दिक ईंट या पाषाण की अलकृत वाड (Railing) लगाते थे जिसमे एक या एक से अधिक तोरण-द्वार होते थे जो प्राय. विशाल और भव्य होते तथा भास्करकला-कृतियो से अलकृत होते थे। स्तूप के चारो ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दे देते थे। वुद्ध या अन्य महान वौद्ध सन्त के अवशिष्ट स्मारको पर समाधि वनाना अथवा किसी पवित्र स्थान को चिरस्मरणीय करना स्तूप-निर्माण करने का प्रमुख उद्देश्य होता था। अतएव स्तूप को एक धार्मिक पवित्रता प्राप्त हो गयी थी। अनुश्रुतियो के अनुसार अशोक ने अफगानिस्तान में 84000 स्तूपो का निर्माण कराया था। सातवी सदी मे जव ह्वानच्याग भारत में आया तव उसने भ्रमण करते हुए अशोक के नौ सौ वर्षो वाद भारत और अफगानिस्तान मे अनेक स्तूप देखे थे। उसने तक्षशिला, श्रीनगर, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज,

कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाराणसी, वैशाली, गया, कपिलवस्तु, कुशीनगर, आदि में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप देखे थे। परन्तु आज उनमे से बहुत-से नष्ट हो चुके हैं। उनमें से कुछ जो बाद मे विस्तृत किये गये थे और जिनके चतुर्दिक बाड़ लगायी गयी थी शायद आज भी विद्यमान हैं। उनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध मध्य प्रदेश मे विदिशा से कुछ दूर भोपाल के पास साँची का विशाल स्तूप है। इस वर्तमान स्तूप का व्यास 36·50 मीटर ऊँचाई 23·25 मीटर और विशाल पाषाण की चतुर्दिक बाड़ 3 30 मीटर ऊँची है। सर जॉन मार्शल के अनुसार अशोक द्वारा ईंटो का बनवाया हुआ मूल स्तूप का वर्तमान स्तूप का सम्भवतः आधे से अधिक नहीं था। मूल स्तूप को बाद मे विस्तृत किया गया और शुंग-युग मे तोरणद्वार जोड़े गये। प्राचीन छोटी बाड़ के स्थान पर वर्तमान पाषाण की बाड़ बनवायी गयी। अशोक के मूल स्तूपों की भी यही दशा हुई। बोधगया मे अशोक ने एक चैत्य (बौद्ध मन्दिर) निर्माण किया गया, उसके नष्ट हो जाने पर बाद मे वहाँ बौद्ध मन्दिर निर्मित किया गया, जो आज भी है।

2 स्तम्भ—पाषाण के ठोस स्तम्भ या लाट जिन्हें अशोक ने निर्मित कराया था, सम्भवतः अशोकीय कला के अवशेषो के सर्वोत्कृष्ट और सबसे अधिक सुन्दर नमूने है। अशोकीय स्तम्भ इन्जीनियरिंग, वास्तुकला और भास्करकला की विजय है। प्रत्येक स्तम्भ का वजन लगभग 50 टन था और लगभग 15·50 मीटर ऊँचा था। ये स्तम्भों में सैकड़ो मील दूर ले जाये जाते थे और कभी-कभी पहाड़ियो के शिखर पर भी ले जाये जाते थे। व्ही० ए० स्मिथ का कथन है कि स्तम्भो का निर्माण, स्थानान्तरण और उनकी स्थापना इस बात के प्रमाण हैं कि अशोक-युग के शिल्पी और इन्जीनियर किसी भी अन्य देश के शिल्पी और इन्जीनियरो से कलाचातुर्य और साधनों मे निम्न श्रेणी के नहीं थे।

इस पाषाण-स्तम्भ के तीन भाग होते थे—भूमि के अन्दर का गड़ा हुआ भाग, मध्य का लम्बा दण्ड और ऊपर का शीर्ष। नीचे के भाग पर, जो भूमि में नींव के हेतु गाड़ा जाता था, मयूरो की आकृतियाँ उत्कीर्ण थी। ऐसा कहा जाता है कि वे आकृतियाँ इस बात की ओर संकेत करती है कि चन्द्रगुप्त का पिता मोरो को रखता था।

स्तम्भ के बीच दण्डाकार भाग जो ऊँचाई में 15·50 मीटर था, एक ही विशाल लाल पत्थर का बनाया जाता था। इसके ऊपर एक ही पत्थर के टुकड़े मे से तराशा हुआ शीर्ष स्थित है। गोल दण्ड जो धीरे-धीरे ऊपर गोलाई मे कम होता जाता है अपने अनुपात मे बहुत ही रम्य है और इसके ऊपर बढ़िया पॉलिश है। दण्ड की दीर्घ ऊँचाई और चीनकारिता उसके निर्माताओं के कलाचातुर्य को प्रकट करती है जिससे लोग अधिक प्रभावित हुए हैं।

स्तम्भ का तीसरा भाग शीर्ष है जिसमे (अ) सिंह या गज जैसे अन्य पशुओं की सुन्दर आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, (ब) पवित्र धर्मचक्र का चिह्न उत्कीर्ण है, और (स) उलटा किया हुआ कमल का फूल है। कुछ लेखको ने इसे भारत के घण्टा-शीर्ष का रूप मान लिया है। परन्तु इसे घण्टा मानने की अपेक्षा परम्परागत भारतीय पुष्प—कमल—मानना अधिक न्यायसंगत है। हैवेल ने इसे निम्नाभिमुख कमल कहा है। जैसा ऊपर वर्णित है, एक ही भीमकाय पाषाण को एक समूची लाट मे विलक्षण अचूकता से काटने और तराशने मे तथा समस्त स्तम्भ पर चमकीली पॉलिश करने में असाधारण कलाचातुर्य प्रकट होता है। परन्तु शीर्ष की सुन्दर व उच्च कलापूर्ण आकृतियो में जो यथार्थ सजीवता और उच्च श्रेणी की गतिविधि प्रदर्शित होती है, वह

अन्यत्र नगण्य है। सारनाथ स्तम्भ का शीर्ष निस्सदेह सबसे अधिक भव्य और शानदार है। इसे कलामर्मज्ञो ने भारत मे अब तक खोजी गयी इस ढग की वस्तुओ मे सर्वोत्तम बताया है। महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन के स्थान पर अशोक ने इस स्तम्भ को खडा किया था। इसके शीर्ष पर चार सिहो की मूर्तियाँ और उनके नीचे चारो दिशाओ मे चार पहिये धर्मचक्र-प्रवर्तक के सूचक है। चार सिहो की पीठ मे पीठ सटाये हुए आश्चर्यजनक सजीव मूर्तियाँ और इनके नीचे पशुओ की छोटी आकृतियाँ कला के उच्च विकसित रूप की ओर सकेत करती है। कला के सभी समालोचको ने इसके सौन्दर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। इन सिहो की ओर पशुओ की आकृतियाँ भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिनमे कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। सिहो के गठीले अग-प्रत्यग समविभक्त है और ये बडे कलापूर्ण चातुर्य से गढे हुए है। उनकी लहराती हुई लहरदार केशराशि का एक-एक केश बडी सूक्ष्मता और रम्यता से प्रदर्शित किया गया है। इनमे इतनी सजीवता, नवीनता और आकर्षण है कि ये आज ही के बने प्रतीत होते है। सर जॉन मार्शल के मतानुसार ये सिह कला-शैली और 'टेकनिक' (technique) की दृष्टि से कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने है। व्ही० ए० स्मिथ सारनाथ स्तम्भ के शीर्ष के विषय मे कहते है :

"ससार के किसी भी देश मे प्राचीन भास्करकला के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण अथवा कला के ऐसे सुन्दर नमूने जिनमे सजीव कला-कृतियो का और आदर्शवाद का सफलतापूर्वक समन्वय हुआ हो और जिनमे प्रत्येक बात का पृथक्-पृथक् सविस्तृत प्रदर्शन हुआ हो, पाना दुष्कर है।"

3. **राजप्रसाद**—पाटलिपुत्र मे चन्द्रगुप्त का अत्यन्त विशाल एव भव्य राजप्रासाद था। उसका सभा-भवन स्तम्भो पर आश्रित था जिन पर अति सुन्दर मूर्तिकला और चित्रकला का प्रदर्शन किया गया था। मेगस्थनीज के मतानुसार ईरान की राजधानी सूसा के राजप्रासाद से मौर्य प्रासाद अधिक सजा हुआ था। अशोक ने भी राजप्रासाद निर्माण कराये। समकालीन यूनानी लेखको ने पाटलिपुत्र मे भव्य राजमहलो के हवाले दिये है और वे उन्हे विश्व मे सबसे सुन्दर और शानदार मानते थे। सात सौ वर्षो के पश्चात् जब चीनी यात्री फाह्यान भारत मे आया, मौर्य भवनो और राजप्रासादो ने उसके हृदय मे श्रद्धा उत्पन्न कर दी और उसने उनके निर्माण-कौशल की प्रशसा की। पाटलिपुत्र मे अशोक के राजप्रासाद को देखकर वह इतना अधिक आश्चर्यचकित हुआ था कि उसे ऐसा विश्वास हो गया कि वह राजमहल मनुष्यो द्वारा नही बनाया गया था। परन्तु वे भव्य भवन सम्पूर्ण रूप से विध्वस हो गये। थोड़े समय पूर्व करी गयी खुदाइयो के फलस्वरूप उनके भग्नावशेष प्रकट हुए है और इनमें सबसे असाधारण अवशेष सौ स्तम्भो वाले विशाल सभा गृहो के है।

4. **गुफाएँ**—गुफाएँ कठोर चट्टानो से काटी गयी थी। उनकी आन्तरिक दीवारो पर ऐसी बढिया 'पालिश' की गयी थी कि वे दर्पण के समान चमकती थी। वे अनन्त, अथक परिश्रम और कलाचातुर्य के आश्चर्यजनक स्मारक है। ये भिक्षुओ के रहने के लिए निवास-स्थान थे और सभा-भवन तथा उपासना-गृह के लिए भी इनका उपयोग होता था। अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने ऐसी अनेक गृह-गुफाओ का निर्माण किया था। ऐसी अनेक गुफाएँ नागार्जुन पहाडियो और गया के समीप बाराबर पहाडियो पर है। बाराबर पहाडियों की एक गुफा जिसे सुदामा-गुहा कहते है,

अशोक ने आजीविक सम्प्रदाय वालो को समर्पित कर दी थी। इन गुफाओं की दीवालें चिकनी और चमकदार पालिश वाली थी जिनके कुछ अंश आज भी विद्यमान हैं।

5. **मूर्तिकला**—इस काल मे मूर्तिकला भी उन्नति के शिखर पर थी। मौर्य-युग की मूर्तियो मे मथुरा के पास परखम मे प्राप्त हुई यक्ष मूर्ति, भेलसा (बेसनगर) मे मिली एक स्त्री-मूर्ति और दीदारगंज मे उपलब्ध हुई मूर्तियाँ उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त जैन तीर्थंकरो की उच्च कोटि की सजीव मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है जो अशोक के पौत्र सम्प्रति के राज्यकाल की है। इन मूर्तियो की सजीवता, सुन्दरता और आकृति तथा अलकरण देखने से भास होता है कि मौर्य युग मे मूर्तिकला का खूब विकास हो चुका था।

6 **प्रेक्षा गृह**—मौर्य युग लोगो के आमोद-प्रमोद के लिए प्रसिद्ध था। विभिन्न प्रकार के उत्सवो और समारोहो के अतिरिक्त लोग अभिनय और नाटको मे भी रुचि रखते थे। भास के नाटक और अर्थशास्त्र में उल्लेखित प्रेक्षा गृहो (नाट्य-गृहो) से स्पष्ट है कि मौर्ययुग मे रंगशाला और नाट्यगृहो का निर्माण हो चुका था और अभिनय कला का विकास हो गया था। आधुनिक मध्य प्रदेश मे सरगुजा की रायगढ की पहाड़ियो को काटकर बनाये गये गुह-भवनो मे प्रेक्षागृहो के नमूने हैं। इनमे ईसा पूर्व तीसरी सदी के कुछ ऐसे शिला लेख है जिनसे स्पष्ट होता है कि गुहा-गृहो मे नाटक होते थे।

मौर्यकला की विशिष्टताएँ

मौर्यकाल की अपनी विलक्षणताएँ है। ठोस पाषाण-स्तम्भो मे उसके दण्ड की भव्य सादगी और उसके शीर्षो पर स्थित सुन्दर कलापूर्ण पशुओ की मूर्तियो का समन्वय है। ये समूचे स्तम्भ पाषाण के एक ही विशाल टुकड़े से काटे जाते थे और इस प्रकार शिल्पियो की अचूकता, सूक्ष्मता तथा यथार्थता की भावना विदित होती है। स्तम्भ के शीर्षो मे सौन्दर्य, अनुपात, प्रकृति की अनुरूपता और सूक्ष्म बातों के के लिए जो ध्यान दिया गया है, विशेषकर सिंह वाले शीर्षों में, वह इस बात का प्रमाण है कि मौर्य-युग मे भास्करकला उत्कृष्टता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। इसी प्रकार गुहा मे उपासना-गृहों, सभागृहो, प्रेक्षागृहो की भी अपनी विशिष्ट निर्माण-शैली थी। पाषाण के इन स्मारको को चमकीला बनाने हेतु जिस 'पॉलिश' और चातुर्य का उपयोग किया जाता था, वह इस कला की अन्य विशिष्टता है। इसके अतिरिक्त इस युग की कला में भाव-प्रकाशन की शक्ति थी जो कला का सर्वोच्च गुण है। मौययुग मे कलाकृतियो, भवनो, राजप्रासादों आदि के लिये काष्ठ और ईंटो के स्थान पर पाषाण का उपयोग, प्रचुरता और कला-चातुर्य से किया गया था।

निष्कर्ष—यदि हम मौर्यकाल को देदीप्यमान युग कहे जो भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग से किसी भी प्रकार कम नही है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इतिहास मे यह सर्वप्रथम अवसर था जब समस्त उत्तरी भारत अत्यन्त दक्ष और केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत था जिसके मूलभूत सिद्धान्तों का अनुकरण भारत का वर्तमान शासन भी करता है। उस समय समस्त देश में शान्ति, सुव्यवस्था और भौतिक समृद्धि थी। विदेशियो की दृष्टि मे भारत की प्रतिष्ठा बढ गयी थी। विश्व मौर्य सम्राट अशोक का बहुत ही ऋणी है। विश्व के इतिहास मे वही एक ऐसा नरेश है जिसने विजय के पश्चात भी युद्ध को तिलाजलि दे दी और विश्व मे युद्ध का समूल विनाश करने का प्रयास किया। वह वास्तव में आधुनिक संयुक्त राष्ट्रसघ (United Nations Organ-

isation) का अग्रगामी दूत था। उसने विश्व को धार्मिक साहिष्णुता का ही पाठ नही पढाया अपितु विश्व के सम्मुख आदर्श नरेशो का उदाहरण रखा। भारतीय संस्कृति को मार्यो की देन विलक्षण रही है। मौर्य नरेशो ने ललितकलाओ और साहित्य को आश्रय दिया और फलस्वरूप वास्तुकला और भास्करकला सर्वोत्कृष्टता की पराकाष्ठा पर पहुँची। व्यापार और वाणिज्य भी भलीभाँति सफल हो रहा था और जनता की भौतिक समृद्धि हो रही थी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि डेढ सौ वर्षो के मौर्य शासन मे सभ्यता, सस्कृति, ललितकलाओ की खूब वृद्धि हुई जिससे भारत उस युग के सबसे महान देशो मे प्रतिष्ठित होने के लिए समर्थ हो गया।

कुषाण शासन में संस्कृति और जीवन

साधारण समृद्धि—भारत मे कुषाण साम्राज्य (25-227 ई०) का अर्थ है कि भारत के कुछ प्रदेश दूसरे राज्य द्वारा हड़प लिये गये थे। कुपाण साम्राज्य का यह अभिप्राय नही है कि विदेशियो ने भारत पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। अफगानिस्तान में स्थित कुषाण साम्राज्य ने पाटलिपुत्र की सार्वभौमिक सत्ता के पतन के पश्चात भारत मे अपनी सीमाएँ विस्तृत की। कुपाण नरेश वासुदेव के रूढिवादी हिन्दू धर्म को अंगीकार करने पर कुपाण राजतन्त्र की जो कुछ भी मूलत: विदेशी प्रवृत्ति थी, वह विलुप्त हो गयी थी। अतएव कोई आश्चर्य नही यदि कुपाण-युग मे भारतीय जीवन और सस्कृति मे, कला के एक विभाग के अतिरिक्त, कोई सारभूत तात्त्विक परिवर्तन नही हुआ। फिर भी कुषाण साम्राज्य का सभ्यता और सस्कृति के प्रसार मे बडा हाथ रहा है। भारत और चीन, फारस, मेसोपोटामिया तथा रोमन साम्राज्य के मध्य व्यापार-वाणिज्य होता रहा। रोमन साम्राज्यो की राजसभा में कुपाण राजदूत भेजे गये थे। कुषाणो के शासनकाल मे भारत का समुद्री व्यापार फारस की खाडी और लाल समुद्र से होता था। इन दो जल-मार्गो से भारतीय वस्तुएँ मिस्र और रोमन साम्राज्य को ले जायी जाती थी। रोम के सामन्तो द्वारा भारतीय रेशम के वस्त्र, मोती और पूर्वीय भोग-विलास व ऐश्वर्य की वस्तुओ की खूब माँग होती थी। इन वस्तुओं के मूल्य के भुगतान के लिए रोम की स्वर्ण-मुद्राएँ इतनी अधिक मात्रा मे भारत आती थी कि प्लीनी नामक रोमन लेखक ने स्वदेश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर भारत मे उसके देश से स्वर्ण आने पर खेद प्रकट किया था।

साहित्य—कुषाण नरेश साहित्य और कला के संरक्षक थे। इस राजकीय संरक्षण से वातावरण मे धार्मिक और ऐहिक दोनो प्रकार का उच्च स्तर का विस्तृत संस्कृत साहित्य निर्मित हुआ था। कुषाण सम्राट निष्क का नाम अनेक प्रसिद्ध बौद्ध लेखकों, जैसे अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र और चरक के साथ जुडा हुआ है। अश्वघोष विविध गुणो का प्रतिभाशाली व्यक्ति था जो सगीत, साहित्य, धर्म, दर्शन और तर्क-वितर्क-निपुण था। उसके ग्रन्थो मे 'बुद्ध-चरित्र, 'सारिपुत्र-प्रकरण' और 'वज्रसूचि' प्रमुख हैं। नागार्जुन महान आचार्य एव दार्शनिक था प्रमुख बौद्ध अध्यात्मादी वसुमित्र 'महाविभाषाशास्त्र' का लेखक था। कनिष्क की राजसभा का सुप्रसिद्ध वैद्य चरक आयुर्वेद विज्ञान का प्रख्यात लेखक था। इस प्रकार राज्य-सरक्षण के अन्तर्गत उच्च कोटि के सस्कृत साहित्य का समुदय हुआ, साहित्य के विभिन्न विपयो का रूप विकसित हुआ और दर्शन, साहित्य, नाटक, सगीत, काव्य, गल्प, आयुर्वेद आदि विपयो पर श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई।

धर्म—कुषाण साम्राज्य की एक महत्वपूर्ण घटना यह है कि उसके युग में केवल बौद्ध धर्म का विस्तार ही नहीं हुआ अपितु बौद्ध धर्म में गम्भीर मतभेद भी हो गये थे। कुछ धार्मिक क्रिया-विधियों, प्रथाओं और आचार-विचार के नियमों के मानने के विषय में भिक्षुओं में परस्पर वाद-विवाद और मतभेद अनेक पीढ़ियों से चला आ रहा था परन्तु कुषाण-युग में धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में परिवर्तन हुआ। बौद्ध मत के इस परिवर्तन ने ही बौद्ध धर्म को सदा के लिए दो सम्प्रदायों--'हीनयान' और 'महायान'— में विभक्त कर दिया। हीनयान मूल बौद्ध धर्म था और महायान बौद्ध धर्म का नवीन परिवर्तित रूप था। बौद्ध धर्म का भारत के बाहर विदेशों में प्रसार और वहां विदेशियों की तथा समय की मांग के अनुसार उसमें परिवर्तन, भारत में बौद्ध मतावलम्बी विदेशियों द्वारा उसमें परिवर्तन, भक्तिवाद और अन्य सम्प्रदायों का बौद्ध धर्म पर प्रभाव, अनात्मवादी, अनीश्वरवादी, नीतिमार्गी कठोर बौद्ध धर्म में समय के अनुसार सुधार की आवश्यकता, बौद्ध स्मारकों और प्रतिमाओं का प्रभाव, बौद्ध धर्म को लोकप्रिय जनता का धर्म बनाने की भावना, आदि से बौद्ध धर्म में अनेकानेक परिवर्तन हो गये और यह परिवर्तित और सर्वांधित रूप महायान कहलाया। कुषाण नरेशों ने महायान को राज्य-धर्म स्वीकार कर लिया था।

हीनयान मत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने निर्वाण के लिए प्रयत्न करना चाहिए और अपने जीवन को पवित्र रखना चाहिए। अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करने के हेतु उसे न ईश्वर और न देवताओं से प्रार्थना ही करनी चाहिए और न बुद्ध की उपासना ही। व्यक्ति के स्वयं के प्रयास ही उसे आवागमन के बन्धन से मुक्त करेंगे। इस प्रकार हीनयान मुक्ति के लिये ईश्वर या देवता या किसी संत की प्रार्थना उपासना आदि नहीं मानता, व्यक्ति के स्वयं के प्रयास से ही निर्वाण प्राप्त होता है। यदि हीनयान ने व्यक्ति के निर्माण पर बल दिया तो महायान ने विश्व के उद्धार पर। नवीन सम्प्रदाय महायान ने बुद्ध को उनके धर्मोपदेशक के पद से देवताओं के नरेश अथवा ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। प्राचीन मूल बौद्ध विचारों के अनुसार बुद्ध मानवमात्र के लिए जीवनयात्रा के पथप्रदर्शकमात्र थे। पर अब उनका स्थान देवपरक हो चला था। वे देवता माने जाने लगे थे जो उपासकों की उपासना द्वारा प्राप्त हो सकते थे। इस प्रकार कुषाण-युग में बौद्ध धर्म ईश्वरवादी और आस्तिक हो गया। बुद्ध की प्रतिमाएँ बनायी जाने लगीं, उन्हें प्रतिष्ठित किया जाने लगा और पापों से मुक्ति प्राप्त करने और क्षमा-याचना के लिए उनसे प्रार्थनाएँ की जाने लगीं। बुद्धि के चतुर्दिक बोधिसत्वों और अन्य देवताओं का परिवार भी 36 खड़ा हुआ। बुद्धि के अतिरिक्त बोधिसत्वों की भी उपासना और पूजा होने लगी। बोधिसत्व वे धर्मपरायण सन्त थे जो बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। महान बुद्ध और पापाचारी मनुष्य के बीच ये मध्यस्थता का कार्य करते थे। बुद्ध की मूर्तियों के साथ ही बोधिसत्वों की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित होने लगी और उनकी भी उपासना और पूजा होने लगी। महायानियों ने बोधिसत्वों में विश्वास कर उनकी मूर्तियों की पूजा से मुक्ति मानी। इसके विपरीत, हीनयानियों ने बुद्धि की प्रतिमा बनाने की अपेक्षा, रिक्त स्थान अथवा पदचिह्न को उनका प्रतीक मान लिया। इस प्रकार हीनयान अनात्मवादी, अनीश्वरवादी, नीरस, बुद्धिवादी, मठ प्रधान और विरक्त धर्म रहा जिसका आधार बुद्धि की शिक्षाएँ थीं। पर महायान ने बुद्ध की शिक्षाओं के अतिरिक्त बोधिसत्व के सिद्धान्तों और कथानकों को अपना लिया, ज्ञान के स्थान पर बुद्ध और

बोधिसत्वो के प्रति श्रद्धा और भक्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा। हीनयान ने बुद्ध को महान पुरुष, गुरु और पथ-प्रदर्शक माना, ईश्वर या देवता नही और कमल या पद चिह्न उसका प्रतीक माना। पर महायान ने बुद्ध को देवता, ईश्वर और विश्व का त्राता माना।

हीनयान और महायान मे दूसरा विशिष्ट विभेद यह था कि बोधिसत्व सिद्धान्त ने एक नवीन विश्वास का प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मनुष्य अपना लक्ष्य बुद्धत्व-प्राप्ति रख सकता है और मनुष्यो को निर्वाण-प्राप्त करने मे सहायता देने के लिए वह बुद्धत्व-पद तक उन्नत हो सकता है। इन विचारो के अनुरूप ही अनन्त अनुष्ठानो का भी उदय हुआ। इससे महायान भक्तिवादी, ईश्वरवादी, अवतारवादी और मूर्तिवादी हो गया और हीनयान अनीश्वरवादी, बुद्धिवादी और कठोर सिद्धान्तवादी धर्म रह गया। दोनो मतो मे निर्वाण के अर्थ मे भी मतभेद हो गया। बुद्ध के अनुसार निर्वाण वह अवस्था है, जिसमे समस्त इच्छाओ का शमन होता है परन्तु महायानी सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण इच्छाओ की पूर्ति का नाम है न कि शमन का। महायानी बुद्धि की दिव्यता और ईश्वरीयता, प्रार्थना की सतर्कता और व्यक्तिगत उद्गार मे विश्वास करते थे। ज्ञान के स्थान पर श्रद्धा और भक्ति पर अधिक जोर दिया गया। बुद्ध मे भक्ति रखने व स्तूप आदि बनवाने से निर्वाण प्राप्त हो सकता था। महायान मत हिन्दुओ के योग का अनुसरण करने लगा जिससे आध्यात्मिक परिज्ञान की प्राप्ति मानी जाती थी। महायान ने अपनी भडकीली धार्मिक क्रिया-विधियो और अपने सक्रिय मानववादी परोपकारी कार्यक्रम, से जो निर्जन-ध्यान, मनन और शारीरिक यातनाओ से भिन्न था, जनता की भावनाओ को अत्यधिक आकर्षित कर लिया। इसके विपरीत, हीनयान मत अनीश्वरवादी, अप्रगतिशील, नीरस, गतिहीन, और विरक्त था। सक्षेप मे, महायान अत्यन्त ही जीवित और सक्रिय धर्म था और इसने प्राचीन बौद्ध धर्म मे नये प्राण फूँक दिये थे। कुषाण-युग मे बौद्ध धर्म का यह नवीन रूप भारत की सीमा के पार तिब्बत, चीन, बर्मा और जापान आदि अनेक देशो मे फैल गया। महायान को बौद्ध धर्म का उत्तरी सम्प्रदाय कहते है और इनके साहित्य की भाषा सस्कृत है। हीनयान को बौद्ध धर्म का दक्षिणी सम्प्रदाय कहते है और इनके धार्मिक ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये है। बौद्ध धर्म के इस परिवर्तन मे अधोलिखित घटनाएँ सहायक हुई।

1. बौद्ध धर्म के नवीन सम्प्रदाय महायान का उद्भव और विकास उत्तर-पश्चिमी भारत और पजाब मे हुआ था, जहाँ यूनानी, पार्थियन और सिथियन जैसे विदेशी आक्रमणकारियो ने आक्रमण करके ईसा पूर्व 250 से सैकडो वर्षो के लिए अपना आधिपत्य स्थापित लिया था। वे अपने साथ अपनी नवीन प्रथाएँ और मत लाये थे और इनमे से कुछ तो अपने धर्म को परित्याग कर बौद्ध धर्म को ग्रहण करने पर भी इन प्रथाओ और विश्वासो को मानते रहे। इनमे सबसे अधिक महत्त्व-शाली प्रथा यह थी कि वे उन देवताओ की प्रतिमाएँ बनाते थे जिनकी वे पूजा और उपासना करते थे। जब इन्होने और विशेषकर यूनानी लोगो ने बौद्ध धर्म को अगीकार कर लिया, तब उन्होने बुद्ध की प्रतिमाएँ बनाना एव उनका पूजन आरम्भ किया।

2 हिन्दुओ के भक्ति-सिद्धान्त के प्रतिपादन का बौद्ध धर्म पर विशेष प्रभाव पडा। भक्ति-मार्ग, जो उस समय लोकप्रिय हो रहा था, अपने अनुयायियो को उसके उपास्य इष्टदेव के प्रति अनन्य भक्ति का आदेश देता था और भक्ति मे अपार

स्नेह और श्रद्धा की भावना प्रेरित करता था। रूढ़िवादी बौद्ध धर्म में इसका पूर्ण अभाव था। उसमें भक्ति की भावना को प्रज्वलित करने की सामर्थ्य नही थी। भक्ति-मार्ग ने ईश्वर की भावना और उपासना के लिए व्यक्ति की कल्पना प्रस्तुत की। बुद्ध के साधारण अनुयायियों ने इसे स्वीकार कर लिया और वे बुद्ध की मूर्तियाँ निर्मित करने लगे तथा उनकी पूजा करने लगे। इसके अतिरिक्त अनेक हिन्दुओं ने बुद्ध को अपना देवता मान लिया और उसका पूजन करने लगे। देव-पूजक हिन्दू ऐसा सरलता से कर सकते थे। इससे हिन्दू धर्म और बुद्ध धर्म के समन्वय मे सहयोग और सहायता प्राप्त हुई।

3. अशोक के समय से ही बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर विहारों के निर्माण करने और स्तूपो को बनाने की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। ये अस्थि-अवशेष स्मारक वहाँ निवास करने वाले भिक्षुओ को उनके उपास्य-देव बुद्ध के गुण-गौरव का सदैव ध्यान दिलाते थे। अब देवताओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करने की प्रथा के प्रचलित हो जाने से बौद्ध भिक्षुगण भी स्वाभाविक रूप से इसे अपनाने लगे, क्योंकि प्रतिमा अधिक प्रत्यक्ष, प्रतीक और बुद्ध की ओर ध्यान आकर्षित करने मे उनकी गड़ी हुई अस्थियों की अपेक्षा अधिक उत्तम साधन थी। यह इतिहास की विडम्बना थी कि बुद्ध ने ईश्वरपूजा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की थी पर वे स्वयं ही ऐसे देवता बन गये जिसकी उपासना और पूजा होने लगी।

4. विहारों मे अपरिमित धन संचित हो गया था और भिक्षुओं को अत्यधिक अवकाश प्राप्त होने लगा था। अतएव उन्होंने विस्तृत धार्मिक क्रिया-विधियाँ प्रस्तुत की, जिनके अन्तर्गत बुद्ध का मत और उनके व्यावहारिक नियम विलुप्त हो गये।

5. जिस क्षण मे भारतीय बौद्ध धर्म विदेशो में भ्रमण करने लगा, उसमे परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। यह स्वाभाविक था, क्योकि इसे विदेशी प्रवृत्तियों और आवश्यकताओ के अनुकूल ही यथास्थान व्यवस्थित और संयोजित होना पड़ा। इस प्रकार इस बौद्ध धर्म ने अनेक नवीन प्रथाओं और विश्वासो को अपना लिया जो मूलभूत बौद्ध धर्म की भावना के विरुद्ध थे।

6. साम्राज्यवादी मौर्य सत्ता के अधःपतन के साथ ही पाटलिपुत्र का राजनीतिक गौरव विलुप्त हो गया और इसी प्रकार केन्द्रीय बौद्ध विहार की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा। देश के अन्य भागो मे इसके अन्तर्गत रहने वाले विहार इसके आदेशो का पालन श्रद्धा और भय से अब नहीं करने लगे। अतएव गान्धार के विहारों ने इन अति मौलिक परिवर्तनो को अबाध्य रूप से बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने दिया। वस्तुतः अब बौद्ध धर्म का केन्द्र पाटलिपुत्र से गान्धार चला गया था।

7. भारतीय समाज में विदेशी जातियो के पुट तथा सस्कृतियो के पुट के अन्तर-संघर्ष ने भी बौद्ध धर्म के इस नवीन महायान सम्प्रदाय के समुदय मे योग दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण सम्राट समय, दशा और आवश्यकताओ के अनुकूल ही अपने आपको सयोजित और व्यवस्थित कर लेते थे। जब कुषाण भारत मे बस गये तो उन्होने यहाँ के नववातावरण को ग्रहण कर लिया। उन्होने अपने प्राचीन नाम त्याग दिये और वासुदेव जैसे हिन्दू नामो को अपना लिया। उन्होंने अपने प्रतिमापूजक सिद्धान्तों का परित्याग किया और हिन्दू धर्म या बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया; यहाँ तक कि उनमे सिक्को पर भी हिन्दू देवताओ की और भारतीय वेश में बैठे या यूनानी वेश मे खडे बुद्ध की आकृतियाँ थी।

कला—गान्धार-शैली—बौद्धों के इस नवीन महायान सम्प्रदाय ने कला के क्षेत्र मे एक नयी शैली को जन्म दिया। बौद्ध-धर्म के महायान मत से भारतीय भास्करकला की गान्धार-शैली नामक नवीन प्रणाली का गठबन्धन है। यह कुषाण नरेशो की छत्रछाया में फली-फूली और विशेषकर कनिष्क के राज्यकाल में जब बहुसंख्यक बौद्ध विहार, स्तूप और प्रतिमाएँ निमित हुई थी। इन पर यूनानी कला का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध धर्म के नवीन सम्प्रदाय महायान का केन्द्र गान्धार प्रान्त ऐसा स्थित था कि वहाँ भारतीय, चीनी, ईरानी और यूनानी तथा रोमन संस्कृतियाँ मिलती थी। अतएव इस प्रान्त के लिए विदेशी विचारों और प्रभावो को लवलीन कर लेना स्वाभाविक ही था। इसीलिए इस प्रदेश की कला पूर्व और पश्चिम की कलाओ के सम्मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकती थी। इसके समुदय का श्रेय बैक्ट्रिया और उत्तर-पश्चिमी भारत के यूनानी नरेशों को है। इस समय गाधार प्रदेश और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में अनेक यूनानी निवास करते थे। वे कई देवी-देवताओं में विश्वास करते थे और उनकी मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था और वे बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के अन्य देवी-देवताओ की मूर्तियाँ अपनी पूजा-उपासना के लिये बनाते थे। उन्होने बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर, मजुश्री, आदि की प्रतिमाएँ यूनानी देवताओ, नरेशो और स्त्रियो के आदर्श पर बनायीं। यक्षकुबेर की प्रतिमाएँ फीडीयन झीयस या ध्यु स की मूर्ति की भाँति बनायी। इन मूर्तियो की वेशभूषा, शृंगार और सजावट भी यूनानी ढग की बनी। बौद्धधर्मावलम्बी भारतीय तो कमल, चरण चिह्न, बोधि-वृक्ष, छत्र अथवा धर्म चक्र बनाकर बुद्ध की आराधना करते थे। वे बुद्ध की प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा नही करते थे। पर अब यूनानियो के प्रभाव से बुद्ध और बौद्ध धर्म के देवी-देवताओ की कई प्रतिमाएँ गाधार शैली के ढग से बनने लगी। बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर आदि की मूर्तियाँ ध्यान-मुद्रा, धर्मचक्र मुद्रा, अभय मुद्रा, वरद मुद्रा आदि मे निर्मित होने लगी। बौद्ध धर्म के ग्रन्थो, कहानियों व जातक ग्रन्थ के दृश्यो को भी पत्थर पर अकित किया गया। कभी-कभी ये दृश्य महीन पीसे हुए चूने और पकाई हुई मिट्टी से भी बनाये जाते थे। इन पर सुनहरा रंग पीसकर अधिक सुन्दर बनाया जाता था। इस प्रकार मूर्तियो और दृश्यो में यूनानी मूर्तिकला शैली अभिव्यक्त हुई थी। इस शैली को गाधार शैली कहा गया।

गान्धारकला निस्सन्देह यूनानी कला या निश्चयात्मक यथार्थ रूप से रोमन साम्राज्य और एशिया माइनर की 'हैलेनिस्टिक' कला से उत्पन्न हुई। सरसरी तौर से देखने पर गान्धारकला का सम्बन्ध यूनानी कला से ही प्रतीत होता है। इसलिए यह कला "हिन्दू-यूनानी" (Indo-Greek) या 'ग्रीसो-रोमन कला' (Greeco-Roman Art) के नाम से प्रख्यात है। गान्धार देश में विकसित होने के कारण इस कला का नाम उस प्रदेश के अनुकूल 'गान्धार-शैली' पडा। कभी-कभी इसे 'ग्रीको बुद्धिस्ट' अथवा 'इण्डो-हैलेनिक' कला भी कहते है, क्योंकि इसका उपभोग भारतीय प्रतिभा ने बौद्ध धर्म के विषयो के लिए किया। इसमे धार्मिक विषयों और अभिप्रायो को मूर्त्त करने के लिए यूनानी आकार और निर्माण-शैली (technique) का प्रयोग किया गया। यद्यपि निर्माण-शैली यूनान से ली गयी पर कला की आत्मा वस्तुत भारतीय ही रही और बौद्धो के विश्वासो और प्रथाओ की अभिव्यक्ति के हेतु ही इसका पूर्ण उपयोग हुआ। गान्धार-शैली के अनेक उदाहरणो मे से कुछ को छोड़कर किसी में भी न तो यूनानी कहानी या गाथा और न यूनानी कला के उद्देश्य का ही पता लग सका।

यथार्थ में गान्धार-शिल्पी के पास एक यूनानी का हाथ और एक भारतीय का हृदय था। भारत के बाहर यह शैली अत्यधिक महत्त्वशाली हो गयी, क्योंकि पूर्वी या चीनी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान की बौद्ध कला का यह उद्‌गम-स्थान हो गया।

यूनान की सभ्यता का स्रोत मानने वाले यूरोपीय विद्वानों ने गान्धार-शैली को असाधारण महत्त्व दिया था। भारत मे किसी समय शैली को वास्तविक कलात्मक शैली समझा जाता था। अनेक कलाविदों की यह धारणा है कि भारतीय मूर्तिकला का मूल यही है। परन्तु नवीन अनुसन्धानों के सशक्त प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि गान्धार-शैली को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। वास्तव मे गान्धार-शैली के मूल तत्त्व भारतीय हैं। "इसमें यूनानी मूर्तिकला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यंजना का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया।" किन्तु दोनों के विजातीय होने से यह असफल हुआ और यह शैली स्वयमेव समाप्त हो गयी।

गान्धार-शैली के नमूने तक्षशिला में और पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा अफगानिस्तान के अनेक प्राचीन स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। इनमें अधिकांश में बुद्ध की मूर्तियाँ हैं और बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों की कहानियों के दृश्यों को पत्थर पर उत्कीर्ण किया गया है। ये मूर्तियाँ और दृश्य पाषाण, महीन पिसे हुए चूने और पकायी हुई मिट्टी के बनाये जाते थे और इन्हें स्वर्णिम रंग से सुशोभित किया जाता था। पेशावर, लाहौर और अन्य संग्रहालयों में इस शैली के जो नमूने सुरक्षित हैं, वे तो पाषाण के हैं, परन्तु तक्षशिला में उत्खनन-कार्यकर्ताओं ने, पाषाण प्रतिमाओं के अतिरिक्त, चूने-मसाले की अनेक और पकायी हुई मिट्टी की कुछ मूर्तियाँ प्राप्त की हैं। इन खोजों ने गान्धार-शैली के शिल्पियों की निर्माण-शैली के चातुर्य को समझने और हमारे ज्ञान की वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

गान्धार-शैली का प्रमुख विषय और प्रकरण बौद्ध धर्म का नवीन सम्प्रदाय महायान था और इसकी सबसे अधिक महत्त्वशाली देन बुद्ध-प्रतिमा का विकास है। गान्धार शैली के पूर्व के युग में जातक कथाओं में बुद्ध सम्बन्धी अन्य कहानियों को पाषाण पर उत्कीर्ण तो किया जाता था परन्तु स्वयं बुद्ध की प्रतिमा का प्रादुर्भाव अभी तक नहीं हुआ था। कला मे बुद्ध की उपस्थिति पदचिह्नों, बोधिवृक्ष, रिक्त आसन अथवा छत्र आदि लक्षणों से सूचित की जाती थी। परन्तु अब तथागत बुद्ध की मूर्ति शिल्पियों का प्रिय विषय बन गयी थी। बुद्ध और बोधिसत्वों की सुन्दर प्रतिमाएँ ध्यानमुद्रा, धर्मचक्र-मुद्रा, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा आदि मे और बुद्ध की वर्तमान तथा पिछले जीवन की अनेक घटनाएँ एक ही प्रकार के काले पाषाण में अलौकिक ढंग से उत्कीर्ण की गयी। बुद्ध का जीवन इस शैली को प्रेरणा देने वाला उद्देश्य था। यथार्थ मे गान्धार-शैली तथागत बुद्ध के जीवन और कार्यों की सजीव व्याख्या है।

गान्धार-शैली की कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ है जिससे वह भारत की अन्य कला-शैलियों से शीघ्र ही पहचानी जा सकती है। ये अधोलिखित हैं :

1. गान्धार-शैली की यह प्रवृत्ति थी कि मानव-शरीर का वास्तविक ढंग से अंकन किया जाय जिसमें अंग-प्रत्यंगों की ओर, विशेषकर मांसपेशियों, मूछों आदि की सूक्ष्मता की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

2. परिधान-शैली नितान्त निराली है। मोटे वसनों का प्रदर्शन करते समय वस्त्रो की सलवटे वडी सूक्ष्मता से दिखायी गयी है। यह शैली शरीर से विलकुल सटे, अग-प्रत्यग दिखाने वाले झीने या अर्द्ध-पारदर्शक वस्त्र अकित करती है।

3. इस शैली मे अनुपम नक्काशी है, विस्तृत अलकरण है और जटिल प्रतीक है।

4. बुद्ध की आकृति-निर्माण मे कलाकारों ने इतनी स्वतन्त्रता ली कि बुद्ध की प्रतिमाएँ प्राय· यूनानी देवता अपोलो की मूर्ति-सी बन गयी। तत्पश्चात बुद्ध की आकृति एक विशिष्ट प्रकार की मान ली गयी और उसी का नमूना सर्वदा और सर्वत्र बुद्ध की मूर्ति के रूप मे अगीकृत हुआ।

दीर्घ काल तक ऐसी धारणा वनी रही कि गान्धार-शैली द्वारा निर्मित बुद्ध और वोधिसत्वो की मूर्तियाँ मथुरा और अन्य कलाकेन्द्रों मे निर्मित मूर्तियो के लिए आदर्श नमूने माने जाते थे और इस प्रकार गान्धार-शैली ने भारतीय कला की अन्य शैलियो को प्रभावित किया। परन्तु अव यह स्वीकार कर लिया गया है कि मथुरा और गान्धार मे बुद्ध प्रतिमाओ की निर्माण-शैली का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ। गान्धार की बौद्ध प्रतिमाओ और भारत के आन्तरिक प्रदेशो की प्रतिमाओ मे आश्चर्य-जनक अन्तर है। गान्धार-शैली ने अग-सौष्ठव की सूक्ष्मता और भौतिक सौन्दर्य पर अधिक महत्त्व दिया, पर मथुरा-शैली ने मूर्तियो पर दिव्य, दीप्ति और आध्यात्मिक अभिव्यजना लाने का प्रयास किया। प्रथम शैली यथार्थवादी थी और द्वितीय आदर्श-वादी। यही पाश्चात्य और भारतीय कला मे मार्मिक अन्तर है। यूनानी कला का उद्देश्य प्राकृतिक सजीव अनुकरण और वाह्य सौन्दर्य का चित्रण था जिस पर गान्धार-शैली आश्रित थी। पर भारतीय कला का आदर्श प्रतीकवाद व भावनावाद था। कालान्तर मे गान्धार-शैली मध्य एशिया होती हुई चीन और जापान तक पहुँची और वहाँ उसने इन देशो की कला को प्रभावित किया।

गान्धार-शैली के अतिरिक्त मथुरा और अमरावती मे अन्य दो शैलियाँ और प्रचलित थी। मथुरा-शैली दो भागो मे विभक्त की गयी है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की प्रतिमाएँ भरहुत की मूर्तियो जैसी और काफी अनगढ है। उत्तरार्द्ध की प्रतिमाएँ अधिक परिष्कृत है। उनमे सादगी और सजीवता है। दक्षिण भारत मे कृष्णा नदी के निचले भाग जिला गुन्टूर मे अमरावती-शैली का विकास हुआ। अमरावती मे स्तूप की वाड (Railing) ही सगमरमर की नही थी अपितु उसका समस्त गुम्वद सगमरमर के शिलाफलको से आच्छादित था। इसकी मार्गी वाड मूर्तियों से अलकृत थी। अमरावती के स्तूप मे दो मीटर से ऊँची खडी मूर्तियाँ वहुत ही गम्भीर, उदासीन एव वैराग्यभाव से परिपूर्ण है। यहाँ वडे कठिन आसनो व मुद्राओं मे सुन्दर, पतली और प्रसिद्ध आकृतियाँ अकित की गयी है और दृश्यो मे सविस्तृत विवरण उत्कीर्ण किया गया है। वनस्पतियो एव कुसुमो के, प्रधानतया कमलो के अलकरण, वहुत सुन्दर है। यहाँ की समस्त कला सजीव और भक्ति-भाव से ओत-प्रोत है। बुद्ध के चरण-चिह्न के सम्मुख नत उपासिकाओ का दृश्य अत्यन्त ही भव्य एव चित्ताकर्षक है। हास्यरस का भी यहाँ अभाव नही है।

निष्कर्ष—ईसा पूर्व 322, चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर 227 ई० अन्तिम कुषाण नरेश वासुदेव तक के युग मे भारतीय सस्कृति का महान विकास हुआ। सर्वप्रथम, देश मे राजनीतिक और सास्कृतिक एकता स्थापित हो गयी। साम्राज्यवादी शासन

परिपूर्ण कर दिया गया, भास्करकला कला की सफलता और सिद्धि के उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी और गौतम बुद्ध का छोटा स्थानीय धर्म विश्व-धर्म के पद पर प्रतिष्ठित हो गया। सदियों के शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित शासन ने नागरिक जीवन की वृद्धि और विकास को प्रेरणा दी। वाणिज्य-व्यवसाय, विज्ञान, साहित्य और कला सभी की प्रभूत प्रगति हुई। इस युद्ध मे विदेशी शासकों, विशेषतः पश्चिम के यूनानी नरेशो के साथ सम्पर्क और रोमन सम्राटों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। इससे भारतीय संस्कृति और जीवन विशेषतः कला प्रभावित हुए। फलस्वरूप, कला की एक नवीन शैली—गान्धार-शैली—का क्रमशः विकास हुआ। विदेशी प्रभाव की दूसरी लहर धार्मिक क्षेत्र में प्रवाहित हुई और इसने प्राचीन रूढ़िवादी बौद्ध धर्म को नवीन, सक्रिय और सजीव सम्प्रदाय—महायान मत—में परिवर्तित कर दिया। परन्तु इस युग के अन्तिम वर्षों में अन्य आन्तरिक धार्मिक लहर (ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार) भी देखी गयी।

प्रश्नावली

1. मौर्यों के अन्तर्गत सभ्यता व संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास लिखिये।
2. "भारतीय संस्कृति के इतिहास में मौर्य शासन एक दिव्य युग था।" विवेचन कीजिये।
3. मेगस्थनीज और चाणक्य के ग्रन्थो का विशेष रूप से हवाला देते हुए मौर्य-युग की सस्कृति का वर्णन कीजिये।
4. भारतीय कला के इतिहास में मौर्य-युग एक सीमा-चिह्न है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
5. मौर्य युग की कला की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उसके विभिन्न स्मारको का विवेचन कीजिये।

   अथवा

   मौर्य कला के प्रमुख तत्त्वो का विवेचन कीजिये और अपने कथन की पुष्टि के लिए उदाहरण दीजिये। अथवा

   "मौर्य कला ने अपनी समस्त प्रेरणा बौद्ध धर्म से ली है।" इस कथन को पूर्ण रूप से समझाइये।
6. बौद्ध धर्म मे किन कारणों से परिवर्तन हुआ ?

   अथवा

   हीनयान और महायान की विभिन्नताओ को स्पष्टतया बताइये। महायान के प्रादुर्भाव और विकास के क्या कारण थे ?
7. "मौर्य-युग बौद्ध धर्म का स्वर्णकाल था।" समझाइये।
8. बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क का शासन विशिष्ट रूप से क्यों महत्त्वशाली है ?

   अथवा

   भारतीय कला और धर्म के इतिहास में कुषाण-युग के महत्त्व को समझाइये।
9. कुपाणो की भारतीय संस्कृति को क्या देन रही है ?

10. गान्धार-तक्षण-कला के विषय मे आप क्या जानते है ? इसके प्रमुख तत्वो का वर्णन कीजिए और भारत की अन्य कला-शैलियो से इसकी तुलना कीजिये ।
11. "ईसा पूर्व 321 चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अन्तिम कुषाण नरेश वासुदेव 227 ई. तक के युग ने भारतीय सास्कृतिक जीवन के महान विकास को देखा है ।" विवेचन कीजिये ।
12. प्राचीन भारत की सस्कृति पर यूनानी प्रभाव के स्वरूप और विस्तार का विवेचन करिये ।
13. टिप्पणियाँ लिखिए

    अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज, साची का स्तूप, गान्धार की तक्षणकला-शैली, अशोक के स्तम्भ, हीनयान, महायान, तक्षशिला, सारनाथ और अश्वघोष ।

गुप्त साम्राज्य और हिन्दू सांस्कृतिक नवाभ्युत्थान

नाग और वाकाटक नरेश—उत्तर-पश्चिम मे कुषाण साम्राज्य और दक्षिण-पूर्व मे आन्ध्र साम्राज्य के पतन होने पर दो राजवश—नागवश लगभग 250-350 ई० तक और वाकाटक लगभग 250-430 ई० तक—का उत्कर्ष हुआ। नाग राजाओ ने, विशेषकर नवनाग और वीरसेन नाग ने, पचास वर्षो से भी अधिक दीर्घकालीन सघर्ष के पश्चात् गगा की घाटी और मथुरा से विदेशी कुषाण और क्षत्रपो के राज्यो का सदा के लिए अन्त कर दिया। नाग नरेश हिन्दू देवी-देवताओ के पूजक और सस्कृत विद्वानो के आश्रयदाता थे।

वाकाटको ने बुन्देलखण्ड प्रान्त में प्रवरसेन प्रथम के समय अपनी शक्ति की खूब वृद्धि की। उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम के समय नाग साम्राज्य और वाकाटक साम्राज्य लगभग 344-48 ई० के समय एक हो गये थे। उसके पुत्र पृथ्वीसेन प्रथम ने जो समुद्रगुप्त का समकालीन था, गुप्त साम्राज्य से लोहा लिया था। यद्यपि थोडी अवधि के लिए गुप्त सम्राटो ने वाकाटको के उत्कर्ष को क्षीण कर दिया था, फिर भी वाकाटको ने 468 ई० मे स्कन्दगुप्त के अवसान के पश्चात् अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा पुन प्राप्त कर ली और गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात भी अपने साम्राज्य को दीर्घ काल तक बनाये रखा। भारतीय सस्कृति की अभिव्यक्ति मे वाकाटको का भी बडा हाथ है। वे हिन्दू देवताओ की पूजा और उपासना करते थे। प्राचीन वैदिक विधियो और धार्मिक कृत्यो को उन्होने पुनर्जीविन किया और वे सस्कृत साहित्य के विद्वानो के उदार सरक्षक रहे। वाकाटकों के आश्रय मे चित्रकला एव तक्षणकला का भी विकास हुआ था। अजन्ता की कुछ गुफाएँ इस कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने है।

गुप्त साम्राज्य (लगभग 300 से 500 ई० तक)—चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ मे राजनीतिक शक्ति और प्रखरता पुन· मगध के पाटलिपुत्र नगर मे केन्द्रीभूत हो गयी। यहाँ ही गुप्तो के नवीन राजवश का प्रादुर्भाव हुआ। गुप्त साम्राज्य को चन्द्रगुप्त प्रथम मे स्थापित किया जो एक स्थानीय सामन्त घटोत्कच गुप्त का पुत्र था। लिच्छवी वश की राजकुमारी कुमारदेवी से उसने विवाह किया। यह वैवाहिक मैत्री गुप्त साम्राज्य के सौभाग्य की विधाता प्रमाणित हुई और इससे चन्द्रगुप्त ने अपनी राज्य-स्थिति को अधिक दृढ कर गुप्तो के उत्कर्ष की नीव डाली और गगा की घाटी से प्रयाग तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया।

समुद्रगुप्त - चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने सम्पूर्ण भारत को विजय कर उसे अपने साम्राज्य मे अनुयोजित कर

लिया था। दक्षिण में भी उसने बहुत दूर तक विजय प्राप्त की थी। परन्तु दक्षिण के विजित प्रदेशों को अपने साम्राज्य मे मिलाने की अपेक्षा उसने वहाँ के नरेशो से अपरिमित धन-द्रव्य कर के रूप मे स्वीकृत करा लिया। उनकी प्रभुसत्ता की सीमाओ के बाहर अनेक राजाओ ने उसके आधिपत्य को अगीकार कर लिया था। अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य मे समुद्रगुप्त ने एक विशाल अश्वमेध-यज्ञ किया। परराष्ट्रो से उसका सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। लका के राजा मेघवर्मन ने अनेक बहुमूल्य उपहारो के साथ सिंहल-यात्रियों के निवासार्थ समुद्रगुप्त के पास अपने दूत भेजकर उससे विहार-निर्माण की अनुमति माँगी थी। यह अनुमति प्राप्त हो जाने पर उसने बौद्ध-गया मे एक विहार बनवाया जो महाबोधि सघाराम के नाम से प्रख्यात था। समुद्रगुप्त की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। वह एक उच्च कोटि का कवि, परम निपुण सगीतज्ञ, सुसस्कृत विद्वान और अद्वितीय योद्धा था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413 ई०)—समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा ; पर उसकी हत्या करके चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ हुआ। कुछ इतिहासवेत्ता इस वृत्तान्त को असत्य मानते है। चन्द्रगुप्त युद्धकुशल शक्तिशाली सम्राट था जिसने मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र को विजय किया और इस प्रकार क्षत्रपो के अवशेष भागो को सदा के लिए पूर्णतया नष्ट कर दिया एव विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसके शासनकाल मे एक चीनी धार्मिक यात्री भारत मे बौद्ध धर्म की पाण्डुलिपियो तथा अन्य प्राचीन अवशेषो को सग्रह करने के हेतु आया था। उसने भारत के विषय मे जो विवरण लिखा है, वह गुप्त सम्राटो के शासनकाल के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। चन्द्रगुप्त साहित्य व कला का सरक्षक था और उसका शासन गुप्तकालीन सस्कृति और साम्राज्य के उत्कर्ष की चरम सीमा है।

कुमारगुप्त प्रथम (413-455 ई०)—चन्द्रगुप्त के पश्चात उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपने पूर्वजो की प्रभुता व साम्राज्य को प्राय अन्त तक बनाये रखा। उसके अश्वमेधानुष्ठान से प्रमाणित होता है कि उसने अन्य प्रदेशो पर विजयश्री प्राप्त की होगी और वह भारत का चक्रवर्ती सम्राट रहा होगा। उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षो मे गुप्त साम्राज्य हूणो के अनवरत आक्रमणो से आक्रान्त हो गया था।

स्कन्दगुप्त (455-467 ई०)—कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसका वीर योद्धा पुत्र स्कन्दगुप्त सिंहासनारूढ हुआ। जब हूणो ने पुन आक्रमण किया तब उसने साम्राज्य की रक्षा के लिए सफल प्रयत्न किये और अपनी समर-दक्षता से हूणो को पीछे धकेल दिया। परन्तु अन्त मे इन्ही हूणो से युद्ध करते हुए वह वीरगति को प्राप्त हुआ।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी—विदेशियो के अनवरत आक्रमणो और युद्धो ने गुप्त साम्राज्य को तार-तार कर डाला और स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात गुप्त साम्राज्य का गौरव नष्टप्राय. हो चला था एव उसके अस्तित्व को उत्तराधिकारियो के गृह कलह से घोर आघात पहुँचा। स्कन्दगुप्त के दुर्बल उत्तराधिकारी हूणो के क्रूर आक्रमणो को रोकने मे सर्वथा असमर्थ रहे और पाँचवी शताब्दी के मध्य मे हूण उत्तरी भारत मे अगणित सख्या मे घुस आये एव उनके नेता तोरमाण ने मालवा मे अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। फलत: गुप्त साम्राज्य की जड़ हिल उठी, उसकी रीढ़ टूट गयी और वह छिन्न-भिन्न हो गया।

गुप्तकाल का महत्त्व और हिन्दू संस्कृति का पुनरुद्धार

कुषाण सम्राटों के पतन के पश्चात और गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष के पूर्व भारतीय इतिहास की सबसे प्रमुख घटना राष्ट्रीयता की भावना का उदय, वृद्धि और विकास था। यह भावना राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रस्फुटित हो उठी थी। कुछ तो यूनानी, पार्थियन, कुषाण और क्षत्रपो जैसे विदेशियों के दीर्घकालीन राजनीतिक आधिपत्य की प्रतिक्रियास्वरूप और कुछ धार्मिक क्षेत्र मे बौद्ध धर्म के प्रतिरोध के लिए इस भावना का प्रादुर्भाव हुआ। नाग राजाओ ने इसका प्रारम्भ किया, वाकाटको ने इसका स्रोत अविरल गति से बहने दिया और गुप्त सम्राटो ने इसे अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया। इस आन्दोलन की विशेषता यह थी कि इसमे विदेशी वस्तुओ के प्रति क्रान्ति तथा बहिष्कार की भावना और भारतीय वस्तुओं का पुनरुद्धार करने की दृढ लालसा थी। आर्य सस्कृति का पुनरुद्धार करने का यह राष्ट्रव्यापी प्रयास था। परिणामस्वरूप, क्रमश उत्तरी, मध्य और पश्चिम भारत मे भारतीय सत्ता ने विदेशी सत्ता को प्रतिस्थापित कर दिया और विदेशी कला के प्रभाव को जो गान्धार-शैली के रूप मे अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था, समूल नष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म भी अपने उच्च सिंहासन पर से नीचे ढकेल दिया गया और ब्राह्मण धर्म मे उसे विलीन कर समीकरण कर दिया गया एव पाली तथा प्राकृत भाषाओं की सस्कृत भाषा के पक्ष मे उपेक्षा की गयी।

तीसरी शताब्दी के आरम्भ मे नाग राजा इस राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम नेता हुए। विदेशियो के विरोध मे उन्होने दीर्घकालीन युद्ध छेडा और गगा की घाटी तथा मथुरा से उन्होने विदेशी कुषाण सत्ता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया एव हिन्दू सत्ता तथा साम्राज्यवादी परम्पराएँ पुन स्थापित की। सस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन तथा वैदिक विधियों के पुनरुद्धार से देश के सास्कृतिक इतिहास मे उनका विशिष्ट महत्त्व रहा है। नाग राजाओ के उदार सरक्षण का ही परिणाम है कि देवनागरी लिपि का, जिसमे आज सस्कृत और हिन्दी भाषा लिखी जाती है, आविर्भाव और प्रचार हुआ।

नाग राजाओ के पश्चात पुनर्जीवन का आन्दोलन नवीन वाकाटक राजकुल के शासको ने जारी रखा। नाग राजाओ के समान ही वाकाटकों का भी उद्देश्य था कि हिन्दू प्रभुता प्रतिष्ठित की जाय और हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान किया जाय क्योकि अशोक के युग से ही इसकी भारी क्षति हुई थी। वाकाटको की छत्रछाया मे राजनीतिक प्रभुता स्थापित हो जाने से साधारण जनता को प्रबल प्रोत्साहन मिला और समस्त देश मे नवीन जीवन का सचार हुआ। वाकाटको के आश्रय मे धार्मिक, सामाजिक और साहित्यक पुनरुत्थान के लिए स्वतन्त्र और विस्तीर्ण रूप से बीजारोपण हुआ जिसकी साधारण फसल उदार गुप्त सम्राटो के समय काटी गयी। इन्ही वाकाटको के सरक्षण मे उत्तरी भारत की सस्कृति दक्षिण मे प्रवेश करने लगी थी।

पुनरुद्धार का यह पवित्र आन्दोलन वाकाटको ने वसीयत के रूप मे गुप्त सम्राटो को प्रदान किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालवा और सौराष्ट्र के अन्तिम क्षत्रपो को पराजित कर भारत मे अवशिष्ट विदेशी सत्ता को समूल नष्ट कर दिया। इससे हिन्दू साम्राज्यवाद का पुनर्जन्म हुआ और विभिन्नीकरण तथा अराजकता के स्थान पर एकता स्थापित हो गयी। प्राचीन वैदिक देवताओ की उस पूजा-उपासना और अश्वमेध-यज्ञो का, जिन्हे नाग और वाकाटक नरेशो ने प्रारम्भ किया था, गुप्त

सम्राटो ने समर्थन किया। ब्राह्मण धर्म पुनः अपना मस्तक उन्नत कर सका और बौद्ध धर्म का अपना राजसंरक्षण और राजधर्म होने का गौरव लुप्त हो गया। जिस साहित्यिक और सास्कृतिक पुनर्जागरण का प्रारम्भ वाकाटक नरेशों की छत्रछाया मे हुआ था, वह गुप्त सम्राटों के राजसरक्षण मे प्रचुरता से प्रगति कर सका। वास्तुकला, तक्षणकला और चित्रकला ने, जिन्हें वाकाटकों ने प्रोत्साहित किया था, गुप्तकाल मे, जब देश मे शान्ति और समृद्धि का राज्य था, असाधारण उन्नति की। कला-विशेषज्ञो ने उस युग की भावना की सफल अभिव्यक्ति की और कला के विभिन्न क्षेत्रो मे गान्धार-शैली के प्रभाव को समूल नष्ट कर दिया। चित्रकार व सगतराशो ने कला के विषय के हेतु बौद्ध साहित्य की कहानियो और दृश्यो की अपेक्षा हिन्दू देवताओ और अवतारो की कहानियो और दृश्यों का प्रयोग किया। सक्षेप मे, भारतीय विवेक और बुद्धि, ज्ञान एव चरित्र, कला तथा साहित्य गुप्त सम्राटो के समय पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो सकी और युग की अन्तरात्मा स्वय ही संगीत, साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला तथा भास्करकला में स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष अभिव्यक्त हो उठी। इतिहास-वेत्ता गुप्तकाल को, जिसमे नवाभ्युत्थान का आन्दोलन (Renaissance Movement) साहित्य एव कला के क्षेत्र मे अनेक सफल सिद्धियो को प्राप्त करता हुआ अपने विकास की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गया था, हिन्दू धर्म का स्वर्ण-युग और हिन्दू नवाभ्युत्थान का काल कहते है।

गुप्तकाल का स्वर्ण-युग, हिन्दू नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण का काल नहीं परन्तु हिन्दुओं का पूर्ण विकसित परिप्लावित देदीप्यमान युग था—भारतीय इतिहास में जैसा ऊपर वर्णित है, गुप्तकाल को स्वर्ण-युग कहा गया है। यह काल नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण-युग के नाम से भी प्रख्यात है और यूरोपीय लेखको ने यूनान देश के इतिहास मे पेरीक्लीज के युग से इसकी तुलना की है, क्योकि इस युग मे ही राष्ट्रीय अन्तरात्मा को, जिनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति राष्ट्र-जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, आर्थिक, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र मे हुई, अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है, राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय अन्तरात्मा हिन्दू शासन का पुनर्जागरण कर प्रस्फुटित हुई थी। क्षत्रप, कुषाण और यूनानी जैसे विदेशी शासको की राजनीतिक प्रभुता और प्रधानता नष्ट कर गुप्त सम्राटो की छत्रछाया मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दृढतापूर्वक स्थापित कर दी गयी व हिन्दू साम्राज्यवाद की नीव डाली गयी। राष्ट्रीय प्रवृत्ति का यह एक अग था। इसका दूसरा महत्त्वशाली स्वरूप हिन्दू सस्कृति और धर्म का पुनरुद्धार था।

गुप्तकाल मे धार्मिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय प्रवृत्ति उस रूप से प्रकट हुई जिसे मैक्समूलर जैसे विद्वान ने हिन्दू नवाभ्युत्थान कहा है और फलत गुप्तकाल ब्राह्मणो के पुनरुद्धार का युग माना गया है। परन्तु इस युग के धार्मिक उत्साह के अनुराग का सूक्ष्म परीक्षण यह प्रमाणित करता है कि इस युग मे हिन्दू धर्म के नवाभ्युत्थान जैसी घटना न तो थी और न होने का कोई कारण ही हो सकता था, क्योंकि मौर्यो के पतन और गुप्त सम्राटों के अभ्युदय के मध्यकाल मे हिन्दू धर्म मरणासन्न नही था। अनेक विदेशी, जैसे यवनदूत हेलीओडोरस, उज्जैन के क्षत्रप और कुछ कुषाण नरेश हिन्दू धर्म के प्रभाव से प्रसन्न हो गये थे। हिन्दू धर्म मे उस समय भी ऐसी जीवन-शक्ति और चेतनत्व था कि विदेशी लोग उससे अत्यधिक आकर्षित और प्रभावित होते थे। इनके अतिरिक्त मौर्य-युग के पश्चात गौतमी पुत्र शातकर्णी जैसे भारतीय नरेशो ने अपने सुधार के कार्यो द्वारा हिन्दू धर्म की परम्परा और अनुश्रुति को बनाये रखा था।

वस्तुत. हिन्दू धर्म या समुचित रूप से ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार गंगा की घाटी मे शु ग राजवंश के प्रतिष्ठाता पुष्यमित्र के समय से ही चला आ रहा था और दक्षिण मे तो अनेक राजवशों का उत्कर्ष होता रहा जो वाजपेय और अश्वमेध-यज्ञों के समान वैदिक विधियों और क्रियाओं को बरम्बार करने में अपना महान गौरव समझते थे। अतएव गुप्तकाल मे तो हिन्दू नवाभ्युत्थान का प्रश्न उठता ही नही। इसके अतिरिक्त धार्मिक जाग्रति और पुनरुद्धार के युग मे धर्मोन्माद के कारण सदैव आतक, सपीडन और हत्याएँ होती रहती है। परन्तु गुप्तकाल किसी भी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता, धर्मोन्माद तथा आतक से मुक्त रहा है। बौद्ध धर्म के लेखको ने पुष्यमित्र को उनके धर्म का घोर शत्रु बताया है परन्तु ऐसा आरोप गुप्त सम्राटों पर नही है। चन्द्रगुप्त का प्रसिद्ध सेनापति अम्रकार्द्दव बौद्ध धर्मामुयायी था और बौद्ध धर्मावलम्वी प्रख्यात्त वसुबन्धु समुद्रगुप्त का घनिष्ठ मित्र था। फाह्यान के मतानुसार गुप्त सम्राट बौद्धों को भी राज्याश्रय देते थे। उपरोक्त प्रमाणो के प्रकाश में कुमारस्वामी का यह निष्कर्ष स्वीकार कर लेना अनुचित न होगा कि गुप्तकाल मे हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार नहीं हुआ था, अपितु वह अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। अतएव यह युग नवाभ्युत्थान का नही परन्तु देदीप्यमान विकास और प्रस्फुरण का है। इस युग मे ही हिन्दू प्रतिभा अत्यधिक प्रस्फुटित हुई और हिन्दू सस्कृति अपने उत्थान के शिखर पर पहुँच गयी थी। यह हिन्दुत्व की अद्वितीय विजय थी।

गुप्तकाल की विशेषताएँ

गुप्त-युग भारतीय इतिहास मे अपनी अधोलिखित विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध है :

1. **एकक्षत्र शासन और शान्ति**—लगभग चार सौ वर्षो के विदेशी शासन के बाद जब देश स्वतन्त्र हुआ, तब वह अनेक छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त था। गुप्त नरेशों ने विदेशी सत्ता को नष्ट-भ्रष्ट कर देश के बड़े भाग मे एकक्षत्र शासन और शान्ति स्थापित की। देश एक से शासन के अन्तर्गत सगठित हो गया। गुप्त सम्राटो ने विशाल साम्राज्य स्थापित कर केन्द्रीय शक्ति को दृढ किया और श्रेष्ठ शासन-प्रवन्ध के द्वारा मर्वत्र शान्ति व सुव्यवस्था कर दी।

2. **व्यापार व समृद्धि**—इस युग में अभूतपूर्व समृद्धि रही। इस युग में भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था। उत्खनन मे प्राप्त स्वर्ण-मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि अन्य देशो का स्वर्ण इस देश मे अविरल गति से बहा चला आ रहा था। पश्चिम रोमन साम्राज्य और पूर्व मे पूर्वी द्वीपसमूह के अन्य देशो से व्यापार होने के परिणामस्वरूप देश धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया था।

3 **भारतीय संस्कृति व सभ्यता का प्रसार**—गुप्तकाल में ही भारतीय सस्कृति का विदेशो में प्रसार हुआ और भारत ने इस युग मे ही अपने विस्तार और उपनिवेश के जीवन मे प्रवेश किया। चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, इण्डोचीन, अनाम, बोर्नियो आदि देशो मे भारतीय धर्म और सस्कृति का विश्वव्यापी प्रसार हुआ। भारत के वैदेशिक सम्बन्ध, जिन्हे थोडे समय के लिए क्षति उठानी पड़ी थी, पुन. अपनी प्राचीनतम प्रतिष्ठा और गौरव सहित स्थापित हो गये।

4. **संस्कृत भाषा और साहित्य की प्रगति**—इस युग में भारतीय प्रतिभा की सर्वतोन्मुखी अभिव्यक्ति तथा अभूतपूर्व बौद्धिक उत्कर्ष हुआ। संस्कृत साहित्य

में कालिदास जैसे महाकवि, वीरसेन शाब जैसा व्याकरणाचार्य और राजनीतिज्ञ हुए। 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' जैसे नाटको की रचना हुई एव पौराणिक साहित्य ने अपना बहुत कुछ वर्तमान रूप धारण कर लिया। दर्शन मे बौद्धो के प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक आसग, वसुबन्धु, दिग्नाग और आर्य देव ने तथा जैन दार्शनिक सिद्धसेन, दिवाकर, सामन्तभद्र आदि ने अपने नवीनतम मौलिक विचार प्रदान किये।

5. **ललितकलाएँ तथा विज्ञान**—इस काल मे भारतीय ललितकलाएँ अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। अजन्ता के जगतप्रसिद्ध भित्तिचित्र, देवताओ और अवतारो की सजीव प्रतिमाएँ एव भव्य विशाल मन्दिर कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने है। गुप्तकाल की ललितकलाओ मे आध्यात्मिक अभिव्यजना के साथ-साथ सौन्दर्य, बुद्धि और अलकारो का सुन्दर समानुपातिक समन्वय है। इसके अतिरिक्त गान्धार-शैली पर जो विदेशी प्रभाव था, वह विलीन हो गया। कला के साथ-साथ विज्ञान मे भी प्रगति हुई। गणित, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, धातु-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, वैद्यक, खगोल-विद्या आदि पर मौलिक ग्रन्थो की रचना हुई। विज्ञान के क्षेत्र मे दशाक गणना-पद्धति और दिल्ली का लौहस्तम्भ गुप्तकाल की देन है।

6. **हिन्दू साम्राज्य की स्थापना**—गुप्त सम्राटो ने शक, कुषाण आदि विदेशी राज्यो का अन्त कर हिन्दू राज्य और हिन्दू सस्कृति की पुनर्स्थापना की एव देश को उन्नत बनाया।

7 **हिन्दू धर्म का उत्कर्ष**—गुप्तकाल मे हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान व परि-वर्द्धन हुआ। ब्राह्मण धर्म की प्राचीन काल की क्रिया-विधियाँ व यज्ञ पुन प्रारम्भ हो गये। इस युग ने हिन्दू धर्म को वर्तमान रूप प्रदान किया। गुप्त सम्राटो के उदार सरक्षण और प्रबल प्रोत्साहन से वैष्णव धर्म का उत्कर्ष हुआ।

इस प्रकार सर्वागीण सास्कृतिक समुन्नति की दृष्टि से भारतीय इतिहास का कोई अन्य युग गुप्तकाल की समता नही कर सकता।

गुप्तयुगीन बौद्धिक और कलात्मक अभिसृष्टि के कारण

1. **गुप्त सम्राटों की उदार सांस्कृतिक नीति और संरक्षण**—गुप्त सम्राटो की उदार सास्कृतिक नीति, सरक्षकता और प्रबल विद्यानुराग से ओजस्वी, अभूतपूर्व और देदीप्यमान परिणाम सभव हो सके। गुप्त सम्राट भारतीय सस्कृति के पोषक, भारतीय राष्ट्रीयता और हिन्दुत्व के रक्षक तथा भारतीयता के उन्नायक थे। उनमे शास्त्र और शस्त्र का अनूठा समन्वय था।

2. **शांति, सुव्यवस्था और समृद्धि**—इस युग मे देश मे सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था थी। आन्दोलन, विप्लव और विद्रोह नही हुए। इससे बाह्य और आन्तरिक व्यापार-वाणिज्य, और उद्योग-व्यवसायो मे वृद्धि हुई और देश अधिक समृद्ध हुआ। इस शान्ति, सुव्यवस्था और धन-सम्पन्नता से साहित्य और ललित कलाओ मे भी विशिष्ट उन्नति हुई।

3. **विदेशों से सांस्कृतिक सम्पर्क**—इस युग मे भारत का मध्य एशिया और दक्षिणीपूर्वी एशिया के देशो से, चीन, रोम तथा अन्य पश्चिमी देशो से निरन्तर सम्पर्क रहा। गुप्त साम्राज्य की सीमा सौराष्ट्र तथा गुजरात तक पहुच जाने से भारत का व्यापार पाश्चात्य देशो के साथ प्रभूत मात्रा मे बढा। पश्चिम जगत के विभिन्न

विचारों के सम्पर्क में भारत निरन्तर आता रहा एवं भारतीय मेधा पर उसकी विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया होती रही। विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष, सम्पर्क और समन्वय से सांस्कृतिक अभिसृष्टि होती है एव बौद्धिक तथा कलात्मक क्रियाशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।

4. **भारतीयों की गुणग्राहकता**—भारतीयों के दृष्टिकोण की विशालता, हृदय की उदारता, आत्माभिमान के अभाव, ज्ञान के असाधारण अनुराग और नम्रता ने सर्वतोन्मुखी उन्नति मे पूर्ण योग दिया। गुप्तकाल मे भारतीय प्रत्येक जाति से ज्ञान और सचाई लेने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। उस काल के वराहमिहिर ने लिखा है, "यवन (यूनानी) म्लेच्छ है; पर उनमे (ज्योतिष) शास्त्र का ज्ञान है, इस कारण वे ऋषियो की तरह पूजे जाते है।"

5. **भारतीयों में अन्वेषण की प्रवृत्ति**—भारतीयों में उस समय स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान और विज्ञान में अन्वेषण करने की प्रवृत्ति थी। बौद्धो ने बिना शास्त्रीय प्रतिबन्ध के दर्शनक्षेत्र में ऊँची से ऊँची उड़ानें भरी। पूर्ववर्ती भारतीय और यूनानियों के दार्शनिक ग्रन्थ पढ लेने पर भी आर्यभट्ट ने उनका प्रमाण नही माना और उनका अन्धानुसरण नही किया। उसका कथन था, "ज्योतिष के सच्चे-झूठे सिद्धान्तों के समुद्र मे मैंने गहरी डुबकी लगायी है, अपनी बुद्धि की नौका से मैं सत्य-ज्ञान के बहुमूल्य मोती निकाल लाया हूँ।" अन्वेषण की इस प्रवृत्ति ने ही गुप्तकाल की कला और विज्ञान की प्रगति मे महत्त्वपूर्ण एव अत्यधिक योग दिया।

गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृति

राजनीतिक दशा—गुप्तकाल मे राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनो ही प्रकार के शासन थे। प्रजातन्त्र की शासन-व्यवस्था के हेतु एक केन्द्रीय सभा होती थी जो शासन के विभिन्न भागों में शान्ति-व्यवस्था की देख-भाल करती थी। परन्तु अधिकांश मे पैतृक राजतन्त्र का ही सर्वत्र प्रचार था। यद्यपि राजा के दैवी अधिकारो के प्रति जनता का विश्वास दृढ होता जा रहा था परन्तु किसी भी नरेश ने निरंकुशता या स्वेच्छाचारिता का आश्रय नही लिया। राज्य सम्बन्धी अनेक उदात्त आदर्श और उच्च धारणाएँ थी। प्रजावत्सलता और धर्म-पालन राजा का विशिष्ट गुण माना जाता था। इस युग के नरेश निपुण योद्धा और कुशल सेनानी ही नही थे, अपितु कला और साहित्य महान प्रेमी और सरक्षक भी थे। उनमें कतिपय तो उच्च कोटि के विद्वान और कवि थे। नरेश के अधिकार मे ही सैनिक, राजनीतिक, शासकीय और न्याय सम्बन्धी सभी शक्तियाँ केन्द्रित रहती थी। यद्यपि वह एक मन्त्रिमण्डल की सहायता और परामर्श से शासन करता था तो भी अन्तिम निर्णय का उत्तरदायित्व उस पर ही था। साम्राज्य के नेता और शासन के सभी अधिकारियो को वह नियुक्त करता था और सभी उसके प्रति उत्तरदायी थे। प्रत्यक्ष रूप से राजा निरंकुश और स्वेच्छाचारी प्रतीत होता था, पर वस्तुतः वह मन्त्रियों और सचिवो के नियन्त्रण में रहता था और उसे प्राचीन परम्परागत नियमो का पालन कर प्रजा-हित के कार्य करने पडते थे। यद्यपि वर्तमान युग के समान उस युग में केन्द्रीय प्रतिनिधि संसदो का अभाव था परन्तु ग्रामों में पचायतो और नगरों मे सभाओं का प्रचार था जिन्हे स्वायत्त-शासन के प्रचुर अधिकार प्राप्त थे। गुप्तकालीन शासन-प्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं—ग्राम-पंचायतो और नगरसभाओं—के कार्यों और अधिकारों मे आश्चयजनक वृद्धि है।

साम्राज्य की राजधानी से केन्द्रीय शासन 'सर्वाध्यक्ष' नाम के प्रमुख अधिकारी तथा अन्य सचिवो द्वारा होता था। इसके लिए विशाल सचिवालय भी था। 'कुमारमात्य' नाम के विशिष्ट अधिकारी होते थे जिनके शासन-सचालन के लिए सैनिक व प्रशासन सम्बन्धी विविध कर्तव्य थे। ये अर्वाचीन युग के इण्डियन एडिमिनिस्ट्रटिव र्सविस (Indian Administrative Service) के अधिकारियो के समान ही थे। सारा साम्राज्य सुव्यवस्थित शासन के हेतु विभिन्न प्रान्तो मे विभक्त था। प्रान्त को 'भुक्ति' कहते थे और प्रत्येक भुक्ति छोटे-छोटे जिलो मे विभाजित था जिसे 'विषय' कहते थे। 'प्रत्येक विषय' पुन. ग्रामो मे बटा हुआ था। प्रत्येक के अलग-अलग अधिकारीगण थे। सामान्यत: उच्च अधिकारी वश-परम्परागत होते थे। प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन सुव्यवस्थित उच्च पदाधिकारियो द्वारा सम्पन्न होता था।

केन्द्र मे न्यायदान या तो राजा स्वय करता था या उच्च अधिकारी द्वारा होता था। जिलो और नगरो मे शासन की ओर से विविध न्यायालय थे परन्तु स्वायत्त-शासित शिल्प-सघो के भी लोकप्रिय न्यायालय थे जिनमे वे अपने सदस्यो के विवादो का निर्णय करते थे। गुप्त सम्राटो का दण्ड-विधान विनम्र था। अधिकाश अभियुक्त केवल जुर्माने द्वारा ही दण्डित किये जाते थे। यह जुर्माना अपराधो के अनुपात के अनुसार भारी या हल्का होता था। प्राणदण्ड का सर्वथा अभाव था। बारम्बार विद्रोह करने पर अंगच्छेद का दण्ड दिया जाता था जो सबसे अधिक क्रूर दण्ड माना जाता था। राजकीय आमदनी का प्रमुख आधार भूमि-कर था जो उपज के एक भाग या उसकी कीमत के सिक्को मे दिया जाता था। साराश मे, प्रजा समृद्ध थी और कर तथा अनियन्त्रित शासन के प्रतिबन्धो से मुक्त थी एवं गुप्तकालीन शासन सुव्यवस्थित और सुसगठित था। प्रजा शान्ति और समृद्धि के वातावरण मे सुखी और सन्तुष्ट थी।

सामाजिक दशा

साधारण जनता की समृद्धि—चीनी यात्री फाह्यान के विवरण और गुप्त युग के शिला और मुद्रा-लेखो से उस काल मे देश की स्थिति और जनता की अवस्था की झलक मिलती है। चीनी यात्री लिखता है कि लोग सद्गुण-सम्पन्न, धनाढ्य और समृद्ध थे एव नगरो मे अपार जनसमूह हिलोरे लेता था। बहुसंख्यक लोग शाकाहारी थे और अहिंसा के सिद्धान्त पर आचरण करते थे। वे अपने बाजारो मे मद्य की दुकानें नही रखते थे, या घरो मे सूअर और मुर्गे नही पालते थे। वे मॉस, लहसुन और प्याज नही खाते थे और न सुरापान ही करते थे। चाण्डाल ही, जो समाज से बहिष्कृत थे, आखेट करते और मास खाते थे। सम्भवत. वह बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्त अहिंसा का, जो मौर्यकाल और उसके बाद के युग मे व्यवहृत था, परिणाम है और इसने समाज के भावो को ही परिवर्तित कर दिया था। फाह्यान का यह कथन है कि वह बिना किसी उपद्रव के मार्गों मे स्वच्छन्दता से भ्रमण कर सका, यह प्रमाणित करता है कि जनता मे सामान्यत किसी बात का अभाव न था और न उसमे अपराध करने की भावना ही थी। राजमार्गो पर बनी धर्मशालाएँ यात्रियो को प्रचुर मात्रा मे सुखप्रद सुविधाएँ प्रदान करती थी। दक्षिण विहार का प्रवेश अपने विशाल नगरो की समृद्धि और धन-धान्य के कारण और वहाँ के निवासियो की, जिन्होने अनेक स्थलो पर अन्नक्षेत्र

और औषधालय स्थापित किये थे, उदारता, धर्मपरायणता एवं दानशीलता के कारण विशेष प्रसिद्ध था।

सामाजिक संस्थाएँ और प्रथाएँ—इस काल की सामाजिक परिस्थितियो में तेजी से परिवर्तन हुए। कुछ अभिलेख यह प्रकट करते है कि इस युग के कतिपय लब्ध-प्रतिष्ठित विख्यात नरेशो ने जाति-व्यवस्था को निर्दिष्ट करने और जातियो को उनके कर्तव्य-क्षेत्रो के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न किये पर इस दिशा मे किये गये प्रयास सदैव सफल नही हो सके। ब्राह्मण और शिल्पी जातियो के सदस्य सेनानी का कार्य करते थे और क्षत्रिय जाति के लोग व्यापारी वनकर प्रतिष्ठा पा रहे थे। इस युग मे शूद्रो का काम तीनो वर्णो की सेवा नही था। वे व्यापारी, शिल्पी और कृपक का काम कर सकते थे। धन्धे व व्यवसाय जाति दास ही कठोरता से निर्दिष्ट नही होते थे। जाति-प्रथा ने अभी वह दृढता और अपरिवर्तनशीलता धारण नही की थी जो वर्तमान युग में अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान और धन्धों तथा व्यवसाय के लिए है। वैवाहिक नियम अभी भी परिवर्तनशील थे और विभिन्न जातियो, सम्प्रदायो और वशों के लोगो मे अन्तर्जातीय विवाह अज्ञात नही थे। समाज मे प्राय. सवर्ण विवाह होने लगे थे किन्तु असवर्ण विवाहो को भी वैध माना जाता था। अनुलोम (उच्च वर्ण के पुरुप के साथ निम्न वर्ण की स्त्री का सम्बन्ध) और प्रतिलोम (निम्न वर्ण के वर के साथ उच्च वर्ण की कन्या का सम्बन्ध), दोनो प्रकार के विवाह प्रचलित थे। विभिन्न वर्णो के अतिरिक्त विभिन्न जातियो मे भी विवाह होता था। वहुसख्यक विदेशियों के आने से, जिनमे से कतिपय जाति-व्यवस्था के ढाँचे मे प्रविष्ट कर लिये गये थे, जाति-प्रथा में जटिलता आ गयी थी। इस समय तक वर्तमान काल का यह विचार दृढमूल नही हुआ था कि हिन्दू समाज मे प्रवेश केवल जन्म द्वारा ही हो सकता है। हिन्दू धर्म से जो भी प्रभावित होता, वह हिन्दू आचार-विचार और सस्कार ग्रहण करके एक पीढ़ी मे विवाह द्वारा हिन्दू समाज का अभिन्न अग वन जाता था। रूढिवादी कट्टर ब्राह्मण भी विदेशियो से विवाह-सम्बन्ध करना अपवाद नही समझते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज मे दूसरी जातियो को अपने मे विलीन करने की सामर्थ्य गुप्त-युग तक प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थी। परन्तु यह शक्ति मध्य-युग मे विलुप्त हो गयी।

प्रागैतिहासिक काल का यह मत कि शूद्रो को ब्राह्मण के दास और नौकर रहने मे सन्तोप करना चाहिए न तो सैद्धान्तिक रूप मे अगीकार किया गया था और न व्यवहार मे ही अनुकरणीय था। इस युग में शूद्र लोगो को व्यापारी, व्यवसायी, शिल्पी और कृपक वनने की अनुमति थी। इनमे से असख्य सेना मे भरती होते थे और कप्तान, नायक, जतरल आदि जैसे उच्च पदो तक प्रगति करते थे। इतने पर भी समाज मे अस्पृश्यता थी ही। चाण्डाल या अछूत नगरो और वस्तियो से वाहर रहते थे और उनमे जव प्रवेश करते तव उन्हे लकड़ियाँ वजाकर चलना पड़ता था ताकि उसके शब्द से सवर्ण हिन्दुओ को उनके आगमन का ज्ञान हो जाता और वे उनके सम्पर्क से दूषित होने से वचे रहते। ये अछूत आखेट करते, मछलियाँ पकड़ते, मेहतर का कार्य करते या इनके समान ही अन्य घृणित धन्धे करते थे। दासता का प्रचार था परन्तु उस कठोर रूप मे नही जैसा रोम या यूनान में था। अधिकतर युद्ध-बन्दी और अपना ऋण चुकाने मे असमर्थ ऋणी दास बना लिये जाते थे। परन्तु जुआरी, ऋणी और दास अपने-अपने ऋण को देकर दासत्व से मुक्त हो सकते थे। अपने स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को रखकर युद्ध-बन्दी भी मुक्त हो सकते थे। जैसा

प्राचीन सदियो मे था, इस युग मे भी संयुक्त परिवार-प्रथा हिन्दू समाज की विशेषता बनी रही।

स्त्रियाँ—गुप्तकाल में बाल-विवाह का प्रचलन खूब हो गया था। पूर्ण यौवनावस्था प्राप्त होने और रजस्वला होने के पूर्व ही स्मृतियो के अनुसार कन्याओं के विवाह करने की प्रथा हो चली थी। फलत: कन्याओ को अपने वैवाहिक सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करने का कोई अवसर ही नही था। इतने पर भी स्वयवर की प्रथा विलीन न होने पायी थी। सम्भवत: विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवदेवी से इसी प्रकार का विवाह किया था। यद्यपि बहुविवाह-प्रथा का खूब प्रचार था, परन्तु साधारणतया यह कुलीन परिवारो और राजवशो तक ही सीमित थी। अपने पति की चिता पर जलकर प्राण देने की सती-प्रथा शनै:-शनै: व्यवहार मे आ रही थी परन्तु इसका व्यापक प्रचार और विशिष्ट धार्मिक महत्त्व न था। यह प्रथा विशेषकर शासन करने वाले राजवशो मे ही थी। भास, कालिदास और शूद्रक ने इस प्रथा का वर्णन अपने ग्रन्थो मे किया है। सुखी और समृद्धिशाली परिवारो मे कन्याओ को साहित्यिक और सास्कृतिक शिक्षा दी जाती थी और इस युग मे शील, भट्टारिका नामक आदि महिलाएँ कवियो और लेखको के रूप मे प्रख्यात है। सास्कृतिक कार्यों मे उच्च जाति और श्रेणियों की स्त्रियाँ रुचिपूर्वक हाथ बँटाती थी और युग के शासन-सचालन मे सक्रिय प्रमुख भाग लेती थी। कुछ प्रान्तों में विशेपकर कन्नड़ प्रदेश मे स्त्रियाँ प्रान्तीय शासन और गाँवो के मुखिया का भी कार्य करती थी। दक्षिण मे वहाँ के राज-परिवारो की स्त्रियाँ अभिलेखो मे न केवल सगीत और नृत्य मे प्रवीण बतायी गयी है अपितु वे सार्वजनिक रूप से इन कलाओ मे अपनी निपुणता का भी प्रदर्शन करती थी। गुप्तकाल मे सम्राट की महारानी अपना एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कभी-कभी गृहस्थ जीवन से तंग आकर नारियाँ भी तपस्विनी हो जाती थी। यद्यपि पर्दे की प्रथा का प्रचार न था और नारियाँ स्वच्छन्दता से भ्रमण करती थी पर उच्चकुलीन महिलाएँ अपने वसनों पर एक प्रकार का आवरण पहनती थी।

भोजन, वेश-भूषा और आभूषण—इस युग मे शाकाहार तथा मासाहार दोनो प्रचलित थे। यद्यपि बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण मांस व मद्य का प्रचार कम हो गया था, तथापि विशिष्ट अवसरो पर मासाहार का उपयोग होता था। किन्तु ब्राह्मण व बौद्धो ने इसे त्याग दिया था। भोजन के पश्चात् प्राय: लोग पान खाते थे। निम्न श्रेणी के लोग मद्यपान करते थे। दक्षिण भारत मे राजवंशो के लिए पाश्चात्य देशो से सुरा मँगायी जाती थी, पर निर्धन लोग देशी मदिरा का व्यवहार करते थे। प्राचीन भारतीय वेश-भूषा जिसमे एक ऊपरी वस्त्र तथा एक नीचे का वस्त्र धोती होती थी, इस युग के पुरुष-वर्ग की वेश-भूषा बनी रही। परन्तु सिथियन लोगो ने कोट, ओवर-कोट और पाजामे प्रचलित किये और भारतीय नरेश इन्हे अधिकतर धारण करने लगे। राजसभा और शासकीय वेश-भूषा प्राचीन राष्ट्रीय वेश-भूषा ही बनी रही। शुभ मगलमय अवसरो पर शिरस्त्राण या मुकुट धारण किये जाते है। पदस्त्राण का उपयोग अधिक न था और अधिकाश लोग उनके बिना ही आते-जाते थे। देश के कुछ भागो में महिलाएँ छोटा घाघरा (Petticoat) पहनती थी और उसके ऊपर एक साडी। दूसरे प्रदेशों मे एक लम्बी साडी का उपयोग दोनो कार्यों के लिए होता था। यद्यपि जैकेट, ब्लाउज और फ्रॉक का उपयोग सिथियन महिलाओ

द्वारा होता था परन्तु ये नृत्य करने वाली कन्याओं में ही अधिक प्रचलित थे। ये हिन्दू समाज मे लोकप्रिय न थे। साधारण जनता सूती वस्त्र पहनती थी, पर धनाढ्य लोग उत्सवो के अवसर पर रेशमी वसन धारण करते थे। समकालीन भास्करकला और चित्रकला महिलाओ के विविध प्रकार के आभूपणो की सुन्दरता और विलक्षणता का पूर्ण परिचय देती है। गुप्त-युग मे सुन्दरतापूर्वक बनायी हुई कानो की आकर्पक बालियाँ विविध प्रकार के मोतियों की मालाएँ, लगभग एक दर्जन प्रकार की मेखलाएँ (कदौरे), वक्षस्थल और जघाओ के मोतियो के जालीदार आभूषण और रत्नजड़ित चूडियाँ व्यवहार मे थी। अगूठियो का प्रयोग अधिक था परन्तु नथ सर्वथा अज्ञात थी। अजन्ता के भित्ति-चित्र यह प्रकट करते है कि केश सँवारने की कलाएँ उतनी ही आकर्पक, सुन्दर और विविध थी जितने केश। मुख और ओठो की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए रंग तथा लेप अज्ञात नही।

आमोद-प्रमोद— चौपड और शतरंज घर के भीतर लोकप्रिय आमोद-प्रमोद के साधन थे और आखेट तथा गैंडे और मुर्गो की लडाई बाहर के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। बालको और महिलाओं में कन्दुक-क्रीडा लोकप्रिय थी। उत्सव के अवसर पर महिलाएँ एकत्रित होकर अनेक प्रकार के शारीरिक खेल खेलती थी। नाटक, प्रहसन, तमाशे, मेले आदि सास्कृतिक कार्यक्रम की सामग्री उपस्थित करते थे।

आर्थिक स्थिति

शिल्पी-संघ—निम्न और उच्च दोनो प्रकार के धन्धे, व्यापार, वाणिज्य और उद्योग-व्यवसाय शिल्पी-सघो मे सगठित थे। समकालीन शिलालेख और मुद्राएँ व्यापारियो और महाजनों के ही संघो का नही, अपितु जुलाहे, तेली, कारीगर आदि के शिल्पी-सघो का हवाला देते हैं। ये सघ अपने सदस्यो के लिए धनागार (बैंक) का कार्य करते थे। ये स्वायत्त-सस्थाएँ थीं। इनके अपने नियम, उपनियम, विधियाँ आदि थी जिन्हे सामान्यत. शासन सम्मान की दृष्टि से देखता और मान्यता देता था। इन संघो के कार्य चार या पाँच सदस्यों की एक छोटी कार्यकारिणी एवं सभापति द्वारा संचालित होते थे। इनके सदस्यो के पारस्परिक वाद-विवादो के निर्णय सघ की कार्यकारिणी करती थी। सघो का अपना कोप व स्थावर सम्पत्ति होती थी। इनमें से कई तो इतने धनाढ्य और वैभवशाली होते थे कि वे कई मन्दिर, देवालय और विहार निर्माण करवाते थे। निर्दिष्ट चिह्न के हेतु प्रत्येक सघ की अपनी अलग मुद्रा या मुहर होती थी।

व्यवसाय—गुप्तकाल मे कृपि तथा उद्योग-धन्धो मे प्रभूत प्रगति हुई। कृपक गेहूँ, चावल, जूट, तिलहन, बाजरा, ज्वार, कपास, मसाले, सुपारी, नील आदि उत्पन्न करते थे। भूमि बडी मूल्यवान सम्पत्ति समझी जाती थी। वनो मे भी सागौन, सदल आवनूस आदि बहुमूल्य लकड़ी होती थी। कपड़ा बुनना देश का प्रमुख व्यवसाय था। इसके प्रधान केन्द्र दक्षिण बगाल, गुजरात तथा तामिल देश के नगरो मे थे। हाथीदाँत की वस्तुएँ बनाना, शिल्प के विभिन्न कार्य करना, चित्रकला, जलपोत बनाना आदि अन्य व्यवसाय थे। लेन-देन में मुद्रा का विशिष्ट प्रचार न था। प्रायः वस्तु-विनिमय-प्रथा ही प्रचलित थी।

वाणिज्य-व्यापार—गुप्तकाल अत्यधिक व्यापार और वाणिज्य का युग था। देशी और विदेशी व्यापार गुप्त राजवश के सरक्षण मे खूब फला-फूला और देश की सम्पत्ति मे अपार वृद्धि हुई। अन्न, मसाले, नमक, सोना-चाँदी और बहुमूल्य रत्न

आन्तरिक व्यापार की प्रमुख वस्तुएँ थी और वह व्यापार सडको और नदियो दोनों मार्गों से होता था। उत्तरी व दक्षिणी भारत के परस्पर-व्यापार में भी वृद्धि हुई। दो थल-मार्ग इस समय सबसे अधिक लोकप्रिय थे। इनमें से एकल जबलपुर क्षेत्र मे से होता हुआ पूर्वी समुद्रतट पर जाता था और दूसरा पश्चिमी समुद्रतट पर उज्जैन, नासिक, खरबार होता हुआ जाता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा सौराष्ट्र का समुद्रतटीय प्रवेश विजय कर लेने से पाश्चात्य व्यापार का मार्ग खुल गया था और रोमन साम्राज्य का धन-द्रव्य पश्चिमी घाट के कल्याण, चोत, भड़ौच और खम्भात के बन्दरगाहो से भारत मे अविरल गति से आने लगा था। रोमन निवासियो की विलास-प्रवृत्ति एव श्रृंगारप्रियता से भारत ने यथेष्ट लाभ उठाया, यहाँ तक कि रोमन सम्राटो को इस प्रकार नष्ट होती हुई सम्पत्ति की रक्षा के हेतु विविध उपाय निकालने पडे। बगाल मे ताम्रलिप्ति (अर्वाचीन तामलुक) प्रमुख बन्दरगाह था, जो चीन, लका, जावा और सुमात्रा जैसे पूर्वी देशो से खूब व्यापार करता था। आन्ध्र देश मे कृष्णा और गोदावरी नदी के मुहानो पर अनेक बन्दरगाह स्थित थे। इनमे से कदूरा और घण्टशाल का उल्लेख टालमी ने किया है। कावेरीपट्टम (आधुनिक पूहर) और टोडाई चोल प्रदेश के, कोरकई और सलियूर पाड्य देश के और कोट्टायम तथा मुजिरिस (वर्तमान क्रेगनोर) मलाबार समुद्रतट के प्रधान बन्दरगाह थे। ये पूर्वी द्वीपसमूह और चीन देश से निरन्तर प्रगतिशील आयात-निर्यात करते थे। निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ मोती, रत्न, नारियल, हाथीदाँत की वस्तुएँ और आयात मे स्वर्ण और स्वर्ण-मुद्राएँ, चाँदी, ताँबा, टीन, सीसा, रेशम, कपूर, खजूर के फल, प्रवाल और अश्व थे। मौर्यकाल मे मुख्यत. कलिग देश के बन्दरगाहो द्वारा पूर्वी देशों से व्यापार होता था। गुप्तकाल मे पूर्वी व्यापार मे ही सफलतापूर्वक वृद्धि नही हुई, अपितु पश्चिमी समुद्रतट से होने वाले वाणिज्य-व्यापार की अभिवृद्धि भी हुई और इससे अद्वितीय आर्थिक समृद्धि और वैभव का अभ्युदय हुआ।

धर्म

शक्ति की प्रधानता—गुप्तकाल मे धर्म सम्पन्नता, ओज और विविधता से ओतप्रोत था। इस युग के लोगो के धार्मिक जीवन का सबसे अधिक महत्त्वशाली लक्षण भक्ति की विशिष्टता थी। भक्ति का अर्थ है अपने इष्टदेव के प्रति अभिन्न श्रद्धा और अनुराग रखना एव मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम व स्नेह की 'भावना बनाये रखना। यह भावना दानशीलता और उदारता के कार्यो मे तथा अन्य व्यक्तियो के मतो और धर्मो के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करने मे अभिव्यक्त होती थी। विष्णु और शिव के अनुयायियो मे भक्ति एक विशेष अग हो गया था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा था कि "वह जो भक्ति-योग द्वारा ईश्वर की सेवा करता है, भवसागर के पार हो जाता है और मोक्ष के सर्वथा योग्य है।" शिव के प्रति भक्ति की प्रेरणा से ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक मन्त्री ने उदयगिरि की पहाडियो मे एक गुफा को अलकृत किया था। विष्णु तथा अन्य देवताओ के प्रति अगाध भक्ति की अभिव्यजना उच्च स्तम्भो, सुन्दर कलापूर्ण प्रवेश-द्वारो, श्रद्धा व अनुराग की प्रेरणा देने वाली मूर्तियो, विष्णु, कार्तिकेय, सूर्य, जैन तीर्थंकर तथा बुद्ध के अनेक भव्य मन्दिरो के निर्माण करने मे हुई।

धार्मिक स्वतन्त्रता, 'सहिष्णुता व दानशीलता—इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण धार्मिक सहिष्णुता एव अनुरूपता की भावना का पूर्ण प्रसार था। तत्कालीन अभिलेखो और साहित्य में इस आशय के निर्दिष्ट सकेत है कि वैष्णव मतावलम्बी राजा

शैव तथा बौद्धो को राज्य-सेवा और शासन मे उच्च पदाधिकारियों के स्थानों पर बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के नियुक्त करते थे तथा जैनियों और ब्राह्मणो में परस्पर धार्मिक अनुराग, सहिष्णुता और असाधारण सद्भावना थी। ये बातें इस कथन की पुष्टि करती है कि गुप्तकाल में धार्मिक सहिष्णुता व अनुरूपता की भावना पूर्णरूपेण प्रसारित थी। गुप्त सम्राट तो बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों के प्रति अत्यधिक उदार तथा सहिष्णु थे। जनसाधारण मे भी सहिष्णुता, उदारता और दानशीलता की भावना थी। जनता द्वारा व्यक्तिगत रूप से तथा शासन की ओर से बौद्ध मठो, विहारो और जैन मन्दिरो को धार्मिक दान दिया जाता था एवं बौद्ध तथा जैन तीर्थंकर की मूर्तियों की जो प्रतिष्ठा हुआ करती थी, उनका तत्कालीन अभिलेखो मे उल्लेख है। इस लोक और परलोक मे सुख और पुण्य अर्जित करने के हेतु लोग अनेक साधुओं और उपासको को प्रभूत दान करते और ब्राह्मणों को स्वर्ण तथा अग्रहार (ग्रामदान) करते थे। मूर्तियो तथा मन्दिरो के निर्माण और उनके व्यय के चिरकालिक प्रबन्ध (अक्षय-नीवी) मे भी वे दत्तचित्त रहते थे। अक्षय-नीवी के व्याज से वर्ष भर मन्दिरो मे दीप जलाने की सुव्यवस्था थी। बौद्ध एव जैन सम्प्रदाय के दान का भी अभाव न था। प्राय ये बुद्ध तथा जैन तीर्थंकरो की मूर्तियों की स्थापना के रूप मे होते थे। बौद्ध मतावलम्बी सम्पन्न व्यक्ति भिक्षुओं के निवासार्थ विहार बनवाते एवं उनके आहार तथा वस्त्र की व्यवस्था करते थे। गुप्तकाल में बुद्ध और बोधिसत्व की जो अनेक मूर्तियाँ भारत के विभिन्न प्रदेशो मे, विशेषकर सारनाथ, मथुरा और नालन्दा में प्राप्त हुई है, वे यह प्रमाणित करती है कि गुप्त शासन में बौद्ध धर्मावलम्बियो ने पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता का आनन्द उठाया था। कुमारगुप्त प्रथम ने नालन्दा के प्रसिद्ध विहार का निर्माण कराया था और अन्य गुप्त सम्राटों ने उसमें दूसरे भवनों को बनवाया और अनुदान दिये। फाह्यान ने गगा की घाटी के निवासियो की धार्मिक भावना दानशीलता और सहिष्णुता का उल्लेख किया है। ये लोग धार्मिक सस्कारो तथा क्रिया अनुष्ठानो मे ही दत्तचित्त नही रहते थे, अपितु दानशीलता और अहिंसाव्रत में सलग्न रहते थे।

धार्मिक शास्त्रों का व्यवस्थित रूप—धार्मिक दृष्टि से इस युग का तीसरा महत्त्वशाली लक्षण यह है कि ब्राह्मणो ने अपने धर्म एव दर्शन सम्बन्धी विचारो को स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के ग्र थों मे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। दर्शनो के मूलभूत प्राचीन विचारो को सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप इस युग मे दिया गया। बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्त्वो के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उन्हे ब्राह्मणो ने अपने धर्म मे समाविष्ट कर हिन्दू धर्म को सुदृढ़ कर दिया। गुप्त सम्राट भागवत धर्म के अनुयायी और पक्षपोषक थे, उन्ही के शक्तिशाली समर्थन और उदार सरक्षण मे वैष्णव धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ। गुप्तकाल में अधोलिखित प्रमुख धर्म उन्नत दशा मे थे—

बौद्ध धर्म—गुप्तकाल मे भी बौद्ध धर्म उन्नत था। प्रसिद्ध विद्वान, महात्मा और दार्शनिक आसग, वसुबन्धु, कुमारजीव, परमार्थ और दिगनाग बौद्ध धर्म के शक्तिशाली प्रतिभावान व्यक्ति थे। ब्राह्मण धर्म के साथ ही साथ बौद्ध धर्म भी अपने दोनो सम्प्रदाय हीनयान और महायान सहित प्रचलित था, पर गुप्तकाल की बाद की शताब्दियो मे शनै-शनै उसकी अवनति होने लगी थी। राज्याश्रय के अभाव ने बौद्ध धर्म की लोकप्रियता पर कोई विशेष प्रभाव नही डाला। गगा की घाटी के उत्तर मे

विहार एवं वगाल मे बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म दोनों ही समान रूप से लोकप्रिय थे परन्तु फाह्यान के कथनानुसार गुप्तकाल मे , कश्मीर, अफगानिस्तान और पजाव बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध स्थान थे । सारनाथ, पहाड़पुर अजन्ता और नागार्जुनीकोडा के कला के नमूने इस कथन की पुष्टि करते है कि गुप्तकाल बौद्धकाल का स्वर्णयुग था । वोध-गया मे भी, जहाँ सिंहली यात्रियों के लिए गुप्तकाल मे एक विशेष धर्मशाला का निर्माण किया गया था, बौद्ध कला की उन्नतावस्था के प्रमाण मिलते हैं । वंगाल मे मृगाशिखावन बौद्ध धर्म व सस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था । पश्चिमी महाराष्ट्र मे भज, कुड, महार, बेडसा, जुनार, कान्हेरी आदि स्थानो के बौद्ध मन्दिरो, गुफाओ और विहारो का सरक्षण धन-सम्पन्न कुलीन शिष्ट जनो द्वारा ही नही होता था, अपितु अनेक शिल्पी-सघो और लव्धप्रतिष्ठित व्यापारियो तथा व्यवसायियो द्वारा भी होता था । अजन्ता और एलौरा की गुफाएँ इस वात का प्रमाण है कि वे पूर्वी महाराष्ट्र मे बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे जिन्हे राज्य और समाज दोनो ही अग्रहारदान देते थे । आन्ध्र देश बौद्ध स्तूपों और विहारो से भरा पडा था और दक्षिण मे तामिल देश मे कांची बौद्ध धर्म का दूसरा प्रसिद्ध केन्द्र था, जिसने महान प्रख्यात बौद्ध तर्कशास्त्री दिगनाग को उत्पन्न किया था और नालन्दा विश्वविद्यालय को धर्मपाल जैसा महान महन्त प्रदान किया था । काठियावाड मे वलभी, जहाँ के विविध विहारो को मैत्रक नरेशो ने उदारता से दान दिया था, बौद्ध धर्म का प्रख्यात केन्द्र था । ये सव इस कथन के हेतु यथेष्ट प्रमाण है कि बौद्ध धर्म गुप्तकाल मे उन्नत था, उसकी शक्ति क्षीण नही हुई थी और न ब्राह्मण धर्म ने उसका स्थान ही लिया था । यद्यपि बौद्ध धर्म ने गुप्त सम्राटो का उदार सरक्षण खो दिया गया था परन्तु फिर भी उसे उनकी पूर्ण सहिष्णुता प्राप्त थी । बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय क्रमश अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था और समस्त देश मे लोग बुद्ध मूर्तियो से अवगत थे । अनेक स्थलो पर बौद्ध स्तूप और चैत्यो का निर्माण किया गया था एव बौद्ध धर्म के इन भव्य स्थानो को सुन्दर कलाकृतियो से अलकृत किया गया था । बौद्ध धर्म तन्त्र-मन्त्रो की क्रियाओ और अनुष्ठानो से मुक्त था परन्तु इस युग के अन्तिम वर्षो मे जनतन्त्रवाद इस धर्म मे घर करने लग गया था । फिर भी महायान सम्प्रदाय के लिए यह युग सृजनात्मक और गौरवशील रहा । इस सम्प्रदाय की सर्वोत्कृष्ट मौलिक एव सुदूर तक प्रभावित करने वाली देन दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे है जिसकी उन्नति मे इस सम्प्रदाय के विचारको ने गुप्तकाल मे अपना पूर्ण सहयोग दिया ।

जैन धर्म—गुप्तकाल मे उत्तर प्रदेश मे मथुरा, सौराष्ट्र मे वलभी, उत्तरी वगाल मे पुन्ड्रवर्धन, मध्य प्रदेश मे उदयगिरि, दक्षिण मे कर्नाटक तथा मैसूर और तामिल देश मे कांची, जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे । दक्षिण के कदम्ब, गग, पल्लव और पाड्य नरेश जैन धर्म के प्रति अत्यन्त ही सहिष्णु थे । वलभी मे 453 ई० मे जैन धर्म के ग्रन्थो का सशोधन करने के लिए एक विशाल सभा हुई थी । गुप्तकाल मे बुद्धि, विवेक और ज्ञान की जो प्रवल लहर प्रवाहित हुई थी, उससे जैन धर्मावलम्वी भी प्रभावित हुए । फलत उन्होने अपने धर्मशास्त्रो पर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिख डाली । इस युग मे सस्कृत अत्यधिक प्रगतिशील होने से जैनियो ने भी अपने धर्म-ग्रन्थ प्राकृत की अपेक्षा सस्कृत मे लिखे । यद्यपि जैन धर्मावलम्वियो और शैव मतावलम्वियो मे परस्पर सघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा थी, परन्तु इससे किसी प्रकार का संपीडन आतक या हत्याएँ नही हुई थी ।

हिन्दू धर्म---पुष्यमित्र के समय से ही मध्य देश मे ब्राह्मण धर्म या हिन्दू धर्म उन्नति के राजपथ पर आरूढ़ हो चला था और इसे गुप्त सम्राटो का राजकीय आश्रय

प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था। वस्तुतः गुप्तकाल मे ही इसने नवीन जीवन पाया था। तत्कालीन अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि नरेश, मन्त्री और धन-सम्पन्न व्यक्ति ब्राह्मणों को मन्दिरो और भूमि का दान किया करते थे। इन मन्दिरों में हिन्दू धर्म के अनेक देवताओं, विशेषकर विष्णु, शिव और सूर्य की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होती थी। ऐसा भास होता है कि इसी युग में विस्तृत क्रिया-विधियों सहित मूर्ति-पूजा का सूत्रपात हुआ। देवताओं के सुनहरे तथा भव्य मन्दिर निर्मित होने लगे और उनका साज-श्रृंगार व उनकी पूजा एक प्रपच बनने लगी। 'जहाँ कही भी पूजा-भाव किसी भी रूप में पाया गया, उसमे किसी न किसी देवता का 'संकेत' रख दिया गया। प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी ने किसी देव-भक्ति का प्रतीक बना दिया गया। 'देवज्योति' को मानो उसने ऊँचे वर्ग और वैदिक कवियों के कल्पनाजगत से उतारकर भारत के कोन-कोने में पहुँचा दिया, जिससे जनसाधारण की सब पूजाएँ आर्य-प्राण हो उठी और उनके जड-देवता भी वैदिक देवताओ की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे।

ब्राह्मण धर्म के देदीप्यमान उत्कर्ष का दूसरा उदाहरण यह है कि कतिपय गुप्त सम्राटो ने वैदिक विधियों को अपनाया तथा अश्वमेध और वाजपेय, अग्निसोम, अतिरात्र जैसे यज्ञ और अनुष्ठान किये। सम्राट स्वय ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हो गये। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ किया और इस घटना को चिरस्मरणीय करने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ प्रसारित की तथा अपनी उपाधियो मे 'अश्वमेध-पराक्रम' की एक और उपाधि लगा दी। उसके प्रपौत्र कुमारगुप्त प्रथम ने भी यही उपाधि धारण की।

ब्राह्मण धर्म के ज्वलन्त समुदय का अन्य उदाहरण यह है कि उस काल के नरेशो ने इसे अगीकार कर लिया था एव चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त ने 'परम भागवत' की उपाधि धारण की। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि जनसाधारण मे वैदिक क्रिया-विधियाँ उतनी अधिक लोकप्रिय न हो पायी थी जितना भक्ति-मार्ग, जिसकी अभिव्यक्ति शिव, विष्णु एवं अन्य देवताओं के प्रति अनुराग व स्नेह में हुई थी।

ब्राह्मण धर्म के इस समुदय में स्वय उस धर्म की आन्तरिक शक्ति तथा प्रभूत उदारता एव अगीकरण की शक्ति भी एक कारण थी। प्राचीन अदार्शनिक साधारण अन्धविश्वासो, क्रिया-विधियो तथा पौराणिक कथाओ को अपनी स्वीकृति का पुट देकर ब्राह्मण धर्म लोकप्रिय हो गया। निर्वर्ण विदेशियो को इसने अपने समाज मे अगीकार कर अपनी शक्ति बढायी। नयी मान्यताओ के कारण ब्राह्मण धर्म ने जो अपना नवीन रूप धारण किया, वही आधुनिक युग का हिन्दू धर्म है।

ब्राह्मण धर्म के ऐसे उत्कर्ष के फलस्वरूप गुप्त-युग का वैष्णव सम्प्रदाय या भागवत सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय हो रहा था। वैदिक देवताओ की प्रतिष्ठा घट चुकी थी और उनके स्थान पर विष्णु, शिव आदि पौराणिक देवताओ के प्रति अधिक श्रद्धा बढ़ रही थी। अवतार के सिद्धान्त के आधार पर विष्णु आशा और विश्वास का सचार करने वाले, मानव-कल्याण, परिरक्षण एव पालन करने वाले देवता माने जाने लगे। राक्षसो के आक्रमणो और अधर्म के आतक मे विश्व की रक्षा करने के हेतु विष्णु ने समय-समय पर अवतार लिये। विष्णु की उपासना अब चक्रधारी, गदाधर, जनार्दन, नारायण, वासुदेव, गोविन्द आदि नामो से होने लगी थी। दस अवतार का

सिद्धान्त तो ईसा से पूर्व ही प्रचलित था, परन्तु अवतार का पूजन-अर्चन ईसा के पश्चात ही लोकप्रिय हुआ और गुप्तकाल मे अवतार के सिद्धान्त का पूर्ण विकास हो गया। इस प्रकार गुप्त-युग के धर्म का एक प्रमुख भाग यह है कि अवतार का सिद्धान्त पूर्णरूपेण अगीकृत हो चुका था। इस युग मे महाभारत के कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे और ईसा की प्रथम सदियों मे कृष्ण को मानव का उद्धारक और सर्वोपरि ईश्वर का अन्तिम रूप दिया गया। परन्तु इस सिद्धान्त का कि कृष्ण अनन्त, अनादि और निर्गुण है, जैसा गीता मे कहा है, अन्तिम निश्चयात्मक रूप गुप्तकाल मे ही बन गया। यहाँ यह बात जानना रुचिकर प्रतीत होगा कि गुप्तकाल में राम और सीता की उपासना का उल्लेख नही होता है। राम मत अभी सर्वप्रिय नही हो पाया था।

वैष्णव धर्म के समान ही शैव मत भी लोकप्रिय था। यदि गुप्त, पल्लव और गंग नरेश वैष्णव थे, तो भारसिव, वाकाटक, नाग, मैत्रक व कदम्ब राजवश शैव थे। वैष्णव मतावलम्बी गुप्त सम्राटो के 'शाम्ब' और पृथ्वीसेन जैन उच्च पदाधिकारी स्वय शैव थे। इस युग मे शिव-मन्दिरो का निर्माण करना लगभग लोकप्रिय हो चुका था। शिव वह देवता थे जिनकी पूजा की जाती थी, पर जिनसे अनुराग नही था। वे कृष्ण के समान जनप्रिय व्यक्ति, इष्ट देवता नही थे, पर सृष्टि के सहारक थे। विभिन्न रूपो मे शिव की पूजा होती थी। गुप्तकाल की बहुसख्यक शिव मूर्तियो में मानव-आकृति और लिग-आकृति दोनो का समन्वय है। ये या तो एकमुखी लिग है अथवा चतुर्मुखी लिग है अर्थात शिवलिग पर शिव के चार मुखो की आकृतियाँ उत्कीर्ण की हुई है। इसके अतिरिक्त शिव की प्रलयकारी मूर्ति भी निर्मित की गयी है जिसका ताण्डव-नृत्य के समय का स्वरूप अत्यन्त ही भयकर है। इस देवता के अन्य लक्षण या चिह्न त्रिशूल और नन्दी है।

इस युग के धर्म का दूसरा महत्त्वशाली अग देवी की उपासना थी। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो मे देवी-उपासना का खूब प्रचार व प्रसार हुआ था। देवियो मे मुख्य स्थान लक्ष्मी, दुर्गा अथवा भगवती, पार्वती आदि का था। शिव-शक्ति का सिद्धान्त लक्ष्मी और नारायण के मत से परिवर्तित हो गया था। कतिपय विद्वानो का मत है कि इस देवी-उपासना के फलस्वरूप तान्त्रिक धर्म का उत्कर्ष इस युग मे हो चला था।

इसके अतिरिक्त सूर्य के भी कतिपय मन्दिर थे और सूर्य-प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई है। तात्कालिक अभिलेखो से हवाला मिलता है कि विशिष्ट रूप से रुग्ण को स्वस्थ करने के लिए सूर्य की आराधना और उपासना की जाती थी। साधारण जनता की निम्न श्रेणियों मे नाग और यक्ष पूजा का प्रचार था। ग्वालियर के पास पदमावती मे एक यक्ष मन्दिर और बिहार मे राजगृह मे मणिनाग का देवालय था। इसके अतिरिक्त कार्तिकेय का एक मन्दिर और गणेश की प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई है। मन्दिरो मे पूजन-अर्चन गुप्तकाल मे ही यथेष्ट रूप से प्रचलित हो चला था और अनेक मन्दिरो, देवालयो और आराधना-गृहो के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। धीरे-धीरे ये मन्दिर हिन्दू धर्म और सस्कृति के केन्द्र हो गये थे। उसके निर्माण व अलंकृत करने के कार्यो ने शिल्पी, सगतराश और चित्रकारो को प्रेरणा दी, उनके पूजन-अर्चन मे सगीत और नर्तकियो की आवश्यकता हुई एव उनके सभा-मण्डपो मे दिये जाने वाले धर्मोपदेश ने पौराणिक पुरोहितो और दार्शनिको की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को अभिव्यक्त होने

के सुअवसर प्रदान किये। मन्दिरों में पूजन-अर्चन के अतिरिक्त तीर्थयात्रा, सन्ध्या-पाठ, पूजा-पाठ, पितृ-पूजा, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, संस्कार आदि का भी महत्त्व बढ़ रहा था। इस युग का पवित्रतम स्थान प्रयाग माना जाता था।

साहित्य का विकास

संस्कृत साहित्य—अशोक के शासनकाल में और उसके बाद प्राकृत उपभाषाओं ने इतना अधिक घर कर लिया था कि उनमे शिलालेख, मुद्राएँ, कहानियाँ और शासकीय अभिलेख ही नही लिखे जाते थे अपितु अनेक साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे गये। फलत इस मत का प्रतिपादन हुआ कि अशोक के पश्चात और गुप्तकाल के पूर्व के युग में सस्कृत भाषा सुषुप्त अवस्था मे थी, पर इस मत का पूर्ण खण्डन कर दिया गया है। ज्यो-ज्यो प्राकृत भाषाओं का विकास होता रहा, उनमें परस्पर अधिक अन्तर होने लगा। परिणामस्वरूप, संस्कृत ने राष्ट्र भाषा का पद ग्रहण कर लिया और गुप्तकाल के एक शताब्दी पूर्व ही महायान बौद्धो ने अपने पवित्र धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग करना आरम्भ कर दिया। उन्होने अपनी रचनाएँ इसी भाषा मे की। गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय होने पर सस्कृत के विकास में एक नवीन गतिशीलता आ गयी। गुप्त सम्राट संस्कृत के इतने अधिक उत्साही प्रशंसक थे कि ऐसा कहा जाता है कि उन्होने अपने रगमहलों और अन्त:पुर में भी सस्कृत के प्रयोग करने के आदेश दिये थे ; उन्होने सस्कृत राज्यभाषा घोषित कर दी और उनके सभी शिलालेखो और शासकीय अभिलेखों में निरन्तर सस्कृत का ही प्रयोग होने लगा। मुद्राओं, उपाख्यानो और धर्म-शास्त्रो मे संस्कृत ने प्राकृत का स्थान छीन लिया। सारे देश के दार्शनिको, कवियो और शासकों की भाषा होने से संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुई। परिणामस्वरूप, सस्कृत साहित्य की महान वहिर्मुखी उन्नति हुई। इस सजग प्रगति से उसका योग और प्रभाव बढ चला और सस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना इसी गुप्तकाल मे हुई। इसी कारण गुप्तकाल सस्कृत साहित्य का स्वर्ण युग और अत्युत्तम उच्च कोटि के साहित्य का जनक कहा जाता है।

गुप्त सम्राट स्वयं सुसंस्कृत थे, अतः उन्होने साहित्य को उदारता से आश्रय दिया। वे विद्या और साहित्य के प्रचार में सदैव प्रयत्नशील रहे। ये उन अनेक मेधावी और प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सम्पर्क मे रहे जो उस युग के उपयुक्त वातावरण मे फले-फूले। समुद्रगुप्त जो स्वयं प्रतिभाशाली कवि और कुशल संगीतज्ञ था, विद्वानों के सत्संग में रहा और राजसभा के कवियो को उसने प्रेरणा दी। अनेक कवियो ने उसका आश्रय पाया था। उसकी राजसभा का सबसे अधिक प्रख्यात कवि हरिसेन था जो इलाहाबाद के स्तम्भ की प्रशस्ति का लेखक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता का अनुकरण किया और उसके उच्च मन्त्रियों में वीरसेन शाब नाम का एक कवि था। विविध किंवदन्तियो के अनुसार सस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कवि कालिदास चन्द्रगुप्त की राजसभा का मेधावी साहित्यिक था। (परन्तु विद्वान इतिहासकारों मे कालिदास की तिथि के बारे मे मतभेद है। उसकी तिथि अभी विवादास्पद है।) उसने 'शकुन्तला,' 'मालविकाग्निमित्र,' विक्रमोर्वशी' जैसे नाटक, 'रघुवश' जैसे महाकाव्य और 'ऋतुसहार' जैसे गीतकाव्य की रचना की। कालिदास की प्रखर मेधा की ऊँचाई तक अन्य कवि न पहुँच सके। ऊँचे कवित्वमय भावों से ओतप्रोत शैली की सरलता एवं शब्द-चयन के माधुर्य के कारण कालिदास सस्कृत साहित्य में अद्वितीय हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कवियों का भी बाहुल्य गुप्तकाल मे था। वत्सभट्टि नामक कवि

कुमारगुप्त प्रथम और द्वितीय का समकालीन था। पाटलिपुत्र का वीरसेन शाव चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक उच्च अधिकारी एव राजसभा का सदस्य, महान व्याकरणाचार्य, राजनीतिज्ञ और कवि था। इस युग का अन्य प्रसिद्ध कवि भैरवी 'किरातार्जुनीय' का लेखक था। 'वासवदत्ता' का प्रख्यात लेखक सुबन्ध गुप्तकाल मे ही हुआ। बौद्धो का प्रसिद्ध लेखक आसंग जो 'योगाचार भूमिशास्त्र,' 'महायान सम्परीगृह' और इसके समान ही अन्य ग्रन्थो का रचयिता था तथा उसका भ्राता आचार्य वसुबन्धु जिसने बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं एवं 'प्रमाण समुच्चय' का लेखक दिगनाग इस युग के सर्वोत्कृष्ट लब्धप्रतिष्ठ बौद्ध लेखको में से थे। बौद्ध दर्शन के अधिकाश श्रेष्ठ आचार्य गुप्त-युग मे ही हुए। 'मुद्राराक्षस' का रचयिता विशाखदत्त और 'अमर कोष' का लेखक अमरसिंह गुप्तकाल के ही थे। 'मृच्छकटिक' नाटक का रचयिता शूद्रक, 'काव्यादर्श' और 'दशकुमार चरित्र' का लेखक दण्डिन इस युग मे प्रसिद्ध थे। रसिक, ललित एव चपल भर्तृहरि जो क्रमश. दरबारी, वैरागी, दार्शनिक, व्याकरणाचार्य और कवि था, इस युग की विविध सस्कृति का नमूना था। हिन्दुओं मे पाणिनि, कात्यायन और पंतजलि के व्याकरण-ग्रन्थो का बडा आदर था किन्तु बौद्धो मे चन्द्रगोमी नामक बगाली बौद्ध भिक्षु द्वारा विरचित 'चन्द्र व्याकरण' इस युग मे बडा लोकप्रिय हो गया। छन्दशास्त्र का विवेचन इस समय श्रुतबोध तथा वराहमिहिर की 'बृहद् सहिता' एव 'अग्निपुराण' मे हुआ। वात्स्यायन का 'कामशास्त्र' भी इसी युग की रचना है। सस्कृत गल्प-साहित्य की प्रसिद्ध पुस्तकें 'पचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की रचना सम्भवत. इसी युग मे हुई थी। विश्व की पचास से अधिक भाषाओ मे इनके अनुवाद हुए हैं। इनकी कहानियाँ बगदाद, बैझनटाइन और काहिरा की राजसभाओ तक और अन्त मे अन्य पाश्चात्य देशो मे पहुँची, जहाँ इन्होने मध्यकालीन यूरोप के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे ऐसा विश्वास किया जाता है कि साख्य-पद्धति ने, जो कई सदियो से प्रचलित थी, वर्षगुगण्र और ईश्वरकृष्ण के भाष्यो और टीकाओ मे एक नवीन जीवन का अनुभव किया। ऐसा हमें बौद्ध ग्रन्थो से विदित होता है। साख्यदर्शन का सबसे सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ 'साख्यकारिका' ईश्वरकृष्ण की कृति है। 'न्यायभाष्य' के लेखक वात्स्यायन और इस भाष्य पर न्यायवर्तिक नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखने वाले उद्योतकर इसी काल की विभूति हैं। इसी युग मे एक सचिव द्वारा 'कामन्दकीय नीतिसार' की रचना हुई जो अर्थशास्त्र का एक अनुपम ग्रन्थ है। तामिल साहित्य का भी विकास हुआ और सम्भवत रामायण और महाभारत का अनुवाद तामिल भाषा मे इसी युग मे हुआ।

हिन्दू धर्म के साहित्य को नवीन रूप देने और अधिक लोकप्रिय बनाने के हेतु समाज के ब्राह्मण नेताओ ने उनके धार्मिक ग्रन्थो को संशोधित करके उनकी पुनः रचना की। नवीन दृष्टिकोण के साहित्य का यह नया संस्करण था। अनेक पुराणों और महाकाव्यो का अन्तिम सम्पादन इसी युग मे किया गया एव कई स्मृति और सूत्रो पर भाष्य लिखे गये तथा सस्कृत के अन्य अनेक धार्मिक ग्रन्थो की रचना इसी काल में हुई। पुराणो में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के महात्म्य का वर्णन किया गया, पर वह्म और अनुष्ठानो को महत्त्व देने वाला भाग अभी तक इनमे नही जुड़ा था। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, पाराशर और बृहस्पति की स्मृतियाँ इसी युग मे बनी। इनमे याज्ञवल्क्य की स्मृति बडी सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध है। इस प्रकार साहित्य की अनेक शाखाओ के विकास और प्रगति के कारण ही गुप्तकाल को हिन्दुस्तान का 'ऑगस्टन-युग' (Augustan Age) कहा जाता है।

विज्ञान

गुप्तकाल में विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। शून्य के सिद्धान्त का प्रारम्भ और फलत: दशमलव-प्रणाली का विकास करने का श्रेय इस युग के मेधावी वैज्ञानिको को ही है। आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त अपने समय में 'विश्व के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी और गणितज्ञ थे।' 'सूर्य सिद्धान्त' नाम के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में आर्यभट्ट सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण के कारणों का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करता है। पृथ्वी के आकार के विषय मे उसकी जो गणना थी, वह वर्तमान ज्योतिषियों की गणना और निरूपण से बहुत कुछ साम्य रखती है। आर्यभट्ट यह जानने वाला प्रथम भारतीय था कि पृथ्वी अपने कक्ष के चारो ओर घूमती है। उसने सर्वप्रथम ज्योतिष मे जीवा का उपयोग ज्ञात किया व ग्रहो एवं ग्रहणो सम्बन्धी अनेक गणनाएँ की। उसने जो वर्ष-मान निकाला, वह यूनानी ज्योतिषी टालमी द्वारा रचित गणना से अधिक शुद्ध है। इस काल के दूसरे प्रसिद्ध ज्योतिषी और धातु विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित व गणितज्ञ वराहमिहिर का 'वृहद् सहिता' ज्योतिष, भौतिक, भूगोल, वनस्पति-विज्ञान और पशुजीवन-शास्त्र का विवेचन करता है। इस युग मे हिन्दू ज्योतिषियों ने इस बात की खोज कर ली थी कि आकाश-मण्डल के ग्रह प्रतिबिम्बित प्रकाश से चमकते है, वे अपनी धुरी पर पृथ्वी की दैनिक चाल से परिचित थे और उसके व्यास की भी गणना उन्होने की थी। इस युग के अन्य ज्योतिषी और गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने न्यूटन के सिद्धान्त को पहले ही घोषित कर निरूपित कर दिया था कि "प्रकृति के नियम के अनुसार ही समस्त वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती है क्योकि पृथ्वी का स्वभाव वस्तुओ को आकर्षित करना और रखना है।" भौतिक वैज्ञानिको की वैशेषिक प्रशाखा ने अणु-सिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रचार किया था। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन रसायन तथा धातु-विज्ञान का बहुत बडा विद्यार्थी था। चरक और सुश्रुत का 'चिकित्साशास्त्र' गुप्त-काल मे ही उन्नत रहा। इस युग का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नवनीतकम्' है जो 1890 ई० मे पूर्वी तुर्किस्तान में कूचा में प्राप्त हुआ था। इसमें भेल सहिता, चरक सहिता, सुश्रुत सहिता के उपयोगी और लाभप्रद नुस्खों और योगो का सग्रह है। आयुर्वेद मे भी प्रधान रूप से चिकित्सा के लिए वानस्पतिक औषधियो का प्रयोग होता था किन्तु पारे तथा अन्य धातुओ के योग का प्रयोग प्रचलित हो रहा था। पशु-चिकित्सा पर इस युग मे पालकाप्य का 'हस्ताअ युर्वेद' ग्रन्थ लिखा गया था। सारांश मे, चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन विस्तृत रूप से किया जाता था और सस्कृत मे लिखे हुए 'चिकित्सा-शास्त्र' के निवन्ध ही अरब देश के ज्ञान के, जो मध्य-युग मे यूरोप में प्रविष्ट हुआ, आधार-स्तम्भ थे। चीर-फाड़ का सूक्ष्म परीक्षण करना प्रचलित था और विद्यार्थियो को नश्तर या चीर-फाड की छुरी के पकडने, उससे काटने, चिह्नित करने और छेदने, घावो को स्वच्छ कर उन्हे भरने, मरहमो को लगाने और वमन कराने, जुलाब और एनिमा (Enema) लगाने की औषधियो मे काम लाने की शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा— साहित्य और विज्ञान के साथ-साथ गुप्तकाल मे शिक्षा की भी प्रचुर प्रगति हुई। शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य की ओर से वर्तमान काल की भाँति सुसगठित शिक्षण-संस्थाएँ नही थी। गुरु वैयक्तिक रूप से स्वय शिष्यो को शिक्षा दिया करते थे। प्रसिद्ध आचार्य अपने-अपने आश्रमो मे विद्यार्थियो को शिक्षा देते थे। प्राय: ये आचार्य पवित्र तीर्थस्थानो, राजधानियों और विशाल नगरों मे निवास करते थे। इस युग मे वेदों का अध्ययन कम होता था। इसके स्थान पर पुराण, स्मृति, तर्क,

दर्शन, न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन किया जाता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न लौकिक विषय भी पढाये जाते थे। व्यावसायिक शिक्षा केवल परिवारों तक ही सीमित थी। शिक्षा प्रश्न तथा वार्तालाप की दृष्टि से दी जाती थी। आवश्यक विषयों पर वाद-विवाद भी होते थे। शिक्षा-समाप्ति पर किसी भी प्रकार की परीक्षा व उपाधि-वितरण की प्रणाली नही थी। यद्यपि ब्राह्मणो मे शिक्षा का प्रसार अधिक था परन्तु क्षत्रियों और वैश्यों में शिक्षा कम होती जा रही थी। शूद्र तो प्राय: अशिक्षित ही रहते थे। स्त्री-शिक्षा का प्रचार दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा था।

इस युग मे प्राचीन और प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला महत्त्वपूर्ण नही रहा था। परन्तु गुप्त सम्राटो के उदार सरक्षण के परिणामस्वरूप नालन्दा विश्व-विद्यालय का उत्कर्ष हो रहा था। गुप्त सम्राटों ने इसमे विहार भी बनवाये थे। नालन्दा के समान ही प्रसिद्ध विश्वविद्यालय सौराष्ट्र मे वलभी मे भी था। इसे भी नरेशो द्वारा सहायता प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त उज्जैन पद्मावती, वत्सगुल्म, मथुरा, वाराणसी, नासिक आदि भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में काँची हिन्दू तथा बौद्ध दोनो प्रकार की शिक्षाओ का केन्द्र था। गुप्तकाल मे धीरे-धीरे बौद्ध मठो ने शिक्षा प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ किया था।

कला

कलाओ के क्षेत्र मे गुप्तकाल अपनी सर्वोत्कृष्टता की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। गुप्तकाल का गौरव और वैभव विविध दर्शनीय कलाकृतियो के द्वारा ही स्थायी और चिरस्मरणीय हो गया। इस युग मे समस्त भारत मे कलाओ मे अतुलनीय गतिविधि रही। कला के विविध अग, जैसे तक्षज (भास्कर) कला, वास्तु-कला, चित्रकला और पकी हुई मिट्टी की मूर्तिकला ने वह परिपक्वता, सन्तुलन और अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता प्राप्त की थी जिसकी श्रेष्ठता को आज भी कोई प्राप्त नही कर सका है। कला मे गान्धार-शैली पर जो यूनानी प्रभाव आच्छादित था, वह तक्षशिला से मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र पहुँचते-पहुँचते गुप्तकाल मे सर्वथा लुप्त-प्राय: हो गया था और कला ने विशुद्ध भारतीय रूप ग्रहण कर लिया था। गुप्तकाल मे कला के प्राविधान निपुण कर दिये गये, उनके निश्चित भेदो का विकास हुआ और सौन्दर्य के आदर्शो का निर्माण हुआ। वास्तविक सच्चे उद्देश्यो और कला के आव-श्यक सिद्धान्तो का विवेकपूर्ण ज्ञान, ललितकला-सौन्दर्य के भाव का उच्चतम विकास और सधे हुए हाथो की निपुण कार्य-निष्पत्ति इस काल मे ही हुई थी। शिल्पियों का हाथ इतना सध गया था कि वे जिस वस्तु या विषय को लेते उसमे जान डाल देते थे। उनकी सुविकसित सौन्दर्य-भावना, परिमार्जित एव प्रौढ कल्पना तथा अद्भुत रचना-कौशल ने ऐसी कृतियो का निर्माण किया जो भारतीय कला के क्षेत्र मे 'न भूतो, न भावी' रचनाएँ थी। हमारे सबसे अधिक सुन्दर स्मारक, जो भारत की कलाओ के सफल परिपूर्ण नमूने है, जिनमे अजन्ता के गुफा-चित्र सबसे प्रमुख है, गुप्तकाल की सास्कृतिक देन है। गुप्तकाल की इस कला ने जो आदर्श निर्माण किये, उन्होने भार-तीय कला को ही सुदूर-कला तक प्रभावित नही किया वरन भारत के पार्श्ववर्ती देश भी अत्यधिक प्रभावित हुए।

तक्षणकला (भास्कर)—कला-शिल्पियो की कार्य-निष्पत्ति का सौन्दर्य और श्रेष्ठता शिल्पकला प्रदर्शित करती है। गुप्तकाल की सबसे अधिक महत्त्वशाली देन बौद्ध और हिन्दू धर्म की मूर्तियो का पूर्ण विकास है। शिल्पी की छैनी ने पाषाण को

स्थायी सौन्दर्य और लालित्य की प्रतिमाओं मे परिवर्तित कर दिया। गुप्तकाल में बहुसख्यक बोधिसत्वों की मूर्तियाँ जो पापाण और काँसे की वनी हुई थी, भारत में अनेक स्थलो पर खोदकर निकाली गयी है। सारनाथ और मथुरा मे भी ये प्रतिमाएँ विशेप रूप से उपलब्ध हुई है। गुप्तकाल के कलाकारों ने बुद्ध प्रतिमाओ मे कुछ नवीन वातो को प्रकट किया। प्रथम, उन्होने-कुपाणकाल की बुद्ध मूर्तियो के केशविहीन घुटे हुए सिर की अपेक्षा घुँधराली केश-राशि प्रदर्शित की। द्वितीय, बुद्ध मूर्ति के प्रभा-मण्डलो को रेखाओं द्वारा अधिक अलकृत किया। इनके प्रकारो मे भी वहुलता लायी गयी। तृतीय, उनकी वेप-भूपा के विमल पारदर्शक परिधान इस प्रकार प्रदर्शित किये जाते थे कि उसके शरीर के अग स्पष्टत. दृष्टिगोचर होते थे। यह एक विशिष्टता थी। चतुर्थ, उनकी मुद्राओं मे वाहुल्य लाया गया। कुपाण या गान्धार-शैली की बुद्ध-मूर्तियो की अपेक्षा इस काल की मूर्तियो में मुख और नेत्रो की शान्ति अधिक आध्यात्मिक है। इस युग की मूर्तियो की विशेपता यह हे कि उनके मुख और नेत्रों की मुद्रा शान्त है जो उनके ध्यानस्थ शान्त मन का आत्मिक अभिव्यक्तिकरण है। उनके उत्फुल्ल मुखमण्डल पर अपूर्व प्रभा, कोमलता, गम्भीरता और शान्ति है। गुप्तकाल की बुद्ध मूर्तिकला गान्धार शैली की मूर्तिकला से सर्वथा स्वतन्त्र थी। सारनाथ में उपलब्ध और अनेक गुप्तकालीन मूर्तियो मे सवसे सुन्दर और आकर्पक धर्म-चक्रप्रवर्तक मुद्रा मे आसीन बुद्ध की प्रतिमा है। मथुरा वाली बुद्ध की मूर्ति मे करुणा और आध्यात्मिक भाव का अपूर्व सम्मिश्रण है। इससे प्रकट होता है कि भारत की मौलिक कला-प्रतिभा देश की आध्यात्मिक भावनाओं और धारणाओ के अनुरूप ही मूर्ति-निर्माण करने मे पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी।

शिव, विष्णु और ब्राह्मण धर्म के अन्य देवताओ, जैसे सूर्य, कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है। शैव और वैष्णव मत गुप्तकाल में लोकप्रिय थे, अत: कलाकारों ने शिव और विष्णु के अनेक अवतारों की कथाएँ और पौराणिक गाथाएँ सरलता और निपुणता से उत्कीर्ण कीं। धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व की पौराणिक गाथाओ को समझकर कलाकार ने लालित्यपूर्ण ढंग से पापाण पर अकित करने का सफल प्रयास किया। विष्णु और शिव की कुछ प्रतिमाएँ जो गुप्तकाल मे निर्मित हुई है, तक्षणकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। गुप्तकाल मे मूर्तिकला की तीन शैलियाँ थी—मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। इन शैलियो की मूर्तियो मे न तो प्रयास की झलक ही दृष्टिगोचर होती है और न आवश्यक सजावट का भार ही। एक वात और विशेप उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल की मूर्तिकला गान्धार-शैली के यवन-प्रभाव से मुक्त होकर अपनी कल्पना, भाव-व्यंजना और शारीरिक गठन मे पूर्णरूपेण विशुद्ध भारतीय हो गयी थी। वास्तव मे इस युग में मूर्तिकला अपने प्रौढ व परिष्कृत रूप मे विद्यमान थी। सक्षेप मे, गुप्तकाल की मूर्तियाँ सुन्दर आकृति की है। उनमें आकर्पण, महिमा व प्रभाव है और सुन्दर व शान्त मुद्रा तथा तेजोमय आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है। सामान्यत गुप्तकाल की तक्षणकला की विशेपता उत्कृष्ट आदर्शवाद और सौन्दर्य की पूर्ण विकसित भावना का समन्वय है एव आध्यात्मिक अभिव्यंजना के साथ-साथ सौन्दर्य-वृद्धि और समानुपात का पूरा ध्यान रखा गया है तथा कलाविदो की कृतियो मे सजीवता और विशुद्धता है।

वास्तुकला—सृजनात्मक प्रोत्साहन की लहर जो अपने पीछे दृढ धार्मिक भावना लिये गुप्तकाल मे वेग से वह रही थी, इस युग की वास्तुकला के क्षेत्र मे भी

सर्वोच्च दृष्टिगोचर होती है। फलत अनेक ब्राह्मण मन्दिरो का निर्माण हुआ। दुर्भाग्यवश हूण और मुसलमान आक्रमणकरियो के क्रूर आक्रमण और विनाश के कारण गुप्तकाल की कतिपय इमारते और मन्दिर ही अवशिष्ट है। पर जो कुछ भी थोडे अवशेष है, वे उस युग की वास्तुकला की श्रेष्ठता के द्योतक है। जो अवशेष हैं उनमे अधोलिखित प्रसिद्ध है—झाँसी जिले में देवगढ का दशावतार मन्दिर, कानपुर के पास भीतरगाँव का मन्दिर, जवलपुर जिले मे तिग्वा का विष्णु मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, खोह का शिव मन्दिर जिसमे सुन्दर एकमुखी शिवलिंग है, असम के दरांग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर जीर्ण-शीर्ण पर महान कलायुक्त मन्दिर और साँची तथा वोध-गया की दो प्रसिद्ध समाधियाँ है। ये मन्दिर सुन्दर ढग से निर्मित किये गये है। इनमे एक वर्गाकार प्रकोष्ठ, अन्दर का देवस्थान, है जिसकी विशेषता छोटा वरामदा या सभा-मण्डप है। यह सुन्दर व कलापूर्ण चौखटो से अलकृत है परन्तु मन्दिर या इमारत के सारे नक्शे के अनुरूप ही यह सजावट है। वहुत ही ऊंचे कला-युक्त शिखर का, जो वाद के युग मे मन्दिरो के ऊपर होते थे, प्रारम्भ नही हुआ था। पर भीतरगाँव के मन्दिर में इसका श्रीगणेश दृष्टिगोचर होता है। गुप्त-युग के वने हुए वौद्धो के अनेक विहार, चैत्य और मठ हैं। सारनाथ का धामेख स्तूप जो अपनी कल्पना, आकार और अलकार में उच्च कोटि का है, इसी युग का है। एलोरा का विश्वकर्मा चैत्य, नालन्दा का 90 मीटर ऊँचा विशाल बौद्ध मन्दिर इस युग की भवन निर्माणकला के सुन्दरतम नमूने है। गुफाओ की वास्तुकला के हित गुफाओं का उत्खनन-कार्य चलता रहा और इस काल की गुफाकला मे अजन्ता की गुफाएँ है। अजन्ता की चैत्य और विहार-गुफाएँ गुप्तकाल के सर्वोत्कृष्ट कलापूर्ण स्मारक हैं। दक्षिण मे मोगुल-राजपुरम, उण्डावील्ली और अखन्नमदन की गुफाएँ तथा भोपाल के पास उदयगिरि के ब्राह्मण धर्म के गुफा-मन्दिर गुप्तकाल के हैं। गुप्तकाल की भवन-निर्माणकला मे सुन्दर सजावटो से अलकृत स्तम्भों का विशिष्ट स्थान है। स्कन्दगुप्त का गाजीपुर जिले मे स्थापित स्तम्भ और चन्द्रगुप्त का मेहरौली-स्तम्भ उसके उदाहरण है।

पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ—गुप्तकाल की कला मे दूसरी शाखा मिट्टी की मूर्तियाँ है। प्रतिभाशाली शिल्पी वास्तविक सौन्दर्य की वस्तओ का सृजन करते थे और मिट्टी की मूर्तियाँ जो अनुपम सौन्दर्य की आकृतियो और दृश्यो की होती थी, गृहो, मन्दिरों और स्तूपो मे प्रदर्शित की जाती थी एव उत्सवो के समय इनकी माँग अत्यधिक रहती थी। ये मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती थी—(अ) देवी-देवताओ की, (व) पुरुष और स्त्रियो की, (स) पशु-पक्षियो एव अन्य वस्तुओ की। इनका सौन्दर्य और सजीवता धातु की मूर्तियो से भी वढी-चढ़ी होती थी। ऐसी छोटी मूर्तियाँ राज-घाट, अहिच्छत्र और भिटा में प्राप्त हुई है।

चित्रकला—इस युग मे चित्रकला अपने गौरव और शान के उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। गुप्त चित्रकला के विश्वविख्यात नमूने अजन्ता की गुफाओ, मध्य भारत में वाघ गुफाओ, सित्तनवसल मन्दिर और लका मे सिगिरिय में चट्टानो को काटकर वनाये प्रकोष्ठों मे है। समस्त विश्व ने इन भित्ति-चित्रो की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। "अजन्ता के चित्रो से भलीभाँति यह ज्ञात होता है कि भारतीय कला-कारो ने मानव-जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नही छोडा था। सामाजिक जीवन और चराचर-जगत के सभी पहलुओ को यहाँ चित्रित किया गया है। "अजन्ता के चित्रो में

मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह घृणा आदि सभी प्रकार के भाव, पद्मपाणि, अवलोकितेश्वर, प्रशान्त तपस्वी और देवोपम राज-परिवार से लेकर क्रूर व्याघ्र, निर्दय बधिक, साधु वेशधारी, धूर्त, आदि सब तरह के मानव-भेद, समाधिमग्न बुद्ध, प्रणय-क्रीड़ा मे रत दम्पत्ति और श्रृ गार मे लिप्त नारियो तक सकल मानव-व्यापार अकित है।" इसके अतिरिक्त इन चित्रों मे विविध प्रकार का अग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भावभगी, वेश-भूषा, अलंकार, विविध केशपाश, अग-रूपरंग आदि अति सुन्दरता से चित्रित है। अजन्ता के भित्ति-चित्रो की यह बहुविविधता वस्तुत: विलक्षण एव आश्चर्यजनक है। इन चित्रो के तीन विषय है—(1) अलकृत करने के लिए आकृतियाँ, जैसे पुष्प, वृक्ष, पत्रावलि, पशु-पक्षी, धार्मिक देवी-देवता आदि; रिक्त स्थान करने के लिए अप्सराओ, गंधर्वो तथा यक्षो की सुन्दर मूर्तियाँ है। (2) बुद्ध और बौद्धिसत्वो के चित्र (3) बौद्ध धर्म के जातक ग्रन्थो मे से अनेक वर्णनात्मक दृश्य। इनकी भावव्यजना मे अजन्ता के चित्रो ने अवर्णनीय चित्रकला-कौशल दिखलाया है। सुन्दर कल्पना, रंगों की प्रभा, प्रशसनीय रेखाओ का लालित्य और अभिव्यक्ति की सम्पन्नता के कारण इन भित्ति-चित्रो मे अद्वितीय आकर्षण और सौन्दर्य है। एक विशेषज्ञ की राय मे अजन्ता की "कलाकृति इतनी पूर्ण, परम्परा मे इतनी निर्दोष, अभिप्राय मे इतनी सजीव तथा विविध आकृति तथा वर्ग के सौन्दर्य में इतनी प्रसन्न है कि उसे संसार की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियो मे सर्वोत्तम ही मानना पड़ेगा।" यद्यपि ये चित्र और उनके विविध दृश्य मानव-जीवन की विभिन्न भावनाओ से ओतप्रोत हैं, किन्तु फिर भी उनमे एक ऐसी आध्यात्मिक विशिष्टता है जिससे वे कभी भी विकारोत्पादक या अश्लील नही हो पाते।

मुद्रणकला—गुप्तकाल मे सिक्को के ढालने की कला भी प्रगतिशील थी। भारतीय ढग के आकर्षक सुन्दरतम सिक्के गुप्तकाल के है। इस काल के सिक्कों का आकार और उन पर मूर्तियों का अंकन अत्यन्त सजीव व कलापूर्ण है। सिक्कों पर गुप्त नरेशो की मूर्तियाँ, गरुड़ध्वज, लक्ष्मी की मूर्ति, सिंह की आकृति एवं सुन्दर संस्कृत शब्दो मे राजाओ की कीर्तिगाथा का वर्णन श्रेष्ठ व आकर्षक है। स्वर्ण और रजत दोनो प्रकार की मुद्राओ का प्रचलन उस काल में था।

धातु-कार्य—धातु से ढली हुई वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ बनाने की कला मे भी इस युग मे आश्चर्यजनक प्रभूत उन्नति हुई थी। धातु-कार्य की श्रेष्ठ दक्षता के नमूने सुलतानगज की विशुद्ध ताँबे की ढली हुई भव्य बुद्ध प्रतिमा जो 2 25 मीटर ऊँची और एक टन से अधिक वजन मे है, एव नालन्दा में 24 मीटर ऊँची ह्वानच्याग द्वारा देखी हुई विशाल बुद्ध प्रतिमाएँ है। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास लौह-स्तम्भ भी गुप्तकाल के कलाकारो की धातुकार्य-कुशलता का एक और ज्वलन्त उदाहरण है। यह लौहस्तम्भ कुमारगुप्त प्रथम ने 415 ई० मे अपने पिता की स्मृति में निर्मित कराया था। यह विमल, विशुद्ध, जगविहीन लौह का ठोस ढला हुआ स्तम्भ है जिसका व्यास 40 सेण्टीमीटर ऊँचाई, 8·40 मीटर और वजन 6 टन के लगभग है। यह लौह-स्तम्भ 1500 वर्ष की धूप, वर्षा और तूफान को झेलने के उपरान्त आज भी ज्यो का त्यो खडा है। इसे किस प्रकार बनाया गया, यह रहस्यमय गुत्थी आज तक नही सुलझ सकी।

संगीत एवं अभिनय—अन्य कलाओ के साथ-साथ संगीत, नृत्य एव अभिनय-कला भी गुप्तकाल मे उच्चतर स्तर पर पहुँच चुकी थी। गुप्त सम्राट सगीतप्रेमी थे; अत इस कला का सरक्षण उन्होने उदारता से किया। समुद्रगुप्त की वीणा बजाते

हुए सुन्दर आकृति मुद्राओं पर अंकित हैं जिससे उसका संगीतप्रेम प्रकट होता है। वह वीणा वजाने मे वड़ा निपुण माना जाता था। प्रयाग के शिलालेख से विदित होता है कि वह संगीतकला मे नारद और तुम्वरु से भी श्रेष्ठ था। उसकी राजसभा में संगीतज्ञो का आश्रय प्राप्त करना उसकी संगीतप्रियता को स्पष्ट प्रदर्शित करता है। भूमरा के प्रसिद्ध शिव मन्दिर मे शिव के गण भेरी, झाल आदि वाद्य वजाते हुए उत्कीर्ण किये गये हैं। तत्कालीन साहित्य मे सगीतकला के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जैसे कालिदास ने अपने ग्रन्थ मे रघु-जन्म के सुअवसर पर शुभ मंगलकारक वाद्यो के वजने का उल्लेख किया है। इस युग में रचित नाटक-ग्रन्थो मे मृदंग, भेरी आदि वाद्ययन्त्रो का वर्णन है। इससे उस युग की सगीतकला प्रदर्शित होती है। सारनाथ मे उपलब्ध एक विशाल प्रस्तर-खण्ड में नृत्य करती हुई एक नारी-प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस नर्तकी के चतुर्दिक अनेक वीरांगनाएँ वाँसुरी, भेरी, मृदग आदि मधुर वाद्ययन्त्रों को वजाती हुई खड़ी है। इसके अतिरिक्त इस काल मे लिखित विविध नाटको मे रंगमच और उस पर किये गये श्रेष्ठ अभिनय और नृत्य का वर्णन है। ये इस वात के सवल प्रमाण हैं कि इस युग मे नृत्यकला एवं अभिनयकला लोकप्रिय थी। रगमंच का विकास हो चुका था। उसके विभिन्न अगों के नाम निर्दिप्ट थे और उस पर सफल नृत्य और अभिनय किया जाता था।

गुप्तकला की विशिष्टताएँ

सारांश मे गुप्तकाल की कला की विशेपताएँ अद्भुत भावोद्रेक, लालित्य, शैली की सरलता, भाव-व्यंजना, स्वाभाविकता, गाम्भीर्य, रमणीयता, माधुर्य, अभिव्यक्ति की सादगी व सजीवता और आध्यात्मिक अभिप्राय का प्राधान्य है। इन्ही लक्षणो ने गुप्तकला को ऐसा व्यक्तित्व प्रदान किया है जिसको अभी तक कोई चुनौती नही दे सका। गुप्तकाल की कला की प्रमुख विशेषताएँ अधोलिखित है :

प्रथम, इस कला मे सौन्दर्य और प्रतिवन्ध की विलक्षणता है। इस युग में कलाकार महत्त्व-प्रदर्शन के हेतु विस्तृत कलाकृति पर निर्भर नही था परन्तु उसने अपना ध्यान लालित्य पर केन्द्रीभूत कर दिया था, जो अलंकरण और सुशोभन की प्रचुरता में लुप्तप्रायः नही होता था। उसकी कला का प्रमुख लक्षण रूढ़िवाद के घोर घातक वोझ से छुटकारा पाना, स्वच्छन्दता और सन्तुलन था। द्वितीय, गुप्तकाल के कलाकारो के कुशल हाथों से जो कुछ भी निर्मित हुआ, वह पूर्णरूपेण स्वाभाविक प्रतीत होता था। कलाकृति मे अत्यधिक विस्तार की गुंजाइश भी नही थी। तृतीय, गुप्तकाल के सौन्दर्य के विषय मे स्वयं अपनी एक कल्पना थी। इस कला मे सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौन्दर्य की एक विशिष्ट भावना थी। आत्म-जाग्रति एव आध्यात्मिक आनन्द और महिमा की नवीन भावना को प्रस्फुरण प्रदान करने हेतु कला का अभ्यास और उन्नति की जाती थी। सद्गुण का मार्ग सौन्दर्य का मार्ग है—यह गुप्तकालीन कला की मार्गदर्शक अन्तप्रेरणा प्रतीत होती है। सुन्द कलापूर्ण आकृतियो का सृजन करना और उन्हे सर्वोच्च जीवन की आवश्यकताओ के लिए प्रयुक्त करना—यही एक स्वर्णिम सामजस्य और अनुरूपता थी जिससे गुप्तकाल की कला निरन्तर अक्षय आकर्षण की वस्तु हो गयी। चतुर्थ, गुप्तकालीन कला की मूल प्रेरणा गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्शों से प्राप्त हुई। भव्य धार्मिक भवनों और मूर्तियो का निर्माण करके देवी-देवताओ एव ऋषि-मुनियो के चित्र अकित करके इस काल की कला ने धर्म की सेवा की। विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य और कला के स्वच्छन्द विकास में धर्म

(2) **लोक कल्याणकारी राज्य, सफल प्रशासन, आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था**—गुप्त सम्राटो ने समस्त देश मे एक समान प्रशासन व्यवस्था स्थापित की। प्रशासन व्यवस्था पर पूर्ण नियत्रण रखा। इससे देश मे शाँति, व्यवस्था तथा सुरक्षा स्थापित हो गयी थी। प्रशासन मे साधारण जनता को पूर्ण स्वतन्त्रता थी और बाहरी आक्रमणो तथा आन्तरिक आपत्तियो व कष्टो से राज्य प्रजा की पूर्ण सुरक्षा करता था। गुप्त सम्राटो मे लोक-कल्याणकारी राज्य की भावना थी। गुप्त शासन का आधार प्रजावत्सलता, प्रजाहित और लोक परोपकारिता था। राज्य की ओर से दान-धर्म की व्यवस्था थी, और दीन-दुखियो व रोगियो की सहायता का समुचित प्रबन्ध था। उत्तम सिंचाई व यातायात के समुचित साधनो की व्यवस्था की गई थी। सर्वोच्च सत्ता सम्राट के हाथो में निहित होने पर भी सम्राट स्वेच्छाचारी और निरंकुश नही होते थे। समुचित न्याय व्यवस्था थी और दंड तथा विधि-विधान कठोर नही था। स्वायत्त शासन प्रचलित था। संस्थाओं और श्रेणियो के आन्तरिक कार्यो मे राज्य हस्त-क्षेप नही करता था। इन सबके परिणामस्वरूप जनता की समृद्धि और प्रगति का मार्ग निरन्तर प्रशस्त होता रहा।

(3) **श्रेष्ठ, नैतिक और सद्‌गुणसम्पन्न जीवन**—गुप्तयुग में लोगों का नैतिक आचरण उच्चकोटि का था। उनमें सदाचारिता, पवित्रता, सात्विकता, ईमानदारी, उदारता, शिष्टता, भद्रता, दानशीलता, सत्यवादिता, अतिथि-सत्कार की भावना, आदि सद्‌गुण थे। उनका भोजन, खान-पान, रहन-सहन पवित्र, शुद्ध व सात्विक था। माँस, सुरा, लहसन, प्याज आदि का उपयोग नही होता था। झगड़ालू वृत्ति नही थी। दानशीलता और धर्मपरायणता इतनी अधिक थी कि अनेक मुफ्त चिकित्सालय, अन्नक्षेत्र और दान-क्षेत्र तथा विश्राम-स्थल बनवाये गये थे।

(4) **आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता**—आन्तरिक शाति, सुव्यवस्था, सुरक्षा, सफल प्रशासन और यातायात के साधनो की समुचित व्यवस्था से देश के आन्तरिक और बाहरी व्यापार को खूब प्रोत्साहन मिला। मध्य एशिया के देशो, पूर्वी देशों, दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशो और द्वीप समूहों से, तथा रोम, मिस्र, ईरान, अरब एवं अन्य पाश्चात्य देशो से भारत का निरन्तर बाहरी व्यापार होता था। अनेकानेक वस्तुएँ आयात और निर्यात होती थी। इससे स्वर्ण अविरल गति से देश मे प्रवाहित हो रहा था और अनेक प्रकार के गृह उद्योग-धधे प्रचलित हो चले थे। फलतः वाणिज्य-व्यवसाय की खूब उन्नति हुई, अभूतपूर्व आर्थिक सम्पन्नता आ गई। विभिन्न प्रकार की स्वर्ण मुद्राओ का प्रचलन और बाहुल्य, असख्य स्वर्णदान और बहुसख्यक परोपकारी सस्थाओं, धर्मशालाओ, दान-क्षेत्रो, औषधालयों, और व्यावसायिक श्रेणियो और संगठनो का निर्माण इस आर्थिक श्रीवृद्धि का द्योतक है।

(5) **धार्मिक पुनरुद्धार और सहिष्णुता**—गुप्त सम्राट वैष्णव मतावलम्बी थे और वे ब्राह्मण धर्म के उदार संरक्षक थे। उनके राज्याश्रय मे ब्राह्मण धर्म के पुन-रुद्धार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। उनके उदार संरक्षण से ब्राह्मण धर्म का खूब विकास हुआ और वह भारत मे ही नही अपितु भारत के बाहर भी विदेशो में प्रच-लित और प्रसारित हुआ। ब्राह्मण धर्म की क्रिया-विधियो, कर्म-काडो, परम्पराओं, अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य प्रकार के यज्ञो का भी खूब प्रचार हुआ। शैव और वैष्णव मन्दिरो व मूर्तियो का निर्माण हुआ। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा खूब बढ़ी। इससे गुप्तयुग मे ब्राह्मण या हिन्दू धर्म अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था।

यद्यपि गुप्त सम्राट ब्राह्मण धर्मावलम्वी थे। परन्तु उनमें उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। वे ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी धर्मों का आदर करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म-उपासना, पूजा-पाठ सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। धार्मिक खडन-मंडन नही होता था। गुप्तकाल धार्मिक सहिष्णुता, सकीर्ण धर्मान्धता, धर्मोन्माद तथा धार्मिक आतक से मुक्त रहा। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म वालों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी और सभी धर्म-वाले अपने-अपने ढंग से सैन्य और ज्ञान की खोज करने मे स्वतत्र थे। वे अपने धर्म के विकास में संलग्न रहते थे। फलत हिन्दू धर्म ने अनेक शको, यूनानियो, कुषाणो आदि को अपने मे विलीन कर लिया। धार्मिक व्यापकता और सहिष्णुता के कारण अनेक विदेशियो ने भारत मे और भारत के बाहर हिन्दू धर्म अपना लिया, धर्म के क्षेत्रों मे नवीन विचारों का सृजन हुआ, नवीन चिंतन-मनन और दार्शनिक प्रणालियो का अभ्युदय हुआ।

(6) **साहित्यिक प्रगति**—विद्यानुरागी, विद्वान गुप्त सम्राटो ने सस्कृत को राज्याश्रय देकर उसके विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। गुप्त सम्राटो की राजसभा संस्कृत के कवियो व विद्वानो से सुशोभित थी। उन्होने अपने-अपने अभिलेखो और मुद्राओ मे विशुद्ध सस्कृत का उपयोग किया और संस्कृत को राजभापा वना दिया। इससे सस्कृत ने साहित्यिक भापा का रूप लिया। इसमे अनेक रोचक नैतिक कथाएँ, भावपूर्ण काव्य, मनोहर नाटक, सुन्दर प्रवन्ध-काव्य आदि लिखे गये। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के अनेक धर्म-ग्रन्थ, स्मृतियाँ व दर्शन ग्रन्थ सस्कृत मे रचे गये। सस्कृत के लौकिक साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई। गुप्त सम्राटो के राज्याश्रय और शाँति व समृद्धि के कारण जनता की बौद्धिक चेतना जाग उठी और देश मे अनेक महाकवि, लेखक, नाटककार, दार्शनिक आदि हुए। इनमे भास, कालिदास, भारवि, शूद्रक, विशाखदत्त, वसुवधु, दंडिन, हरिषेण, वराहमिहिर आदि प्रमुख हैं। इन्होने अपने ग्रन्थो से सस्कृत साहित्य के विकास मे वडा योग दिया। गुप्त युग मे अद्वितीय साहित्यिक अभिवृद्धि और चरम उन्नति के कारण गुप्तकाल की तुलना एलिजावेथ और पेरिक्लीज के युग से की गई है।

(7) **वैज्ञानिक उन्नति**—गुप्तयुग वैज्ञानिक उन्नति मे भी पीछे नही रहा। गुप्तकाल मे ज्योतिष, गणित, रसायन-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, खगोल-विद्या, धातु-विज्ञान आदि में अत्यधिक प्रगति हुई। दशमलव प्रणाली की खोज और प्रचार इसी युग मे हुआ। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, नक्षत्रो की अपनी गतिविधि है, पृथ्वी तथा सूर्य के मध्य मे चन्द्रमा के आ जाने से ग्रहण होता है, आदि सिद्धान्त भारतीय वैज्ञानिको ने इस युग मे खोज कर लिये थे। इस काल मे आर्यभट्ट जैसे गणितज्ञ, वराहमिहिर जैसे ज्योतिषी, ब्रह्मगुप्त जैसे वैज्ञानिक, चरक और सुश्रुत जैसे चिकित्सक और आयुर्वेदाचार्य, पालकाप्य जैसे पशु-चिकित्सक और वृहद् वाग्भट्ट जैसे चिकित्सा वैज्ञानिक हुए।

(8) **ललित कलाओं का उत्कर्ष**—गुप्तकाल ललित कलाओ का स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग मे कला के विभिन्न अगो का चूडान्त विकास हुआ। वास्तु-कला, भवन-निर्माण-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला, वाद्य कला, सगीत और नृत्यकला तथा अभिनय कला आदि मे अभूतपूर्व उन्नति हुई। कानपुर के पास भीटार गाँव का मदिर झाँसी के समीप देवगढ का मदिर, अजन्ता और बाग के बौद्ध विहार, गुफाएँ, चैत्य और स्तूप, वास्तुकला व स्थापत्य कला के ज्वलंत उदाहरण हैं। इस युग में

बौद्ध, ब्राह्मण और जैन धर्म के देवी-देवताओं की अनेकानेक कलापूर्ण सुन्दर मूर्तियाँ निर्माण की गई। अजन्ता और बाग के गुफा-चित्र इस युग की चित्रकला के चरम उत्कर्ष के द्योतक हैं। इस युग की कला की विशेषता है कि वह बड़ी सरल, स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक, चित्ताकर्षक, सजीव और विदेशी यूनानी प्रभाव से मुक्त है।

(९) **हिन्दू साम्राज्यवाद और आर्य संस्कृति का प्रसार**—गुप्तयुग मे हिन्दू साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठित और प्रसारित किया गया। देश मे दिग्विजयो से राजनीतिक साम्राज्यवाद फैला और देश के बाहर भारतीयो ने दक्षिणी पूर्वी एशिया और पूर्वी द्वीप समूहो मे अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। भारत के अनेक धर्म प्रचारक विद्वान, ब्राह्मण, और व्यापारी इन देशो को गये और उन्होने भारत और विदेशो के मध्य धार्मिक, सास्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। फलत: मलाया, चपा, कबोडिया, (इडोचीन), जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, खोतान, चीनी तुर्किस्तान आदि मे भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, सस्कृति, वर्ण-व्यवस्था, सामाजिक प्रथाएँ व प्रणालियाँ, प्रशासन व्यवस्था, विविध कलाएँ आदि का खूब प्रचार हुआ। अनेक देशो मे भारतीय राजवशो के नरेश और शासक राज्य करने लगे। यह हिन्दू सास्कृतिक साम्राज्य का प्रसार और विकास था।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुप्तकाल मे भारत का सर्वांगीण विकास हुआ। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सास्कृतिक और कला की जो अभूतपूर्व उन्नति और विकास गुप्तयुग मे हुआ, वैसा न तो उसके पूर्व के काल मे हुआ और न उसके बाद के राजाओ के काल मे। ऐसे बहुमुखी विकास और चरम उत्कर्ष का युग नही आया। श्री अरविंद का भी मत है कि भारत ने अपने इतिहास मे कभी भी अपनी जीवन शक्ति को अनेक दिशाओं मे इस प्रकार प्रफुल्लित होते नही देखा जैसा कि गुप्तयुग मे देखा गया। इन्ही कारणो और विशिष्टताओ से गुप्तयुग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा गया है।

प्रश्नावली

1. गुप्तकाल का क्या महत्त्व है ?
2. गुप्तयुग की बौद्धिक और कलात्मक अभिसृष्टि के कारणो पर प्रकाश डालिये।
3. गुप्त सम्राटो की प्रशासन व्यवस्था की रूपरेखा बताइये।
4. "गुप्तकाल हिन्दू-पुनरूत्थान का युग था"—विवेचन कीजिये।
5. गुप्त सम्राटो के शासन काल में हिन्दू संस्कृति के धर्म, साहित्य, ललित कलाएँ और विज्ञान के पुन र्जागरण का वर्णन करिये।
6. मूर्तिकला और चित्रकला के क्षेत्र मे गुप्तयुग ने भारत मे कला के सर्वोच्च विकास को देखा है।" विवेचन करिये।
7. भारतीय सस्कृति को गुप्तयुग की क्या देन रही है ?
8. गुप्तकालीन स्वर्ण युग का आलोचनात्मक वर्णन करिये।
9. यह साधारण धारणा कि गुप्त काल भारतीय सस्कृति का स्वर्ण युग है, उस काल की मूर्तिकला के प्रमाण पर पूर्णतया निर्भर है।" इस कथन का सूक्ष्मता से विवेचन कीजिये।

10. "गुप्तकला प्राचीन कला की सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है।" इस कथन का विवेचन कीजिये।
11. गुप्तकाल की कला की प्रशंसा लिखिये।
12. मौर्य-युग और गुप्तकाल मे स्त्रियो की दशा पर एक सक्षिप्त निवन्ध लिखिये।
13. गुप्त-युग मे स्थापत्यकला और मूर्तिकला में जो सफलता व श्रेष्ठता प्राप्त हुई है, उसका वर्णन कीजिये।
14. गुप्त-युग मे साहित्य और विज्ञान के विकास का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिये।
15. गुप्त-काल हिन्दू भारत का सवसे अधिक देदीप्यमान युग अथवा भारत का स्वर्ण युग माना जाता है"—इस कथन की पुष्टि कीजिये।
16. गुप्त-युग की सास्कृतिक सफलताओं और सिद्धियो का संक्षेप में वर्णन करिये।
17. "गुप्त-युग हिन्दू नवाभ्युस्थान की अपेक्षा हिन्दुओं का परिप्लावित देदीप्यमान युग था"—इस कथन की समीक्षा कीजिये।
18. फाह्यान ने भारत की जिन मामाजिक, वौद्धिक, और धार्मिक दशाओ को देखा था, उनका वर्णन कीजिये।
19. गुप्त-युग सस्कृत माहित्य का उच्च कोटि का काल कहा जाता है"—इस कथन की पुष्टि कीजिये।

अथवा

संस्कृत साहित्य के इतिहास मे किस रूप में गुप्त युग महत्त्वशाली काल है?
20. भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग मे सास्कृतिक जीवन के प्रमुख अगो का विवेचन करिये।
21. गाधार मूर्ति कला और गुप्त मूर्ति कला मे भेद वताइये।
22. गुप्त काल में जनता की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थितियो का विस्तार सहित विवरण दीजिये।

9

भारत और पाश्चात्य विश्व

फारस के नरेश डेरियस (Darius) के भारतीय आक्रमण से लेकर यूरोप में रोमन साम्राज्य के विध्वंस होने तक के लगभग एक सहस्र वर्षों के युग मे भारत पाश्चात्य देशों के अनवरत सम्पर्क मे रहा। इससे यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या इस सुदीर्घ सम्पर्क का भारत की अथवा ग्रीसो-रोमन साम्राज्य की विचार-धारा, साहित्य या कला पर कोई प्रभाव पड़ा है ? इसका उत्तर विवादग्रस्त रहा है।

सुदूर-अतीत से ही भारत का जल और थल-मार्गो द्वारा पाश्चात्य देशो से व्यापारिक व सास्कृतिक सम्बन्ध था। इस बात के यथेष्ट प्रमाण है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग सुमेर, पश्चिमी एशिया के अन्य प्रसिद्ध सास्कृतिक केन्द्रों और सम्भवतः मिस्र और क्रीट से व्यापार करते थे। ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) मे इस बात के भी हवाले है कि ईसा पूर्व 1400 वर्ष पहले भी भारत और सीरिया के समुद्रतट के नगरो मे परस्पर व्यापार होता था। थल और जल दोनो मार्गो से ईसा पूर्व आठवी सदी मे मेसोपोटामिया, अरब और मिस्र देश से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। ईसा पूर्व चौथी सदी से और विशेषकर मौर्य-युग मे व्यापारिक और सामुद्रिक गतिविधि की खूब प्रगति हुई और इसके लिए निर्दिष्ट थल और जल-मार्गों का अनु-करण किया जाने लगा। थल-मार्ग खैबर के दो दर्रे और काबुल नदी की घाटी के उत्तरी प्रदेश मे से होता हुआ हिन्दूकुश पर्वत के पार बल्ख पहुचता था और वहाँ से आमू नदी (Oxus) के तट पर होता हुआ केस्पियन सागर तक जाता था। वहाँ से व्यापार-वस्तुएँ जल और थल-मार्ग से काले समुद्र के बन्दरगाहों तक पहुँचती थी और वहाँ से फिर यूरोप के अन्य देशों को। समुद्री मार्ग सिन्धु नदी के मुहाने से फारस की खाडी मे फरात नदी के मुहाने पर से होता हुआ, अरब देश के समुद्रतट को छूता हुआ, लाल समुद्र मे होता हुआ, स्वेज तक पहुँचता था। यहाँ से व्यापारिक वस्तुएँ पश्चिम मे मिस्र देश को और उत्तर मे भूमध्यसागर के बन्दरगाहो को ले जायी जाती थी। बाद मे 45 ई० में हिप्पालस (Hippalus) ने इस बात की खोज की कि हिन्द महासागर मे मानसूनी हवाएँ नियमित रूप से बहती है। इससे जहाज लाल सागर के बन्दरगाह से सीधे हिन्द महासागर में होते हुए चालीस दिन मे या इससे भी कम अवधि मे भारतीय बन्दरगाह मुझीरिस (Muziris) (मलाबार समुद्रतट पर वर्तमान क्रैगनौर बन्दरगाह) तक आ सकते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत से चलने वाले जहाज भी सुगमता से समुद्रतट का लम्बा चक्कर टाल सकते थे। इस मार्ग का महत्त्व यह था कि इसने भारत को दक्षिण अरब और सोमालीलैण्ड से ही नही अपितु मिस्र देश से भी सयुक्त कर दिया।

इन व्यापारिक मार्गो के परिणामस्वरूप समय-समय पर व्यापार की वस्तुएँ अपने भारतीय नामो सहित पाश्चात्य देशो को पहुँचती थी। बहुत ही प्रारम्भिक युग से भारतीय हाथीदाँत भूमध्यमागरीय प्रदेशो मे प्रख्यात हो गया और इसी प्रकार दक्षिणी भारत के वन्दरगाहो से अरव व्यापारियो द्वारा लाया हुआ चावल भी प्रसिद्ध हो गया। प्रागैतिहासिक युग मे भारत अपने पार्श्ववर्ती और दूरस्थ सशक्त पड़ोसियो, असीरियनो और वेवीलोनियनों के सम्पर्क से प्रभावित हुआ था या नही, यह मनोरजक प्रश्न है। प्रोफेसर एच० जी० रॉलिन्सन (H. G Rawlinson) का कथन है कि भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी, ईसा पूर्व सातवी सदी के लगभग मेसेटिक स्रोतों से ली गयी थी, भारत मे विष्णु का मत्स्य-अवतार वेवीलोन की वाढ की कहानियो का स्मरण दिलाने वाला है, नक्षत्र की धारणा और सप्ताह का सात दिनो मे विभाजन और सूर्य, चन्द्र तथा पाँच ग्रहो पर उनका नामकरण सिकन्दरिया के चाल्डीयन (Chaladean) ज्योतिप से लिये गये थे और भवन-निर्माणकला मे भारत मे अल-करण की कतिपय वारीकियाँ, जैसे घण्टाकृति, स्तम्भ-शीर्ष और सिंह-स्तम्भ अप्रत्यक्ष रूप से फारस के द्वारा सीरिया से ली गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन पक्षपातपूर्ण और शकास्पद है।

ईरानी युग और उसका प्रभाव

538 ईसा पूर्व मे पश्चिमी एशिया के अन्तिम सेमेटिक साम्राज्य का अन्त हो गया और ईरान के साइरस (Cyrus) ने ईरानी साम्राज्य की नीव डाली। उसके उत्तराधिकारी दारा या डेरियस (Darius) ने भारत पर आक्रमण किया और सिन्धु नदी के तट पर वसे एक नगर में जोगाधार प्रदेश की सीमा का शहर था, पहुँच कर अपने एक यूनानी सेनापति स्कायलेक्स (Skylax) के आधिपत्य मे सिन्ध नदी के जल-मार्ग की उसके मुहाने तक खोज करने के लिए एक सेना भेजी। स्कायलेक्स को ही यह दुहरा गौरव प्राप्त हुआ कि वह प्रथम यूनानी था, जिसने भारत में प्रवेश किया और लाल समुद्र की यात्रा की। इसके फलस्वरूप डेरियस ने सिन्धु-घाटी के प्रदेश को अपने साम्राज्य मे मिला लिया और इस प्रकार ईरानी साम्राज्य का यह वीसवाँ प्रान्त वन गया। यह नया प्रान्त (पजाव) ईरानी सम्राट को प्रति वर्ष 1,078,272 पौण्ड के वरावर धन कर के रूप मे देता था और इसने ईरानी सेना के लिए सेनानियो की टुकडी भेजी थी। धीरे-धीरे ईरानी साम्राज्य के अन्त हो जाने, पूर्वी ईरान के स्वतन्त्र हो जाने और यूनान से युद्ध होने पर कालान्तर मे पजाव ने ईरानी सम्राट से अपना सम्वन्ध तोड लिया और भारत तथा पश्चिम के वीच होने वाला व्यापार भी शनै शनै लुप्त हो गया। परन्तु ईरानी साम्राज्य ने भारतीय विचारधारा और जीवन को प्रभावित किया। क़तिपय विद्वानो के मतानुसार ईरान से दो सदियो तक भारत का जो सम्पर्क रहा, उससे भारतीय सस्कृति प्रभावित हुई। खरोष्टी लिपि, जो ईरानियो ने अपने शासकीय अभिलेखो मे प्रस्तुत की थी, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे ईसा की चतुर्थ सदी तक वनी रही। तक्षशिला मे यूनानी और वेवीलोनियन प्रथाएँ जिनको यूनानी लोगो ने देखा था, इस वात की ओर सकेत करती हैं कि ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत भारतीय प्रान्त की यह राजधानी रहा होगा। मेगस्थनीज के वर्णनानुसार मौर्य सम्राट ईरानी प्रणाली से रहते थे। ईरानी सम्राट के समान ही वे अगरक्षको द्वारा घिरे हुए एकान्त-वास मे रहते थे और समय-समय पर प्रकट होते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'केश-धोवन-समारोह' की ईरानी प्रथा को अपना लिया था। अशोक की वौद्ध शिल्पकला विशेप-

कर अशोक-स्तम्भ और उनके निर्माण करने की कला ईरानी प्रभाव के कुछ अवशेष प्रकट करती है। ईरान ने ही मौर्य शिल्पियो को लकड़ी, महीन चूने और ईंट के स्थान पर पाषाण का प्रयोग सुझाया। चट्टानों की सतह पर शिलालेखो द्वारा धर्म-प्रचार करने की प्रणाली ईरानियो मे प्रचलित ऐसी ही प्रणालियो (उदाहरणार्थ, डेरियस के वेहिस्तुन-शिलालेख) से ली गयी थी। इसके अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य मे एक छोर से दूसरे छोर तक जाने वाले लम्बे जन-मार्गो के समान ही ईरान मे भी जन-मार्ग थे। कुछ लेखक इनसे भी परे जाते है और यह सुझाव रखते है कि मौर्यो मे ईरानियों ने साम्राज्य की कल्पना की थी। निस्सन्देह इस प्रकार के कथन अतिशयोक्तिपूर्ण, और एक पक्षीय है। हैवेल (Havell) ने ठीक ही कहा है कि ईरानी और भारतीय सस्कृति मे जो समानताएँ है, वे एक समान परम्पराओ के कारण है और किसी ने भी एक-दूसरे की नकल नही की।

यूनानी युग और उसका प्रभाव

ईरानी साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद सिकन्दर के आक्रमण और भारत के सीमान्त प्रदेशो तथा पंजाब मे यूनानी शासन के स्थापित हो जाने से पाश्चात्य देशो से भारत का सम्पर्क बढा। इससे भारतीय इतिहास मे एक नवीन युग प्रस्तुत हो गया। (अधिक जानकारी हेतु पुस्तक के अध्याय 6 और 7 देखिए)। ईरानियों द्वारा पंजाब को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने के बहुत समय पूर्व यूनानियों ने धूमिल रूप से भारत के विषय में सुन रखा था। हिरोडोटस (Herodotus) जो ईसा पूर्व 485 मे जन्मा था, प्रथम यूनानी था जिसने भारत के विषय मे सावधानी-पूर्वक ठीक-ठीक मनोरजक वर्णन किया है। भारत के विषय मे लिखने वाला दूसरा यूनानी टेसियस (Ktesias) था जो बीस वर्ष तक ईरानी राजसभा मे रहा था और जिसे उसने ईसा पूर्व 398 में त्याग दिया था। यूनान ने प्रत्यक्ष रूप से ईरानियो से जिन्होने भारतीय सीमान्त प्रान्तो पर शासन किया था और अप्रत्यक्ष रूप से मिस्र से, जिससे भारत व्यापार करता था, भारत के विषय में ज्ञान प्राप्त किया था। इससे पूर्व भारत और यूनान के मध्य ईरानी और फोनीसियन (Phoenician) काफिलो द्वारा सम्पर्क था। सिकन्दर के आक्रमण ने पूर्व और पश्चिम के बीच, अधिक निश्चित रूप से भारत और यूनान के मध्य, घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया। बहुसख्यक यूनान-निवासियो के अतिरिक्त जो सिकन्दर के जाने के पश्चात पंजाब मे बस गये थे, भारत को आने वाले विस्तृत जन-मार्ग पर स्थित बक्ट्र (Baktra) में एक बडा यूनानी उपनिवेश बन गया था। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात, मध्य एशिया मे उपद्रवो के कारण, बैक्ट्रिया के यूनानियो को हिन्दूकुश के दक्षिण की ओर भागना पडा, जहाँ उन्होने अपना राज्य स्थापित कर लिया और बाद मे वे अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभाजित हो गये। लगभग दो सदियो तक अपनी महान सत्ता का आनन्द उठाने के पश्चात ये यूनानी राज्य शको द्वारा पराजित कर दिये गये और अन्त में कुषाणो ने पजाब के सभी छोटे-छोटे यूनानी राज्यों को हड़प लिया और अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

अब प्रश्न यह है कि कहाँ तक इन यूनानियो ने भारतीय सभ्यता और सस्कृति को प्रभावित किया। यूनानी सस्कृति ने किस सीमा तक भारतीय जीवन और विचार-धारा को प्रभावित किया, यह निर्दिष्ट करना दुष्कर है। प्राचीन मत ने सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव पर अधिक बल दिया और पाश्चात्य विद्वानो का मत था कि

भारतीय सभ्यता यूनान की वहुत कुछ ऋणी है। यह पक्षपातपूर्ण मत प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल, कतिपय विद्वान भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर यूनान के प्रभाव को न्यूनतम बतलाते है। भारतीय मुद्रा-प्रणाली और गान्धार-शैली पर बहुत कुछ यूनानी प्रभाव के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति अप्रभावित ही रही। भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर हुए यूनानी प्रभाव का सूक्ष्म निरीक्षण यह बताता है कि भारतीय सभ्यता पर यूनानी प्रभाव न्यून, दिखाऊ और बाहरी था। इसके प्रतिकूल यूनानी विचार, विशेपकर दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे भारत के अधिक ऋणी हैं।

सिकन्दर, सिल्यूकस, और एण्टीओकस के आक्रमण विशेष महत्त्व के नही रहे क्योकि भारतीय संस्कृति और जीवन पर उनके स्थायी प्रभावो के कोई चिह्न अवशिष्ट नही है। मेगस्थनीज का वर्णन यह प्रकट करता है कि भारतीय संस्कृति विशुद्ध ही बनी रही, उसमे यूनानी मिश्रण न हो सका। मगध के मौर्य सम्राटो ने यूनानी नरेशों से राजदूतो का आदान-प्रदान किया था। सिकन्दरिया के बाजारो और एथेन्स के बौद्धिक मण्डलो मे भारतीय दार्शनिक, व्यापारी और उद्योगकर्त्ता विद्यमान थे। प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनानी नरेश की राजकुमारी का पाणिग्रहण किया और सीरिया के राजा से पत्र-व्यवहार किया था। उसके पुत्र बिन्दुसार ने यूनानी नरेश सिल्यूकस से यूनानी सुरा का नमूना, कुछ किशमिश और एक यूनानी दार्शनिक की माँग की थी। उसने सुरा तो सहर्ष भेज दी परन्तु खेद प्रकट करते हुए प्रत्युत्तर दिया कि दार्शनिको का व्यापार करना यूनानियो मे अनुचित माना जाता है। जब अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया तब उसने अपने मित्रो—मिस्र, सीरिया और मकदूनिया के यूनानी नरेशो—को धर्म-प्रचारक भेजे थे जिससे वे उसके नवीन धर्म-सन्देश के हर्षातिरेक मे सहभागी हो सके। बाद मे अशोक ने अपने साम्राज्य के धनसम्पन्न प्रदेश, सौराष्ट्र के शासन और सिंचाई के हेतु विशाल झील का निर्माण-कार्य एक यूनानी अधिकारी को सौपा था। इतना होने पर भी भारतीयो ने यूनानियो की नकल नही की। अभी तक उनकी ललितकलाओ, शिल्पकला और साहित्य पर यूनानी प्रभाव के कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नही होते।

यदि भारतीय जीवन पर कोई यूनानी प्रभाव पडा तो वह उस समय हुआ जब भारत के उत्तर-पश्चिम मे इण्डो-ग्रीक राज्य स्थापित हो गये थे। इसी युग मे यूनानी और भारतीय संस्कृति परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क मे आयी और एक-दूसरे को प्रभावित किया। परन्तु फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नही है जो यह प्रकट करे कि यूनानी संस्कृति ने मार्मिक रूप से भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया हो। सम्भव है, यूनानियो के बहुदेव-मत (Polytheism) ने बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के विकास को प्रभावित किया हो, परन्तु भारतीयो ने न तो यूनानी धर्मों को अपनाया और न यूनानी देवी-देवताओ की पूजा की। उस समय इण्डो-ग्रीक और अन्य विदेशी राजाओ तथा लोगो मे हिन्दू धर्म को ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी, न कि भारतीय नरेशो और जनता मे यूनानी बनने की प्रवृत्ति। बैक्ट्रिया के यूनानियो ने तो बहुसख्या मे अपने पडोसियो के हिन्दू धर्म को अगीकार कर लिया था। यूनानी नरेश मिनेण्डर का बौद्ध धर्म ग्रहण करना उतना ही अभिनयात्मक और विलक्षण है जितना अशोक का धर्म-परिवर्तन। यूनानियो ने बाद मे भारतीय धार्मिक अनुराग को इतनी प्रचुरता से अपना लिया था कि कार्ली गुहाओ मे मान्यताओ और सकल्पो के उपलक्ष मे दिये हुए यूनानियो के अनेक दान है। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदेश मे विदिशा (बेसनगर) में एक गरुड़-स्तम्भ है, जिस पर यह लेख अंकित है कि इसे तक्षशिला से आये हुए यूनानी

राजदूत, डियन के पुत्र हेलियोडोरस, ने निर्मित कराया था। ये सव इस वात की ओर संकेत करते है कि पंजाव और पश्चिमी भारत में यूनानी तीव्र गति से हिन्दू धर्म को ग्रहण कर रहे थे और हिन्दू नामों को भी अपना रहे थे। अव हमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न अगों को लेकर यह देखना चाहिए कि उस पर यूनानी प्रभाव के कोई चिह्न अवशेप है या नही।

शिल्पकला—मूर्तिकला में मौर्य मूर्तिकला यूनानी कला-प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही। यद्यपि भारतीय भवन-निर्माणकला यूनानी भवन-निर्माणकला से अप्रभावित रही तथापि भारतीय भास्कर या तक्षणकला सीमान्त प्रदेशों मे कुपाण शासन-काल में यूनानी शिल्पकला से वहुत कुछ प्रभावित हुई थी। यूनानी शिल्पकला की आकृतियाँ अधिक सफलतापूर्वक वौद्ध वस्तुओ के हेतु प्रयोग मे लायी गयी। वुद्ध की प्रतिमाएँ यूनानी देवता अपोलो (Apollo) की मूर्ति से साम्य रखती हुई प्रगट हुई और फीडीयन झीयस या द्यूस (Phedian Zeus) के समान यक्ष कुवेर की मुद्रा वनायी। परिणाम-स्वरूप, गान्धार-शैली नामक नवीन शिल्पकला की प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। पीछे अध्याय 7 मे इसका विवेचन हो चुका है।

गुप्तयुगीन शिल्पकला का यूनानी कला पर प्रभाव नही पडा। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्मिथ के मतानुसार यद्यपि गुप्तकाल मे शिल्प-कलाकृतियाँ वस्तुत: भारतीय थी परन्तु उनमें पूर्व और पश्चिम की प्रणालियो का मनोरम समन्वय है। इसके विपरीत, एक अन्य विद्वान का कथन है कि भारतीय कला पर जो कुछ भी यूनानी प्रभाव पडा था, वह 400 ई० तक पूर्णरूपेण विलुप्त हो गया था। इस तिथि के पश्चात यूनानी विचारों के अवशिष्ट चिह्न इतने नगण्य हो गये थे कि वे उल्लेख करने के योग्य भी नही है। कला की भारतीय और यूनानी धारणाएँ मूलत. विभिन्न रही और इसी कारण, जैसा सर जॉन मार्शल ने विवेचन किया है, यूनानी कला भारत में वास्तविक और स्थायी प्रभुत्व स्थापित न कर सकी।

सिक्के या मुद्रा—मौर्य-युग मे सिक्कों के निर्माण करने की प्रणाली पूर्णतया भारतीय वनी रही। अशोक मुन्दर वैक्ट्रियन सिक्कों की नकल करने के लिए आतुर नही था और वह प्राचीन अल्हड ढंग से ढाले हुए सिक्को के प्रयोग से ही सन्तुष्ट था। उसके समय के पूर्व से ही ये सिक्के प्रचलित थे। भारतीय सिक्के प्राय· चिह्न-मुद्रित होते थे। दोनों ओर अंकित सिक्को के ढालने का विचार—एक ओर तो राजा की मूर्ति और उसकी उपाधियाँ और दूसरी ओर कोई अन्य आकृति—धीरे-धीरे भारतीय नरेशों ने अपना लिया था। इसमे उन्होने यूनानी, शक, पार्थियन, यूची आदि विदेशी राजकुलों द्वारा ढाले हुए सिक्कों का अनुकरण किया था। विदेशियों के प्रभाव से उचित आकृति और मुद्रण के सिक्कों का प्रचलन हुआ। भारतीय शिल्पियो ने, जिन्हें अन्य क्षेत्रों में दिव्य सफलता प्राप्त हो चुकी थी, सुन्दर मूर्ति और मुद्रण वाले सिक्को का निर्माण करने की ओर कभी ध्यान नही दिया। अतएव उन्होंने अभी तक सुन्दर चमकीले सिक्के नही वनाये थे।

कनिष्क के सिक्के यूनानी प्रभाव को प्रकट करते है। वास्तव मे वे यूनानी, भारतीय और ईरानी देवी-देवताओं का विलक्षण समन्वय प्रदर्शित करते है। वे यह भी प्रकट करते हैं कि इस युग मे वैक्ट्रियन और रोमन सिक्कों के नमूनो की नकल की गयी, परन्तु इसके साथ ही कला की मौलिकता, नवीनता और चित्राकन की क्षमता भी वतायी गयी। गुप्तकाल मे पाश्चात्य नमूनों के प्रभाव मे सर्वोत्कृष्ट सिक्के

मुद्रित हुए परन्तु पहले के बैक्ट्रियन नरेशो के दिव्य मनोरम सिक्को के साथ उनकी तुलना नही की जा सकती। यूनानी शब्द 'द्रख्म' को भारतीयो ने अपने 'द्रम्म' शब्द मे स्वीकार कर लिया। 'द्रम्म' शब्द प्राकृत भाषा का था। कतिपय विद्वानो का मत है कि आधुनिक हिन्दी शब्द 'दाम' इसी 'द्रम्म' का अपभ्रंश है।

दर्शनशास्त्र—दर्शन के क्षेत्र में यूनानी भारतीयो के अधिक ऋणी है। आरम्भिक और पायथागोरियन मतो ने भारतीय विश्वास और सिद्धान्तो से बहुत कुछ लिया। पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त में यूनानियो का विश्वास (जो प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' की अन्तिम गाथा मे वर्णित है) और पायथागोरियन मतावलम्बियो के सुरा, आमिष-आहार आदि का निषेध भारतीय दर्शन से लिया गया है। रॉलिन्सन के मतानुसार भारतीय दर्शन ने मिस्र देश के द्वारा यूनानी दर्शन को प्रभावित किया। यूनानियो ने योग और तपस्या तथा वैराग्य के भारतीय सिद्धान्त अपना लिये थे। इसके अतिरिक्त सिकन्दरिया मे प्रचलित दर्शन मे भी हिन्दू प्रभाव के चिह्न प्रकट होते है।

भाषा और लिपि—भारतीय भाषा और लिपि पर यूनानी प्रभाव महत्त्वहीन है। भारत या अफगानिस्तान मे अभी तक यूनानी भाषा का कोई भी अभिलेख उपलब्ध नही है। साधारण जनता यूनानी भाषा नही समझती थी। कुषाणो ने अपनी गाथाओ के लिए खोटानी भाषा का प्रयोग किया जो शक लोगो की भाषा से साम्य रखती थी। परन्तु कुषाणो ने यूनानी लिपि मे खोटानी भाषा को अंकित किया था। इससे प्रकट होता है कि कुषाण नरेश और साधारण जनता यूनानी भाषा का प्रयोग नही करती थी।

काव्य और नाटक—सन्त क्रिसोस्टम (117 ई०) ने लिखा है, "होमर कृत काव्य को भारतीय गाते है जिसका अनुवाद उन्होने अपनी भाषा और भावांकन अपनी शैलियो मे कर लिया है।" प्लूटार्क और एलियन ने भी इसी कथन की पुष्टि की। वेलर आदि विद्वानो ने भी यह धारणा बना ली कि होमर की काव्यकथा के आधार पर संस्कृत मे रामायण व महाभारत की रचना हुई। पर यह कल्पना निरर्थक और निर्मूल है, क्योकि ये दोनो महाकाव्य यूनानी आक्रमण से पहले रचे गये थे। यद्यपि यूनानी और भारतीय अनुश्रुतियो मे कुछ ऊपरी साम्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु क्रिसोस्टम के उपरोक्त कथन की सत्यता अत्यन्त संदिग्ध है। इस प्रकार यह भी माना जाता है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटक से अधिक प्रभावित हुआ और हम भारतीय 'यवनिका' व 'विदूषक' के विचारो के लिए यूनानी नाटक के ऋणी है। परन्तु इस मत के विरोध मे बहुत कुछ तर्क दिये गये है। नाटक लिखने की कला भारत मे अति प्राचीन काल से चली आ रही है। यह वस्तुत मौलिक है। हमारे पास इसका कोई पर्याप्त प्रमाण नही है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटक के नमूनो से प्रभावित हुआ। "इन दोनो की पारस्परिक समानताएँ इतनी न्यून, आकस्मिक और ऊपरी है और विभेद इतने अधिक और मौलिक है कि यूनानी प्रभाव का मौलिक सिद्धान्त साधारणतया निर्मूल हो जाता है।"

ज्योतिष, गणित और चिकित्साशास्त्र—ज्योतिष पर यूनानी लेखको का प्रभाव भारतीय लेखको के ग्रन्थो मे देखा जा सकता है जिन्होने यवनेश्वर या यवनाचार्य के कथनो को श्रद्धापूर्वक उद्धृत किया है। भारतीयो ने यूनानियो से ज्योतिष के कुछ तत्त्व लिये और इसे इन्होने प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार भी कर लिया है। 'गार्गी संहिता'

मे लिखा है कि "यद्यपि यवन वर्वर है तथा ज्योतिष के मूल निर्माता होने के कारण वे देवताओ की भाँति स्तुत्य है।" भारतीय ज्योतिप मे यूनानी नामो का प्रयोग हुआ है और 'रोमक' तथा 'पौलिस सिद्धान्त' तो निश्चय ही यूनानी प्रभाव को प्रकट करते हैं। फलित ज्योतिप का कुछ ज्ञान तो भारतीयो को पहले ही से था, किन्तु नक्षत्रो को देखकर भविष्य-कथन की कला बावुल से सीखी हुई कही जाती है।

गणित के भारतीय ग्रन्थो पर भी यूनानी प्रभाव कुछ अशो तक रहा। ऐसा माना जाता है कि भारतीय चिकित्सा पर लिखे गये ग्रन्थ 'चरक-शास्त्र' पर कुछ अंशो तक यूनानी चिकित्सा-प्रणाली का प्रभाव पडा, किन्तु इस कथन की पुप्टि के हेतु कोई सवल प्रमाण नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओ ने चिकित्सा का ज्ञान अपने किसी पडोसी से नही सीखा, यूनानियो से तो और भी कम। शरीर-रचना सम्वन्धी प्रारम्भिक सिद्धान्तो के विपयो मे तो हिन्दुओं और यूनानियो मे परस्पर साम्य था, परन्तु इन दोनो के समान विचारो का स्वतन्त्रतापूर्वक विकास हुआ होगा, कहना दुष्कर है। फिर भी, साहित्य मे हम निश्चयात्मक रूप से कह सकते है कि यूनानियो ने भारतीयो से अपनी लोकगाथाएँ ली। यूनानियो ने 'पचतन्त्र' से पशुओ की अनेक कहानियाँ ले ली।

उपरोक्त विवेचन के वाद अन्त मे हम इस निष्कर्प पर पहुँचते है कि भारत में यूनानी शासक अपने अस्तित्व के लिए ही निरन्तर युद्ध करते रहे। अतएव न तो उनके पास इतना अवकाश था और न इतनी शक्ति ही अवशेप थी कि वे अपनी कला, विज्ञान और साहित्य का भारत मे विकास कर सके। इसलिए वे भारत से अधिक अश मे प्रभावित न हो सके। इसके प्रतिकूल, यद्यपि भारतीय संस्कृति के कुछ अश यूनानी प्रभाव को प्रदर्शित करते है, परन्तु यूनानी सस्थाएँ और सस्कृति भारत की मौलिक सस्थाओ और सस्कृति पर कभी भी विजय प्राप्त न कर सकी। वस्तुत: यूनानी सभ्यता पर भी कोई स्थायी और गहन प्रभाव नही पडा। "यदि यूनानियों का कभी अस्तित्व ही न रहा होता तो भी भारतीय सभ्यता वुद्ध की मूर्ति को छोड़ वैसी ही रही होती जैसी आज है, उसमे कोई अन्तर न हुआ होता।"

भारत और रोमन साम्राज्य

ईसा के पूर्व प्रथम सदी मे यूरोप में रोमन साम्राज्य के स्थापित हो जाने से भारतीय व्यापार को खूब प्रोत्साहन मिला। रोमनों की पूर्वी प्रदेशो की विजय के फलस्वरूप लालसागर लुटेरो के उत्पात से विमुक्त हो गया था और व्यापारिक मार्ग सुरक्षित हो गये थे। परिणामस्वरूप, भारत की भोग-विलास और ऐश्वर्य की वस्तुओं की माँग रोम मे खूव वढ गयी। भारत की सुन्दर मलमल, रत्न, मोती, औपधियाँ और मिर्च-मसाले की माँग अत्यधिक थी। इससे व्यापार मे पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो गयी थी। सम्राट क्लॉडियस के शासनकाल मे 45 ई० मे हिप्पालस की इस खोज कि हिन्द महासागर पर मानसूनी हवाएँ नियमित रूप से वहती हैं, रोम और भारत के बीच सामुद्रिक व्यापार को खूव प्रोत्साहन मिला। प्लाइनी (Pliny) के अनुसार प्रति वर्ष रोम से भारत को 5,50,000 पौण्ड के वरावर धन और सिक्के व्यापारिक माल का मूल्य चुकाने के लिए भेजे जाते थे। ईसा के वाद पहली और दूसरी शतव्दियो मे शक्तिशाली कुषाण साम्राज्य की सीमाएँ पश्चिम मे ईरानी साम्राज्य की सीमा का स्पर्श करती थी। साथ ही, रोमन साम्राज्य का विस्तार भी आगे वढ़कर एशिया माइनर तक चला आया था और उसकी सीमा कुपाण साम्राज्य

से केवल एक हजार किलो मीटर दूर रह गयी थी। परिणामस्वरूप, सम्पर्क और व्यापार खूब बढ़ा। नीरो के शासनकाल मे भोग-विलास की भारतीय वस्तुओ की माँग अल्प काल के लिए न्यून हो जाने और युद्धो से उत्पन्न विघ्न-बाधाओ के होने पर भी भारत और रोम के मध्य व्यापार चलता ही रहा। इस कथन की पुष्टि उन रोमन सिक्को से होती है जो तामिल नाडु मे भारतीय भूमि से खोदकर निकाले गये हैं। इसके अतिरिक्त ईसा की तीसरी सदी मे रोमन सम्राटों के पूर्वी अभिधावनो (expeditions) के फलस्वरूप रोमन लोग भारत के घनिष्ठ और कभी-कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क मे आ गये थे।

भारत और रोम के इस बढते हुए सम्पर्क का एक परिणाम यह हुआ कि इस युग के पश्चात लेखको ने भारत और भारत के भूगोल पर अनेक ग्रन्थो की रचना की। प्लाइनी, स्ट्रेबो, सिकन्दरिया के टाल्मी या टालेमी, फिलॉस्ट्रेटस (Philostratus), केलिस्ट्रेटस (Calistratus) और डायोन केशियस (Dion Cassius) इस विषय मे विशेष उल्लेखनीय है। स्ट्रेबो ने, जो रोमन सम्राट ऑगस्टस के शासनकाल (ईसा पूर्व 27–14) मे था, भारत के साथ होने वाले परिवर्द्धित व्यापार का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया है। प्लाइनी ने 'प्राकृतिक इतिहास' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमे उसने भारत व सिहल द्वीप का बहुमूल्य वर्णन किया है। इसी ग्रन्थ मे "भारतीय पशुओ की नामावली, खनिज पदार्थो, पौधो और विभिन्न स्रोतो से सकलित की जाने वाली जड़ी-बूटियो के नाम भी" दिये गये है। प्लाइनी ने इस बात का भी रोना रोया है कि रोम का स्वर्ण भारत में अविरल गति से चला आ रहा था और इसके विनिमय मे पूर्व से अनुत्पादक भोग-विलास की सामग्रियाँ ली जा रही थी। भूगोल-विशारद टाल्मी ने जो ईसा बाद 150 ई० मे हुआ था, मानचित्र मे विविध स्थानो को बतलाते हुए भारत के सम्बन्ध मे वर्णन किया है।

रोम और भारत के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध व सम्पर्क का अन्य परिणाम इन दोनो देशो मे बढ़ता हुआ राजनीतिक सम्पर्क था। जब रोमन सम्राट ऑगस्टस ने अपने गृह-युद्ध के अन्त मे विजयश्री प्राप्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, तब एक या एक से अधिक भारतीय राज्यो ने अपने राजदूत उसके पास भेजे। ईसा बाद की चार सदियो तक अन्य भारतीय राजदूत भी रोम गये थे और स्पष्ट रूप से ऐसे निम्नलिखित आठ राजदूतो के हवाले भी है—ईसा पूर्व 26 मे सम्राट ऑगस्टस को, सम्राट ट्राजन (98–117 ई०) को, हाड्रियन (117–138 ई०) को, एण्टोनियस पियस (138–261 ई०), हेलिओगैबलस (218–222 ई०), औरेलियन (270–275 ई०), कॉन्सटेण्टाइन (323–353 ई०) और जूलियन (361–363 ई०) को राजदूत भेजे गये थे। सम्भवत अन्य दो भारतीय राजदूत जस्टीनियन को 530 ई० और 552 ई० में भेजे गये थे।

भारत और रोमन साम्राज्य के बीच होने वाले व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध के कारण बहुसख्यक भारतीय और रोमन लोग परस्पर एक-दूसरे के देश मे आने-जाने लगे। सिकन्दरिया और सीरिया के अनेक वणिकगण बारम्बार भारत मे आये। रोमन लोगो ने दक्षिण भारत में अपना एक उपनिवेश स्थापित कर लिया। वहाँ वे भारतीय प्रथाओ और रीति-रिवाजो से इतने अधिक अवगत हो गये थे, जितने पहले कभी न हो पाये थे। इसके साथ ही बहुसख्यक भारतीय भी सिकन्दरिया गये जो केन्द्र मे स्थित होने के कारण पूर्व और पश्चिम के लोगों के परस्पर मिलन का

महान केन्द्र बन गया। भारतीयों के इस प्रकार विदेश-गमन का मनोरंजक प्रमाण नील नदी के समीप देदेसीय (Dedesiy.) मन्दिर के अभिलेख मे सुरक्षित है। एक भारतीय का नाम इस अभिलेख मे अंकित है। दीर्घ काल के बाद भी 470 ई० मे कुछ ब्राह्मण सिकन्दरिया गये और कोन्सल सेवीरस (Consul Severus) के गृह मे अतिथि बनकर रहे। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारतीय जलयात्रा और समुद्री व्यापार मे अत्यधिक वृद्धि और विकास हुआ। इसीलिए 'मनुस्मृति' मे भी व्यापारिक माल, जल-यात्रा आदि के नियमो का विवेचन है। इसके बाद भोज नरपति के 'युक्ति-कल्पतरु' नाम ग्रन्थ मे जल-यात्रा और सामुद्रिक व्यापार के प्रचुर सदर्भ है।

364 ई० मे रोमन साम्राज्य का विभाजन उसके पतन का प्रथम घातक कदम था। 410 ई० मे गॉथ्स लोगो ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और 50 वर्ष बाद यूरोप के सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य का अन्त हो गया। इसके पश्चात् यद्यपि भारत के साथ रोम का व्यापार क्षीण रूप मे चलता रहा, परन्तु वह शीघ्र ही विनष्ट हो गया।

भारत और पाश्चात्य देशो के परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क ने दोनो की सस्कृति को प्रभावित किया है। इन दोनो के पारस्परिक प्रभाव की सीमा को निर्दिष्ट रूप से बताना दुष्कर है। किन्तु इसके कुछ विशिष्ट अगों का उल्लेख किया जा सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय कला और सिक्को के मुद्रण पर पश्चिम का गहरा प्रभाव पडा। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत मे ज्योतिष विज्ञान की प्रगति पर रोमन ज्योतिष का प्रभाव रहा। "रोमन सिद्धान्त" का वर्णन वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ मे किया है और "पोलिस सिद्धान्त" सिकन्दरिया के पॉल के ज्योतिष-ग्रन्थों पर निर्भर है। इसके विपरीत, भारतीय चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष के शब्द और अको की प्रणाली पाश्चात्य देशो ने अपना ली। "पचतन्त्र" जैसी भारतीय पुस्तके पश्चिम मे अधिक लोकप्रिय हो गयी और अनेक भाषाओं मे इनका अनुवाद हो गया। भारतीय गाथाएँ और गल्प इस प्रकार यूरोप मे पहुँची और ये गस्ट रोमैनोरम (Gasta Romanorum) और डीकैमेरन (Decameron) मे तथा अन्य मध्यकालीन संग्रहों मे उपलब्ध है।

यही पारस्परिक प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्रो मे भी दृष्टिगोचर होता है। यह बात अब सर्वमान्य हो गयी है कि भारतीय दर्शन ने पश्चिम के निओ-प्लेटोनिज्म के विकास को प्रभावित किया था। इस मत को मानने वाले ध्यान और चिन्तन से आत्मा को शारीरिक बन्धनो से मुक्त कर ब्रह्म मे विलीन होने का प्रयत्न करते हैं। उनके अन्य सिद्धान्त मास का निषेध, वैराग्य और शरीर को तप के समान विभिन्न यातनाएँ देना है। (यही पतंजलि का योग-सिद्धान्त है।) नियो-प्लेटोनिज्म के ये सिद्धान्त भारतीय स्रोतो से ही प्राप्त किये गये थे। प्रसिद्ध नियो-प्लेटोनिस्ट, प्लॉटीनस और नॉस्टिक लेखक (Gnostic writer) बारडेमनीस तथा वेसीलडस सभी दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिए पूर्व मे आये थे।

सिकन्दरिया और सीरिया मे रहने वाले हिन्दू और बौद्ध मतावलम्बी व्यापारियों ने पश्चिम मे अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे और वहाँ वे अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। ईसाई धर्म के उत्कर्ष को इन भारतीय धर्मों ने, जिनका प्रमुत्व अभी भी पश्चिम मे था, प्रभावित किया। सीरियन लेखक झेनब (Zenob) ने ईसाई धर्म-प्रचारको के मूर्ति भंग करने के उत्साह का उच्चतम मनोरजक वर्णन किया। दजला

नदी के ऊपरी प्रदेश में वान नामक झील के पश्चिम मे टरोन के केण्टन मे दो हिन्दू मन्दिरो को ईसाई धर्म-प्रचारको ने विध्वस कर दिया था। ईसा से पूर्व दूसरी सदी मे इस प्रदेश मे एक भारतीय उपनिवेश था जिससे इन मन्दिरो का निर्माण कराया था। 304 ई० मे सेण्ट ग्रेगरी ने इन मन्दिरो पर आक्रमण किया और भारतीयो ने वीरतापूर्वक रक्षा की। इतने पर भी महमूद गजनवी के समान इस आक्रमणकारी ने देवताओ की लगभग 4 और 5 मीटर ऊँची दो प्रतिमाएँ भग कर चूर-चूर कर दी। सम्भव है, पश्चिम में भारतीय धर्म को ध्वस करने मे सेण्ट ग्रेगरी का बहुत बड़ा हाथ रहा होगा। इतना होने पर भी भारतीय धर्म (ब्राह्मण और बौद्ध धर्म), उस प्रदेश ने, जहाँ ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था और जो उसके सक्रिय प्रारम्भिक प्रभाव का क्षेत्र रहा था, जीवित शक्ति था। अतएव कोई आश्चर्य नही, यदि भारतीय धर्म मे ईसाई धर्म को प्रभावित किया हो। ईसाई धर्म की कुछ विचारधाराएँ भारतीय धार्मिक प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई है। यह बात आज सर्वमान्य हो चुकी है। बौद्ध चैत्य और ईसाइयों के गिरजाघर के आन्तरिक भाग की परस्पर साम्यता ईसाई धर्म के प्रारम्भिक सम्प्रदायों मे उग्र तप और अति वैराग्य की भावना, जैसे थीवाइड मोनेस्टिसिज्म (Thebaid Monasticism), स्मारक पूजा, माला का प्रयोग. स्वर्गलोक की कल्पना आदि ईसाई धर्म ने भारतीय धार्मिक विचारो से लिये है। यह भी एक विलक्षण और मनोरंजक बात है कि किस प्रकार ईसाई धर्म मे बुद्ध जोसाफट (Josaphat) नामक सन्त के रूप मे पूज्य और स्तुत्य हो गये। सिकन्दरिया के प्रसिद्ध ईसाई पॉल और उनके शिष्य, महन्त एन्थोनी, जिनका देहावसान 356 ई० मे हुआ था, तप और वैराग्य के भारतीय विचारो से प्रभावित हुए थे। बुद्ध धर्म ने भी ईसाई धर्म को प्रभावित किया था। ईसाई पादरी की ग्रामीण छडी, पादरी की टोपी, आधी बाँहो का लम्बा कुर्ता, धर्माध्यक्ष का लबादा, मन्त्र, एक साथ भजन या गीत गाना, भूत-प्रेत का निवारण, पाँच जजीरों से लटकता हुआ धूप-पात्र धर्मानुरागी श्रद्धालु भक्तो के मस्तक पर हाथ फैलाकर शुभ आशीर्वाद देने की प्रणाली, माला, पादरियों का ब्रह्मचर्य, सासारिक जीवन से उनका पृथकत्व, सन्तो का पूजन, व्रत-उपवास, जुलूस और समारोह, पादरियो द्वारा प्रार्थनाओ का उच्चारण और ईसाई धर्म का पवित्र जल भारतीय बौद्धो के साथ सम्पर्क का परिणाम है। यह भी निश्चय है कि पश्चिम के अनेक धार्मिक नेताओं ने बुद्ध का नाम ग्रहण कर लिया था।

उपरोक्त कथनो की दृष्टि से निस्सन्देह यह सत्य है कि ईसाई धर्म पर भारतीय विचारो का प्रभाव रहा, किन्तु भारतीय विचारो के प्रभाव का मूल्याकन करना अति दुष्कर है। फिर भी यह सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि ईसाई धर्म-प्रचारक प्रारम्भिक युग से भारत मे आते रहे और यहाँ ईसाइयो के छोटे-छोटे समुदाय स्थापित हो गये। ईसा बाद की 5वी सदी के लेखक की लघु पुस्तिका "नेशन्स ऑफ इण्डिया" और छठी सदी पूर्वार्द्ध मे भारत मे आने वाले एक ईसाई साधु की पुस्तक "क्रिश्चियन टोपोग्राफी" मे दक्षिण भारत मे ईसाई धर्म की प्रगति का उल्लेख है। उपरोक्त विवेचन इस बात की ओर सकेत करते है कि प्राचीन युग में पाश्चात्य विद्वानो ने इस सास्कृतिक ऋण को स्वीकार कर लिया है।

निष्कर्ष

गुप्तकाल मे हिन्दू संस्कृति उच्चतम पराकाष्ठा को पहुँची थी। हिन्दू धर्म उस युग मे वह रूप धारण कर चुका था जो आज हमे प्राप्त है। गुप्त शासन जिसने

साम्राज्यवादी परम्पराओं को परिपूर्ण किया, समकालीन और वाद के राज्यो के लिए आदर्श वन गया था। गुप्त शासन द्वारा स्थापित शान्ति और समृद्धि से कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति हुई। हिन्दू संस्कृति स्वतन्त्र रूप से विकसित होती रही। भारत से वाहर हिन्दू उपनिवेशों के स्थापित होने के कारण हिन्दू सस्कृति और सभ्यता का विस्तार हुआ और उसने अन्य देशों के लोगो, उनके जीवन और विचारो को अत्यधिक प्रभावित किया। इस समय भारत स्वय अपनी संस्कृति का विकास करते हुए विश्व के अन्य देशो से अप्रवाहित जलाशय के समान पृथक नही रहा, अपितु उसने पूर्व से नही वरन पश्चिम की सभ्यता से भी व्यापार-वाणिज्य के द्वारा अपना घनिष्ठ सम्पर्क वनाये रखा। पश्चिम में ऐसे सम्वन्ध, जिनका सूत्रपात प्रागैतिहासिक युग से हुआ, ईसा वाद की छठी सदी तक निरन्तर सक्रिय वने रहे। परन्तु पश्चिमी जीवन और विचार-प्रणालियाँ भारतीय सस्कृति और सभ्यता पर अपना गहन प्रभाव अकित करने मे असफल रही। यद्यपि भारतीय संस्कृति के कतिपय अंश ग्रीसो-रोमन सस्कृति के प्रभाव के कुछ अवशिष्ट चिह्नो को प्रकट करते है, परन्तु भारतीय सस्कृति इतनी स्वतन्त्र और सफलतापूर्वक विकसित होती रही कि ग्रीसो-रोमन सस्कृति का जो कुछ भी प्रभाव इस पर पड़ा था, वह भी चौथी सदी तक क्षीण होकर विलुप्त हो गया। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति सदियो तक पाश्चात्य दर्शन को प्रभावित करती रही और ईसाई धर्म आज भी इस प्रभाव के कुछ अंश प्रदर्शित करता है।

प्रश्नावली

1. "भारतीय सस्कृति पर यूनानी प्रभाव अल्प और वाह्य था।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।
2. भारतीय सस्कृति पर विदेशी प्रभाव का विवेचन कीजिये।
3. यदि रोमन व भारतीय सस्कृतियो ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया तो किस रूप मे और किस अंश तक ?
4. "प्रागैतिहासिक काल मे भारत अपने शक्तिशाली पाश्चात्य पड़ोसियो द्वारा गहन रूप से प्रभावित हुआ।" इस कथन का पूर्ण विवेचन कीजिये।
5. क्या भारतीय सस्कृति और धर्म ने ईसाई धर्म के विकास को प्रभावित किया ? अपने उत्तर की पुष्टि सवल उदाहरणों सहित कीजिये।

10

हिन्दू संस्कृति का प्रसार

हिन्दू संस्कृति का महत्त्व

भारत की संस्कृति मनुष्य द्वारा विकसित सभ्य और मानव बनाने वाले महान तत्त्व मे से एक है। शताब्दियो तक एशिया के अधिकांश भाग का आध्यात्मिक जीवन प्रधानतया उन विचारो का प्रतिफल था जिनका अन्वेषण और नियमन प्राचीन भारत के ऋषि-मुनियो ने किया था। निस्सन्देह भारत एशिया के अनेक पिछडे हुए प्रदेशों में मानव को सभ्य बनाने वाली शक्ति था। ईसा से पूर्व एक सहस्र वर्ष से, जब हिन्दू संस्कृति का संश्लेपण और समन्वय हो चुका था, लगभग 1000 ई० तक के सुदीर्घ युग मे भारत अन्यो को सभ्य बनाने वाला देश था, क्योंकि इस युग में भारत में सास्कृतिक एकीकरण हो रहा था और साथ ही साथ लंका, ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, मलाया, इण्डोनेशिया और मध्य एशिया के तुर्किस्तान तथा अफगानिस्तान के अधिकांश भाग मे भारत की संस्कृति का विस्तार हो रहा था एव भारत की आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पर्क के कारण चीन, कोरिया और जापान का रूपान्तर हो रहा था। परन्तु भारतीय या अधिक निर्दिष्ट रूप से हिन्दू संस्कृति केवल सभ्य व सुसस्कृत बनाने वाली शक्ति ही नही थी, एशिया की अनेक पिछड़ी हुई जातियो के लिए तो भारत से बौद्ध धर्म-प्रचारको, ब्राह्मणो और व्यापारियो के आगमन के परिणामस्वरूप सर्वप्रथम सामाजिक व्यवस्था और सगठन, ललितकलाओ और शिल्प-व्यवसायो व उद्योगो का नवप्रभात हुआ था। इससे इन अनुन्नत देशो की भौतिक उन्नति ही नही हुई, अपितु उनकी सुपुप्त बौद्धिक और अन्य शक्तियाँ शीघ्र ही चैतन्य हो गयी और बिना किसी विघ्न-बाधा के इन शक्तियो को पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वे समर्थ हो गये। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति ने विश्व-सभ्यता के कोष में अपना योगदान देकर अन्य राष्ट्रो की सहायता की और साथ ही विस्तृत और गहन जीवन तथा उसकी समस्याओ को हल करने में भाग लिया। हिन्दू संस्कृति ने अन्य देशों के सम्मुख स्वय उनके आध्यात्मिक विचार और माहात्म्य को प्रकट कर दिया। प्राचीन सुसम्कृत चीनी लोगो के उदाहरण में तो भारतीय विचार के सम्पर्क ने उनकी सस्कृति के निर्माण और सर्वोच्च अभिव्यक्ति मे अन्तिम चिह्न अकित किये। बौद्ध धर्म ने चीनी लोगो को भलीभाँति समझाकर विश्वास दिला दिया कि अस्तित्व और प्रयत्न के मूल प्रश्नों पर गहन मनन करना अनिवार्य है। जावा और स्याम, चीन और जापान ने जीवन की सम्पन्नता का आनन्द उठाया और उन्होने कला, साहित्य तथा धार्मिक कर्मकाण्ड मे अपने मस्तिष्क और आत्मा की अभिव्यजना की विलक्षण दिव्य आत्मा को देखा जो भारतीय सस्कृति के सम्पर्क के कारण प्राप्त हुई थी। हिन्दू सस्कृति के विस्तार का आधारभूत सिद्धान्त

एकीकरण और प्रकटीकरण था, न कि प्रतिबन्ध और दमन। भारतीय दर्शन और सस्कृति अनेक देशो मे विध्वंस और संहार करने के हेतु नही वरन विदेशियों को परिपूर्ण और सफल करने के लिए गयी थी। यह विदेशों मे प्राणदायक वर्षा के समान गयी थी, न कि तप्त व झुलसा देने वाली लू के समान। अतएव पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिकूल, भारतीय संस्कृति की सिद्धि व सफलता भौतिक सभ्यता के सगठन की शक्ति से कही अधिक है।

भारतीय संस्कृति के प्रसार के कारण व साधन

यह सत्य है कि सस्कृतियाँ विजय और वाणिज्य के साथ-साथ ही प्रसारित होती है। निस्सन्देह सुदूर-पूव मे भारतीय सस्कृति का प्रसार पूर्व के देशों और भारत के मध्य व्यापारिक सम्वन्धो के कारण हुआ। आर्थिक वित्तेपणा और वाणिज्य-व्यवसाय भारतीयो को सुदूर-देशो मे पर्यटन करने एव अनेक भयकर कष्टो को झेलने के लिए प्रेरित करते थे। प्राचीन युग मे हिन्द महासागर में स्थित होने से भारत की केन्द्रीय स्थिति थी और वह प्राचीन विश्व के सभ्य व सुसस्कृत देशो के सामूहिक मार्गो के मध्य में पड़ता था। फलतः भारतीय सामुद्रिक व्यापार के हेतु सुदूर-देशों को गमन करते थे। पूर्व के देश, जैसे जावा, सुमात्रा, मलाया आदि स्वर्ण की खानो के सुदूर-देश समझे जाने के कारण 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्णद्वीप' कहलाते थे। स्वर्ण प्राप्त करने की आर्थिक लालसा के कारण भारतीय समुद्र-पार इन देशो को गये। वहाँ असभ्य अनुन्नत जातियाँ भारतीय वणिकों के सम्पर्क मे आयी और उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रथम पाठ उनसे सीखे।

इसके अतिरिक्त हिन्दू संस्कृति के दीप, वौद्ध धर्म-प्रचारक और ब्राह्मण आचार्य तथा उपदेशक भी भारतीय सौदागरों के साथ-साथ दूरस्थ देशो को ले जाते थे। उनमें लोक-कल्याण और धर्म-प्रचार की प्रवल महत्त्वाकाक्षा थी। वे भारतीय विचार और सस्कृति को अपने साथ ले गये थे, परन्तु वे शासन करने वाली विदेशी जाति के समान नही गये जो अपनी सर्वोपरि स्थिति होने से स्वाभाविक रूप से विशेषाधिकार रखती थी। राजनीतिक शक्ति व शासकीय अधिकारो से वंचित रहकर ये भारतीय धर्मदूत विदेशियो की असभ्य वर्बर जातियो मे जाते तथा घातक व भीषण विघ्न-वाधाओ के होने पर भी उन्हे अपने धर्म का उपदेश देते और अप्रत्यक्ष रूप से सभ्य और उन्नत वनाते थे। कभी-कभी भारतीय ऋषि-मुनि विदेशों में अपने आश्रम और तपोवन स्थापित करते थे, जो कालान्तर मे भारतीय सस्कृति के केन्द्र वनकर रेडियो-स्टेशन के समान सस्कृति का प्रसार करते थे। कौण्डिन्य और अगस्त्य ऋषियो के ऐसे ही आश्रम थे।

इसके अतिरिक्त अनेक भारतीय विदेशो में जाकर स्थायी रूप से वस गये और उन्होने वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये। इनका सांस्कृतिक प्रभाव स्वाभाविक रूप से विदेशियो पर पड़ा। कभी-कभी क्षत्रिय राजकुमार अपने भाग्य की खोज करने और नवीन राज्यो की स्थापना करने के हेतु दूरस्थ देशों को समुद्र-पार जाते थे। फलतः पूर्वी देशो मे भारतीयों के ऐसे अनेक राज्य स्थापित हो गये थे। इन्होने भी भारतीय संस्कृति के प्रसार में सहयोग दिया। इस प्रकार भारतीय सस्कृति-प्रसार के प्रमुख साधन व्यापारीगण, धर्म-दूत व धर्मोपदेशक और क्षत्रिय राजकुमार रहे।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति का प्रसार अपने साथ सवसे आगे आग उगलने वाली व नृशंस भीषण कार्य करने वाली सेनाओ को लेकर

चलने वाले विश्वविजयी राजाओ की दिग्विजय के परिणामस्वरूप नही था। भारत ने अपने आपको बाह्य विश्व के सम्मुख सिकन्दर, सीजर, महमूद गजनवी, चगेजखाँ, तैमूर, नेपोलियन जैसे विश्व को दहला देने वाले विजेताओं के रूप मे प्रकट नहीं किया। भारत की दिग्विजय सत्य और कानून की धर्म-विजय थी। विश्व-इतिहास में भारत की सास्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक और हितकर कोई अन्य विजय नही हुई। इसी में हिन्दू सस्कृति का अनन्त यश-गौरव है। इसने एक विलक्षण साम्राज्य स्थापित किया। यह ऐसा साम्राज्य नही था जिसमें एक सार्वभौम सत्ता के अन्तर्गत साधारण राजनीतिक जीवन में सभी समभागी हो, वरन स्वतन्त्र राष्ट्रो का एक ऐसा समान-तन्त्र था जिसके साधारण सास्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन मे सभी समभागी थे। समुद्र-पार अन्य देशो मे भारत द्वारा स्थापित साम्राज्य पवित्रता व आध्यात्मिक शक्ति से विजित हुआ था जिसका प्रमुख सिद्धान्त धर्म और सत्य था। पश्चिम के आधुनिक साम्राज्यो से प्राचीन भारत के औपनिवेशिक साम्राज्य भिन्न थे। भारतीयो ने दक्षिण-पूर्वी एशिया मे उपनिवेश स्थापित किये थे परन्तु उन्होंने इनको अपनी बढती हुई जनसख्या बसाने के लिए उपयुक्त स्थान नही समझा और न अपने परिवर्द्धित वाणिज्य-व्यवसाय के लिए उपयोगी बाजार ही माना। ये उपनिवेश इनके विजेताओं के हित के लिए शोषण के साधन नही माने जाते थे। जहाँ कहीं भी भारतीय गये और स्थायी रूप से बस गये, वहाँ उन्होने स्थानीय मौलिक तत्त्वो के साथ अपनी सस्कृति का सम्मिश्रण कर एक नवीन संस्कृति का विकास किया जिस पर भारतीयता की गहरी छाप रही। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण नही है जिससे यह प्रकट हो कि भारतीय राज्यो को इन विस्तृत साम्राज्यो से कोई राजनीतिक लाभ हुआ हो। यह भी शकास्पद है कि औपनिवेशिक सत्ताएँ भारत की राजनीतिक सत्ताओं से नियमित सम्पर्क रखती थी। यद्यपि समुद्रगुप्त का यह दावा था कि इन सब पूर्वी द्वीपो पर उसकी सर्वोपरि सत्ता थी, परन्तु कुछ औपनिवेशक राज्यो से ही वह सम्बन्ध रखता था। समुद्र-पार स्थापित हिन्दू साम्राज्य का सबसे अधिक महत्त्वशाली कार्य दूरस्थ प्रदेशो मे हिन्दू सस्कृति और सभ्यता का प्रसार था। अब हम इस साम्राज्य के सास्कृतिक और राजनीतिक प्रसार का विवेचन करते है।

औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार

अनादिकाल से भारतवासी बाह्य विश्व से स्वतन्त्र और घनिष्ठ सम्पर्क रखते थे। प्रागैतिहासिक युग के पाषाणकाल के लोग सुदूर-पूर्वी देशो से सम्बन्ध रखते थे और यह विश्वास करने हेतु कारण है कि ये बहुसख्या मे जल और थल-मार्ग से भारत से बाहर गये थे और जावा, सुमात्रा और हिन्दचीन मे बस गये थे। इसके बाद वाले युग मे जब सिन्धु-घाटी मे उच्चतम सभ्यता समृद्ध थी तब निस्सन्देह पश्चिमी और मध्य एशिया के देशो से भारत का अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क था। भारतीय सभ्यता को ढालने वाली महत्त्वपूर्ण जातियाँ—द्राविड और आर्य—बाहर से भारत मे आयी थी। अतएव स्वाभाविक रूप से उन्होने उन देशो से, जहाँ वे भारत में बसने के पूर्व रहते थे, अपने सम्बन्ध स्थापित कर उन्हे बनाये रखा। फलस्वरूप, उनकी सभ्यता के चिह्न वहाँ उपलब्ध हुए है। मध्य एशिया से भारतीय सभ्यता के अधिक अवशेप मिले है। पश्चिम मे ईरान को भारतीय आर्यो के सजातीय पारसियो ने समुन्नत किया था। ऐतिहासिक युग मे भारत के उत्तर, पूर्व और पश्चिम मे स्थित देशो से भारत का सम्बन्ध था। पश्चिम मे बेबीलोन, सीरिया, मिस्र और रोम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था

जिसमें मिस्री, यूनानी और अरब संस्कृतियों पर भारत ने पर्याप्त प्रभाव छोड़ा। पिछले अध्याय मे इसका विवेचन किया जा चुका है। अतएव यह मान लेना न्याययुक्त न होगा कि भारत ने विश्व के अन्य देशों से पृथक होकर अलग जीवन व्यतीत किया था।

पहले कतिपय विद्वानों का यह मत था कि प्राचीन भारतीय घर-पसन्द लोग थे और पर्वतों तथा समुद्रों की विघ्न-बाधाओ से अलग रहकर अपने ही देश की सीमाओं मे शान्तिमय जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु अब यह मत थोड़े समय पूर्व के अन्वेषणों से खण्डित हो गया है। एशिया के विभिन्न प्रदेशो मे भारतीय संस्कृति के अनेक अवशेष प्रकाश में आये हैं। ये इस बात की ओर संकेत है कि भारतीय अपने चतुर्दिक पर्वत-मालाओ एवं समुद्रों के पार गये और उन्होंने वहाँ उपनिवेश स्थापित किये। भारतीय कला और साहित्य ने बाह्य देशों में अपना मस्तक उन्नत किया और विश्व के कतिपय अज्ञात कोनों मे भारतीय संस्कृति प्रविष्ट हो गयी।

भारतीय संस्कृति के प्रसार का क्रम अधोलिखित प्रकार का रहा है :

लंका—भारतीय अनुश्रुति के अनुसार लंका मे सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का सन्देश श्री रामचन्द्रजी ले गये थे। परन्तु ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार लंका के साथ भारत का सम्बन्ध ईसा पूर्व छठी शताब्दी से माना जाता है। कुछ ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि बंगाल के राजा विजय ने ईसा पूर्व 500 वर्ष के लगभग लंका को विजय किया और वहाँ उपनिवेश स्थापित किया तथा लंका द्वीप को सिंहल नाम दिया। पर यह विवादग्रस्त है। इसके बाद से ही बंगाल, बम्बई और काठियावाड़ के क्षेत्रो मे देशान्तर करने वालो की बाढ़ लंका मे उमड़ पड़ी। कालान्तर में वहाँ आर्य और दक्षिण भारत के तामिल (द्राविड़) बस गये। इनके साथ ही भारतीय ललितकलाएँ और शिल्प-व्यवसाय भी प्रस्तुत हो गये। अशोक के युग मे उसका पुत्र महेन्द्र अपनी बहन संघमित्रा के साथ लंका मे गया और वहाँ के नरेश देवानांप्रिय तिस्स को बौद्ध धर्म ग्रहण करवा दिया। इसी काल से लंका के लोग बौद्ध धर्म का पालन करते रहे और भारतीय संस्कृति के प्रभाव में सुदीर्घ काल तक रहे। बौद्ध धर्म के स्मारक-चिह्न लंका मे चले गये वहाँ स्तूपों का निर्माण हो गया और चट्टानों पर धार्मिक उपदेश अंकित किये गये एवं गया के बोधि-वृक्ष की शाखा अनुराधापुर के एक विहार में रोप दी गयी। बौद्ध धर्म के इतिहास में लंका का विशेष महत्त्व है क्योंकि यहीं पर सबसे प्राचीन स्थविर सम्प्रदाय के 'त्रिपिटक' का पाली संस्करण उपलब्ध हुआ है। बौद्ध धर्म ने लंका को ब्राह्मी लिपि व पाली भाषा प्रदान की, शिल्पकला और मूर्तिकला का सूत्रपात कर उसका नव-विकास किया और विविध प्रतिद्वन्द्वी जातियों में सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न कर उन्हें सुसंगठित किया। वास्तव मे धर्म, साहित्य और कला मे लंका भारत का बहुत ऋणी है।

मध्य एशिया—मध्य एशिया मे भारत के व्यापारिक सम्बन्धों को उसकी सांस्कृतिक विजय ने पूर्णरूपेण आच्छादित कर दिया था। मौर्य साम्राज्य के विस्तार, अशोक का धर्म-प्रचार और मध्य एशिया के प्रदेश पर कुषाण राजाओं के प्रभुत्व ने भारत को मध्य एशिया के घनिष्ठ सम्पर्क में ला दिया। बौद्ध धर्मदूतों के सक्रिय प्रचार और कुषाणों के राजनीतिक प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति और सभ्यता का दीप, पामीर से परे घुमक्कड़ लोगो के प्रदेश मंगोलिया और तुर्किस्तान में ले जाया गया और कास्पियन सागर तथा चीन की दीवार के विशाल विस्तृत देश

मे प्रतिष्ठित कर दिया गया। वर्तमान खोतान के चतुर्दिक प्रदेश में भारतीय बहुसंख्या मे बस गये। उस क्षेत्र मे जो आज गोबी के मरुस्थल की रेत से ढका हुआ है, किसी समय समृद्धिशाली भारतीय उपनिवेशो की भरमार थी। फाह्यान के यात्रा-विवरण से यह प्रमाणित होता है कि ईसा की प्रथम सदियो मे यहाँ भारतीय फैले हुए थे और पाँचवी शताब्दी तक मध्य एशिया भारतीय बन चुका था। इसी यात्री के कथनानुसार लोबनार झील के पश्चिम मे निवास करने वाली समस्त जातियो ने भारतीय धर्म और भापा अगीकार कर लिये थे। मध्य एशिया के क्षेत्र मे Sir Aurel Stein के पुरात्व सम्बन्धी अन्वेपणो ने ऐसे अनेक नगरो के भग्नावशेषो को प्रकाश मे ला दिया है जिनमे दो सहस्त्र वर्प पूर्व भारतीय निवास करते थे। अनेक बौद्ध स्तूप व विहार, बुद्ध, गणेश, कुबेर तथा अन्य ब्राह्मण देवताओ की मूर्तियाँ, भारतीय गाथाओ के सिक्के, हस्तलिखित ग्रन्थ, चित्र, भारतीय लिपि मे लिखे हुए छोटे अभिलेख उत्खनन में उपलब्ध हुए हैं। हस्तलिखित ग्रन्थो मे कनिष्क की राजसभा के कवि अश्वघोप के कतिपय नाटकों की दूसरी शताब्दी की लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ एव चिकित्सा-विज्ञान के कुछ ग्रन्थ है। ये सब बौद्ध और हिन्दू धर्म के व्यापक प्रचलन, सस्कृत भापा का प्रयोग, गान्धार-शैली का प्रसार, बौद्ध कन्दराओ के भित्ति-चित्र और तक्षणकला में भारतीय शिल्पकला का प्रभाव प्रकट करते है। मध्य एशिया की कला प्रथमत गान्धार शैली और बाद मे गुप्तकालीन कला से प्रेरित हुई थी। अजन्ता की कला भी वहाँ ले जायी गयी थी। ईसा बाद की तीसरी सदी मे खोतान बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया था। खोतान और अन्य दक्षिण की बस्तियो मे राजभापा प्राकृत और राजलिपि खरोप्टी हो गयी थी। मध्य एशिया की उत्तर की प्रधान बस्ती कूचा तथा अन्य बस्तियो के भूपति बौद्ध धर्मावलम्बी थे और उन्होने परिपुष्प, सुवर्णपुष्प आदि जैसे भारतीय नाम ग्रहण कर लिये थे। ये सब इन दूरस्थ देशो के सम्पूर्ण भारतीयकरण की ओर सकेत करते है। सातवी सदी मे जब ह्वानच्याग भारत मे आते समय और भारत से लौटते समय मध्य एशिया से भ्रमण करता हुआ गया था, तब उसने वहाँ बौद्ध धर्म की प्रभुता और उस विस्तृत क्षेत्र मे भारतीय सस्कृति के प्रसार को देखा था। इस्लाम के प्रसार के पूर्व मध्य एशिया में भारतीय सस्कृति व सभ्यता का प्रसार था और ऐसा कहा जाता है कि तेरहवी सदी का मगोल नेता चगेजखाँ बौद्ध धर्मावलम्बी था।

चीन, कोरिया, जापान और फिलिपाइन द्वीप—भारतीय सस्कृति मध्य एशिया से चीन, कोरिया और जापान पहुँची। चीन मे भारतीय सस्कृति बौद्ध धर्म द्वारा गयी। बौद्ध धर्म ईसा बाद की प्रथम सदी मे खोतान से चीन मे प्रवेश कर गया था। चीन मे बौद्ध धर्म का सन्देश ले जाने का श्रेय कश्यप, मातग और धर्मरत्न नामक बौद्ध भिक्षुओ को है जिनके निवास के लिए चीनी सम्राट मिग-ती (57–76 ई०) ने राजधानी का पो-मा-सी नामक चीन का सर्वप्रथम विहार निर्माण करवाया था। 265 ई० तक बौद्ध धर्म का प्रसार धीरे-धीरे हुआ, पर तीसरी से छठी सदी तक वह वहाँ तीव्र गति से प्रचलित होने लगा। छठी सदी के प्रारम्भ मे चीनी सम्राट नूती (502–549 ई०) अशोक के समान बौद्ध धर्म का उदार सरक्षक रहा। परिणामस्वरूप, उस समय तक चीन का प्रत्येक गृह बौद्ध धर्मावलम्बी हो चुका था और तीस हजार बौद्ध मन्दिर तथा बीस लाख बौद्ध पुरोहित हो गये थे। इसके बाद तांग वश का युग (618–907 ई०) चीन इतिहास मे बौद्ध धर्म का स्वर्ण-युग माना जाता है। चीन की प्राचीन सभ्यता पर बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का कितना गहन

प्रभाव पड़ा, निश्चित रूप से कहना दुष्कर है। चीन ने अपना धर्म-परिवर्तन कर नवीन धर्म ग्रहण करने वाले व्यक्ति के समान अत्यधिक उत्साह प्रदर्शित किया। चीनी धार्मिक यात्री वर्षा ऋतु की उमड़ती सरिताओं के समान भारत में प्रवेश करने लगे और चीनी भिक्षुओं के समुदाय भारतीय बौद्धों के धार्मिक विश्वासों, आचार-विचारों और रूढ़ियों का स्वयं अध्ययन करने तथा बौद्ध हस्तलिखित ग्रन्थ, धर्म-स्मारक और मूर्तियों को संग्रह करने के हेतु कष्टपूर्ण यात्रा करते हुए भारत में आने लगे। सैकड़ों और सहस्त्रों बौद्ध ग्रन्थ भारत से चीन ले जाये गये और चीनी भाषा में उनका अनुवाद हो गया। जापानी विद्वान नानजियो ने मिंगवंशीय त्रिपिटक की प्रसिद्ध सूची में चीनी भाषा में अनुवादित 1662 संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख है। इस अनुवाद-कार्य के लिए चीनियों ने केवल संस्कृत और पाली भाषा ही नहीं सीखी वरन उन्होंने अनेक भारतीय विद्वानों को चीन आने का निमन्त्रण भी दिया। सैकड़ों भारतीय विद्वान चीन गये, वे वहाँ बस गये और उन्होंने इस पवित्र कार्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। इनमें सबसे अधिक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान कुमारजीव, गुणवर्मन, बोधिधर्म और परमार्थ थे। समय-समय पर बहुसंख्यक चीनी बौद्ध यात्री फाह्यान, ह्वानच्यांग, सुंग-यून, इ-त्सिंग आदि भारत आये। फलतः भारतीय साहित्य और दर्शनशास्त्र के अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हो गया। यह विलक्षण बात है कि ऐसे बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद उपलब्ध है जिनकी मूल प्रतियाँ भारत में अब अप्राप्य है। भारतीय बौद्ध कला ने, जिसके अनेक नमूने चीन देश को ले जाये गये थे, चीन की कला को अत्यधिक प्रभावित किया। शासी में यून-कांग घाटी में और होनान में चट्टानों में से काटी हुई मूर्तियों पर गान्धार-शैली और गुप्तकला की मूर्तियों का स्पष्ट प्रभाव प्रकट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी पैगोडाओं का विकास चीनी यात्रियों द्वारा प्रशंसित नगर पेशावर के कनिष्क के प्रसिद्ध स्मारक-स्तम्भ के आधार पर है। प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल बोस ने बताया है कि कि-फोग के प्रसिद्ध पैगोडा में जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी है, वे बंगाली है। इसी प्रकार संगीत और विज्ञान में भी भारतीय प्रभाव है। भारतीय गणित और ज्योतिष के अध्ययन को भी चीन देश में प्रोत्साहन मिला। अनेक भारतीय औषधियों का भी वहाँ प्रयोग होने लगा। इस प्रकार के धार्मिक, राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध भारत और चीन देश में स्थापित होने के अतिरिक्त इन दोनों देशों के मध्य नियमित उच्चतम सामुद्रिक व्यापार भी था।

चतुर्थ शताब्दी के मध्य में चीन देश से बौद्ध धर्म कोरिया में फैला और कोरिया से छठी शताब्दी में जापान में गया। वहाँ समस्त मध्य-युग में उसे राज्याश्रय प्राप्त रहा। वहाँ आज भी यह जीवित शक्ति है और बीते हुए पन्द्रह सौ वर्षों में इसने जापानियों की सभ्यता को ढाला है। वस्तुतः पूर्व में जापान भारतीय संस्कृति की दूरस्थ चौकी थी। तेरहवी सदी में मंगोल सम्राटों ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया और कालान्तर में मंगोलों ने इस धर्म का प्रसार मंगोलिया, मंचूरिया और साइबेरिया में किया।

आधुनिक अन्वेषणों ने इस कथन की पुष्टि की है कि फिलिपाइन द्वीपसमूह में किसी समय दक्षिण भारत के लोगों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और दैनिक जीवन के सभी क्षेत्रों को उन्होंने प्रभावित कर दिया था। वहाँ की हस्त-शिल्प कलाएँ, सिक्के, लोकगीत व गाथाएँ, कथाएँ, अनेक सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ भारतीय

प्रभाव प्रकट करते हैं। फिलिपाइन निवासियो की लिपियाँ भी दक्षिण भारत की लिपियो से बहुत कुछ साम्य रखती है। नामकरण और पूजा-पाठ मे भी इन्होने भारतीयो का अनुकरण किया था। लूजन समुद्रतट और मनीला की खाडी के समुद्र-तट पर स्थित कुछ स्थानो के नामो का उद्गम संस्कृत भाषा के शब्द है। गणेश की मूर्ति का प्राप्त होना यह बताता है कि वहाँ के निवासी हिन्दू धर्म का पालन करते थे। लूजन की पर्वतीय जातियाँ आज भी प्रारम्भिक वैदिक देवताओ की पूजा करती है। प्रशान्त महासागर मे फिलपाइन द्वीपसमूहो से आगे के अन्य द्वीपो मे भी भारतीय संस्कृति की छाया पडी। उनकी धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं पर भारतीय संस्कृति का आभास दृष्टिगोचर होता है। हवाई का 'हुआ' नृत्य और समोआ का 'शिव' नृत्य बंगाल के कुछ लोक-नृत्यों के समान ही है।

अफगानिस्तान—प्रारम्भिक युग मे अफगानिस्तान भारत का ही एक भाग कहलाता था। यह मौर्य और कुषाण साम्राज्यो के अन्तर्गत था। भारत की सीमा पर स्थित होने के कारण यहाँ प्राचीन भारतीय संस्कृति का खूब प्रसार हुआ। फलत: यहाँ प्राचीन भारतीय संस्कृति के बमियन और रुद्दा जैसे महत्त्वशाली केन्द्र स्थापित हो गये। अतएव कोई आश्चर्य नही, यदि खुदाई के बाद अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति के अवशेष-चिह्न, जैसे स्तूप, विहार, प्रतिमाएँ आदि उपलब्ध हो। जिस युग मे फाह्यान व ह्वानच्यांग भारत मे आये थे, उस समय अफगानिस्तान मे बौद्ध धर्म प्रचलित था और मध्य-युग मे सुबुक्तगीन के आक्रमण के पूर्व काबुल की घाटी मे हिन्दू धर्म प्रचलित था। अलबरूनी के कथनानुसार ईरान, खुरासान, सीरिया, ईराक आदि देशों मे इस्लाम के पूर्व बौद्ध धर्म का प्रसार था।

नेपाल—नेपाल हिमालय की दक्षिण की पूर्वतीय भूमि पर पश्चिम मे अलमोड़ा जिले से पूर्व मे दार्जलिंग की पहाडियो तक विस्तृत राज्य है। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के मध्य मे अशोक ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। ऐसा कहा जाता है कि अशोक अपनी पुत्री चारुमती और दामाद देवपाल खत्तिय (क्षत्रिय) के साथ वहाँ गया था और उसने वहाँ अनेक स्तूप तथा विहार निर्मित कराये थे। सम्भवत नेपाल मे बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के आगमन के साथ हुआ। समुद्रगुप्त के अधिकार-क्षेत्र मे नेपाल भी था जो प्रति वर्ष गुप्त सम्राट को कर-राशि देता था। ईसा बाद की छठी सदी के अन्त और सातवी सदी के पूर्वार्द्ध मे नेपाल मे लिच्छवि वश का राज्य हो गया। मध्य-युग मे मुसलमानो के आक्रमणो के कारण ब्राह्मणो और राजपूतो ने नेपाल मे भाग कर शरण ली। ये वहाँ अपने साथ भारतीय साहित्य, कला व धर्म सम्बन्धी अनेक बाते लेते गये। इन्ही राजपूतो की एक प्रशाखा ने गुरखो के नाम से अठारहवी सदी मे नेपाल को विजय कर वहाँ अपनी प्रभुता स्थापित की। गुरखाओं के आगमन से नेपाल में हिन्दू धर्म का प्रसार हुआ। इसके पूर्व वहाँ हीनयान, महायान और तान्त्रिक महायान धर्म प्रचलित थे। कालान्तर मे वहाँ बौद्ध धर्म का तीव्रता मे ह्रास हो चला और धीरे-धीरे वहाँ हिन्दुत्व का प्रभाव बढता गया। फलत आज नेपाल मे हिन्दू धर्म का अधिक प्रचलन है। धर्म के समान ही नेपाल का साहित्य, कला, भाषा और प्रथाएँ गहन भारतीय प्रभाव को प्रकट करती हैं। वहाँ अनेक स्तूप, सैकड़ों मन्दिर और विभिन्न तीर्थस्थान है। सबसे प्रसिद्ध मन्दिर पशुपतिनाथ का है, जहाँ शिव की पूजा होती है। नेपाल के मन्दिरो की शिल्पकला भारतीय मन्दिरो की कला से साम्य रखती है। वहाँ भी पाषाण के विशाल शिखर वाले मन्दिर हैं। साथ ही

पगोडा आकार के लकडी के वने हुए मन्दिर भी है जिनकी छतें ताँवे की है। मध्य-युग में वंगाल की पालकला ने नेपाल मे प्रवेश किया और वहाँ की कला को प्रभावित किया। नेपाल की समाज-व्यवस्था मे भारतीय जाति-व्यवस्था का आभास दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि हिन्दू संस्कृति ने नेपाल को अपने प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत कर लिया था तथापि चीन और तिव्वत का भी प्रभाव नेपाल के सास्कृतिक जीवन पर रहा है।

तिव्वत—ल्हासा के संस्थापक स्त्रोगत्सान गम्पो ने चीन तथा नेपाल की राजकुमारियो से विवाह किया। इन दोनों ही ने स्वयं वौद्ध धर्मावलम्वी होने के कारण अपने प्रभाव से तिव्वत के राजा स्त्रोगत्सान गम्पो को वौद्ध वना लिया और फलत: उसने तिव्वत मे वौद्ध धर्म को राज्य-धर्म मान लिया। इस नवीन धर्म के साथ ही उसने भारतीय वर्णमाला भी तिव्वत मे प्रसारित की और इस प्रकार नवीन संस्कृति व सभ्यता के प्रवेश के लिए मार्ग सुलभ कर दिया। वास्तव मे वौद्ध प्रचारकों का पहला दल तिव्वत मे 647 ईसा पूर्व मे पहुँचा। इसके वाद 747 ई० में कश्मीर के आचार्य पद्मसम्भव ने तिव्वत मे प्रवेश कर तन्त्रवाद से ओतप्रोत महान वौद्ध धर्म का प्रचार किया जो आगे चलकर लामा-मत में परिवर्तित हो गया। इसके अतिरिक्त नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य शान्तरक्षित भी तिव्वत के नरेश एवं वौद्धभक्त नि-गांगडीत्सेन द्वारा आमन्त्रित होने पर तिव्वत गये थे। उन्होने, वहाँ सर्वप्रथम तिव्वतियो को भिक्षु वनाया, वौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद किया और समूये नामक प्रथम विहार का निर्माण किया। वहुसंख्या में तिव्वत के वौद्ध भारत मे आये और भारत की समीपता स वे वौद्ध धर्म के मूल स्थान के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये। ग्यारहवी सदी मे वगाल के पाल नरेशो ने तिव्वत में वौद्ध धर्म के सुधार के हेतु सहायता दी और इससे तिव्वत और पाल राज्य मे सक्रिय सम्पर्क हो गया। तिव्वत के भिक्षु नालन्दा और विक्रमशिला के विहारों में अध्ययन करने के लिए आने लगे और अनेक भारतीय वौद्ध भिक्षु तिव्वत गये। वौद्ध धर्म से सैकड़ो पवित्र धर्म-ग्रन्थो के अनुवाद तिव्वत की भाषा में हो गये जिनमे से दो प्रसिद्ध सग्रह 'ताँजूर' और 'काँजूर' आज भी विद्यमान है। सन् 1028 मे वगाली निवासी आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान ने तिव्वत का परिभ्रमण किया और वहाँ वज्रयान का प्रचार किया। इस धर्म मे दैवी शक्तियों को प्राप्त करने के हेतु जादू-टोने और तन्त्र-मन्त्र पर जोर दिया जाता है। मध्य-युग में जव तिव्वत के राजा की शक्ति क्षीण हो गयी तव धार्मिक मठों के अधिपतियों ने उसका स्थान ले लिया और इस प्रकार वहाँ लामावाद का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म के समान तिव्वत की कला भी भारतीय कला से प्रभावित हुई। इन दोनो में साम्यता है। महायान के विविध देवी-देवताओं की रत्नजडित ताँवे के मुलम्मे की मूर्तियाँ वनाने मे तिव्वत की कला श्रेष्ठ है। इस प्रकार तिव्वत की भाषा, लिपि, व्याकरण, साहित्य और कला भारत से प्रसारित वौद्ध धर्म के परिणाम थे। वस्तुत. वर्वर और असभ्य तिव्वत को सभ्यता और सस्कृति की शिक्षा देने मे भारत का वहुत ही वडा हाथ रहा है।

कश्मीर—भारत और चीन के मध्य मे स्थित होने के कारण कश्मीर सास्कृतिक दृष्टि से महत्त्वशाली रहा। मौर्य और कुषाण साम्राज्य का वह एक भाग था और कुछ समय के लिए चीन के साम्राज्य का भाग भी रहा। अनेक कश्मीरी वौद्ध भिक्षुक चीन गये और उन्होने वहाँ भारतीय सस्कृति के प्रसार मे सहायता दी।

ब्रह्मा—प्रारम्भिक युग में भारत और ब्रह्मा के सम्वन्ध का इतिहास अस्पष्ट है। सम्भवत: ब्रह्मा उन देशो में से है जहाँ अशोक ने अपने दो प्रचारकों को भेजा

था। दक्षिण भारत से कुछ तामिल राज्यो का ब्रह्मा से व्यापारिक सम्बन्ध था। कलिंग के व्यापारी और धर्मोपदेशक दोनो ने ही ब्रह्मा के लोगो से अपने सम्बन्ध स्थापित किये और समुद्रतट के पार्श्ववर्ती भू-भाग पर अपने कुछ उपनिवेश बसा लिये। यद्यपि ब्रह्मा मे बौद्ध धर्म का समुदय अशोक के धर्म-प्रचारको से सम्बन्धित है परन्तु वास्तविक धर्मदूत तो प्रसिद्ध सिंहली आचार्य बुद्धघोष था जो 450 ई० मे लका से ब्रह्मा गया और वहाँ हीनयान सम्प्रदाय स्थापित किया। तेरहवी सदी मे यहाँ लका के बौद्ध धर्म तथा पाली मे बौद्ध धर्म के ग्रन्थो का प्रचार हुआ। विष्णु की अनेक मूर्तियो के उपलब्ध होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ब्राह्मण धर्म का प्रचार था। सुदीर्घ काल तक के भारतीय सम्पर्क के कारण भारतीय विचार और कला ने ब्रह्मा के जीवन को प्रभावित किया। अतएव कोई आश्चर्य नही यदि थातून, पेगू और प्रोम मे बौद्ध तथा हिन्दू अवशेष प्राप्त हुए हो। आज भी ब्रह्मा के वहुसख्यक लोग बौद्ध है। उनकी भापा, लिपि और धर्म पर भारतीय सस्कृति की छाप है और उनके धार्मिक सस्कारो पर वैदिक कर्मकाण्ड का पुट है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया का औपनिवेशीकरण—हिन्दुओ की औपनिवेशीकरण की प्रक्रियाएँ और सामुदायिक यात्रा की प्रबल भावनाएँ दक्षिण-पूर्वी एशिया मे अभिव्यक्त हुई थी। बगाल की खाडी के उस पार हिन्द चीन, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बाली के द्वीप है। किसी समय इनके निवासी वर्बर तथा असभ्य जंगली जातियो के थे। विश्व के मसाले के व्यापार का एकाधिकार इन्ही द्वीपो का था। इनकी भूमि उपजाऊ और खनिज पदार्थो से सम्पन्न होने के कारण इन द्वीपों ने शीघ्र ही भारतीयो को आकर्षित कर लिया। हिन्दू-युग मे गंगा के मुहाने से कुमारी अन्तरीप तक का समस्त पूर्वी स मुद्रतट वन्दरगाहो से भरा पडा था। इन्ही वन्दरगाहो से भारतीय जलयात्रा करते थे और ईसा बाद की दूसरी सदी मे सुदूर-पूर्व के देशो से इन्होने अपने महत्त्व-शाली व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। भारतीय साहित्य मे विशेपकर बौद्ध ग्रन्थो मे प्रारम्भिक युग मे होने वाली समुद्र-पार अज्ञात देशो की भयपूर्ण, कष्टमय जल-यात्राओ की अनुश्रुतियाँ सुरक्षित है। 'जातक', 'कथासरित्सागर', और ऐसे ही अन्य सग्रहो की कहानियो मे, 'स्वर्णभूमि' को भारतीय व्यापारियो द्वारा की गयी जलयात्राओं के बार-बार हवाले मिलते है। 'स्वर्णभूमि' सुदुर-पूर्व के अनेक देशो का एक साधारण नाम था। निर्भीक व्यापारीगण इन देशो से अपरिमित धन-द्रव्यो सहित लौटते थे। इसके विपरीत अनेक जलपोत नष्ट भी हो जाते थे और उन्हे विविध-प्रकार के कष्ट झेलने पडते थे। कुछ कहानियो मे ऐसा उल्लेख है कि साहसी युवक क्षत्रिय राजकुमार जिनके पैतृक राज्य छीन लिये गये थे, 'स्वर्णभूमि' को अपने भाग्य की खोज मे चले गये। ऐसे ही किसी साहसी क्षत्रिय के कार्य के परिणामस्वरूप ही दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूर-प्रदेशो मे भारतीय सत्ता स्थापित हुई थी।

भारतीय राजकुमारो, व्यापारियो और निर्भीक लोगो ने ही इन देशो मे अपने उपनिवेश, अपनी राजनीतिक सत्ता और सामाजिक तथा सास्कृतिक सस्थाएँ स्थापित की थी। ईसा बाद की दूसरी सदी से आगे ऐसे राज्यों के विषय मे हवाले हैं जिन पर भारतीय नामो वाले राजा शासन करते थे। उनका धर्म, भापा, सामाजिक प्रथाए और आचार-विचार सभी भारतीय थे। अतएव निर्विवाद रूप से इन्हे भारतीय औप-निवेशिक राज्य माना जा सकता है। भारतीय धार्मिक विचार-प्रणालियाँ और संस्कृति इन राज्यो मे प्रसारित हुई और वे गौरवान्वित पराकाष्ठा पर पहुँची। दूसरी से

पाँचवीं सदी के मध्य में मलाया प्रायद्वीप, कम्बोडिया, अन्नाम, सुमात्रा, जावा, बाली और वोर्नियो के द्वीपों मे ऐसे राज्य निर्मित किये गये। इन राज्यो में ब्राह्मण धर्म तथा प्रधानतया शैव मत समृद्ध था, यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रसार भी था। यहाँ के आदिवासियों या मूलनिवासियो ने उनके स्वामियों का धर्म ग्रहण कर लिया और धीरे-धीरे भारतीयो और आदिवासियो (मूल निवासियो) दोनों जातियो का सम्मिश्रण हो गया। यद्यपि इन आदिवासियों के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण कुछ अशों तक हिन्दू सस्थाएँ, प्रथाएँ और आचार-विचार परिवर्तित हो गये थे, परन्तु फिर भी लगभग एक सहस्त्र वर्षों तक हिन्दू सभ्यता और सस्कृति के प्रमुख तत्त्व ही इन राज्यो मे समाज की प्रभुत्वशाली विशेपताएँ वने रहे। इससे सम्पूर्ण सास्कृतिक विजय प्रभावित हुई। भारतीय कला और साहित्य के कुछ शानदार स्मारक, जो वहाँ आज भी विद्यमान है, प्रारम्भिक भारतीय औपनिवेशिक प्रसार और साहित्य के अमर प्रमाण है।

सर्वप्रथम, भारतीयो ने अपने घर के समीपवर्ती देशों मे ही उपनिवेश स्थापित करने के प्रयास किये। इस प्रकार ब्रह्मा, लका आदि उनकी औपनिवेशिक प्रक्रियाओ के सवसे प्रारम्भ के क्षेत्र थे। इनका वर्णन पीछे हो चुका है। अब इन देशों से सुदूर-पूर्व के देशो मे भारतीय संस्कृति के प्रसार का विवेचन किया जायेगा।

स्याम—स्याम या थाईलैण्ड का वर्तमान स्वतन्त्र राज्य ब्रह्मा के पूर्व में स्थित है। स्याम का दक्षिणी प्रदेश सदियों का पार्श्ववर्ती फूनान या कम्बोडिया के राज्य मे सम्मिलित रहा। ईसा वाद की दूसरी या तीसरी सदी में स्याम के केन्द्रीय प्रदेश में 'द्वारावती' नामक एक भारतीय राज्य का उत्कर्ष हुआ था। कालान्तर मे स्याम सम्पूर्णतया भारतीय हो गया था। वाद में पार्श्ववर्ती हिन्दू उपनिवेश कम्वोडिया से बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय स्याम मे प्रवेश कर गया। यहाँ पर हीनयान का प्रचार सिंहल के बौद्ध सघ ने किया था। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य तथा कला ने स्यामी भाषा, साहित्य, कला और सामाजिक सस्थाओ को खूब प्रभावित किया। स्याम मे अमरावती-शैली की कांसे की बौद्ध प्रतिमाएँ, गगा की घाटी मे निर्मित गुप्तकालीन मूर्तियाँ, स्तूपो और विहारो के भग्नावशेष तथा पल्लव लिपि में अकित बौद्ध धर्म के सिद्धान्त उपलब्ध हुए है। स्याम के नगरो, लोगो और राजाओ के नाम तथा उपाधियाँ आज भी हिन्दू प्रभाव के अनेक अवशिष्ट चिह्न प्रकट करते है। विविध हिन्दू प्रथाएँ, रूढियाँ, त्यौहार आदि आज भी स्याम मे मनाये जाते है। भारतीय संस्कृति के प्रभाव के ये सशक्त प्रमाण है। वस्तुत स्याम निवासी सोलहवी सदी तक भारतीयों के सास्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत रहे।

हिन्दी चीन—चम्पा—हिन्द चीन मे प्रमुख रूप से उत्तर में अन्नाम और दक्षिण मे कम्बोडिया के प्रान्त है। हिन्द चीन मे भारतीयो ने चम्पा और कम्वोज नाम के दो शक्तिशाली औपनिवेशिक राज्य स्थापित किये थे। चम्पा का राज्य कम्वोडिया के पूर्व मे था। इसमें दक्षिण अन्नाम और कोचीन के प्रदेश सम्मिलित थे। यह सम्भवतः दूसरी सदी मे स्थापित किया गया था। इसकी राजधानी अमरावती थी। यह उपनिवेश तेरह सौ वर्षों (150–1471 ई.) तक समृद्धिशाली रहा और चीनी तथा भारतीय सास्कृतिक और व्यापारिक सम्वन्धों के मध्य में यह एक महत्वशाली स्थान था। इस राज्य के प्रारम्भिक नरेशो मे धर्म महाराज श्री भद्रवर्मा (387–413 ई) और चगराज प्रसिद्ध है। भद्रवर्मा ने शिव का परम भक्त होने से मिसोन मे 'भद्रेश्वर स्वामी' नामक शिव के एक प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण किया था। वह चारो वेदो का पूर्ण ज्ञाता

भी माना जाता था। एक दूसरे नरेश ने राजपाट त्यागकर भारत मे तीर्थयात्रा की थी। इसके बाद मे इन्द्रवर्मा तृतीय (911–972 ई.) प्रसिद्ध भूपति हुआ। यह षट् दर्शन, बौद्ध दर्शन, पाणिनि व्याकरण, आख्यान और शैवों के उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित माना जाता था। दसवी सदी मे चम्पा पर उत्तर से अन्नामियो व मगोलो के आक्रमण हुए। चम्पा के कुछ नरेश, जैसे जय परमेश्वरवर्मदेव ईश्वरमूर्ति (1050–1060 ई.) रुद्रवर्मा (1061–1069 ई.), हरीवर्मन (1070–1081 ई.) महाराजाधिराज श्री जयइन्द्रदर्मन (1163-1180 ई.) और जयसिंहवर्मन (1257–1287 ई.) वडे वीर योद्धा थे और अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने पश्चिमी पडोसियां, कम्वुजो और प्रसिद्ध मंगोल नरेश कुवलाईखाँ से जूझते रहे। इन राजाओ के चीन देश से राजनीतिक सम्वन्ध थे। तेरह सौ वर्ष से अधिक के गौरवशाली अस्तित्व के वाद इस हिन्दू उपनिवेश की शक्ति उसके पडोसी-अन्नामियो के अनवरत आक्रमण के कारण क्षीण हो गयी थी और सोहलवी सदी मे तो इस देश को मगोलो के समुदायो ने रौंद डाला था। चम्पा के उपनिवेश मे अनेक समृद्धिशाली नगर थे और समस्त देश सुन्दर हिन्दू और वौद्ध मन्दिरो से सुशोभित था। चम्पा मे मन्दिरो के दो नगर मि-साग और डाग-डुअग आज भी विख्यात है। यहाँ के निवासी हिन्दू देवी-देवताओ की ही उपासना और पूजन करते थे। विविध देवताओ की उपासना मे शिव, उनकी शक्ति और उनके दो पुत्र गणेश और स्कन्द का स्थान प्रमुख था। इनके अतिरिक्त विष्णु, कृष्ण, वुद्ध एव अन्य देवताओं का भी पूजन होता था। शिल्पकला मे चम्पावासियो ने भारत की गुप्तकाल की कला का उसके विषयो मे ही नही अपितु उसकी प्रणाली मे भी अनुकरण किया था। मन्दिरो, तोरण-द्वारो और स्तम्भो के अलकरण मे तो चम्पा की वास्तुकला और तक्षणकला श्रेष्ठता की उच्चतम पराकाष्ठा पर थी। सस्कृत अभिलेखो के प्राप्त होने से ऐसा प्रकट होता है कि वहाँ भारतीय भाषा सस्कृत का खूव प्रचार रहा होगा। सक्षेप मे, चम्पा मे ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण सस्कृति का ही विशिष्ट प्रचार हुआ।

कम्वुज—नाम का दूसरा हिन्दू राज्य उन हिन्दुओ ने स्थापित किया था जो ईसा पूर्व मेकाक नदी के मुहाने तक चले गये थे। इस राज्य का उद्भव रहस्यमय है। एक प्राचीन गाथा के अनुसार कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण कम्वोज मे गया और सोमा नामग एक नाग राजकुमारी से विवाह कर कम्वुज के राजकुल की स्थापना की। ऐसा कहा जाता है कि उसने वहाँ एक भाला गाढ दिया था जो उसे द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त हुआ था। एक अन्य गाथा के अनुसार वह इन्द्रप्रस्थ के नरेश आदित्यवर्मा का पुत्र था। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि वह हिन्दू था और इससे कम्वुज मे प्रथम या दूसरी सदी तक सवसे पूर्व के हिन्दू राज्य का हम पता लगा सकते है। इस प्रकार से स्थापित राजवश ने हिन्दू धार्मिक क्रिया-विधियाँ और नियम-उपनियम अंगीकार कर लिये और वास्तव मे वह हिन्दू हो गया। हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी भारतीयो ने इस राजवश के स्थापित होने के तीन सौ वर्षो मे इस देश की प्राकृतिक शक्तियो, उसकी सम्पन्न उर्वराभूमि और सरिताओं का सदुपयोग कर उनका विकास किया और उसके वाद आठवी सदी मे कम्वुज का राज्य उच्चतम सास्कृतिक विकास के स्तर पर पहुँच गया और उसने अनेक अधिकृत राज्यो पर अपनी सार्वभौम सत्ता वनाये रखी। कम्वुज के राजाओ ने चीन और भारत को अपने दूत भेजे। यहाँ के एक राजा इन्द्रवर्मा (877–889 ई.) का यह दावा था कि "चम्पा प्रायद्वीप और चीन के शासक उसकी आज्ञाओ का पालन करते है।" दूसरा नरेश

यशोवर्मन (889–908 ई.) जो यशोधरपुर (अंगकोरथोम) का सस्थापक था, 'अर्जुन व भीम जैसा वीर, सुश्रुत सा विद्वान, शिल्प, भापा, लिपि और नृत्यकला में पारगत था।' उसने भारतीय तपोवनो मे गुरुकुलो के समान कम्बुज में आश्रम स्थापित किये थे जिनका प्रधान कार्य अध्ययन-अध्यापन तथा ज्ञान-आलोक को निरन्तर प्रसारित करना था। कालान्तर मे ये आश्रम हिन्दू संस्कृति के श्रेष्ठ केन्द्र हो गये। ग्यारहवी सदी से कम्बुज का इतना अधिक उत्कर्ष हुआ कि उसका साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से लेकर चीन सागर तक विस्तृत हो गया था। परन्तु पन्दहवी सदी मे पूर्व से अन्नामियो और पश्चिम से स्याम को जीतने वाले थाई लोगो ने निरन्तर आक्रमण किये। इससे कम्बुज का शक्तिशाली राज्य क्षीण होकर छोटा-सा रह गया और अन्त मे उन्नीसवी सदी मे वह फ्रास के अधीन हो गया। चम्पा की अपेक्षा कम्बुज राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। वहाँ उपलब्ध अनेक सस्कृत अभिलेख वहाँ के राजाओ का सविस्तृत इतिहास वताते है और अगकोरवत का विलक्षण मन्दिर और अन्य दूसरे मन्दिर उनकी भव्यता और गौरव प्रकट करते है। विश्व की एक आश्चर्यजनक वस्तु अंकोरवत का भव्य मन्दिर है जो 12वी सदी में राजा सूर्यवर्मन द्वितीय ने निर्मित किया था। यह विश्व का सबसे बडा मन्दिर है। ऊँचे उठे चबूतरो और गैलरियों पर इस मन्दिर की रचना की गयी है। इसमे अनेक शिखर और गुम्बद हैं। इस मन्दिर की दीवारे पक्षी, पुष्प, नृत्य करती बालाएँ आदि आकृतियों से अलकृत है। जिस प्राचीन वास्तुकला और तक्षणकला का विकास भारतीय शिल्पियों ने वहाँ किया था, उसका यह मन्दिर सर्वोत्कृष्ट नमूना है। अगकोरथोम प्राचीन राजधानी यशोधरपुर का आधुनिक नाम है। इसकी स्थापना यशोवर्मन द्वारा हुई थी। यह नगर वर्गाकार था जिसकी प्रत्येक भुजा तीन किलोमीटर से अधिक लम्बी थी और इसके मध्य में बयोन का भव्य मन्दिर था। यह मन्दिर अगकोरवत के मन्दिर के द्वितीय स्तर पर था। इसमे पचास शिखर है। इस नगर की प्रत्येक वस्तु की कल्पना वास्तव में भव्य रूप मे की गयी थी और "यशोधरपुर का नगर उस युग के समस्त विश्व मे सबसे अधिक विशाल और भव्य नगरो मे से था।" कम्बुज राज्य ने विश्व मे सबसे बड़ा मन्दिर प्रदान किया है जिसमे भारत की शानदार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहानियाँ पापाण पर उत्कीर्ण की गयी है। भारत की सास्कृतिक विजय का यह दिव्य सशक्त प्रमाण है।

कम्बुज राज्य मे शैव तथा वैष्णव दोनों धर्म प्रगतिशील थे। रामायण, महाभारत, पुराण आदि भारतीय ग्रन्थ अभिरुचिपूर्वक अध्ययन किये जाते थे। यहाँ भारतीय आयुर्वेदशास्त्र आदि चिकित्सा-पद्धति का खूब प्रचार था। कम्बुज नरेश रुद्रवर्मन ने तो अपनी राजसभा मे दो आयुर्वेदीय चिकित्सकों को रखा था। सक्षेप मे, कम्बुज निवासियो ने हिन्दू धर्म, सभ्यता व सस्कृति को अपना लिया था और हिन्दू राजनीतिक व सामाजिक विचारों तथा प्रथाओं को ग्रहण कर लिया था।

मलाया द्वीपसमूह—मलाया द्वीपसमूह के विविध द्वीप, जावा, सुमात्रा, वाली, वोर्नियो मे हिन्दू उपनिवेश समृद्ध हुए थे। इन द्वीपों मे जिन्हे स्वर्णद्वीप कहते थे, हिन्दू सस्कृति के अवशेष प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हुए है। इस भूखण्ड मे दो हिन्दू साम्राज्यों का उत्कर्ष और ह्रास हुआ था। इनमें से प्रथम आठवी सदी मे शैलेन्द्र राजकुल द्वारा स्थापित हुआ था। इसके अन्तर्गत मलाया प्रायद्वीप और सुमात्रा, जावा, वाली तथा वोर्नियो के सम्पूर्ण द्वीप सम्मिलित थे। इन प्रदेशों से व्यापार करने वाले अरब सौदागरो ने हर्पातिरेक से आह्लादपूर्ण शब्दो मे इन सार्वभौम शानदार राजाओ की सत्ता,

शक्ति, सम्पन्नता और वैभव का वर्णन किया है। इन शैलेन्द्र सम्राटो की दैनिक आय दो सौ मन स्वर्ण मानी जाती थी।

श्रीविजय साम्राज्य—शैलेन्द्र सम्भवतः भारत के कलिग प्रान्त से आये थे। प्रथम, इन्होने दक्षिणी ब्रह्मा और उत्तरी मलाया को विजय किया और तत्पश्चात समस्त स्वर्णद्वीप मे अपना सार्वभौम राज्य स्थापित कर लिया। शैलेन्द्रो ने सुमात्रा मे श्रीविजय नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया और इसी से उनका राज्य श्रीविजय साम्राज्य कहलाया। ग्यारहवी सदी तक शैलेन्द्रो ने यश-वैभव मे शासन किया। इसके बाद दक्षिण भारत के राजा राजेन्द्र चोल ने जिसके पास सुदृढ विशाल जलसेना थी, शैलेन्द्रों के साम्राज्य पर आक्रमण किया। परिणामस्वरूप, शैलेन्द्रो और चोलो मे सघर्ष हुआ। यद्यपि राजेन्द्र ने शैलेन्द्र साम्राज्य का एक विशाल भू-भाग जीत लिया था परन्तु समुद्र-पार इतने दूरस्थ प्रदेशो को अपने आधिपत्य मे रखना बडा दुष्कर कार्य था। अतएव लगभग एक शताब्दी बाद शैलेन्द्र ने चोलो की सार्वभौमिकता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वे उससे विमुक्त हो गये। परन्तु पन्द्रहवी सदी मे जावा के नवनिर्मित हिन्दू राज्य ने शैलेन्द्र साम्राज्य को हडप लिया। शैलेन्द्र नरेश बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे और चीन तथा भारत के नरेशो से उनका कूटनीतिक सम्बन्ध था। उनकी धार्मिक प्रेरणा का स्रोत बगाल था जो उस समय भारत मे महायान बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। बगाल का एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारघोष शैलेन्द्रों का गुरु हो गया। शैलेन्द्र राजा बड़े निर्माता थे। उनकी सम्पन्नता, धार्मिक भावना और वैभव का सजीव स्मारक आज भी बोरोबुदूर का प्रसिद्ध स्तूप खडा है। यह केन्द्रीय जावा के मैदान मे है। इसमे महायान सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थो की कहानियाँ और बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएँ पाषाण पर अकित की गयी है। यहाँ की प्रतिमाएँ और तक्षणकला भारतीय और जावा की सम्मिलित कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और शिल्पी के उच्चतम कला-चातुर्य को प्रदर्शित करते है। भारत मे शैलेन्द्र सम्राटो ने नालन्दा मे एक विहार और तारादेवी का सुन्दर मन्दिर बनवाया और इस विहार के व्यय के हेतु पाँच ग्राम दान मे दिये थे।

जावा—जावा में भी उपनिवेश स्थापित हो चुका था। इस द्वीप की दन्तकथाएँ और अनुश्रुतियाँ इसके औपनिवेशीकरण का श्रेय पाराशर, व्यास, पाण्डुएटे आदि भारतीयो को देती है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा के बाद की प्रथम शताब्दी में हिन्दुओं ने यहाँ अपना उपनिवेश बसा लिया था और कलिग प्रदेश के भारतीयो के औपनिवेशीकरण की प्रथम लहर यहाँ आयी थी। दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ मे यहाँ एक हिन्दू राज्य स्थापित हो गया और 132 ई० मे इसके नरेश देववर्मन ने चीन देश को अपना राजदूत भेजा था। महान चीनी यात्री फाह्यान जो 399 से 414 ईसा पूर्व तक भारत मे था, समुद्र-मार्ग से चीन जाते हुए जावा मे पाँच माह ठहरा था। उसने उल्लेख किया है कि जावा बौद्ध धर्म का सुदृढ किला है। 9वी सदी के पूर्व जावा मे छोटे-छोटे हिन्दू राज्य थे। पाँचवी शताब्दी मे पश्चिमी जावा मे शासन करने वाले राजा पूर्णवर्मन के सस्कृत भाषा के जो चार अभिलेख प्राप्त हुए है, उनसे प्रमाणित होता है कि इस युग तक भारतीय सस्कृति जावा मे अपना घर कर चुकी थी। शैलेन्द्रो के उत्कर्ष होने पर जावा 9वी सदी तक उनके आधिपत्य मे रहा और बाद मे उनकी शक्ति क्षीण होने पर वह स्वतन्त्र हो गया एव शैव धर्मी राजवशो की प्रभुता वहाँ स्थापित हो गयी। तेरहवी सदी के अन्त मे राजा विजय ने मजपहित स्थान पर अपनी राजधानी बनाकर एक नवीन राजवश की स्थापना की। मजपहित के राज्य ने पार्श्व-

वर्ती द्वीपो को जीत लिया और 1365 ई० में मजपहित साम्राज्य में समस्त मलाया प्रायद्वीप और मलाया द्वीपसमूह सम्मिलित कर लिया गया। पन्द्रहवी सदी के प्रारम्भिक वर्षो मे जावा के एक भागे हुए हिन्दू नरेश ने मलक्का का राज्य स्थापित किया जो शीघ्र ही सबल राजनीतिक सत्ता और महत्त्वशाली व्यापारिक केन्द्र हो गया। परन्तु इसके दूसरे राजा ने इस्लाम मत ग्रहण कर लिया था। इसलिए जावा धीरे-धीरे इस्लाम का गढ बन गया। भारतीय कला और साहित्य, जिस विस्तार से जावा मे समृद्ध हुए थे, उतने अन्यत्र कही नही। आज भी वहाँ सैकड़ों नष्ट-भ्रष्ट मन्दिर है और सस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों मे विस्तृत साहित्य विद्यमान हैं। रामायण और महाभारत के महाकाव्य इस द्वीप मे सबसे अधिक लोकप्रिय थे और आज भी उनके जनप्रिय छाया नाटक के विषय और प्रकरण इन ग्रन्थो मे से ही लिये जाते है। जावा की भाषा, साहित्य, कला, कानून, नियम, आचार-विचार और शिष्टाचार की रचनाएँ भारतीय ढग पर ढाली गयी थी।

बाली और बोर्नियो—पार्श्ववर्तीबाली का द्वीप भी सम्पन्न और समृद्ध हिन्दू राज्य था और यहाँ के एक नरेश ने 518 ई० में चीन देश को एक दूत वहाँ से भेजा था। चौथी शताब्दी मे बाली मे हिन्दू राज्य स्थापित हो गया। छठी शताब्दी मे यहाँ कौण्डिन्य क्षत्रिय राजा राज्य करते थे और यहाँ तब बौद्धों के मूल सर्वास्तिवादी मत की प्रमुखता थी। दसवी सदी मे उग्रसेन, केसरी आदि भारतीय नामधारी राजाओ ने वहाँ शासन किया। जावा के नरेश, मुस्लिम आक्रमणो से रक्षा करने मे असमर्थ होने पर, बाली द्वीप मे चले गये। फलत. आज भी बाली मे हिन्दू धर्म अपनी प्राचीन परम्पराओ सहित विद्यमान है। बाली के पास बोर्नियो मे ईसा बाद की प्रथम शताब्दी में हिन्दुओ ने अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया था। बारहवी सदी मे यह द्वीप जावा के आधिपत्य मे आ गया था। इस द्वीप मे भी भारतीय सस्कृति का खूब प्रचार हुआ। यहाँ थोडे समय पूर्व एक लकडी के मन्दिर के भग्नावशेष एवं बुद्ध तथा शिव की पाषाण-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। बोर्नियो के एक नरेश मूलवर्मन ने बाहु-सुवर्णकम नामक बडा यज्ञ किया था और इसके चिरस्मरणार्थ अभिलेखों सहित यूप (याज्ञिक स्तम्भ) निर्मित कराये थे। यहाँ की स्थापत्य व मूर्तिकला में स्थानीय तत्त्व विद्यमान हैं परन्तु फिर भी इसका विकास भारतीय कला के आधार पर हुआ। भारतीय संस्कृति आज भी वहाँ है।

उपनिवेशों में हिन्दू संस्कृति

लगभग पन्द्रह सौ वर्षों तक और उस समय तक भी जब भारत में हिन्दुओ की स्वतन्त्रता विलुप्त हो गयी थी, हिन्दू नरेश हिन्द चीन और सुमात्रा से लेकर न्यू गायना तक के मलाया द्वीप समूह के अनेक द्वीपो पर शासन कर रहे थे। भारतीय धर्म और साहित्य, भारतीय सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं ने इन प्रदेशो व द्वीपो के मूल निवासियो या आदिवासियो के जीवन को ढाला और असभ्य बर्बर जातियो को सभ्य बनाया एव सुदूर-देशो की सम्पूर्ण विजय की। भारतीय कला और साहित्य के द्वारा इन आदिवासियो ने उच्च व श्रेष्ठ बौद्धिक रुचि और अधिक उन्नत नैतिक भावना अपना ली थी। उनके जीवन का ऐसा कोई पहलू कदाचित ही बचा हो जो हिन्दुओं के प्रभाव से अछूता रह गया हो। वास्तव मे वे सभ्यता के उच्चतम स्तर पर ले जाये गये थे। सुदूर-अतीत मे जातियो का मधुर मिश्रण कर और इन स्थानो के मूल निवासियो को भारत की आध्यात्मिक देन प्रदान कर वृहत्तर भारत की स्थापना की गयी थी।

धर्म—इन उपनिवेशो मे प्राप्त अभिलेख और बुद्ध, शिव, विष्णु, गरुण, लक्ष्मी आदि की प्रतिमाओ से यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म भी हीनयान व महायान सम्प्रदाय सहित प्रचलित हो गया था। दोनो ही परस्पर मिश्रित हो गये थे, और ये सौहार्द्रपूर्वक समृद्ध रहे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, व इनसे सम्बन्धित अन्य देवताओ की पूजा भी वहाँ होती थी और इन देवताओ के लिए भव्य मन्दिर निर्मित किये जाते थे। हिन्दू धर्म तो आज भी बाली मे विद्यमान है। वहाँ इन्द्र, विष्णु व कृष्ण की प्रतिमाएँ आज भी निर्मित की जाती है और दुर्गा तथा शिव की पूजा होती है और इस पूजा में जल-पात्र, माला, कुश, तिल, घृत, जौ, मधु, अक्षत, दीप, घण्टी, मन्त्र आदि उन सभी वस्तुओ का प्रयोग होता है, जो हम भारत मे करते है। भारत के समान वहाँ प्रतिदिन मन्दिर मे रामायण, महाभारत व पुराणो का अखण्ड पाठ व कथाएँ भी होती थी।

भाषा और साहित्य—संस्कृत भाषा का भी वहाँ खूब प्रचार हुआ था और अनेक अभिलेख तथा वृतान्त विशुद्ध, दोषमुक्त व सुन्दर सस्कृत भाषा मे लिखे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है वहाँ भारतीय साहित्य की शैली का प्रभुत्व रहा था। इससे प्रकट होता है कि वहाँ के लेखक सस्कृत साहित्य, भाषा, व्याकरण काव्य से पूर्ण अवगत थे। सर्वत्र भारतीय लिपि का प्रयोग होता था। साहित्य मे महाभारत व रामायण का गद्य मे अनुवाद हुआ। पौराणिक गाथाओं के आधार पर अनेक ग्रन्थो की रचना हुई। धार्मिक साहित्य के साथ-साथ लौकिक साहित्य का भी अध्ययन किया जाता था। कम्बुज के राजा यशोवर्मन द्वारा पातजली के महाभाष्य पर लिखी टीका का उल्लेख है।

कला—इन द्वीपो की समाधियाँ, मन्दिर, भवन और मूर्तियाँ भारतीय कला का गहन प्रभाव प्रकट करती है। वास्तव मे औपनिवेशिक कला अपने आप मे एक नवीन शैली है। यद्यपि यह कला भारत से गयी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीपो और देशों में बसे कुशल तथा अकुशल शिल्पियो ने अपनी मातृभूमि भारत की परम्पराओ को ग्रहण कर लिया था। तथापि अपने नये वातावरण मे भारतीय इन्जीनियरो और शिल्पियो ने नवीन विचारो को अपना लिया और ऐसी कृतियो की रचना की जो भारत मे उनके मूल स्तर मे विभिन्न ही नही वरन् कुल अशो मे निश्चयात्मक रूप से उनसे श्रेष्ठतर भी थी। कम्बोडिया मे अगकोरवत का मन्दिर और जावा मे बोरबुदुर का बौद्ध मन्दिर भारतीय औपनिवेशिक कला के सबसे अधिक प्रसिद्ध स्मारक हैं। आकृतियो की कल्पना के वैभव और कार्य-निष्पति की कुशलता और अलंकरण मे ये भारत मे विद्यमान कलाकृतियो से अधिक श्रेष्ठ है। वास्तुकला का उच्चतर विकास इन मन्दिरो मे प्राप्त होता है।

शासन-प्रणाली—धर्म के अतिरिक्त हिन्दू सभ्यता का प्रभाव वहाँ की शासन-प्रणाली और राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों मे भी स्पष्टतया विदित होता है। उपनिवेशो के शासन के विषय मे चीनी इतिहास हमें यह बताता है कि राजा के परामर्श के हेतु आठ बड़े मन्त्री थे जिन्हे 'आठ पद' कहा जाता था और जो सब ब्राह्मणों मे से ही चुने जाते थे। सुवासित पदार्थों से राजा की देह पर मालिश होती थी। वह बहुत ऊँची टोपी पहनता था और विविध प्रकार के रत्नो का हार पहनता था, सुन्दर मलमल उसकी वेष-भूषा होती थी, रथों मे वह जाता था और गजों पर सवार होता था। युद्ध मे मनुष्य शंख बजाते और ढोल पीटते थे। यह हिन्दू संस्कृति का ही प्रभाव था।

सामाजिक व्यवस्था—हिन्दुओं की व्यवस्था भी उपनिवेशों मे बहुत पहले ही पहुँच गयी थी। राजाओं ने क्षत्रित्व ग्रहण कर लिया था और 'वर्मन' नाम अपना लिया था जिसका अर्थ रक्षक होता था। कुछ विशिष्ट कथनो के अनुसार जो भारतीय वहाँ गये, उन्होने वहाँ के निवासियों से अपने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये और धीरे-धीरे औपनिवेशिक समाज हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तित हो गया था। बाली द्वीप मे तो आज भी जाति-कर्म, नामकरण, विवाह, अन्त्येष्टि आदि में हिन्दू-रिवाजों का प्रचार है। जब ये लोग विवाह करते है तो सुपारियों के अतिरिक्त और कोई भेट या उपहार नही देते और कभी-कभी तो सुपारियो से भरी हुई दो-दो सौ थालियाँ उपहार मे देते है। कन्या विवाह के पश्चात अपने पति के घर जाती है। उनके सगीत-वाद्य वीणा या सारंग, तिरछी बाँसुरी, ताँबे के झाँझ-मजीरे और लोहे के ढोल होते है। ये शवों का अग्निदाह करते है और उसकी भस्म को स्वर्ण-कलश मे रखकर समुद्र मे बहा देते है।

जब तक हिन्दू धर्म भारत में पूर्ण सशक्त था, उपनिवेशो में हिन्दू सस्कृति सजीव शक्ति रही। हिन्दुओ के पतन से उनकी औपनिवेशिक सर्वोपरिता का भी ह्रास हो गया। मूल स्रोत के शुष्क हो जाने पर इससे प्रवाहित सरिताएँ भी धीरे-धीरे शुष्क होकर अन्त मे अदृश्य हो गयी और ग्यारहवी सदी से आगे उपनिवेशों मे स्थानीय मौलिक तत्त्व धीरे-धीरे अपनी शक्ति स्थिर और दृढ करने लगे, परन्तु पन्द्रहवी और सोलहवी सदियो मे वहाँ इस्लाम धर्म पूर्ण रूप से स्थापित हो गया।

"एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया" में उसके विद्वान लेखकों ने उल्लेख किया है कि उपनिवेशो के इतिहास इस कथन की असत्यता और असार्थकता प्रदर्शित करते है कि हिन्दू धर्म विदेशियों द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता अपितु यह तो उन्हीं लोगो के लिए है जिनका जन्म हिन्दू धर्म के वातावरण मे ही हुआ है। उपनिवेशो का इतिहास यह बताता है कि हिन्दू धर्म मे ऐसी महान सजीवता है कि विदेशी संस्कृति को चैतन्य कर उसे अपने मे मिला सकता है तथा सबसे अधिक असभ्य और बर्बर जातियों को सभ्यता व सस्कृति के उच्चतम क्षेत्र तक उन्नत कर सकता है। यदि हम यह स्मरण करें कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता ने ऐसा ही कार्य कुछ कम अशो में पश्चिमी, पूर्वी और केन्द्रीय एशिया मे किया तो हम भारत की उस सच्ची महानता के अंग को भलीभाँति समझ सकेंगे जिन पर यथेष्ट रूप से बल नही दिया गया। भारत का औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार भारतीय इतिहास की सबसे अधिक दिव्य परन्तु विस्मृत उपकथा है जिसके लिए किसी भी भारतीय को न्यायोचित गर्व हो सकता है।

प्रश्नावली

1. बृहत्तर भारत से आप क्या समझते है? भारत के बाहर हिन्दुओं ने कहाँ-कहाँ उपनिवेश स्थापित किये तथा इस उपनिवेशीकरण का उद्देश्य, स्वरूप और विस्तार बताइये।
2. प्राचीन काल मे भारत के एशिया के अन्य देशों से सांस्कृतिक सम्बन्धो पर एक सक्षिप्त विवरण दीजिये।
3. प्राचीन काल में भारतवर्ष और मध्य एशिया के बीच जो सम्बन्ध थे, उन पर प्रकाश डालिये।
4. भारत के सांस्कृतिक तथा औपनिवेशिक विस्तार का वर्णन करिये।

5. भारत ने किन-किन दिशाओ मे दक्षिण-पूर्वी एशिया की सस्कृति को प्रभावित किया ?
6. "भारतीय कला और साहित्य ने विदेशो मे अपना मस्तक ऊँचा किया और भारतीय सस्कृति विश्व के कतिपय अज्ञात कोनों मे भी प्रविष्ट हो गई ।" इस कथन की व्याख्या कीजिये ।
7. "भारत का औपनिवेशिक और सास्कृतिक प्रसार भारतीय इतिहास की सबसे अधिक दिव्य परन्तु विस्मृत उपकथा है जिसके लिए किसी भी भारतीय को न्यायोचित गर्व हो सकता है ।" इस कथन को समझाइये ।
8. भारत के परे देशो और मलाया द्वीपसमूह के औपनिवेशीकरण के उद्देश्य के प्रकार और विस्तार का वर्णन कीजिये ।
9. दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भारतीय संस्कृति किस प्रकार फैली ? इस प्रकार के लोगों के जीवन मे इसके प्रभाव का विवेचन कीजिये ।
10. टिप्पणियाँ लिखिये—अगकोरवत, बोरोबुदुर, कम्बुज का हिन्दू राज्य, स्वर्ण-भूमि, शैलेन्द्रनरेश या श्रीविजय साम्राज्य और चम्पा का राज्य ।
11. दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भारतीय सस्कृति के प्रारम्भ और प्रसार का वर्णन कीजिये और उस क्षेत्र के अवशिष्ट स्मारको का हाल लिखिये ।

अथवा

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय सस्कृति के प्रसार पर एक सूक्ष्म लेख लिखिये ।

11

भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की देन

दक्षिण भारत या भारत का प्रायद्वीप जो तुंगभद्रा नदी के दक्षिण मे है, उत्तरी भारत की अपेक्षा भूगर्भशास्त्रीय दृष्टि से अधिक प्राचीन है। अतएव मनुष्य का अस्तित्व उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत में अधिक प्राचीन रहा है। तिन्नवेली जिले मे आदिच्चनल्लूर में हुए उत्खनन दक्षिण में पूर्व-पाषाणकाल के मनुष्य को अस्तित्व की ओर सकेत करते है। पूर्व-पाषाणकाल के मनुष्य से हम उत्तर-पाषाणकाल के मनुष्य तक और पाषाणकाल के मनुष्य से हम प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य तक आते हैं। यह इस वात को प्रमाणित करता है कि दक्षिण भारत मे पाषाण-युग से लौह-युग तक मनुष्य का अस्तित्व था, परन्तु इसी के समकालीन युग मे उत्तरी भारत मे पाषाण से ताम्रकाल आया और बाद मे लौहकाल। दक्षिण मे पुरातत्व सम्बन्धी अवशेष इस बात की ओर सकेत करते है कि कालान्तर मे मनुष्य के दो समुदाय प्रकट हुए—एक सुसभ्य था और दूसरा बहुत ही कम सभ्य था और दक्षिण मे आर्यो के आगमन के पूर्व ही प्रथम समुदाय सभ्यता के अधिक उच्चतम स्तर पर पहुँच गया था। यह समुदाय द्राविड भाषाएँ बोलता था और इसकी एक विशिष्ट जाति और वश था। जब आर्यो का आगमन भारत मे हुआ तब देशी सभ्यता के अनेक तत्त्व उस सभ्यता व सस्कृति मे प्रविष्ट हो गये जो अन्त मे आज की भारतीय सभ्यता के रूप मे विकसित हुए। जब हम भारतीय सस्कृति को दक्षिण भारत की देन के विषय में कहते हैं तब हमारा अभिप्राय दक्षिण की सभ्यता के उन तत्त्वो से है जो हमारे काल की जटिल सभ्यता मे मिश्रित कर लिए गये थे। दक्षिण भारत की देन वस्तुत: द्राविड संस्कृति रही है जो आर्यो की सस्कृति मे अपनी कुछ विशिष्टताओ के लिए घुलमिल गई।

तामिल देश—कृष्णा और तुंगभद्रा नदियो के दक्षिण ढाल से लेकर कुमारी अन्तरीप तक विस्तृत प्रदेश को तामिल देश या तामिलनाडु कहते है। इस देश के निवासी तामिल भाषा बोलते थे। इस प्रदेश मे तीन तामिल राज्य थे—पाण्डय, चेर और चोल राज्य। इन राज्यो के प्रारम्भिक इतिहास का निर्दिष्ट ठीक-ठीक पता नही। पाण्ड्य राज्य तामिल राज्यो मे सबसे अधिक प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसकी राजधानी मदुरा शिक्षा का केन्द्र थी। इसका अन्य महत्त्वशाली नगर कोरकई था जो दक्षिण भारत मे एक बड़ा बन्दरगाह और सभ्यता का आश्रम था। पाण्ड्य नरेश अपने पार्श्ववर्ती पल्लव और चोल राजाओ से निरन्तर संघर्ष मे संलग्न थे। 1310 ई० में मलिक काफूर ने अन्त मे पाण्ड्य नरेश को पराजित कर दिया। चोल राज्य, जिसकी राजधानी काजीवरम थी, कारोमण्डल समुद्रतट पर था। यद्यपि यह पल्लवो की प्रसारित शक्ति का शिकार हो गया था, परन्तु 740 ई० में इस राज्य ने पुन. अपनी

स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और एक बार पुन. दक्षिण भारत मे सर्वोपरि हो गया । चोल नरेशों के पास उच्चतम जलसेना थी । उनकी शासन-व्यवस्था सुसगठित थी जिसकी विशिष्टता स्वायत्त-शासन था । 1310 ई मे मलिक काफूर ने अन्तिम चोल शासक को पराजित कर चोलो की स्वतन्त्रता विनष्ट कर दी । चेर राज्य में वर्तमान केरल राज्य और मालाबार तट के जिले थे । इसके नरेशों ने दक्षिण भारत की राजनीति में अधिक हस्तक्षेप नही किया । वे वाणिज्य-व्यवसाय की नीति का अनुकरण करते हुए शान्तिपूर्वक समृद्धिशाली बने रहे । दक्षिण मे आन्ध्रों के पतन के पश्चात पल्लवो ने धीरे-धीरे अपनी सार्वभौमिकता स्थापित कर दी । वे तीन केन्द्रो से शासन करते रहे—पश्चिम मे वातापि से (कोल्हापुर के दक्षिण-पश्चिम मे), पूर्व मे वेंगी से और दक्षिण मे से कांजीवरम् से । काजीवरम् की शाखा सबसे अधिक शक्तिशाली थी और 450 वर्षो तक शासन करती रही । पल्लव राजवश मे अनेक राजा हुए जो केवल वीर योद्धा ही नही थे वरन कला और साहित्य के उदार संरक्षक भी थे । भारतीय कला की सबसे अधिक मनोज्ञ और आकर्षक कला-शैलियो मे पल्लव-कला-शैली और तक्षण-प्रणाली भी है । नवीं सदी के अन्त मे चोलों ने पल्लवो को पराजित कर दिया ।

दक्षिण

दक्षिण जो संस्कृत शब्द "दक्षिणापथ" का विकृत रूप है, विन्ध्याचल पर्वत और तुंगभद्रा नदी के मध्य मे स्थित है । यह चट्टानो से युक्त पठार है जिसे गोदावरी, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियाँ सीचती है । दक्षिण का प्रारम्भिक श्रृंखलाबद्ध निर्दिष्ट इतिहास अज्ञात-सा ही है । सबसे प्राचीन राजवश जिसका क्रमबद्ध वृत्तान्त हमे विदित हैं, आन्ध्र राजकुल है जिसका वर्णन पिछले अध्याय मे हो चुका है । आन्ध्र राजवश ने ईसा पूर्व 225 से 225 ई० तक साढे चार शताब्दियों तक शासन किया । आन्ध्रो का पतन अनेक स्थानीय राजवशों के उत्कर्ष के लिए सकेत था । इन राजवंशों मे आधुनिक बरार प्रदेश के वाकाटक विशेष उल्लेखनीय हैं जो लगभग 300 ई० में सार्वभौम हुए और 200 वर्षों तक रहे । इस राजवश के नरेश कलाप्रेमी थे और अजन्ता की कुछ गुफाओ के निर्माण मे इनका हाथ था । चौथी शताब्दी के वाकाटक नरेश ने गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की कन्या से विवाह किया । यह वैवाहिक सम्बन्ध अत्यन्त ही महत्त्वशाली था, क्योकि इससे उत्तरी भारत की कला और सस्कृति दक्षिण मे प्रविष्ट हो गयी और अन्त मे वहाँ से कॉची के पल्लवो द्वारा तामिल देश मे ले जायी गयी । दूसरा राजवश, जिसका प्रादुर्भाव इसी युग मे हुआ था, कदम्ब था जो पश्चिमी घाट और समुद्र के मध्य के देश पर शासन करता था । कदम्ब नरेश जैनियो के सरक्षक थे । वे छठी सदी के मध्य तक शासन करते रहे, तब चालुक्यो ने उन्हे पराजित कर दिया । एक अन्य राजवश, जिसने दक्षिण की राजनीति मे महत्त्व-शाली भाग लिया, गंग वश था । इसने ईसा बाद की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवी सदी तक आधुनिक मैसूर राज्य के अधिकाश प्रदेश पर शासन किया । इसके कुछ नरेश जैन धर्म के सरक्षक थे । श्रवण बेलगोला मे 17·15 मीटर ऊँची जैन मुनि गोमतेश्वर की प्रतिमा 984 ई० मे गग-नरेश के एक मन्त्री ने निर्मित करायी थी ।

550 ई० के लगभग चालुक्य राजवंश का प्रादुर्भाव होता है । चालुक्य राजाओं मे सबसे अधिक महत्त्वशाली पुलकेशी प्रथम (550–567 ई) और पुलकेशी द्वितीय (606–642 ई.) थे । उसकी पूर्वी सत्ता समुद्रतट से लेकर पश्चिमी समुद्रतट तक

समस्त दक्षिण मे विस्तृत थी। चालुक्यों के दो केन्द्र हो गये, एक वातापी जिसे उन्होंने वादामी नाम दिया और दूसरा वेंगी।

वादामी के चालुक्यों ने 200 वर्षों तक अपनी सत्ता को वनाये रखा। इस वंश का अन्तिम नरेश 754 ई. में राष्ट्रकूट नरेश दन्तीदुर्ग द्वारा पराजित होकर मारा गया था। इस प्रकार पश्चिम भारत मे राष्ट्रकूट चालुक्यो के उत्तराधिकारी वनने मे समर्थ हो सके। यद्यपि चालुक्य नरेश हिन्दू थे तथापि उनमें धार्मिक सहिष्णुता थी। इसके अतिरिक्त वे कलाप्रेमी भी थे। उनके शासनकाल मे अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ। बादामी की गुहाएँ तत्कालीन तक्षणकला का सुन्दर परिचय देती है। धीरे-धीरे महाराष्ट्र से राष्ट्रकूटो ने सभी दिशाओं में अपनी सत्ता का प्रसार कर उसे दो सौ वर्षों तक बनाये रखा। इस राजवंश के कुछ नरेशों के पास द्रव्य की ही प्रचुरता नही थी, वरन् कला के प्रति अनुराग और उदारता भी थी। सुन्दर स्तम्भोयुक्त प्रकोष्ठों वाला प्रसिद्ध एलौरा का मन्दिर, जो एक ठोस चट्टान से काटा गया था, राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम (757–800 ई.) का कार्य था।

973 ई. में राष्ट्रकूट नरेश को चालुक्य राजाओं के एक वंशज तैलप ने पराजित कर दिया। जिस राजकुल की स्थापना तैलप ने की, वह उत्तरकालीन चालुक्यों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनकी राजधानी कल्याणी थी। उन्होने दो सौ वर्षों तक इस विस्तृत प्रदेश पर शासन किया। जव उनकी शक्ति क्षीण होने लगी तव उनके साम्राज्य में से ही यादव, होयसल और काकतीय वंशों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। यादव वश ने, जो देवगिरि में स्थापित हो गया था, 1190 ई. मे चालुक्यो को पराजित कर दिया। होयसेल राजवंश ने आधुनिक कर्नाटक मे सन् 1047 से 1327 तक शासन किया। उनकी राजधानी द्वारसमुद्र थी। इस वश के नरेशो में धार्मिक उत्साह के साथ-साथ कला-प्रेम भी था। उनके मन्दिरो में एक नवीन शिल्प-शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो होयसलकला-शैली के नाम से विख्यात है। मैसूर राज्य में अरसीकेरी का सुन्दर ईश्वर मन्दिर होयसलकला का एक सर्वोत्कृष्ट नमूना है। काकतीयो की राजधानी वारंगल थी और वे भी दीर्घ काल तक स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते रहे। ये राज्य अलाउद्दीन खिलजी के शासतकाल मे दिल्ली मे आये हुए मुस्लिम आक्रमणो के झंझावात के सम्मुख उखड गये और दक्षिण में हिन्दू शासन विलुप्त हो गया।

तामिल संस्कृति

तामिल प्रदेश (तामिल नाडु) के लोगो ने अपनी स्वतन्त्र संस्कृति का विकास किया था जो तामिल सस्कृति के नाम से प्रख्यात हुई। इस सरकृति का सर्वश्रेष्ठ युग मौर्यकाल के प्रारम्भ से लेकर आन्ध्र-युग के अन्त तक विस्तृत रहा। इस सस्कृति का विवेचन अधोलिखित है—

समाज—उस समय समाज विशिष्टतया उन व्यक्तियो से बना था जो स्वयं भूमि को जोतकर कृषि करते थे और जो अप्रत्यक्ष रूप से भूमि पर निर्भर थे। इसके नीचे कृषि के श्रमजीव (कुडीस) थे जिनके चार समुदायों—पाणान, तुडीयन, परयन और कदम्बन—का उल्लेख है। कदाचित यह जनता का वह भाग था जो आज हमारे सम्मुख दक्षिण की अछूत जातियो के नाम से आया है। इनके अतिरिक्त बढई और लुहार थे। यद्यपि उस समय जुलाहे थे परन्तु उनकी भिन्न जाति नही थी। इसके बाद लोगो की अन्य जातियाँ, जैसे मलवर, नाग आदि थी। प्रथम आखेट करने वाले थे

जिनका वर्णन योद्धाओं के समान किया गया है जो जन-मार्गों मे लोगों को लूटा करते थे, द्वितीय मछुहारे थे जिनका स्तर समाज मे निम्न श्रेणी का था। हृष्ट-पुष्ट सशक्त कृषक अच्छे सैनिक होते थे। युद्ध मे वीरगति-प्राप्त योद्धाओ के हेतु पाषाण के स्मारक निर्मित किये जाते थे। इस प्रकार से निर्मित समाज में ब्राह्मण उत्तर से आकर बस गये थे। अपने चरित्र की विशुद्धता और विद्या तथा ज्ञान की गहनता के कारण समाज में उन्हे अधिक प्रतिष्ठित पद प्राप्त हो गया। यद्यपि कालान्तर मे समाज की वैसी ही व्यवस्था हो गयी जो उत्तर मे आर्यो के समाज की थी, परन्तु चार वर्ण या चार आश्रम तामिल देश मे अज्ञात थे। लोग अपने धन्धों के अनुसार समुदायो में विभक्त थे, परन्तु समाज का प्रमुख भाग दो समुदायो मे विभाजित था—वे जो भूमि को जोतते थे और जो वहुसंख्यक थे, तथा वे जो कृषि-कर्म अपने लिए दूसरो से करवाते थे और जिनका वर्ग वहुत छोटा था। इसी दूसरी श्रेणी से राजकीय कुटम्वो का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हे अन्य जातियों की कन्याओ मे विवाह करने की अनुमति थी परन्तु बदले मे उन्हे कन्याएँ देने की आज्ञा नही थी।

यद्यपि कही भी उन विभिन्न समुदायो का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्राप्त नही है जिनमें दक्षिण का समाज विभक्त था, परन्तु छुटपुट हवालो से हम इनका विवरण जान सकते हैं। विभिन्न जातियाँ अन्य दूसरी जातियो से स्पष्ट रूप से अपना अलग जीवन व्यतीत करती थी। प्रत्येक का अपना धन्धा और विशेष अधिकार थे। अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान मे प्रत्येक समुदाय के अपने-अपने नियम और प्रथाएँ थी। ऐसा कोई प्रमाण नही है जिससे प्रकट हो कि रीति-रिवाजों तथा आचार-विचारो को लोगो पर लादने का प्रयास किया गया हो या निम्न श्रेणियो की उच्च-वर्गो मे मिश्रित हो जाने की माँग रही हो। वाद मे जो सम्मिश्रण हुआ, वह उन लोगों के उच्चतम उदाहरणों का परिणाम था जिनके ज्ञान और चरित्र के लिए जनसाधारण में श्रद्धा की भावना थी। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि तामिल देश की सामाजिक व्यवस्था वहुत कुछ रक्त, पेशे, धार्मिक विश्वास और वातावरण पर आश्रित रही।

तामिल देश मे यद्यपि मदुरा जैसे विशाल नगर थे परन्तु अधिकाश जनता ग्रामो मे ही रहती थी। उच्च-वर्ग के लोग आलीशान मकानो मे रहते थे। इनके प्रवेश-द्वार वडे प्रभावशाली होते थे। दुर्ग-निर्माण व किलेवन्दी मे तामिल-निवासी निपुण थे। तामिल नारियो को पूर्ण सामाजिक स्वतन्त्रता थी। वहुविवाह की प्रथा कुछ अश तक प्रचलित थी। प्रेम-विवाहो का प्रचार था। विवाह से पूर्व प्रेम करने की सम्भावना रहती थी। वेश्याएँ व सुशिक्षित राजनर्तकियाँ भी रहती थी।

वसन और आहार—तामिल लोगो की वेश-भूषा सादी थी और इसमे दो वस्त्र होते थे, एक धोती और दूसरी पगड़ी। तामिल महिलाओ द्वारा प्रयुक्त आभूषण चूड़ियाँ, हार, भुजवन्द, कन्दोरे और पायल थे। लोगों के भोजन मे मास का उपयोग होता था। मदिरा-पान मे उनकी अभिरुचि थी। राजा और राजकुमार कभी-कभी महँगी सुरा के पीने मे मस्त रहते थे जिसे यवन (यूनानी और रोमवासी) अपनी अच्छी दूकानो मे लाते थे। अनेक प्रकार के मादक द्रव्यो का प्रयोग किया जाता था। सैनिको का अपना अलग वर्ग वन जाने के कारण कालान्तर में मास-भक्षण सीमित हो गया था।

आर्थिक स्थिति—कृपि के अतिरिक्त पशु-पालन, वस्त्र वुनना, मछली पकड़ना और व्यापार करना अन्य व्यवसाय थे। पशु-पालन कृपको से भिन्न जाति के लोगो का

धन्धा प्रतीत होता है। विशेषकर सूत के बहुत ही महीन वस्त्र बुने जाते थे। दक्षिण भारत के बुनकरो का मलमल बुनने का यश-गौरव ईसा बाद की प्रथम सदियो में ही स्थापित हो चुका था। तामिल साहित्य में 36 प्रकार के कपड़ो का विवरण है जो या तो तामिल नाडु मे बनते थे या विभिन्न उत्पादक केन्द्रो से मँगवाये जाते थे। कुछ सूत के वस्त्र इतने अच्छे बुने हुए थे कि इन्हें वायु का बना हुआ जाला या उबलते हुए दूध की वाष्प कहा जाता था। जहाँ तक धातुओं का सम्बन्ध था, लौह ज्ञात था, स्वर्ण प्रचुरता से प्राप्य था और नमक बनाया जाता था। ताम्र से लोग अवगत थे और हाथीदाँत पर उत्कीर्ण कृतियो के हवाले भी उपलब्ध है। तामिल-निवासी भोजन के हेतु तथा मोती और मूँगे के लिए मछलियाँ पकडते थे। वे मोती और मूँगे की अनेक वस्तुएँ व्यापार के हित मनोहर ढग से बनाते थे।

सम्भवत. वस्तु-विनिमय द्वारा अत्यधिक आन्तरिक व्यापार होता था। परन्तु रोमन सिक्को का व्यापक प्रसार यह संकेत करता है कि सिक्के अज्ञात नही थे। समुद्री व्यापार भी होता था। तामिल साहित्य मे समुद्री यात्रा और व्यापार आदि का विवरण मिलता है। भारतीय जलपोत दूरस्थ देशो को जाते थे और चीन साम्राज्य की सामुद्रिक सीमाओ तक पहुँचते थे। प्रागैतिहासिक काल मे दक्षिण भारत के निवासियो के मलाया प्रायद्वीप मे जाकर बस जाने के प्रमाण प्राप्त होते है। अति प्राचीन काल में तामिल लोग चालडियनो से व्यापार करते थे। प्राचीन मिस्र का दक्षिण भारत से व्यापारिक सम्बन्ध था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ईसा के पूर्व की सदियों मे मिस्र नरेश दक्षिण भारत से मलमल, आबनूस, दालचीनी तथा अन्य वस्तुएँ मँगाते थे।

मिस्र और दक्षिण भारत के प्राचीन परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध के विषय में एक मिस्री अभिलेख उपलब्ध हुआ है जिसमे एक यूनानी नारी का विवरण है जिसका जलपोत कन्नड समुद्रतट पर दुर्घटना का शिकार हो गया था। फिलिस्तीन के राजा सॉलोमन भारतीय सन्दल, वनमानुप, मोर, रुई, कपडा और अलोय लकडी मँगाते थे इसी प्रकार यूनानी भी चावल और मिर्च तामिलो से ही लेते थे। व्यापार के हित तामिल देश से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओ मे पश्चिमी घाट के मसाले, कृषि की उपज, मोती, स्वर्ण व बहुमूल्य रत्न, जैसे हीरे, हरितमणि, लाल चन्दन की लकड़ी, अलोय लकड़ी, सूती वस्त्र, विशेपकर मलमल और बिना बुना रेशम होता था। रोमन साम्राज्य के उत्कर्प के बाद दक्षिण भारत के पश्चिमी देशो के साथ होने वाले व्यापार मे खूब वृद्धि हुई। यह व्यापार इतना बढ गया था कि रोमन साम्राज्य के पूर्वी आयात का आधे से अधिक भाग भारतीयो के हाथ में था और इससे भारत में रोम के बहुसंख्यक सिक्के आते थे। मदुरा मे अनेक रोमन सिक्को की प्राप्ति यह प्रकट करती है कि तामिल देश और रोम मे प्रगतिशील व्यापार विद्यमान था। विदेशी जलपोतो के नदियो के मुहानो मे आने, स्वर्ण देने और उसके बदले मे मिर्च-मसाले और पश्चिमी घाट की अन्य वस्तुओ के ले जाने के हवाले है। तामिल देश (तामिल नाडु) के बन्दरगाहो मे विदेशी व्यापारियो की बस्तियाँ बस गयी थी। मालाबार तट पर बाद मे विदेशी अरबी और ईसाइयों की सख्या मे बहुत वृद्धि हो गयी थी। ऐसा विस्तृत व्यापार इस बात का प्रमाण है कि देश घना बसा हुआ था और सुव्यवस्थित शासन के अन्तर्गत समृद्धिशाली था। ऐसे ही शासन से यह शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो सकी जो व्यापक व्यवहार के हेतु सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत

होता है कि जीवन सुव्यवस्थित और शान्तिमय था और जनता वहुलता तथा प्रचुरता का आनन्द उठाती थी।

धार्मिक जीवन—धर्म के क्षेत्र मे लोग विविध धर्मो और सम्प्रदायो के प्रति उदार और सहिष्णु थे। लोगो के धार्मिक विश्वास और धारणाएँ तथा पूजन के ढग विविध थे—एक ओर मृतक की समाधि पर पापाण खडा करते और त्यौहारों पर पूजन करते थे तो दूसरी ओर, धर्म और दर्शन के उच्चतम विविध रूप थे। इन दोनों सीमाओ के अन्तर्गत लोग विविध प्रकार से पूजन और उपासना करते थे। परन्तु इतनी विभिन्नता होने पर भी अशान्ति और विप्लव उत्पन्न करने वाली धार्मिक कट्टरता का अभाव था। उस युग मे प्रमुख रूप से चार देवता थे—शिव नीलकण्ठ, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता वलदेव या बलराम के समान देवता, कृष्ण या विष्णु के समान देवता और उत्तर भारत के स्कन्द या कार्तिकेय के समान देवता। इन प्रमुख देवताओ के अतिरिक्त अनेक छोटे देवी-देवता भी थे, जिनमें से प्रत्येक की पूजा अपने विशिष्ट ढग से होती थी। अति प्राचीन काल मे चोल व पाण्ड्य नरेशो मे से कुछ ने ब्राह्मणो के निर्देशन मे वहुत से यज्ञ भी किये थे।

वाद मे उत्तर भारत के तीन धर्म—ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और वौद्ध धर्म दक्षिण मे प्रसारित हो गये। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे जैन धर्म प्रसारित हो गया था, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। भद्रवाहु के आवागमन के बाद से दक्षिण मे धर्म का प्रसार वढता ही गया और ईसा वाद की दूसरी शताब्दी तक तामिल देश मे जैन धर्म की जड़े दृढ हो गयी थी तथा मदुरा जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया था। कुछ पाण्ड्य नरेश जैन धर्मावलम्बी थे। कालान्तर मे शैव नयनमारो और वैष्णव अलवारों के योग से जैन धर्म तामिल देश से विलुप्त हो गया था।

यद्यपि अशोक ने तामिल देश मे वौद्ध धर्म का प्रसार किया था तथापि व्यक्तिगत रूप से वौद्ध धर्म-प्रचारको ने भ्रमण कर वौद्ध धर्म का वहाँ यथेष्ट प्रचार कर दिया था। ईसा वाद की प्रारम्भिक सदियो मे नागपट्टिनम, तोण्डमण्डलम और काजीवरम् मे वौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र हो गये थे। ह्वानच्याग के वृत्तान्त के अनुसार काजीवरम् मे एक सौ वौद्ध मठ थे जिसमे दम हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। सातवी शताब्दी के अन्त तक रूढिवादी हिन्दू धर्म का दक्षिण मे प्रचार हो गया और इससे वौद्ध और जैन धर्म क्षीण हो गये थे। इस धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय शैव नयनमारो और वैष्णव अलवारो ने भक्ति-मार्ग को जन्म दिगा। नयनमार शैव सम्प्रदाय के सस्थापक थे। शैव साहित्य के अनुसार ऐसे 63 नयनमार हुए है। ये महान सन्त थे जिनके रचे हुए भक्ति के भजन अत्यधिक भावपूर्ण थे। इसी प्रकार वैष्णव अलवार भी सन्त थे। इनकी सख्या 12 थी। विष्णु की उपासना मे इन्होने गीतो और स्तुतियो की रचना की थी। इनके रचे हुए भजन पूजन और उपासना के समय विष्णु के मन्दिरो मे सदैव गाये जाते थे।

साहित्य—ईसा वाद की सातवी सदी के पूर्व ही तामिल देश (तामिल नाडु) मे भापा को व्यवस्थित रूप दे दिया गया था। ईसा वाद की तीसरी सदी के पूर्व इस प्रदेश मे तोल्कप्पियर नामक प्रसिद्ध वैयाकरण हुआ। इसके काल से तामिल साहित्य पर सस्कृत का प्रभाव पडने लगा। ईसा वाद की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दियो मे रचित तामिल की कतिपय कविताएँ आज भी विद्यमान है। परन्तु तामिल साहित्य की सवसे अधिक प्राचीन पुस्तक जो सस्कृत के प्रभाव से विमुक्त है, 'कुराल' ग्रन्थ है

जिसका प्रसिद्ध लेखक तिरुवल्लुवर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुआ था। इसने साहित्यिक श्रेष्ठता का स्तर निर्दिष्ट किया। कुराल मे 133 परिच्छेद हैं जिनमे से आधे के अधिक राजनीति व अर्थनीति पर है। इसी युग मे दो अन्य प्रसिद्ध तामिल महाकाव्य 'सिलप्पाधिकारम्' और 'मणिमेकलम्' भी रचे गये। महाकाव्यों में तामिल साहित्य सर्वोपरि माना जाता है। इसके पाँच प्रसिद्ध महाकाव्य और लघुकाव्य आज भी विद्यमान है। तामिल साहित्य के अनेक काव्य और ग्रन्थ विविध जैन और बौद्ध विद्वानो द्वारा रचित है। पल्लवकाल मे जो तामिल साहित्य रचा गया वह प्रायः श्रुति-भाष्य था, क्योंकि यह वैष्णव अलवारों तथा शैव नयनमारों का युग होने से संतो के मन्त्र, भजन, गीतस्तुतियाँ आदि साहित्य मे ग्रन्थ रूप मे संगृहीत कर लिये गये। ईसा बाद की बारहवी सदी तामिल साहित्य का महत्त्वपूर्ण युग है क्योकि इस काल मे तामिल के सबसे बड़े मध्ययुगीन कवि जयकोन्दन, सुप्रसिद्ध भाष्यकार आदियारक्कुनल्लर, शैव संत कविसेक्किलर, काम्बर, ओत्ताकुतर, व पुगलेन्दी जैसे दिग्गज साहित्यकार हुए थे।

ललितकलाएँ—तामिल निवासी ललितकलाओ में विशिष्ट अभिरुचि रखते थे। कला के क्षेत्र में उन्होने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। वे वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग करते थे जिनमें आठ छेद वाली बाँसुरी भी होती थी। नृत्यकला का उन्हे अभ्यास था और संगीत तो उनकी शिक्षा का अंग बन गया था। अभिनयकला इस काल में प्रचलित थी। पल्लव और चोल नरेशों के संरक्षण मे चित्रकला तथा तक्षण-कला का उच्चतम विकास हुआ था। दक्षिण के अनेक भव्य मन्दिरों और भवनों का अस्तित्व दक्षिण भारत से राजाओ के भवन-निर्माणकला और तक्षणकला के प्रति प्रेम को प्रमाणित ही नहीं करता, वरन वास्तुकला के क्षेत्र मे एक नवीन प्रणाली का प्रभाव भी प्रकट करता है जो पल्लव-चोल कला-शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

सामुद्रिक प्रक्रियाएँ और वाणिज्य-व्यापार—तामिल राज्य समुद्रतटीय प्रदेश होने के कारण, वहाँ के लोग निर्भीक रूप से समुद्री यात्रा करने वाले हो गये। भारतीय जलसेना का निर्माण करने और समुद्री व्यापार का विकास करने वाले वे सर्वप्रथम भारतीय थे। चोलो की सशक्त जलसेना ने सिंहलद्वीप पर विजय प्राप्त कर ब्रह्मा के समुद्रतटीय द्वीपो, मलाया प्रायद्वीप, मालाबार समुद्रतट के द्वीप, निकोबार द्वीप तथा जावा-सुमात्रा के द्वीपसमूह को भी विजय कर बृहत्तर भारत की नींव डाली थी। तामिल देश मसालों, हाथीदाँत की वस्तुओं, मोतियो और बहुमूल्य रत्नो से सम्पन्न था। मलमल, रेशम और ऊनी वस्त्र बनाना उसकी विशेषता थी। ये बहुमूल्य वस्तुएँ एक ओर तो मिश्र, रोम और अरब देश को भेजी जाती थी, तो दूसरी ओर मलाया द्वीपसमूह और चीन देश को। इनके बदले मे विदेशी स्वर्ण विशेषकर रोम से दक्षिण भारत मे आता था। दक्षिण भारत के बन्दरगाहों में रोम के वणिकों के आवास-केन्द्र थे। कावेरीपट्टम मे ऐसे ही एक केन्द्र का उल्लेख एक तामिल लेखक ने किया है। कतिपय पाण्ड्य नरेशो के पास रोमन सैनिक थे और वे अंगरक्षकों के पदो पर नियुक्त किये गये थे।

तामिल शासन—तामिल देश ने उच्चतम, नियमित और सुव्यवस्थित शासन का आनन्द उठाया था। यद्यपि इसमे राजतन्त्र का प्रचार था, परन्तु निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का सर्वथा अभाव था। शासन-सञ्चालन मे परामर्श देने के लिए पाँच-

महासमितियाँ थी। राज्यसभा अपने वैभव और भव्यता के लिए प्रख्यात थी। राजा प्रजा-हितैषी होता था। राजा प्रजा के सुख-दुख मे भागी होता था और निस्संकोच प्रजा से मिलता था। न्याय-दान का समुचित प्रबन्ध था। दीवानी और फौजदारी के सभी मामलों मे राजा का निर्णय अन्तिम, सर्वमान्य और सर्वोपरि होता था। दण्ड-विधान अत्यन्त कठोर था।

तामिल लोगो का अधिकांश भाग ग्रामो मे निवास करता था और अनेक ग्राम मिलकर शासन के लिए 'कुर्रम' नाम की इकाई निर्मित करते थे। अनेक 'कुर्रम' को सम्मिलित कर एक जिले का निर्माण होता था जिसे 'नाडुड' कहते थे और ऐसे 'नाडुड' का एक समुदाय 'कट्टिम' नामक डिवीजन (division) या भुक्ति बनता था एवं अनेक 'कोट्टम' से मिलकर एक 'मण्डल' या प्रान्त होता था। इनमे से प्रत्येक भाग शासन के एक अधिकारी के अन्तर्गत होता था। सबसे विशाल भाग राजवश के किसी सदस्य के अधिकार मे होता था। 'कुर्रम' का शासन ग्राम-परिषद् के हाथ मे था। भूमि-कर राज्य की आय का प्रमुख साधन था, यद्यपि समकालीन साहित्य मे अन्य अनेक करो का उल्लेख है। अभाव व अकाल के समय में करो में छूट दी जाती थी। जन-मार्गों और सिंचाई के साधनों के निर्माण के और उन्हें बनाये रखने मे शासन द्वारा प्रचुर धन व्यय किया जाता था।

परन्तु महत्त्वपूर्ण तत्त्व जो तामिल शासन की विशिष्टता थी, ग्रामो मे स्वायत्त-शासन की प्रणाली का विकास था। प्रत्येक ग्राम अपना स्थानीय शासन स्वय करता था और इस हेतु साधारण परिषद होती थी जो ग्राम की कार्यकारिणी का वार्षिक निर्वाचन करती थी। इसके अतिरिक्त शासन की विविध शाखाओ की देख-भाल करने के हेतु अनेक कार्य-समितियाँ होती थी। ग्राम-परिषद के नाम पर कर सग्रह किये जाते थे। ग्राम-परिषद न्यायदान करती थी और अभिलेखों को नियमित रूप से रखती थी।

आर्य संस्कृति का दक्षिण में शान्तिपूर्वक प्रवेश और उसका प्रभाव

दक्षिण भारत उत्तर भारत मे विन्ध्याचल पर्वत, नर्मदा और ताप्ती द्वारा विभक्त है। महाकाव्यो में इसे 'दण्डकारण्य' और 'महाकान्तार' नामक सघन वनों से आच्छादित कहा गया है। अतएव प्रारम्भिक आर्यों के लिए इसमें प्रवेश करना दुष्कर कार्य था। फिर भी दक्षिण मे आर्य ऋषि अगस्त्य द्वारा प्रारम्भिक आर्य उपनिवेश बसाने की गाथा है। दक्षिण भारत मे आर्य प्रथाओ को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने वाले ऋषि अगस्त्य ही थे। विन्ध्याचल पर्वत और नर्मदा नदी की घाटी में से आर्यों का दक्षिण मे प्रवेश करना साधारणतया ईसा पूर्व 800 मे "ऐतरेय-ब्राह्मण" के युग में माना जाता है। दक्षिण की सीमा पर आर्यो के विदर्भ जैसे राज्य स्थापित हो गये थे, तभी तो आर्यों का दक्षिण मे जाने का जन-मार्ग पश्चिमी तट पर था। पाणिनि तक (ईसा पूर्व सातवी सदी) दक्षिण के विषय मे प्राप्त हमारा ज्ञान तुलनात्मक दृष्टि से न्यून है परन्तु जब हम कात्यायन (ईसा पूर्व 300) तक आते हैं, तब इसमें अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और पतंजलि (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का मध्यकाल) के समय तो सुदूर-दक्षिण का विवरण भी इसके अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि इस युग में कांची को विद्वान-ब्राह्मणो की बस्ती कहा गया है। बाद मे, अशोक के युग मे आर्य भारत को दक्षिण के विषय मे खूब ज्ञान हो गया था। अशोक का तेरहवाँ चट्टान-अभिलेख दक्षिण के राज्यो का निर्दिष्ट और ठीक-ठीक विवरण प्रदान करता है। स्वयं अशोक

ने ईसा पूर्व 256 में दक्षिण में एक भिक्षुक के नेतृत्व में बौद्ध धर्म-प्रचारको को भेजा था। ऐसा कहा जाता है कि इन्होने दक्षिण में साठ सहस्र व्यक्तियो को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। इस मौर्य-युग में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दक्षिण में प्रयाण कर गये और वहाँ उन्होंने उपनिवेश स्थापित किये। वे वहाँ शान्तिपूर्वक रहते और अपनी धार्मिक क्रिया-विधियो एव प्रथाओं का पालन करते थे। इन्होंने तामिल समाज पर जो प्रभाव डाला, वह सत्ता की जबरदस्ती की अपेक्षा अनुकरणीय दृष्टान्त व आदर्श द्वारा अधिक व्यापक था। इस समय आर्य ब्राह्मण तामिल सस्कृति मे समाज के नेता के पद पर समुचित रूप से प्रतिष्ठित हो गये थे और अनेक कार्यों के हेतु उनकी सहायता की आकांक्षा की जाती थी। इस बात का प्रमाण है कि अशोक के युग में आर्य सस्कृति का प्रभाव पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था। तामिल भाषा के सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थ 'संगम' पर जैनियों और बौद्धो के प्रभाव के अतिरिक्त आर्यों और संस्कृत भाषा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में प्रवेश करने के लिए पूर्वी और पश्चिमी दोनो तटों पर जल-मार्ग थे परन्तु पश्चिमी तट का मार्ग कदाचित सुगम था। इन मार्गों का उपयोग दक्षिण मे प्रयाण करने हेतु होता था जिसका पुष्टिकरण संस्कृत साहित्य में दक्षिण भारत के विषय में प्राप्त विवरण से होता है। अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि द्राविड़ और आर्य सस्कृतियो के मध्य सम्पर्क के सुअवसरो की प्रचुरता थी और इनके पारस्परिक प्रभाव की भी वृद्धि हुई।

पल्लवो के शासनकाल में दक्षिण भारत का आर्यीकरण पूर्ण हो चुका था। उनके अनुदान यह प्रकट करते है कि छठी शताब्दी के अन्त तक दक्षिण मे आर्यो की सामाजिक व्यवस्था की जड दृढ हो गयी थी। बौद्धायन ब्राह्मणो को दिये गये अनुदान का स्पष्ट उल्लेख यह प्रकट करता है कि उत्तर भारत के धर्म-शास्त्रज्ञों ने पल्लव राज्य मे सत्ता प्राप्त कर ली थी, सस्कृत ने अपनी प्रभुत्ता प्रतिष्ठित कर ली थी और प्रारम्भ के कतिपय राजकीय अभिलेखो के अतिरिक्त अवशिष्ट अभिलेखो के हेतु इस भाषा का उपयोग होता था। कालिदास और भैरवी की कविताएँ तथा वराहमिहिर के ग्रन्थ पल्लव देश मे प्रख्यात हो गये थे। 'कुर्रम' के मठो में वेदों के अध्ययन करने वाले 109 परिवार रहते थे। तामिल साहित्य भी आर्यों से प्रभावित होकर पल्लव-संरक्षण में समृद्ध होता गया और फलतः तामिल साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई। सस्कृत-ज्ञान के आश्रम और बाद में दक्षिण मे शिक्षा के सबसे महान केन्द्र काची के विश्वविद्यालय ने दक्षिण मे संस्कृत के प्रसार मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'न्याय-भाष्य' का रचयिता तर्कशास्त्री वात्सायन जो ईसा बाद की चतुर्थ सदी में हुआ था, कांची का पण्डित था। महान बौद्ध आचार्य और दार्शनिक दिगनाग अपनी बौद्धिक और धार्मिक पिपासा शान्त करने और कदम्ब राजकुल का मयूरवर्मा भी पाँचवी सदी में उच्च शिक्षा की प्राप्ति हेतु कांची गये थे। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मपाल कांची-निवासी ही थे। जिस प्रकार उत्तर भारत में नालन्दा बौद्धिक जीवन पर अपना प्रभुत्व रखता था, उसी प्रकार दक्षिण मे कांची का विश्वविद्यालय था। अतएव समुचित रूप से यह दावा किया जा सकता है कि शिक्षा का महान केन्द्र पल्लवो की काची थी, जहाँ से दक्षिण-भारत सुदूर-पूर्व के भारतीय उपनिवेशो में आर्य सस्कृति का प्रसार करता था। पल्लव-प्रभाव के अन्तर्गत चम्पा और कम्बुज के हिन्दू उपनिवेशो में आठवी सदी तक आर्य संस्कृति और सभ्यता का प्रसार और प्रचार निरन्तर होता रहा। कम्बुज और चम्पा में दक्षिण भारत का

शैव सम्प्रदाय राजकीय धर्म हो गया था। सस्कृत उनकी शासकीय भापा वन गयी थी और चम्पा में सौ से अधिक सस्कृत अभिलेख उपलब्ध हो चुके है। कम्बुज में पल्लव लिपि मे ही सस्कृत के इन अभिलेखो की रचना हुई थी और वहाँ के नरेशो तथा राज्यकुल के व्यक्तियो के नाम भी, जैसे महेन्द्र वर्मन, पल्लवो के नामो के अनुरूप ही होते थे। कम्बुज की शिल्प-कलाकृतियाँ निस्सन्देह पल्लवकला-शैली की परम्पराओ का अनुकरण करती है। उन पर पल्लवकला-प्रणाली का गहन प्रभाव है। इसी प्रकार चम्पा के प्रासाद, भवन, मन्दिर आदि भी प्रमुख रूप से दक्षिण शैली के ही है। जावा, सुमात्रा, और मलाया द्वीपसमूह के शैलेन्द्र नरेशो ने भी दक्षिण भारत के राज्यो से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दक्षिण से अपनी साँस्कृतिक प्रेरणा प्राप्त की थी। उनके कई अभिलेखो मे दक्षिण भारत की लिपि का प्रयोग किया गया है और सुमात्रा में वशों के अनेक नाम दक्षिण भारत के नामो के समान ही थे। ये सब इस वात को यथेष्ट रूप से प्रदर्शित करते है कि सुदूर-पूर्व के हिन्दू उपनिवेशो मे जो सास्कृतिक प्रभाव था, उसका मूल उद्गम दक्षिण भारत मे था। निस्सन्देह भारतीय सस्कृति के प्रचार और प्रसार के प्रति दक्षिण भारत की यह वडी देन है।

दक्षिण की सांस्कृतिक देन

दक्षिण भारत की कुछ विशिष्टताएँ है अर्थात उनकी सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता और निरन्तरता तथा उसकी सस्कृति की एकता। अति प्राचीन काल से दक्षिण के पाण्ड्य, चोल और चेर राज्यो ने युगो तक अपनी परम्पराओं को वनाये रखा। इन राज्यो की सत्ता और अस्तित्व को राजकुल के परिवर्तन प्रभावित न कर सके। दक्षिण के पाण्यमण्डलम, तोण्डमण्डलम और केरल वास्तव मे भौगोलिक इकाइयाँ थी जिनकी प्रतिष्ठा और निरन्तर वना रहने वाला राजनीतिक तथा सास्कृतिक अस्तित्व था। इसके विपरीत, उत्तरी भारत मे इतिहास विशेप रूप से राजवशो पर निर्भर था। अतएव दक्षिण निर्दिष्ट सास्कृतिक देन प्रदान कर सका। सुदूर-पूर्वीय देशों मे हिन्दू सस्कृति के प्रयाण व प्रचार मे दक्षिण भारत की देन रही है, उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। अन्य क्षेत्र मे उसकी जो देन है, उसका विवेचन अधोलिखित है—

भक्ति-सम्प्रदाय—दक्षिण की सांस्कृतिक देन भक्ति-सम्प्रदाय के रूप मे है। शक्ति के सिद्धान्त का अभिप्राय इष्टदेव के प्रति अटूट और अगाध भक्ति, श्रद्धा और प्रेम है। अपने इष्टदेव मे विश्वास और उसके प्रति भक्ति रखना मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना जाने लगा। भक्ति-सम्प्रदाय मे अमूर्त और अदृश्य देवता की ऐसे रूप मे कल्पना की जाती है कि वह मानव-कार्यो मे हस्तक्षेप करने के लिए समर्थ हो। ईश्वर की मानसिक कल्पना भक्त के लिए शारीरिक रूप मे परिवर्तित कर दी जाती है। निर्लिप्त ब्रह्म या ईश्वर भक्त के इष्टदेव के रूप मे वदल दिया जाता है। भक्तो द्वारा मन्दिर निर्माण किये जाते है और विभिन्न प्रकार की प्रतिमाओ के रूप में ईश्वर की प्रतिष्ठा इन मन्दिरो मे की जाती है। भक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायी वहाँ जाते है और मूर्ति का पूजन करते है। देवता की कल्पना के अनुरूप ही उसके पूजन की विधि भी निर्दिष्ट कर दी गयी। ऐसा माना जाने लगा था कि जो व्यक्ति शरीर, मन, वचन व कर्म से अपने आपको, ईश्वर को अथवा इष्टदेव को समर्पित कर देते है, वे मोक्ष पाते है और परमब्रह्म को प्राप्त करते है। इन सब बातो ने धर्म को व्यावहारिक पूजन तथा भक्ति के लिए विशिष्ट रूपो मे सगठित कर दिया। भक्ति-आन्दोलन,

जिसका जन्म विष्णु और शिव के पूजन से हुआ था, दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति के प्रवेश करने के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। अतएव यह आर्यो के पूर्व का सिद्धान्त है। दक्षिण भारत मे शिव और विष्णु के भक्तो ने इस भक्ति-सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रसार किया। शैव सम्प्रदाय के सस्थापक सन्त नयनमारो की शिव-भक्ति असीम थी। इनमे भक्ति के भजन अत्यन्त सरस और भावपूर्ण थे। शैव साहित्य के अनुसार नयनमार या शिव-भक्त सन्त हुए हैं। इन सन्तो ने भक्ति और भजन के भावपूर्ण साहित्य के द्वारा तामिल देश मे एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार विष्णु के भक्त अलवारो ने भी भक्ति को प्रोत्साहित किया। अलवारों ने विष्णु की स्तुति मे भक्ति-रसपूर्ण काव्य की रचना की। पल्लव-शासन से 'संगम' साहित्य मे भक्ति का दिव्य उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। शैव सम्प्रदाय का 'तेवरम' और 'तिरुवाचकम' तथा वैष्णव सम्प्रदाय का 'प्रबन्ध' भक्ति-साहित्य है जो पल्लव-युग का है। भक्ति-सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य 'आगमो' के विकास को सप्रमाण प्रकट करता है। आगम मन्दिर-पूजा के मूल के है और भक्ति-सम्प्रदाय के धर्म का प्रत्यक्ष फल है। शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायो का समस्त आगम साहित्य मन्दिर-पूजा की आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु निर्मित हुआ था।

शैव और वैष्णव मत के रूप मे भक्ति-सम्प्रदाय उत्तर भारत मे प्रसारित हुआ। वैष्णव मत महाराष्ट्र मे पढरपुर के चतुर्दिक केन्द्रीभूत हो गया और बाद में इसे मथुरा में कृष्ण की जन्मभूमि के नाते अनुकूल सुविधाजनक स्थान प्राप्त हो गया। परन्तु बारह से पन्द्रहवी शताब्दी मे भक्ति-मत ने उत्तर भारत मे वैष्णव सम्प्रदाय का निर्दिष्ट रूप ले लिया था। इस मत के अनुसार अब विष्णु के दो अवतार—राम और कृष्ण—के प्रति विशिष्ट श्रद्धा, प्रेम और भक्ति होने लगी थी। तुलसीदास की प्रसिद्ध हिन्दी रामायण के द्वारा राम ने प्रमुख रूप से अपना प्रभुत्व बनाये रखा और कृष्ण ने गुजरात मे वल्लभाचार्य और बगाल मे चैतन्य के अन्तर्गत लोगो को अत्यधिक आकर्षित किया।

भक्ति सम्प्रदाय का विरोध—यह स्मरण रखने योग्य है कि यदि भक्ति-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव दक्षिण मे हुआ था तो उसके विरोध का सूत्रपात भी वही से हुआ। जब दक्षिण भारत मे विविध आगमो द्वारा निर्धारित नियम-प्रणाली के अन्तर्गत मन्दिरों में पूजन अपने सर्वोच्च विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचा तो स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई एव इनके आवश्यक प्रतिबन्धो तथा बहिष्कारो के विरोध मे सुधारवादी आत्माओ का उत्कर्ष हुआ। इस विरोध के प्रमुख समर्थक सिद्ध (तामिल मे सित्त) नाम से प्रख्यात हुए। इन्होंने यौगिक प्रणाली के धर्म पर अधिक बल दिया और इसे सर्वश्रेष्ठ बताया। विरोध का साधारण रूप इस प्रकार था, "प्रतिमाओ और मन्दिरो मे ईश्वर की खोज करते हुए इधर-उधर भटकना मूर्खता है। तुम्हारा ईश्वर स्वयं तुम में है और अनिवार्य बात तो इसे समझ लेना ही है।" इस विरोध के पक्ष मे दक्षिण के तिरुमुनर जैसे प्रारम्भिक लेखक के ग्रन्थो से कुछ अश उद्धृत किये जा सकते है। यद्यपि पूजा की विविध प्रणालियो के विरुद्ध यह विद्रोह दक्षिण मे ही उत्पन्न हुआ, परन्तु उत्तर भारत में व्यावहारिक धर्म के रूप मे इस्लाम का आगमन होने से इसे अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। उत्तर भारत मे कबीर और नानक इसके महान समर्थक थे।

लिंगायत-सम्प्रदाय का उत्कर्ष—इस्लाम के आगमन तथा प्रारम्भिक मुस्लिम शासको की मूर्तिपूजा-विरोधी प्रवृत्तियो के कारण उत्तर भारत ब्राह्मण धर्म के सुरक्षित

अनुकरण के हेतु अब शान्तिमय स्थान नही रहा था। इससे बहुसख्यक ब्राह्मण दक्षिण की ओर प्रयाण कर गये और अपने साथ ब्राह्मण धर्म की कतिपय विशिष्टताओं को, जो उस समय उत्तरी भारत मे प्रचलित थी, लेते गये। वे अपने साथ शक्ति-सम्प्रदाय का दूषित रूप तन्त्रवाद भी ले गये जो शैव मत का एक दृढ और कठोर अग था। इससे सर्वोपरि देवी का किसी न किसी रूप मे पूजन प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त दक्षिण मे शैव मत के पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायो का विकास भी हुआ। ये शैव मत के अधिक कठोर और कट्टर उपासक थे। इसके बाद मे शैव का अन्य रूप वीरशैव या लिंगायत का उत्कर्ष हुआ जिसकी सर्वश्रेष्ठ उर्वरा भूमि दक्षिण में थी।

धार्मिक उदारता तथा धार्मिक संपीड़न का अभाव—मन्दिरो मे देवी-देवताओं के पूजन मे तथा शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के भक्ति-सिद्धान्त के विकास के युग मे धार्मिक उदारता व सहिष्णुता की प्रचुरता रही तथा धार्मिक सपीड़न का अभाव रहा है। राज्य और उसका शासक स्पष्टततया विभिन्न मानें जाते थे। नरेशो ने व्यक्तिगत रूप से चाहे जो पीडा व क्लेश दिये हो, उनका व्यक्तिगत धर्म कभी भी राजधर्म के पद पर प्रतिष्ठित नही किया गया जैसा अनेक मुस्लिम राजाओ ने किया था। राजा की इस विलक्षण स्थिति ने धर्म मे एकरूपता लाने हेतु कोई अवसर प्रदान नही किये और परिणामस्वरूप इससे धार्मिक पीडा और कष्ट का एक प्रमुख कारण नष्ट हो गया। लोगो के प्रत्येक समुदाय को अपना-अपना धर्म पालन करने मे पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उदारता व सहिष्णुता की यह भावना समस्त सार्वजनिक जीवन मे व्याप्त थी और मानव-कार्यों के विविध अगो मे यह अभिव्यक्ति हुई थी। राजाओ ने शासन मे इसी सिद्धान्त को अपनाया और इससे स्वायत्त-शासन की सस्थाओ का विकास हुआ। फलत. दक्षिण मे सामाजिक-राजनीतिक जीवन नियमित हो गया। ऐसे अनेक अभिलेख है जो यह प्रमाणित करते है कि चोल शासन मे शासकीय और सामाजिक कार्यो के लिए स्वतन्त्र स्थानीय सस्थाएँ विद्यमान थी।

दक्षिण के मन्दिर—ये स्वयं ही संस्थाएँ थे—कला धर्म की चेरी है। भक्ति-सम्प्रदाय, आगम-साहित्य और मन्दिर-पूजा ने स्वाभाविक रूप से दक्षिण मे मन्दिर-निर्माणकला के विकास को प्रेरित किया। विष्णु और शिव के दक्षिण भारत के मन्दिर अपनी भव्यता, दिव्यता और विशालता में भक्ति-सम्प्रदाय के उपासको की भक्ति, श्रद्धा और प्रेम के सजीव स्मारक हैं। इन उपासको ने मन्दिरो के निर्माण मे उदारता से धन दिया और श्रमदान किया। कालान्तर मे ये मन्दिर अपने-अपने स्थानीय लोगो के सार्वजनिक और धार्मिक जीवन के केन्द्र बन गये। वहाँ ये लोग पूजन करने, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ पर वाद-विवाद करने तथा सामाजिक मनोज्ञता व सुख-सुविधा के हेतु एकत्र होते थे। मन्दिर के मण्डप मे लोग सार्वजनिक सभा तथा धार्मिक कीर्तन और कथा-नाटक करते थे। भजनो के गाने के लिए मन्दिरो मे विशेष रूप से प्रबन्ध किया जाता था। प्रारम्भिक युगो मे प्राय प्रत्येक मन्दिर के साथ एक नि:शुल्क पाठशाला भी होती थी और अधिक महत्त्वशाली मन्दिरो मे महाविद्यालय थे जिनमे धार्मिक और ऐहिक विषयो की उच्च शिक्षा नि शुल्क दी जाती थी। इन मन्दिरो तथा विद्यापीठो के व्यय के लिए अनेक ग्राम अनुदान मे दिये जाते थे। प्रसिद्ध इण्णाइरम् (Ennayiram) मन्दिर का महाविद्यालय जिसमे 340 विद्यार्थी रहते थे, विद्यार्थियो को नि:शुल्क शिक्षा देता था और इसमे शिक्षा के हेतु दस विभाग थे। अतएव दक्षिण भारत से मन्दिर स्वय ही सस्थाएँ बन गये थे।

दक्षिण भारत में कला—अनेक सुन्दरतम बौद्ध स्तूप समस्त दक्षिण में आन्ध्रों के समय निर्मित किये हुए प्रतीत होते है। परन्तु इनके कतिपय अवशेष ही बच पाये हैं। इनमे सबसे अधिक कृष्णा नदी के मुहाने पर अमरावती का महान् स्तूप था। इस स्तूप की रेलिंग ही सगमरमर की नही बनी हुई थी अपितु इसका विशाल गुम्बद भी इसी पाषाण का बना हुआ था। जब यह पूर्णरूपेण अखण्ड रहा होगा, तब इसका विलक्षण प्रभाव रहा होगा। अब समस्त स्तूप भग्नावशेष रूप मे हैं और इसकी रेलिंग या बाढ के कुछ भाग तो मद्रास के सरकारी अजायबघर मे और कुछ लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भेज दिये गये थे जहाँ ये प्रमुख सीढियो को सुशोभित करते है। सम्भवतः स्तूप के निर्माण का सूत्रपात ईसा पूर्व दूसरी सदी मे हुआ था परन्तु पाषाण की रेलिंग या वेष्टनी चार शताब्दियों बाद जोडी गयी थी। इसके गुम्बद और वेष्टनी पर बुद्ध के जीवन के विविध दृश्य उत्कीर्ण किये गये है। इस अलकरण-मे प्रतीको तथा मूर्तियो दोनो का समन्वय है। प्रारम्भिक काल मे कमल या पदचिह्न के प्रतीक द्वारा बुद्ध को प्रदर्शित किया गया था, परन्तु बाद मे बुद्ध की प्रतिमाएँ निर्मित की गयी। इस प्रकार यह परिवर्तन काल की ओर सकेत करता है। इस स्तूप की मूर्तियाँ पतली और प्रसन्न-वदन वाली हैं तथा उनकी मुद्राएँ व वक्रता विशिष्ट हैं। स्तूप की तक्षण कला उस युग के सुखी स्वच्छन्द जीवन की झाँकी प्रदर्शित करती है तथा तत्कालीन राजप्रासादो, चतुर्दिक दीवार वाले नगरों, भवनो, गृहो और मन्दिरों की दशा प्रकट करती है। ये सब इस बात की ओर सकेत करते हैं कि उस सुदूर-अतीत मे भी कला की विशिष्ट प्रणाली विकास के उच्चतम स्तर पर पहुँच चुकी थी। अमरावती के अतिरिक्त नागार्जुनीकोंडा मे भी इस युग के अन्य महत्त्वशाली स्मारक-चिह्न उपलब्ध हुए हैं। इनमे एक स्तूप, दो चैत्य और एक विहार है। स्तूप के पार्श्ववर्ती भाग में चूने के पत्थर के खण्ड प्राप्त हुए है जिन पर बुद्ध-जीवन के दृश्य अंकित है।

परन्तु दक्षिण भारत में वास्तुकला और तक्षणकला का इतिहास पल्लव मन्दिरों से प्रारम्भ होता है जो एक नवीन शिल्प-प्रणाली, जिसे द्रविण-शैली कहते है, प्रस्तुत करते हैं। काची और अन्य स्थानो के मन्दिरों के अतिरिक्त, चट्टानो मे से काटकर बनाये हुए मन्दिर, जैसे मामल्लमुरम के सात रथ इसी शैली के बनाये हुए है। उचित रूप से इसे कला की पल्लव-शैली कहा जा सकता है। वस्तुत. भारती संस्कृति को पल्लवो की देन अदभुत रही है। प्रारम्भिक समय से उन्होंने अपनी वास्तुकला का सृजन किया जो दक्षिण की समस्त शैलियों का आधार बन गयी है।

दक्षिण के गुहा तथा अन्य मन्दिर एव पल्लवों के वास्तुकला के दूसरे अवशेष हिन्दू कला के इतिहास मे एक महत्त्वशाली अध्याय हैं। महान पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन (625-645 ई) द्वारा समुद्रतट पर स्थापित महावल्लीपुरम या मामल्लपुरम में अनेक गुहा मन्दिर है जो विविध सुन्दरतम उत्कीर्ण आकृतियो से अलंकृत है। परन्तु इन सबमे सबसे अधिक विलक्षण रथो या पगोडाओ अथवा मन्दिरों का समूह है जो पाँच पाण्डव और द्रोपदी के मन्दिरो के नाम से प्रख्यात है। मन्दिर समुद्रतट पर एक ही अखण्ड चट्टान मे से काटकर बनाया गया है। एक साधारण मन्दिर की समस्त बाते इनमे विद्यमान है और आज भी ये पल्लवकला की श्रेष्ठता के अमर स्मारक के रूप मे खडे हैं। दक्षिण भारत के तक्षण-शिल्प का प्रौढ़ रूप सर्वप्रथम इन मन्दिरो मे ही दृष्टिगोचर होता है। मामल्लपुरम की चट्टानो में से काटी हुई एक मूर्ति ने बहुत ही ख्याति प्राप्त कर ली है। जो दृश्य इस प्रतिमा मे प्रदर्शित किया गया है,

उसे साधारण रूप से अर्जुन का पश्चाताप माना गया है, परन्तु वास्तव मे यह गंगावतरण का दृश्य है। यह मूर्ति 29·40 मीटर लम्बी व 12·90 मीटर चौडी विशाल खडी चट्टान मे से काटी गयी है। ककालमात्र बचे रह गये भगीरथ पृथ्वी पर गगा के अवतरण के हेतु तपस्या मे सलग्न है, समस्त दिव्य और पार्थिव जगत यहाँ तक कि जन्तु-जगत भी उनका साथ दे रहा है। यह विशाल प्रभावोत्पादक दृश्य अत्यन्त ही भावपूर्ण, सजीव व वास्तविक है। पल्लवकला का दूसरा आश्चर्यजनक उदाहरण काची का कैलाश मन्दिर है। वहाँ प्रतिमा के प्रकोष्ठ पर पिरामिड के ढग का शिखर है और समतल छत का मण्डप है जिमके चतुर्दिक छोटे-छोटे प्रकोष्ठों की शृ खला है। इस मन्दिर की निर्माण-शैली चट्टान काटकर मन्दिर बनाने की कला से भिन्न है। पल्लव-शैली मे पाषाण से विशाल मन्दिर बनाये जाते थे। कभी-कभी ऊपर का भाग ईटों का भी बनाया जाता था। मन्दिर के उपर ऊँचे गुम्वद बनाये जाते थे। वास्तुकला की पल्लव-शैली ने दक्षिण मे प्रामाणिक स्तर ही निर्धारित नही किया अपितु सुदूर-पूर्व मे भारतीय उपनिवेशों की वास्तुकला को भी अत्यधिक प्रभावित किया। पल्लव-शैली के 'शिखर' की विशेषताएँ जावा, कम्वोडिया और अन्नाम के मन्दिरों में दृष्टिगोचर होती है। परन्तु इन मन्दिरो एव दक्षिण भारत के मन्दिरो मे महत्त्वपूर्ण विभेद है। स्तम्भ दक्षिण भारत के मन्दिरो मे महत्त्वपूर्ण जोडने वाली कड़ी है परन्तु पूर्वी हिन्दू उपनिवेशों के मन्दिर मे इसका सर्वथा अभाव है।

चोलो ने, जो पल्लवो के स्थानो पर शासन करने लगे, इस द्रविण या पल्लव-शैली का विकास किया और इसे अपने सरक्षण मे सर्वश्रेष्ठ बना दिया। चोलो ने, जो पल्लवो के समान निर्माता थे, विशाल पैमाने पर शिल्पकला के कार्य किये थे। इस दिशा मे उनके सबसे अधिक प्रशसनीय कार्य सिंचाई के हेतु उनकी विशाल योजनाएँ थी। अपनी नवीन राजधानी गगईकोण्ड चोलपुरम के पास राजेन्द्र चोल प्रथम द्वारा निर्मित कृत्रिम झील का बाँध 26 किलोमीटर लम्बा था। कावेरी और अन्य नदियो पर पाषाण के विशाल बाँध बाँधे गये थे। कावेरी से जो नहरे निकलती है, वे चोलो की ही देन है। विरासोलन और मुन्दीकोंडन नहरे चोलो ने ही निर्मित की थी। चोल नगर सुविस्तृत थे और सावधानीपूर्वक उनकी योजनाएँ बनाकर उन्हें बसाया गया था। नगर के केन्द्र मे एक मन्दिर होता था। चोल मन्दिरो की शिल्पकला की, जिसके सर्वोत्कृष्ट नमूने तजौर और चिदाम्बरम के कतिपय मन्दिर है, कला-परम्पराओ की विशुद्धता के कारण, जिसे उन्होने सुरक्षित रखा है, मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। तजौर का विशाल शिव-मन्दिर राजराजा महान ने 1011 ई. के लगभग वनाया था। इसमे चौदह मजिले है जो 57 मीटर ऊँचाई में है। इसके ऊपर प्रस्तर-खण्ड का भीमकाय गुम्वद है जो 7·50 मीटर ऊँचा और 80 टन वजन मे है। इस मन्दिर मे 77 मीटर चौडा और 154 मीटर लम्बा विस्तृत आँगन है। मन्दिर का भव्य भवन नीचे से ऊपर शिखर तक उत्कीर्ण शिल्प-कलाकृतियों, प्रतिमाओ और अलकारको से सुशोभित है। मन्दिर के अलकरण मे सूर्याकृतियो के चक्रार्द्धों का उपयोग है। इसके अतिरिक्त अलकारो में प्रवेश-द्वार या गोपुरम मे विष्णु सम्प्रदाय की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी है परन्तु अन्यत्र शिव की महिमा का प्रदर्शन है। इस प्रकार मन्दिर मे वैष्णव व शिव सम्प्रदाय का यह पारस्परिक समन्वय सराहनीय है। इसके अतिरिक्त श्रीरगपट्टम का दिव्य मन्दिर भी दक्षिण भारत के मन्दिरो मे वास्तुकला का श्रेष्ठ नमूना है। इसी मन्दिर में एक सहस्र स्तम्भों वाला भव्य सभा-मण्डप

है जिसकी लम्बाई 140 मीटर और चौड़ाई 40 मीटर है। इस मन्दिर का गोपुरम और उसका अलंकरण भी बेजोड़ हैं। इसमें कुण्डलाकृति की चमकती बेलें, पुष्पाकृतियाँ, चक्रार्द्ध आले, छाजन आदि अत्यन्त कलापूर्ण हैं।

उपरोक्त वर्णित राजराजा के शिव मन्दिर से कम भव्य परन्तु अधिकतम सुन्दरतम तंजौर नगर में ही सुब्रह्मण्य मन्दिर है जिसका शिखर भी उच्चतम एवं कलात्मक ढंग से अलंकृत है। अपनी नवीन राजधानी गंगईकोण्ड चोलपुरम में राजेन्द्र प्रथम द्वारा निर्मित यह विशाल मन्दिर चोल वास्तुकला का अन्य प्रभावशाली उदाहरण है। उसका विशाल आकार, ठोस पाषाण का विराट् लिंग और पाषाण में उत्कीर्ण मनोरम आकृतियाँ इसकी असाधारण विशेषताएँ हैं। इसके अतिरिक्त भगूति का शिव मन्दिर, ऐहोल का विष्णु मन्दिर तथा पताडकल का विरुपाक्ष मन्दिर दक्षिण की वास्तुकला के श्रेष्ठ नमूने हैं।

कला के क्षेत्र में चोलों की अन्य सफलता काँसे की प्रतिमाएँ हैं। इस युग की नटराज (शिव) की मूर्तियाँ तथा सन्तों और हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ और चित्र विश्व की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ मान ली गई हैं।

चोलकला की प्रधान विशेषता वृहत्वयुक्त भव्यता है। भीमकाय मन्दिरों और भवनों को अत्यन्त सूक्ष्म तक्षण से अलंकृत किया गया था। कला-मर्मज्ञ फर्गुसन ने उचित ही कहा है कि चोल कलाकार अपनी रचनाओं के लिए दानवों के समान कल्पना करते थे और उसकी पूर्ति जौहरियों के समान करते थे। एक नवीन शैली, जिसने उत्तरकाल में द्राविड़ वास्तुकला को रूपान्तरित कर दिया था, चोलकला में शनैः-शनैः विकसित हो रही थी। यह मन्दिर के परिवेष्टन का विशाल प्रवेश-द्वार था जिसे गोपुरम कहते थे। धीरे-धीरे गोपुरम की संख्या में वृद्धि होती गयी। गोपुरम के आकार भी मन्दिर के अनुरूप ही कई मंजिलों वाले विशाल शिखरयुक्त होने लगे। अन्त में गोपुरम अपने शिखर की अत्यधिक ऊँचाई और सुन्दरतम अलंकरणों के कारण अधिक प्रभावशाली हो गये और मन्दिर के गर्भगृह कम प्रभावोत्पादक होने से नगण्य हो गये। गोपुरम प्रतिमा-प्रकोष्ठ के शिखर से इतने ऊँचे उठने लगे कि उन्होंने प्रधान मन्दिर को बिल्कुल दबा दिया। उदाहरण के लिए कुम्भकोणम का गोपुरम स्वयं शानदार भवन है। परन्तु यह प्रमुख देवालय को इतना अधिक दबा देता है कि उसकी सारी रचना कम मनोज्ञ और कलापूर्ण प्रतीत होती है। उत्तरकाल में मन्दिर के चतुर्दिक विस्तृत परिवेष्टन बनने लगे। उनकी दीवारों के भीतर केन्द्र में जलाशय होता था जिसका उपयोग धार्मिक कार्यों के लिए होता था।

दक्षिण की वास्तुकला मदुरा और रामेश्वरम के सत्रहवीं सदी के मन्दिरों में अपनी उत्कृष्टता की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। रामेश्वरम् के मन्दिरों के बरामदे जिनमें प्रत्येक 210 मीटर लम्बे और ठोस पाषाण के काटे गये हैं, बड़े भव्य और प्रभावशाली हैं, परन्तु मदुरा के विशाल हॉल में अनेक स्तम्भ हैं, जिन पर सिंह और पौराणिक गाथाओं के दानवों की आकृतियाँ अंकित हैं। इन स्तम्भों पर नक्काशी करने में शिल्पी की कल्पना बिखर पड़ी है। मदुरा में शिव और उसकी प्रियतमा मीनाक्षी का मन्दिर अलौकिक है। इस देवालय की बाह्य लम्बाई 262 मीटर और चौड़ाई 223 मीटर है और इसमें चार प्रवेश-द्वार हैं। अन्दर प्रवेश करने पर द्वार और उपद्वार, आँगन और उपआँगन मिलते हैं। केन्द्र में 51 मीटर लम्बा और 37 मीटर चौड़ा तालाब है। अनेक स्थलों पर देवी-देवताओं, पशु-पक्षी और अलंकरण की अन्य

वस्तुओं की सजीव प्रतिमाएँ व आकृतियाँ है। जो कोई भी मदुरा, रामेश्वरम और अन्य स्थलो के मन्दिरो को उनके अहातो; लम्बे आँगनो, मार्ग विस्मरण करा देने वाले भवनों, सहस्र स्तम्भो वाले सभा-मण्डपो और वृक्षो तथा स्तम्भो की सुदीर्घ पक्तियो को देखता है, वह आश्चर्यान्वित हो जाता है। इस प्रकार सुदूर-दक्षिण की वास्तुकला मे प्रधानतया दो शैलियाँ थी—ठोस चट्टानो को काटकर भव्य मन्दिरो का निर्माण एव अत्यन्त ऊँचे भीमकाय शिखर वाले पाषाण के मन्दिर। उत्तरकाल मे इन मन्दिरो मे उच्च शिखर वाले गोपुरम और स्तम्भ पक्तियो वाले विशाल सभा-मण्डपो का निर्माण करने की शैली का विकास हुआ।

ऊपरी दक्षिण की कला—सुदूर-दक्षिण मे वास्तुकला की दो स्वतन्त्र शैलियों का विकास हुआ था। उत्तर भारत और सुदूर-दक्षिण के मध्य मे दक्षिण का पठार है जहाँ इन दोनो शैलियो का प्रयोग हुआ था। चालुक्य और राष्ट्रकूट जो इस प्रदेश पर शासन करते थे, महान निर्माता थे। चालुक्य राजधानी बादामी के पाश्ववर्ती प्रदेश मे अनेक गुहा-मन्दिर है जो ब्राह्मण धर्म के देवताओ को समर्पित किये गये है और जिनमे सुन्दरतम मूर्तियाँ तथा उत्कीर्ण की गयी उच्चतम आकृतियाँ है। बादामी और अन्य स्थानो पर साधारण ढंग से निर्मित अनेक देवालय है। इनमे से कई द्राविड़ या पल्लव-शैली प्रकट करते है। इस शैली को राष्ट्रकूटो ने भी प्रधानतया अपना लिया था। एलौरा का विश्वविख्यात कैलाश मन्दिर द्राविड़-शैली का विलक्षण नमूना है। इस मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने आठवी सदी मे किया था। प्रथम तो शिल्पियो ने एक सम्पूर्ण पहाड़ी को निर्दिष्ट रूप से चिह्नित कर उसे दीर्घ पर्वत-श्रेणी से काटकर अलग कर दिया और तब विशाल भव्य मन्दिर एक अखण्ड चट्टान मे से उसी प्रकार काटा गया जैसे मामल्लपुरम के रथ। इस मन्दिर मे द्राविड-शैली का शिखर और उस पर विस्तृत रूप से सुन्दरतम नक्काशी की गई है। इस मन्दिर के चतुर्दिक पहाडियो मे जो गुहाएँ है उनमे विशाल मण्डप (Halls) है जो ब्राह्मण धर्म के अनेक देवी-देवताओ की प्रतिमाओ से सुसज्जित है। प्रमुख मन्दिर हाथियो के पृष्ठभागो पर आश्रित है और ये सजीव हाथी चट्टानो को काटकर बनाये गये है। एलौरा का कैलाश मन्दिर कला की एक शानदार सफलता है और विश्व की वास्तुकला की विलक्षण वस्तु मानी जाती है। बिना किसी लगाव के दुमजिला व तिमजिला मन्दिर चट्टान मे से काट लेना बड़ा आश्चर्यजनक कार्य है। यह मानव के धैर्य, साहस, अध्यवसाय व तक्षणकला का उत्कृष्ट नमूना है। शिल्पियो ने कैलाश मन्दिर को काटते समय 42 पौराणिक दृश्यो को उत्कीर्ण किया है। इनमे नृसिंह अवतार का दृश्य, शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ एव रावण द्वारा कैलाश-उत्तोलन विराट, ओजस्वी, सजीव और प्रभावशाली कृतियाँ है। इनमे रावण द्वारा कैलाश उठाने का दृश्य अत्यन्त ही भव्य और प्रशसनीय है। दशानन कैलाश पर्वत को उठा रहा है, भयातुर पार्वती शिव की भुजा का आश्रय ले रही है, सखियाँ भयत्रस्त हो भाग रही है, परन्तु शिव अचल और निर्भीक है तथा अपने चरणो से कैलाश पर्वत को दबाकर रावण का अथक परिश्रम निष्फल करने मे संलग्न है तो दूसरी ओर ऐसी ही जैनियो की गुहाएँ है। ये स्थापत्य और तक्षणकला के क्षेत्र मे कला-सौन्दर्य के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कैलाश पर्वत से थोडी दूर चट्टानों से काटी हुई नासिक और कार्ली के समान गुहाएँ है। इन्ही का समकालीन शिव गुहा-मन्दिर है जो बम्बई के पास एलीफेण्टा के सुन्दरतम द्वीप मे पर्वत को काटकर बनाया गया है।

इसमें अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ और मनोरम नक्काशी है। यहाँ की प्रतिमाओ मे शिव की भीमकाय त्रिमूर्ति तथा शिव-पार्वती का दृश्य अत्यन्त ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। प्रथम मूर्ति के मुख-मण्डल पर अलौकिक प्रशान्त गाम्भीर्य है, द्वितीय मे समाधि-अवस्था की भव्यतम अभिव्यक्ति है एव तृतीय मे पार्वती के आत्म-समर्पण का भाव सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया गया है।

मैसूर का पठार

होयसलो ने, जो उत्तरकालीन चालुक्यो के उत्तराधिकारी हुए थे और बारहवी तथा तेरहवी सदियो मे मैसूर पठार पर शासन करते थे, वास्तुकला की एक नवीन शैली का विकास किया। कदाचित उन्होने अपने पूर्ववर्ती गंग नरेश से कला-परम्पराओ को देन में पाया था। इन गंगों के शासनकाल मे ही जैन सन्त गोमतेश्वर की प्रसिद्ध भीमकाय प्रतिमा निर्मित हुई थी और श्रवण बेलगोला की पहाड़ी के शृंग पर प्रतिष्ठित हुई थी। कतिपय विद्वानों का मत है कि होयसलो ने चालुक्य-शैली को अविच्छिन्न रूप से जारी रखा और यह शैली उनके अन्तर्गत अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँची। इसी के अनेक भव्य मन्दिरो मे से सबसे अधिक प्रसिद्ध सोमनाथपुर, बेलपुर और हलेबिद या द्वारसमुद्र मे बनाये गये मन्दिर हैं। ये मन्दिर वर्गाकार या तारकाकृति अथवा बहुभुजीय नही है, इनकी अनिवार्य विशिष्टता यह है कि इनमे सुन्दरतम नक्काशी हुए ऊँचे आधार या कुर्सियाँ हैं। ये अनेक घुमावदार हैं। इससे शिल्पियों को नक्काशी करने तथा मूर्तियो को उत्कीर्ण करने के लिए विस्तृत और लम्बे स्थान प्राप्त हो गये। इनके शिखर पिरामिडाकर होने पर नीचे हैं। इसे द्राविड़-शैली का संशोधित और सम-परिवर्तित रूप माना जा सकता है। 1043 ई. के लगभग वीणादित्य बल्लाल द्वारा निर्मित सोमनाथ का मन्दिर इस शैली का सर्वप्रथम उदाहरण है, परन्तु होयसल कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हलेबिद का प्रसिद्ध होयसलेश्वर का मन्दिर है। यह 1·75 मीटर ऊँचे चबूतरे पर खड़ा है। मन्दिर की समस्त ऊँचाई एक के बाद ग्यारह अलकृत पट्टिकाओ से, जो 210 मीटर लम्बी है, ढकी हुई है। इन पर गजों, सिहों, अश्वरोहियो और पशु-पक्षियो की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की हुई हैं। इस होयसलेश्वर के मन्दिर के विषय मे ठीक ही कहा गया है कि धैर्यशाली पूर्व में भी यह मानव-श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है। मैकडॉनल्ड के मतानुसार समस्त विश्व मे कदाचित ही अन्य कोई मन्दिर ऐसा हो जिसके बाह्य भाग में ऐसी विलक्षण खुदाई का काम हो।

दक्षिण भारत और इस्लाम

विजयनगर साम्राज्य (1336–1556 ई.)—चौदहवी शताब्दी के प्रारम्भ में मलिक काफूर ने दक्षिण भारत को रौंद डाला और अन्तिम हिन्दू राज्य को विनष्ट कर दिया। वारंगल का काकतीय राज्य-वश नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और देवगिरि के यादवो का अस्तित्व अब नही रहा था। परन्तु मलिक काफूर के आक्रमण के पश्चात जो अराजकता और अव्यवस्था हुई उससे दक्षिण भारत मे ऐतिहासिक एकता स्थापित करने के सुअवसर प्राप्त हुए। अतः 1336 ई. मे हरिहर और बुक्का के नेतृत्व मे एक नवीन राज्य की स्थापना हुई जो इतिहास मे विजयनगर साम्राज्य के नाम से प्रख्यात है। यह साम्राज्य चालुक्य, होयसल, पल्लव और चोल परम्पराओ का उत्तराधिकारी हो गया। दक्षिण में तीन सौ से भी अधिक वर्षों तक विजयनगर साम्राज्य मुसलमानो के आक्रमणो के विरुद्ध शक्तिशाली और अभेद्य दुर्ग बना रहा और सत्रहवी

सदी के मध्य मे विलुप्त हो गया। दक्षिण के पठार पर मुस्लिम सत्ता वहमनी राज्य के रूप मे स्थापित हो जाने से इस इस्लामी सत्ता का विजयनगर के साम्राज्य के साथ निरन्तर सघर्ष प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप, विजयनगर के सम्राट क्षण भर के लिए भी यह न विस्मरण कर सके कि उनके राज्य का ऐतिहासिक उद्देश्य दक्षिण भारत और हिन्दू सस्कृति तथा सभ्यता का प्रवल मुस्लिम विजय से रक्षा करना था। यदि विजयनगर की शक्ति न होती तो दक्षिण मे हिन्दू धर्म और हिन्दू सस्कृति मुसलमानो द्वारा पैरों तले कुचल दी जाती, जैसे गगा की घाटी मे हुआ। विजयनगर साम्राज्य का सबसे वडा नरेश कृष्णदेव राय (1509–1550 ई०) था जिसके अन्तर्गत विजयनगर की शक्ति अपने उत्कर्ष से शिखर पर पहुँच गयी। उसके वाद यद्यपि दक्षिण के मुस्लिम शासको के सघ ने विजयनगर की सेना को तालीकोट के रणक्षेत्र मे सन् 1565 मे पराजित कर दिया था, तो भी विजयनगर हिन्दू सस्कृति और सभ्यता का केन्द्र वना रहा। तालीकोट की सैनिक पराजय ने दक्षिण के एक प्रवल हिन्दू राजवश का अन्त कर दिया और थोडे समय के लिए लोगो की प्रतिरोध करने की शक्ति को क्षीण कर दिया, परन्तु प्रचीनतम और शक्तिशाली साम्राज्य की राष्ट्रीय भावना को समूल नष्ट करने मे यह पराजय सर्वथा असफल रही। विजयनगर साम्राज्य की शक्ति और महानता राजवशो पर नही वल्कि दक्षिण भारत के हिन्दुओ की राष्ट्रीय भावना और उनका मुसलमानो का अवरोध करने की दृढ प्रतिज्ञा पर निर्भर थी। भारतीय सस्कृति पर मुसलमानो के अतिक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिकार करने मे विजयनगर साम्राज्य का वड़ा हाथ रहा है।

विजयनगर सम्राटो के शासनकाल मे दक्षिण भारत मे अभूतपूर्व प्रगति हुई। राज्य के विभिन्न प्रदेशो मे कृषि समृद्ध दशा मे थी और राज्य ने कुशल सिंचाई-नीति का अनुसरण किया था। वस्त्र बुनना, खनिज पदार्थ निकालना और धातु की वस्तुएँ बनाना प्रमुख व्यवसाय थे। परन्तु छोटे व्यवसायो मे सवसे अधिक महत्त्वशाली सुवासित द्रवो और गन्धो को तैयार करने का धन्धा था। शिल्पियो और वणिको के सघ आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली थे। राज्य की आर्थिक दशा में सवसे असाधारण विशिष्टता आन्तरिक-बाह्य, समुद्रतटीय और समुद्रपार का व्यापार था। मलावार तट पर सवसे अधिक प्रसिद्ध वन्दरगाह कालीकट था। अब्दुर्रज्जाक के अनुसार साम्राज्य मे 300 वन्दरगाह थे। तामिल राज्यो के समान ही विदेशो मे इस साम्राज्य के हिन्द महासागर के द्वीपो, मलाया द्वीपसमूह, ब्रह्मा, चीन, अरव, फारस, दक्षिण अफ्रीका, अवीसीनिया और पुर्तगाल से व्यापारिक सम्वन्ध थे। विश्व के व्यापार करने वालो के नाते पुर्तगालियो के भारत मे आगमन से यूरोप के वाजार भारतीय वस्तुओ के लिए खुल गये और पश्चिम का माल भी भारतीय वन्दरगाहों मे निरन्तर आने लगा। तत्कालीन अभिलेख यह प्रमाणित करते हैं कि विजयनगर के नरेशो के पास जलसेना थी और पुर्तगालियो के आवागमन के पूर्व ही यहाँ के लोग पोत-निर्माण-कला से पूर्ण अवगत थे।

साधारणतया समाज मे स्त्रियो को उच्च पद प्राप्त था। देश के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन मे स्त्रियो के सक्रिय भाग लेने के उदाहरणो का अभाव नही है। कुश्ती लडने व ढाल-तलवार चलाने और सगीत तथा अन्य ललित-कलाओ मे शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त कतिपय स्त्रियो को समुचित साहित्यिक शिक्षा मिली थी। पहलवान स्त्रियाँ भी थी। स्त्रियाँ ज्योतिष-विद्या से परिचित थी और

भविष्य का हाल भी कहती थी। राजप्रासाद-द्वार के भीतर राज-परिवार का लेखा रखने के हेतु एक विभाग था, जहाँ केवल स्त्रियाँ ही क्लर्क हो सकती थी। इससे प्रमाणित होता है कि स्त्रियो को समुचित शिक्षा दी जाती थी और वे शासन-कार्य में कुशल होती थी। बहुपत्नी-प्रथा सर्वमान्य थी और बाल-विवाह साधारण प्रथा थी। अत्यधिक दहेज की रूढि प्रचलित थी और सती-प्रथा का प्रचलन था।

ब्राह्मण सामाजिक और धार्मिक मामलो मे ही प्रभुत्वशाली नही थे, अपितु राज्य के शासकीय और राजनीतिक मामलो मे भी अपना सर्वोपरि प्रभाव रखते थे। समाज और शासन मे उनका बड़ा सम्मान था। वे विश्वसनीय, सत्यवादी, बुद्धिमान तथा सुन्दर थे, पर कठोर परिश्रम के अयोग्य थे। खान-पान के विषय मे कोई विशिष्ट कठोर नियम न थे। फल, सागभाजी और तेल के अतिरिक्त लोग मास भी खाते थे। परन्तु गाय व बैल के मास का प्रयोग नही होता था, क्योंकि इनके प्रति लोगो की बहुत श्रद्धा थी। ब्राह्मण किसी प्राणी का न तो वध करते और न किसी का मांस ही खाते थे। राज्य में अनेक रक्तिम यज्ञो का प्रचार था। प्रसिद्ध 'नवरात्रि' के अन्तिम दिवस पर 250 भैसे और 4,500 भेडो की बलि दी जाती थी।

हिन्दू सांस्कृतिक पुनर्जागरण का केन्द्र होने से विजयनगर साम्राज्य को दिव्य, सास्कृतिक और कलापूर्ण सफलताओं का श्रेय है। सम्राट संस्कृत, तेलगु, तामिल और कन्नड सभी भाषाओं के उदार सरक्षक थे और उनके प्रेरणा देने वाले संरक्षण के अन्तर्गत साहित्य के कतिपय सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थो की रचना हुई। माधवाचार्य और उसका बन्धु सायण जो वेदो का प्रसिद्ध टीकाकार है, विजयनगर के प्रारम्भिक वर्षों मे ही समृद्ध हुए थे और विजयनगर की राजसभा से उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा था। कृष्णदेव राय का शासनकाल दक्षिण भारत के साहित्यिक इतिहास मे नवीन युग का उषाकाल है। स्वय विद्वान, सगीतज्ञ व कवि होने से कृष्णदेव राय को अपने चतुर्दिक कवि, दार्शनिक और धार्मिक आचार्यो को एकत्र करने की अभिरुचि थी। वह स्वयं भी तेलगु भाषा का लब्धप्रतिष्ठ लेखक था। उसकी राजसभा मे समस्त तेलगु साहित्य के स्तम्भ, प्रसिद्ध आठ कवि जो 'अष्टदिग्गज' कहलाते थे, रहते थे। उसका राजकवि पेड्डन आज भी तेलगु साहित्य का प्रतिष्ठित पूर्वज माना जाता है। विजयनगर राजवंश की रानियाँ कवयित्रियाँ थी। 'मदुरा-विजयम्' की लेखिका गंगादेवी और 'वरदाम्बिका पारिणयम्' की रचयिता तिरुमलम्बा देवी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सम्राटों के सम्बन्धियो और सामन्तो मे भी लेखक थे। अरविन्दु राजकुल के शासक भी कवियो और धार्मिक आचार्यों को राज्याश्रय देते थे और उनके अन्तर्गत तेलगु साहित्य अधिक फला-फूला। सगीत, नृत्य, नाटक, व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थो को सम्राटों और उनके मन्त्रियो से प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। संक्षेप मे, विजयनगर साम्राज्य 'दक्षिण भारतीय संस्कृति' का समन्वय था।

अभिलेख और साहित्यिक प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि विजयनगर के शासक उदार और पवित्र प्रवृत्ति के धर्मानुरागी थे। परन्तु उनमे धार्मिक कट्टरता का अभाव था। वे उस काल मे प्रचलित शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन मतो तथा ईसाई व यहूदी जैसे विदेशी सम्प्रदायो के प्रति भी उदार और सहिष्णु थे।

विजयनगर के सम्राट ललितकलाओं के बडे संरक्षक भी थे। वे महान निर्माता थे। उन्होंने सार्वजनिक हित के कार्यो; जैसे विशाल तालावो, झीलो, सिंचाई के साधनो तथा पीने के पानी पर ही नही, अपितु सभी प्रकार की कलाओं से सुसज्जित भवनो,

राजप्रासादों और मन्दिरो पर अत्यधिक उदारता से धन व्यय किया था। साम्राज्य की प्राचीन राजधानी के भग्नावशेष यह घोषित करते है कि उनके संरक्षण में स्थानीय शिल्पियो ने वास्तुकला, तक्षणकला और चित्रकला की एक विशुद्ध स्पष्ट शैली का विकास किया था। कृष्णदेव राय के शासनकाल में जो प्रसिद्ध हजारा मन्दिर का निर्माण हुआ, वह उस समय की प्रचलित हिन्दू मन्दिर वास्तुकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। विजयनगर-शैली का अन्य सुन्दरतम उदाहरण विठ्ठल स्वामी का मन्दिर है। यह दिव्यता और अलकरण की उस सीमा की ओर सकेत करता है, जहाँ तक शैली विकसित हो चुकी थी।

बहमनी राज्य (1347–1482 ई०)—1347 ई० मे मुहम्मद तुगलक के शासनकाल मे हुसेन गंगु बहमनी ने दक्षिण मे एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। यह इतिहास मे बहमनी राज्य (347-1482 ई०) के नाम से प्रख्यात हुआ। अपनी सर्वोत्कृष्ट सत्ता के समय यह राज्य समुद्रतट तक विस्तृत था और इसमे हैदराबाद, मद्रास प्रान्त (तामिल नाडु प्रदेश) का उत्तरी सरकार और बम्बई प्रान्त के कुछ भाग सम्मिलित थे। बाद मे 1482 ई० बहमनी राज्य के पाँच टुकड़े बीदर, गोलकुण्डा, बरार, अहमदनगर और बीजापुर हो गये और अन्त मे ये एक के बाद एक मुगल साम्राज्य द्वारा हड़प लिये गये। बहमनी राज्य के राजनीतिक इतिहास की विशेषता उसके पड़ोसी विजयनगर के हिन्दू राज्य के साथ सुदीर्घ काल का सघर्ष था।

बहमनी राज्य का ऐतिहासिक महत्त्व इस तत्त्व मे था कि वह उत्तर और दक्षिण को जोडने वाले केन्द्र-स्थल मे था। बहमनी नरेश यद्यपि इस्लाम-धर्मानुरागी थे परन्तु अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति आतकवादी या असहिष्णु न थे। जैन और हिन्दू दोनो धर्म प्रचलित थे, जैसा उस युग के अनेक मन्दिरो से विदित होता है। शिक्षा और ज्ञान प्रधानतया अरबी और फारसी मे वृद्धि पाते रहे और अनेक पाठशालाएँ तथा महाविद्यालय स्थापित किये गये जहाँ नि शुल्क शिक्षा दी जाती थी। सुलतान ललितकलाओ और वास्तुकला के बडे प्रेमी थे। उन्होने नगर बसाये और मस्जिदो तथा दुर्गो का निर्माण कराया। उनकी राजधानी प्रमोद-वन तथा विहार-वाटिकाओ वाला दिव्य नगर था। राजप्रासाद विस्तृत, भव्य और शानदार भवन थे जिनकी प्राचीरे बहुत ऊँची थी, जिनके प्रकोष्ठों मे सुन्दरतम कलापूर्ण आकृतियो की मेहराबे और खिडकियाँ थी। बीदर और गोलकुण्डा की मस्जिदे उस युग की वास्तुकला के शानदार स्मारक है। समकालीन निरीक्षको ने बीदर की अधिक प्रशसा की है। उन्होने उसे सुन्दरतम, विशाल, विस्तृत भवनो से भरा हुआ नगर बताया है। बहमनी सुलतानो द्वारा निर्मित भवनो मे सबसे अधिक सुन्दर भवन गुलबर्गा की जामी मस्जिद, दौलताबाद की चाँद मीनार और महमूद गवाँ का महाविद्यालय है। ये सभी इन सुलतानो के वास्तुकला के अनुराग को प्रकट करते है। इसके अतिरिक्त ग्वालीगढ और पन्हाला के दुर्ग, हसन मुहम्मदशाह, मुजाहिदशाह तथा अन्य सुलतानो व शासकों की कब्रे बहमनीकला के प्रसिद्ध उदाहरण है। सास्कृतिक दृष्टि से बहमनी राज्य का महत्त्व है। इस राज्य के सुलतानो ने कला को जो सरक्षण दिया, उससे दक्षिण भारत की प्राचीन वास्तु-कला-शैलियाँ रूपान्तरित हो गयी। इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

निष्कर्ष

सक्षेप मे, हम यह कह सकते है कि दक्षिण भारत की सस्कृति की कहानी शेष भारत से स्पष्टतया भिन्न है। आर्यो के पूर्व काल से ही उसकी सस्कृति की

अविच्छिन्नता, एकता और स्थिरता है। उसकी संस्कृति के व्यक्तित्व का आभास आज भी दृढतापूर्वक दृष्टिगोचर होता है। राजनीतिक क्षेत्र मे राजकुलीय परिवर्तनों के होने पर भी दक्षिण की सस्कृति अपने सभी तत्त्वो सहित विकसित होती रही। दक्षिण मे आर्यो का आगमन और प्रसार होने पर दक्षिणी संस्कृति पर आर्य सस्कृति का प्रभाव पड़ा और यह सत्य है कि दक्षिण की वर्तमान सस्कृति तामिल और आर्य संस्कृति का सुन्दर समन्वय है। परन्तु यदि हम भारतीय ललितकलाओं—वास्तुकला, साहित्य और सामाजिक सस्थाओ मे आर्यो के पूर्व के मौलिक तत्त्वों को ढूंढने का प्रयास करे तो वे हमे दक्षिण मे ही उपलब्ध हो सकते है। श्री सुन्दरम पिल्लई ने अपनी पुस्तक 'तामिलियन एण्टीक्वेरी (Tamilian Antiquary) मे लिखा है कि भारत-विन्ध्या के दक्षिण का प्रायद्वीपीय भारत, आज भी उचित रूप से भारत ही है। वहाँ अधिकाश लोगों मे आर्यों के पूर्व के शारीरिक रूप और लक्षण हैं, उनकी आर्यों की पूर्व की भाषाएँ है और आर्यों से पहले की सामाजिक संस्थाएँ हैं। यहाँ की आर्यीकरण की प्रवृत्ति को सुदूर जाने पर भी इतिहास के लिए देशी बाने को विदेशी बाने से पृथक कर पहचानना सरल है। यदि इस प्रकार विभेद कर सरलतापूर्वक पहचानने का कहीं अवसर है तो वह दक्षिण मे है और जितने दूर हम दक्षिण मे जाते है, ऐसे अवसर अधिक बढते हैं। वस्तुत. दक्षिण भारत की सस्कृति ने भारतीय संस्कृति को सम्पन्न किया है। उसने संगीत और नृत्य मे तथा मन्दिर और मूर्ति-निर्माण-शैली में देन दी है। शंकर जैसा दार्शनिक व धर्माचार्य, शैव सम्प्रदाय जैसा पावन सिद्धान्त दक्षिण भारत की सास्कृतिक देन है। इसके अतिरिक्त उसने मुस्लिम आक्रमण के प्रारम्भिक युग मे आर्य विचारधारा व संस्कृति की विशुद्धता को बनाये रखकर सास्कृतिक स्रोत को अविरल गति से बहने दिया।

प्रश्नावली

1. तामिल संस्कृति का वर्णन कीजिये। आर्य सस्कृति ने इसे कैसे प्रभावित किया?

   अथवा

   दक्षिण भारत में पल्लवो और चोलो की क्या सास्कृतिक सफलताएँ रही है?

2. भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे पल्लवो ने क्या भाग लिया?

   अथवा

   पल्लवो ने भारतीय कला और साहित्य में क्या योगदान दिया?

   अथवा

   "काँची मे पल्लवो ने भारतीय सस्कृति को जो देन दी है, वह हर प्रकार से अद्वितीय है"—व्याख्या कीजिये।

3. "पल्लव-शैली की गुहाएँ, मन्दिर तथा वास्तुकला के अन्य भग्नावशेष हिन्दू कला के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण अध्याय की रचना करते है।" इस कथन का सूक्ष्मता से विवेचन कीजिये।

4. "दक्षिण भारत की सस्कृति की कहानी शेष भारत से स्पष्टतया भिन्न है। आर्यो के पूर्व काल से उसकी संस्कृति की अविच्छिन्नता, स्थिरता और एकता रही।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

5. चोलकला की प्रशसा लिखिये ।
6. भारतीय संस्कृति को सुसम्पन्न करने के लिए दक्षिण भारत की क्यासांस्कृतिक देन रही है ?
7. "हिन्दू सास्कृतिक पुनर्जागरण का केन्द्र होने से विजयनगर साम्राज्य को सस्कृति व कला की दिव्य सफलताओ का श्रेय है ।" इसको समझाइये ।
8. "विजयनगर साम्राज्य दक्षिण भारतीय सस्कृति का समन्वय था ।" इस कथन की व्याख्या कीजिये ।
9. वहमनी सुलतानो ने अपने सुदीर्घ काल के शासन मे देश के सास्कृतिक विकास मे क्या देन दी है ?
10. टिप्पणियाँ लिखिये—महाबलिपुरम के रथ, लिंगायत, होयसलकला, कुराल, एलौरा, अलवार, भक्ति-सम्प्रदाय, दक्षिण की रोमन वस्तियाँ, पल्लवकला, तामिल सस्कृति, दक्षिण भारत मे बौद्धकला, चोल, और दक्षिण भारत मे मुस्लिम वास्तुकला ।

12

पृथक्कीकरण, विभिन्नीकरण और विभेद का युग
(600–1200 ई०)

छठी शताब्दी विभिन्नीकरण का काल नहीं था—गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत पुनः छोटे-छोटे राज्यो का समूह हो गया। हूणो ने पजाब, राजस्थान और मालवा मे अपना शासन स्थापित कर लिया तथा सतलज और यमुना के बीच मे थानेश्वर के एक छोटे राज्य का उत्कर्ष हुआ। संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध के भू-भाग मे मौखरियो ने अपना स्वतन्त्र राज्य प्रतिष्ठित कर लिया और वाकाटको ने पुन अपनी प्रभुता प्राप्त कर ली। अराजकता और पृथक्कीकरण के इस युग मे हूणो की एक विदेशी सत्ता ने देश मे अपने पैर जमा लिये थे। तोरमाण और मिहिरकुल इसके प्रतिभाशाली शासक थे परन्तु हिन्दू राजाओ ने मालवा के यशोधर्मन के नेतृत्व मे इस सत्ता को समूल नष्ट कर दिया। छठी सदी की इस राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता ने हिन्दू संस्कृति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही डाला। वाकाटकों, उत्तरकालीन गुप्त राजाओ और मौखरियो ने साम्राज्य की परम्पराओ को अपने-अपने राज्य मे बनाये रखा एव विद्या, कला तथा सस्कृति की प्राचीनतम धाराएँ प्रवाहित होती रही। नालन्दा का विश्वविद्यालय क्रमशः अन्तरराष्ट्रीय यश प्राप्त कर रहा था। साधु-आत्मा स्थिरमति और प्रसिद्ध आचार्य धर्मपाल इस विद्यापीठ की शोभा की वृद्धि कर रहे थे। कवियों में भैरवी, 'जानकी हरण' के कुमारदास और दण्डिन एव नाटककारो मे विशाखदत्त तथा सम्भवतः 'कौमुदी महोत्सव' के लेखक छठी सदी मे ही समृद्ध हुए। भारतीय गणितशास्त्र, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र मे अधिक प्रगति हुई और दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र तथा मीमासा की ओर विशेष ध्यान दिया गया। यह सदी बौद्ध और हिन्दू तर्कशास्त्र का स्वर्ण-युग था। प्रादेशिक भाषाओ का विकास हुआ और इस काल मे प्राकृत साहित्यिक भाषा की दृष्टि से विकसित हुई। प्राकृत भाषा में व्याकरण के ग्रन्थो की रचना हुई जिससे राजशेखर जैसे लब्धप्रतिष्ठ लेखक अगली सदी मे इस भाषा को अधिक गौरवान्वित कर सके। समाज के ब्राह्मण नेताओ ने जनता पर अपना प्रभुत्व ही नही बनाये रखा वरन उसे अत्यधिक दृढ कर दिया। ब्राह्मण-वर्ग के व्यक्ति शासको के परामर्शदाताओ और मन्त्रियों के पदों पर प्रतिष्ठित हो रहे थे। इन्होंने समाज के स्तर को पुनः सगठित किया और हूणो सहित अनेक विदेशियो को समाज मे सम्मिलित कर लिया। इस विवेचन से प्राचीन मत कि छठी शताब्दी अराजकता एव पृथक्कीकरण का युग था और हर्ष का काल इसकी अन्तिम आभा थी, को त्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वस्तुतः सास्कृतिक दृष्टि से छठी शताब्दी बीजारोपण का युग था जबकि प्रत्येक क्षेत्र मे असाधारण सफलताएँ प्राप्त करने के अतिरिक्त बाद के युग की सिद्धि-सफलताओं के बीज बोये गये।

हर्ष का युग (606–647 ई०)

जैसा ऊपर वर्णित है, गुप्त सामाज्य के पतन के पश्चात् अनेक छोटे राज्यों का उदय हुआ और पचास वर्षो मे पृथक्कीकरण प्रारम्भ हो गया परन्तु हर्ष (606-647 ई०) के शासनकाल मे विभिन्नीकरण करने वाले ये राज्य एक केन्द्रीय सत्ता के अधिकार मे आ गये और राष्ट्रीय जीवन को देदीप्यमान करने का कार्य, जो हूणों के बर्बर आक्रमणो से अवरुद्ध हो गया था, पुनः प्रारम्भ हो गया। हर्ष की सबसे महान सफलता उत्तर भारत मे सुदृढ़ साम्राज्य प्रतिष्ठित कर भारत की राजनीतिक एकता यथाविधिपूर्वक स्थापित करना है। उसने दक्षतापूर्वक साम्राज्य का शासन किया। वह स्वय शासन के विभिन्न विभागो की देखरेख करता था। वह विद्या, कला, धर्म और विद्वानो का संरक्षक था। वह स्वय भी कवि, नाटककार और तीन नाटको—'प्रियदर्शिका,' 'रत्नावली' और 'नागानन्द' का रचयिता था। 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के रचयिता बाणभट्ट तथा विश्व-ज्ञान के आचार्य जयसेन जैसे विद्वानो का वह आश्रयदाता था। हर्ष की राजसभा मे 'सूर्य शतक' का प्रणेता मयूर तथा विलक्षण चारण मातग दिवाकर भी थे। वस्तुत उसकी राजसभा दार्शनिकों, कवियो, नाटककारो और चित्रकारो से सुशोभित थी। वह राजकीय कोष का चतुर्थांश प्रख्यात मेधावी पुरुषो को पुरस्कृत करने मे व्यय करता था। उसने तत्कालीन प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा को भी अनन्त दान दिये थे। उसने कन्नौज मे एक सभा आमन्त्रित की थी जिसमे विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के विद्वान आचार्यगण उपस्थित हुए थे। उसने बौद्ध विहारो को अधिक दान दिये, अनेक स्तूप निर्मित कराये। उसकी प्रयाग की पञ्चवर्षीय सभाएँ, जिसमे वह हिन्दू तथा बौद्ध धर्म की धार्मिक क्रिया-विधियो को सम्पन्न करके बौद्धो, ब्राह्मणों और दरिद्रो मे अपना धन-द्रव्य वितरित कर देता था, विश्व के इतिहास मे बेजोड़ है। उसकी दानशीलता और उदारता जनसाधारण के हित के कार्यो मे भी अभिव्यक्त हुई। समस्त भारत मे नगरो और ग्रामो के दीर्घ जन-मार्गो पर उसने धर्मशालाएँ निर्मित करायी। उनमे भोजन की व्यवस्था की और यात्रियो, पथिको तथा पार्श्ववर्ती प्रदेशो के निर्धनो के हेतु वहाँ औषधियो सहित वैद्यो का प्रबन्ध किया। नरेश के रूप मे उसके कर्तव्य और सेवा के उच्च आदर्श थे। लोक-कल्याण के शुभ कार्य सम्पादन करने मे वह इतना उत्सुक था कि वह विश्राम भी नही करता था और भोजन तथा निद्रा को तो वह भूल ही गया था।

उसके राज्यकाल मे विद्वान चीनी आचार्य और भिक्षु ह्वानच्याग 630 ई० मे भारत मे आया था और 643 ई० तक रहा। उसने भारत की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक दशा का विस्तृत वर्णन किया है। उस समय तक्षशिला और पाटलिपुत्र भग्नावस्था मे थे। साम्राज्य की राजधानी कन्नौज ने पाटलिपुत्र का स्थान ले लिया था। प्रयाग दूसरा महत्त्वशाली नगर था, जहाँ हर्ष अपनी पचवर्षीय सभा का अधिवेशन करता था। वह हिन्दू धर्म के बडे केन्द्रो मे से था। हिन्दू धर्म का अन्य केन्द्र वाराणसी अनेक मन्दिरो से सुशोभित था। ब्राह्मण धर्म की तुलना मे बौद्ध धर्म मे पतन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे। ब्राह्मण धर्म क्रमशः अपना प्राचीन प्रभुत्व पद प्राप्त कर रहा था। तपस्वियो और योगियो के अनेक केन्द्र तथा दर्शनशास्त्र के अनेक मत स्थापित हो गये थे। ये ब्राह्मण धर्म की सक्रियता के प्रमाण है। जैन और बौद्ध धर्मो की भाँति ब्राह्मण धर्म भी स्पष्टत मूर्तिपूजक था। उस समय लोकप्रिय ब्राह्मण देवता आदित्य, शिव तथा विष्णु थे और मन्दिरो मे

उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती थी, जहाँ उनका विस्तृत पूजन-अर्चन होता था। वैदिक और महाकाव्य-युग के ब्राह्मण धर्म मे अन्तर था। इस काल के ब्राह्मण धर्म की विशेषता उसकी दार्शनिक शाखाओं तथा साधु-वर्गो की अनेकता मे थी। दार्शनिक सम्प्रदायो मे कपिल और कणाद के अनुयायी वेदान्ती, आस्तिक और लोकायात प्रमुख थे। साधु-वर्गों में केशलुंचक (मस्तक के बाल उखाड़ने वाले), पाशुपत, पचरात्रिक, भागवत, जुतिक आदि प्रमुख थे। इन विविध वर्गो के वसन, विश्वास तथा क्रिया-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न थे और सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य की खोज मे प्रयत्नशील थे। हिन्दू धर्म के पुनर्जीवित होने से बौद्ध धर्म के केन्द्र उजड़ गये थे। श्रावस्ती, वैशाली और कपिलवस्तु का अत्यन्त ह्रास हो गया था और वे अब छोटे-से ग्राम रह गये थे। बौद्ध धर्म की हीनयान और महायान— दो प्रमुख शाखाएँ थी। इनके अतिरिक्त 18 अन्य सम्प्रदाय खड़े हो गये थे जो परस्पर एक-दूसरे से अनेक बातो में भिन्न थे। जैन धर्म उतना अधिक प्रचलित न था। वैशाली, पौण्ड्र-वर्द्धन और समतट जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। जैनियों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जोर अधिक था।

समाज मे परम्परागत चार वर्ण— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र थे। प्रथम दो वर्ण अपनी शुद्धता और पवित्रता के लिए प्रसिद्ध थे। कसाई, मछुए और मेहतर अपवित्र धन्धे करने वाले नगर की प्राचीर के बाहर रहते थे। जब कभी भी वे कार्य-वश नगरों मे आते तो चुपचाप मार्ग के बायी ओर दबे-से चलते थे। साधारण मनुष्य की वेश-भूषा बहुत सादी थी। पुरुष वस्त्र का लम्बा टुकड़ा कमर से लेकर बगल तक के भाग पर लपेटते थे और कन्धों को खुला रखते थे। महिलाएँ लम्बा वस्त्र पहनती थी जो दोनो कन्धो को ढाकता हुआ नीचे तक ढीले रूप मे लटकता था। सर्दी की ऋतु मे तग सण्डी या फतवी पहनते थे। नर-नारी दोनो ही स्वर्ण के आभूषण, जैसे अँगूठियाँ, हार, भुजबन्द आदि स्वच्छन्दता से पहनते थे। शारीरिक और व्यक्तिगत स्वच्छता की दृष्टि से लोग बहुत ही पवित्र रहते थे। भोजन से पूर्व वे हाथ-मुँह धोते थे। बचा हुआ भोजन फिर समय पर नहीं परोसा जाता था, भोजन के बर्तनों को इधर-उधर लेते-देते नहीं थे, मिट्टी या लकड़ी के बर्तन का प्रयोग होने के बाद फेक देते थे, परन्तु स्वर्ण, चाँदी, ताँबा या लोहे की धातु के बने बर्तन स्वच्छ करने के बाद प्रयोग मे लाये जाते थे। हिन्दू संस्कृति के विकास मे यह एक नया तत्व था। दूध, मक्खन, शक्कर, चावल, पका हुआ अन्न और शाक प्रमुख भोजन था। लहसुन तथा प्याज का प्रयोग बहुत कम होता था। इन चीजों का प्रयोग करने वालो को नगर से बाहर कर दिया जाता था। मछली का भोजन निषिद्ध था। समाज के संगठन में जाति विधाता थी। उच्च वर्णों की महिलाएँ पर्दे का प्रयोग नही करती थी। कन्याओं का विवाह छोटी अवस्था मे कर दिया जाता था, विधवा-विवाह की प्रथा न थी, परन्तु सती-प्रथा का प्रचार था। स्त्री-शिक्षा उच्च जातियों तक ही सीमित थी। साधारण मनुष्यो के विषय मे चीनी यात्री कहता है कि लोग सत्यनिष्ठ, भोले और प्रतिष्ठित थे। सासारिक कार्यो मे वे धूर्त नही थे। परन्तु न्याय-दान मे ये उदार सहिष्णु थे। अपने आचार-विचार में वे विश्वासघाती या धोखेबाज नही थे। अपने वचन और प्रतिज्ञाओ के पक्के थे एव उनके व्यवहार में अधिक भद्रता, सौजन्यता और मधुरता थी। सास्कृतिक विकास की दृष्टि से हर्षकालीन भारत नैतिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष का युग रहा है।

भौतिक समृद्धि भी कम न थी। लोग धन-सम्पन्न और समृद्धिशाली थे। नगर समृद्धि और सम्पन्नता के केन्द्र थे। कन्नौज तथा अन्य नगरो का वर्णन चीनी यात्री ने किया है। उससे उस काल के भारत के भौतिक ऐश्वर्य का सुन्दर आभास मिलता है। कन्नौज के राजप्रासाद और नालन्दा के गगनचुम्बी विहार उस युग की निर्माणकला के उत्कृष्ट नमूने है। रेशम, सूत तथा ऊन के वस्त्र बनाये जाते थे। औद्योगिक जीवन विशाल संस्थाओ, समितियो और सघो मे सगठित था। शिल्पियो तथा व्यापारियो के सघ समाज के आर्थिक जीवन की नीव थे।

इस युग मे शिक्षा-प्रचार अधिक था। बौद्ध मठ धर्म ही नही वरन शिक्षा के भी केन्द्र थे। कन्नौज, गया, मुगेर, जालन्धर, मनीपुर आदि स्थानो मे अनेक मठ थे, जहाँ प्रसिद्ध विद्वान जिज्ञासुओ को शिक्षा देते थे। परन्तु इन सबमे नालन्दा का विहार समस्त एशिया मे प्रख्यात था। नालन्दा का यह विश्वविद्यालय जो इस युग मे अपनी उन्नति के शिखर पर था, अन्तरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त शिक्षण-केन्द्र हो गया था। नालन्दा मे शिक्षा केवल धार्मिक विपयो तक ही सीमित नही थी और न किसी एक धर्म या सम्प्रदाय से ही उसका सम्वन्ध था। धार्मिक सम्प्रदायो के अतिरिक्त शब्द-विद्या, चिकित्सा, दर्शन, भापा-विज्ञान आदि विविध विषयो की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा की ऊँची अट्टालिकाएँ, वहाँ के असाधारण व्याख्यान-चिन्तन द्वारा ज्ञान-वितरण, उसकी सुविस्तृत पाठ्य-पद्धति, दूर और समीप के उसके विद्यार्थियो का जमघट और इनसे वढकर इसके आचार्यो तथा छात्रो के उन्नत आचार तथा गम्भीर विद्वत्ता, तत्कालीन जगत के गर्व की वस्तु थी। इससे देश के नैतिक और शैक्षणिक स्तर का आभास मिलता है। नालन्दा के अतिरिक्त तक्षशिला और उज्जैन भी शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र थे। प्रथम चिकित्साशास्त्र के लिए और द्वितीय, गणित व ज्योतिष सहित ऐसिक ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। काची, वलभी और विक्रमशिला भी नालन्दा के समान ही महान और प्रसिद्ध थे।

ईसा वाद की सातवी शताब्दी भारत मे हर्प-युग नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय इतिहास मे हर्ष का राज्यकाल युग-विधायक है। यद्यपि गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य की अपेक्षा उसका साम्राज्य अल्पकालीन, कम विस्तृत और कम शक्तिशाली था, तो भी उसने साम्राज्यवादी विचारधारा को पुनर्जीवित किया और उत्तर भारत को गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात एकता प्रदान की। द्वितीय, उसके शासनकाल मे भारत और चीन के मध्य सास्कृतिक और धार्मिक सम्पर्क, जो कनिष्क के समय से प्रारम्भ हुआ था, अविरल गति से वना रहा। तृतीय, मौलिक भारतीय शिक्षा के विकास मे उसका शासनकाल युग-विधायक है। भारत ने विख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय के द्वारा विश्व मे अपना ज्ञान-विज्ञान वितरित किया। चतुर्थ, जैसा इस युग की साहित्यिक अभिव्यक्ति से प्रकट होता है, हर्ष का राज्यकाल सस्कृत के विद्वानो की कृतियो तथा साहित्यिक विकास की दृष्टि से एक स्पष्ट गौरवशाली युग है। अन्त मे, हर्ष स्वयं भारतीय नृपति की चिरकाल-सम्मानित परम्पराओ का प्रतीक था। वह महान शक्तिशाली सम्राट ही नही था, वरन अपनी प्रजा का उपकारक और हितचिन्तक भी था।

नालन्दा महाविहार-विश्वविद्यालय

ह्वेनसाग ने नालदा विश्वविद्यालय देखा और वह वहाँ रहा था। उसने उसका वर्णन भी किया है। इसलिए नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन यहाँ समीचीन होगा।

नालन्दा महाविहार मूलतः एक बौद्ध विहार था, जिसका विकास प्राचीन युग मे एक महान विश्वविद्यालय के रूप मे हो गया। मगध मे पाटलिपुत्र के पास लगभग पैंतीस किलोमीटर दूर दक्षिण-पश्चिम मे नालन्दा ग्राम मे चौथी सदी मे छोटा-सा बौद्ध विहार था। गुप्त सम्राट कुमार गुप्त (सन् 415–455) ने यहीं बौद्ध धर्म का एक महाविहार निर्मित किया। धीरे-धीरे यहाँ अन्य बौद्ध विहार और भवन निर्मित हुए। सहस्रो बौद्ध भिक्षु यहाँ निवास करते थे और बौद्ध धर्म का अध्ययन और प्रसार करते थे। कालातर मे यहाँ बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मो के शास्त्रो और दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन भी किया जाने लगा, विभिन्न विषय पढ़ाये जाने लगे, विविध विषयो पर वाद-विवाद, विचार गोष्ठियाँ और शास्त्रार्थ होने लगे और महान धर्माचार्य और विद्वान पडित यहाँ रहने लगे। फलत नालदा एक महान विश्वविद्यालय बन गया। उसकी ख्याति इतनी अधिक थी कि भारत के विभिन्न प्रदेशो के ही नहीं, अपितु भारत के बाहर से लका, तिब्बत, मगोलिया, चीन, कोरिया और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के प्रदेशो के तथा अन्य दूरस्थ देशो के विद्यार्थी भी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने एव अपने ज्ञान को पूर्ण करने के लिए आते थे। ह्वेनसाग, इत्सिग, हिएन चिन, चेहाग आदि बौद्ध चीनी यात्री व विद्वान नालन्दा मे आये, कई वर्षो तक ठहरे और बौद्ध धर्म के ग्रन्थो का अध्ययन किया।

नालन्दा विश्वविद्यालय के समस्त क्षेत्र के चारो ओर ईंटो की एक ऊँची दीवार थी जिसमे भव्य प्रवेश द्वार थे। इसके भीतर महाविहारो या महाविद्यालयो के भवन थे, एक ऊँची वेधशाला थी, बौद्ध आचार्यों, पुरोहितो और प्रचारको के निवास के लिए चार मजिलो वाले भवन थे। विद्यार्थियो के निवास के लिये अलग भवन थे। नालन्दा विश्वविद्यालय क्षेत्र के मध्य मे एक भव्य बौद्ध मदिर था जिसमे लगभग चौबीस मीटर ऊँची बौद्ध प्रतिमा थी। नालन्दा मे एक विशाल, पुस्तकालय भी था जिनके तीन भवन थे—रत्नसागर, रत्नादधि और रत्नरजक। रत्नोदधि नौ मजिल ऊँचा भवन था। इसमें धार्मिक और तांत्रिक ग्रन्थ रखे हुए थे।

नालन्दा मे दस सहस्र विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। पद्रह सौ से अधिक शिक्षक, आचार्य और विद्वान रहते थे। विद्यार्थियो से निवास, वस्त्र, चिकित्सा और अध्ययन के लिये किसी भी प्रकार का शुल्क नही लिया जाता था। इन सबके व्यय के हेतु नालन्दा को दो सौ से भी अधिक ग्राम दान मे दिये गये थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय के सभी पडित, शिक्षक, और आचार्य अपने चरित्र, नैतिकता, आदर्श, विद्वत्ता और सद्गुणो के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे। उनका दैनिक जीवन प्राचीन ऋषियो के समान था। आर्यदेव, नागार्जुन, धर्मपाल, चन्द्रपाल, स्थिरमति, प्रभाकरमित्र, गुणमति, अग, शीलभद्र, वसुबधु, जिनमित्र, दिग्नाग, भद्रसेन, ज्ञानचन्द्र, शांतिरक्षित आदि नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वान और आचार्य थे। इनका यश-गौरव भारत मे ही नही अपितु भारत की सीमा के बाहर के देशो में भी व्याप्त था। नालन्दा विश्वविद्यालय से अनेक आचार्य चीन, तिब्बत आदि अन्य देशो को बौद्ध धर्म का प्रचार करने हेतु गये थे। इनमे शांतिरक्षित, कमलशील, स्थिरमति, बुद्ध कीर्ति तिब्बत गये थे और कुमारजीव, परमार्थ सुभाकरसिंह और धर्मपाल चीन गये थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय मे बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों, दर्शन प्रणालियो, और विविध विषयो का भी अध्ययन-अध्यापन होता था। नालन्दा कोई धार्मिक या साम्प्रदायिक महाविद्यालय नही था अपितु यह यथार्थ मे एक विश्वविद्यालय था। जिसमे

स्नातकोत्तर महाविद्यालय थे। यहाँ सम्पूर्ण बौद्ध धर्म और दर्शन के ग्रन्थो के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के चारो वेदो, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, साख्य, योग, न्यायदर्शन, चिकित्सा विज्ञान, रसायन-विज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्र-मत्र, शिल्प आदि विभिन्न विषयो का अध्ययन भी होता था। व्याख्यान, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, व्यक्तिगत सहायता, निर्देश आदि के द्वारा शिक्षा दी जाती थी।

नालन्दा विश्वविद्यालय आठवी सदी तक पूर्णरूपेण अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय हो गया और ग्यारहवी सदी तक इसे यह महत्त्व प्राप्त होता रहा। बारहवी सदी मे तुर्को के भयकर आक्रमणो और अमानुषिक प्रहारो तथा आगज़नी व लूट से नालन्दा विश्वविद्यालय का अन्त हो गया।

राजपूत युग (700–1200 ई०)

हर्ष का अवसान उसके साम्राज्य के पृथक्कीकरण और विभिन्नीकरण के लिए सकेत था और भारत की राजनीतिक एकता पुन. विलुप्त हो गयी। हर्ष की मृत्यु के साथ प्राचीन भारत के इतिहास का अन्त तथा मध्य-युग का सूत्रपात हो जाता है। सातवी शताब्दी के मध्य से लेकर बारहवी शताब्दी के अन्त के युग तक समस्त उत्तरी भारत मे राजपूत सत्ता का उत्कर्ष और विकास होता है। इसलिए इस काल को राजपूत-युग कहते है। परन्तु स्वर्गीय श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार यह युग राजपूत-युग नही वरन मध्य-युग कहा जाना चाहिए क्योकि 'राजपूत' शब्द बहुत ही बाद के समय का है। कुछ भी हो, समस्त उत्तर भारत अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यो मे विभक्त हो गया था और प्रत्येक राजपूत शासक के अधिकार मे था। भारत का इतिहास अब उन अनेक राज्यों का अरुचिकर-दुखद वृत्तान्त हो जाता है जो लगातार निर्मित हो रहे थे, विलुप्त हो रहे थे और पुन. निर्मित हो रहे थे। इसलिए यह पृथक्कीकरण, विभिन्नीकरण और विभेद का युग है।

उस युग मे कन्नौज के प्रतिहार और गाहडवाल राजपूतो का, बुन्देलखण्ड मे चन्देल और बघेलखण्ड मे कलचुरी, गुजरात मे चौलुक्य, मालवा मे परमार, अजमेर और दिल्ली मे चौहान और मेवाड़ मे सिसोदिया राजपूतो का राज्य था। बगाल मे पाल और सेन वंश का राज्य था, सिन्ध मे कुछ राजकुल, कश्मीर मे करकोटक और उत्पल राजकुल कलिग मे केशरी और पूर्व मे गग, दक्षिण मे बादामी का चालुक्य, महाराष्ट्र और कन्नड़ मे मान्य-खेमका-राष्ट्रकूट, देवगिरि मे यादव राजवश आदि थे।

राजपूत युग की संस्कृति

इस्लाम के आगमन के पूर्व हिन्दू सांस्कृतिक जीवन—बाह्य-आतंक का अभाव और उसका प्रभाव—तोरमाण से गजनी के महमूद तक पॉच सौ वर्षो के युग मे सास्कृतिक जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बाह्य आक्रमण और आतक का अभाव था। विदेशी अभिधावन और आक्रमण के भय से भारत मुक्त था। सिन्ध को छोडकर, जिसे बगदाद के खलीफाओ ने कुछ वर्षो तक अपने अधिकार मे रखा था, भारत विदेशी आक्रमणो से निर्भय था। बाह्य सतर्कता के अभाव ने सातवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक हिन्दुओ को इतना अधिक दुर्बल कर दिया था कि वे देशभक्ति और राष्ट्रीय सम्मान की भावनाएँ विस्मृत कर चुके थे क्योकि ये भावनाएँ बाह्य आक्रमणो व अभिधावन के आतक से ही प्रोत्साहित होती हैं।

बाह्य आक्रमणों के आतंक के अभाव का अन्य प्रभाव भारतीयों का अपार दर्प था। अलबरूनी के वृत्तान्त से वह प्रमाणित होता है। वह लिखता है, "हिन्दू ऐसा विश्वास करते हैं कि उनके देश के समान दूसरा देश नहीं, उनके विज्ञान के समान दूसरे विज्ञान नहीं। हिन्दुओं की ऐसी धारणा हो चली थी कि ईश्वर ने आदेश किया कि उनका देश सुरक्षित रहे और कोई भी विदेशी वहाँ नहीं पहुँच सकता।" शान्ति की ऐसी भावना राष्ट्रीय महानता के स्रोत को शुष्क करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकती थी।

विदेशी सम्पर्क का अभाव और उसका घातक प्रभाव—इस युग का दूसरा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि इस काल में भारत विश्व के अन्य देशों से पृथक रहा। मध्य एशिया में राजनीतिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप भारत का पश्चिमी देशों और चीन से थल-मार्ग का जो सम्पर्क था, वह नष्टप्राय: हो गया था। समुद्र-मार्ग की प्रभुता भारत के तामिल राज्यों से निकल कर जावा-सुमात्रा के शैलेन्द्र नरेशों के हाथ में चली गयी थी। कोई भी परिचित देश विश्व के अन्य देशों से पाँच सौ वर्षों के दीर्घ काल तक इतना पृथक नहीं रहा, जितना भारत। इसका प्रभाव सुदूर तक प्रभावित करने वाला था। विचारों में पूर्णतया पृथक और विश्व में होने वाली घटनाओं के ज्ञान से वंचित होने पर भारतीय लोग अपना विचार करने में रुक गये थे। उनकी संस्कृति और सभ्यता क्षय होने लगी और विभिन्न असमान संस्कृतियों के उत्पादक सम्पर्क के अभाव में भारतीय संस्कृति में अस्वाभाविकता आ गयी थी। यह अवनति सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होने लगी थी।

सांस्कृतिक ह्रास की प्रवृत्तियाँ—वास्तव में भारतीय जीवन समस्त क्षेत्रों में प्रगतिशीलता, नवीनता, मौलिकता और दृष्टिकोण की विशालता का अन्त हो गया एवं गतिहीनता, प्रतिगामिता, शिथिलता और संकीर्णता की प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लगी। निरन्तर दो सहस्र वर्षों तक प्रगति करने के बाद भारत थकावट और वृद्धावस्था का अनुभव करने लगा। धीरे-धीरे यौवनकाल की क्रियाशीलता, उत्साह, साहस और शौर्य नष्टप्राय हो गये तथा वृद्धावस्था की कट्टरता, धर्म-प्रेम, रूढ़िप्रियता एवं अनुदारता प्रबल होने लगी। इस परिवर्तन में कई शताब्दियाँ लग गयी। समाज स्थूल हो गया और जाति-प्रथा अत्यन्त ही अपरिवर्तनशील हो गयी। पूर्व के युगों के विदेशियों को अपने में पूर्णरूपेण मिला देने वाला हिन्दू समाज इस युग में अपनी पाचन-सामर्थ्य खो बैठा। विदेशी तुर्कों और मंगोलों को अपना अंश बनाने में वह असमर्थ हो गया। साहित्य में काव्य-पद्धति की अवनति हो गयी। कालिदास की सुमधुर, सन्तुलित एवं प्रसाद-गुणसम्पन्न शैली का स्थान अप्राकृतिक, अलंकार और अतिशयोक्तिप्रधान शैली ने ले लिया। दार्शनिक अपनी समस्त विद्वत्ता प्राचीन ग्रन्थों का भाष्य लिखने और बाल की खाल निकालने में ही नष्ट करने लगे। बौद्धिक क्षेत्र में अन्वेषण और मौलिकता की प्रवृत्तियाँ विलुप्त हो गयी। वास्तुकला में सुरुचि नष्ट हो गयी और प्राचीन भव्य मन्दिरों के स्थान पर अब पाषाण पर नैतिक दूषितता और कुटिलता को अंकित किया गया जो उच्च वर्गों के नितान्त नैतिक पतन को प्रकट करती है। धर्म भी विषाक्त हो गया। धर्म में कर्मकाण्ड की वृद्धि और परलोकवाद की प्रधानता इस युग की विशेषता हो गयी। साधारण हिन्दू का जीवन व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदि के नियमों से जटिल हो गया। जीवन को क्षणिक और नश्वर मानकर उसकी उपेक्षा की जाने लगी और सांसारिक ऐश्वर्य और समृद्धि की निस्सारता को

अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। पूजन-अर्चन मे मांस, मछली, सुरा, नारी आदि प्रत्येक वस्तु के सम्मिलित करने की अनुमति हो गयी। शकराचार्य द्वारा स्थापित मठ कालान्तर मे विलासी-जीवन के केन्द्र हो गये। दक्षिण भारत मे देवदासी-प्रथा ने मन्दिरों में वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित किया जिसके परिणामस्वरूप नैतिक बन्धन ढीले हो गये।

राजपूत

अभिमानी कुलीनतन्त्र—राजपूत अपने आपको देश मे सबसे अधिक विशुद्ध रक्त का मानते थे और अपनी उत्पत्ति भारतीय देवी-देवताओं तथा वीर पुरुषो से बताते थे। शीघ्र ही अभिमानी कुलीनतन्त्र के रूप मे अनेक विशेषाधिकार सहित विकसित हो गये। कुलीनतन्त्र के अभिमान के साथ-साथ उनमे वीरता की भावना भी विकसित हुई और वे सदैव उत्कृष्ट कार्यो के हेतु अपने आपको अर्पण कर देते थे, यद्यपि एक राजपूत की प्रवल प्रवृत्ति युद्ध करने की होती थी परन्तु वह पराजित शत्रु के प्रति, जो शरण की भिक्षा माँगता था, दयालु रहता था। विजय होने पर कोई भी राजपूत कदाचित ही नृशसता के वे कार्य करता था जो मुस्लिम विजयी के साथ-साथ अवश्यम्भावी होते थे। वह युद्ध मे न तो कभी विश्वासघात करता था और न निर्धन तथा अनभिज्ञ लोगो को कष्ट पहुँचाता था। अपनी स्त्रियो का सम्मान करने मे राजपूत अपना गौरव समझते थे और उनकी तथा उनके सम्मान की सुरक्षा के हेतु वे अपने प्राणो की बाजी भी लगा देते थे। विदेशी आक्रमणकारियो का वे सबसे कड़ा प्रतिरोध करते थे; परन्तु एक बार वरिष्ठ शक्ति को आत्म-समर्पण कर देने पर और अपने अधिपति को स्वामिभक्ति का वचन देने पर वे उसके प्रति तब तक स्वामिभक्त रहते थे जब तक कि वह अधिपति अपना वचन अथवा करार स्वय भग न कर दे। युद्ध मे मृत्यु प्राप्त करना एक राजपूत के लिए गौरव की बात मानी जाती थी। पुरुषो के समान राजपूत स्त्रियो मे पतिभक्ति, सम्बन्धियो के प्रति स्नेह, सतीत्व, सत्यनिष्ठा और देशभक्ति जैसे नारीत्व के उच्च आदर्शो की अन्तर्प्रेरणा थी। वे संकट के समय विलक्षण साहस, महान विकल्प-कुशलता और दृढ सकल्प प्रदर्शित करती थी। उनका जीवन अत्यन्त साहस तथा शूरत्व का होता था। अपने सतीत्व और सम्मान की रक्षा के हेतु अग्नि मे भस्म होने (जौहर-प्रथा) और मृत पति की चिता पर सती होने के उनके अनेक ज्वलन्त उदाहरण है।

राजपूतों की गोत्रीय संकीर्ण देशभक्ति—अपने वश या कुल तथा गण के प्रमुख के प्रति राजपूत अत्यन्त ही स्वामिभक्त होते थे। अपने कुल या गोत्र के लिए अथवा अधिपति की मृत्यु या घातक आघात से रक्षा करने के लिए रणक्षेत्र मे मर जाने में राजपूत महान गौरव समझते थे और इसे व्यक्तिगत विजय मानते थे। राजपूत अभिमानी होते थे और शीघ्र ही अपमान मानकर प्रतिहिंसा के लिए उद्यत हो जाते थे। राजपूत इतिहास कुलो के हेतु रक्तिम सघर्षो से भरा पड़ा है जो कभी-कभी सूक्ष्म उपक्षेत्रीय कारण से भी हो जाते थे। जातीय अहकार की भावना इतनी प्रवल हो गयी थी कि छोटी-छोटी घटनाओ को लेकर उनमे परस्पर युद्ध हो जाया करते थे। अपनी इस सकीर्ण गोत्रीय भक्ति के कारण राजपूत समस्त भारत की देशभक्ति के प्रति उदासीन हो गये थे। परिणामस्वरूप, जब विदेशी शक्तियो ने भारत पर आक्रमण किया, तब राजपूत कुलो ने एक ही नेतृत्व मे सुसंगठित होकर प्रतिरोध करने की अपेक्षा प्राय व्यक्तिगत रूप से उनका सामना किया, जिसका फल देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। कतिपय अवसरो पर जब कभी वे सगठित हुए, उनकी एकता समस्त

भारत के राजनीतिक एकीकरण की दृष्टि से प्रेरित नहीं थी, अपितु संकटग्रस्त राजपूत बन्धु की सहायता के निमन्त्रण के प्रत्युत्तर में थी। यदि वे अपने पारस्परिक वैमनस्य व ईर्ष्या-द्वेष को त्याग कर साधारण शत्रु के विरुद्ध किसी प्रकार के दीर्घकालीन संघ में संगठित हो जाते तो निस्सन्देह भारत का इतिहास दूसरे रूप मे ही लिखा जाता।

राजपूत शासन-- राजपूतों का शासन सामन्तवादी था। समस्त राज्य जागीरो में विभक्त था जिनके अधिपति जागीरदार भी राजा के कुल या गोत्र के ही होते थे। राज्य की शक्ति और सुरक्षा इन जागीरदारो या सामन्तो पर ही अवलम्बित थी। ये सामन्त, जब कभी उनसे माँग की जाती थी, अपने राजा को सैनिक सहायता देते थे। व्यक्तिगत स्वामिभक्ति और सेवा की भावना से ये अपने स्वामी से सम्बन्धित थे और संकटकाल तथा कठिनाई के समय अपनी स्वामिभक्ति को प्रदर्शित व प्रमाणित करने के लिए सदैव उत्सुक रहते थे। उन्हे अपने स्वामी को कुछ निश्चित कर भी देने पडते थे और युद्ध के समय सैनिक सहायता भी। उन सामन्तो के विविध वर्ग थे और प्रत्येक वर्ग के शिष्टाचार व व्यवहार के नियम निर्दिष्ट थे जिनका पालन साव-धानी व सतर्कता से करना अनिवार्य था। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। इसके अतिरिक्त सामन्तो से प्राप्त होने वाले वार्षिक कर एव व्यापार तथा उद्योग-धन्धो पर लगाये हुए करो से भी अच्छी आय होती थी। इस प्रकार का शासन दक्ष नही हो सकता था। यह व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करता था और राज्य में सभी के हेतु राजनीतिक तत्त्वो के संगठन मे बाधक था। राजा इस शासन-व्यवस्था के शिरो-भाग पर था। वह निरंकुश ही नही स्वेच्छाचारी भी होता था। प्राचीन काल की प्रचलित सभाएँ व समितियाँ सर्वथा विलीन हो गयी थी। राजा अपने को ईश्वरीय अंश समझता था। जब तक वह दृढ़ और शक्तिशाली रहता, शासन-संचालन यथाविधि चलता, परन्तु दुर्बल होने पर उसकी राजनीतिक सत्ता नगण्य हो जाती और सामन्त अपनी सत्ता स्थापित कर लेते थे। युद्ध करना राजा का कर्तव्य समझा जाता था। फलत वैमनस्य, संग्राम व संघर्ष परम्परागत हो गये थे। युद्ध भयंकर होते थे। ग्रामो व नगरो को जलाकर भस्मीभूत कर दिया जाता था और पराजित राजा के अधिका-रियो को वन्दी बना लिया जाता था। प्रोत्साहन व प्रेरणा देने के लिए राजसभा व युद्धो मे भाट, कवि व चारण रहते थे।

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थो, 'राजतरंगिणी' और 'विष्णु धर्मशास्त्र' मे नियमित नौकर-शाही के उल्लेख हे। इनमे एक के ऊपर एक अधिकारीगण थे। अधिकारियो के लिए 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग होता था। आठवी सदी के मध्य में अंकित किये हुए अनेक अभिलेखो मे 'कायस्थ' नामक अधिकारियो का उल्लेख है। प्रमुख रूप से अधिकारी-वर्ग की भर्ती ब्राह्मणो और शूद्रो की उन कतिपय जातियो मे से होती थी, जिनकी शिक्षा की कुछ परम्पराएँ थी। राजा व प्रजा मे घनिष्ठ सम्बन्ध नही था। वास्तव में समाज मे दो वर्ग थे। प्रथम वर्ग राजपूत शासको का था जो आत्म-सम्मान, वंश-परम्परा व कीर्ति तथा धर्म के नाम पर युद्ध करना जीवन का एक प्रमुख धर्म मानता था। द्वितीय वर्ग जनसाधारण का था जो निरन्तर संग्रामो, सामन्तो व नरेशों के ऐश्वर्य व भोग-विलासमय जीवन का व्यय सहन करता था।

यद्यपि राजपूत राज्यो मे ऐसी सुदृढ शासन-व्यवस्था का विकास न हो सका जो दीर्घकालीन शान्ति और सुरक्षा स्थापित कर सके, परन्तु फिर भी शासन-केन्द्रो से अति दूर ग्रामो मे स्थानीय स्वायत्त-शासन शान्तिपूर्वक चलता रहा। राजकुलों का

उत्कर्ष और पतन ग्रामों मे स्थानीय जीवन की धाराओ को प्रभावित न कर सका। ग्रामो का प्रमुख प्रथानुमार अपने कर्तव्यो का पालन करता रहा। यह राज्य का भूमि-कर सग्रह करता था और ग्राम की पचायत दीवानी और फौजदारी मुकदमो का न्यायदान करती थी। इसी प्रकार गाँव के पटेल और पटवारी भी अपना-अपना कार्य करते थे।

सामाजिक जीवन—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। ब्राह्मणो ने जाति-बन्धन दृढ कर दिये और जाति की अपरिवर्तनशीलता मे वृद्धि कर दी। परिणामस्वरूप, चार मूल वर्णो के स्थान पर, जिसमें हिन्दू समाज विभक्त था, अब अनेक नवीन जातियो और उपजातियों का प्रादुर्भाव हो गया। ये जातिया जन्म, उद्योग-धन्धे, निवासस्थान तथा ऐसे ही तत्त्वो से सम्बन्धित हो गयी। सम्भवतः विभिन्नीकरण की यह प्रक्रिया ब्राह्मण जाति से प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ मे ब्राह्मण विभिन्न जातियो मे विभाजित नहीं थे। उनमे शाखा और गोत्र का ही भेद था। पर अब प्राचीन काल के ऋग्वेदी और यजुर्वेदी ब्राह्मणो के अतिरिक्त उनकी उपजातियाँ परिवर्द्धित हुई और वे अपनी प्रादेशिक सीमाओ के अनुसार प्रसिद्ध हो गयी, जैसे कन्नौजी, गौड, तेलगु, कोकणस्थ, सारस्वत, ब्राह्मण आदि। इनका अनुकरण क्षत्रियो और वैश्यो ने भी किया और इनमे भी इस प्रकार की उपजातियाँ बनने लगी। कालान्तर मे उद्योग-धन्धो के आधार पर अनेक जातियाँ निर्मित हो गयी, जैसे जुलाहे, लुहार, सुनार, तेली, दर्जी, मछुए, ग्वाले, बढई, रस्सी बनाने वाले, झाडू व टोकनिया बनाने वाले, आदि। वास्तव मे उनका उदय शिल्पी-सघो के रूप मे हुआ था और बाद मे स्पष्ट उपजातियाँ मानी जाने लगी। देश के सामाजिक और राज-नीतिक प्रभाव पर इन सबका दुष्प्रभाव हुआ क्योकि प्रत्येक उपजाति की सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि उसके हित तक ही सीमित हो गयी। इसके अतिरिक्त सामा-जिक प्रगति बन्द हो गयी और इन उपजातियो के बन जाने से हिन्दू समाज की प्राचीन पाचन-शक्ति और आत्मीयकरण की प्रवृत्ति लगभग विलुप्त हो गयी। पूर्व काल मे जिस प्रकार विदेशी जातियाँ हिन्दू समाज मे घुल-मिल गयी थी, वैसा अब सम्भव न रहा था। जाति-बन्धन इतने कठोर थे कि उनमे नवीन तत्त्वो का प्रवेश निषिद्ध हो गया, पर उद्योग-धन्धो की स्वतन्त्रता अब तक बनी हुई थी। क्षत्रिय केवल शस्त्र ही नही चलाते थे वरन लेखन द्वारा महत्त्वशाली कृतियो की रचना भी करते थे। चौहान राजा विग्रहराज का 'हरिकेल नाटक' आज भी शिलाओ पर अंकित उपलब्ध है; राजा भोज का विद्यानुराग और विद्वत्ता का प्रमाण आज भी धार की भोजशाला मे विद्यमान है, पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य ने गणितशास्त्र के प्रकाण्ड पडित होने मे 'गुणक' पदवी प्राप्त की थी। वैश्य भी अनेक कर्म करते थे। वे शासन-सचालन से अधिकारी व राज-मन्त्री होते थे। वे सेनापति बनते एवं युद्धो मे भी भाग लेते थे, पर उन्होंने शिल्पकला के कार्य छोड दिये थे जिन्हे अब शूद्र करने लगे थे।

समाज मे महिलाओ का सम्मान था। तत्कालीन साहित्य मे ऐसे कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नही है जो उस समय दृढ पर्दा-प्रथा के अस्तित्व के पक्ष मे हो। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियो ने कला और विज्ञान को अपनी देन प्रदान की और विद्वानों के साथ वे तर्क-वितर्क करती थी। कुलीन परिवारो की स्त्रियाँ वेदाध्ययन से वंचित होने पर भी मौलिक साहित्य और दर्शन का अच्छा अभ्यास करती थी। हर्ष की भगिनी राज्यश्री प्रकाण्ड विदुषी थी। एक अवसर पर शकराचार्य को मण्डन मिश्र

की महान विदुषी पत्नी ने शास्त्रार्थ मे निरुत्तर कर दिया था। संस्कृत के प्रसिद्ध राजशेखर की धर्मपत्नी अवन्तिसुन्दरी भी अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध थी। इस युग की सस्कृत साहित्य की कवयित्रियाँ इन्दुलेखा, मारुला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्मश्री, गदालक्ष्मा और लक्ष्मी थी। चित्रकला के अतिरिक्त नृत्य व सगीत की शिक्षा भी समाज के उच्च वर्णों की स्त्रियो को दी जाती थी और नरेशों तथा योद्धाओं की कन्याओ को घुडसवारी की शिक्षा भी दी जाती थी। कतिपय नारियों ने इस युग मे शासन-व्यवस्था तथा युद्ध-कौशल जैसे कार्यो मे विशेष दक्षता प्राप्त की थी। दक्षिण भारत के पश्चिमी सोलकी नरेश विक्रमादित्य की बहन अक्कादेवी वीर प्रकृति की ही नही थी, अपितु शासन-कार्य मे भी प्रवीण थी। वह चार प्रदेशो की शासिका थी और उसने जिला बेलगाँव के गोकागे के किले पर आक्रमण कर उसे घेर लिया था।

बाल्यकाल मे ही विवाह करने की प्रथा का प्रचार हो रहा था। विधवा-विवाह निषिद्ध था और विधवाएँ जीवन भर भयकर यातनाएँ सहन करती थी। उनका जीवन तपस्विनी जैसा था। सती-प्रथा का विचार दिन-प्रतिदिन अधिक व्यापक होता जा रहा था। अनेक बार कन्याओ के उत्पन्न होते ही उन्हे मार डाला जाता था।

राजपूत लोग अपनी स्त्रियो से प्रेम करते और उनका सम्मान करते थे। राजपूत महिला स्वतन्त्रता और क्षत्रियो की प्राचीन स्वयवर की प्रथा का आनन्द उठाती थी। उसके हृदय मे नारीत्व के उच्च आदर्शो की प्रेरणा थी। वह अपने आचार-विचार मे विशुद्ध थी, सतीत्व का पालन करती थी, देशभक्ति की भावना रखती थी, और विदेशी विजेता के हाथो दूषित होने की अपेक्षा 'जौहर' कर अपने धर्म और सतीत्व की रक्षा करती थी। परन्तु साधारण स्त्रियो की पराधीनता और परवशता इस युग मे निरन्तर बढती ही गयी, दाम्पत्य के स्वत्वो मे विषमता आने लगी और स्त्री का पद निम्न स्तर पर हो गया। उन्हे वेदाध्ययन के अधिकार से वचित कर दिया गया। इसी समय धीरे-धीरे यह मत भी प्रतिपादित हुआ कि स्त्री सदैव परतन्त्र रहनी चाहिए, उसे दुश्चरित्र पति की भी सेवा करनी चाहिए। परिणामस्वरूप, धीरे-धीरे स्त्रियो को शूद्रो के समान समझा जाने लगा।

खान-पान मे अहिंसा का बौद्ध सिद्धान्त लोगो के हृदयो पर अभी भी अपना प्रभुत्व जमाये हुए था। अतएव लोग भोजन मे मास का प्रयोग नही करते थे; परन्तु उच्च जातियाँ स्वच्छन्दता से मद्यपान करती थी। राजपूतो मे अफीम का प्रयोग अत्यधिक था जिससे उनकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी थी। धूम्रपान का प्रचार सम्भवतः नही हुआ था परन्तु पान का प्रचलन था।

संक्षेप मे, हिन्दू समाज की आत्मीयकरण की प्रवृत्ति विलुप्त हो गयी थी। लोग अनभिज्ञता मे रखे जाते थे व अपवित्र, अवाछनीय अन्धविश्वासो मे पाले जाते थे और अगणित त्यौहारो द्वारा प्रसन्न किये जाते थे। उपजातियो की सख्या और जाति-प्रथा की अपरिवर्तनशीलता की वृद्धि और सभी प्रकार के आध्यात्मिक तथा ऐहिक ज्ञान के संरक्षक होने का दावा करने वाले ब्राह्मणो की प्रभुता ने जनता के राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को संकुचित कर दिया और बन्धुत्व की भावना के विकास मे बाधा पहुँचायी। इस युग मे धीरे-धीरे हिन्दू समाज मे अनुदारता, असहिष्णुता, अन्ध-रूढिवादिता एव शिथिलता आ गयी थी। उसकी प्राचीन व्यापकता व

प्रगतिशीलता मन्द हो गयी थी और समाज मे अब विदेशियों को अपनाने की शक्ति व सामर्थ्य नही रही थी।

साहित्य—राजपूत नरेश साहित्य और कला के बडे सरक्षक थे। कुछ राजपूत-राजा तो स्वय यशस्वी लेखक थे। राजा मुंज मे उच्च श्रेणी की काव्य-प्रतिभा थी। धार के राजा भोज चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, धर्म, वास्तुकला, ललितकलाओ आदि विविध विषयो के ग्रन्थो के प्रणेता थे। उनकी राजसभा पद्मगुप्त, हलायुध, धनंजय, अमितगति आदि जैसे प्रख्यात साहित्यिको से सुशोभित थी। राजकीय सरक्षण मे विद्वानो और लेखको ने उपयोगी ग्रन्थो की रचना की और काव्य, नाटक, कानून, राजनीति, इतिहास, विज्ञान और चिकित्सा पर कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ इस युग मे लिखे गये। इस समय के काव्य-ग्रन्थो मे भट्ट का 'रावण वध', माघ का 'शिशुपाल वध' तथा श्री हर्ष का 'नैषध चरित' उल्लेखनीय है। मुक्तक और गीत-काव्य की रचना भी इस युग मे हुई थी। भर्तृहरि के शृंगार, वैराग्य और नीतिशतक मुक्तक-काव्य के उत्तम उदाहरण है। महाकवि जयदेव का 'गीत-गोविन्द' अद्वितीय गीत-काव्य है। इसके रमणीक गीतो की कोमल-कान्त पदावली मे कृष्ण तथा वृन्दावन की गोपियो का प्रेम-सम्बन्ध है। नाटको के लेखको मे 'मालती-माधव', 'उत्तर रामचरित', 'महावीर चरित' के लेखक भवभूति अद्वितीय थे। वेद और प्रतिष्ठा मे वह कालिदास से ही नीचे है। दूसरे नाटयकारो मे 'वेणीसहार' के लेखक भट्टनारायण, 'अनर्घ राघव' के मुरारि और 'कर्पूरमजरी' के राजशेखर प्रमुख थे। सस्कृत गद्य के सबसे बडे लेखक 'वासवदत्ता' के प्रणेता सुबन्धु, 'कादम्बरी' और 'हर्ष चरित' के लेखक बाणभट्ट और 'दशकुमार चरित' के प्रणेता दण्डी थे। पद लालित्य की दृष्टि से दण्डी तथा वर्णन कौशल की दृष्टि से बाणभट्ट अद्वितीय रहे। इसके अतिरिक्त 'धनपाल चरित,' 'तिलक मंजरी' तथा 'यशस्तिलक' भी इस युग के सुन्दर उदाहरण है। इतिहासकारो मे 'राजतरगिणी' के लेखक कल्हण और 'विक्रमाक चरित' के रचयिता बिल्हण और 'रामचरित' के सॉध्यकारनदित तथा 'नवसाहसाक चरित' के पद्मगुप्त परिमल उल्लेखनीय है। 'रामचरित' मे पाल-वश का इतिहास रामपाल के समय तक दिया हुआ है, 'नवसाहसाक चरित' मे राजा भोज के पिता सिन्धुराज का चरित्र है, और 'विक्रमांक चरित' मे चालुक्य-वंश के विक्रमादित्य षष्टम का जीवन-चरित्र है तथा 'राजतरगिणी' मे बारहवी सदी तक कश्मीर के इतिहास का सुन्दर एव सरस वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज विजय' के लेखक जगनक और 'कुमारपाल चरित' के लेखक हेमचन्द्र भी उल्लेखनीय है। कथा-साहित्य मे भी प्रगति हुई। इस क्षेत्र मे क्षेमेन्द्र ने 'वृहत्कथा मजरी' तथा सोमदेव ने 'कथा सरित्सागर' की रचना की। पिछला ग्रन्थ बहुत बडा है और कथाओ का अमूल्य भण्डार है। इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ 'वैताल पचविंशति', 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका', और 'शुक सप्तति' है। अलकार-शास्त्र के विकास द्वारा काव्य के विविध अगो, जैसे रस, ध्वनि, गुण का दोष और अलकारो का सूक्ष्म विवेचन किया गया। दण्डी, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त मम्मट आदि विद्वानो ने काव्यशास्त्र को प्रौढता तक पहुँचाया। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता मे सहज-सौन्दर्य की अपेक्षा अलकारप्रधान शैली प्रमुख हो गयी। व्याकरण मे जयादित्य और वामन ने पाणिनीय सूत्रो पर 'काशिकावृत्ति' के नाम से भाष्य लिखा। भर्तृहरि ने 'वाक्य प्रदीप', 'महाभाष्य दीपिका' और 'महाभाष्य त्रिपदी' नाम के ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त शर्व वर्मा का 'कान्तन्त्र' व्याकरण ग्रन्थ लोकप्रिय रहा। सिद्धराज की राजसभा के विद्वान हेमचन्द्र ने भी 'सिद्धहेम' नामक प्रसिद्ध

व्याकरण ग्रन्थ लिखा। कानून, चिकित्सा और ज्योतिष के लेखकों में हिन्दू कानून के प्रसिद्ध भाष्य 'मिताक्षरा' के प्रणेता विज्ञानेश्वर, 'अष्टांग हृदय' के लेखक प्रसिद्ध वैद्य वाग्भट्ट और 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के लेखक भास्कराचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग में राजनीतिशास्त्र पर प्रसिद्ध रचना 'शुक्रनीति' है। कामशास्त्र में वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर टीकाओं की रचना हुई और स्वतन्त्र रूप से कोका पण्डित द्वारा 'कोकशास्त्र' लिखा गया। संगीतशास्त्र पर भी शारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' लिखा। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में इस युग में नवीन मौलिक स्मृतियों की रचना तो नहीं हुई परन्तु प्राचीन स्मृतियों पर टीकाएँ और भाष्य लिखे गये। विभिन्न सम्प्रदायों से साम्प्रदायिक साहित्य की रचना भी इसी काल में हुई। इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक साहित्य का भी निर्माण हुआ जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण शंकराचार्य के वैदिक भाष्य थे। इस युग में साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और वह है प्रादेशिक भाषाओं का उत्कर्ष। राजपूत भाट अपने स्वामियों, संरक्षकों और उनके पूर्वजों के वीरतापूर्ण कार्यों को जनता की उत्तेजित भाषा में गाते थे। इन भाटों में 'पृथ्वीराज रासो' का लेखक चन्द वरदाई सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में उसके संरक्षक नरेश पृथ्वीराज के वीरतापूर्ण कार्यों का दिग्दर्शन है।

शिक्षा—इस युग में शिक्षा-पद्धति प्राचीन ढंग की ही थी। आचार्यों के आश्रम में जाकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे किन्तु बौद्ध विहार भी अब धीरे-धीरे शिक्षा-प्रचार का कार्य करने लगे थे। बंगाल और बिहार ऐसे विहारों से भरा पड़ा था। इनमें नालन्दा सबसे अधिक प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त पूर्वी बिहार में विक्रमशील, पूर्वी बंगाल में विक्रमपुर, उत्तरी बंगाल में जगधल और पटना जिले में औदन्तपुरी भी शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे, जहाँ धार्मिक व लौकिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

शिल्प और कला—राजपूत युग में वास्तुकला की विविध शैलियों का सुन्दर विकास हुआ। वस्तुतः भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकला इस युग में अपने अति मनोहर रूप में अभिव्यक्त हुई। गुप्त-युग और इस युग की कला में विभेद यह है कि गुप्तयुगीन कला में ओज, स्वाभाविकता और नवीनता थी। इस युग में इनका अभाव रहा, पर लालित्य की वृद्धि हुई। कला-मर्मज्ञों ने इस कला के विकास को दो भागों में विभाजित किया है—प्रथम, पूर्व-राजपूतकाल या पूर्व-मध्यकाल (600–900 ई०) और उत्तर-राजपूतकाल या उत्तर-मध्यकाल (600–1200 ई०)। पूर्वार्द्ध युग में मामल्लपुरम के रथ और प्रतिमाएँ, एलोरा का कैलाश मन्दिर व मूर्तियाँ और धारापुरी (एलिफेण्टा) टापू की भव्य मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं। उत्तर-मध्यकाल में शिल्पकला के पाँच विशिष्ट केन्द्र थे—खजुराहो, उड़ीसा, राजस्थान, दक्षिण के चोल और होयसल राज्य। प्रथम युग में कला समुन्नत रही परन्तु दूसरे युग में कला को अलंकृत करने पर अधिक महत्त्व दिया गया और अलंकरणों की बाहुल्यता रही। इसके अतिरिक्त कला में प्राचीन कला की मौलिकता अदृश्य हो गयी। शिल्पीगण वास्तुकला की प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण करते हुए अपनी कृतियों को अत्यधिक भड़कीला बनाने में सतत प्रयत्नशील रहे। इसलिए यह कहा गया है कि यह युग कला-सौन्दर्य का नहीं किन्तु चमत्कार का है। इस काल की कलाकृतियों में कला नहीं अपितु कला का भास है। कुछ स्थलों पर इस युग की कला पर तन्त्रवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जिसमें अश्लील मूर्तियाँ निर्मित हुईं। इसी प्रकार चित्रकला भी प्रगति और विकास की अपेक्षा निम्नाभिमुख हुई।

इस युग के राजपूत शासक योग्य निर्माता थे। उनके बनाये हुए सिंचाई के साधन, घाट, तालाब, बावडी, किले, परकोटे, बुर्ज, तोरण-द्वार तथा राजप्रासाद उनकी भवननिर्माण-कलाकौशल का सुन्दर परिचय देते हैं। दुर्ग-निर्माणकला इस युग में उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। चित्तौड़, रणथम्भौर, माण्डू, ग्वालियर, जोधपुर के दुर्ग व उनकी शिल्पकला और इंजीनियरिंग-दक्षता के प्रबल प्रमाण हैं। राजपूतो के राजप्रासादो की निर्माणकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना ग्वालियर में मानसिंह का महल, उदयपुर में पिछौला की झील के महल, और आम्बेर (जयपुर के महल) हैं। राजपूतो के अनेक राजप्रासाद सुन्दर कृत्रिम झीलो के मनोरम तटो पर बने हुए है परन्तु जोधपुर का दुर्ग उच्च और अभेद्य चट्टान पर निर्मित है।

किन्तु इस युग की शिल्पकला के प्रमुख स्मारक तो मन्दिर हैं जिनके निर्माण में राजपूत नरेश खुले हाथ से दान देते थे। यद्यपि आक्रमणकारी विध्वंसकों द्वारा अनेक मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये हैं परन्तु पर्याप्त अध्ययन के लिए अनेक मन्दिर बच भी गये हैं। इन मन्दिरो में तीन प्रकार की शिल्प-शैली अर्थात् भारतीय-आर्य, चालुक्य और द्राविड प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। भारतीय आर्य-प्रणाली के मन्दिरों मे मूर्ति-प्रकोष्ठ का ऊपरी भाग गुम्बदाकार होता है। यह गुम्बद वक्ररेखात्मक बुर्ज के समान होता है जो ऊपर की ओर छोटा होता चला जाता है। मूर्ति-प्रकोष्ठ के चतुर्दिक परिक्रमा के लिए मार्ग होता है एवं ऊपर उच्च वर्तुलाकार शिखर होता है जो मन्दिर के गौरव और महिमा को अधिक प्रभावोत्पादक कर देता है। शिखर के ऊपर आमलक और उसके ऊपर कलश और ध्वज-दण्ड होता है। मूर्ति-प्रकोष्ठ के सम्मुख एक बडा सभा-मण्डप होता है जिसमे भक्तगण एकत्र होते है। इसके ऊपर भी गोल गुम्बद होता है। उडीसा मे भुवनेश्वर का 'लिंगराज' मन्दिर और बुन्देलखण्ड में खजुराहो का 'महादेव' मन्दिर आर्य-प्रणाली के उदाहरण हैं। उडीसा के मन्दिरो की अपनी एक शैली रही है। इस उडीसा-शैली के मन्दिरो मे चार प्रमुख भाग होते हैं—(1) श्री मन्दिर या विमान, (2) जगमोहन या स्तम्भ वाला सभा-मण्डप, (3) नट मन्दिर और (4) भोग मन्दिर। छोटे-मोटे मन्दिर व भवन प्रमुख मन्दिर के चारो ओर होते है। भुवनेश्वर के मन्दिर का शिखर 54 मीटर ऊँचा है और खजुराहो के मन्दिर का उच्च शिखर अनेक छोटे-छोटे शिखरो से मिलाकर निर्मित किया गया है और ऊपर से नीचे तक विविध प्रकार के अलंकरणो और प्रतिमाओ से सुशोभित किया हुआ है। दूसरी शैली, चालुक्य-प्रणाली के मन्दिरो की विशिष्टता यह थी कि ये मन्दिर वर्गाकार नही किन्तु तारकाकृति या बहुकोणीय हैं। इनके आधार उच्च कुर्सियाँ हैं जिसका सदुपयोग शिल्पियों ने मूर्तियाँ अंकित करने के लिए किया। इसके शिखर पिरामिडाकार हैं, परन्तु भारतीय आर्य-प्रणाली की अपेक्षा नीचे है। चालुक्य-शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हलेबिद का होयसलेश्वर का प्रख्यात मन्दिर और दूसरा बेलूर का मन्दिर है। द्राविड-शैली के मन्दिरों मे मूर्ति-प्रकोष्ठ का ऊपरी भाग या विमान चौकोर तथा अनेक मंजिल वाला होता है। ऊपर की प्रत्येक मंजिल नीचे की मंजिल की अपेक्षा छोटी होती है। आर्य-प्रणाली के समान उच्च कोणाकार शिखर न होकर इसमे चपटे गुम्बद होते हैं और मन्दिरो का आकार धरातल के समानान्तर मालूम होता है। इसके अतिरिक्त मूर्ति-प्रकोष्ठ के सम्मुख विशाल मण्डप या कई स्तम्भों वाले हॉल होते है। मन्दिर के चतुर्दिक दीवारें हैं जिनके घेरे मे द्वार होते है। इनमें से एक या अधिक द्वारो पर अत्यन्त ही उच्च शिखर के समान गोपुरम होता है। शिखरो और गोपुरम को मूर्तियो और अलंकरणो से सुशोभित किया गया है। कभी-

कभी गोपुरम इतने भव्य, विशाल और ऊँचे होते हैं कि मन्दिर के, विमान या मूल शिखर उससे दब-जाते है। मन्दिर के घेरे में मध्य में जल का एक विशाल तालाब होता है जिसका जल भक्त व दर्शकगण पूजन-अर्चन के काम मे लेते हैं। मन्दिरों में विस्तृत आँगन, परिक्रमा-मार्ग, स्तम्भ वाले मण्डप तथा अन्य छोटे-मोटे गृह भी होते है जिनका उपयोग मन्दिर के लिए किया जाता है। इस द्राविड-शैली के उदाहरण मामल्लपुरम के 'रथ' (मन्दिर), तंजौर का शिव मन्दिर, काँची के पल्लव नरेशों द्वारा निर्मित मन्दिर और कृष्णा नदी के तट पर ठोस चट्टानों से काटी हुई प्रसिद्ध गुफाएँ है।

प्रसिद्ध मन्दिर—इस युग के बचे हुए मन्दिरो में से अधोलिखित मन्दिर प्रमुख है। सौराष्ट्र मे सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है जिसे महमूद गजनवी ने सन् 1025 में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था परन्तु भारत के केन्द्रीय शासन की प्रेरणा से इस मन्दिर का नव-निर्माण हो गया है। उड़ीसा मे भुवनेश्वर का 'लिगराज' मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और समुद्रतट पर पुरी मे जगन्नाथ मन्दिर उल्लेखनीय है। ये इस युग की कला के दिव्य नमूने है। कोणार्क का मन्दिर रथ के आकार का है जिसे अत्यन्त सजीव अश्व खीच रहे है। इस रथ मे बड़े विशाल पहिये है। इन सबकी विशालता एव अलकरण के बाहुल्य ने मन्दिर को भव्य बना दिया है। परन्तु उडीसा के इन मन्दिरो मे अश्लील मूर्तियो की भरमार है। राजपूताना मे आबू और सौराष्ट्र में गिरनार तथा शत्रुंजय के जैन मन्दिर भी इस काल की स्थापत्यकला के सर्वोत्कृष्ट नमूने है। आबू मे दो जैन मन्दिर हैं—प्रथम विमलशाह नामक वैश्य ने 1030 ई० मे और दूसरा तेजपाल ने 1232 ई० मे बनवाया था। दोनो ही सम्पूर्णतया विशुद्ध संगमरमर के बने हुए है। तेजपाल मन्दिर का केन्द्रीय गुम्बद और श्वेत सगमरमर का सभामण्डप शिल्पियों की सर्वोत्कृष्ट कला-कुशलता प्रदर्शित करते है। दोनो मन्दिरों मे अलकरणो की सुन्दरता और बाहुल्य दर्शको को मंत्र-मुग्ध कर देते है। गुजरात-अन्हिलवाड़ा के सोलकी नरेशो के सरक्षण मे भी सुन्दर शिल्प-कलाकृतियों का निर्माण हुआ।

दक्षिण मे द्राविड़-प्रणाली के मन्दिर पल्लव नरेशों ने निर्मित कराये। इनमें से सबसे प्रमुख मामल्लपुरम मे नरसिह वर्मन द्वारा निर्मित सात मन्दिर है। ये विशालकाय चट्टानों से काटे गये है। इसी प्रकार एलौरा मे विशाल चट्टान को काटकर बनाया हुआ भव्य कैलाश मन्दिर भारतीय शिल्पकला का अद्वितीय उदाहरण है। इस मन्दिर मे अनेक पौराणिक दृश्य भी अकित किये गये है। इसी क्षेत्र मे चालुक्य-शासन-काल के बने हुए बादामी एवं ऐहोल के प्रसिद्ध मन्दिर है। इसके अतिरिक्त काची और तजौर के मन्दिर भी अपनी अद्वितीय विशालता, भव्यता एव कला के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पाण्डय, कदम्ब, होयसल तथा यादव प्रत्येक राजवश ने अपने-अपने राज्य के अन्तर्गत अनेक मन्दिर निर्मित कराये। दक्षिण भारण के चोल, होयसल, एलौरा आदि के मन्दिरो का वर्णन ग्यारहवे अध्याय मे हो चुका है।

मूर्तिकला—इस काल मे मूर्तिकला का भी विकास हुआ। बंगाल के पॉल नरेशो के राज्याश्रय मे एक विशिष्ट प्रकार की मूर्तिकला विकसित हुई। फलस्वरूप, अनेक पौराणिक देवताओ एव बौद्ध प्रतिमाओ का निर्माण हुआ। पाल नरेशों की छत्रछाया मे धीमान और वितपाल दो श्रेष्ठ व दक्ष कलाकार समृद्ध हुए। ये अपनी मनोरम चित्रकला व कुशल मूर्तिकला के लिए प्रसिद्ध थे। इस युग की मूर्तियों के बहुत

कम अवशेष है। अधिकाश प्रतिमाएँ मुसलमानों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर डाली गयी। इस काल की मूर्तिकला की प्रथम विशेपता घटनाओ के विशाल दृश्यों का सफल अकन है। गुप्त-युग मे घटनाएँ सकुचित रूप मे छोटे-छोटे पापाण-फलकों पर उत्कीर्ण की गयी थी परन्तु इस युग मे दृश्यो के अकन के हेतु लगभग 31 मीटर ऊँची विशाल चट्टाने तक चुनी गयी और उनमे दुर्गा-महिपासुर युद्ध व शिव का रावण द्वारा कैलाश के उठाने जैसे विशाल दृश्यो को खूब सजीवता से उत्कीर्ण किया गया। इस युग की मूर्तिकला की दूसरी विशेपता है श्रृगार की प्रधानता। कोणार्क तथा पुरी के मन्दिरों की दीवारो पर जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण है, उनका अधिकाश सम्वन्ध राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीडा से है। इन्ही मूर्तियो मे भेद और नागकन्या की वडी सुभग मूर्तियाँ वनायी गयी है। इनके भोले मुखमण्डल पर से आँख हटाये नही हटती। पत्र लिखती हुई स्त्री की एक मूर्ति अत्यन्त भाव-भगिमामय एव आकर्पक है। अनेक मूर्तियों मे माता की ममता को अनूठे ढग से अभिव्यक्त किया गया है। माता अपने शिशु को लाड-प्यार करते हुए इस प्रकार अंकित की गयी है कि मानो वह अपने स्नेह से ओतप्रोत हृदय को निकालकर रख रही हे। कही-कही मूर्तियाँ अश्लील हो गयी हैं। इस काल की मूर्तिकला की तीसरी विशेपता यह है कि इनसे सजीवता, नवीनता या मौलिकता का अभाव है। परन्तु फिर भी शिल्पी की कलाप्रटुता, मुख-मण्डल की सुन्दर आकृति और शरीर के सौष्ठव को उत्कीर्ण करने में चमक उठी है।

धर्म

राजनीतिक और सामाजिक जीवन के क्षेत्र की भाँति धार्मिक जीवन के क्षेत्र मे भी इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति विभिन्नीकरण और विश्लेपण की थी। वौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था और हिन्दू धर्म, जो विविध सम्प्रदायो मे विभक्त था, वौद्ध धर्म का स्थान ले रहा था। जैन धर्म की प्रगति मे भी कमी हुई। वस्तुत. इस युग मे धर्म के क्षेत्र मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यह युग हिन्दू धर्म की पूर्ण विजय और बौद्ध धर्म के पराभव का युग कहा जाता है।

बौद्ध धर्म—धर्म के क्षेत्र मे इस युग में सबसे अधिक असाधारण घटना बौद्धो मे विभिन्नीकरण और वौद्ध धर्म का ह्रास था। इस युग तक महायान सम्प्रदाय हीनयान सम्प्रदाय पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। पूर्वी भारत मे यह तन्त्र-वाद के सिद्धान्तो से बहुत कुछ साम्य रखता था। अधिकांश मे अव वौद्ध धर्म विहारो मे ही केन्द्रीभूत हो गया था। वौद्ध सघो मे घुसे हुए अन्धविश्वास, भ्रष्टाचार और घोर मतभेद, भिक्षुओ का आनन्द और भोगविलासमय जीवन, वौद्ध धर्मावलम्बी साधारण जनता और भिक्षुओ मे विभेद, ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान, कुमारिल भट्ट और शकराचार्य का धार्मिक उत्साह, वौद्ध धर्म के प्रति उच्च-वर्गों की वढती हुई उदासीनता, वौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त के प्रति शासन करने वाले राजपूतो मे अनुराग का अभाव तथा विदेशी आक्रमण के कारण वौद्ध-धर्म का पतन हुआ। परन्तु इसकी छाया कुछ काल तक वगाल मे वनी रही क्योंकि कुछ समय तक यह पाल शासको की अध्यक्षता मे वगाल तथा विहार मे पलता रहा।

जैन धर्म—पश्चिमी चालुक्यो पर दक्षिण के राष्ट्रकूटो के सरक्षण मे जैन धर्म वना रहा परन्तु वाद मे ब्राह्मण धर्म के उत्कर्प से इसे क्षति पहुँची। सुदूर-दक्षिण में चोल तथा पाण्ड्य शासको ने जैन धर्म को आश्रय नही दिया। अव आजकल यह

राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और उत्तर भारत के कुछ भागों में ही विशेप रूप से प्रचलित है।

हिन्दू धर्म—अवतार का सिद्धान्त और भक्तिमार्ग—हमने आठवें अध्याय में इस बात का विवेचन किया है कि गुप्तकाल में हिन्दू धर्म लोकप्रिय आधार पर सगठित किया गया था। गुप्तकाल में धर्म मे एक विशिष्ट प्रगति परिलक्षित हुई। पुराण और महाभारत की पुनः रचना हुई। इससे लोगों को देवी-देवताओ की गाथाएँ, वीरता का वेजोड़ इतिहास, लोकप्रिय सदाचार के नियम और साधारण जनता के लिए ऐसा धार्मिक साहित्य, जिससे हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों की क्रिया-विधियाँ और पूजन सम्मिलित थे, उपलब्ध हुए। छठी शताब्दी तक बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया और हिन्दू उन्हें देवता मानकर उनकी उपासना भी करने लगे। मत्स्य-पुराण और भागवतपुराण दोनो ही बुद्ध को विष्णु का अवतार बताते है। वस्तुतः गुप्तकालीन धार्मिक पुनरुत्थान की एक महान देन यह रही है कि अवतार के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया गया और यही अवतार का सिद्धान्त इस युग में दृढ हो गया। अवतार के इस सिद्धान्त के उपासक को हिन्दू धर्म के अन्य सिद्धान्तों से विना विमुख हुए ही अपने इष्टदेव प्राप्त हो गये। निर्गुण ईश्वर उसके लिए मानव-शरीरधारी हो गये। इस प्रकार अवतार के सिद्धान्त ने हिन्दू दर्शनशास्त्र के विचारो की अपरिवर्तन-शीलता और इष्टदेव के प्रति भक्ति की लोकप्रिय भावना में सरलता से सामजस्य स्थापित कर दिया। इसी से भक्तिमार्ग का आविर्भाव हुआ।

वैष्णव धर्म—इस भक्तिमार्ग के अनुयायियो ने इस काल मे विष्णु और शिव को इष्टदेव मानना प्रारम्भ कर दिया। भक्त अपने इष्टदेव को परमात्मा से अभिन्न मानने लगे। इस युग मे हिन्दुओं के अन्य देवता लोकप्रियता के क्षेत्र से विलुप्त हो गये थे। केवल शिव और विष्णु दोनो ही देवता अपने परिवार सहित जनता की कल्पना, भक्ति व श्रद्धा के विपय थे। यह धारणा दिन-प्रतिदिन दृढ होती जा रही थी कि विष्णु पृथ्वी को सकट-मुक्त करने के हेतु वार-वार अवतार धारण करते है। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। विष्णु के भक्तो के अनेक सम्प्रदायों का धीरे-धीरे उत्कर्प हुआ। दक्षिण मे वारहवी शताब्दी में विष्णु-भक्त रामानुज ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की और तेरहवी सदी में माधवाचार्य ने सद्-वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की। वस्तुत मध्य-युग में वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण भारत ने प्रमुख भाग लिया।

शैव धर्म - छठी शताब्दी के अन्त तक शिव की पूजा लिग रूप में होने लग गयी थी और शैव धर्म का पर्याप्त विकास और विस्तार हो चुका था। मध्य-युग में शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित हो गये थे। सातवी शताब्दी मे शिव-उपासको का पाशुपत सम्प्रदाय अधिक प्रवल हो गया। इसके अनुयायी साधु सिद्धि और ज्ञान-प्राप्ति के हेतु शरीर पर भस्म रमाते, 'हा हा' की ध्वनि करते और लोगो द्वारा निन्दित ठहराये हुए कार्य करते थे। शिव-उपासकों के अन्य सम्प्रदाय कापालिक और कालमुख थे। ये पाशुपतो से अधिक उग्र थे। ये नर-मुण्ड या कपाल में भोजन करते, चिता-भस्म को देह पर रमाते, मांस-भक्षण करते, कर मे त्रिशूल रखते, पास में मदिरा-पात्र रखते, एवं उसी में रखे महेश्वर (शिव) का पूजन करते थे। उपरोक्त सम्प्रदायो के अनुयायी अपने इष्टदेव शिव को खाल धारण किये हुए, कर में मुण्ड-माल लिये, भूत-प्रेतो से चतुर्दिक घिरे हुए, श्मशानो में भ्रमण करते हुए व भयकर

वेशभूषा वाला मानते थे। इन सम्प्रदायो से अधिक सौम्य रूप वाला 'शैव' सम्प्रदाय था। इसके अनुयायी शिव की भक्ति और आराधना पवित्र मन्त्रो के जप, अनुष्ठान, प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि से करते और शिवलिंग की पूजा करते थे। कश्मीर मे नवी और दसवी शताब्दी मे इसी 'शैव' सम्प्रदाय का, जिसके उच्च दार्शनिक भाव थे, सुन्दर विकास हुआ। इसी 'शैव' सम्प्रदाय को दक्षिण मे चोल तथा पाड्य नरेशों ने राज्याश्रय दिया। शिव-उपासको का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय वीरशैव या लिगायत था जिसका समुदय दक्षिण भारत मे बारहवी सदी के मध्य में हुआ था। दक्षिण मे ये सदैव अधिक सख्या मे रहे और शिवलिंग की पूजा करते रहे। इनके प्रधान सिद्धान्त एक विशेष शब्द 'अष्टवर्त्मन्' या 'आठवी परिस्थिति' (या धर्म सहायता तथा पाप एव कष्ट से बचने के हेतु) तथा 'षष्टस्थल' (अर्थात् मुक्ति की अवस्थाएँ) मे निहित है। ये वेद की प्रामाणिकता और पुनर्जन्म को नही मानते, बाल-विवाह का विरोध करते, विधवा-विवाह का समर्थन करते, लिंग-पूजा, भस्म-लेपन व गुरु-आज्ञा-पालन का प्रतिपादन करते, जाति-प्रथा का खण्डन करते, मुर्दो को गाडते, ब्राह्मणों से घृणा करते एव पाप-प्रायश्चित के हेतु तप-तीर्थ और श्रद्धा का खण्डन करते है। मध्य-युग मे महाराष्ट्र और दक्षिण मे राष्ट्रकूटो और चोलो के राज्याश्रय मे शैव धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया।

शक्ति-सम्प्रदाय—इस युग मे शक्ति की उपासना का भी प्रचार हुआ। ये उपासक शक्ति-सम्प्रदाय के कहलाते थे। ये दुर्गा, काली आदि रूपों में शक्ति की देवी की पूजा करते थे। यह शिव की पत्नी एव शक्ति की उत्पत्ति का आदि कारण मानी जाने लगी। शक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायी देवी के सहारक रूप को विशिष्ट महत्त्व देने लगे। वे ह्रिम, द्रुम, फर आदि मन्त्रो तथा योग से प्राप्त अलौकिक सिद्धियो में विश्वास करने लगे एव देवी को प्रसन्न करने के लिए पशु तथा नर-बलि देने लगे।

तन्त्रवाद—मध्य-युग मे तन्त्रवाद का भी प्रचार हुआ। इसके अनुसार मानव-शरीर मे कई गुप्त और रहस्यमयी शक्तियाँ है जो प्रज्ज्वलित की जा सकती है। इसके लिए मन्त्रतन्त्र-प्रणाली का अनुसरण करना पड़ता है। फलस्वरूप, जादू-टोने, मन्त्र, ताबीज, टोटके आदि मे विश्वास किया जाने लगा और सासारिक प्रयोजनो के लिए इनका उपयोग होने लगा।

शंकराचार्य—यदि कुमारिल भट्ट और शकराचार्य का वर्णन नही किया गया तो धार्मिक जीवन का उपरोक्त विवेचन अपूर्ण ही रह जायेगा। पूर्व मध्य-युग मे धार्मिक मत-मतान्तरो की बाढ आ जाने से धर्मो के आधारभूत मूलसत्यो को भुला दिया गया था। धार्मिक क्षेत्र मे इस पतन व भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कुमारिल भट्ट जैसे दृढ एव धार्मिक सुधारक का प्रादुर्भाव हुआ। वह एक अत्यन्त उत्साही तथा विद्वान ब्राह्मण धर्म-प्रचारक था। इसने जनता को सरल वैदिक कृत्यो तथा उत्सवो का अनुसरण करने के लिए प्रेरित कर बढते हुए धार्मिक दोषो को रोका। इस काल में मीमासा के सिद्धान्तो का विस्तार हुआ। मीमासा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य यज्ञादि वैदिक अनुष्ठानो का विवेचन करना है। मीमासक का कर्मकाण्ड को यथाविधि समुचित रूप से पूर्ण करने से ही सम्बन्ध है। प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के नेतृत्व मे सातवी और आठवी सदी मे हिन्दू धर्म के अनुयायियो में मीमासा के सिद्धान्त का प्रभुत्व खूब बढा। मीमासा के विकास मे कुमारिल-युग (600-900 ई०) स्वर्ण-युग है। कुमारिल भट्ट ने मीमासा को बौद्धो के आक्षेपो से

बचाया, सिद्धान्तों की सुवोध व्याख्या कर इसे लोकप्रिय बनाया। वस्तुतः मीमांसा लोगों के पौराणिक धर्म के विरुद्ध प्रतिरोध था और उपनिषद् तथा बौद्ध विचारधाराओं के प्रतिकूल था। इसने योग अथवा भक्ति के द्वारा साक्षात्कार होने वाले इष्टदेव को ही पृथक् नही माना अपितु बुद्ध के उपदेशों से भी टक्कर ली। धीरे-धीरे यह निर्जीव कर्मकाण्ड राष्ट्र-धर्म हो रहा था। परन्तु अद्वैत के समर्थक शकराचार्य ने इसकी वृद्धि को रोका और हिन्दू धर्म को दार्शनिक सिद्धान्तो की श्रृंखला प्रदान की। वे नीरस कर्मकाण्ड-प्रणाली के, जिसने धर्म का स्थान छीन लिया था, विरोधक थे और मीमासा के समर्थको पर उन्होने आक्षेप किया।

शकराचार्य दक्षिण भारत के निवासी थे। इनका जन्म 788 ई० में दक्षिण में मलावार प्रदेश के देहात में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाल्यकाल मे ही उन्होने वेदों व अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन कर लिया था। उन्होंने समस्त भारत मे भ्रमण कर बौद्धो को शास्त्रार्थ में पराजित किया और हिन्दू धर्म की विजय-दुन्दुभी वजायी। उन्होने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार आत्मा तथा परमात्मा मे कोई भेद नही है, ब्रह्म ही परम सत्य है। सम्पूर्ण जगत उसी का बाह्य रूप है। उन्होने सम्पूर्ण जगत को माया बतलाकर हीन ठहराया। यह माया सच्चा ज्ञान प्राप्त होते ही लुप्त हो जाती है। उन्होने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को दृढ किया, गृहस्थ जीवन को तुच्छ और सन्यास को श्रेष्ठ बतलाकर सासारिक जीवन के प्रति उदासीनता उत्पन्न की और ज्ञान के द्वारा मुक्ति मानी। सक्षेप मे, उन्होने 'एकेश्वरवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उनके सिद्धान्त का नाम 'वेदान्त' रखा गया।

शंकराचार्य का महत्त्व यह है कि वे निर्भीक और मूल प्रणाली को प्राचीन युग की परम्पराओ और सिद्धान्तों से पुन मिला देने वाले केवल दार्शनिक विचारक ही नही थे अपितु व्यावहारिक सुधारक भी थे। उन्होने नीरस कर्मकाण्ड को दूर करने का प्रयत्न किया और देवी के जीवन में तान्त्रिक प्रथाओं के कारण जो अवाछनीय तत्त्व घुस गये थे, उन्हे पृथक किया। परन्तु हिन्दू धर्म के लिए शकराचार्य का प्रमुख सगठन-कार्य चार महान मठों की स्थापना थी—उत्तर में वद्रीनारायण का मठ, पूर्व में जगन्नाथपुरी का मठ, पश्चिम मे समुद्रतट पर द्वारका और दक्षिण मे श्रृंगेरी का मठ। धर्माध्यक्ष के ये स्थान शकराचार्य के अधिकार मे रहते थे जो अद्वैत के सिद्धान्तों और उपनिषद् के विचारों को विशुद्ध रूप से वनाये रखते थे। ये महान मठ अपने अन्तर्गत छोटी सस्थाओ सहित शकराचार्य के उपदेशो की पवित्रता को वनाये रखने में सहायता ही नही देते थे वरन जनता पर हिन्दू धर्म के प्रभुत्व को स्थिर रखते थे। इन मठो के सगठन से सम्वन्धित शकराचार्य का साधु-संन्यासियो का संगठन भी था। उन्होंने नियमित सघ के रूप मे संन्यासियों को सगठित किया और सन्यासियो के इन संघो ने समस्त भारत मे शकराचार्य के उपदेशो का प्रचार किया। वाद में शंकराचार्य के सिद्धान्तो का विस्तृत प्रचार मन्दिर-महाविद्यालयो द्वारा किया गया। ये महाविद्यालय, जो बड़े पैमाने पर निःशुल्क उच्च शिक्षा देते थे, प्रमुख रूप से धार्मिक थे और इन्होने अपनी शिक्षा मे से वौद्ध-दर्शनशास्त्र का अध्ययन पृथक कर दिया। हिन्दू धर्म के पुनर्गठन मे इन महाविद्यालयों ने खूब हाथ वँटाया था। शकराचार्य एक महान धर्म-प्रचारक, सुधारक व सयोजक ही नहीं थे, वरन् संस्कृत के एक प्रकाण्ड विद्वान लेखक तथा कुशल वक्ता भी थे। उन्होंने कई धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की थी। उनसे इन्होने धार्मिक संघर्षों की निरर्थकता तथा तत्कालीन सम्प्रदायों की शिक्षा

की संकीर्णता वतलायी। शंकराचार्य के उपरोक्त वर्णित कार्यों को और इन महाविद्यालयों के महत्त्व को श्री के० एम० पाणिक्कर ने हिन्दू सुधारवादी आन्दोलन (Hindu Reformation) कहा है।

इस प्रकार यवनों के आगमन के पूर्व बौद्ध धर्म का पतन तीव्र गति से हो रहा था और हिन्दू धर्म समस्त भारत मे असनी सार्वभौमिक प्रभुता स्थापित कर रहा था। हिन्दू धर्म ने अपने लोकप्रिय सिद्धान्तो का पुनर्सगठन किया, उच्चतम दर्शनशास्त्र प्रदान किया जिसे सामान्य रूप से वौद्धिक वर्गो ने स्वीकृत कर लिया। नवीन लोकप्रिय प्रणालियाँ प्रस्तुत की जिसने जनसाधारण की धार्मिक प्रेरणाओ को सन्तुष्ट किया और वौद्ध धर्म को अपने अस्तित्व मे मिला लिया। लोकप्रिय सिद्धान्तो, जैसे परमात्मा, जीवात्मा व माया के सिद्धान्त, अहिंसा का सिद्धान्त, अवतार का सिद्धान्त, साधुओ और मठों का संगठन और मूर्तियो की पूजा सभी को एकत्र कर एक धर्म के रूप मे सगठित कर दिया गया। यही नवीन हिन्दू धर्म था जिसके समर्थक कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, माधवाचार्य और रामानुज थे। उत्तर मे कश्मीर से लेकर दक्षिण मे कुमारी अन्तरीप तक शिव, विष्णु और देवी की पूजा-उपासना होने लगी थी। विष्णु के अनुयायी राम और कृष्ण की पूजा करने लगे जिनके कृत्यो की गाथाएँ समस्त देश मे व्याप्त हो गयी। शिव के अनुयायी पाशुपति, कापालिक और लिंगायत जैसे विभिन्न सम्प्रदायों मे विभक्त हो गये थे। शैव धर्म के इन विभिन्न सम्प्रदायो मे से कुछ विद्रोही प्रथाओ का पालन करते थे। विभिन्न सम्प्रदायो के अनुयायी राजा, रानियाँ और धन-सम्पन्न व्यापारी-वर्ग अपने इष्टदेव के सम्मान मे मन्दिर का निर्माण कराने में परस्पर होड करते थे। फलस्वरूप, समस्त देश मन्दिरो से परिपूर्ण हो गया था। इस युग मे हिन्दू धर्म की अन्य महत्त्वशाली विशिष्टता उपयुक्त ऋतु मे पवित्र तीर्थस्थानों की यात्रा करने की प्रथा थी।

सामाजिक व्यवस्था मे जातियो की वृद्धि हुई और जाति-नियमो के पालन मे कठोरता दृष्टिगोचर होने लगी। छोटे शिल्पी-सघ वढे और प्राचीन जाति-समुदाय दृढ़ वन गये। राजनीतिक व्यवस्था भी दुर्वल हो गयी थी। इस युग मे भारत मे राजनीतिक एकता और सामाजिक ठोसता का अभाव था। डॉक्टर ईश्वरीप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि उस समय भारत केवल भौगोलिक एकता का द्योतक था। देशभक्ति का सर्वथा अभाव था। अपरिवर्तनशील जाति-प्रथा प्रेरित सकीर्ण दृष्टिकोण, पुरोहित-वर्ग की सर्वोपरिता, अनेक धार्मिक सम्प्रदायो का उत्कर्ष और विकास मे विविध छोटे-छोटे सामन्तवादी राज्यो के समुदय ने राष्ट्रीय भावना के विकास मे रोडे अटकाये। राजनीतिक व्यवस्था अहकारी, कुलीनतन्त्र और भ्रष्ट नौकरशाही पर निर्भर थी और राजवशो के स्वार्थ के हित मे दोनो एक हो गये थे। इस युग मे भारतीय राजनीतिक प्रणाली जो अपने अस्तित्व मे ही निर्वल और अवनत हो गयी थी, मुसलमानो के आक्रमणों के आघात को सहन करने मे असमर्थ हो चुकी थी। मुसलमानो के आक्रमणों के तूफान और झझावात के आने के ही पूर्व ही जलपोत ध्वस हो चुका था।

प्रश्नावली

1 भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे हर्ष के शासन के महत्त्व का निरूपण कीजिये।
2 "सातवी शताब्दी के मध्य से लेकर वारहवी सदी के अन्त तक का युग पृथक्कीकरण, विभिन्नीकरण और विभेद का काल है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।
3. राजपूत सस्कृति के प्रमुख तत्त्वो का वर्णन कीजिये।

4. राजपूतों ने भारतीय संस्कृति को भारतीय कलाओं के क्षेत्र में अपनी सफलताओं द्वारा सुसम्पन्न किया है ।" समझाइये ।
5. ह्वानच्यांग के प्रमाणों को विशिष्ट रूप से हवाला देते हुए, हर्ष के युग के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन कीजिये ।
6. "छठी शताब्दी अराजकता एवं पृथक्कीकरण का युग था और इसके बाद आने वाला हर्ष का काल इसकी अन्तिम आभा थी ।" इस कथन का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिये ।
7. मध्य-युग में नवीन हिन्दू धर्म के विकास को आप कैसे समझाइयेगा ? प्राचीन ब्राह्मण धर्म से यह किस प्रकार विभिन्न था ?
8. राजपूत-युग में ललितकलाओं के विकास का संक्षिप्त वर्णन, इस युग की वास्तुकला की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश डालते हुए, कीजिये ।
9. "बारहवीं सदी में राजपूत समाज सामन्तवादी तथा अवनत था और उसका विनाश अवश्यम्भावी था ।" इस मत की पुष्टि कीजिये ।
10. आठवीं से बारहवीं सदी तक के राजपूत-युग में जो धार्मिक और सामाजिक विकास हुआ, उसका विवेचन कीजिये ।
11. उत्तर भारत की मध्यकालीन मन्दिर-निर्माणकला की विशेषताएँ बताइये और दक्षिण भारत की तत्कालीन मन्दिर-निर्माणकला से इसका उदाहरण सहित भेद बताइये ।
12. टिप्पणियाँ लिखिये :

    नालन्दा, शंकराचार्य, वास्तुकला की भारतीय आर्य-शैली, चालुक्य-धातुकला, पल्लव-शैली, कुमारिल भट्ट और भक्तिमार्ग ।
13. मुस्लिम विजय के पूर्व उत्तर भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिये । किस प्रकार यह स्थिति आक्रमण करने वालों के लिए हितकर हुई ?

13

भारत और इस्लाम

पिछले अध्याय में इस बात का विवेचन किया जा चुका है कि किस प्रकार विविध तत्त्वो ने भारत मे इस्लाम के आवागमन के पूर्व भारतीय सस्कृति और सभ्यता की प्रगति के स्रोत को अवरुद्ध कर दिया था। भारत के लोगो का सास्कृतिक विकास रुक गया था। हिन्दू सस्कृति के सृजन की प्रतिभा सुषुप्त हो गयी थी। मध्य-युग में हिन्दू सस्कृति को प्रतिकूल विदेशी प्रवृत्तियो का सामना करना पड़ा। इस युग मे दो विभिन्न सस्कृतियों, हिन्दू और मुस्लिम, का समघात हुआ। फलस्वरूप, सास्कृतिक जीवन के नवीन समन्वय का विकास हुआ। अब हमे इसको समझने का प्रयास करना चाहिए।

भारत मे नवीन इस्लामी या मुस्लिम सस्कृति अरबो द्वारा लायी गयी थी। इस्लाम धर्म और सस्कृति का प्रचार व प्रसार दो प्रकार से हुआ—शान्तिपूर्वक और शक्तिपूर्वक। प्रथम ढग से प्रचार करने वाले अरब वणिक, मुस्लिम फकीर व दरवेश थे। द्वितीय प्रकार से प्रचार करने वाले अरब, तुर्की और मुगल आक्रान्ता थे। यह पहले बताया जा चुका है कि भारत के बाह्य वाणिज्य-व्यापार मे यूनानी, रोमन और फारसी लोगो ने हाथ बँटाया था। बाद मे पूर्व और पश्चिम के व्यापार मे अरबो ने भी सक्रिय भाग लिया। यह इस्लाम के जन्म के पूर्व से ही था। अरब लोग व्यापारियो व नाविकों के रूप मे भारत मे आने लगे थे। पश्चिमी तट पर चोल, कल्याण और सुपारा मे इस्लाम के प्रादुर्भाव के पूर्व ही अरबो की बस्तियाँ बन गयी थी। सातवी सदी के प्रारम्भ में इस्लाम के आविर्भाव और एक केन्द्रीय राज्य के अन्तर्गत अरब जाति के एकीकरण ने इस्लाम के प्रसार के आन्दोलन को अत्यधिक प्रेरणा दी। शीघ्र ही मुस्लिम सेनाएँ भारत की सीमा पर मँडराने लगी और अरब जलसेना भारतीय समुद्र मे चक्कर काटने लगी। रोलेण्डसन और फ्रान्सिस डे के मतानुसार सातवी शताब्दी के अन्त में पहले मुस्लिम मतावलम्बी अरब मलाबार समुद्रतट पर विविध बन्दरगाहो मे बस गये थे। आठवी सदी मे अरब जलसेना के बेडे ने भड़ौच और काठियावाड़ के बन्दरगाहो पर आक्रमण किये। उनकी बस्तियाँ और व्यापार समृद्धशाली होते गये। व्यापारियो के नाते उनका स्वागत किया गया और स्पष्ट रूप से उन्हे बसने, भूमि प्राप्त करने और अपने धर्म का स्वच्छन्दता से पालन करने के लिए अनेक सुविधाएँ दी गयी थी। नवी शताब्दी का बहुत कुछ समय व्यतीत होने के पूर्व ही भारत के समस्त पश्चिम तट पर वे फैल गये और सख्या, धन और शक्ति मे उनकी वृद्धि हुई। उन्होने शीघ्र ही मलाबार के हिन्दू शासको में विशेषाधिकार और प्रभाव का पद प्राप्त कर लिया था। सौराष्ट्र के वल्लभी राजाओ और कालीकट के जमोरिनों की नीति इन अरब व्यापारियो को

अपने राज्य मे पूर्ण प्रोत्साहन देने की थी। यदि वल्लभी नरेशों ने उनके लिए मस्जिदों का निर्माण किया तो मलाबार के राजाओं ने सुविधाएँ और उच्च पद प्रदान किये। दसवी शताब्दी में अरब लोग भारत के समुद्रतट पर प्रकट हुए और शीघ्र ही समस्त तट पर फैल गये। तुलनात्मक दृष्टि से थोड़े समय मे ही उन्होने राजनीति और समाज मे बड़ा प्रभाव प्राप्त कर लिया था। यदि एक ओर उनके नेता मन्त्री, जल-सेनाध्यक्ष, राजदूत और भूमि-कर देने वाले कृषक बन गये तो दूसरी ओर उन्होने कितनो ही को अपने धर्म की शिक्षा दी, उनके धार्मिक विचारो का प्रचार किया, मस्जिदे निर्माण की और समाधियाँ व कब्रें बनवायी जो उनके सन्तो और धर्म-प्रचारको के कार्यो का केन्द्र हो गयी। ये सब दक्षिण भारत में सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को प्रभावित किये बिना न रह सके। दक्षिण भारत में इस्लाम के प्रभाव का विवेचन करने के पूर्व हमें उत्तर भारत मे मुसलमानों के आगमन की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिए।

भारत में इस्लामी आक्रमण—पैगम्बर मुहम्मद (570–632 ई०) की मृत्यु के पश्चात एक शताब्दी मे ही अरबों ने विस्तृत प्रदेशों को जीत लिया और 711 ई० में इस्लाम का साम्राज्य चीन की सीमा से लेकर अटलाण्टिक समुद्रतट तक विस्तृत हो गया। सातवी शताब्दी के मध्य मे अरबों ने उत्तर भारत मे प्रवेश करने का प्रयास किया परन्तु वे सर्वथा निष्फल रहे। फिर भी 711–713 ई० मे बसरा के अरब प्रान्त-पति अल-हजाज के भतीजे मुहम्मद बिन-कासिम ने अरबो के लिए सिन्धु और मुलतान जीत लिये। यद्यपि अरबो की विजय सिन्धु और मुलतान तक ही सीमित थी, तथापि दीर्घ काल तक वे अपनी राजनीतिक शक्ति उस प्रदेश मे स्थिर न रख सके। अरबो के नेता मुहम्मद बिन-कासिम की मृत्यु से सिन्ध मे मुस्लिम आधिपत्य का अन्त हो गया। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से सिन्ध की अरब-विजय का कोई विशेष महत्त्व नही था, तथापि मुस्लिम संस्कृति पर इसका सुदूर तक प्रभावित करने वाला प्रभाव पड़ा। इस्लाम को उसकी प्रभावित होने वाली युवावस्था मे यूरोप ने नही, भारत ने शिक्षा दी थी। अरबो ने हिन्दुओं से दर्शन, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-विज्ञान, रसायनशास्त्र और शासनकला सीखी और इन्हे वे पाश्चात्य देशो को ले गये।

इनके बाद गजनी के तुर्क सुबुक्तगीन और उसके पुत्र महमूद (995–1030 ई०) ने पंजाब को विजय कर लिया। इस समय पंजाब में हिन्दुओं के शाही राजवंश का राज्य था। सुबुक्तगीन ने इस वंश के राजा जयपाल को पराजित कर उसके सिन्धपार के प्रदेश को अपने अधिकार मे कर लिया और उसके पुत्र महमूद ने धीरे-धीरे उसका समस्त राज्य हड़प लिया। भारत की अतुलनीय काल्पनिक धन-सम्पत्ति की प्राप्ति और तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करना—इन दोनों ही उद्देश्यो ने महमूद को प्रति वर्ष भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। यद्यपि उसके सत्रह आक्रमणो का कोई विशिष्ट स्थायी राजनीतिक परिणाम नही हुआ, तथापि वह एक अग्रदूत था जिसने मुस्लिम विश्व के सम्मुख भारत की राजनीतिक और सामाजिक दुर्बलता को प्रकट कर अपने सहधर्मियो द्वारा काफिरो के देश की विजय का मार्ग खोल दिया था।

मुस्लिम शासन की स्थापना—बारहवी सदी से पूर्व इस्लामी शक्तियों के निरन्तर आक्रमण होने पर भी भारत मे इस्लामी साम्राज्य की नींव शहाबुद्दीन गोरी (1175–1206 ई०) ने डाली थी। 1173 ई० मे गजनी में अपनी सत्ता स्थापित

करने के बाद शहाबुद्दीन ने भारत की ओर ध्यान दिया और दस वर्ष मे ही उसने मुलतान, सिन्ध और लाहौर को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। इसके बाद हमलावर गोरी ने राजपूत शासकों का सामना किया और 1192 ई० मे तराइन के द्वितीय युद्ध मे राजपूतों के नेता, दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर दिया। इसके बाद अजमेर, कन्नौज और वाराणसी विजय किये गये। शहाबुद्दीन के भारत लौट जाने के बाद उसके सेनाध्यक्षो—कुतुबुद्दीन ऐबक और मुहम्मद बख्त्यार खिलजी ने विजय-कार्य जारी रखा और ग्वालियर, कालिंजर, बगाल और बिहार जीत लिये। तीस वर्ष की अवधि मे सिन्ध और ब्रह्मपुत्र के मध्य का समस्त प्रदेश स्थायी रूप से मुसलमानों के अधिकार में आ गया। अब भारत मे मुस्लिम शासन की नीव स्थायी रूप से डाल दी गयी थी।

दिल्ली राज्य की स्थापना

गुलाम वंश (1206-1260 ई०)—शहाबुद्दीन गोरी के पश्चात उसके वाइसराय कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुलाम वश की नीव डाली। उसने गोरी की विजयों को विस्तृत किया। इस वश के अन्य प्रसिद्ध शासक इल्तुतमिश और बलबन थे। इल्तुतमिश ने मुस्लिम साम्राज्य को उसके शैशवकाल मे नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया और मालवा तथा सिन्ध तक साम्राज्य विस्तृत किया। बलबन ने अपने मन्त्रित्त्वकाल में विद्रोही हिन्दू नरेशो और मुस्लिम प्रान्तपतियो का दमन किया और मंगोलो के आक्रमणो का प्रतिकार किया। सुलतान होने पर उसने शासन को सुसंगठित किया, साम्राज्य की उत्तर पश्चिमी सीमा को सुदृढ़ किया, राजकीय सम्मान व गौरव को बढाया और भारत की भूमि मे मुस्लिम सत्ता की जडे जमा दी। इस वंश के अन्तिम सुलतान का वध कर दिया गया और जलालुद्दीन खिलजी दिल्ली का सुलतान हो गया।

दिल्ली राज्य का प्रसार और एकीकरण

खिलजी राजवंश (1290–1320 ई०)—खिलजी राजवंश का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल शासक अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316 ई०) था। उसने देश मे मुस्लिम सत्ता को अधिक स्थायी बना दिया। लगभग समस्त भारत उसके आधिपत्य मे था। उसका साम्राज्य उत्तर मे लाहौर से लेकर दक्षिण मे द्वारसमुद्र तक और पश्चिम मे गुजरात से लेकर पूर्व मे लखनौती तक था। यह पहला मुस्लिम साम्राज्य था जिसने समस्त भारत को ढँक लिया था परन्तु इस साम्राज्य मे स्थायित्व के तत्त्वों का अभाव था। साम्राज्य के विभिन्न भाग एक सूत्र में सगठित न हो सके थे। फिर भी खिलजी शासन की कुछ विशेषताएँ रही। अलाउद्दीन की विजयो ने सल्तनत के इतिहास मे अभिधावनात्मक उग्र साम्राज्यवाद का युग प्रस्तावित किया, सुलतान के हाथो मे सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ और सैनिक शासन व सुधार से समृद्धि व शान्ति स्थापित हुई। अलाउद्दीन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रसार किया कि सुलतान देश के उत्तम शासन के लिए उत्तरदायी है, अतएव वह मुस्लिम उलमाओ के निर्णयों से बाध्य नही है। भारत मे यह धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्रवृत्ति का सूत्रपात था। अतएवं खिलजी शासन प्रादेशिक विस्तार और शासकीय सिद्धान्तो मे नवीन आदर्श रखने के लिए प्रसिद्ध है। खिलजी राजवश के अन्तिम सुलतान का वध कर दिया गया और गयासुद्दीन तुगलक सिंहासनरूढ हुआ।

तुगलक राजवंश—(1320–1412 ई०)—गयासुद्दीन तुगलक ने तुगलक राजकुल की स्थापना की। गयासुद्दीन तुगलक और उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक

विजय और अनुयोजन की नीति में विश्वास करते थे। फलतः उन्होंने दक्षिण के देवगिरि, वारंगल और द्वारसमुद्र के राज्य जीत लिये और उन्हें साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार तुगलकों के अन्तर्गत साम्राज्य की सबसे अधिक विस्तृत प्रादेशिक सीमाएँ हो गयी। परन्तु सुदीर्घ काल तक उसकी पूर्णता व अखण्डता न रखी जा सकी। मुहम्मद तुगलक का शासनकाल (1325–1353 ई०) रुचिकर और उपदेशपूर्ण है। यह कथन कि वह 'विरोधी वातों का सम्मिश्रण'–था, सत्य प्रतीत नही होता। वह एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और विचारशील व्यक्ति था जिसने अनेक योजनाएँ प्रस्तुत की, जैसे राजधानी का परिवर्तन, प्रतीक मुद्रा आदि। ये योजनाएँ असफल रही, इसलिए नही कि उनकी मौलिकता मे कोई दोप था परन्तु इसलिए कि उन्हे कार्यान्वित करने की प्रणाली दोपयुक्त थी। फिर, जिस शासन को उसने सुसंगठित और सुव्यवस्थित किया, उस पर उसके व्यक्तित्व, सहिष्णुता और न्याय की भावना की छाप है। उसके शासन के अन्तिम दिनो मे राज्यव्यापी विद्रोह होने लगे और साम्राज्य के विभिन्नीकरण का सूत्रपात हो गया।

मुहम्मद तुगलक के वाद फीरोज तुगलक उनका उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासनकाल (1351-1388 ई०) मे भारत मे शान्ति रही। उसने विजय और अनुयोजन की नीति त्याग दी। इससे वंगाल, सिन्ध और दक्षिण के राज्य साम्राज्य से पृथक हो गये। वह भारत का पहला मुस्लिम शासक था जिसने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था कि राजा के कर्तव्य प्रजा की सुरक्षा तक ही सीमित नही है अपितु राज्य को साधारण जनता के सुख-शान्ति और हित के लिए भी कार्य करने चाहिए। इसलिए उसने लोक-कल्याण के लिए अनेक कार्य किये, नगर वसाये, वाग लगवाये, और राजप्रासाद तथा मस्जिदे निर्मित करायी। उसने जागीर और गुलामी की प्रथा पुनः प्रारम्भ की। उसकी मृत्यु के पश्चात तुगलक साम्राज्य का ह्रास शीघ्र होने लगा। तैमूर के आक्रमण ने तो इस लड़खड़ाते हुए तुगलक साम्राज्य को साघातिक आघात पहुँचाया।

दिल्ली सल्तन का पतन (1412-1526 ई०)

सैयद राजवंश (1414–1451 ई०)—तुगलकों के पश्चात सैयद खिज्रखाँ सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने सैयद-वंश की स्थापना की। इस राजवश का इतिहास विद्रोही सामन्तो का दमन करने के लिए प्रयाण, पुन.प्रयाण और युद्ध की कहानी है। इस राजकुल के अन्तिम नरेश ने 1451 ई० मे पंजाव के प्रान्तपति वहलोल लोदी के पक्ष मे राज्य त्याग दिया।

लोदी राजवंश (1451–1526 ई०)—वहलोल लोदी ने राजवश की स्थापना की। उसने जौनपुर, कालपी, धौलपुर आदि को जीत कर दिल्ली सल्तनत के प्राचीन वैभव को पुन. स्थापित कर दिया। उसका उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी लोदी, राजकुल का सवसे अधिक प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली शासक था। उसकी मृत्यु राज्य के विभिन्नीकरण के लिए संकेत थी। उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी को वावर ने 1526 ई० मे पानीपत के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में पराजित किया था। इससे दिल्ली की सल्तनत का अन्त हो गया।

जव दिल्ली सल्तनत का विभिन्नीकरण हो रहा था, उत्तर भारत में अनेक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये, जैसे सिन्ध, मुलतान, जौनपुर, वगाल, गुजरात,

मालवा, खानदेश, बहमनी राज्य आदि। इन राज्यों ने भी इस युग की साँस्कृतिक प्रगति मे योग दिया था जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

भारत में मुस्लिम शासन की विशिष्टताएँ

(1) भारत में मुस्लिम विजय एक भिन्न कहानी है। भारत मे मुसलमानों का इतिहास राष्ट्रीय विकास की अपेक्षा सुलतानो, उनकी राजसभाओं और विजयो का इतिहास है। सुलतान और उनके कार्य ही मुस्लिम इतिहास के पृष्ठ पर पृष्ठ भरते है। लोग और उनकी संस्कृति का कोई महत्त्व नही होता, अतएव उन्हे गौण स्थान प्राप्त था। (2) भारत मे मुस्लिम शासन की दूसरी विशेषता यह है कि प्रारम्भिक राजवंश अल्पकालीन थे। एक राजकुल के बाद दूसरा राजकुल बहुत अल्प काल तक शासन करके विलुप्त हो गया। इन कुलो का इतिहास वीरता, महानता, वैमनस्य, सघर्ष और अधःपतन का है। (3) तीसरी विशिष्टता यह है कि इस्लाम के अनुयायी मुसलमान ही भारत के सर्वप्रथम आक्रामक थे जिन्हे हिन्दू समाज अपने मे सम्मिलित न कर सका। इनके पूर्व के अनेक आक्रमणकारी—यूनानी, सिथियन, मगोलियन, पार्थियन, शक, हूण आदि के भारत में बस जाने पर कतिपय पीढियों के बाद वे अपने नाम, बोली, रहन-सहन, धर्म, विचार आदि मे हिन्दू धर्म और समाज ने इन जातियों को आत्मसात कर लिया था। वस्तुत· भारतीय समाज के महासागर मे वे अपने आप को खो बैठे। परन्तु मुस्लिम भारत मे सदैव विभिन्न समुदाय ही बने रहे। मुसलमान ही प्रथम ऐसे आक्रान्ता थे जो हिन्दू समाज का अग न बन सके। उनका इस्लाम धर्म दृढ़ एकेश्वरवादी धर्म होने के कारण बहुदेववाद से मतैक्य न कर सका। वह देवताओ का बाहुल्य स्वीकार न कर सका। इसके अतिरिक्त दूसरे धर्म को निगलकर उसे अपने रक्त, मास व मज्जा मे मिश्रित कर अपना अग बना लेने की हिन्दू धर्म मे जो प्राचीन विलक्षण शक्ति थी, वह मुसलमानों के आगमनकाल तक प्राय. क्षीण हो चुकी थी। जिन लोगों के पूर्वज विधर्मियो को अपने अग बना लेते थे, वे उनका स्पर्शमात्र महापाप समझने लगे। अतएव हिन्दू और मुसलमान एक ही देश मे रहने पर भी परस्पर घनिष्ठता से घुल-मिल न सके। इस खाई को भरने मे वे असमर्थ रहे। यद्यपि स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक, 'Discovery of India' में यह लिखा है कि मुसलमान आक्रमणकारी भारत में विलीन हो गये, उनके राजवंश सम्पूर्ण भारतीय हो गये और भारत को ही अपनी मातृभूमि मानते और विश्व के अन्य भाग को विदेश मानते थे, परन्तु सर जदुनाथ सरकार का यह मत भी असत्य नही कि भारतीय मुसलमान सदियो तक मक्का में एक स्थान की ओर ही मुड़ते रहे, वे अपने ही कानूनो का प्रयोग करते थे और उनकी स्वय भिन्न शासन-प्रणाली और भाषा थी, उनके स्वयं के सन्त और उनकी समाधियाँ थी। इसके विपरीत, मुसलमानों को अपने मे सम्मिलित करने मे एक समय हिन्दुओ में इतना अधिक उत्साह था कि उन्होने 'अल्लोपनिषद्' की रचना कर डाली और सम्राट अकबर को अवतार मान लिया। परन्तु मुसलमानो ने अपने धर्म के प्रमुख तत्त्वो के विषय मे न तो आत्म-समर्पण किया और न उन कतिपय रूढियो को ही स्वीकार किया जो हिन्दू समाज मे प्रविष्ट होने के लिए अनिवार्य थी। (4) इसके अतिरिक्त भारत के सभी आक्रमण-कारियो मे मुसलमान ही केवल ऐसे थे जिन्होने भारत के विरुद्ध धर्म-युद्ध घोषित किया। उनमे अपने धर्म-प्रसार के लिए लगन और उत्साह था। ये धार्मिक उत्साह से परिपूर्ण थे और दूसरे लोगो को अपने धर्म की दीक्षा देने के निर्दिष्ट विचार से

आये थे। दूसरो का धर्म-परिवर्तन करने की उनमे दृढ भावना थी, न कि दूसरो के धर्म मे विलुप्त हो जाने की। उनमें अत्यधिक धार्मिक चेतनता थी। (5) अन्त में, 1200 ई० से 1580 ई० तक भारत में मुस्लिम राज्य और समाज ने अपनी मूलभूत सैनिक और घुमक्कड़ता की विशेषताओं को बनाये रखा। शासन करने वाली जाति देश मे सशस्त्र समुदाय के समान रहती थी। वस्तुतः भारत मे बसने वाले मुसलमान देश में रहने वाले थे परन्तु देश के नही थे। उन्होंने सदैव अपने पृथक एकात्म्य को सुरक्षित बनाये रखा और इसका मूल्य भारत को बीसवी सदी में देश का विभाजन कर चुकाना पड़ा।

इतना होने पर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म का जो संघर्ष हुआ, इतिहास मे उसका विशेष महत्त्व है। दो विरोधी संस्कृतियो का सम्पर्क, सम्मिलन और सम्मिश्रण भारतीय इतिहास की ही नहीं किन्तु सर जॉन मार्शल के मतानुसार विश्व-इतिहास की शिक्षाप्रद घटना है। इन दोनों संस्कृतियो के सयोग और समन्वय के कारण अधोलिखित हैं :

अपने सीमित साधनो से मुस्लिम शासक भारत जैसे विस्तृत देश पर कभी भी स्थायी प्रभुत्व स्थापित न कर सके। यद्यपि वे राजनीतिक सत्ता को अपने हाथों मे ले सके परन्तु आर्थिक सत्ता को हिन्दुओ से न जीत सके। फलतः देश में शान्ति और व्यवस्था के हेतु उन्हे हिन्दुओं की स्वीकृति और प्रसन्नता पर निर्भर रहना पड़ता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मुस्लिम सुलतान और शासक सदैव वैमनस्य, संघर्ष और सम्पीडन की नीति का अनुकरण नही कर सकते थे। रक्तिम युद्धों और नृशस अमानुषिक अत्याचारों के पश्चात विवश हो उन्हे सुख, शान्ति और सुरक्षा के कार्य करने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त हिन्दुओ के सहयोग व सहायता के बिना वे शासन-कार्य चला ही नहीं सकते थे क्योंकि उनके अनुयायी कृषक, वणिक या कुशल अनुभवी राजनीतिज्ञ व शासन-सचालक नहीं थे। देश के आर्थिक क्षेत्र में हिन्दुओं की ही सर्वोपरिता थी। शासन-संचालन मे हिन्दू लिपिक और गणक थे और ग्रामो मे भूमि-कर एकत्र करने वाले अधिकारी हिन्दू ही थे। कृषि और वाणिज्य हिन्दुओ के हाथ में थे, भवन-निर्माणकला में हिन्दू शिल्पज्ञ थे, न्याय-दान मे हिन्दू पण्डित मुस्लिम न्यायाधीशो को परामर्श देते थे और धर्म-परिवर्तन करने वाले हिन्दू भी अपनी प्राचीनतम हिन्दू प्रथाओ और आचार-विचार को बनाये रखते थे। इन्ही कारणो से मुस्लिम शासकों को हिन्दुओं और उनकी संस्कृति की ओर झुकना पड़ा। इसके अतिरिक्त मुस्लिम शासकों को हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानों से अधिक लोहा लेना पड़ा। केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने पर देश मे अनेक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये थे। दिल्ली के शासको और इन विविध स्वतन्त्र राज्यो मे सदैव संघर्ष और युद्ध होते रहे। समयानुकूल हिन्दुओं ने दोनो पक्षों को सहयोग व सहायता दी। हिन्दू जनता ने भी अब मुसलमान शासको से दीर्घ काल तक युद्ध करना उचित न समझा। उन्होंने भी मुस्लिम शासकों की राजनीतिक सत्ता को स्वीकार कर लिया और शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहा। मुस्लिम शासकों ने भी, कुछ को छोड़कर, वैमनस्य और संघर्ष की भावना त्याग दी और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करने का प्रयास किया। उन्होंने ललितकलाओ और साहित्य को राज्याश्रय देकर प्रोत्साहित किया और सहिष्णुता तथा सहयोग की भावना की वृद्धि व विकास मे पूर्ण योग दिया। फलतः हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के सयोग का मार्ग सुलभ हो गया।

इन दोनो संस्कृतियों के समन्वय के विषय में विद्वानों और इतिहासवेत्ताओं में परस्पर मतभेद है। दोनो सस्कृतियो के परस्पर प्रभाव की समस्या विवादग्रस्त है। कतिपय विद्वानो का मत है कि हिन्दू धर्म और समाज इस्लाम की नवीन संस्कृति से मूलत प्रभावित हुए। इसके विपरीत अन्य विद्वानों का कथन है कि इस्लाम से प्रभावित होने की अपेक्षा हिन्दू सस्कृति ने अपनी गहरी छाप इस्लाम और उसके अनुयायियों पर छोडी है। डॉक्टर ताराचन्द ने अपनी पुस्तक, 'The Influence of Islam on Indian Culture' में प्रथम मत का उत्साहपूर्वक समर्थन किया है। उनका कथन है कि हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य और हिन्दू विज्ञान ने ही मुस्लिम तत्त्वो को ग्रहण नही किया वरन हिन्दू सस्कृति की भावना और हिन्दू मस्तिष्क की सामग्री भी परिवर्तित हो गयी। दूसरे मत का प्रतिपादन E. B Havell जैसे पाश्चात्य इतिहासज्ञों और प्रोफेसर शर्मा ने अपनी पुस्तक, 'The Crescent in India'[1] मे किया है। अपनी राजनीतिक निर्बलता होने पर भी मध्ययुगीन भारत सांस्कृतिक दृष्टि से इतना चैतन्य था कि वह उस वृक्ष के समान था जो उस व्यक्ति को भी छाया देता है जो उसकी शाखाओ को काट देता है। इस्लाम ने भारत की राजनीतिक राजधानियो पर अपना आधिपत्य कर लिया था, उसकी सैनिक शक्तियो को नियन्त्रित कर दिया था और उसकी आय को स्वाधीन कर लिया था, पर भारत ने अपना बौद्धिक साम्राज्य, जो उसे सबसे अधिक प्रिय था, बनाये रखा और उसकी अन्तरात्मा को कभी वश मे न किया जा सका। भारत ने जो कुछ भी रणक्षेत्र मे खो दिया, वह उसने आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा पुन प्राप्त कर लिया। परन्तु सत्य उपरोक्त दोनो मतो के मध्य मे है। दोनो सस्कृतियो का सम्मिश्रण और समन्वय कभी भी सम्पूर्ण नही हुआ। मुस्लिम सस्कृति हिन्दू सस्कृति को कभी भी मूलत रूपान्तरित न कर सकी। दोनों सस्कृतियो का जो कुछ भी पारस्परिक प्रभाव हुआ, वह जीवन के बाह्य स्वरूप तक ही था और वह भी विशेषकर नागरिक जीवन तक ही सीमित रहा। जीवन के विभिन्न अंगो का अधोलिखित विवेचन उपरोक्त कथन पर अधिक प्रकाश डालेगा।

मुस्लिम शासन की दुर्बलता—भारत में स्थापित तुर्क-अफगान शासन-यन्त्र में राष्ट्र की इच्छा और परम्परागत शासन की शक्ति का अभाव था। इस अफगान शासन का सैनिक और सामन्तवादी चरित्र भारत देश के प्राचीन परम्परागत शासन के प्रतिकूल था। जिस ढंग से उसकी वृद्धि और विकास हुआ था, उसमे वह लोगो के समर्थन, सहायता और सद्भावना पर कदाचित ही स्थापित किया जा सकता था। वस्तुत मुस्लिम शासको और जनसाधारण मे पारस्परिक सम्बन्ध और सम्पर्क का अनेक अवसरो पर अभाव रहा। इस्लामी राज्य अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर विकसित होता रहा। उसके शासक अपनी सत्ता और राज्य के कुलीनतन्त्र को सशक्त करने मे ही प्रधानतया आतुर थे। नियमित, अनुकूल और स्थिर नीति की अपेक्षा उन्होने अपने स्वार्थ के हित की नीति का ही अनुकरण किया और कालान्तर मे वे अधिक महत्त्वाकांक्षी और दुर्दान्त बन गये। ऐसे शासनतन्त्र वाले राज्य का पतन होने के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था! परन्तु ऐसे इस्लामी शासन-तन्त्र का परिणाम हिन्दुओ की प्राचीनतम परम्परागत ग्रामीण शासन-प्रणालियो पर हितकर हुआ। हिन्दुओं की प्राचीन ग्रामीण स्थानीय सस्थाएँ पूर्ववत बनी रही। अपनी स्वायत्त-

---

1 इसका हिन्दी रूपान्तर 'भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास' भी उपलब्ध है। (प्रकाशक : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।)

शासन-प्रणालियो सहित ग्राम अछूता रहा। न तो इस्लामी राज्य के अधिकारियो ने ग्रामीण शासन के साधारण कार्य में हस्तक्षेप किया और न दिल्ली के गृह-युद्धो और राजनीतिक क्रान्तियों ने उसे प्रभावित किया। ग्रामीण प्रजातन्त्र अपने स्वशासन में स्वतन्त्र बने रहे।

आर्थिक दशा—लोगों की स्थिति को समुन्नत करने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर इस्लामी राज्य ने कोई विशद व व्यापक आर्थिक नीति का अनुकरण नही किया। यद्यपि खिलजी और तुगलक शासको ने नये प्रयोग किये परन्तु इन्होंने कोई स्थायी परिणाम प्रस्तुत नही किये। उत्पादन के साधनो और पद्धतियो मे कोई बडा सुधार करना, या आर्थिक धन-द्रव्य का अधिक समुचित वितरण करना, अथवा विविध सामाजिक वर्गों की आर्थिक दशा मे पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्था व समन्वय करना, इस्लामी राज्य की नीति के बाहर था। फिर भी अपनी स्वय की राजनीतिक और आर्थिक आवश्यकताओं के हेतु दिल्ली के सुलतानो और छोटे प्रान्तीय शासकों ने वाणिज्य-व्यापार और उद्योगो को प्रोत्साहित किया। परन्तु उस समय कोई कारखाने या बड़े पैमाने के औद्योगिक सगठन नही थे जैसे आज विद्यमान है। यद्यपि अधिकाश जनता का प्रमुख धन्धा कृषि था, परन्तु देश के ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्र में कतिपय महत्त्वपूर्ण उद्योग थे। वस्त्र-व्यवसाय (सूत, ऊन और रेशम के वस्त्र बुनना) धातु, पाषाण को तराशना और ईंट एव शक्कर व कागज बनाना तथा रगसाजी आदि प्रमुख व्यवसाय थे। प्याले, जूते, शस्त्र, सुरा, सुवासित पदार्थ, तेल, इत्र आदि बनाना छोटे व्यवसाय थे।

भारत का आन्तरिक व्यापार विस्तृत और व्यापक था, परन्तु कभी-कभी वह राज्य के एकाधिकार या कठोर शासकीय नियन्त्रण के कारण अवरुद्ध होकर सीमित हो जाता था। निरन्तर युद्धों और आन्तरिक विद्रोहों के कारण भी व्यापार को ठेस पहुँचती थी। बाह्य व्यापार की दृष्टि से उसका यूरोप के दूरस्थ प्रदेश तथा मलाया द्वीपसमूह, चीन एव प्रशान्त महासागर के अन्य देशो से व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत का अपने थल द्वारा मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत और भूटान से सम्पर्क और सघर्ष था। भोग-विलास की वस्तुएँ, अश्व और खच्चर आयात के प्रमुख साधन थे और निर्यात में प्रधान वस्तुएँ कृषि की विविध उपज और वस्त्र थे। फारस की खाड़ी के चतुर्दिक कतिपय देश तो अपनी खाद्य-सामग्री के लिए सम्पूर्णतया भारत पर ही आश्रित थे।

विविध वर्गो के जीवन-स्तर के विषय मे तो धनसम्पन्न-वर्गो और श्रमिको व कृषको के मध्य पृथ्वी और आकाश का अन्तर था। जब शासकीय और अधिकारी-वर्ग भोगविलास, ऐश्वर्य और प्रचुरता मे लौट रहे थे, तब कृषको का जीवन-स्तर अत्यन्त ही निम्न था। सम्भवत करानुपात उन्हे अत्यधिक भारी प्रतीत होता था और दुर्भिक्ष के समय तो उनकी दशा अत्यन्त ही दयनीय हो जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन भारत के कृषक आधुनिक युग के उनके वशजों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न थे। परन्तु वर्तमान युग के स्तर की दृष्टि से उनकी आवश्यकताएँ अल्प थी। आर्थिक बातो मे ग्राम आत्म-निर्भर होते थे, अतएव ग्रामीण जनता की साधारण आवश्यकताओ की पूर्ति सन्तोषपूर्वक स्थानीय वस्तुओ से हो जाती थी। वास्तव मे मुस्लिम शासकों ने ग्रामों के सगठन और व्यवस्था मे किसी प्रकार से हस्तक्षेप नही किया। फलत. ग्रामो की जनता शासन से उदासीन हो गयी और वह राजनीतिक

स्थिति से अनभिज्ञ बन गयी। उसकी आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ कम थी और दृष्टि-कोण सीमित। इसके अतिरिक्त राजधानी मे राजनीतिक क्रान्तियो और षडयन्त्रों के होने पर भी ग्रामीण लोग राजनीतिक विप्लवो के प्रति अत्यन्त उपेक्षित और उदासीन होकर जीवन के साधारण व्यवसाय करते रहते थे। ग्रामीण जीवन के समदर्शी क्रम को राजसभा की राजनीतिक कदाचित ही भग करती थी।

भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों का संसर्ग व सम्मिश्रण एवं उसका प्रभाव

जैसा ऊपर वर्णित है, प्राचीनतम हिन्दू संस्कृति और सभ्यता मे एकीकरण करने की इतनी अधिक शक्ति थी कि देश के प्रारम्भिक आक्रान्ता, जैसे यूनानी, शक, हूण आदि भारतीयों मे पूर्णरूपेण मिल गये और वे अपने एकात्म्य व अनन्यता को सम्पूर्णतया खो बैठे। परन्तु भारत के तुर्क और अफगान आक्रमणकारियो के साथ ऐसा नही हुआ। इस्लामी आक्रमणकारियो के साथ-साथ भारत मे नवीन, विभिन्न और निर्दिष्ट सामाजिक और धार्मिक विचार प्रवेश कर गये और इनका सपूर्ण एकी-करण असम्भव था। परन्तु जब कभी दो प्रकार को सभ्यताएँ और सस्कृतियाँ सदियो तक परस्पर सम्पर्क मे आती है तो वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती है। इस प्रकार सुदीर्घ काल से ससर्ग, नवीन भारतीय मुसलमानो के समुदाय के विकास, मुस्लिम आक्रमणकारियो के भारत में बस जाने से हिन्दू स्त्रियो से विवाह, हिन्दू और मुस्लिम सन्तो और उनके अनुयायियो के पारस्परिक सम्पर्क, मुस्लिम शासको द्वारा हिन्दू कलाकारो, शिल्पियो और साहित्यिको के सरक्षण और इनके उदार आन्दोलनों के प्रभाव के कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के विचार और प्रथाओ को अपनाकर उनका समीकरण करने वाले थे और फलस्वरूप अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए।

हिन्दुओ की राजनीतिक पराधीनता और सामाजिक मान-मर्दन होने पर भी उनका सर्वोपरि प्रभाव—मुसलमानो की प्रभुता के अन्तर्गत अपनी राजसत्ता के विलुप्त हो जाने पर हिन्दू बडे उद्विग्न और आतुर थे। वे विदेशी शासन के, जो उनके मध्य स्थापित किया गया था, सबसे अधिक दुष्टतम शत्रु समझे जाते थे। उन पर अत्यधिक कर लगाये गये थे। कुछ व्यक्तियो के अतिरिक्त ये उच्च पदो से वचित कर दिये गये थे। इनके साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार किया जाता था। इनकी अत्यन्त पतित और दयनीय दशा कर दी गयी थी एव उन्हे दास के समान साम्राज्य मे रहना पडता था। अलाउद्दीन का उद्देश्य तो हिन्दुओ की ऐसी अधम दशा कर देने का था कि वे घुड-सवारी करने, सुन्दर वस्त्र धारण करने और भोग-विलास का आनन्द उठाने मे सर्वथा असमर्थ रहे। वे भारी धार्मिक अयोग्यताओ के बोझ से कराहते रहे, उन्हे बारम्बार यन्त्रणाएँ सहन करनी पड़ती थी और प्राय. उन्हे 'जजिया' नामक एक विशिष्ट कर देना पडता था। इस कर से बचने के लिए कतिपय हिन्दुओ ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। ऐसी दशा मे हिन्दू प्रतिभा का विकास अवरुद्ध हो जाना स्वाभाविक था और इसे राजनीतिक क्षेत्र मे अपना सम्पूर्ण विकास करने का कोई अवसर ही प्राप्त नही हुआ।

इतना होने पर भी देश के आर्थिक जीवन मे हिन्दू सर्वोपरि थे। वह मुस्लिम सेना ही थी जिसने दिल्ली को अपने अधीन कर लिया और हिन्दू राजतन्त्रो को विनष्ट कर दिया। मुस्लिम आक्रान्ता अपने साथ कृषको को नही लाये थे और यद्यपि

मुस्लिम अमीरो को भूमि जागीर के रूप में प्रदान कर दी गयी थी तब भी कृषि करने वाले वर्ग हिन्दू ही रहे। मुस्लिम धर्म-परिवर्तन भी इतने विस्तृत पैमाने पर न था कि हिन्दू जमींदार और हिन्दू कृषक को अपने स्थान से हटाकर मुसलमान प्रतिष्ठित किये जाये। वस्तुतः भूमि-प्रणाली परिवर्तित नही हुई, अतएव मुस्लिम प्रभुत्व के होने पर भी गांवो मे हिन्दू साधारणतया पूर्ववत जीवन व्यतीत करते रहे।

इसके अतिरिक्त व्यापार और वाणिज्य भी अवशेष रूप से दूसरे हाथों में नही गया। मुस्लिम आक्रान्ता केवल योग्य सैनिक ही थे जो व्यापार से घृणा करते थे एवं जो विस्तृत हिन्दू साख-प्रणाली (credit system) को, जिस पर वाणिज्य आश्रित था, समझने मे असफल रहे। निस्सन्देह मुस्लिम शासन में व्यापारी-वर्ग को अत्यधिक मुद्रा दण्ड देना पडता था परन्तु फिर भी हिन्दू बनिया समाज की रचना मे इस युग मे वैसा ही अनिवार्य अंग बना रहा जैसा आज है।

उपरोक्त तत्वों के अतिरिक्त मुस्लिम शासन मे आवश्यकता के कारण नौकर-शाही की निम्न श्रेणियाँ हिन्दू बनी रहीं। मुसलमानों पर राज्य की अनुकम्पा होने से उनके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता था। उन्होंने उच्च पदों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर रखा था, परन्तु हिन्दू लोग कुशल शासक और दक्ष प्रबन्धक होने के कारण शासन मे निम्न पदो पर हिन्दुओं को नियुक्त करना अनिवार्य हो गया था। जिलो मे पटवारी, आय-व्यय लेखक, कोषाध्यक्ष और अन्य नौकर स्थायी रूप से सदैव हिन्दू ही हुआ करते थे। प्रान्तपति, न्यायाधीश और जिला-अधिकारी मुसलमान होते थे। इस प्रकार मुस्लिम प्रभुत्व के होने पर भी हिन्दू नौकरशाही की नियुक्ति बनी रही।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, यह देखकर आश्चर्य होता है कि उत्तर भारत पर मुसलमानो की सम्पूर्ण विजय होने पर भी हिन्दू धर्म लोगो के मस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखने के लिए पूर्ण समर्थ था। जो हिन्दू इस्लाम को ग्रहण कर लेता, उसके लिए प्रत्येक वस्तु प्रस्तुत थी। मलिक काफूर, खुसरो और हेमू जैसे कतिपय सर्वोच्च पदाधिकारी धर्म परिवर्तित किये हुए हिन्दू थे। हिन्दुओं के लिए समृद्धि और शक्ति का मार्ग इस प्रकार लघु, स्पष्ट, सुलभ और सरल हो जाने पर भी यह आश्चर्य है कि आज उत्तर प्रदेश मे, जो मुस्लिम शासन के अन्तर्गत छह सौ वर्षों तक निरन्तर रहा, मुसलमानो की जनसख्या केवल चौदह प्रतिशत है। हिन्दू धर्म ने इस्लाम के आघात को सहन कर लिया। इससे भी अधिक अलाउद्दीन खिलजी और फीरोज तुगलक जैसे कट्टर धर्मान्ध सुल्तानो के अन्तर्गत हिन्दुओं के धार्मिक नेताओ को सम्मान और मान्यता प्राप्त हुई थी। जैन स्रोतो में यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन ने जैन आचार्य महासेन के साथ धार्मिक सम्भाषण किया था। यह आचार्य कर्नाटक से इसी उद्देश्य के लिए लाया गया था। यह भी कहा जाता है कि दिल्ली के दिगम्बर जैन पूर्णचन्द और श्वेताम्बर साधु रामचन्द्र सूरी पर इस सुलतान की विशेष अनुकम्पा थी। गयासुद्दीन तुगलक के पास दो जैन पदाधिकारी थे जिन्होने उसे अधिक प्रभावित किया था एव फीरोज तुगलक हिन्दू कवि राजशेखर का अधिक सम्मान करता था।

यद्यपि हिन्दुओं की दशा अति दयनीय थी तो भी उनकी खिन्नता और शक्ति-हीनता दीर्घ काल तक नही रही। राजपूतो ने मुस्लिम आक्रमणो के प्रतिरोध के लिए संगठन किया और दो सौ वर्षों तक इस संगठन को वीरतापूर्वक बनाये रखा। मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली के चौहानो की पराजय होने के पश्चात हिन्दुओ का नेतृत्व मेवाड़

के सिसोदिया राजकुल ने सँभाला। इस राजवंश के प्रसिद्ध राणा कुम्भा (1433–68 ई०) और उनके उत्तराधिकारी हिन्दुओं के पुनर्जागरण-आन्दोलन के समर्थक योद्धा थे। विशाल भू-भाग की मुस्लिम विजय से रक्षा करने के अतिरिक्त इन्होंने उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों के हिन्दुओं को खूब प्रेरणा दी। फलत. राजस्थान के बाहर भी हिन्दू प्रभाव पडने लगा। चौदहवी सदी मे तो गगा की घाटी मे बड़े-बडे हिन्दू जमीदारो की सत्ता और प्रभाव इतना अधिक हो गया कि केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने पर उन्होने उसके विरोध मे विद्रोह छेड दिया और हम सुनते है कि सुलतान को जमीदारो के इस विद्रोह का निर्दयतापूर्वक दमन करना पड़ा।

इस प्रकार हिन्दू प्रभावशाली बने रहे और मुस्लिम समाज पर उनका प्रभाव पडा। अधोलिखित विवेचन इस कथन को और भी स्पष्ट करेगा:

मुस्लिम समाज पर हिन्दुओं का प्रभाव—इस युग में मुसलमानों पर राज्य की विशेष कृपा थी और हिन्दुओ को अनेक प्रतिबन्ध और अयोग्यताएँ सहन करनी पडती थी। राज्य के अनेक उच्च पद मुसलमानो के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। सुगमता से अपरिमित धन की प्राप्ति और राजसभा के आनन्दोत्सवों मे सहभागिता ने मुसलमानो मे अनेक बडे-बड़े दुर्गुण उत्पन्न कर दिये और शासकीय-वर्ग को सरलता से आनन्द और भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने योग्य बना दिया। अन्त मे इसने मुस्लिम सम्प्रदाय की शक्ति को चूस लिया।

मुस्लिम विजेताओ ने हिन्दू नारियों, रानियो और राजकुमारियो से विवाह किये। इन हिन्दू स्त्रियो ने अपने नवीन गृहों मे हिन्दू प्रथाओ को प्रस्तावित किया जिससे मुसलमान प्रभावित हुए। मुसलमानो के अन्त.पुरो मे हिन्दू महिलाओ का प्रभाव उन तत्वो मे से एक था जिन्होने इस्लाम और हिन्दू धर्म का समन्वय कराया। भारतीय मातृत्व की परम्परागत भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता और दयालुता ने तुर्कों और मगोल खानाबदोशो की बर्बरता व क्रूरता को कम कर दिया था। कतिपय विद्वानों का मत है कि मुसलमानो की नैतिकता हिन्दुओं के विचार और प्रथाओ से अत्यधिक प्रभावित हुई थी। "एक विचित्र क्रम द्वारा जिससे पत्नी-परित्याग-प्रथा असम्भव हो गयी, मुसलमान व्यावहारिक रूप से एकपत्नीत्व को मानने लगे। हिन्दू प्रभाव के अन्तर्गत विधवाओ का विवाह विरल हो गया।" इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज से सम्पर्क के कारण मुसलमानो मे वर्ग-विभेद की भावना का उत्कर्ष हुआ। कतिपय मुसलमान-शासकों ने उच्चकुलीन व्यक्तियो को ही नियुक्त किया और बलबन ने तो अवसरवादियों को कभी भी प्रोत्साहित नही किया। मुसलमानो के विविध वर्ग एक ही नगर मे परस्पर एक-दूसरे से पृथक होकर विभिन्न मुहल्लों मे रहने लगे। उनमे हिन्दुओ के समान उच्च और निम्न-वर्ग की भावना उदय हुई। उदाहरण के लिए, शेख और सैयद-वर्ग। इसके अतिरिक्त निम्न श्रेणी के पेशेवर समुदाय भी जाति-प्रथा के आधार पर ही सगठित हुए और उनकी भी पचायतें और उनके नियम और उपनियम बनने लगे। मुसलमानो ने जाति-प्रथा तथा अछूत-भावना अपना ली। उनमे जुलाहा, बुनकर, भिश्ती, लुहार, दर्जी, लकड़हारा, आतिशबाजी वाला, शेख, सैयद आदि की जातियाँ बन गयी। इसके अतिरिक्त मूल तुर्को, पठानो व उच्च मुसलमानो द्वारा परिवर्तित धर्म वाले नये मुसलमानो के साथ अछूतो का सा ही व्यवहार किया जाता है।

मुस्लिम समाज मे धन की प्रचुरता होने पर धर्म का प्रभुत्व क्षीण होने लगा और अन्धविश्वास व अनभिज्ञता अपनी जड़ जमाने लगे। फीरोज तुगलक अपनी

पुस्तक 'फुतुह-ए-फीरोजशाही' में अनेक नास्तिक सम्प्रदायों का उल्लेख करता है जिसका उसने कठोरता से दमन किया था और उनके नेताओं को उसने या तो कारागृह में डाल दिया था अथवा उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया था। हिन्दुओं का 'नजर लग जाने' का अन्धविश्वास मुस्लिम समाज में घर कर गया था और इस अन्धविश्वास की 'उतारा' और 'आरती' की प्रथा भी मुसलमानों ने अपना ली एवं इसे 'निसार' कहा गया। हिन्दुओं में परम्परागत मठों, उनके साधु-सन्तों और उनके शिष्यों की जो प्रथा थी, मुसलमानों ने उसे अपने सन्तों के लिए अपना लिया और उन्होंने उसके आधार पर पीर या शेख और उसके वंशजों की प्रणाली का विकास किया। अपनी विविध आकांक्षाओं की पूर्ति के हेतु हिन्दुओं के समान मुसलमान भी इन सन्तों और योगियों के पास जाने लगे और 'मानताओं' या 'मिन्नतों' में उनका विश्वास दृढ़ होने लगा। मुहम्मद तुगलक जैसे मुस्लिम सुलतान और शासक हिन्दू योगियों और साधु-सन्तों के पास अपनी आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति के हेतु जाने लगे। इस बात का भी उल्लेख है कि मुसलमानों ने राजपूतों की 'जौहर-प्रथा' को अपना लिया था। भटनेर के मुस्लिम प्रान्तपति कमालउद्दीन और उसके अनुयायी अपनी स्त्रियों तथा सम्पत्ति को अग्नि में जलाकर तैमूर से युद्ध करने गये थे। दैनिक जीवन में भी मुसलमानों ने हिन्दुओं की प्रथाओं का अनुकरण किया। हिन्दू पगड़ी मुसलमानों में लोकप्रिय हो गयी। हिन्दुओं की दैनिक स्नान की प्रथा और धार्मिक कृत्य करने के पूर्व शरीर को शुद्ध व पवित्र करने की प्रणाली मुसलमानों ने ग्रहण कर ली। हिन्दुओं के उत्सवों और समारोहों तथा त्यौहारों के अनेक तत्त्वों को मुसलमानों ने ले लिया। उदाहरण के लिए, अशरफ के मतानुसार मुसलमानों का 'शबेबरात' का त्यौहार हिन्दुओं के 'शिवरात्रि' के त्यौहार की नकल है। मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में भारतीय मुसलमान विदेशी मुसलमान की अपेक्षा भारत के हिन्दू के अधिक पास है। मकबरों की पूजा भारत के मुसलमानों में ही दिखती है और 'पीरों' की पूजा भारत की पूजा का ही दूसरा रूप है।

हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव—मुस्लिम आक्रमण के प्रारम्भिक युग में हिन्दू समाज में जो अवांछनीय प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई थी, भारत में मुस्लिम आधिपत्य के बाद उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। हिन्दुओं में शिशु-हत्या की प्रथा विस्तृत रूप से फैल गयी और हिन्दू समाज में पर्दा-प्रथा भी विस्तृत रूप से प्रचलित हो गयी। स्त्रियाँ अपने गृहों के क्षेत्र में ही एकान्तवास में रहती थीं। वे पर्दों में ढकी पालकियों में बाहर जाती थी। मुस्लिम स्त्रियों की स्वतन्त्रता भी सीमित कर दी गयी थी। नगर के बाहर सन्तों की समाधियों के दर्शनार्थ भी उन्हें जाने की अनुमति नहीं थी। इस आदेश का उल्लंघन करने वाली नारियों के विरुद्ध कठोर दण्ड निर्धारित कर फीरोज ने अपनी असहिष्णुता प्रकट की थी। इसका प्रभाव हिन्दू स्त्रियों पर भी आया और धीरे-धीरे उनका धार्मिक जीवन घर की चहार दीवारी तक सीमित रहने लगा। मुसलमानों द्वारा कन्याओं का बलात अपहरण होने से बाल-विवाह उस युग की सर्वमान्य प्रथा हो गयी थी। महिलाओं की दशा पहले की अपेक्षा अधिक निम्न स्तर पर आ गयी थी। स्त्रियों को अपने स्वामियों अथवा अन्य पुरुष-सम्बन्धी पर आश्रित होना समाज की प्रमुख विशिष्टता हो गयी थी। उनसे दाम्पत्य जीवन में पूर्ण पति-भक्ति बनाये रखने की आशा की जाती थी। यद्यपि स्त्रियों का सम्मान होता था तथापि कन्या का जन्म एक अशुभ घटना मानी जाती थी। अमीर खुसरो ने अपनी कन्या के जन्म पर स्वयं खेद प्रकट किया था। इसका प्रभाव हिन्दू समाज में भी होने लगा था। हिन्दू स्त्रियों में मुसलमानों से अपने धर्म और सतीत्व की रक्षा करने हेतु

सती-प्रथा देशव्यापी हो गयी। परन्तु इब्नबतूता के कथनानुसार किसी स्त्री को सती होने के पूर्व दिल्ली के सुलतान से एक प्रकार का अनुमति-पत्र प्राप्त करना पड़ता था।

मुसलमानो के आने के कारण भारतीय सामाजिक जीवन मे दासता की अवाछनीय प्रथा घर कर गयी थी। दासता का प्रचलन हो गया था और दास रखना उस युग की सर्वमान्य प्रथा थी। पुरुष और स्त्री दोनो प्रकार के दास रखना मुसलमानो और सामन्तो मे प्रचलित रीति थी। राजकीय दासो की सख्या मे प्राय. वृद्धि हो रही थी। अलाउद्दीन के पास 50,000 गुलाम थे और फीरोज तुगलक के अधीन उनकी संख्या दो लाख हो गयी। बहुसख्यक भारतीय गुलामो के अतिरिक्त पुरुष और स्त्री दोनो प्रकार के गुलाम चीन, तुर्किस्तान और फारस जैसे अन्य देशो से मँगाये जाते थे। सुलतान अपने इन गुलामो का भरण-पोषण राज्य की आय से करते थे। सुलतानो और अमीरो के लिए दासता की यह प्रथा उपयोगी रही हो, परन्तु इसके सामाजिक परिणाम घातक और दूषित हुए। वस्तुत: समाज में यह अप्रगतिशीलता और अमानुषिक तत्त्व की छाप थी। परन्तु खाने जहान, मकमूल और मलिक काफूर के समान प्रतिभावान दासो का उत्कर्ष राज्य मे सर्वोच्च पद तक हो सकता था। मुसलमानो की इस दास-प्रथा का अनुकरण हिन्दू राजाओ और सामन्तो ने भी किया। राजस्थान के राजप्रासादो व अन्त:पुरो मे यह प्रथा आज भी विद्यमान है। आज भी राजपूत राज-घरानों मे स्त्री-दासियाँ दहेज मे दी जाती है।

मुसलमानों की वेष-भूषा और शिष्टाचार भी हिन्दू समाज मे प्रचलित हो गये। जुआ खेलना और शराब पीना इस युग मे सामान्य दुर्गुण हो गये। इनकी बहुलता व अवाछनीय भोग-विलासिता को रोकने के लिए अलाउद्दीन खिलजी और बल्बन ने अनेक राज्याज्ञाएँ जारी की थी। मुस्लिम राजसभा का जो शिष्टाचार था और बैठक के लिए जो विभिन्न श्रेणियाँ थी, उनका अनुकरण हिन्दू नरेशो और सामन्तो ने किया। मुस्लिम प्रभाव की व्यापकता हिन्दुओ के पारिवारिक जीवन के अगो, रीति-रिवाजो, सगीत-नृत्य, वेश-भूषा, भोजन बनाने की प्रणाली, त्योहारो, मेलो, समारोहो व मराठा, राजपूत तथा सिक्ख राजाओ की दरबारी सस्थाओं की विशालता व सुचारुता मे व्यक्त है।

भारत मे इस्लाम के प्रसार और मुस्लिम शासन के प्रस्तुत होने से अन्य सामाजिक प्रभाव लम्ब रूप में समाज का विभाजन था। तेरहवी सदी के पूर्व हिन्दू समाज क्षितिज के समान समतल समानान्तर भागो मे विभक्त था। न तो बौद्ध धर्म और न जैन धर्म ने इस विभाजन को प्रभावित किया परन्तु दोनो ही हिन्दू समाज मे मिला लिये गये। इसके विपरीत इस्लाम ने भारतीय समाज को ऊपर से नीचे तक हिन्दू और मुसलमानो, दो भागो मे विभक्त कर दिया। एक ही देश मे लम्ब रूप से स्थापित दो समानान्तर समाज हो गये। सभी स्तरों पर ये विभिन्न थे और इन दोनो मे घनिष्ठ सामाजिक सम्पर्क का अभाव रहा। इसके अतिरिक्त इस्लाम के धर्म परिवर्तन करने के उत्साह ने हिन्दुओ के सनातनी समुदायो मे अनुदारता को दृढ कर दिया। इस्लाम के विरुद्ध अपनी स्थिति को सुदृढ करने के लिए इन रूढिवादी हिन्दू समुदायो ने जाति के नियमो की कठोरता में वृद्धि कर दी और हिन्दू समाज को सुदृढ करने के हेतु स्मृति-ग्रन्थो मे अनेक नियमो का निर्माण किया। इस प्रकार जाति-व्यवस्था की अधिक जटिलता और नवीन नियमो के निर्माण से हिन्दू समाज पर दो परिणाम हुए—प्रथम, हिन्दू सस्कृति की रक्षा हो सकी और द्वितीय, हिन्दुओ के

जीवन से गतिशीलता, प्रवाह व प्रगति विलुप्त हो गयी और उनमें निर्जीवता घर कर गयी।

हिन्दू समाज के सम्मुख इस समय सामाजिक संगठन और समन्वय तथा समंजन की समस्या थी। सुरक्षा के लिए हिन्दू समाज को इस प्रकार दृढ करना था कि स्वधर्म-त्याग दुष्कर हो जाय और साथ ही ऐसे नियम भी बनाये जायें जिनसे वे व्यक्ति जो बलपूर्वक समाज से पृथक कर दिये गये थे, पुन उसमे लिये जा सके। फलस्वरूप, प्रतिरक्षा के लिए समाज अपने नियमो मे अधिक दृढ हो गया एवं नियमों की अवहेलना व अपालन करने वालों के प्रति अधिक हिंसक बन गया। वस्तुतः समाज अब प्रतिक्रियावादी हो गया था। इसके विपरीत, समाज ने उन समस्याओं का हल खोज निकालने का प्रयास किया जिन्हे मूल स्मृतिकार स्वप्न मे भी नही सोच सकते थे। अतएव कोई आश्चर्य नही, यदि हमे 1200 ई० से 1500 ई० तक के युग मे स्मृति और निबन्ध पर हिन्दुओं द्वारा रचित अनेक ग्रन्थो मे सविस्तृत टीकाएँ प्राप्त हो क्योकि सामाजिक सम्बन्धो का समजन और पुनः निर्माण एक महत्त्वपूर्ण समस्या हो गयी थी, अतएव यह युग स्मृति-लेखको के पूर्ण विकास का है। 'मिताक्षर' का लेखक विज्ञानेश्वर, चौदहवी सदी मे 'मनुस्मृति' का प्रसिद्ध भाष्यकार कुल्लुकभट्ट, चौदहवी सदी के प्रारम्भ मे 'मनुस्मृति' पर अनेक निबन्धों का लेखक चण्डेश्वर, 'पाराशर स्मृति' का टीकाकार, विजयनगर का माधव और 'मदन पारिजात स्मृति' का रचयिता विश्वेश्वर इसी युग मे समृद्ध हुए थे। धार्मिक क्षेत्र मे इस्लाम के प्रभाव से निर्गुण ईश्वर के प्रति पुनः श्रद्धा जाग्रत हो गयी। पर यह सब हिन्दू धर्म के लिए ऐसा था मानों सुरा को एक पात्र से दूसरे मे बदल दिया गया हो। हिन्दुओ के नेताओ ने इस्लाम की तरह हिन्दू धर्म को अधिक सजीव सरल, भावुक व आकर्षक करने के लिए उसकी बाहरी रूपरेखा मे परिवर्तन कर दिया।

परस्पर सामंजस्य, सहयोग और सहिष्णुता की भावना का विकास—हिन्दुओं और मुसलमानो के मूलभूत मतभेदो के होने पर भी आक्रमण और विप्लव की अशान्त सतह के नीचे कालान्तर में जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में पारस्परिक सामजस्य और सहिष्णुता की सुखद धारा प्रवाहित होने लगी थी। कुछ समय व्यतीत हो जाने पर हिन्दुओं और मुसलमानों ने युद्ध और सम्पीडन की निष्फलता व निरर्थकता को समझ लिया था। धीरे-धीरे दोनों समुदायो मे सामजस्य और सहयोग की भावना प्रकट हो रही थी। वे परस्पर एक-दूसरे को जानने और समझने की चेष्टा भी करने लगे। फलत हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य और हिन्दू विज्ञान ने मुस्लिम तत्त्वो को अपनाया ही नही प्रत्युत हिन्दू संस्कृति की भावना और हिन्दू मनीषा की प्रेरणा में भी परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार मुसलमानो ने भी जीवन के हर क्षेत्र के प्रति उन्मुख होकर खुले हृदय से आदान-प्रदान किया। हिन्दुओं के धार्मिक नेताओ और सन्तो ने हिन्दू-मुस्लिम विचारो के समन्वय का सफल प्रयास किया तो मुसलमानो के सूफी सम्प्रदाय तथा उनके लेखको व कवियो ने भी हिन्दू सिद्धान्तो व परम्पराओ को ग्रहण किया। प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वानों और सन्त भारत मे इस्लाम के दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारो के प्रसार के लिए कठोर परिश्रम करने लगे। मुसलमानो के आध्यात्मवाद का एक साधन भारतीय था। पारस्परिक सहिष्णुता की भावना की अभिव्यक्ति मुसलमानो के सन्तो के प्रति, विशेषकर रहस्यवादी आध्यात्मिक सन्तो के लिए, हिन्दुओ की बढ़ती हुई श्रद्धा और भक्ति मे हुई थी और इसी प्रकार मुसलमान

भी हिन्दुओ के साधु-सन्तो के प्रति ऐसी ही श्रद्धा और भक्ति की भावना रखने लगे। हिन्दुओ ने उदारतापूर्वक मुस्लिम पीरो और मजारों का पूजन प्रारम्भ किया। मुस्लिम पीरो की कब्रो पर हिन्दू मिठाइयाँ चढाते और कुरान के पाठ को श्रवण करते। वे कुरान को एक देववाणी के समान मानने लगे, जीवन मे बुरे प्रभावो और अपशकुनो से बचने के लिए घरों मे कुरान की प्रतियाँ रखने लगे तथा भ्रातृत्व प्रदर्शित करने के लिए मुसलमानो को भोजन कराने लगे। पजाब मे अब्दुल कादिर जिलानी के मुरीदो, रावलपिडी के ब्राह्मणो और बहराइच मे सैयद सालार मसूद की मजार के उपासक हिन्दुओ का उल्लेख है। इसी प्रकार अजमेर के शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के भक्तो मे बहुसख्यक हिन्दू भी थे। इसी भाँति मुसलमान भी हिन्दू धर्म की ओर झुके। मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी होने पर भी बगाल मे मुसलमानो ने हिन्दुओ की शीतला, काली तथा धर्मराज, वैद्यनाथ आदि अन्य देवी-देवताओ की पूजा को अपना लिया। इसके अतिरिक्त उन्होने सरिताओ के अधिष्ठाता ख्वाजा खिज्र, सुन्दरतम मधन वन मे सिंह पर सवारी करने वाली देवी के प्रेमी व अगरक्षक जिन्दागाजी आदि नवीनतम मुस्लिम देवताओ का निर्माण किया। सामजस्य, सहिष्णुता, सहयोग और सामीप्य की भावनाओ के इन परिणामो के साथ-साथ सत्यपीर नामक देवता का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही मानते थे। गौड नरेश हुसेनशाह को इसका सस्थापक माना जाता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म और इस्लाम की पारस्परिक प्रतिक्रिया से कई विचित्र समन्वयकारी सम्प्रदायो और क्रियाओं का उदय हुआ।

सामंजस्य, सम्मिश्रण और सामीप्य की मगलकारिणी भावना का प्रभाव इस्लाम पर भी कम न हुआ। उसमे कोमलता और सरसता आ गयी। उसके स्वरूप में खूब परिवर्तन हुआ और सूफी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही, इस सम्प्रदाय के सन्तो को मानने लगे। उनकी समाधियाँ इन दोनो सम्प्रदायो के लिए तीर्थस्थान बन गयी। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती जो अफगानिस्तान से 1192 ई० मे भारत आये थे और जिन्होने अजमेर को अपना केन्द्र बना लिया था, ऐसे ही सूफी सन्त थे। इनकी समाधि 'ख्वाजा साहब की दरगाह' के नाम से आज भी अजमेर मे प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ 'उर्स' के मेले पर बहुसख्यक हिन्दू और मुसलमान आज भी आते है। तेरहवी सदी मे निजामुद्दीन औलिया और सोलहवी सदी मे शेख सलीम चिश्ती सूफी सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध सन्त थे। सन्तो के अन्य सम्प्रदाय सुहरावर्दी और कादरी थे। इन सम्प्रदायो का प्रभाव यह हुआ कि इस्लाम ने अपने भारतीय वातावरण मे सन्त-पूजा को ग्रहण कर लिया। हिन्दू मुसलमानो मे परस्पर मेल और सामीप्य तथा सहिष्णुता की भावनाओ का परिणाम यह हुआ कि सत्यपीर, सत्तनामी, नारायणी आदि ऐसे पन्थो का प्रादुर्भाव हुआ जिनके अनुयायी और मुसलमान दोनो ही थे और जो परस्पर दोनो मे कोई भेद-भाव नही मानते थे। कालान्तर मे मुसलमानो मे पन्थी साहित्य का विकास हुआ।

हिन्दू-मुसलमानो मे परस्पर एक-दूसरे को समझने की भावना ने कश्मीर के जैनुल आबदीन और बगाल के हुसेनशाह जैसे मुस्लिम शासकों की राजभाषाओं में मुसलमानो को हिन्दुओ के सस्कृत साहित्य का अध्ययन करने या अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया। बंगाल के मुस्लिम शासको ने रामायण व महाभारत का सस्कृत से बगला मे, जिसे वे बोलते व समझते थे, अनुवाद करने के लिए विद्वान नियुक्त किये थे। 'बगला भाषा और साहित्य का विकास' नामक अपने ग्रन्थ में

दिनेशचन्द्र सेन ने कहा है, 'बंगला का एक साहित्यक भाषा पर आसीन होना विभिन्न प्रभावों द्वारा सम्पन्न हुआ जिसमें मुस्लिम विजय निस्सन्देह सर्वप्रधान है।' हिन्दी पर भी मुस्लिम प्रभाव हुआ जो हिन्दी के शब्द-भण्डार, व्याकरण, रूपक, छन्द और शैली में स्पष्ट दीखता है। ऐसा ही प्रभाव मराठी, बंगला, सिन्धी और पंजाबी पर भी हुआ। मुस्लिम राजसभाएँ, मुस्लिम धर्मोपदेशक एवं सन्त हिन्दुओं के योग, वेदान्त, चिकित्सा-शास्त्र तथा ज्योतिष-विज्ञान का अध्ययन करने लगे। इसी प्रकार हिन्दू ज्योतिषियों ने भी "मुसलमानों से कुछ वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, अक्षांशों और देशान्तरों की गणना, कलेण्डर के कुछ अंग और जन्म-कुण्डली का कुछ भाग जिसे तजिक कहते हैं, चिकित्साशास्त्र से धातु-क्षार का ज्ञान और रसायनशास्त्र की कुछ क्रियाएँ ले ली।" देश में मुसलमानों ने कुछ नवीन कलाकौशल का भी निर्माण किया, जैसे कागज बनाना, मीनाकारी का काम, बुनाई की विविध प्रणालियाँ व धातुओं में जड़ाऊ कार्य।

सम्मिलन, सामंजस्य, सहिष्णुता और सहकारिता एवं पारस्परिक प्रेम की भावनाओं की अभिव्यक्ति उच्चकुलीन मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रयत्नों में हुई जो उन्होंने हिन्दू वातावरण में रहने पर हिन्दू प्रथाओं को अंगीकार करने के लिए किये थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के दोनों समुदाय शासकीय-वर्ग के सदस्यों में हुए परस्पर सम्मिलन और खान-पान से इन सामंजस्यों को सहायता प्रदान की। इन दोनों समुदायों के बीच तीव्र मतभेद को कम करने का अधिक प्रयास किया गया एवं एक-दूसरे की प्रथाओं को अपनाने में सहयोग दिया गया।

राजनीतिक क्षेत्र में भी सामंजस्य और सहयोग की यह भावना दृष्टिगोचर हुई। स्थानीय शासन की हिन्दू प्रणाली को स्थिर रखने के अतिरिक्त मुस्लिम राज्य ने कभी-कभी बहुसंख्यक हिन्दुओं को सेवा में नियुक्त किया जो शासन की विभिन्न शाखाओं में प्रभावशाली हो गये। उदाहरण के लिए, चन्देरी के मेदिनीराय और उसके मित्र मालवा में माण्डू के सुल्तान के यहाँ उच्च पदों पर थे। बंगाल में हुसेनशाह ने पुरन्दर, रूप और सनातन जैसे हिन्दुओं को नियुक्त किया। गोलकुण्डा के सुलतानों ने कतिपय हिन्दुओं को अपना मन्त्री बनाया, बीजापुर के यूसुफ आदिलशाह ने हिन्दुओं को उत्तरदायित्व के उच्च पदों पर नियुक्त किया और राज्य के अभिलेख व वृत्तान्त मराठी भाषा में रखे। मुस्लिम शासकों और कतिपय सुल्तानों द्वारा, विशेषकर प्रान्तों में हिन्दू मन्दिर और धार्मिक समाधियों को अनेक प्रकार के अनुदान दिये जाते थे। बोधि-गया के महन्त की जागीरदारी का प्रमुख भाग मुहम्मदशाह का अनुदान था। कश्मीर का सुलतान प्रायः अमरनाथ और शारदादेवी के मन्दिर में दर्शनार्थ जाता था और यात्रियों की सुख-सुविधा के हेतु उसने वहाँ विश्राम-स्थल बनवाये थे। मुसलमानों के प्रति राजपूतों की उदारता और वीरता के उदाहरण भी प्रचुर हैं। मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह अपने पराजित शत्रु मालवा के महमूद द्वितीय की स्वतन्त्रता का सम्मान करते थे, सतूर के राणा वनपाल के यहाँ कुतलुगखाँ ने शरण ली थी। रणथम्भौर के राणा हमीर ने यह जानते हुए भी कि अलाउद्दीन सुलतान की क्रोधाग्नि भड़क उठेगी, सुलतान के विद्रोही सरदार को आश्रय दिया और राणा संग्रामसिंह के पास बाबर से युद्ध करते समय मुसलमान सैनिकों का एक दल था। विजयनगर के हिन्दू सम्राट भी अपनी सैनिक सेना में मुसलमानों को नियुक्त करते थे और उन्होंने "अपनी राजधानी और उसके बाहर इस्लाम को संरक्षण दिया

था।" ये राजनीतिक नियुक्तियाँ सम्भवत. सद्भावना की अपेक्षा राजनीतिक आवश्यकता के कारण हुई थी। परन्तु निस्सन्देह इन्होने हिन्दू और मुसलमानो के बीच सहृदयता और बन्धुत्व की वृद्धि का मार्ग सुलभ कर दिया।

धर्म

हिन्दू धर्म पर इस्लाम का प्रभाव—प्रारम्भ मे इस्लाम से हिन्दू धर्म को गहरा आघात लगा, पुरोहितो व पण्डितो की प्रतिष्ठा व प्रश्रय समाप्त हो गया, हिन्दू स्मारक नष्ट हो गये और हिन्दू धर्म राजकीय पोत्साहन से वचित होकर गतिहीन हो गया व इस्लाम का खूब प्रचार हुआ। भारत मे इस्लाम का प्रचार व प्रसार दिल्ली के मुस्लिम राजवशो की अमूल्य देन है। अपने सुन्दरतम सिद्धान्तो के अतिरिक्त इस्लाम भारत मे मानव-समानता की विचारधारा, धर्म में अभियान एव ऐसी कानूनी प्रथा जो उस युग के कानूनो से अनेक प्रकार से आगे बढी हुई थी, लाया। इस्लाम के दृष्टिकोण और मुसलमानो के धार्मिक अभियान ने हिन्दू समाज को प्रभावित किया। राजस्थान के हिन्दू नरेशो और विजयनगर के राजवंश ने धर्म के वीर समर्थक होने की जो भावना प्रदर्शित की थी, वह इस्लाम के सम्पर्क का प्रत्यक्ष परिणाम थी। धर्म की सहायता व रक्षा करना हमीर, कुम्भा, कृष्णदेव राय और रामराय का प्रधान कर्तव्य था। इस्लाम के फलस्वरूप धर्म हिन्दू नरेशो की नीति का एक सक्रिय अग हो गया।

धार्मिक सुधार के आन्दोलन और भक्ति-सम्प्रदाय—इस्लाम और हिन्दू धर्म के परस्पर ससर्ग के महत्वपूर्ण परिणाम हुए। इस सम्पर्क से कुछ ऐसे सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मो के भेदभाव को मिटाने वाले थे और जिन्होने हिन्दू धर्म के सुधार-आन्दोलनो का रूप ले लिया। इस्लाम विश्व बन्धुत्व का सन्देश देता है, धर्म की सादगी का समर्थन करता है, जाति-प्रथा और अस्पृश्यता का खण्डन करता है, मूर्ति-पूजा का विरोध करता है एव एकेश्वरवाद का उपदेश देता है। इस्लाम के ये सिद्धान्त दार्शनिक हिन्दू मस्तिष्क पर चेतन या अचेतन रूप मे अपना प्रभाव डालने लगे और इन्होने इतिहास मे धार्मिक सुधारको के नाम से प्रसिद्ध होने वाले सन्त उपदेशको के उदार आन्दोलनो को प्रोत्साहित किया। विशिष्ट विस्तृत बातो मे कतिपय मतभेद को छोड़कर ये सुधारक उदार भक्ति-सम्प्रदाय के समर्थक थे। इन्होने मूर्ति-पूजा व जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, सभी धर्मो की आधारभूत समानता का उपदेश दिया, एकेश्वरवाद का समर्थन किया, पुरोहित-वर्ग की प्रभुता व धार्मिक कर्मकाण्ड तथा वाह्याडम्बर का विरोध किया और मोक्ष-प्राप्ति के लिए भक्ति, श्रद्धा व विश्वास पर बल दिया। उन्होने जन्म के स्थान पर कर्म को महत्त्व दिया एवं पण्डितो, पुरोहितो तथा मुल्लाओ की सर्वोपरिता की निन्दा की। उनका मत था कि सच्चा धर्म दार्शनिको, पुरोहितो और पण्डितो के दृढ सिद्धान्तो एव मिथ्या वादानुवादो मे नही है और न निरर्थक कर्मकाण्ड मे है परन्तु ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति मे है। उन्होंने मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति को माना।

फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि एकेश्वरवाद जो इस्लाम का प्रमुख सिद्धान्त था और जिसने हिन्दुओ की धार्मिक विचारधारा में नये प्राण फूँक दिये थे, हिन्दुओं को अज्ञात नही था। मुस्लिम विजय के पूर्व भी हिन्दू सुधारको ने घोषणा की थी कि जनप्रिय पूजा के अगणित देवताओ के पीछे केवल एक और एक ही सर्वोपरि ईश्वर है। परन्तु इस्लाम के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त के साथ जो 'संसर्ग हुआ,'

उसने ऐसे विचारों को प्रेरणा दी और रामानन्द, नामदेव, कबीर जैसे धर्मोपदेशकों पर, जिनमे हिन्दू और मुस्लिम प्रभाव का सुन्दर समन्वय है, बड़ा प्रभाव डाला।

इस युग मे प्रथमतः दक्षिण भारत में और इसके बाद उत्तर भारत में धार्मिक सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ हुए। दक्षिण भारत में सुधार-आन्दोलनो के अग्रगण्य नेता शकराचार्य, रामानुज, वासव और माध्व थे और उत्तर भारत मे इनके प्रवर्तक रामानन्द थे। रामानुज और शकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल प्राचीन हिन्दू प्रणालियों मे था और उनका विवेचन भी मौलिक था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज के सिद्धान्त दक्षिण भारत मे प्रचलित नवीन विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रहे। किन्तु इससे अधिक इस्लाम का प्रभाव वीरशैव और लिंगायत सम्प्रदाय पर अधिक पड़ा। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि दक्षिण भारत के समुद्रतट पर बहुसंख्यक मुसलमान बस गये थे। वहाँ उन्हे शासकीय और सामाजिक सम्मान भी प्राप्त हो गया था। कालान्तर में उन्होंने और उनके धर्मोपदेशको ने वहाँ जाति-भेद, धार्मिक कर्मकाण्ड, आध्यात्मिक जीवन, एकेश्वरवाद, शास्त्कला आदि विषयों पर लोगो को सोचने के लिए प्रेरित किया। दक्षिण भारत मे धार्मिक सुधार-आन्दोलनो का सूत्रपात होना यह प्रकट करता है कि उन्हे इस्लाम से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। डॉ० ताराचन्द्र ने अपनी पुस्तक, 'Influence of Islam on Indian Culture' मे इस मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि प्रारम्भ में इस्लाम का प्रभाव अप्रत्यक्ष रहा। फिर भी लिंगायत सम्प्रदाय पर तो इस्लाम का प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर होता है। ये हिन्दू होते हुए भी जाति-प्रथा को नही मानते, उनमे तलाक और विधवा-विवाह का प्रचलन है, शवदाह-क्रिया की अपेक्षा वे शव को भूमि मे गाड़ते है, श्राद्ध और पुनर्जन्म मे विश्वास नही करते और खान-पान मे किसी भी प्रकार का भेद-भाव नही रखते हैं। सक्षेप मे, दक्षिण भारत की विचारधाराओं की कुछ ऐसी विशेषताएँ है जो इस्लाम के प्रभाव की ओर अधिक सकेत करती है, जैसे अद्वैतवाद पर विशेष ज़ोर, भावपूर्ण उपासना, आत्म-समर्पण, गुरुभक्ति, जाति-प्रथा की कठोरता मे कमी तथा कर्मकण्ड की उपेक्षा।

रामानुज—सर्वप्रथम धार्मिक सुधारक शकराचार्य का वर्णन पहले हो चुका है। इनके बाद रामानुज सबसे पहले धर्मोपदेशक थे जिनके सिद्धान्त भक्ति का आधार बन गये। रामानुज जन्म दक्षिण में मद्रास के पास तिरुपती मे 1060 ई० मे हुआ और इनका शिक्षाकाल काजीवरम मे बीता। अपनी विद्वता के कारण वे शीघ्र ही महान वैष्णव आचार्य यमुनामुनि की गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये और त्रिचनापल्ली के समीप श्रीरगम उनका प्रमुख केन्द्र बन गया। उनका जीवन बहुमुखी था एवं कार्यक्षेत्र व्यापक था। उन्होने वैष्णवो का संस्थावद्ध रूप मे सगठन किया। उनके सतत सफल प्रयासो से वैष्णव धर्म की नीव दृढ हो गयी और उसने स्थायी रूप ले लिया। रामानुज सुधारक थे। उनका मत था कि "समाज मे पुरुष अथवा स्त्री की चाहे जो भी दशा हो, परमात्मा के समीप सभी समान है, शर्त यह है कि वे सद्जीवन का पालन करते हों।" उन्होने वैष्णव नाम के अन्तर्गत एकेश्वरवाद का उपदेश दिया और शकराचार्य के अद्वैत मत का खण्डन किया। ईश्वर मे अनन्य भक्ति को ही उन्होंने मुक्ति का एकमात्र साधन बताया। उनका मत था कि आत्मा तथा परमात्मा भिन्न है, यद्यपि आत्माओ का समुदय आग से चिनगारी के समान उसी से होता है। उन्होने निराकार ईश्वर का प्रतिरोध करते हुए कहा कि ईश्वर मे अनेक ऐसे विशिष्ट गुण है,

जिनका भक्त ध्यान कर सकता है। इस प्रकार उन्होंने सगुण ईश्वर का उपदेश दिया। उनका सिद्धान्त "विशिष्ट अद्वैत" नाम से प्रख्यात है। रामानुज का समकालीन निम्बार्क था जिसके सिद्धान्तों मे कृष्ण सृष्टि के सर्वोपरि देवता के रूप मे आते है। उसके अनुसार कृष्ण के चरण-कमलो की भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

माध्व—अन्य प्रसिद्ध उपदेशक माध्व थे जो दक्षिण कन्नड मे उदिपी नामक स्थान के निवासी थे। ये विष्णु के उपासक थे और शिव को कोई महत्त्व नही देते थे। इनके सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान से भक्ति होती है और मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य हरि का प्रत्यक्ष दर्शन है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रामानन्द—इसके बाद अन्य प्रसिद्ध वैष्णव धर्मोपदेशक रामानन्द थे जो पन्द्रहवी शताब्दी मे हुए थे। उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए वे ही अधिक उत्तरदायी हैं। उन्होंने जाति-प्रथा का खण्डन किया और बिना किसी भेद-भाव के सभी वर्गों और जातियो से लोगो को अपना शिष्य बनाया। उनके शिष्यो मे एक नाई, एक मोची व एक मुसलमान था। उन्होंने ईश्वर के सम्मुख मनुष्य की समानता का उपदेश दिया और राम व सीता की पूजा का समर्थन किया। वे पहले सुधारक थे जिन्होंने अपने सिद्धान्तो मे प्रचार के लिए हिन्दी भाषा का उपयोग किया और इस प्रकार जनसाधारण में, विशेषकर निम्न-वर्गों के लोगो मे, उन्होंने ख्याति प्राप्त की।

वल्लभाचार्य—अन्य प्रसिद्ध वैष्णव सन्त वल्लभाचार्य थे जो कृष्ण सम्प्रदाय के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रवर्तक माने गये है। जैसे रामानन्द ने राम-भक्ति का उपदेश दिया उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया। ये दक्षिण के तेलग ब्राह्मण थे और अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता से शीघ्र ही विद्वानों में प्रसिद्ध हो गये। उन्होने शारीरिक यातनाएँ, वैराग और ससार-त्याग का उपदेश दिया एवं सर्वोपरि परमात्मा के साथ अपनी आत्मा व विश्व के सम्पूर्ण एकीकरण पर बल दिया। वे कृष्ण-भक्ति के इतने अधिक समर्थक थे कि उन्होने अपने अनुयायियो को प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा मे समर्पित कर देने का उपदेश दिया। उनका यह सिद्धान्त आध्यात्मिकता से ओतप्रोत था। उनका एकेश्वरवाद "शुद्ध अद्वैत" नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात उनके अनुयायियो ने इस सिद्धान्त का भौतिक अर्थ लगाया। अतएव उनके सिद्धान्तो मे दुर्गुण उत्पन्न हो गये और उनकी मौलिक पवित्रता व सरलता विनष्ट हो गयी। अपने पतित रूप मे यह इन्द्रिय-सुख मे निरत रहने वालों का विषयासक्त धर्म हो गया।

चैतन्य—वल्लभाचार्य के समकालीन प्रसिद्ध और जनप्रिय वैष्णव सन्त और सुधारक बगाल के चैतन्य थे। नदिया मे इनका जन्म हुआ था और पच्चीस वर्ष की अवस्था मे इन्होंने सन्यास ले लिया था। उन्होने जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, मनुष्य के विश्व-बन्धुत्व की घोषणा की और कर्मकाण्ड की निस्सारता प्रकट की। उनका मत था कि प्रेम और भक्ति, भजन और नृत्य के द्वारा आनन्द और उल्लास की ऐसी दशा उत्पन्न होती है जिसमें ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। उन्होने हरिभक्ति का प्रचार किया एव प्रेम, दया, भ्रातृ-भाव का उपदेश दिया। सन्यासी-जीवन के वे पक्षपाती थे और सकीर्तन-प्रथा के वे जनक थे। उन्होने गोसाइयो के सघ को प्रतिष्ठित किया था। प्रेम उनके सम्प्रदाय की प्रधानता थी और इसने जनसाधारण पर अत्यन्त ही गहन और विस्तृत प्रभाव डाला। बंगाल और बिहार मे मनुष्य आज भी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से चैतन्य महाप्रभु का स्मरण करते है। बंगाल में

वर्तमान वैष्णव सम्प्रदाय का अधिकांश श्रेय चैतन्य की भक्ति तथा सेवा के भावों से ओतप्रोत उपदेशों को है।

कबीर— उत्तर भारत के अन्य प्रसिद्ध सन्त कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों मे सामंजस्य की भावना स्थापित करने के लिए उत्साहपूर्वक हार्दिक प्रयत्न किये। उन्होंने प्रेम-धर्म का उपदेश दिया जिसका उद्देश्य समस्त वर्गों और सम्प्रदायों में एकता का विकास करना था। उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की विस्तीर्ण खाई को भरने तथा उसमें सहयोग, समन्वय और सम्मिलन की भावना उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों एवं आडम्बरों का खण्डन करते हुए उनकी आन्तरिक एकता पर अधिक जोर दिया। उन्होंने मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड की निन्दा की, जाति-भेद को व्यर्थ बताया, मनुष्य की समानता पर अधिक बल दिया और इस बात की घोषणा की कि ईश्वर के उच्च सिंहासन के सम्मुख, ऊँच और नीच, मुस्लिम और हिन्दू सभी समान हैं एवं विभिन्न धार्मिक मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। कबीर की शिक्षाओं पर, जो रहस्यवाद से ओतप्रोत थी, इस्लाम के सूफी सन्तों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कबीर एक निर्मल भविष्य के स्वप्नद्रष्टा थे जिसमें असत्य और असमानता तथा आडम्बर और अलंकार का सर्वथा अभाव था। वे समाज के दृढ़ सचेतक, निर्भय आलोचक, हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के प्रथम प्रयासक, मध्य-वर्ग के प्रणेता, मार्गदर्शक, हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान अग्रदूत और विशुद्ध मानव-धर्म के प्रशस्त प्रचारक तथा महान धार्मिक क्रान्तिकारक थे।

नानक— इस युग के अन्य प्रसिद्ध धर्मोपदेशक सिक्ख धर्म के संस्थापक और उपनिषद के विशुद्ध एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को पुनः जाग्रत करने वाले गुरु नानक थे। कबीर के समान उन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया, मूर्ति-पूजा की निन्दा की, बहुदेव-पूजा का विरोध किया एवं हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया। उनका उद्देश्य विभिन्न धर्मों के संघर्ष का अन्त करना था। उनका कथन था कि ईश्वर नाम के सम्मुख जाति और कुल के बन्धन निरर्थक हैं। उन्होंने ईमानदारी, विश्वासपात्रता, सत्यनिष्ठा, दान-दया, मद्य-निषेध आदि उच्चतम आदर्शों का पालन करने का आदेश दिया। उनका मत था कि विश्व का परित्याग कर संन्यास लेना ईश्वर की दृष्टि में आवश्यक नहीं है, उसके लिए तो धार्मिक सन्यास तथा भक्त व ग्रहस्थ सभी समान हैं। उन्होंने मृत्युपर्यन्त हिन्दू-मुसलमानों के तीव्र मतभेदों को दूर करने की सफल चेष्टा की। इनके शिष्यों में हिन्दू व मुसलमान दोनों ही थे। इनके अनुयायी बाद में सिक्ख कहलाये और उन्होंने उनके सिद्धान्तों को 'ग्रन्थ साहब' में संगृहीत किया।

दादू—चैतन्य और नानक के बाद भक्ति-सम्प्रदाय के अन्य नेताओं में दादू का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ था पर उन्होंने अपने जीवन का विशेष समय राजस्थान के नराना और भराना नामक स्थानों में व्यतीत किया। अन्य सन्तों के समान इन्होंने भी मूर्ति-पूजा, जाति-बन्धन, तीर्थ, व्रत, अवतार आदि के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। वे विभिन्न विरोधी सम्प्रदायों को भ्रातृत्व और प्रेम में बाँधकर एक करना चाहते थे। अतएव उन्होंने एक अलग पन्थ का निर्माण किया जो दादू पन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे धार्मिक ग्रन्थों की प्रभुता व प्रामाणिकता मे विश्वास करने की अपेक्षा ईश्वर के साक्षात्कार में विश्वास करते थे

और इसलिए उनका उपदेश था कि हम पूर्णतया अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर दे । ये एक सन्त कवि थे । उन्होने भक्ति से सिंचित प्रभावोत्पादिनी कविताएँ रची थी।

रैदास या रायदास—ये काशी के निवासी थे और चमारी का व्यवसाय करते थे । बाद में ये बड़े सिद्ध सन्त हो गये । ससार के आकर्षण से परे ये एक वीतरागी महात्मा हो गये । इनकी कविताओ मे आत्म-समर्पण और दीनता की भावना झलकती है । इनका कथन था कि "सभी मे हरि और सब हरि मे है ।"

मीराबाई—वैष्णव सन्तो मे मीराबाई का स्थान उच्च है । राजस्थान के गौरव-पूर्ण राठौर वश की राजकुमारी और चित्तौड के प्रतिभासम्पन्न यशस्वी सिसौदिया कुल की रानी होने पर भी उन्होने कृष्ण-भक्ति मे मग्न हो ससार त्याग दिया । सन्तो की भक्ति-भावना का प्रभाव उन पर पडा और उन्होने सन्त मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति की । मीरा कृष्ण की अनन्य भक्त थी ।

सूफी मत और सूफी सन्त

इस्लाम धर्म मे सूफी वह धार्मिक सन्त या साधक है, जो ऊनी चोगे या लबादे का व्यवहार करता है, परम प्रियतम के रूप मे परमात्मा की प्रार्थना व उपासना करना उसके जीवन का लक्ष्य है । सभी रहस्यवादी साधको व सन्तो के लिये इस्लाम मे सूफी शब्द का उपयोग किया जाता है । सूफीवाद प्रगाढ अनन्य भक्ति का धर्म है, प्रेम इसका भाव है, कविता, सगीत और नृत्य इसकी आराधना के साधन है, तथा मानवता की सेवा करते हुए, ईश्वर के साथ बौद्धिक व मधुर भावुक सम्बन्धो को स्थापित कर, ईश्वर मे लीन हो जाना सूफी के जीवन का सर्वोच्च आदर्श है ।

इस्लाम में एक प्रकार का रहस्यवाद है जिसे सूफी मत कहा गया है । सूफी का मूल स्रोत कुरान और मुहम्मद साहब का जीवन है, परन्तु इसमे हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई और निओ-प्लेटोनिज्म का भी प्रभाव है । यूनानी और हिन्दू सभ्यता के सम्पर्क पर यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने हिन्दू दार्शनिक तत्त्वो को अपने दर्शन में मिला लिया था । प्लेटो के इस दर्शन को नीओ-प्लेटोनिज्म (Neo-Platonism) कहते है । जब नवी सदी मे यूनानी ग्रन्थ अरबी भाषा में अनुवादित हुए तब इन नवीन दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रभाव इस्लाम पर पड़ा । मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम के अनुयायियो मे ऐसे व्यक्ति हो गये जिन्होने अपनी भक्ति, श्रद्धा, प्रार्थना, वीतराग व आध्यात्मिक जीवन से सन्तो की परम्परा प्रारम्भ कर दी । इसका गहरा प्रभाव इस्लाम पर पड़ा और रहस्यवाद का सूत्रपात हुआ । इसके अतिरिक्त जब इस्लाम के अनुयायी हिन्दुओ के सम्पर्क मे आये तब इस्लाम के रहस्यवाद पर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो और हिन्दुओ के वेदान्त का प्रभाव पडा । सूफियो के यौगिक (जिक्र) क्रियाओ मे हिन्दू योगियो के क्रिया-कलापो को देखा जा सकता है । सूफियो मे भावाविष्ठ अवस्था को उत्पन्न करने वाली कुछ क्रियाएँ तथा प्राणायाम जैसी विधियाँ हिन्दू धर्म की देन है । सूफी साधको व सन्तो का चिल्ला-ए-मा-कुस (शरीर को विभिन्न यातानाएँ देना), खानका के प्रधान के समक्ष नतमस्तक होना, नवागंतुको को जल देना, सिर मुडाना, सभा (सकीर्तन का आयोजन) आदि तत्त्व हिन्दू प्रभाव को स्पष्ट प्रगट करती है । इन सब प्रभावो के कारण इस्लाम मे एक नवीन धार्मिक विचारधारा प्रवाहित हुई जो सूफी मत के नाम से प्रख्यात हुई । इस प्रकार ईसाई धर्म और नवीन प्लेटोनिज्म ने अपने योगदान द्वारा सूफी मत को मासल बनाया, ईरान के प्राचीन फारसी धर्म और मनी धर्म (Manism) ने अपने भाव से इसे समुन्नत किया तथा

हिन्दू व बौद्ध धर्म ने इसे अनेक विचार-तन्त्र प्रदान किये, विशेषकर रहस्यवाद। नवी सदी तक तो सूफी मत मे केवल रहस्यवाद की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ ही थी, प्रणाली नहीं, परन्तु इसके बाद इसमें दार्शनिक प्रणालियो और पीर तथा दरवेशो के संगठन का विकास हुआ। बारहवी सदी से आगे मुस्लिम मस्तिष्क, साहित्य, दर्शन आदि पर सूफी मत की प्रधानता बढने लगी। दसवी सदी के प्रसिद्ध व्यक्ति हुसेन बिन मसूर अल-हल्लाज के आध्यात्मिक सिद्धान्त सूफी मत मे विशेष महत्त्व रखते है। उसने ईश्वर के साक्षात्कार पर बल दिया। तेरहवी सदी के शेखशहाबुद्दीन सुहरावर्दी और इब्न-अल अरबी ने अपने सिद्धान्तो से सूफी मत का विकास किया। इब्न-अल (हस्नुल) के "वहदतुल वुजूद" के सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक सत्ता एक है। उस महान सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का अस्तित्व नही है। वह एक मात्र सत्ता परमात्मा की है। वह अनेकत्व के पीछे एकत्व है। सुहरावर्दी ने अनन्त प्रकाश और परब्रह्म मे आत्मा के विलीनीकरण पर जोर दिया तो अरबी ने बताया कि ईश्वर का ज्ञान विश्वास, भक्ति और ध्यान से प्राप्त किया जा सकता है। इसने सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना रखने का आदेश दिया क्योकि ईश्वर सभी धर्मो मे दृष्टिगोचर होता है। इब्न-अल-अरबी के डेढ़ सौ वर्ष बाद अब्दुल करीम अल-जिलि ने अपने सूफ़ी मत के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसके मतानुसार मनुष्य चार विभिन्न स्तरों से होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णत्व को प्राप्त होता है और अनन्त ब्रह्म मे विलीन हो जाता है। सभी धर्म एक ही सत्य—ईश्वर के विषय मे विचार मात्र है और पूजन के सभी प्रकार शाश्वत ब्रह्म के किसी न किसी अग की पूजा करते है। स्पष्ट रूप से जिलि के सिद्धान्तो पर हिन्दुओ के वेदान्त की गहरी छाप है। अरबी और फारसी के कवियो और लेखको ने अपने ग्रन्थो मे सूफी मत का खूब प्रतिपादन किया। प्रत्येक सूफी का उद्देश्य परमेश्वर में अपनी आत्मा का विलीनीकरण है। वह ईश्वर को अपनी इच्छा समर्पित कर देता है, अपने पापो के लिए पश्चात्ताप करता है, स्वच्छता, प्रार्थना, व्रत, उपवास, दान और तीर्थयात्रा के नियमों का पालन करता है, शारीरिक यातनाओ और एकान्तवास व मौन से क्रोध, गर्व, ईर्ष्या आदि दुर्गुणो का दमन करता है। यह सर्वप्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में वह आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है। सासारिक वस्तुओ के प्रति उसमे विरक्ति की भावना हो जाती है। अन्तरात्मा के प्रकाश और अनन्त प्रेम से वह ईश्वर मे विलीन होने का प्रयास करता है। प्रत्येक सूफी को आध्यात्मिक गुरु (पीर या शेख) की आवश्यकता होती है जो उसके आचार-विचार को नियन्त्रित कर उसकी आध्यात्मिक प्रगति की देखभाल करता है और उसे ईश्वर में विलीन होने की अनेक अवस्थाओं की ओर ले जाता है। ध्यान, भजन, नृत्य, गीत और प्रेम से भी सूफी भक्त ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सूफी मत मे साधन की पाँच पीढ़ियाँ मान ली गयी है। प्रथम, ईश्वर-आराधना जो उसी की आज्ञानुसार हो, द्वितीय, भक्ति अर्थात ईश्वर के प्रति आत्मा का आकर्षण; तृतीय, एकान्त स्थान मे ईश्वर का ध्यान, चतुर्थ, ज्ञान अथवा ईश्वर के गुणादि का दार्शनिक विचार; और पाँचवा भावोद्रेक अर्थात् ईश्वरीय शक्ति तथा प्रेम के पूर्ण प्राप्त हो जाने पर शरीर का भान न रह जाना। वास्तव मे सूफी मत गहन भक्ति का धर्म है, प्रेम इसकी तीव्र उत्कण्ठा है। कविता, नृत्य, भजन इसकी पूजा है और ईश्वर मे विलीन हो जाना इसका उद्देश्य है। धार्मिक कट्टरता से विमुक्त दार्शनिक, लेखक, कवि और रहस्यवादी सूफी

मत मे आनन्द लेते थे। सूफियों के लिए सभी धर्म समान थे और वे सभी धर्मावलम्बियों को अपने सिद्धान्तों का उपदेश देते थे।

सूफियों के विभिन्न सम्प्रदाय थे। इनके सम्प्रदाय या वर्ग को सिलसिला कहते थे। इनके प्रमुख सम्प्रदाय थे—चिश्ती सिलसिला, सुहरावर्दी सिलसिला, नक्शबन्दी सिलसिला और कादिरी सिलसिला। चिश्ती सिलसिले के प्रमुख और प्रसिद्ध सूफी थे—शेख मुईनुद्दीन चिश्ती, शेख हमीदुद्दीन नागोरी, शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, फरीदुद्दीन मसूद शकरगज, और शेख निजामुद्दीन औलिया सुहरावर्दी सिलसिले के प्रसिद्ध सूफी थे- शेख बहाउद्दीन जकारिया, शेख सद्रउद्दीन आरिफ, शेख रुकनुद्दीन अब्दुल फतह, शेखजलालुद्दीन सुर्ख, आदि। नक्शबन्दी सिलसिले के प्रसिद्ध सूफी थे—अहमद फारूकी, अहमद सरहिंदी, ख्वाजा नक्शबन्द मुजतुल्ला, शाहवली उल्ला और ख्वाजा मीर दर्द। कादिरी सिलसिले के प्रमुख सूफी थे—अब्दुल कादिर अलजीलानी, मुहम्मद गौस, अब्दुल कादिर द्वितीय, शेख दाउद किरमानी, और शेख अब्दुल या अली।

सूफी मत के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके सिद्धान्तों पर हिन्दू धर्म की गहरी छाप रही। इस सूफी आन्दोलन के कारण मध्य युग मे भक्त तथा विद्वान, हिन्दू और मुसलमान एक ही स्थान में बिना भेद-भाव के परस्पर हिलमिल सकते थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, शेख सलीम चिश्ती, मलिक मुहम्मद जायसी, कुतुबन आदि सूफी सन्तों को हिन्दू और मुसलमान दोनों ही श्रद्धा व भक्ति की दृष्टि से देखते थे।

भारत में सूफी सन्तों का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों में समन्वय की भावना उत्पन्न की। उन्होंने अपने शिष्यों मे समाज सेवा, सद्व्यवहार, सच्चरित्र, सहिष्णुता व क्षमा जैसे गुणों पर अधिक बल दिया। उनकी निष्ठा एकेश्वरवाद मे थी और एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया। अनेक धर्म उस एक ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग है। इसलिये उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि धर्म को लेकर वाद-विवाद और संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है। सूफी सन्तों ने अपने विचारों, भावों और सिद्धान्तों को कविताओं मे—मसनवियों, रुबाइयों और गजलों मे—अभिव्यक्त किया है। इससे हिन्दी मे खडी बोली का काव्य और फारसी काव्य भी अधिक सम्पन्न और समृद्ध हुआ है। सूफी सन्तों की रचनाएँ साहित्य की अपार निधि हैं।

महाराष्ट्र के सन्त—महाराष्ट्र मे इस्लाम के सिद्धान्त समानता, बन्धुत्व, एकेश्वरवाद, मूर्ति-पूजन का खण्डन आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं भक्ति के सिद्धान्त का प्रचार होने लगा था। महाराष्ट्र मे ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनो प्रकार के सन्तों ने जाति-बन्धनों का विरोध किया, ईश्वर की भक्ति का समर्थन किया व एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इसका प्रारम्भ सन्त ज्ञानेश्वर से होता है जो महाराष्ट्र मे तेरहवी सदी मे प्रसिद्ध हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणों के प्रभुत्व व जाति के प्रतिबन्धों के विरुद्ध आवाज उठायी और ईश्वर की सर्वोपरिता का समर्थन किया। इन्होंने महाराष्ट्र मे आध्यात्मिक जीवन-सूत्र के आदर्श का निर्माण किया। इसके बाद रामानन्द के समकालीन विसोबा खेचर ने मूर्ति-पूजा का घोर विरोध किया। खेचर के शिष्य नामदेव ने महाराष्ट्र मे धार्मिक-संकीर्णता, बाह्य कर्मकाण्ड और जाति-बन्धनों को तोडने पर

अधिक बल दिया। उनका उपदेश था कि मुक्ति ईश्वर की भक्ति और प्रेम द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अपने आराध्यदेव विठोबा के प्रति इनकी बहुत भक्ति थी। इनकी अलौकिक भक्ति के अनेक चमत्कार हैं— जैसे विठोबा (विष्णु) की मूर्ति का उनके हाथ से दूधपीना, अविन्द नागनाथ के शिव मन्दिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना आदि। इनके महात्म्य ने महाराष्ट्र में यह सिद्ध कर दिया कि "जाति-पाँति पूछेनहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" नामदेव ने कीर्तन द्वारा भक्ति का प्रसार किया।

एकनाथ भी महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त थे। उनका उपदेश था कि गृहस्थाश्रम मे रहकर भी भक्ति द्वारा परमार्थ हो सकता है और मुक्ति प्राप्त हो सकती है। एकनाथ के समकालीन दासोपंत नामक अन्य भक्त सन्त थे। परन्तु सन्त तुकाराम इनसे भी अधिक प्रसिद्ध है। भक्ति से ओतप्रोत तुकाराम के 'अभंग' आज भी महाराष्ट्र में घर-घर मे सुनायी पड़ते है। गृहस्थाश्रम के बाद वैराग्य लेने पर उन्होने भक्ति का विशेष प्रचार किया और 'वारकरी' नामक पन्थ भी चलाया। महाराष्ट्र के आराध्य देव का रूप पाण्डुरग, विठोबा या विट्ठल है। विट्ठल को विष्णु का अपभ्रंश माना गया है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में सन्त भक्तों का महत्त्व और उनकी देन

कबीर, नानक, दादू और नामदेव जैसे धर्म-सुधारकों के उपदेशो पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने अपने सीमावर्ती रहने वाले मुसलमानों से खूब प्रेरणा प्राप्त की थी। इस्लामी समाज का उदाहरण हिन्दुओ के ईर्ष्या-द्वेष को गलाने वाला पदार्थ था। सभी सुधारको ने जाति-प्रथा की निन्दा की, बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा का खण्डन किया और सच्चा धर्म, सात्विक आचरण एव पवित्र जीवन का समर्थन किया। उनका कथन था कि सच्चा धर्म निरर्थक आडम्बरों में निहित नही है, पर भक्ति व ईश्वर के पवित्र प्रेम में है। और ईश्वर सब का है। धार्मिक सुधार करने वाले सन्तों की यह प्रथम देन है। जिस प्रमुख महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का उन्होने उपदेश दिया, वह यह था कि ईश्वर हिन्दुओ और मुसलमानो, चाण्डालो और ब्राह्मणो सभी का है और उसके सम्मुख सब समान है। उन्होंने प्रेम व दया से पूर्ण अपने उपास्य-देव की भक्ति का उपदेश दिया और उसी को मुक्ति का साधन बतलाया। भक्ति मे सर्वोपरि ईश्वर ही भक्त की उपासना श्रद्धा एव प्रेम की वस्तु बन जाता है और मुक्ति के लिए भक्त ईश्वर की अनुकम्पा की ओर देखता है। वस्तुत सभी भक्ति-सम्प्रदाय एकेश्वरवादी है क्योकि यद्यपि भक्तगण शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, या देवी किसी की भी उपासना करते है, परन्तु ये सब एक अनन्त ईश्वर के प्रतीक हैं। फलत भक्ति ने सर्वप्रिय लोक धर्म का रूप धारण कर लिया और भक्ति-सम्प्रदाय ने तेरहवी से पन्द्रहवी सदी तक भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों व भावनाओ का दमन करने वाले मुस्लिम शासको के होते हुए भी प्रभूत प्रगति प्रगति की।

इन प्रतिभाशाली सन्तो और सुधारको की दूसरी देन यह है कि धार्मिक पुनर्जागरण का जो आन्दोलन इन्होने प्रारम्भ किया, उसका उद्देश्य हिन्दू धर्म और इस्लाम में समन्वय करना, साम्प्रदायिक एकता व सद्भावना स्थापित करना एव सहिष्णुता व सहयोग का वातावरण निर्माण करना था। इन्होने मुसलमानों और हिन्दुओं मे परस्पर मेल-जोल बढाने मे योग दिया एवं दोनों सम्प्रदायों के लोगो को उत्तम मानव बनने की शिक्षा दी। ऐसे ही वातावरण में देश मे मुगल शासन की स्थापना हुई।

इन सन्तो और सुधारकों की तीसरी देन है सामाजिक सुधार। इन सन्तों ने अपने उपदेशो से जनता के मस्तिष्क को पण्डितो, पुजारियो और मौलवियो के ढोंग से मुक्त करने मे सहायता दी, धार्मिक पक्षपात, कट्टरता और असहिष्णुता को कम करने का प्रयत्न किया, धार्मिक कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बर की निस्सारता प्रदर्शित की, बहुदेव-पूजा की रोकथाम की एव एकेश्वर का पुन प्रचार किया। उन्होने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को कट्टर, अनुदार व अपरिवर्तनशील भावनाओ से मुक्त किया, निम्न श्रेणी के लोगो के लिए आध्यामिक तथा सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाया, जन्म की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया एव समाज मे उदारता, सहनशीलता, दान आदि की उच्चतम भावनाओं का प्रसार किया। वास्तव मे उन्होने 'देश को विचार और कार्य दोनो ही दृष्टियो से ऊँचा उठाने तथा उसे क्षमताशील बनाने मे सफलता प्राप्त की।"

इन सन्त भक्तो की चौथी देन यह है कि उन्होने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे भी हिन्दू जीवन को सुरक्षित रखा एव धर्म और साहित्य के गौरव की रक्षा की।

इन प्रतिभासम्पन्न सन्तो की पाँचवी देन है देशज भाषा के साहित्य की प्रगति। अपने धार्मिक आन्दोलन के देशव्यापी और जनप्रिय बनाने के हेतु इन्होंने सस्कृत के स्थान पर देशज भाषाओ को अपना माध्यम बनाया। फलतः इन भाषाओ मे साहित्य की रचना हुई। भक्ति के आनन्द से विभोर होकर इन सन्तो की आत्मा नृत्य करने लगी और इस आध्यामिक हर्षातिरेक मे उन्होने जो कविताएँ व भजन रचे, वे अधिक सरस और मौलिक हो सके। भारतीय साहित्य की वास्तव मे वे अमर निधि है। अब हम साहित्यिक गतिविधि का विवेचन करेगे।

साहित्य

देशज भाषाओं के साहित्य का विकास—कतिपय मुस्लिम सुलतान व शासक साहित्य मे अधिक रुचि रखते थे और उनके राज्याश्रय मे उच्च कोटि का साहित्य तैयार हुआ। अमीर खुसरो, मीर हसन देहलवी, अहमद थानेसरी, काजी अब्दुल मुक्त दीर शनीही, बद्र-ए-चच, अमीउलमुल्क मुलतानी दिल्ली के सुलतानो के युग मे साहि-त्यिक नभ-मण्डल के देदीप्यमान नक्षत्र थे। मुहम्मद तुगलक की राजसभा कवियो, तर्क शास्त्रज्ञो, दार्शनिको और वैद्यो से सुशोभित थी। इसी प्रकार प्रख्यात कवि और लेखक प्रान्तीय राजवशो की राजसभाओ मे भी रहते थे, जिनके सरक्षण मे प्रचुर साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। जौनपुर अरबी विद्वत्ता, इस्लाम-दर्शन के अध्ययन और साहित्य का केन्द्र था और वहाँ का सुलतान इब्राहीम शाह शर्की विद्वानो का उदार आश्रयदाता था। उसके शासनकाल में अनेक साहित्यिक व दार्शनिक ग्रन्थो का सम्पा-दन हुआ। चौदहवी शताब्दी मे फीरोज़ तुगलक ने दर्शनशास्त्र, ज्योतिष आदि ग्रन्थों का फारसी मे अनुवाद कराया। लोदी वश के सुलतान सिकन्दर के शासनकाल में संस्कृत भाषा के आयुर्वेद ग्रन्थो का अनुवाद फारसी मे किया गया।

परन्तु इस्लाम ने देशज भाषा के साहित्य को शीघ्र ही खूब प्रेरणा दी। यह साहित्य अपने विकास के काल में था। सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन ने देशज भाषा के साहित्य के विकास को खूब प्रोत्साहन दिया। धार्मिक सुधारको और सन्तो ने अपना उपदेश देशज भाषाओ में किया और अपने सिद्धान्त भी इन्ही भाषाओ मे लिखे जिससे साधारण जनता उन्हे भलीभाँति समझ सके। मुस्लिम सन्तो और पीरो ने भी अपने

सिद्धान्तो के प्रसार हेतु लोगों की बोलचाल की भाषा का उपयोग किया। इस प्रकार रामानन्द और कबीर ने हिन्दी मे अपना उपदेश दिया। मीराबाई और राधा-कृष्ण-भक्तो और अन्य सन्तो ने ब्रज-भाषा मे अपने भजन व गीत गाये। नानक और उनके शिष्यों ने पंजाबी और गुरुमुखी को प्रोत्साहित किया। इन सभी सन्तो ने हिन्दी काव्य को ही अधिक सम्पन्न नही बनाया, वरन् हिन्दी साहित्य में अनेक पवित्र धार्मिक ग्रन्थो और पदो की रचना मे भी बहुत योग दिया। इस साहित्यिक प्रगति का विवेचन इस प्रकार है :

हिन्दी साहित्य—प्रान्तीय राजसभाओं के उदार आश्रय ने देशज भाषाओं के साहित्य के विकास मे अत्यधिक योग दिया। पृथ्वीराज चौहान की राजसभा के कवि चन्दबरदाई और हिन्दी के प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक हिन्दी के सर्वप्रथम कवि थे। 'पृथ्वीराज रासो' मे हिन्दी के प्रसिद्ध वीर शिरोमणि नरेश पृथ्वीराज चौहान के जीवन-चरित्र और मुसलमानो से किये गये उनके युद्ध का वर्णन है। चन्दबरदाई का समकालीन लब्धप्रतिष्ठ जगनिक था जिसने 'आल्हाखण्ड' नामक प्रसिद्ध गीत-काव्य की रचना की है। इसमें ओजस्वी भाषा मे महोबा के आल्हा और ऊदल के युद्ध और प्रेम के प्रसगो का वर्णन है। विद्याधर ने कन्नौज के नरेश जयचन्द के प्रताप और पराक्रम का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया है। राजस्थान मे राजपूत राजाओ और सामन्तों के वीरतापूर्वक कार्यों से सम्बन्धित गाथाओ के विशद् साहित्य का उत्कर्ष हुआ। शारगधर का 'हम्मीर रासो' और 'हम्मीर काव्य' इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय है। इस 'रासो' मे रणथम्भौर के नरेश हमीर का गौरव-गान है।' अलाउद्दीन की सेना से हम्मीर का जो युद्ध हुआ था, इसका उसमे ओजस्वी वर्णन है। इसी प्रकार नाल्हसिंह ने 'विजयपाल रासो' रचा जिसमे करौली नरेश-विजयपाल के युद्धों का ओजपूर्ण वर्णन है; नरपत नाथ ने वीर-गति के रूप में ''बीसलदेव रासो' और एक अज्ञात भाट ने 'खुमान रासो' जिसमें श्रीराम से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन है, लिखा है। इन ग्रन्थो का काल वीरगाथाकाल कहा गया है। इसके बाद हिन्दी में धार्मिक सुधारकों व सन्तो के पवित्र ग्रन्थो का युग आरम्भ होता है।

इसमे सर्वप्रथम गोरखनाथ और महाराष्ट्र के सन्त नामदेव सम्मुख आते है। इन्होने जन-समुदाय की भाषा में अपने पद लिखे है। परन्तु सबसे अधिक प्रसिद्ध कबीर, मीरा और नानक है। कबीर ने हिन्दी साहित्य को लगभग 20,000 पद दिये है। इनकी रचनाओ मे गुरुभक्ति, निर्गुण उपासना का गुणगान और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना की प्रधानता है। कबीर का रहस्यवाद हिन्दी साहित्य मे एक विशिष्ट स्थान रखता है। सिक्ख धर्म के प्रणेता गुरु नानक ने भी अपने पदो से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया। कबीर, नानक, धरमदास दाऊदयाल, सुन्दरदास, सुन्दर-विलास, मलूकदास आदि ने सन्त साहित्य की रचना की। कृष्ण की अनन्य भक्त, मीराबाई ने, कृष्ण की उपासना माधुर्य-भाव से की थी। उन्होने कृष्णभक्ति और उपासना पर राजस्थानी व ब्रजभाषा मे अनेक पद लिखे है। 'नरसीजी का मायरा, 'गीत-गोविन्द टीका' और 'राग गोविन्द' मीरा के प्रसिद्ध ग्रन्थ माने गये हैं। इन सन्तों के अतिरिक्त सूफी मत को मानने वाले प्रेममार्गी सन्तो ने भी अपने अनेक ग्रन्थो मे हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया है। इनमे मुल्ला दाउद ने 'चन्दावत', कुतुवन ने 'मृगावती', मझन ने 'मधुमालती' और मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की। इसमे प्रेम साहित्य का प्रतिपादन किया

गया। जायसी के ग्रन्थ में सूफी सिद्धान्तो का सरल व मनोरंजक निरूपण है और अध्यात्मिक अभिव्यजना इसकी विशेपता है। काव्यकला का यह ग्रन्थ उत्कृष्ट उदाहरण है। इस काल के हिन्दी साहित्य का वर्णन अधूरा ही रह जायेगा, यदि यहाँ अमीर खुसरो का विवेचन न किया गया। खुसरो खिलजी और तुगलक साम्राज्य का राजकवि और हिन्दी मे मनोरंजक साहित्य का जन्मदाता था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे थे और उनकी रचनाएँ आज भी आदर से देखी व पढी जाती है। यह वहुमुखी प्रतिभासम्पन्न था। अतएव इसने गजले, इतिहास (फारसी मे), कोष, संगीत व पहेलियो से पूर्ण साहित्य की रचना की। जनसाधारण की खडी वोली की भापा को साहित्यिक रूप देने मे खुसरो सवसे प्रथम सफल हुआ।

मराठी साहित्य—मध्य-युग मे लगसग चार सौ वर्ष पूर्व से मराठी साहित्य का श्रीगणेश होता है। पर जनसाधारण की दृष्टि मे आ सके और उस पर साहित्य का प्रभाव रह सके, ऐसी विकसित मराठी साहित्य की रचना मध्य-युग मे ही होती है। तेरहवी सदी के प्रसिद्ध महाराष्ट्री सन्त ज्ञानेश्वर से ही मराठी वाङ्मय का विकसित स्वरूप प्रारम्भ होता है, यद्यपि इनके पूर्व चक्र देव (महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक), भास्कर भट्ट, नरेन्द्र व मुकन्दराज हो गये थे। प्राकृत मराठी मे लिखी हुई ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' मराठी का अमर काव्य है। यह ग्रन्थ जनसाधारण के लिए गीता पर लिखा गया था। सन्त नाम के भक्ति से ओतप्रात पद (अभग) भी मराठी मे प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर से लगभग ढाई सौ वर्प वाद सन्त एकनाथ का उत्कर्ष हुआ। ये संस्कृत के महान पण्डित थे। इन्होने भागवत का अनुवाद निर्भीकता पूर्वक से मराठी भापा में किया। इनके अन्य ग्रन्थ 'रुक्मिणी स्वयंवर' और 'भावार्थ रामायण' विख्यात है। एकनाथ के समकालीन दासोपन्त की अनेक फुटकर व पुस्तकाकार रचनाएँ है जिनमे 'गीतावर्ण' व 'पदार्णव' मराठी मे प्रसिद्ध है। परन्तु इनसे अधिक प्रसिद्ध सन्त तुकाराम के 'अभंग' है। महाराष्ट्र का प्रत्येक गृह इन 'अभंगो' से आज भी प्रतिध्वनित होता है। मराठी मे इन सन्तों ने सन्त 'वाङ्मग की परम्परा प्रारम्भ की।

गुजराती साहित्य— मराठी के समान ही गुजराती भापा के साहित्य का विकसित स्वरूप भी मध्य-युग मे दृष्टिगोचर होता है। दसवी सदी मे गुजरात मे अपभ्रंश भाषा का प्रयोग होने लगा और इसी भाषा मे मध्य-युग के प्रारम्भ मे राजसभा के भाटो और चारणों द्वारा राजपूत नरेशो की कीर्तिमान के हेतु 'रास' की रचना हुई और जैन साधुओ ने धनाढ्य और धार्मिक व्यक्तियो के यश-गौरव मे कहानियाँ और कविताएँ लिखी। इन लोगो की भापा मारवाडी, व्रज तथा अन्य प्रादेशिक भापाओ का सम्मिश्रण थी। गुजराती भापा का उत्कर्ष इसी सम्मिश्रित भापा से हुआ। मध्य-युग मे जव 1268 ई० से 1410 ई० तक मुसलमानो ने अन्हिलवाड़ा, खम्भात, सोमनाथ व गोडल, इडर जीतकर अहमदावाद की नीव 1412 ई० मे डाली, तव जैन साधुओ ने गुजराती साहित्य की परम्पराओ और पवित्रता को वनाये रखा और इससे पन्द्रहवी सदी मे लोकप्रिय गुजराती साहित्य की वीजारोपण हुआ। जैन साधुओ ने अपने धर्म-प्रचार के हेतु लोगो को उनकी वोलचाल की भापा मे उपदेश देने के लिए काव्य मे अनेक 'रास' रचे है। जयानन्द सूरी का 'क्षेमप्रकाश,' गुणरत्न सूरी का 'भारत वाहुवली रास', विजय भद्र का 'शीलरास', उदयवन्त का 'गौतम स्वामीरास' और हरसेवक का 'मदनरेखा' (मयणरेहा) विशेप उल्लेखनीय रास है। 1399 ई० के लगभग श्रीमुनि सुन्दर सूरी ने गुजराती गद्य और पद्य मे 'शान्तिरास' की रचना

की। चौदहवी सदी में जैन साधुओं ने अनेक सूत्रों का अनुवाद गुजराती में किया। चौदहवी शताब्दी तक उपरोक्त लेखकों ने लोकप्रिय कहानियाँ, जीवन-चरित्र, धार्मिक विधियाँ, चिकित्सा, धार्मिक तथा अन्य विषयो पर रचनाएँ लिखी।

उत्तर भारत में धार्मिक सुधार के आन्दोलन और भक्ति-सम्प्रदाय की जो लहरें उत्पन्न हुई थी, उनसे गुजराती साहित्य भी हिन्दी व मराठी साहित्य के समान अधिक सम्पन्न हुआ। गुजरात के भक्त सन्तों व कवियों मे मीरावाई और नरसिंह मेहता का स्थान ऊँचा है। मीरा के भक्ति व माधुर्य-भाव से ओतप्रोत अनेक गुजराती पद है। मीरा के ये पद आज भी गुजरात में घर-घर में गूँजते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त नरसिंह मेहता (1414–1481 ई०) गुजरात में अपनी कृष्ण-भक्ति के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये है। अनुश्रुतियो के अनुसार गुजराती मे उनके सवा लक्ष पद माने गये हैं। उनकी रचनाएँ शृंगार और भक्ति दो भागो में विभाजित है, पर उनमे अध्यात्मवाद की गहरी छाप है। 'हारमाला,' 'सुदामा-चरित्र', 'चातुरी पोडसी', 'चातुरी छत्रीणी' 'सामलदास नो विवाह', 'धानलीला' और 'गोविन्दगमन' इनके लोकप्रिय और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मेहता के पश्चात भालन और भीम प्रसिद्ध कवि हो गये है। प्रथम ने वाणभट्ट की 'कादम्वरी' का गुजराती अनुवाद किया और द्वितीय ने भागवत गाथाओं की रचना की। इनके समकालीन पद्मनाभ ने ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ की रचना की, जिसमे मुसलमानो द्वारा गुजरात व काठियावाड़ की विजय और राजपूतो के शौर्य की कहानी है। सोलहवी सदी मे गुजराती साहित्य के वत्सो, वत्छराज और तुलसी विशेप विशेप उल्लेखनीय कवि है। वत्सो के 'शुकदेव आख्यान', 'सुभद्रा हरण' और 'साधु चरित्र', वच्छराज की 'रास मंजरी' और तुलसी का भक्त ध्रुव पर लिखा काव्य-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कुशल लाभवाचक नामक जैन साधु ने अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे जिनमे 'मारू डोला चौपाई' और 'माधवानल कामकाण्डला रास' अधिक प्रसिद्ध है। सोलहवी सदी में गुजराती गद्य का विकास होने लगा था और 'पंचतन्त्र', 'रामायण', 'योगवशिष्ट' और 'भगवद्गीता' का अनुवाद 'गुजराती गद्य मे हो गया था।

बंगला साहित्य—इस युग मे कवि विद्यापति और चण्डीदास के ग्रन्थों से बंगला साहित्य का विकास हुआ। प्रारम्भ मे इन्होने कृष्ण सम्बन्धी गीतो की रचना की। विद्यापति की संगीतमय पदावली राधा-कृष्ण के चरणो मे समर्पित की गयी है। उनकी कविता में शृंगार और भक्ति स्पष्ट झलकते है। विद्यापति को मैथिली भाषा का भी प्रमुख कवि माना जाता है। बगला साहित्य को वहाँ के स्थानीय मुस्लिम शासको ने खूब प्रोत्साहित किया। उन्होने संस्कृत की रामायण और महाभारत को वगला भाषा मे अनुवादित करने के लिए विद्वानो को नियुक्त किया। इस प्रकार गौड के सुलतान नुसरतशाह ने बंगला मे महाभारत का अनुवाद करवाया। कृत्तिवास ने जिसका ग्रन्थ उच्च कोटि के व्यक्तियों के लिए यथार्थ मे 'वाइविल' है, वगला में साधारण जनता की भाषा में सस्कृत रामायण का अनुवाद किया। कृत्तिवास को गौड के सुलतानो का राज्याश्रय प्राप्त था। सुलतान हुसेनशाह के संरक्षण मे मलधर वसु ने गीता का अनुवाद वगला मे किया। इसके वाद चैतन्य ने अपने गीतों और भजनो से वंगला को सम्पन्न किया। उनके अनुयायियो ने अपने गीतों, कविताओ और संस्कृत ग्रन्थो के अनुवादो से वंगला साहित्य की श्रीवृद्धि की। चैतन्य के युग के वाद वगला को सोलहवी शताब्दी में शिव-दुर्गा सम्बन्धी साहित्य ने आच्छादित कर लिया था।

दक्षिण की देशज भाषाओं का साहित्य—तेरहवी और चौदहवीं सदी में दक्षिण मे शैव सम्प्रदाय के आन्दोलन ने साहित्यिक प्रयासो को खूब प्रोत्साहन दिया और तामिल मे शैव सन्तो द्वारा नवीन साहित्य का विकास हुआ। विजयनगर के नरेशो द्वारा तेलगू साहित्य को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। कृष्णदेव राय साहित्य मे अभिरुचि रखता था और वह स्वय उच्च कोटि का ग्रन्थकार था एव एक काव्य-ग्रन्थ की रचना भी उसने की थी। उसे आन्ध्र का 'राजा भोज' कहा जाता था। तेलगू साहित्य मे उसका वही स्थान है जो सस्कृत साहित्य में राजा भोज का था। उसकी राजसभा का प्रमुख कवि अल्लासानी पेड्डाना वडा प्रतिभासम्पन्न मौलिक लेखक था। तेलगू मे मौलिक काव्य का उसे जनक माना जाता है। उसकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'मनुचरित' है। 'मारकण्डेय पुराण' से इस ग्रन्थ की सामग्री ली गयी है। इसमे एक ब्राह्मण 'प्रवराख्य' की रोचक कथा है जिसके हृदय में मनु के जन्म-स्थान हिमालय के शृ ग पर पहुँचने की उत्कण्ठा थी। इस काल का अन्य महान कवि 'पारिजात अपहरण' का रचयिता नन्दि तिम्मण था। इस ग्रन्थ मे नारद ऋषि की सहायता से इन्द्र के उद्यान से कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के लिए पारिजात पुष्प लाने की कथा वर्णित है। इसके कई वर्षों बाद अप्पाय दीक्षित हुआ जो तामिल ब्राह्मण था। वह अपने युग का बहुत वडा प्रसिद्ध दार्शनिक माना जाता है।

इस मध्य-युग मे जैनियो ने भी अत्यधिक धार्मिक और ऐहिक साहित्य की रचना की। अनुप्रास और यमकयुक्त कविता, जो देशज भाषाओ की विशेषता मानी जाती है, जैनियो ने अपने 'अपभ्र श' भाषा के ग्रन्थो मे खूब लिखी है। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन लेखको ने अपने ग्रन्थो से कन्नड और तामिल भाषाओ के साहित्य को खूब प्रेरणा दी। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हेमचन्द्र सूरी ने सस्कृत मे अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसने अपने ग्रन्थो से जैन विचारधारा और सस्कृति का समन्वय करने के सफल प्रयास किये। अन्य जैन साधुओ ने भी अपभ्रंश और गुजराती भाषाओ मे विभिन्न विषयो पर अनेक ग्रन्थो की रचना की। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप धर्म के समान साहित्य पर भी विद्वानो का एकाधिकार कम होता गया और साधारण जनता का अधिक से अधिक बढ़ता गया।

संस्कृत में साहित्यिक प्रगति—देशज भाषाओं में रचनाओ का बाहुल्य एवं उनमे प्रभूत प्रगति होने पर भी सस्कृत साहित्य की उन्नति अवरुद्ध नही हुई और यह युग सस्कृत साहित्य के धार्मिक तथा ऐहिक ग्रन्थो से सर्वथा शून्य नही रहा। 1300 ई० के लगभग पार्थसारथी ने कर्म-मीमासा पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस युग मे कतिपय ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गये थे जो दर्शन के योग, वैशेषिक और न्याय-प्रणाली के सिद्धान्तो का विवेचन करते थे। अनेक महत्त्वपूर्ण नाटक, जैसे जयसिंह का 'हमीरमद-मर्दन', रविवर्मन का 'प्रद्युम्न अभ्युदय', विद्यानाथ का 'प्रताप रुद्र कल्याण', वामन का 'पार्वती परिणय', रूप गोस्वामी का 'विग्दध माधव' तथा 'ललित माधव' विशेष उल्लेखनीय है। शास्त्रीय साहित्य के विषय मे कहा जा सकता है कि इस काल मे कुछ उत्तम टीकाएँ लिखी गयी। स्मृति और व्याकरण का साहित्य मिथिला और बगाल मे खूब समृद्ध हुआ। विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन की पद्धति पर प्राचीन न्याय-ग्रन्थो के अनेक भाष्य रचे गये। इस क्षेत्र मे मिथिला अत्यधिक प्रसिद्ध हो गयी थी और न्याय के क्षेत्र मे उसका अपना एक विभिन्न मत (school) उत्पन्न हो गया था तथा पन्द्रहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे समृद्ध हुआ। सस्कृत व मैथिल भाषा का विद्वान

वाचस्पति मिश्र मिथिला के ग्रन्थकारों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सोलहवी शताब्दी मे पश्चिम भारत में न्यायशास्त्री नीलकान्त हुआ जिसने 'व्यवहार मयूख' की रचना की। बंगाल में भी न्याय, स्मृति और भक्ति-दर्शन खूब फले-फूले। इस क्षेत्र में रघुनाथ शिरोमणि और रघुनन्दन मिश्र अधिक प्रसिद्ध हुए। मेवाड़ में राणा कुम्भा की राजसभा संस्कृत-ज्ञान व संस्कृत का केन्द्र थी। दक्षिण भारत में विजयनगर के नरेशों के राज्याश्रय में माधव और सायण बन्धुओं के साथ पण्डितो के एक दल ने वेदो पर आधारित ग्रन्थों और भाष्यो की रचना की। माधवाचार्य ने वेदो के पथ का निर्माण किया। 'सर्वदर्शन' नामक भारतीय दर्शन पर उनका लिखा ग्रन्थ प्रख्यात है। सायण ने भी ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। मेवाड, कालिजर, गुजरात और विजयनगर ऐसे दूरस्थ स्थानों में संस्कृत के इस प्रकार आकस्मिक फूलने-फलने का कारण यह था कि गंगा की घाटी में मुसलमानों की विजय के उपरान्त विद्वानो और कवियो ने दूरस्थ प्रदेशो के हिन्दू नरेशों की राजसभाओ में जाकर शरण ली।

यद्यपि संस्कृत भाषा में रचे गये ग्रन्थ देशज भाषाओ में रचित ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक कृत्रिम, अलंकारपूर्ण, वैज्ञानिक और लोगों की आकाक्षाओ और जीवन से असम्बन्धित थे, तथापि संस्कृत ऐसी भाषा थी जिसने इस युग में हिन्दू लोगों को एक सूत्र में संगठित कर दिया था। कन्याकुमारी अन्तरीप से लेकर काश्मीर तक हिन्दू विद्वानों और विचारको की भाषा संस्कृत ही बनी रही और संस्कृत के इस उपयोग के बिना हिन्दू लोग एकता की अपनी समस्त भावना खो देते। इसके अतिरिक्त देशज भाषाओ को संस्कृत की परम्पराओ, प्रणालियो, प्रवत्तियों, विचारधाराओं और रचनाओं से सम्बन्धित कर देने से विभिन्न प्रान्तों के मध्य में एक सांस्कृतिक कड़ी हो गयी—मध्य-युग की यह एक सफल सिद्धि है।

उर्दू का विकास—मध्य-युग के साहित्य के क्षेत्र में अन्य सफलता उर्दू का समुदय और विकास था। संस्कृत में उत्पन्न हुई विचारधाराओ और भाषाओं के साथ फारसी और तुर्की शब्दों और विचारो के सम्मिश्रण से उर्दू भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें अरबी, फारसी, तुर्की, पश्चिमी हिन्दी एवं दिल्ली प्रदेश की स्थानीय भाषा के शब्द हैं। इस भाषा की व्याकरण और बनावट अधिकाशतः हिन्दी के समान है। कालान्तर में इसके विदेशी शब्दो का विदेशीपन और विशेषकर फारसी शब्दों का फारसीपन कम होता गया और हिन्दी का रंग प्रकट होता गया। मुसलमानो और हिन्दुओं के सम्पर्क तथा दैनिक आवश्यकताओं से प्रेरित आदान-प्रदान के कारण धीरे-धीरे एक समान भाषा का विकास हुआ जिसे उर्दू कहा गया। उस हिन्दी के साथ, जो मुसलमानों के सैनिक पड़ावों मे और सुलतानों-बादशाहो के निवास-स्थान के पास बोली जाती थी, भारत आक्रान्ताओं व आगन्तुकों की भाषा के मिश्रण से उर्दू का रूप गठित हुआ। वास्तव में यह भाषा हिन्दुओं और मुसलमानों के साहित्यिक समन्वय का परिणाम थी। कालान्तर में मुस्लिम सुलतानों और शासको की राजसभा के कवियो, लेखकों और इतिहासवेत्ताओं ने इसके साहित्यिक रूप को निखारा और उत्तर भारत में अठारहवी शताब्दी मे यह एक अच्छी साहित्यिक भाषा हो गयी। अमीर खुसरो ने सर्वप्रथम इस भाषा में रचना की।

ऐतिहासिक साहित्य—मुस्लिम सुलतानों के काल में ऐतिहासिक साहित्य का विकास हुआ। मुसलमानों की यह भारत को एक देन है। हिन्दुओ में रुचिपूर्वक इति-

हास लिखने की भावना का पूर्णतया विकास नही हुआ था जिसके फलस्वरूप मुस्लिम विजय के पूर्व उन्होने ऐतिहासिक साहित्य की उपेक्षा की। मुसलमानों ने ललित गद्य में श्रेष्ठ ऐतिहासिक ग्रन्थो की रचना की। वे इतिहास-लेखन मे प्रवीण थे। मिनहाजुद्दीन सिराज की 'तबकाते नासिरी' (इस्लामी दुनिया का इतिहास), अमीर खुसरो की 'मसनवी,' शम्से शिराज अफीफ की 'तारीखे फीरोजशाही' और सरहिन्दी का इतिहास 'तारीखे मुबारकशाही' विशेष उल्लेखनीय है। इस युग का सबसे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ जियाउद्दीन बरनी था जो मुहम्मद बिन तुगलक और फीरोजशाह का समकालीन था। अन्य प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मुहम्मद कासिम उपनाम फरिश्ता भी इसी मध्य-युग की देन है। तुगलककाल के एक बहुत बडे अमीर ऐनुलमुल्क ने कई पत्र और खुतबे लिखे थे जो शाही खतोकिताबत के नमूने माने जाते है। इतिहासज्ञो ने अध्ययन के लिये प्रचुर सामग्री ही प्रस्तुत नही की अपितु ऐसा उदाहरण रखा जिनकी नकल करने मे हिन्दू लेखक और हिन्दू नरेश पीछे नही रहे।

स्थापत्यकला या वस्तुकला

स्थापत्यकला मे भी प्रारम्भिक सुलतानो व शासको की एक बडी देन रही है। सामजस्य की जो प्रवत्ति धार्मिक विचारों मे थी, वह विभिन्न कलाओ मे भी प्रकट होती है। स्थापत्यकला इसका ठोस और ज्वलन्त उदाहरण है। मुसलमानो की अपनी स्वय की एक विशिष्ट वास्तुकला थी। इस्लाम का प्रसार व प्रगति शुष्क और कम वर्षा वाले प्रदेशों में हुई जो पश्चिम में भूमध्य सागरतट से लेकर पूर्व मे चीन की प्राचीर तक विस्तृत थे। इन प्रदेशो मे मीलो तक सुन्दर हरे-भरे दृश्य या वनस्पति अथवा लहलहाते खेत नही दीखते थे। इसके अतिरिक्त सच्चे मुसलमान तथा काफिर के तीव्र भेद के लिए मुस्लिम उपासको को साधारण सामूहिक प्रार्थना के हेतु एक ही विशाल खुले स्थल मे एकत्र होना पडता था जिसमे विस्तार, पवित्रता, शान्ति और सुरक्षा की भावना निहित होती थी। अत. मुस्लिम वास्तुकला धर्म और उपासना की कतिपय व्यावहारिक आवश्यकताओ और प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति से अधिक प्रभावित हुई थी। फलत. मुस्लिम कला की विशेषताएँ, विशाल भवन, विराट गोल गुम्बद, ऊँची मीनारे, खुले आँगन तथा साफ और सुथरी दीवारे थी। इसके विपरीत, भारत विशाल पर्वतों, उत्तुग शृ गो, विस्तृत मैदानो, दुर्भेद्य जगलो, विभिन्न ऋतुओ, सुन्दर वनस्पतियो, हरे-भरे खेतो और घने नगरो तथा ग्रामो का देश रहा है। ऐसी भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप हिन्दू कला मे विशालता, स्थूलता, विस्तार, विविधता और सम्पन्नता है। जिस प्रकार भारतीय भूमि विविध मनोरम पुष्प, पत्ती, लता आदि से आच्छादित है, उसी प्रकार हिन्दू मन्दिरो और भवनो मे ऐसा कोई स्थान नही जो तक्षणकला के अलंकरणो से वचित हो। इस्लाम के आगमन से इन दोनो प्रकार की विभिन्न कलाओ का सम्मिश्रण और समन्वय हुआ। इस्लाम के अनुयायी पश्चिम और मध्य एशिया, उत्तर अफ्रीका और दक्षिण-पश्चिमी यूरोप से अपने साथ कुछ कला लाये थे। उनमे भवन-निर्माण की अभिरुचि होने के कारण इस कला का हिन्दू कला की मौलिक प्रणालियो से समन्वय हुआ और वास्तुकला की एक नवीन शैली का विकास हुआ जो जौनपुर, बगाल, बीजापुर, गुजरात जैसे प्रान्तो मे स्पष्ट हो गयी। हिन्दू कला अलकरणयुक्त और चमक-दमक वाली थी, पर मुस्लिम कला की विशेषता उसकी सादगी थी। हिन्दुओ की निर्माण-प्रणाली स्तम्भो, पक्तियो और सीधे पाटो पर आश्रित थी, मुस्लिम निर्माण-शैली धनुपाकार थी और मेहराबो तथा गुम्बदो पर निर्भर थी।

हिन्दुओ के लिये स्तम्भ-पंक्तियाँ अनिवार्य थी और मुसलमानों के लिये मेहराव व धनुषाकार छतें। हिन्दुओं के मन्दिर ऊँचे शिखर वाले होते थे तो मुसलमानों की मस्जिद विशाल गुम्बदयुक्त। उत्कीर्ण कला द्वारा हिन्दू पाषाण मे सुन्दर अलंकरण की आकृतियाँ बनाते थे और रुचिकर सजीव प्रतिमाओं का निर्माण करते थे। इसके विपरीत मुसलमान अत्यधिक सादगी व सरलता पसन्द करते और मूर्तियो का खण्डन करते थे। दृढता व सौन्दर्य हिन्दू भवनो की सबसे बडी विशेषता थी। कल्पना की व्यापकता, विशालता व सरलता मुस्लिम भवनो की विशेषताएँ थी। हिन्दू कला मे शक्ति और सौम्यता का सुन्दर समन्वय था। मुस्लिम कला मे स्थान का आधिक्य था। हिन्दू कला मे कमल और कलश के प्रतीको का बाहुल्य रहा, पर मुस्लिम कला मे इसका अभाव था। हिन्दू मन्दिरो और भवनों मे अनेक आले रखे जाते थे। उनके मन्दिरो के कोणों के शिखर पिरामिडो के आकार के होते थे। मुस्लिम भवनों मे इनका अभाव रहा। पर मुस्लिम इमारतें वायु और प्रकाशयुक्त होती थी, हिन्दू भवनो की भाँति अन्धकारमय नही। हिन्दू और मुस्लिम कलाओं में कोष्ठो से परिवेष्ठित आँगन रहा है। ये दोनो कलाएँ अपने आदर्शों और प्रणालियो मे इतनी भिन्न होने पर भी परस्पर हिल-मिल गयी और एक नयी भारतीय कला का प्रादुर्भाव हुआ। फर्ग्यूसन जैसे विद्वानों ने इसे "इण्डो-सरसैनिक" या "पठान" संज्ञा देते हुए इसे इस्लामिक कला की स्थानीय शैली कहा है; परन्तु हैवेल जैसे विद्वानो ने इसे पूर्णतया भारतीय बताया है और इसे भारतीय कला की संशोधित शैली से भिन्न नही माना है। सर जॉन मार्शल और मजूमदार जैसे विद्वान इन मतो से सहमत नही है और वे प्रमाणित करते है कि 'इण्डो-इस्लामिक कला' मुस्लिम कला का न तो केवल स्थानीय रूप है और न केवल हिन्दू कला का परिवर्तित रूप ही है। वास्तव मे इस युग की संस्कृति के अन्य अंगो के समान वास्तुकला भी, ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शैलियो का, पश्चिम और मध्य एशिया तथा उत्तर अफ्रीका की उन शैलियो के साथ सम्मिश्रण है जिन्हे मुस्लिम तत्त्व भारत में अपने साथ लाये थे। इस सम्मिश्रण मे दो बातें प्रमुख रूप से सहायक हुई है, अनेक मन्दिर मस्जिदों मे परिवर्तित कर दिये गये और उन्ही का अनुकरण कर मस्जिदें बनवायी गयी। मुस्लिम बादशाहो ने अपने भवन-निर्माण मे प्राचीन हिन्दू मन्दिरो एवं भवनो की ध्वस्त सामग्रियो का उपयोग किया।

हिन्दू और मुस्लिम कला के सम्मिश्रण में हिन्दू कला का अधिक प्रभाव रहा या मुस्लिम कला का—इस पर इतिहासज्ञो मे मतभेद है। हिन्दू और इस्लाम के प्रभावों मे कौन अधिक स्पष्ट और सशक्त है, विवादग्रस्त विषय है। कला-मर्मज्ञ हैवेल का मत है कि मध्ययुगीन कला मे हिन्दू प्रभाव का बाहुल्य है। मुसलमानो का कलात्मक दृष्टिकोण हिन्दू कला से बहुत ही प्रभावित हुआ। मध्य-युग की अनेक इमारतो पर हिन्दू कला का प्रभाव स्पष्ट है। फर्ग्युसन, स्मिथ और एलफिन्स्टन का मत है कि हिन्दू प्रभाव नगण्य रहा, यह बाहरी सतह तक ही सीमित था। सर जॉन मार्शल का कथन है कि भारत की मध्यकालीन कला हिन्दू और मुस्लिम दोनो उपादानो से पल्लवित हुई है। भारत मे इस्लामिक निर्माणकला का स्वरूप अनेक असम साधनो से विकसित हुआ है। भारत मे आने वाले अरबो मे कलात्मक दृष्टिकोण का अभाव था। स्थापत्य कला की महानता को वे समझ न सके। उनमे कला-ज्ञान नगण्य था। इसके विपरीत, तुर्क स्थापत्यकला के उदार संरक्षक थे। उन्होने फारस मे जिस स्थापत्यकला का विकास किया, वह भारत मे लायी गयी और उसका समन्वय हिन्दू कला से हुआ।

सच बात तो यह है कि भारत मे मुसलमान प्राय. हिन्दू भवनो व मन्दिरों को मुस्लिम इमारतो व मस्जिदो मे परिवर्तित करते रहे। उन्होने देशी निर्माणकला को, जो सर्वत्र प्रचलित थी, अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल बना लिया। इस प्रकार कला को परिवर्तित करने में उन्होने हिन्दू कला के अनेक विचार व धारणाएँ ग्रहण कर ली। हिन्दू कला के प्रति मुस्लिम कला का सबसे बडा ऋण दृढता व सौन्दर्य के क्षेत्र में था। दिल्ली के आसपास मुस्लिम कला पर हिन्दू-कला का प्रभाव नगण्य-सा रहा परन्तु जौनपुर और गुजरात में अधिक रहा। बगाल और दक्षिण मे तो उस पर हिन्दू कला का पूर्णरूपेण आधिपत्य था।

हिन्दू भवन-निर्माण-शैली मे मुसलमानो ने अधिक विस्तार, विशालता तथा चौडाई की विशिष्टता सम्मिलित की। उन्होने आकृति और नवीनता मे भी वृद्धि की। रगों के लिए उन्होने विविध रगो के पाषाणो का उपयोग किया। भारतीय कला मे उन्होने मेहराब, गुम्बद और मीनार जोड दिये। अलकरण के लिए उन्होंने भूमिति की गहन एव दुर्बोध आकृति का उपयोग किया और कभी-कभी कुरान की आयतो को अथवा ऐतिहासिक अभिलेखो को उत्कीर्ण कर उन्हे सुशोभित किया। हिन्दू मन्दिरो के शिखरो पर जो स्वर्णकलश होते थे, उनकी नकल मस्जिदो के गुम्बद के पाषाण-कलश-निर्माण मे की गयी। मेहराबो मे भी नक्काशी कर हिन्दू अलकरण-शैली अपनायी गयी। भवनो को सुदृढ और मनोरम बनाने मे भी मुसलमानों ने हिन्दू प्रणाली का अनुकरण किया।

नवीन 'इण्डो-इस्लामिक' या हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला की सबसे अधिक महत्त्वशाली विशेषता यह थी कि उनमे एक विस्तृत खुला आँगन या चौक होता था जिसके चतुर्दिक प्रकोष्ठ या बरामदा होता था। मनोरम मध्य गुम्बद इस वास्तुकला की अन्य विशिष्टता है। मस्जिदो मे ऊँची मीनारे थी जिनका उपयोग अनाज के लिए होता था। श्रीनिवासाचारी और रामास्वामी आयगर का मत है कि हिन्दू मन्दिरों का विस्तृत खुला हुआ सहन और उसके चारो ओर का बरामदा—भारत की मस्जिदे इसी का परिवर्तित रूप है। चौहानो के शासनकाल मे दिल्ली तथा अजमेर में जिस शैली से हिन्दू मन्दिरो का निर्माण हुआ था, उसी को मुस्लिम विजेताओं ने कतिपय हेर-फेर के बाद अपना लिया।

दिल्ली की भवन-निर्माणकला मे मुसलमानी प्रभाव सर्वोपरि रहे, क्योंकि इस प्रदेश मे अपनी बहुसख्या के कारण मुसलमानो का प्रभुत्व अधिक था। जौनपुर और दक्षिण मे स्थानीय शैलियो की अधिक प्रधानता रही। बगाल मे मुसलमानो ने ईंटों के भवन निर्माण करने की शैली ही नही अपनायी, अपितु उन्होने अपने भवनो को सुन्दर उत्कीर्ण आकृतियो से अलकृत भी किया और इस प्रकार हिन्दुओ के ऐसे ही मौलिक भवनो और आकृतियो की उन्होने स्वच्छन्दतापूर्वक नकल की। पश्चिमी भारत मे तो उन्होने सम्पूर्णतया गुजराती शैली को अपना लिया और काश्मीर में भी उन्होने लकडी के भवनो के लिए भी ऐसी नकल की।

भारत मे मुस्लिम भवनो का निर्माण गुलाम वश के सुलतान कुतुबुद्दीन से प्रारम्भ हो जाता है। दिल्ली के आसपास जिस शैली का उपयोग किया गया, उसे दिल्ली की भवन-निर्माणकला कहते है। इस शैली मे गोलाकार गुम्बद, कहीं-कहीं आले तथा कुछ मस्जिदो मे सिंह-दरवाजे (भव्य ऊँचे प्रवेश द्वार) व कुछ मे जुलूस-मार्ग रखे गये थे।

दिल्ली भवन-निर्माणकला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कुतुब मस्जिद और कुतुब मीनार हैं। इसके दो अन्य नमूने जमातखाँ मस्जिद और अलाई दरवाजा है। कुतुब मस्जिद और कुतुब मीनार में हिन्दू तत्त्वों की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इन दोनो में हिन्दू भवन और मन्दिरों की सामग्रियों का उपयोग किया गया है और अलंकरण में हिन्दू नक्काशीकला की नकल की गयी है। बदायूँ मे इल्तुतमिश की बनवायी हुई मस्जिद अब तक विद्यमान है। इसी प्रकार अजमेर में कुतुबुद्दीन की बनवायी हुई मीनार-मस्जिद जिसे 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' कहते हैं और दिल्ली मे इल्तुतमिश का मकबरा है। इन सबमें भी हिन्दू कला की छाप है। इल्तुतमिश की मृत्यु और अलाउद्दीन के सिंहासनारोहण के बीच का काल कला की दृष्टि से शून्य है। इस युग का स्मारक केवल बलबन का मकबरा है। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल मे भारतीयकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और फलतः उसके काल के स्थापत्य मे उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। उसने अरबी कला को अपना आधार बनाया। निजामुद्दीन औलिया की दरगाह मे जो जमातखाँ की मस्जिद बनी है, वह अलाउद्दीन के काल मे निर्मित हुई थी। दिल्ली के समीप सीरी मे अलाउद्दीन का बनवाया हुआ दुर्ग और महान दरवाजा अपनी शान की दृष्टि से उल्लेखनीय है। अलाई दरवाजा तो भारत मे मुस्लिम वास्तुकला का बहुमूल्य रत्न है। उसके अन्य प्रसिद्ध भवन हौज अलाई, हौज खास व हजार सितून महल हैं। तुगलकों की वास्तुकला में खिलजी और गुलाम वंश की वास्तुकला की विशिष्टताएँ विलुप्त हो गयी थी एवं चमक-दमक, दिव्यता, भव्यता और विविधता का अभाव हो गया था। तुगलक-युग में हिन्दू प्रभाव विनष्ट हो रहा था। इस युग के भवन, दृढ़, सादे और भारी भरकम थे। इस शैली के उदाहरण तुगलकशाह का मकबरा और तुगलकाबाद नगर व उसका दुर्ग हैं। फीरोज तुगलक एक वैभवशाली महान निर्माता था जिसने नगरों, उद्यानों मस्जिदों, महलों व तालाबों के निर्माण में अपरिमित धन व्यय किया। सैयद और लोदी राजवंशों के युग मे वास्तुकला में हिन्दू प्रतिभा पुनः जाग्रत हो उठी और फलस्वरूप इस काल के बने भवनों में हिन्दू प्रभाव की छाया दीखती है। सुलतानों और सामन्तों के मकबरे इस युग की श्रेष्ठ इमारतें है, जिसमें सिकन्दर लोदी का मकबरा विशेष उल्लेखनीय है। मकबरे के गुम्बद के भीतरी भाग का मनोरम अलंकरण और प्रवेश-द्वार की प्रणाली हिन्दू प्रभाव प्रदर्शित करती है। पाषाण पर यह अलंकरण विकसित होते-होते मुगलकाल मे उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। सामन्त-वर्ग के स्मारकों मे बड़े खाँ तथा छोटे खाँ के मकबरे, शीश गुम्बद, बड़े गुम्बद तथा दादी का गुम्बद प्रख्यात हैं। पर इनमे सिकन्दरशाह के प्रधानमन्त्री द्वारा बनवायी हुई मोती मस्जिद अधिक सुन्दर व प्रभावशाली है।

बड़े-बड़े प्रान्तीय राज्यो मे भी स्थापत्यकला का व्यक्तित्व स्थानीय रूप में भी उभरकर प्रकट हुआ था। जौनपुर में वास्तुकला की एक नवीन शैली का विकास हुआ जो हिन्दूकला के स्पष्ट प्रभाव को प्रदर्शित करती है। जौनपुर की कला-शैली की प्रशंसा फर्ग्युसन (Fergusson) और बर्गेस (Burgess) ने खूब की है। हैवेल का मत है कि इस शैली की विशेषता यह है कि इसमे हिन्दू व मुस्लिम रचनात्मक विचारो का रुचिकर समन्वय है। मार्शल भी इस शैली के भवनो की सजावट की प्रशंसा करते है। जौनपुर मे बने अनेक भवन व मस्जिदें प्रान्तीय कला के विलक्षण नमूने है। इनकी भारी-भरकम ढालू दीवारें, वर्गाकार स्तम्भ, छोटी गैलरियाँ आदि हिन्दू

विशेषताएँ है। जौनपुर-शैली का सर्वश्रेष्ट ज्वलन्त नमूना इब्राहीमशाह शर्की के समय की अटाला मस्जिद है। इसके अतिरिक्त वहाँ के लाल दरवाजे की निर्माण-शैली स्पष्टतया हिन्दू है। बगाल मे भी मिश्रित शैली का विकास हुआ जिसकी विशिष्टता ईटों का उपयोग, छोटे स्तम्भों पर नोकदार मेहरावें और हिन्दुओ की अलंकरण की शैली थी। 1368 ई० में निर्मित अदीना मस्जिद इसका उदाहरण है। इसके अतिरिक्त बगाल मे गौड के क्षेत्र में बने ईटो के महलो मे हिन्दू मन्दिरो की कला का अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। फर्ग्युसन के मतानुसार गौड प्रदेश की शैली की विशेषता इसके स्थूल एव छोटे पत्थर के स्तम्भो मे है जिन पर ईंटो की नुकीली डाटे (arches) तथा धन्वाकार छते आधारित है। गौड प्रान्त के विशेष उल्लेखनीय भवन, हुसेनशाह का मकबरा, बडी व छोटी सुनहरी मस्जिदे तथा सुलतान नुसरतशाह का कदम रसूल है। गुजरात मे मुसलमानों के भवनो में शानदार हिन्दू निर्माण-शैली के प्रभाव-चिह्न स्पष्ट है। मन्दिरो की निर्माण-शैली और स्थानिकता का जितना अधिक प्रभाव गुजरात की मुस्लिम इमारतो पर पडा है, उतना अन्यत्र नही। गुजरात मे मुसलमानों द्वारा निर्मित अनेक भवनो, मस्जिदो और मकबरो मे प्राचीनतम हिन्दू कला की परम्पराओ की प्रधानता रही, यद्यपि मुसलमानो की आवश्यकताओ के अनुसार ये कतिपय अशो मे रूपान्तरित कर दी गयी थी। खम्भात मे 1335 ई० मे निर्मित जामा मस्जिद और अहमदाबाद के अन्य भवन इसके उदाहरण है। पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अहमद-शाह ने अहमदाबाद नगर की स्थापना की। अहमदाबाद की इमारतो मे लकड़ी मे सुन्दर नक्काशी, मनोरम पाषाण की जालियाँ और अलकरण हिन्दू प्रभाव को प्रकट करते हैं। इस नगर की जामा मस्जिद, जिसका प्रारम्भ 1411 ई० मे हुआ था, गुजरात की प्रान्तीय कला का एक उदाहरण है, जिसमे स्थानीय कला का समस्त सौन्दर्य और पूर्णता मिश्रित है। इसी प्रकार चांपानेर की जामा मस्जिद और अहमदाबाद मे 1514 ई० मे निर्मित रानी सिपरी की मस्जिद भी गुजरात की सम्पन्न शैली के नमूने है जो हिन्दू कला के गहन प्रभाव को प्रदर्शित करते है। मस्जिदो व मकबरो के अतिरिक्त गुजरात मे बावड़ियाँ, सिंचाई के साधन तथा सार्वजनिक फलोद्यान भी खूब निर्मित हुए।

मालवा की राजधानी माण्डू मे मुस्लिम शासको ने जो भवन व मस्जिदें निर्मित करायी है, उनमे दिल्ली के समान मुस्लिम कला-परम्पराओ का प्राधान्य रहा है। इनमें प्रान्तीय कला की अभिव्यक्ति का दमन किया गया और नोकदार मेहराब-शैली का ही प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। जामा मस्जिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुसेनशाह का मकबरा, बाजबहादुर और रूपमती के राजप्रासाद, तथा माण्डू के अन्य महल दिव्य भवन-निर्माणकला के उदाहरण है। इनमे हिन्दू-मुसलमान कला-प्रणालियो का उतना सुन्दर समन्वय नही हुआ है, जितना गुजरात है।

दक्षिण भारत मे बहमनी सुलतानों की इमारतो की वास्तुकला मे दक्षिणी हिन्दू कला का प्रभाव है। बहमनी सुलतानो की इमारतो में तुर्की, मिस्री और ईरानी तत्त्वो के होने पर भी भारतीय शिल्पियो की प्रतिभा विदेशी प्रभाव से ऊपर उठ गयी और उन्होने विदेशियो की कृतियो पर अपनी छाप पहले की अपेक्षा अधिक गहरी छोड़ दी। बहमनी सुलतानो की इमारते प्रायः गुलबर्गा, बीजापुर और बीदर मे है। गुलबर्गा और बीदर की मस्जिदे दक्षिणी कला की आदर्श हैं। गुलबर्गा मे फीरोजशाह का मकबरा बढ़ते हुए हिन्दू प्रभाव को प्रकट करता है। बीजापुर में मुहम्मद

आदिलशाह की कब्र जिसे गोल गुम्बद कहते हैं, दक्षिण भारत की शिल्पकला से प्रभावित एक उत्कृष्ट इमारत है। बहमनी सुलतानों ने कई दुर्गों का निर्माण करवाया जिनकी विस्तृत योजना व विशुद्धता की प्रशंसा मीडोज टेलर (Meadows Taylor) ने भी की है।

मध्ययुगीन हिन्दू वास्तुकला और उत्कीर्ण कला के विषय हम यह कह सकते हैं कि उस समय अपनी-अपनी स्पष्ट विशिष्टताओं के लिए अनेक स्थानीय शैलियाँ थी जो विविध राजवंशों द्वारा प्रोत्साहित थी। इसमें लालित्य की भावनाओं की अपेक्षा धार्मिक प्रभाव धीरे-धीरे अधिकाधिक प्रभुत्वशाली हो रहा था। उन्होंने कतिपय धार्मिक धाराओं को कला में प्रकट किया। नटराज शिव की कल्पना दक्षिण भारत में मध्ययुगीन कला की एक बहुमूल्य देन है। उत्तर भारत में यद्यपि हम बहुसंख्यक मन्दिरों, भवनों, राजप्रासादों, दुर्गों आदि को देखते हैं परन्तु उनमें कदाचित ही मौलिक कल्पना है। फिर भी चित्तौड़ में राणा कुम्भा द्वारा निर्मित जय-स्तम्भ मध्ययुगीन हिन्दू भवन-निर्माणकला और उत्कीर्ण कला का सर्वोत्कृष्ट स्मृति-चिह्न है।

सल्तनत काल की भवन निर्माणकला के विशिष्ट लक्षण

(1) दिल्ली सुलतानों को मुगल बादशाह की भाँति भवन-निर्माणकला से अगाध अनुराग नहीं था; उनके पास मुगल सम्राटों की भाँति धनकी प्रचुरता तथा समय और अवसर की बाहुल्यता नहीं थी।

(2) परिस्थितियों की अनिवार्यता से उन्होंने भवन-निर्माण किये और ये भी हिन्दू मन्दिरों और भवनों को नष्ट कर उनकी सामग्री से और उनके भग्नावशेषों पर निर्मित किये गये। उन्होंने मौलिक नवीन इमारतें निर्मित नहीं की।

(3) सल्तनत काल के भवनों में स्थान का आधिक्य है। कोष्ठों से घिरा बरामदा या आंगन विशेषता है। उनकी कलात्मकता साधारण है। सरलता और सादगी उनकी विशेषताएँ हैं। स्थानों की प्रचुरता से इमारतें प्रकाश और वायु युक्त है। कुछ मसजिदों में जुलुस का मार्ग है और कुछ में भव्य ऊँचे प्रवेश द्वार हैं।

(4) विस्तृत खुला आंगन, मेहराब, गुम्बद और मीनार इस युग के भवनों की विशेषता है। प्रांतीय भवनों में स्थानीय हिन्दू कला का प्रभाव है।

(5) सुलतानों द्वारा निर्मित भवन सौन्दर्य, सुडौलता, अलंकरण और कला की दृष्टि से मुगलकालीन कलाकृतियों या हिन्दू कला कृतियों से निम्न स्तर के हो गये। उनके अधिकांश भवन उच्च कोटि की कला कृतियाँ नहीं हो सकीं।

संगीत

दिल्ली सुलतानों के प्रारम्भिक शासन में संगीत का विकास नहीं हुआ था क्योंकि इस्लाम के सिद्धान्त इसके निषेध में थे। पर हिन्दू संस्कृति के संसर्ग और सामीप्य से मुसलमानों में संगीत के प्रति अधिक अभिरूचि हुई। इसमें दो बातें अधिक सहायक हुई। प्रथम, इस्लाम से सूफी मत के सन्तों ने श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से ओतप्रोत अपने भजन, गीत और कविताओं में वृद्धि की। द्वितीय, जो हिन्दू धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन गये थे, उन्होंने हिन्दू परम्पराओं के भक्ति-गीतों व भजनों को नहीं त्यागा। इससे मुस्लिम समाज में संगीत को प्रेरणा मिली। मुसलमानों ने हिन्दुओं के वाद्ययन्त्रों को अपना लिया और ध्रुपद को स्वीकार कर लिया। साथ ही, उन्होंने 'ख्याल' और 'कव्वाली' का आविष्कार कर तबला और सितार

जैसे वाद्ययन्त्रों को प्रस्तुत किया। पर संगीत की प्रभूत प्रगति मुगलकाल मे हुई, फिर भी इस-युग मे हिन्दू और मुसलमानो के पारस्परिक समन्वय की भावना का आभास संगीत के क्षेत्र भी दृष्टिगोचर होता है।

सिक्कों का मुद्रण

सल्तनत-युग मे सिक्को का मुद्रण भी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के चिह्न प्रगट करता है। मुहम्मद गोरी ने कन्नौज के हिन्दू नरेशो के सिक्को की नकल की थी जिन पर लक्ष्मी की प्रतिमा अंकित थी। कतिपय मुस्लिम सिक्को पर शिव के नन्दी की प्रतिमा और देवनागरी लिपि मे सुल्तान का नाम तथा अश्वारोही अंकित किये गये थे। प्रारम्भिक युग मे ऐसे ही सिक्को पर कभी-कभी हिन्दू नरेशो का नाम मुस्लिम सुल्तान के नाम के साथ जोड़कर अंकित किया जाता था।

निष्कर्ष

इस प्रकार राजनीतिक सम्बन्धो मे विद्वेष होने पर भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियो के हेल-मेल से सुदूर तक प्रभावित करने वाले परिणाम हुए। मुस्लिम विजेता अपने साथ निर्दिष्ट सामाजिक और धार्मिक विचार लाये थे जो हिन्दुओ के विचारो से मौलिक रूप मे भिन्न थे। परन्तु सुदीर्घ काल के सम्पर्क मे हिन्दुओ और मुसलमानों के दो विभिन्न समुदाय परस्पर अधिक समीप आ गये जिनके परिणामस्वरूप हिन्दू संस्कृति का विकास इस्लामी रंग से रंजित हो गया। परन्तु हिन्दू संस्कृति भी मुसलमानी तत्त्वों को प्रभावित किये विना न रही। वास्तव मे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही सांस्कृतिक देन के विकास में अपना-अपना योग दिया है। मध्य-युग मे दो विभिन्न संस्कृतियो का परस्पर संसर्ग और हेल-मेल तो हुआ परन्तु उनका पूर्ण समन्वय नही हुआ। वे एक-दूसरे में पूर्णतया नही घुल-मिल गयी। प्रथम, इन दोनों संस्कृतियो में संघर्ष हुआ और तब समन्वय, परन्तु यह पूर्णरूपेण न था।

हिन्दू धर्म पर इस्लाम की प्रतिक्रिया विविध रूप से हुई। हिन्दू समाज के अनुसार सनातनी तत्त्वो ने विस्तृत कठोर और अपरिवर्तनशील जाति-नियमो को मनाकर अपनी सामाजिक और धार्मिक प्रणालियो को दृढ कर लिया। परन्तु उदार तत्त्वों ने इस्लाम के कतिपय लोकतन्त्रीय सिद्धान्तो को अंगीकार कर लिया। ये सिद्धान्त रामानन्द, कबीर, नानक, दादू और चैतन्य जैसे सन्तो के उपदेशो और मतो मे अभिव्यक्त हुए। बंगाल मे वैष्णव धर्म और महाराष्ट्र मे भक्ति सम्प्रदाय का विकास हिन्दू धर्म व इस्लाम के सम्पर्क की देन मानी जाती है। इस संसर्ग की दूसरी देन सहयोग, सहिष्णुता और सामंजस्य की भावना है जिसकी अभिव्यक्ति सूफी सन्तो के विचारो और मुस्लिम सन्तो के प्रति हिन्दुओ की श्रद्धा मे हुई थी। सूफी मत का आधार हिन्दू विचारधाराओ से अत्यधिक प्रभावित हुआ।

इस सम्पर्क का अन्य महत्त्वशील प्रयास प्रादेशिक भाषाओ और उर्दू के विकास मे दृष्टिगोचर होता है। वैष्णवो की कविता हिन्दू धर्म और इस्लाम के समन्वय का सर्वोत्कृष्ट विलक्षण उदाहरण है। समाज मे शिशु-हत्या, स्त्रियो का एकान्तवास और पर्दा एवं पुरुषो पर उनका अवलम्बन, बाल-विवाह, नवीन वेश-भूषा, प्रथाएँ, आचार-विचार, उत्सव, समारोह, त्यौहार आदि उस युग की सामाजिक व्यवस्था प्रकट करते है।

कला के क्षेत्र मे मेहराब, गुम्बद और मीनारों की विदेशी कल्पनाएँ हिन्दू कला की परम्पराओ के साथ मिश्रित हो गयी। हिन्दू और मुस्लिम तत्त्वों के समन्वय से

भवननिर्माणकला की एक नवीन शैली का विकास हुआ। मुस्लिम वास्तूकला की कठोरता और सादगी कम हो गयी और हिन्दुओ की अत्यधिक लालित्यपूर्ण अलंकारिता सक्षिप्त कर दी गयी। वास्तुकला मे मुसलमानों की रचना-कृति और सामंजस्य हिन्दुओं की दिव्यता और अलकरण मे घुल-मिल गये। परिणामस्वरूप, विशाल प्रांगण वाली मस्जिदें, भव्य सभा-मण्डप वाले मन्दिर व विशाल भवन कलापूर्ण अलंकरणों सहित बनने लगे। मेहराब व गुम्वद जो मुसलमानी भवनो व मस्जिदो मे समुचित अनुपात के साथ बनाये जाते थे, हिन्दू कला में प्रविष्ट हो गये। इसी प्रकार विविध रंगों के झरने और सुनहरे फूल-पत्तियों के बनाने का कार्य भी भवन-निर्माणकला में स्थान पाने लगा।

प्रश्नावली

1. किस रूप मे इस्लाम ने भारत में मुस्लिम राज्य के स्थापित हो जाने के पश्चात देश के विभिन्न प्रदेशो मे हिन्दू समाज व संस्कृति को प्रभावित किया ?
2. मध्य-युग मे भारत मे इस्लाम की सास्कृतिक सफलताओं के परिणामों का मूल्याकन कीजिये।
3. दिल्ली के सुलतानो के शासन के अन्तर्गत मध्ययुगीन भारत में लोगों की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दशाओं का वर्णन कीजिये।
4. भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति, प्रकार और विकास का वर्णन कीजिये।
5. भक्ति आन्दोलन ने भारत को किस प्रकार प्रभावित किया ?
6. हिन्दू धार्मिम आन्दोलनों ने किस प्रकार इस्लाम के प्रसार का प्रतिरोध किया ?
7. भारत मे मुस्लिम शासन के प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात देश के विभिन्न भागों में हुए भारतीय साहित्य के विकास का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिये।
8. इण्डो-मुस्लिम वास्तुकला की क्या विशेषताएँ थी ? अपने उत्तर मे इसको समझाने के लिए निर्दिष्ट उदाहरण दीजिये।
9. मध्य-युग मे भारत के धार्मिक और साहित्यिक आन्दोलनो का वर्णन कीजिये। इसके लिए कौनसे तत्त्व उत्तरदायी है ?
10. भारतवर्ष के धर्म तथा कला-कौशल के इतिहास मे सल्तनत युग की क्या विशेषताएँ है ?
11. तेदहवी शताब्दी की भवन-निर्माणकला के तत्त्वों को बताइये और इस मत का विवेचन कीजिये कि यह कला इस युग की राजनीतिक दशा की अभिव्यक्ति थी।
12. मुगल-युग के पूर्व के काल में इस्लाम ने धर्म, भाषा और कला को कैसे प्रभावित किया (इसके लिए कौन से तत्त्व सहायक हुए ?
13. भारत मे मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तुकला की नवीन 'भारतीय' शैलियो के विकास में जिन तत्त्वों ने सहायता दी, उनका विवेचन कीजिये। मध्य-युग की इस नवीन शैली में जो भवन निर्मित हुए हैं, उनका वर्णन कीजिये।
14. इस कथन की व्याख्या कीजिये कि दिल्ली सल्तनत कला और साहित्य की उत्साही सरक्षक थी और यह सांस्कृतिक राज्य कहलाने के योग्य है।

15. सूफी मत क्या है ? इण्डो-मुस्लिम संस्कृति के विकास मे सूफी सन्तो की क्या देन रही है ?

अथवा

पूर्व-मध्यकालीन भारत में हिन्दू-मुस्लिम सास्कृतिक समन्वय के निर्माण में मुस्लिम सूफी सन्तो ने क्या कार्य किये ?

16. उन विविध सामाजिक और राजनीतिक प्रभावो का वर्णन कीजिये जिनके कारण उस सुधारवादी-आन्दोलन का उत्कर्ष हुआ जो भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रख्यात है । भक्ति-सम्प्रदाय के किन्ही दो सुधारको के सिद्धान्तों पर टिप्पणी लिखिये ।

17. भारतीय संस्कृति के विकास मे सुधारवादी सन्तों की देन का विवेचन कीजिये।

18. क्या आप इस मत से सहमत है कि पूर्व-मुगलकीन युग (Pre-Mughal Period) भारतीय इतिहास का सबसे अधिक अन्धकारमय काल है ?

19. टिप्पणियाँ लिखिये—अलबरूनी, अमीर खुसरो, गुरु नानक, कवीर, 'इण्डो-सरसैनिक' कला-शैली (Indo Sarcenic Art) ।

20. भारत के धार्मिक तथा कला-कौशल के इतिहास मे सल्तनत-युग के महत्त्व को स्पष्ट कीजिये ।

21. "दिल्ली और अन्य कई नगरों में मुस्लिम शासन के स्थायी रूप से स्थापित हो जाने से भारत के कई उल्लेखनीय परिवर्तन हुए ।" सल्तनत-युग की स्थापत्य-कला और धर्म का विशेप उल्लेख करते हुए इन परिवर्तनो का विवेचन कीजिये ।

14

भारतीय संस्कृति और मुगल

मुगल शासन की स्थापना—मध्य एशिया में फरगना के राजकुमार जहीरुद्दीन बाबर ने भारत पर आक्रमण किया। अप्रैल 1526 ई० मे उसने दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी को पराजित कर दिया और दूसरे ही वर्ष कानवाह (खनवा) के युद्ध में राणा साँगा पर भी विजयश्री प्राप्त की। इससे भारत मे मुगल राज्य स्थापित हो गया। बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ हुआ जिसे उत्तरी भारत में अपनी शक्ति को संगठित करना पडा। इसके हेतु उसने गुजरात पर आक्रमण कर बहादुरशाह को पराजित कर दिया परन्तु वह स्वयं अफगान नेता शेरखाँ द्वारा सावधानी से आयोजित युद्ध मे पराजित हुआ और भारत छोडकर उसे फारस जाना पड़ा।

सूर राजवंश (1540–55 ई०) शेरशाह सूरी—शेरखाँ दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर शेरशाह के नाम से आरूढ हुआ और उसने 1540 ई० मे सूर राजवश की स्थापना की। अपने दक्ष शासन, मौलिक भूमि-सुधार, लोक-कल्याण के कार्य और न्याय तथा सहिष्णुता की नीति से वह भारत के महान शासको मे प्रतिष्ठित है। वह प्रथम सुलतान था जिसने लोगो की सद्‌भावना व सहयोग पर आश्रित भारतीय साम्राज्य की नीव डालने का प्रयास किया। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल थे, अतएव तत्कालीन अराजकता का लाभ उठाकर हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया और पन्द्रह वर्ष की अनुपस्थिति के बाद पुन अपना खोया हुआ दिल्ली का राज्य प्राप्त कर लिया।

हुमायूँ का पुनःस्थापन और इसका सांस्कृतिक महत्त्व—हुमायूँ की पुन.स्थापना अपने साथ ईरानी सास्कृतिक प्रभाव भारत मे ले आयी। ईरानी साम्राज्य मे हुमायूँ के दीर्घ काल के निवास ने उसके उत्तराधिकारी के साम्राज्य को ईरानी रंग मे रंग दिया। उसके साथ ईरान जाने वाले सामन्त और उसके साथ ईरान से भारत आने वाले ईरानी व्यक्ति भारत मे ईरानीकरण के केन्द्र बन गये। इसके अतिरिक्त गुणवान योग्य ईरानी व्यक्ति निरन्तर भारत में आते रहे और मुगल राजसभा मे उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होते रहे। फलत आगामी सौ वर्षों में मुगल साम्राज्य ईरानी सास्कृतिक तत्वो से अधिक रंजित हो गया था।

अकबर और मुगलों के अन्तर्गत राष्ट्रीय राजतन्त्र की स्थापना—हुमायूँ का उत्तराधिकारी अकबर हुआ, जिसने 1556 ई० मे हेमू को पराजित किया। इससे अफगान शासन की इतिश्री और मुगल शासन की स्थापना हो गयी। अनेक युद्धो के पश्चात अकबर ने मालवा, गोंडवाना, गुजरात, रणथम्भौर, चित्तौड, बगाल, काबुल, कश्मीर, सिन्ध, बलूचिस्तान, उडीसा और अहमदनगर जीत लिये और उन्हे अपने राज्य मे मिला लिया। बीस वर्ष मे मेवाड को छोडकर समस्त भारत मे अकबर ने अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। तब उसने नवीन नीति का अनुसरण किया। अकबर ने राजपूतो के साथ मित्रता की उदार नीति और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्धो, पर

लगाये गये जजिया और तीर्थ-कर के उन्मूलन, अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति और हिन्दुओ को राज्य में उच्च पदो पर नियुक्त करने की नीति मे अपने शासन का विदेशीपन कम कर दिया और राष्ट्रीय राज्य का निर्माण किया। हिन्दुओं को अपने पक्ष मे करने की उदार नीति से उसने राष्ट्रीय राजतन्त्र का मार्ग सुलभ कर लिया। उसके सामाजिक सुधारो, उसकी भूमि-कर और मनसवदारी की प्रथाओ व उसके सुदक्ष व स्वस्थ शासन से वह मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जाता है। उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर के शासनकाल मे उसकी चतुर नीतियो का यथार्थ प्रभाव प्रकट हुआ और जब औरगजेब ने उसकी नीतियों को पलट दिया, तब मुगल साम्राज्य को मृत्युसम आघात लगा।

जहाँगीर (1605–1627 ई०)—अकवर के वाद जहाँगीर सिंहासनारूढ हुआ। दीनइलाही को छोडकर उसने अकबर द्वारा निर्धारित नीति का अनुकरण किया। उसका शासन साम्राज्य मे शाति व समृद्धि का काल था, परन्तु नूरजहाँ और उसके परिवार के प्रभाव के कारण राजसभा और साम्राज्य मे ईरानी सास्कृतिक तत्त्व प्रविष्ट होने लगे थे।

शाहजहाँ (1627–1658 ई०)—कठोर संघर्ष के पश्चात शाहजहाँ जहाँगीर का उत्तराधिकारी हुआ। बुन्देलो और खानजहान लोदी के विद्रोहो का दमन करके उसने दक्षिण के गोलकुण्डा और वीजापुर के सुलतानों के विरुद्ध युद्ध किया और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे सफल हुआ। उसने राज्य के राष्ट्रीय रूप को वनाये रखा। मुगलो मे शाहजहाँ सवसे महान निर्माता था। उसके शासन को मुगल-काल का स्वर्ण-युग कहा जाता है। यद्यपि उसका शासन मुगल साम्राज्य के चरम उत्कर्ष का समय था परन्तु उसके शासन मे ही पतन के वीज वो दिये गये थे।

औरंगजेब (1658-1707 ई०)—राज्यारोहण के लिए वन्धुओ मे अनिष्टकारी युद्ध के पश्चात औरगजेब दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ हुआ। उसने प्रारम्भ से ही अकवर की राष्ट्रीय राज्य की नीति परिवर्तित कर दी और राज्य का इस्लामी रूप पुन. स्थापित कर दिया। अपनी धार्मिक अनुदारता और इस्लामी सिद्धान्तो के प्रतिपादन से. अपनी हिन्दू विरोधी सक्रिय नीति से (मन्दिरो का विध्वंस, हिन्दू व्यापारियो पर दमनकारी कर, जजिया-कर का पुन. आरोपण, हिन्दू अधिकारियो की सेवा-निवृत्ति राजसभाओ मे हिन्दू प्रथाओ का अन्त, हिन्दुओ का वलपूर्वक धर्म-परिवर्तन आदि), और राजपूतो के साथ स्वस्थ सम्वन्धो का विच्छेद करके औरगजेब ने धर्म तन्त्रवादी राज्य का निर्माण किया और इससे राष्ट्रीय राज्य का अन्त हो गया। अपने विचारो और चरित्र से औरगजेब सुदृढ राज्य का निर्माण करने मे सर्वथा अयोग्य था। अकवर ने मुगल साम्राज्य की नीव डाली और राष्ट्रीय राज्य का निर्माण किया परन्तु औरगजेब ने इसका अन्त कर दिया।

औरगजेब के पश्चात निर्वल उत्तराधिकारियो की एक दीर्घ पंक्ति है जिनमें से अन्तिम सम्राट वहादुरशाह को अंग्रजो ने 1857 ई० के विद्रोह के पश्चात सिंहासन च्युत कर रंगून को देश-निकाला दे दिया, जहाँ 1862 ई० मे कारावास मे उसका देहावसान हो गया।

मराठों का उत्थान और पतन

मुस्लिम शासनकाल मे महाराष्ट्र मे भक्ति-आन्दोलन ने राष्ट्रीय भावना जाग्रत कर दी और उसकी पराकाष्ठा शिवाजी (162 –1680 ई०) जैसे नेता के उत्कर्ष

जैसा सर टॉमस रो ने वर्णन किया है। हिन्दुओं के सादे, रूखे-सूखे भोजन का स्थान अब धनी और उच्चवर्गों के चटपटे मसाले वाले बहुमूल्य व विशिष्ट भोजन ने ले लिया था। मध्य-पूर्व की बहुमूल्य विविध भोजन-सामग्री का उपयोग होने लगा था। मध्य एशिया और ईरानी अमीरों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करके हिन्दू सामन्त भी बड़ी-बड़ी दावतें देने लगे थे। दुर्लभ फल, अद्भुत उबाले हुए पदार्थ, पाकशास्त्रकला के अनुसार बनाये गये स्वादिष्ट व रुचिकर भोजन, जिनका विकास ईरान के समाज में हुआ था, भारत में आ गये और शीघ्र ही हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों के ही धनसम्पन्न-वर्गों में लोकप्रिय हो गये। मास भोजन का सामान्य पदार्थ था परन्तु गो-मास प्राय: प्रयुक्त न होता था। फलों का खूब प्रचार था और बहुधा ये बुखारा तथा समरकन्द से मँगाये जाते थे। ग्रीष्मकाल में सभी श्रेणी के लोग बर्फ का प्रयोग करते थे परन्तु सामन्त लोग इसका उपयोग वर्ष भर करते थे। मद्यपान का दुर्व्यसन अधिक था और विदेशों से उत्तम से उत्तम मदिरा मँगाकर उसका उपयोग किया जाता था।

विशाल अन्त पुर इस युग की साधारण बात थी और राजा से लेकर नीचे सामन्तों तक प्रत्येक स्त्रियों, दासियों और नर्तकियों को बहुसंख्या में रखता था। अबुल फजल के अनुसार अकबर के अन्त.पुर में 5,000 स्त्रियाँ थीं जिनकी देखरेख महिला-अधिकारियों का पृथक मण्डल करता था। अन्त पुर की इन नारियों पर सहस्रों रुपये व्यय होते थे और अवसर आने पर प्रीतिभोज भी दिये जाते थे। स्त्रियों का कोई महत्त्व न था। वे केवल भोग विलास की वस्तु समझी जाती थीं।

अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद और खेल-तमाशों में सामन्त लोग भाग लेते थे। सामन्तों व धनवानों के मकान भव्य प्रासाद थे जो अधिक धन व्यय करके सुसज्जित किये गये थे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम वर्षों में सामन्तगण अपनी प्राचीनतम उपयोगिता को खोने और अधिक पतित होने लगे थे। औरंगजेब के शासनकाल और अठारहवीं सदी में उनमें उत्तरोत्तर पतन होने लगा था। शिक्षा के अभाव, असयम तथा अत्यधिक मद्यपान ने उन्हें अवनति के गड्ढे में ढकेल दिया था एव उनके ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य और षड्यन्त्रों से सामाजिक जीवन दूषित हो गया था।

मध्यम-वर्ग के लोग—मध्यम-वर्ग में प्राय राज्य-कर्मचारी और व्यापारी सम्मिलित थे। मध्यम-वर्ग के लोग गर्व व बाह्याडम्बर में अधिक व्यय नहीं करते थे। परन्तु वे अपने धन्धों व व्यवसायों के अनुकूल स्तर के अनुसार रहते थे। राजसभा के निम्न पदाधिकारी अपने-अपने कार्य द्वारा निर्धारित स्तर के अनुसार रहते थे। जैसा प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मोरलैण्ड (Moreland) सकेत करते हैं कि इन लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुखी व सम्पन्न था। साधारणतया व्यापारीगण सादा, शान्त और सयमी जीवन व्यतीत करते थे। या तो वे अपना धन छिपाकर रखते थे अथवा अत्यन्त ही मितव्ययी जीवन व्यतीत करते थे जिससे स्थानीय अधिकारी या फौजदार उन्हें धन से वंचित न कर दें। पश्चिमी समुद्रतट के व्यापारियों ने, जिन्होंने अपने विस्तृत व उन्नत व्यापार से अधिक धन सग्रह किया था, उच्च जीवन-स्तर को बनाये रखा और वे भोग-विलास में रत रहते थे क्योंकि उन्हें अन्य व्यापारियों के समान धनापहरण का भय नहीं था।

निम्न-वर्गों के लोग—निम्न-वर्ग के अन्तर्गत नगर के शिल्पी, श्रमजीवी, ग्रामीण, कृषक आदि थे। उपरोक्त दो श्रेणियों की अपेक्षा इनका जीवन कठोर एव असन्तोष-

जनक था। इनके पास वस्त्रों का अभाव रहता था। ऊनी वस्त्र और जूते तो उनकी सामर्थ्य के बाहर थे। साधारण स्थिति मे भुखमरी नही थी, परन्तु अकाल और दुर्भिक्ष के समय उनको अनेक कष्ट रहे होगे, । फ्रासिस्को पलसीर्ट (Francisco Palsaert) के वर्णन से हमे विदित होता है कि उस समय लोगो की तीन श्रेणियाँ थी जिनका स्तर दासता से कुछ ही ऊँचा था। वे श्रमजीवी, चपरासी, सेवक और दुकानदार थे। श्रमजीवियो का कार्य स्वेच्छाकृत नही था, वेतन कम था, खाद्य-सामग्री और गृहो मे दरिद्रता थी और वे केन्द्रीय सरकार की दमन नीति के शिकार होते थे। वेतन कम होने से नौकरो की संख्या अत्यधिक थी। उनमे ईमानदारी दुर्लभ थी और अपने वेतन को पूरा करने के लिए वे 'दस्तूर' माँगने थे, यद्यपि दूकानदार धनवान और प्रतिष्ठित होते थे, परन्तु ये साधारणतया अपने धन को छिपाकर रखते थे। इन्हे अत्यधिक हानि उठानी पडती थी क्योकि इन्हे राजा और उसके अधिकारियो को बाजार-भावो की अपेक्षा नीची दरो पर वस्तुएँ देनी पड़ती थी।

अकबर के समय मे कृषक सुखी जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि राजा की माँगे निर्दिष्ट थी और उनके प्रति बादशाह की भावना उदार थी। राज्य की ओर से कृषको का विशेष ध्यान रखा जाता था और राज्य-कर्मचारी सरकारी आदेशो के अनुसार उनके साथ नम्रता का व्यवहार करते थे। परन्तु शाहजहाँ के अन्तिम वर्षो मे प्रान्त-पतियो द्वारा कृषको को अधिक कष्ट दिये जाते थे, अतः उनकी दशा निकृष्ट होती गयी और दरिद्रता बढ़ने लगी। साधारणतया लोग ईमानदार और वचन के पक्के होते थे एव उनमे सन्तोष की मात्रा अधिक थी। इसीलिए उन्होने प्रचलित राज-नीतिक, सामाजिक व आर्थिक प्रतिबन्धो या अन्यायो के विरुद्ध आवाज बुलन्द नही की।

मनोरंजन के साधन—उस समय आमोद-प्रमोद के अनेक साधन विद्यमान थे। सभी मुगल बादशाहो को खेल-कूद व व्यायाम मे अभिरुचि थी। शिकार, पोलो तथा पशुयुद्ध प्रचलित थे और कुश्ती लडने तथा कबूतर उडाने का शौक भी लोगो को था। इसके अतिरिक्त शतरज, चौपड, पासा आदि खेल खेलने मे लोग आनन्द लेते थे। मद्य-पान से लोग अनभिज्ञ नही थे। उच्च-वर्ग के लोग 'सामन्तो' और औरगजेब को छोड-कर सभी मुगल बादशाह मद्यपान के आदी थे। "बाबर का आमोद-प्रमोद, हुमायूँ का अफीम की पीनक मे धुत रहना, मदिरा के प्रभाव से अकबर का झक्कीपन, अत्यधिक मदिरापान के कारण अकबर के दो पुत्रो की अल्पायु मे ही मृत्यु हो जाना और जहाँ-गीर का मदिराप्रेम आदि बाते इस कथन की पुष्टि करती है।" मद्यपान और अफीम-सेवन के अतिरिक्त लोग तम्बाकू भी पीते थे।

वस्त्राभूषण—मुगल-युग अपने वस्त्रानुराग के लिए प्रसिद्ध था। जरी में बहु-मूल्य वस्त्र व रेशम तथा मलमल के सुन्दर कपडे उच्च वर्ग के लोग पहनते थे। 'जाति चिह्न' के अतिरिक्त, जिनसे हिन्दू लोग पहचाने जा सकते थे, हिन्दू और मुसलमान दोनो वर्गो के सामन्तो की वेश-भूषा एक सी ही थी। दरबार की शान उन्हे बहुमूल्य वसन और रत्नजडित आभूषण धारण करने के लिए बाध्य करती थी। अबुलफजल के कथनानुसार बादशाह अकबर को प्रति वर्ष एक सहस्र वेष-भूषाएँ बनवानी पडती थी जो प्राय राजसभा मे आने वाले लब्धप्रतिष्ठित व्यक्तियो मे वितरित की जाती थी। यद्यपि साधारण हिन्दू आजकल के ही समान धोती पहनते थे, परन्तु उच्च-वर्ग के लोग

मुसलमानों की वेश-भूषा और शिष्टाचार अपना लिये थे। आभूषणों का प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों ही करते थे।

स्त्रियों की दशा—यद्यपि पर्दा-प्रथा की कठोरता के कारण महिलाओं की स्थिति पतित होती जा रही थी, परन्तु मुगल-युग में कतिपय प्रसिद्ध स्त्रियाँ हो गयी हैं। इस युग की सम्मानित स्त्रियाँ दाराशिकोह की साथिन राजकुमारी जहाँआरा, औरंगजेब की साथिन राजकुमारी रोशनआरा, औरंगजेब की कन्या जेबुन्निसा जिसकी कविताएँ आज भी हम सुनते है, अहमदनगर की चाँदबीबी, सम्राज्ञी नूरजहाँ, शिवाजी की माता जीजाबाई और महाराष्ट्र में राजाराम की रानी ताराबाई थी। पर इससे तत्कालीन समाज मे स्त्रियों की वास्तविक दशा का आभास नही होता। संक्षेप में, हिन्दू नारीत्व ने धर्म व रूढ़ि से अपनी शक्ति प्राप्त करते हुए अपनी परम्पराओं को बनाये रखा था, परन्तु इस युग की साधारण प्रगति के अनुपात से महिलाओं की उन्नति के कोई प्रमाण नही है। हिन्दू स्त्रियों मे सती और बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

सामाजिक रूढ़ियाँ और प्रथाएँ—साधारण मनुष्यों में असंयम का दुर्गुण इतना नही था जितना धनवान और सामन्तो मे था। प्रायः लोग अपने भोजन में संयमित थे और विदेशियो के प्रति शिष्टाचार का व्यवहार करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो ही कुशल व्यापारी थे और मुसलमान सभी प्रकार के व्यवसाय करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो ही समान रूप से ज्योतिष की भविष्यवाणियो मे विश्वास करते थे। प्रत्येक वर्ग के लोग अन्धविश्वासों मे डूबे हुए थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मात्मा पुरुषों के स्मारको की पूजा करते थे। मनुष्य-पूजा की हीन प्रवृत्ति ने लोगो के चरित्र को निम्न स्तर पर पहुँचा दिया था। हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान तीनों वर्गों के लोग गुरुओ, महन्तो और पीरो की सेवा करते थे एव उनसे चमत्कार-प्रदर्शन की आशा की जाती थी। शियाओं और सुन्नियों मे पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष था एवं दोनों ही एक-दूसरे को काफिर कहते थे। उस युग मे दासता का भी आधिक्य था। इसने भारतीय समाज की नैतिकता व बौद्धिक शक्ति को क्षीण कर दिया था। हिन्दू गंगा को पवित्र मानते थे और तीर्थ-यात्री उसमें स्नान करते थे। इस युग की प्रमुख सामाजिक प्रथाएँ सती, बाल-विवाह और दहेज की रस्मे थी। अकबर ने यौवनावस्था के पूर्व विवाह करने की प्रथा, समीपी सम्बन्धियों से विवाह करने की रस्म, अधिक दहेज को स्वीकार करने एवं बहुपत्नी-विवाह के निषेध करने का प्रयत्न किया था, पर व्यर्थ रहा। जिस प्रकार जमुना नदी की घाटी और पंजाब मे जाटो में विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, उसी प्रकार महाराष्ट्र मे भी कुछ अंशों तक यह प्रथा थी। हिन्दू प्रधानतया होली, दशहरा और रक्षा-बन्धन के त्यौहार मानते थे। इन सुअवसरो पर वे सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करते एव संगीत का आयोजन करते थे तथा परस्पर प्रीतिभोज देते थे। मुसलमानों के प्रमुख त्यौहार ईद, बकरीद और मुहर्रम थे। हिन्दुओ के समान वे सभी इन त्यौहारों के समय विविध आयोजन करते थे। ईद के अवसर पर गोवध नही किया जाता था। जाति और छूआछूत की प्रथा भी विद्यमान थी। उसमें किसी प्रकार से शिथिलता नही आयी थी।

टैवरनीयर जैसे विदेशी यात्री ने, जो शाहजहाँ के शासनकाल मे भारत आया था, हिन्दुओ को मितव्ययी, ईमानदार, संयमी व गम्भीर बतलाकर उनकी प्रशंसा की है। उसका कथन है, "नैतिकता मे हिन्दू अच्छे है, विवाह करने पर वे कदाचित

ही अपनी पत्नियो के प्रति अश्रद्धा व अविश्वास रखते है। उनमें व्यभिचार का अभाव है और उनके अस्वाभाविक अपराधो के विषय में तो कभी कोई सुनता ही नही।"

सामाजिक अधःपतन—शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक काल मे शाति, समृद्धि व प्रचुरता थी, परन्तु अन्तिम समय मे लोगों की दशा खराब हो गयी थी। उनमें भिखारीपन था। औरगजेब के शासनकाल में लोगो की दशा अधिक बिगडने लगी। मुगल सामन्तो की आन्तरिक नैतिकता, बल और सहन-शक्ति विनष्ट हो गयी। स्त्री और मदिरा के अनवरत साहचर्य ने उनकी नैतिकता को समूल नष्ट करने मे अधिक योग दिया। जनता का नैतिक स्तर भी उच्च नही था और निम्न श्रेणी के अधिकारी निर्लज्ज होकर बिना किसी हिचक के घूस लेते थे। राज्य-कर्मचारी जन-कल्याण का किंचित भी ध्यान नही रखते थे। मस्जिदें भी दुर्गुणो से वञ्चित नही थी। राजसभा विलासप्रिय, षड्यन्त्रकारी, ईर्ष्यालु एव चापलूस व्यक्तियो का गढ बन गयी थी तथा सामन्तो दरबारियों की शूरवीरता, विद्वत्ता, उदारता, नैतिकता एव सत्यवादिता विलुप्त हो गयी थी। सच्चे धर्म का विश्वास अन्धविश्वासियो ने ले लिया था। साधुओ व फकीरो की पूजा दिन-प्रतिदिन बलवती हो रही थी। यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने, तावीज और चमत्कारिक औषधियो का प्रयोग होने लगा था और कभी-कभी तो साधना-सिद्धि के हेतु नर-बलि भी दे दी जाती थी। मुसलमान वैद्य कभी-कभी रोगियो को स्वस्थ करने के लिए जीवो की चर्बी का उपयोग करते थे। अठारहवी सदी के अन्त और उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे हम सामाजिक प्रथाओ, राजनीति, धर्म तथा कला में असृजनात्मक प्रवृत्ति और पतित परम्पराओ के वातावरण में प्रविष्ट करते है।

सामंजस्य और सम्मिश्रण की भावना—इस युग मे चारो ओर इस प्रकार पतन होने पर भी आनन्द की एक यह बात थी कि हिन्दुओ और मुसलमानो मे कटु राजनीतिक ईर्ष्या-द्वेष होने पर भी दोनों सम्प्रदायो मे समन्वय और सम्मिश्रण की प्रवृत्ति थी। फलतः एक नवीन समन्वयात्मक सस्कृति का उत्कर्ष हुआ जो न हिन्दू थी न मुसलमान ही, किन्तु हिन्दू और मुस्लिम दोनो सस्कृतियो के सुन्दर तत्त्वो का मिश्रण थी। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना के लिए अकबर का शासन महत्त्वशाली है। धार्मिक समन्वय अकबर की 'दीनइलाही' मे प्रदर्शित हुआ। उसने वह मानव-धर्म दिया जो जाति-पाँति व सकीर्णता से विमुक्त था, पुरोहित के प्रभुत्व के वाह्याडम्बर से वचित था और एकेश्वरवाद व सदाचार पर बल दे रहा था। औरगजेब के समय सतनामी और नारायणी सम्प्रदायो ने हिन्दू व मुसलमान दोनो को मिलाने का प्रयास किया। सतनामी पन्थ में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही सम्मिलित थे। इस पन्थ के अनुयायी पूर्व दिशा की ओर मुँह करके दिन मे पाँच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों मे अल्लाह को सम्मिलित करते थे एव शव को गाड़ते थे। वास्तुकला मे ईरानी और भारतीय शैलियो का सुन्दर समन्वय हुआ जिसका उत्कर्ष अकबर व शाहजहाँ की इमारतो मे दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार मुगल चित्रकला में भी भारतीय व विदेशी चित्रकलाओं का सुन्दर समन्वय हुआ। उद्यानो की योजना व निर्माण भारतीय कलाक्षेत्र में मुगलो की बड़ी देन है। वसन, रहन-सहन, खान-पान और शिष्टाचार मे भी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय प्रकट हुआ। हिन्दुओ के विवाह मे सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा, वेश-भूषा मे पजामा और अचकन का उपयोग होने लगा, भोजन मे बालूशाही, गुलाबजामुन, बरफी, शाहजहाँई पुलाव, जहाँगीरी कबाब आदि नवीन मिठाइयाँ व भोज्य-पदार्थ प्रयुक्त होने लगे। हुक्का और तम्बाकू

का प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनो ही करने लगे । पुत्र-प्रसव पर दोनो ही सम्प्रदाय सुन्दर सगीत का आयोजन करने लगे । दोनो मे ही स्त्रियो के आभूषण समान होने लगे । हिन्दुओ की विभिन्न भाषा— हिन्दी, बगला व मराठी मे सैकडो फारसी, अरबी व तुर्की शब्दो की वृद्धि हुई । हिन्दू और मुसलमान दोनो ही परस्पर एक-दूसरे के त्यौहारो को मनाने लगे । यदि हिन्दू मुहर्रम मनाने लगे तो सैयद भाइयो मे अब्दुल्लाखाँ होली और वसन्त का त्यौहार मनाता था । सिराजुद्दौला और मीरजाफर अपने इष्ट-मित्रो और सम्बन्धियो से होली खेलते थे और दिल्ली दरबार मे तो 1825 ई० तक भी दुर्गा-पूजा का समारोह मनाया जाता था । दौलतराव सिन्धिया अपने अधिकारियो सहित मुसलमानो के समान हरे वस्त्र पहनकर मुहर्रम के समारोह मे भाग लेता था ।

आर्थिक दशा

बाबर ने अपनी आत्मकथा मे भारत के लोगो की आर्थिक दशा का उल्लेख किया है परन्तु वह वास्तविकता से बहुत दूर है । गुलबदन बेगम के 'हुमायूँनामा' में हिन्दुस्तान मे प्रचलित सस्ते भावो का विवरण है और यह बताया गया है कि अमरकोट मे बकरे एक रुपये मे खरीदे जा सकते थे । शेरशाह के विस्तृत आर्थिक सुधारो ने उसके राज्य मे लोगो की आर्थिक दशा मे अधिक सुधार किया प्रतीत होता है और अकबर के शासन ने तो शान्ति और समृद्धि का काल ला दिया । देश मे खाद्य-सामग्री सस्ती और सुकाल मे सर्वत्र भोजन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता था । स्मिथ के कथनानुसार अकबर के समय श्रमिकों के पास वर्तमान युग से अधिक खाद्य-सामग्री विद्यमान थी और कतिपय भारतीय इतिहासज्ञ भी इस बात से सहमत है । परन्तु मुगलकाल मे आधुनिक युग के समान ही समाज के विभिन्न वर्गो मे धन का समुचित विभाजन नही था । समाज का ढाँचा निम्न-वर्ग के शोषण पर ही आश्रित था । इतना होने पर भी लोगो की आर्थिक दशा आज से अधिक श्रेष्ठ थी ।

समृद्धशाली नगर—मुगलकाल मे अनेक बडे-बड़े प्रसिद्ध नगर थे जिनमे समृद्धि और प्रचुरता का राज्य था । लाहौर और आगरा इस समय विश्व के सबसे बड़े नगरों मे से थे । खानदेश मे बुर्हानपुर और गुजरात मे अहमदाबाद भी बडे नगर थे । पूर्वी भारत मे वाराणसी, पटना, राजमहल, बर्दवान, ढाका और हुगली जैसे नगरो मे खूब ऐश्वर्य और धन-सम्पन्नता थी । इलाहाबाद, जहाँ अकबर ने बडा दुर्ग बनवाया था, शीघ्र ही महत्त्वशाली नगर हो गया, क्योंकि इसकी सामरिक स्थिति थी और इसका नदियो द्वारा होने वाला व्यापार बगाल के समुद्रतट पर स्थित यूरोपियनो के नवीन व्यापारिक केन्द्रो के लिए महत्त्वपूर्ण था । आगरा राजधानी थी परन्तु शाहजहाँ के बाद देहली हो गयी ।

आवागमन के साधन—सडको और नदियो के रूप मे व्यापार के हेतु आवागमन के अच्छे साधन थे । साम्राज्य के प्रमुख केन्द्र और नगर सडको द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित थे । ये सडके छायादार वृक्षो की पक्तियो, प्याउओ और ऐसी सरायो से स्पष्टतया निर्धारित थी, जहाँ यात्री और व्यापारी रात्रि मे शान्ति व सुरक्षापूर्वक रह सकते थे । साधारणतया यात्रा सुरक्षित होती थी , यद्यपि कतिपय क्षेत्रो ने लूट-खसोट के लिये कुख्याति प्राप्त की थी, तथापि सडको को चोरो, डाकुओ, लुटेरो आदि से सुरक्षित रखने के लिए स्थानीय अधिकारी सफल कार्यवाही करते थे । राज्य मे सडक-निर्माण की प्राचीन परम्पराओ को शूर शासकों ने बनाये रखा और मुगलो ने उनका

अनुकरण किया। साम्राज्य के प्रधान केन्द्रो को सडकों द्वारा सम्बन्धित और नियन्त्रित कर दिया गया था। शेरशाह ने राष्ट्रीय राज मार्ग न. 1 (ग्राण्ड ट्रंक रोड) को पूरा किया जो मौर्यो की देन है। बगाल के साथ, जो साम्राज्य का एक प्रधान प्रान्त था, आवागमन समुचित व्यवस्था मे रखा गया था। एक अन्य महत्त्वपूर्ण सड़क आगरा को अहमदाबाद से जोडती थी और वहाँ से सूरत जाती थी। सडक द्वारा आगरा और सूरत भी जुड़े हुए थे। मक्का जाने के लिये सूरत से जहाज जाते थे। इस प्रकार राजमार्ग विश्व के अन्य व्यापारिक केन्द्रो से सम्बन्ध स्थापित करते थे। दक्षिण भारत मे जाने वाली सडक, दक्षिण के युद्धो के कारण जो साम्राज्यवादी नीति का नियमित अग थी, अच्छी दशा मे रखी जाती थी। नदियाँ भी माल लाने ले जाने के लिए श्रेष्ठ साधन थी। गगा-नदी का जलमार्ग अधिक लोकप्रिय था और इलाहाबाद से बगाल के लिए नावों के बेडे नियमित रूप से चलते थे। वास्तव मे गगा नदी के द्वारा जलमार्गो की पूर्ति होती थी।

कृषि—देश मे कृषि कार्य खूब होता था और अकबर ने इसकी उन्नति के लिए विशेष प्रयास किया था। इस समय फसले अधिकाश मे आज के ही समान थी। गन्ना और नील, कपास और रेशम देश के कतिपय क्षेत्रो मे विस्तृत रूप से होते थे। लोगो ने तम्बाकू की खेती प्रारम्भ की थी जो 1604 ई० या 1605 ई० के प्रारम्भ मे प्रस्तावित की गयी थी। कृषि के औजार भी अधिकतर वे ही थे जो आज है। सिंचाई के साधनो का अभाव था। अन्य वर्गो के लोगो की अपेक्षा निस्सन्देह कृषक अधिक समृद्ध थे। परन्तु स्थानीय अधिकारी उन्हे अधिक तग करते थे, और उनसे अधिक वसूली भी करते थे। निरन्तर दीर्घकालीन युद्धों और सैनिको के आवागमन से, जिनसे फसलो को खूब क्षति होती थी, कृषको को अधिक कष्ट झेलने पड़ते थे।

अकाल, महामारी और संक्रामक रोग—अकालो के समय लोगो और कृषको के कष्टो का कोई अन्त नही था, क्योकि तत्कालीन मुगल राज्य सहायता-कार्य के लिए व्यवस्थित और दीर्घकालीन कार्यवाही नही करता था और न भूमि-कर-सग्रह में कोई विशेष कमी ही करता था। जो कुछ भी मुगल राज्य ने किया, वह उन अपरिमित लोगों के तीव्र कष्टो को कम करने के लिए अपर्याप्त था जो भुखमरी और उसके बाद आने वाले भीषण सक्रामक रोगो से मर जाते थे। उस समय देश मे प्रचलित रोगो मे हेजा और इन्फ्लुएंजा (एक प्रकार का विषम ज्वर) था।

उद्योग-धन्धे और हस्तकला-कौशल—इस युग मे लोगो के विस्तृत और विविध उद्योग-व्यवसाय थे। तत्कालीन उद्योग-धन्धे व्यवसायी सामन्तो और कुलीन वशो की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के अतिरिक्त एशिया के अनेक भागो और यूरोप से आने वाले व्यापारियो की माँगो को भी पूरा कर सकते थे। इस युग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय सूती कपड़ो को बनाना था। सूती कपडे का व्यवसाय किसी क्षेत्र तक सीमित नही था परन्तु सम्पूर्ण देश इस व्यवसाय मे भाग लेता था। सूती कपड़े बुनने के प्रमुख केन्द्र सम्पूर्ण देश मे व्याप्त थे। उदाहरण के लिए, गुजरात मे पाटण, खानदेश मे बुरहानपुर, सयुक्त प्रान्त मे वाराणसी व जौनपुर, बिहार मे पटना व बगाल मे ढाका और अन्य स्थान सुन्दर महीन मलमल के वस्त्र बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। मध्य भारत मे चदेरी अपने सुन्दर कपडो के लिए प्रसिद्ध था। मछलीपट्टम कपडो की छपाई, सूरत गोटा-किनारी, वाराणसी जरी के बेल-बूटो के कपड़ो, लाहौर शालो, फतहपुरसीकरी दरियो और ढाका सूती कपड़ो के लिए प्रसिद्ध थे। रंगाई का व्यवसाय

भी समृद्ध दशा मे था। मोटा सूती कपड़ा था तो रंगा जाता था या उस पर अच्छे रंग के विविध मनोरम पुष्प और आकृतिया ऐसी छापी थी कि उन्हे पानी से धोकर नष्ट नही किया जा सकता था। भारत मे उस समय हर प्रकार के कपड़ो की बुनाई होती थी और केवल यही से उत्तमाशा अन्तरीप के पूर्व, मध्य-पूर्व, ब्रह्मा, मलाया, जावा आदि देशो को कपड़े भेजे जाते थे।

अकबर के शासनकाल मे राजकीय संरक्षण के कारण रेशम व्यवसाय को खूब प्रोत्साहन मिला। लाहौर, आगरा, फतहपुरसीकरी और गुजरात के अतिरिक्त रेशम के उत्पादन और रेशमी वस्त्रो के बनाने के लिए बगाल भी एक प्रमुख केन्द्र था। ऊनी कपड़े विशेषकर मोटे कम्बल बुने जाते थे। कश्मीरी शाले आजकल के समान विलासयुक्त वस्तुएँ मानी जाती थी। यद्यपि भारत ने अपनी प्राचीन सामुद्रिक प्रभुता खो दी थी, तथापि उस समय तक पोत-निर्माण का व्यवसाय विलुप्त नही हुआ था और समकालीन साहित्य मे इस विषय के हवाले है। कच्छ, खम्भात और अन्य बन्दरगाहों वाले प्रदेशो व नगरो मे विशाल आकार के पोत बनाये जाते थे। मुगलो ने बगाल के समुद्र मे अपना सामुद्रिक स्थान निर्दिष्ट कर लिया था। बगाल के समुद्र तट के नगरो मे वे पोत का निर्माण करते थे। इस युग मे भारतीय पोत-निर्माणकला ने इतना अधिक यश प्राप्त किया था कि पुर्तगालियों ने उस समय अपने सर्वश्रेष्ठ पोतो का निर्माण भारत मे करवाया था। सज्जी, खार या शोरा, जो भारत मे बारूद बनाने के लिए प्रधानतया प्रयुक्त होता था और जिसे अग्रेज व डच व्यापारी देश से बाहर भेजते थे, भारत के विविध प्रदेशो मे तैयार किया जाता था और विशेष-कर बिहार तथा दक्षिण भारत मे।

मुगलकाल मे इन प्रमुख व्यवसायो के अतिरिक्त अनेक हस्तकला-कौशल भी थे। विविध विलक्षण पेटियाँ, ट्रंक, कलमदान, मसि-पात्र, अलकृत तश्तरियाँ, लेखन-सामग्री की छोटी सन्दूकचियाँ जो हाथी-दाँत तथा लकड़ी की बनी होती थी तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा मे बनायी जाती थी।

राज्य वस्तुओ के अधिक से अधिक उत्पादन के लिए सतत प्रयत्नशील था एवं उसकी ओर के विभिन्न स्थानो पर कारखाने खोले गये थे, जहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ बनायी जाती थी। लाहौर, आगरा, फतहपुरसीकरी और अहमदाबाद मे राजकीय कारखानो मे राज्य के लिए सभी प्रकार के शिल्पी कार्य करते थे। सत्रहवी शताब्दी मे भ्रमण करते हुए बर्नियर ने ऐसे अनेक कारखाने देखे थे। प्रान्तपतियो को प्रान्तीय वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहित करना पड़ता था क्योंकि उन्हे अपने क्षेत्र में उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ वस्तुओ को सम्राट को भेटस्वरूप देना पड़ता था। परन्तु बर्नियर के कथना-नुसार जुलाहो और हस्तकला-कौशल के शिल्पियो के साथ उचित व्यवहार नही होता था। सामन्त और अधिकारीगण उन्हें सस्ते भावो मे अपनी वस्तुएँ बेचने के लिये बाध्य करते थे।

कीमतें— देश मे सर्वत्र खाद्य-सामग्री की प्रचुरता के कारण वस्तुओ मे प्रमुख-तया खाने-पीने की साधारण वस्तुओ, जैसे चावल, साग-भाजी, मसाले, माँस, दूध आदि की कीमते बहुत ही कम थी। एक हिन्दुस्तानी और कश्मीरी भेड प्रत्येक एक रुपये आठ आने मे खरीदी जा सकती थी और दिल्ली के प्रान्त मे एक गाय दस रुपये मे मोल ली जा सकती थी और पैसठ 'दाम' प्रति मन (लगभग 25 किलो) के भाव से मास बेचा जा सकता था (उस समय एक मन चालीस सेर के मन का दो-तिहाई

होता था)। श्रमिक के वेतन बहुत कम थे। अकुशल श्रमजीवी प्रायः प्रतिदिन दो 'दाम' या एक रुपये का बीसवाँ भाग उपार्जन करता था और उच्चतम श्रमजीवी को प्रतिदिन 7 'दाम' या लगभग तीन आने या आलकल के अठारह पैसे मिलते थे। परन्तु "यह निश्चित है कि मुगलों के अन्तर्गत जनसाधारण के लिए प्रचुरता व धन-सम्पन्नता का कोई स्वर्ण-युग नही था, क्योकि यद्यपि वस्तुओ के भाव सस्ते थे, तथापि औसत आमदनी अनुपात से कम और कदाचित अधिक कम थी। फिर भी वे दुख व कष्ट में उद्विग्न और असन्तोष मे व्यथित नही थे।"

टकसाल, सिक्के और तौल—शेरशाह और अकबर ने राज्य के सिक्को को नियमित करने का प्रयास किया। दिल्ली मे केन्द्रीय सरकार की टकसाल के अतिरिक्त बगाल, लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना और बाद मे सूरत मे भी प्रान्तीय टकसाले थी। अकबर ने स्वर्ण, चाँदी और ताम्र के सिक्के प्रचलित किये थे। विभिन्न वजन व मूल्य के कम से कम छब्बीस प्रकार के स्वर्ण-सिक्के थे। अकबर ने वर्गाकार चाँदी का रुपया प्रचलित किया जिसे 'जलाली' कहते थे। शेरशाह और अकबर के शासनकाल मे ताँबे के प्रमुख सिक्के को 'दाम' या 'पैसा' भी कहते थे। धनवानो और गरीब दोनो के लिए यह अधिक प्रयोग मे आने वाला सिक्का था और हिसाब के लिए यह पच्चीस 'जीतल' मे विभाजित था। साम्राज्य मे व्यापारिक लेन-देन स्वर्ण की गोल "मुहरो', रुपयो और 'दामो' मे होता था। मुगल राज्य के सिक्के और विशेषकर अकबर के काल के सिक्के 'धातु की विशुद्धता, वजन की पूर्णता और कलापूर्ण कार्यान्विति (execution) मे सर्वश्रेष्ठ थे।"

तौल की साधारण इकाइयाँ 'सेर' और 'मन' थे परन्तु अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के काल के 'सेर' तौल मे भिन्न थे। अकबर का 'मन' $54\frac{1}{2}$ पौण्ड के बराबर या लगभग चालीस सेर के मन के दो-तिहाई के बराबर होता था।

विदेशी व्यापार—मुगल शासन के अधिकाश समय तक भारत यूरोप व एशिया के विभिन्न देशो से सक्रिय रूप से अत्यधिक विदेशी व्यापार करता रहा। वस्तुओ को बाहर भेजने के लिए उत्तर-पश्चिम मे दो प्रमुख थलमार्ग थे—प्रथम, लाहौर से काबुल तक और द्वितीय, मुल्तान से कन्धार तक। सिन्ध मे लाहौरी बन्दर, गुजरात मे सूरत, भड़ौच, खम्भात, रत्नगिरि जिले मे बेसीन और चोल, बम्बई प्रान्त मे गोआ और उत्कल, मालाबार मे कालीकट और कोचीन, पूर्वी समुद्रतट पर नीगापट्टम, मछलीपट्टम और कतिपय छोटे बन्दरगाह और बगाल मे सीतागाँव, श्रीपुर, चिटगाँव और सोनागाँव प्रमुख बन्दरगाह थे। सूरत पश्चिम व्यापार की मण्डी और मक्का का प्रवेश-द्वार था। सूरत विश्व-बन्धुत्व का नगर था, जहाँ सभी देशो के व्यापारीगण परस्पर मिलते और लेन-देन करते थे और इस बन्दरगाह मे सभी देशो के सौ से अधिक जलपोत लगर डाले पडे रहते थे।

यूरोप से आने वाली प्रमुख वस्तुओ मे सोना-चाँदी, कच्चा रेशम, अष्टधातु, हाथीदाँत, मूँगा, कस्तूरी, बहुमूल्य रत्न, मलमल, जरी के कपड़े, सुगन्धित द्रव, औषधियाँ, चीनी मिट्टी का सामान और अफ्रीका के गुलाम थे और देश से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओ मे विविध वस्त्र, काली मिर्च, नील, अफीम, अन्य औषधियाँ तथा अनेक प्रकार का माल होता था। राज्य द्वारा निर्दिष्ट चुगी बहुत अधिक नही होती थी और इससे विदेशी व्यापारियो को खूब प्रोत्साहन मिला था। परन्तु देश की अधिकाश जनता निर्धन थी और मध्यम-वर्ग मे कतिपय व्यक्ति धनी थे। इससे विदेशी वस्तुओ

की ओर अपनी अभिरुचि प्रकट कर सकने मे वे सर्वथा असमर्थ थे। अतएव जन-साधारण मे वाह्य वस्तुएँ मँगाने का उत्साह नही था। इसके अतिरिक्त देश की आन्तरिक स्थिति इतनी अव्यवस्थित और असगठित थी कि देश के आन्तरिक व्यापार की प्रगति असम्भव-सी हो गई थी। वस्तु-उत्पादको के लिए शाही कानून का अभाव था। अतएव या तो ये प्रान्तीय अधिकारियो की अनुकम्पा पर निर्भर रहते थे अथवा उनकी दमन-नीति के शिकार हो जाते थे। अकबर के शासनकाल के व्यापार का महत्त्वशाली तत्त्व अंग्रेजों और डच लोगो की व्यापारिक गतिविधि थी। इन्होने देश के विभिन्न स्थानो मे धीरे-धीरे अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये थे और देश के समृद्ध प्रदेशो मे इनका प्रसार तीव्र गति से हो रहा था।

आर्थिक पतन—औरगजेब के राज्यकाल मे वाणिज्य-व्यवसाय तथा कृषि की अवनति होने लगी थी। उसके शासन के अनवरत युद्धों, शासन के दिवालियापन और राजकोष के नष्टप्राय निधित्व से शान्ति और राजनीतिक व्यवस्था विलुप्त हो गई थी। सैनिको के अनवरत आवागमन से फसलो को क्षति पहुँचती थी एवं च दक विद्रोह व अशान्ति के कारण सडके अनुरक्षित हो गई थी। सुरक्षा व शान्ति के अभाव मे व्यापार को भारी आघात लगा। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आर्थिक पतन हो गया, कृषि विनष्ट हो गई और उद्योग तथा हस्तकला-कौशल इतने बुरे प्रकार प्रभावित हुए कि कुछ समय के लिए व्यापार लगभग स्थगित-सा हो गया। वर्नियर ने शिल्पकलाओ और हस्तकला-कौशल के पतन और देश की अव्यवस्थित दशा का विस्तृत वर्णन किया है। सर जदुनाथ सरकार ने ठीक ही कहा है कि 'इस प्रकार भारत की आर्थिक शक्तिहीनता और दरिद्रता का प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय भण्डार मे कमी नही हुई थी परन्तु यान्त्रिक दक्षता (mechanical skill) और सभ्यता के स्तर शीघ्र ही निम्न हो गये थे और देश के विस्तृत क्षेत्रो मे कला और संस्कृति विलुप्त हो गई थी।"

शिक्षा

शिक्षा—व्यक्तिगत विषय—मुगलकालीन भारत मे राज्य ने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के समान कोई शिक्षा-पद्धति न तो स्थापित की थी और न किसी विशिष्ट प्रथा को ही बनाये रखा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों मे ही शिक्षा धर्म की चेरी थी, एक व्यक्तिगत विषय था। मुगल राज्य ने नागरिको को शिक्षित करना राज्य का कर्तव्य नही माना था। फलस्वरूप, शिक्षा का कोई विभाग नही था। बादशाह मस्जिदो, मठो, विहारो, व्यक्तिगत सन्तो और विद्वानो को धन या भूमि के रूप मे अनुदान देते थे। यह राजनीतिक नही वरन एक धार्मिक कर्तव्य माना जाता था और अनुदानो को लेने वाले व्यक्ति इस धन से शालाएँ चलाने के लिए बाध्य नही थे। परन्तु व्यावहारिक रूप मे लगभग प्रत्येक मस्जिद मे एक नवीन मकतब (प्राथमिक शाला) होता था, जहाँ पड़ोस के बालक-बालिकाएँ प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते थे। इसमे मस्जिद का मुल्ला बच्चो को कुरान कण्ठाग्र करवाता था। सुन्दर आकर्षक लेखनकला का अभ्यास कराया जाता था और यदि कोई बालक हस्तकला-कौशल या अन्य विशिष्ट धन्धा सीखना चाहता था तो उसे किसी 'उस्ताद' के पास शिष्य (apprentice) बन कर रहना पडता था। मकतब की शिक्षा समाप्त करने के बाद उच्च शिक्षा के इच्छुक व्यक्ति मदरसा या कॉलेज मे जाते थे, जहाँ अध्ययन के विषय प्रधानत. धार्मिक थे और वहाँ पढाये जाने वाले प्रमुख विषय धर्मशास्त्र, गणित और भौतिक-विज्ञान थे। मकतबो के अतिरिक्त हिन्दी, सस्कृत और देशज भाषाओ की पाठशालाएँ भी

नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रो मे विद्यार्थियो के लाभार्थ कार्य करती थी । यद्यपि मुगल काल के कतिपय विहारो मे विद्वान आचार्य और धर्मशास्त्रज्ञ अवश्य थे, परन्तु ये बौद्ध-युग के विहारो तथा यूरोप के ईसाई मठो के समान शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र नही थे । फिर भी कतिपय नगरो मे कुलागात मुसलमान विद्वानो के ऐसे परिवार थे जिनका यश देश के सभी भागो से विद्यार्थियों को आकर्पित करता था और जो व्यावहारिक रूप मे विद्यालय और महाविद्यालय स्थायी रूप से चलाते तथा उनको विशिष्ट विपयो मे सर्वोच्च शिक्षा देते थे ।

शिक्षा का माध्यम अरबी भाषा—यद्यपि तेरहवी सदी से अरवी मृत भापा हो गई थी, तथापि सर्वोच्च मुस्लिम शिक्षा इसी भापा के माध्यम द्वारा दी जाती थी । धर्म-ज्ञान की पुस्तके तो इस भापा मे थी ही परन्तु विज्ञान की पुस्तके भी इसमे विद्यमान थी । यूरोप में फ्रेंच भापा के समान ही फारसी का भी अध्ययन सुसंस्कृत समाज मे निपुणता व शिष्टाचार के हेतु किया जाता था । सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक मुस्लिम विद्यार्थी मक्का जाया करते थे और अपनी शिक्षा को पूर्णता का अन्तिम रूप देने के लिए मक्का मे एक वर्प तक रहते थे । भारत मे मुस्लिम समाज में उस समय मक्का की उपाधि का सबसे अधिक सम्मान होता था और काजी बनने के लिए यह उपाधि प्रायः अनिवार्य योग्यता मानी जाती थी । अधिकतर मुस्लिम राजकुमारों के शिक्षक इसी वर्ग के व्यक्तियो मे से चुने जाते थे ।

स्त्री-शिक्षा—पर्दा-प्रथा होने के कारण स्त्रियाँ सर्वसाधारण संस्थाओ मे शिक्षा के हेतु नही जाती थी । परन्तु लगभग प्रत्येक अमीर या सामन्त के भवनो में एक अध्यापिका रखी जाती थी और मुगल सम्राट अपनी राजकुमारियो को पढाने के लिए विदुपी ईरानी स्त्रियाँ रखते थे । स्त्रियाँ धर्मशास्त्रो की अपेक्षा अन्य विपयो का और अरबी की अपेक्षा फारसी का अध्ययन करती थी । परन्तु उन सभी स्त्रियो को, जिन्होने अपने अध्ययन मे प्रगति की थी; कुरान को कण्ठाग्र करना पड़ता था । ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक मुस्लिम नारियाँ स्वय लेखिकाएँ और साहित्य की सरक्षिकाएँ थी । गुलवदन वेगम की आत्मकथा प्रसिद्ध है और अकवर की धाय माहम अनगा ने दिल्ली मे एक मदरसा (कॉलिज) के लिए अनुदान दिया था । कतिपय मुगल राजकुमारियों, जैसे अकवर की पत्नी सलीम सुल्ताना, जेबुन्निसा, नूरजहाँ, मुमताजमहल और जहाँ-आरा साहित्य मे लब्धप्रतिष्ठ थी । बहुत दुर्लभ उदाहरणो को छोड़कर, जहाँ पिता स्वय शिक्षक बनकर घर मे पढाता था, मध्यम-वर्ग के लोग प्रायः अपनी कन्याओ को शिक्षा से अनभिज्ञ रखते थे । अरब और फारस देश के विपरीत भारत मे लडके-लडकियो की सह-शिक्षा एक साथ नही होती थी और गरीब लोगो की कन्याएँ तो निरक्षर ही रह जाती थी ।

शिक्षा को राजकीय संरक्षण—मुगल सम्राट शिक्षा के सरक्षक थे । हुमायूँ पुस्तको का वडा शौकीन था । उसने दिल्ली मे एक मदरसा स्थापित करवाया और पुराने किले मे शेरशाह द्वारा निर्मित आमोद-प्रमोद के भवन को ग्रन्थालय मे परिवर्तित कर दिया । अकवर का शासनकाल विद्यालयो और महाविद्यालयो की शिक्षा की प्रगति मे युग-प्रवर्तक है । उसने फतहपुरसीकरी, आगरा और अन्य स्थानो मे महाविद्यालय निर्मित कराये और पुस्तको तथा अध्ययन-प्रणालियो मे कतिपय परिवर्तन किये । जहाँगीर ने अपने साम्राज्य मे यह नियम जारी किया था कि जब कभी किसी धनवान

व्यक्ति या यात्री का बिना उत्तराधिकारी के देहावसान हो जाय तो उसकी सम्पत्ति मदरसो, मठो आदि के निर्माण और जीर्णोद्धार के लिए राज्यकोप मे सम्मिलित की जाय। अपने राज्यारोहण के बाद जहाँगीर ने उन मदरसों का जीर्णोद्धार किया जो तीस वर्ष से पशु-पक्षियो के निवास-स्थान बन गये थे और उन्हे विद्यार्थियो, शिक्षको और आचार्यों से पूर्ण कर दिया। शाहजहाँ ने पुरस्कार देकर शिक्षा को प्रोत्साहित किया और दारुबक नामक महाविद्यालय का, जो लगभग नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था, जीर्णोद्धार किया। मुगल राजवश का सबसे महान विद्वान राजकुमार दाराशिकोह था। यद्यपि औरगजेब ने हिन्दू पाठशालाओ और मन्दिरों को विध्वस कर दिया था, तथापि उसने मुस्लिम युवको की शिक्षा को विविध प्रकार से प्रोत्साहित किया और 'अनेक महाविद्यालय और शालाओ' को स्थापित किया।

साहित्य

मुगल सम्राट साहित्य के सरक्षक थे और इसकी विविध शाखाओ के विकास को उन्होने खूब प्रेरणा दी। सम्राट ही नहीं परन्तु हुमायूँ की माता से लेकर औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा तक अन्त पुर की स्त्रियाँ भी साहित्य और कला की सरक्षिकाएँ थी। वे सुन्दर वस्तुओ, उद्यानो, चित्रकारी के कामो, जरी के कामो और सुन्दर भवनो को अधिक पसन्द करती थी। बाबर और जहाँगीर ने स्वय अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। अकबर के राज्याश्रय मे अनेक विचारक और विद्वान समृद्ध हुए और उन्होने रुचिकर एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की। अकबर मे विद्वानों के प्रति उत्तम आदर व श्रद्धा की भावना थी, तथा धर्मो व दार्शनिक कार्यों मे उसका प्रगाढ स्नेह था। इसके फलस्वरूप एशिया के विविध प्रदेशो के विद्वान, कवि और साहित्यिक उसकी राजसभा मे एकत्र हुए थे।

फारसी साहित्य—अकबर के काल का फारसी साहित्य तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—(अ) ऐतिहासिक ग्रन्थ, (ब) अनुवाद, और (स) काव्य-ग्रन्थ। इस युग के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ मुल्ला दाऊद द्वारा रचित 'तारीख-ए-अल्फी', अबुल-फजल द्वारा लिखित 'आईन-ए-अकबरी' और 'अकबरनामा', बदायूनी द्वारा लिखी हुई 'मुन्तखब-उल-तवारीख', निजामुद्दीन अहमद की 'तबकात-ए-अकबरी', फौजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा' और अब्दुल बकी का 'म' आसिर-ए-रहीमी' है। अकबर के समय का फारसी का सबसे प्रसिद्ध लेखक अबुलफजल था। उसकी रचनाएँ विचारात्मक और राजनीतिक आधार पर होती थी। वह एक बडा विद्वान, कवि, लेखक, निबन्ध-कार, समालोचक और इतिहासज्ञ था। हिन्दुओ के उच्च साहित्य का फारसी मे अनुवाद करने की दृष्टि से भी वह प्रख्यात था। अकबर की आज्ञा से सस्कृत और अन्य भापाओ के अनेक ग्रन्थो का अनुवाद फारसी मे हुआ था। अनेक मुस्लिम विद्वानों ने महाभारत के विविध भागो का फारसी मे अनुवाद किया और 'रज्मनामा' के नाम से इनका संकलन हुआ। 1589 ई० मे बदायूँनी ने रामायण का अनुवाद पूर्ण किया, हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद का अनुवाद किया, फैजी ने गणित के ग्रन्थ 'लीलावती' का अनुवाद और मुहम्मदखाँ गुजराती ने ज्योतिप पर लिखे एक निबन्ध का फारसी भापा मे अनुवाद किया। कुछ यूनानी और अरबी भापा के ग्रन्थ भी फारसी मे अनुवादित हुए। इस युग मे गद्य और पद्य दोनो मे ग्रन्थो की रचना हुई। अकबर के सरक्षण में अनेक कवियो ने अच्छे काव्य-ग्रन्थो की रचना की। इन कवियो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध ग़िजाली, फैंजी, गजलो का लेखक मुहम्मद हुसेन नजीरी और

कसीदों का लेखक सैयद जमालुद्दीन उर्फी थे। गिजाली के प्रमुख ग्रन्थ, 'मीर-तुल केनात', 'नक्श-ए-वदीद' और 'इसरार-ए-मतूकब' हैं। अकबर के दरबार का यह प्रतिभाशाली कवि था। फैजी भी राजसभा का प्रमुख कवि था परन्तु वह फारसी भाषा मे हिन्दू ग्रन्थो के अनुवाद के नाते अधिक प्रसिद्ध था। अब्दुर्रहीम खान-ए-खाना जो दरबार का प्रमुख अमीर था, फारसी भाषा का प्रसिद्ध विद्वान और कवि भी था।

जहाँगीर को भी सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक रुचि थी और वह भी विद्वानो को राज्याश्रय देता था। वह विद्वानो का आदर करता था। उसके दरबार को सुशोभित करने वालो में गयासबेग, नकीबखाँ, नियामतुल्ला और अब्दुल हक प्रसिद्ध थे। उसके शासनकाल मे कतिपय ऐतिहासिक ग्रन्थ भी लिखे गये थे। शाहजहाँ ने भी विद्वानों को राज्याश्रय देने मे अपने पिता का अनुकरण किया। अनेक कवियो और धर्मशास्त्र के अतिरिक्त 'पादशाहनामा' के रचयिता अब्दुल हमन लाहौरी और 'शाहजहाँनामा' के लेखक इनायतखाँ जैसे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ भी थे। राजकुमार दाराशिकोह के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ फारसी भाषा के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। उसने भगवद्‌गीता, उपनिषद और योगयवशिष्ठ का फारसी में अनुवाद किया और मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। कट्टर सुन्नी होने पर भी औरंगजेब मुस्लिम धर्मशास्त्रों और न्यायशास्त्र का उच्च कोटि का विद्वान था। उसके आदेशानुसार 'फतवा-ए-आलमगीरी' की रचना हुई। उसके शासनकाल में 'आलमगीरनामा', 'म' आसिर-ए-आलमगीरी' तथा 'खुलसत-उल-तवारीख' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये।

ग्रन्थालय—ग्रन्थों के लिए मुगल सम्राटो की अभिरुचि के फलस्वरूप शाही ग्रन्थालय की स्थापना हुई जो प्रत्येक प्रकार के साहित्य का खजाना बन गया। अकबर के शासनकाल मे इस ग्रन्थालय मे 24,000 हस्तलिखित ग्रन्थ थे जिनमे से अनेक सम्राट के लिए चित्रित और नकल किये गये थे। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ग्रन्थो के महान सग्रहकर्ता थे और हिन्दू तथा मुसलमान दोनो समुदाय के सामन्तो ने शाही दरबार का अनुकरण किया। उत्तर भारत मे हस्तलिखित ग्रन्थो के बड़े-बड़े व्यक्तिगत पुस्तकालयो का आविर्भाव इसी काल में हुआ। बीकानेर की अनुपम संस्कृत लाईब्रेरी, जयपुर का पोथीखाना और जैसलमेर का ग्रन्थो का बडा संग्रह ऐसे मध्य-कालीन ग्रन्थालयो के उदाहरण है।

देशज भाषाओ का साहित्य—अकबर द्वारा स्थापित शान्ति और सुव्यवस्था ने और इस युग के धार्मिक आन्दोलनो के विश्व-हितैषी भावो और सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा मे सन्तो के उपदेशों ने साहित्यिक प्रतिभाओ को सुमन की पख-डियो के समान अभिव्यक्त और विकसित होने को प्रेरित किया। इसके परिणामस्वरूप कई अर्थो मे सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी हिन्दुओ के ज्ञान-विकास का युग था। इसके अतिरिक्त इन सदियो को हिन्दुस्तानी साहित्य का 'ऑगस्टन-युग' (Augustan Age) भी कहा जाता है। देशज भाषाओ के साहित्य का निम्नलिखित विवेचन इस कथन की पुष्टि कर देगा।

हिन्दी साहित्य—हिन्दी मे 1526 ई० के बाद प्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्‌मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी प्रथम प्रसिद्ध लेखक हुए। इस ग्रन्थ में चित्तौड़ की रानी पदिमनी की कहानी है। अकबर का शासनकाल हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्ण-युग प्रमाणित हुआ। हिन्दी कविता मे अकबर की तीव्र अभिरुचि और राज्या-श्रय ने हिन्दी साहित्य को खूब प्रोत्साहित किया। अकबर की शानदार विजयों और

शासन-सुधारों ने एक नवीन युग का सूत्रपात किया। सोलहवीं सदी का उत्तरार्द्ध कल्पना की प्रचुरता और दिव्य अभिव्यक्ति का युग था—यह उन साहसी कार्यों का काल था जिसने मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट शक्तियों को प्रदर्शित किया। कवियों, विचारकों, लेखकों और विद्वानों ने देशज भाषाओं के साहित्य को देदीप्यमान कर दिया। अकबर के दरबारियों में राजा बीरबल, राजा मानसिंह, राजा भगवानदास और पृथ्वीराज राठौर प्रसिद्ध कवि थे। राजा टोडरमल ने हिन्दुओं के धर्मशास्त्र पर एक विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है और हिन्दी में कविताएँ भी रची हैं। पृथ्वीराज राठौर वेलिकृष्ण राग के लेखक थे। परन्तु अकबर के दरबारियों में सबसे अधिक लब्धप्रतिष्ठ व प्रतिभा-सम्पन्न कवि अब्दुर्रहीम खान-ए-खाना था, जिसके दोहे आज भी अधिक अभिरुचि और उत्साह से पढ़े जाते हैं। इसके द्वारा लिखित 'रहीम सतसई' का हिन्दी साहित्य में आदरणीय स्थान है। नरहरि, करण, हरीनाथ और गग भी अकबर के दरबार के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक व कवि थे।

इस युग का अधिकांश साहित्य धार्मिक था। कृष्ण या राम की जीवन-गाथाएँ ही इस युग की अधिकांश कविता के विषय थे। कृष्ण-उपासना के अनेक लेखक जमुना नदी की घाटी में ब्रज-भूमि में रहते थे। इनमें से आठ प्रसिद्ध व्यक्तियों को 'अष्टछाप' नाम दिया गया है जिनमें सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इन्होंने ब्रज-भाषा में अपनी काव्य-रचना करके अपने ग्रन्थ 'सूर-सागर' में कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की क्रीड़ाओं का वर्णन किया और कृष्ण तथा उनकी प्रेमिका राधा के सौन्दर्य पर अपने छन्दों की रचना की है। इनके सरस तथा मार्मिक छन्द अपनी मधुरता तथा हृदय-हारिता के लिए हिन्दी साहित्य की अनुपम कृति है। इन्होंने ब्रज-भाषा का प्रयोग कर उसे साहित्य का रूप दिया। 'अष्टछाप' के अन्य प्रसिद्ध कवि नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भदास व चतुर्भुजदास हैं। हिन्दी का प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि रसखान वल्लाभाचार्य के पुत्र विट्ठलदास का शिष्य था और अनेक सरस छन्दों का रचयिता था। राममार्गी लेखकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तुलसीदास थे। उन्होंने लोगों की बोलचाल की भाषा में लिखा और इसलिए उन्हें भारत का कवि कहा जा सकता है। वे उच्च कोटि के कवि ही नहीं थे वरन् एक आध्यात्मिक गुरु भी थे जिनका नाम आज भी घर-घर में श्रद्धापूर्वक लिया जाता है और लाखों मनुष्य उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'राम गीतावली', 'कृष्ण गीतावली', 'विनय-पत्रिका', पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', 'दोहावली', 'वैराग्य सन्दीपनी' हैं। परन्तु उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' है जो राम के गुण-गौरव की गाथा है। यह कवि-प्रतिभा का दिव्य महाकाव्य ही नहीं अपितु लोगों का धार्मिक ग्रन्थ भी है जिसकी ओर भारत के हिन्दी भाषा-भाषी सभी व्यक्ति आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए देखते हैं और जिनकी नैतिकता के नियम राजा से रंक तक सभी लोगों की जिह्वा पर रहते हैं। वास्तव में रामायण लाखों लोगों का 'बाइबिल' ग्रन्थ है। साहित्यिक कृति और धार्मिक अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टि से तुलसीदासजी की रामायण सर्वोत्कृष्ट है। तुलसीदासजी ने अपने अलौकिक प्रतिभा के बल पर राम-काव्य को धर्म तथा साहित्य के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचा दिया, गुमराह जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया और हिन्दुत्व की रक्षा की। तुलसीदासजी का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व विलक्षण है। उन्होंने हिन्दू धर्म की सम्प्रदायों और विभेदों से रक्षा की, क्योंकि 'रामचरित-मानस' का मर्म राम की उपासना को सर्वोत्कृष्ट बताने पर भी इतना विशाल था कि उसने सभी सम्प्रदायों को अपना लिया था और भक्ति को अधिक दृढ़ रूप से प्रेरणा दी

थी। केशवदास, सेनापति और त्रिपाठी बन्धुओं ने शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन मे काव्यकला को व्यवस्थित करने के सफल प्रयत्न किये। केशवदास ने साहित्य की मीमासा शास्त्रीय पद्धति पर करके काव्य-रचना का पाण्डित्यपूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' है। इसी युग के अन्य प्रसिद्ध कवि सुन्दर, सेनापति, भूषण, देव और बिहारी है। भूषण ने अपने हिन्दू समुदाय के यश-गौरव की गाथाएँ गायी और शिवाजी तथा छत्रसाल बुन्देला ने उन्हे राज्याश्रय दिया। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'शिवाबावनी,' छत्रसाल शतक' और 'शिवराज भूषण' है। सुन्दर कवि ने सुन्दर-शृंगार की रचना की। इनकी कवि-प्रतिभा से प्रभावित होकर सम्राट शाहजहाँ ने इन्हे 'महा कविराय' की उपाधि दी थी। बिहारी का प्रमुख ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' है जिसमे सात सौ दोहे है। ये बड़े मार्मिक और हृदयग्राही है।

बंगला साहित्य—इस युग मे बगाल मे दिव्य, अलौकिक वैष्णव साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। बगला साहित्य की अनेक शाखाएँ, जैसे पद, गीत, भजन और चैतन्य के जीवन-चरित्रो ने बगाल के लोगो के हृदयो को प्रेम और उदारता की भावनाओ से ओतप्रोत ही नही किया वरन इन्होने इस युग के प्रान्तीय सामाजिक जीवन की झाँकी भी प्रदर्शित की है। इसी काल में 'भागवत' और बडे-बडे महाकाव्यो के बंगला में अनेक अनुवाद हुए और चण्डीदेवी तथा मनसादेवी के गुणगान मे ग्रन्थ लिखे गये। इस काल मे बगाल मे काशीरामदास, मुकन्दराम चक्रवर्ती और धनाराम जैसे कवि हुए। भारतचन्द्र और रामप्रसाद के ग्रन्थ मुगलो के साम्राज्य के पतन के बाद लिखे गये। इसके अतिरिक्त अन्य हिन्दू-मुसलमान कवियो ने अपनी कृतियो द्वारा बंगला साहित्य की सेवा की।

मराठी साहित्य—इस युग मे एकनाथ, दासोपन्त, मुक्तेश्वर, वामन पण्डित, तुकाराम, रामदास और मोरोपन्त जैसे प्रतिभासम्पन्न कवियो ने मराठी साहित्य के भण्डार को अपनी बहुमूल्य रचनाओ से भरा। इस युग की मराठी रचनाओ मे पाण्डित्य खूब झलकता है। इस युग के प्रारम्भ मे श्रीधर स्वामी ने महाभारत, रामायण और भागवत की गाथाओं को लेकर ग्रन्थो की रचना की। उनके ग्रन्थो मे 'हरिविजय,' 'रामविजय,' 'पाण्डव-प्रताप' और 'शिवलीलामृत' मुख्य है। मुक्तेश्वर ने भी अपनी कविताओ के विषय रामायण और महाभारत के ग्रन्थो से ही लिये है। इनके लिखे हुए महाभारत के पाँच पर्व उपलब्ध हुए है। परन्तु इनकी श्लोकबद्ध रामायण सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके बाद 'नल-दमयन्ती स्वयम्वराख्यान' के रचयिता रघुनाथ पण्डित, मध्यमुनीश्वर, अमृतराय और महिपति बाबा विशेष उल्लेखनीय है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त और कवि श्री समर्थ रामदास भी इसी युग की प्रतिभा थे। ये महाराष्ट्र मे प्रथम उपदेशक व कवि थे जिन्होने यह उपदेश दिया कि गृहस्थ जीवन के साथ-साथ परमार्थ-जीवन भी व्यतीत किया जा सकता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दासबोध' है। इनके शिष्य माधव स्वामी ने काव्य की पर्याप्त रचना की। महाराष्ट्र मे कृष्ण-भक्ति-मार्ग के कवियो में वामन पण्डित सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इन्होने श्लोकात्मक कविता की रचना की। मराठी साहित्य मे इनके यमक अलकार प्रसिद्ध है। राम भक्ति मार्ग के कवियो मे मोरोपन्त अधिक प्रख्यात है। अन्य कवियो की अपेक्षा इनका काव्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत रहा। इनकी 'केकावली' भक्ति-रस से ओतप्रोत सरस काव्य है। इन्होने सम्पूर्ण महाभारत की रचना 'आर्याछन्द' मे की है। इसलिए इन्हे आर्यापति भी कहते है। इसी युग मे प्रसिद्ध भक्त तुकाराम भी हुए जिनके 'अभग' मराठी साहित्य मे अमर है। मराठी साहित्यक्षेत्र मे यह प्रसिद्ध है कि .

"मुश्लोक वामनाचा, किंवा आर्या मयूरपंताची,
ओवीज्ञानेशाची, अभंग वाणी प्रसिद्ध तुकयाची।"

वामन पण्डित के 'मुश्लोक,' मोरोपन्त के 'आर्याछन्द,' ज्ञानेश्वर की 'ओवी' और तुकाराम के 'अभंग' प्रख्यात हैं।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मराठों का उत्कर्ष होता है। मराठा साम्राज्य के अभ्युदय के साथ-साथ ही मराठी साहित्य मे भी एक नवीन युग का प्रादुर्भाव होता है जिसे शाहिरी युग या पौवाड़े का युग कहते हैं। इस युग के रामजोशी अनन्तफन्दी, होनाजी बाल, सगन, भाऊ, प्रभाकर, परशराम आदि प्रसिद्ध प्रतिभासम्पन्न कवि हैं और रामचन्द्र पन्त आमात्य प्रख्यात गद्यलेखक है। इस युग मे शृंगार व वीर-रस दोनों ही प्रधान रहे। सैनिकों को प्रेरणा देने के लिए कवियों ने 'लावणी' और 'पौवाडों' का आश्रय लिया और इन्ही में काव्य-रचना की। 'लावणी' मे शृंगार और 'पौवाडों' मे वीर-रस कूट-कूटकर भरा गया है। वस्तुतः 'पौवाडे' वीरो की गाथाएँ हैं।

गुजराती साहित्य—हिन्दी और मराठी के समान गुजराती साहित्य भी इस युग मे पूर्ण सम्पन्न होता रहा। अकबर के शासनकाल मे गुजराती मे प्रसिद्ध भक्त और कवि अरवा था। ससार से वैराग्य ले लेने पर वह भक्ति की ओर झुका और गुजराती मे अनेक ग्रन्थों की रचना की, जैसे 'चित्त-विचार-संवाद,' 'शत-पद,' 'कैवल्य गीता,' 'परमपद-प्राप्ति,' 'पंचदशी तात्पर्य' आदि। उसने अपने काव्य में विश्व के मिथ्यावाद की व्यंग्योक्ति द्वारा धज्जियाँ बिखेर दी। उसकी भाषा अपरिमार्जित पर व्यंगपूर्ण है। उसकी कविता कृष्ण-भक्ति की परम्परा को छोड दर्शन, प्रेमानन्द और मानव-प्रकृति का मार्मिक विवेचन करने लगी। इसीलिए अरवा गुजराती साहित्य मे युग-प्रवर्तक कवि है। इसके बाद प्रसिद्ध कवि भट्ट प्रेमानन्द हुआ। गुजराती को उच्च साहित्यिक स्तर पर लाने का श्रेय प्रेमानन्द को ही है। उसने लगभग छत्तीस ग्रन्थो की रचना की है। उसकी कविताएँ इतनी अधिक लोकप्रिय हैं कि आज भी वे गुजरात मे प्रतिदिन अभिरुचि से पढ़ी जाती है। अलंकारो व रसो में वह बेजोड रहा है। प्रेमानन्द के पुत्र वल्लभ का समकालीन सामलभट्ट था जो औरंगजेब के बाद समृद्ध हुआ था। कविताओं में पौराणिक कहानियों का वर्णन करने मे सामल खूब सफल हुआ। उसकी 'मदनमोहना' की कहानी और 'सामल रत्नमाल अधिक प्रसिद्ध है। अरवा, प्रेमानन्द और सामल गुजराती साहित्य के तीन देदीप्यमान नक्षत्र हैं। ये ऐसे प्रसिद्ध लोक-कवि थे कि इन्होंने अपने युग के ही नही परन्तु बाद के समय के लोगो को भी प्रभावित किया। इन तीनो के अतिरिक्त वल्लभ, मुकुन्द, देवीदास, शिवदास, विष्णुदास, विश्वनाथ, ज्ञानी, बिर्जी, रत्नेश्वर आदि अन्य कवि भी थे। आनन्दघन और नेमीविजय जैसे जैन कवि भी सत्रहवी सदी मे हुए थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद गुजराती साहित्य में प्रतिभावान कवियो और लेखको का अभाव हो गया और अठारहवी सदी मे सृजनात्मक साहित्य की रचना हुई। परन्तु इस सदी मे 'गर्भा' साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसमे देवी अम्बा या काली के गुण-गौरव की गाथाएँ कविता में हैं।

उर्दू साहित्य—मुगल-युग में उर्दू का उच्चतम विकास नही हुआ। फिर भी नूरी आजमपुरी जो फैजी का मित्र था और हजरत कमालुद्दीन मखदूम शेख सादी और मोहम्मद अफजल अकबर-युग के उर्दू के कवि थे। इसी प्रकार नासिर अफजली इलाहाबादी और पण्डित चन्द्रभान ब्रह्मन शाहजहाँ के समय के प्रसिद्ध उर्दू कवि माने

गये है। कतिपय विद्वानों का मत है कि भारत मे गजल की प्रथा वली औरंगाबादी से नही अपितु नासिर अफजली से प्रारम्भ होती है। मुगलों की अपेक्षा दक्षिण मे बीजापुर और गोलकुण्डा के सुलतानो ने उर्दू को अधिक प्रोत्साहित किया। गोलकुण्डा का सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह (1519–1555 ई०) स्वय उर्दू का प्रसिद्ध लेखक व कवि था। इसके बाद इब्न निसाती व 'गवासी' दो अन्य कवि हुए। गोलकुण्डा के समान बीजापुर के सुलतान भी उर्दू साहित्य वालो के लिए उदार सरक्षक थे। उनके संरक्षण मे 'अलीनामा' और 'गुलशने इश्क' के रचयिता मुहम्मद नसरत शाह और 'यूसुफ व जुलेखा मसनवी' के लेखक शाह हाशिम हुए थे। परन्तु इस युग में औरगाबाद का वली (1668–1774 ई०) प्रसिद्ध कवि था जिसने 'गजल', 'मसनवी' और 'रुबाइयात' सादी, स्वाभाविक और मनोरम शैली मे लिखी। इसका 'रेख्ता का दीवान' और 'देह मजलिश' नामक ग्रन्थ विख्यात है। विद्वानो ने वली को उर्दू का जन्मदाता मानकर उसकी प्रशसा की है। इसकी रचनाएँ भापा तथा काव्य की दृष्टि से बडी मनोहर है। इसका समकालीन हैदराबाद निवासी सैय्यद कमरअली उपनाम 'सिराज' भी अपनी काव्य-प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध था। इसने भी एक 'दीवान' लिखा है। अनेक कवियों ने वली की शैली की नक़ल की। इनमें सबसे प्रसिद्ध अधिक हातिम, खान आर्जू, आबरू और मजहर है जो उत्तरी भारत मे 'उर्दू कविता के जनक' कहे जाते हैं। अठारहवी सदी के प्रारम्भ मे दिल्ली उर्दू साहित्य का केन्द्र हो गया था। औरगजेब की मृत्यु के पश्चात उर्दू कविता की प्रभूत प्रगति हुई एवं गालिब, शाह, नसीर, जौक, मोमिन जैसे कवियो ने उर्दू साहित्य के भण्डार को भरा। इन सबका वर्णन आगे किया जायेगा।

संस्कृत साहित्य—मुगल-युग ने उत्तर भारत में सस्कृत साहित्य की अन्तिम सुगन्ध प्रसारित होते हुए भी देखी थी। इस युग का सबसे बडा संस्कृत का लेखक जगन्नाथ पण्डित था जिसे सम्राट शाहजहाँ ने कविराय की उपाधि से सम्मानित किया था। सस्कृत के बडे कवियो मे जगन्नाथ अन्तिम था जिसके ग्रन्थो मे काव्य और भावना का सौन्दय है। उसकी 'गंगा-लहरी' और अन्य ग्रन्थ श्रेष्ठतम माने गये है। यद्यपि एक दूसरे कवि कवीन्द्र की अलकारपूर्ण रचनाएँ जगन्नाथ की समानता की नही है तथापि वे उल्लेखनीय अवश्य हे। 'विदग्ध माधव' नाटक तथा अन्य ग्रन्थो के रचयिता रूप गोस्वामी, नाटककार गिरधरनाथ और कई दूसरे इस युग के सस्कृत के प्रसिद्ध कवि है। पुरुषो के अतिरिक्त वैजयन्ती जिसने 'आनन्दलतिका चम्पू' के सम्पादन मे अपने पति कृष्णनाथ की सहायता की थी और 'सुभाषितावलि' की प्रसिद्ध लेखिका वल्लभ देवी प्रख्यात विदुपी स्त्रियाँ थी।

औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम भाग मे महान कवियो के युग की इतिश्री हो गयी थी और विभिन्न साहित्यो पर मुगल साम्राज्य के पतन का बुरा परिणाम हुआ।

मुगलकालीन धार्मिक विचारधाराएँ

पन्द्रहवी शताब्दी के समान सोलहवी शताब्दी भी धार्मिक विप्लव का युग था, जबकि वैष्णव धर्म ने उत्तर भारत और बगाल के लाखो मनुष्यो को आकर्षित कर लिया। राम और कृष्ण के भक्त विभिन्न सम्प्रदायो में विभक्त हो गये और उन्होने अपने-अपने मतानुसार पूजा और उपासना-विधि का प्रतिपादन किया। कृष्ण-भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ थे। इनके बाद आठ भक्तो ने

जिन्हे 'अष्टछाप' कहते है, कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया। इनमें सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इन्होने ब्रज-भाषा में रचना की और सगुण उपासना का उपदेश दिया एवं कृष्ण की बाल-क्रीड़ा का सरसता, श्रद्धा व भक्ति से वर्णन किया। 1552 ई० के लगभग हरिवंश ने राधा-वल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण की प्रेमिका राधा की उपासना करते है और उसी की सहायता से कृष्ण की अनुकम्पा पाना चाहते हैं। वृन्दावन मे इस युग के अन्य प्रसिद्ध वैष्णव सन्त रूप, सनातन और जीव गोस्वामी थे जिन्होने राधा-दामोदर और गोपाल भट्ट के मन्दिर की स्थापना की थी।

राम-भक्ति मार्ग का उपदेश तुलसीदासजी ने दिया। ये राम को विष्णु का अवतार मानते थे और उनकी पूजा व उपासना का उपदेश देते थे। इन्होने रूढ़िवादी सनातनी हिन्दू धर्म के सिद्धान्तो व प्रथाओ को अंगीकार कर लिया, जाति-प्रथा का प्रतिपादन किया, ब्राह्मणो की सर्वोपरिता पर अधिक बल दिया, नारियो की स्वतन्त्रता का विरोध किया और भक्ति के सिद्धान्त का उपदेश दिया। इन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नही की, परन्तु वे एक सुधारक और उपदेशक थे। तुलसीदास के अतिरिक्त ऐसे अन्य सुधारक भी थे जिन्होंने अपने-अपने सम्प्रदायों की स्थापना की। इनके सिद्धान्तो पर इस्लाम का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। राजस्थान के सन्त और सुधारक दादू (1544–1603 ई०) ने मूर्ति-पूजा व जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया और ईश्वर मे अटूट भक्ति रखने पर बल दिया। लालदास और उसके अनुयायियो ने राम-नाम और साधु-जीवन पर बल दिया। धर्मदास और उसके अनुयायियों ने ईश्वर के नाम को बार-बार दोहराने और पवित्र जीवन व्यतीत करने की ओर सकेत किया। इस प्रकार हिन्दुओ मे कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति के मार्ग के मानने वाले सन्त थे।

बंगाल में चैतन्य के अनुयायियो ने भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। उन्होने इस मत का प्रतिपादन किया कि बिना भक्ति के मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। उनके लिए भक्ति ही सर्वोपरि थी। उनके मतानुसार कृष्ण ही परमात्मा है तथा उपासना और पूजा के लिए वे सर्वोपरि इष्टदेव है।

दक्षिण भारत मे भी सोलहवी शताब्दी मे बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनो का उत्कर्ष हुआ। महाराष्ट्र मे इन आन्दोलनो के प्रवर्तको मे से एकनाथ प्रमुख सन्त थे। इन्होने भक्ति पर खूब बल दिया। इनके मतानुसार भक्ति से ही नारियाँ, शूद्र और अन्य सभी मुक्ति प्राप्त कर सकते है। महाराष्ट्र के अन्य प्रमुख सन्त तुकाराम थे। उन्होने विशुद्ध और उच्च हृदय से ईश्वर की पूजा करने का सन्देश दिया और लोगो को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार दया प्रदर्शित करने की प्रेरणा दी। तुकाराम के 'अभंग' जो आत्मा को ऊँचा उठाते है और भावो को पवित्र करते है, आज भी महाराष्ट्र मे गाये जाते है और लाखो मनुष्यो को उनके शोक व कष्ट मे शान्ति तथा सान्त्वना देते हैं। अन्य भक्त जिनका मराठो के जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव पडा, समर्थ रामदास थे। ये शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु थे। ये वेदान्ती और वैष्णव सन्त थे जिनके मतानुसार राम की भक्ति से ही मुक्ति से ही मुक्ति उपलब्ध हो सकती है। विचार तथा कर्म की पवित्रता, निःस्वार्थता, सत्यनिष्ठा, क्षमा, नम्रता और सब के प्रति दया व दान की भावना से निःसन्देह मनुष्य स्वर्गीय आनन्द प्राप्त कर सकता है।

मध्य-युग के प्रारम्भ से प्रवाहित भक्ति का स्रोत मुगलकाल मे निरन्तर प्रवाहित होता रहा और भक्तो तथा सन्तो के उपदेशामृत का प्रभाव जनता पर पड़ता रहा। हिन्दू धर्म का स्रोत अभी भी बराबर जारी रहा। मुसलमानों की सार्वभौमिक राजकीय शक्ति और उनकी धार्मिक कट्टरता उनका सर्वनाश करने में सर्वथा असमर्थ रही।

हिन्दू भक्तो व सन्तो के अतिरिक्त मुसलमान समाज मे सूफी फकीर भी थे। ये ईश्वर को सुन्दरतम व प्रेम करने वाला मानकर मनुष्य को उनकी भक्ति मे तल्लीन होने की शिक्षा देते थे। उनका कथन था कि मानव-जीवन का लक्ष्य ईश्वर से प्रेम करना और अन्त मे उसी मे विलीन हो जाना है। अतएव सूफी सन्त सच्ची उपासना व प्रेम पर अधिक बल देते थे एव आध्यात्मिक प्रगति के लिए विशेष साधन बताते थे। ये गुरु की महिमा पर बल देते थे, ध्यान, उपासना, प्रार्थना और आत्म-शुद्धि को मोक्ष-प्राप्ति के साधन कहते थे एव विभिन्न धर्मो को ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग समझते थे। वे सभी धर्मानुयायियो को उपदेश देते थे, पर किसी को भी अपना धर्म त्याग करने का आदेश नही देते थे। सूफी सन्तो के ऐसे उपदेशों से विभिन्न धर्मो के अनुयायियो मे परस्पर धार्मिक सहिष्णुता, समानता व सौहार्द्र की भावनाओ का उत्कर्ष हुआ और एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन हुआ। शाहजहाँ का ज्येष्ठ राजकुमार दाराशिकोह सूफी मतालम्बी था।

भवन-निर्माणकला

औरंगजेब को छोडकर, जिसकी धार्मिक भावनाएँ कला के सरक्षण से मेल नही रखती थी, सभी प्रारम्भिक मुगल सम्राट महान निर्माता थे। वास्तव मे, मुगलो के आगमन पर भारतीय भवन-निर्माणकला अपने दिव्य नवीन क्षेत्र मे पदार्पण करती है, जिसमे प्रारम्भिक सुलतानो की इमारतो की सादगी ईरानी प्रभाव से कम हो गयी थी। मुगल सम्राटो के अपूर्व वैभव और असीमित धनागार ने उनमे अत्यन्त मनोरम भवन-निर्माण, उद्यान-निर्माण तथा नगर-निर्माण की शक्ति उत्पन्न कर दी। वास्तव मे मुगल ऐश्वर्य का युग कला के वैभव का युग था। इस युग मे सभी ललितकलाओ की प्रभूत प्रगति हुई। कला-प्रेमी मुगल सम्राटो ने ईरानी और हिन्दू शैली के समन्वय से विकारापूर्ण मुगल-शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन चित्रकला, स्थापत्यकला आदि विभिन्न ललितकलाओ पर तथा सोने चाँदी और रत्नों के कामो पर स्पष्टतया अकित है। इनमे सर्वत्र ऐश्वर्य का उल्लास है।

मुगलकालीन विविध इमारतो की प्रमुख विशेषताएँ गोल गुम्बद, पतले स्तम्भ और विशाल खुले प्रवेश-द्वार है।

फर्ग्युसन जैसे कतिपय ऐसे इतिहासज्ञ है जो यह विश्वास करते है कि मुगलों की भवन-निर्माणकला की शैली विदेशी है। फर्ग्युसन के इस सिद्धान्त की हैवेल ने आलोचना की है, जो इस मत का प्रतिपादन करता है कि मुगलकला देशी और विदेशी शैलियो का उत्तम सम्मिश्रण है। हैवेल के मतानुसार भारत मे विदेशी तत्त्वो को अपने मे सम्मिलित कर लेने की अपूर्व शक्ति रही है। विदेशियो की कला और सस्कृत ने भारत की कला व सस्कृति को प्रभावित किया, परन्तु यह नही कहा जा सकता है कि भारत के प्रवीण शिल्पियो ने सम्पूर्णतया विदेशो से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। सत्य तो यह है कि मुगलो के अन्तर्गत सस्कृति और कला दोनो का अत्यधिक समन्वय हुआ था। कला-मर्मज्ञ सर जॉन मार्शल ने भी लिखा है कि भारत जैसे विशाल और असमानता व विभिन्नता वाले देश मे यह नही कहा जा सकता कि भवन-निर्माण-

कला किसी एक ही विशिष्ट देशव्यापी शैली को लेकर स्थिर रही। भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शैलियो का प्रयोग किया गया। सम्राटो की अभिरुचि पर अधिक बातें निर्भर रहती थी। बाबर के पश्चात भारतीय कला पर ईरानी प्रभाव बढ गया और अकबर के शासनकाल तक जारी रहा। परन्तु अकबर की प्रतिभा ने ईरानी आदर्शो को भारतीय कला की परम्पराओ के हित मे अपना लिया। अकबर के उत्तराधिकारियो के शासनकाल मे भारतीय भवन-निर्माणकला और चित्रकला पूर्णतया भारतीय हो गयी और उनके शासनकाल की भव्य और मनोरम इमारतो मे ऐसा कुछ नही है जो निर्दिष्ट रूप से ईरानी प्रतीत होता हो। वास्तव मे, भारतीय शिल्पियो ने विदेशी कला के सिद्धान्तो को इस प्रकार परिवर्तित और संशोधित रूप में अपना लिया कि वे भारतीय कला के साथ मिलकर देशी प्रतीत होते है। विदेशी तत्त्व भारतीय कला में ऐसे घुल-मिल गये कि अब भारतीय कला के पृथक अस्तित्व का पता लगाना भी दुर्लभ है। "मुगल कला जो अनेक प्रभावों का सम्मिश्रण थी अपने पूर्वकाल की कला की अपेक्षा अधिक विशिष्ट और अलंकरण वाली थी और इसकी रमणीयता तथा अलंकरण इसके पूर्व की कला की सादगी और भीमकायता के विपरीत थे।"

अकबर के पूर्व की भवन-निर्माणकला— दिल्ली और आगरा मे जो इमारते बाबर ने देखी थी, उनसे वह सन्तुष्ट नही था। भारतीय कला तथा कला-कौशल के विषय मे उसके विचार अच्छे नहीं थे, इसलिए उसने कुस्तुनतुनिया तथा इस्लामी सस्कृति के अन्य केन्द्रो से अपने भवन बनाने के लिए शिल्पियो को आमन्त्रित किया था। मुगल इमारतों मे बैज़ण्टाइन शैली के प्रभाव को कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नही होते। यह बहुत कुछ सम्भव है कि भारत मे विदेशी शिल्पियो और अल्बेनियन शिल्पी सिनान के शिष्यो ने मस्जिदो और अन्य स्मारकों पर कार्य नही किया। फिर भी बाबर ने अपने भवनो के बनाने के लिए भारतीय कारीगरो को नियुक्त किया। आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर और ग्वालियर में उसके महलो के निर्माण में 1941 व्यक्ति प्रतिदिन काम करते थे। यद्यपि बाबर की अधिकाश इमारते विध्वस हो चुकी है परन्तु दो आज भी शेष है। ये पानीपत के काबुल बाग की बडी मस्जिद और रुहेलखण्ड में सम्भल में जामा मस्जिद है। उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को कष्टो, चिन्ताओं और युद्धों के कारण कलापूर्ण भवन बनवाने का अवसर नही मिला। पजाब मे हिसार जिले मे फतहाबाद मे उसके समय की एक मस्जिद आज भी विद्यमान है। वह ईरानी प्रणाली के अनुसार अलंकृत की गयी है।

हुमायूँ के निर्बल हाथो से सत्ता छीनने वाले सूर शासक भी निर्माता थे। पंजाब, रोहतास और मानकोट के दुर्गों के अतिरिक्त उन्होंने मध्ययुगीन शिल्पकला के सर्वोत्कृष्ट नमूने भी हमारे लिए छोड दिये है। शेरशाह सूरी की प्राचीर वाली राजधानी, दिल्ली के दो अवशिष्ट प्रवेश-द्वार जो उसकी आकस्मिक मृत्यु के कारण पूर्ण नही किये जा सके और पुराना किला उस युग की भवन बनाने की कलापूर्ण अलकरण की सुन्दरतम शैली प्रदर्शित करते है। दिल्ली के समीप पुराने किले की किला-ए-कुहन मस्जिद अपनी भव्यता और शिल्पकला की विशेषताओ के कारण उत्तर भारत की इमारतो मे श्रेष्ठ स्थान रखती है। इसके प्रवेश-द्वार के गुम्बद के चतुर्दिक छोटी मीनारो और सुन्दरतम राजगीरी में ईरानी प्रभाव झलकता है। परन्तु अन्य बातो मे यह भारतीय है। बिहार में सहसराम में झील के मध्य मे बना हुआ शेरशाह का मकबरा अपनी भव्यता, सुन्दरता व सुडौलपन की दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम शिल्पकला का आश्चर्यजनक नमूना है और यह हिन्दू तथा मुस्लिम शिल्पकला के विचारो का समन्वय

प्रकट करता है। इस प्रकार कला और सस्कृति में अफगान शासक शेरशाह ने मुगल सम्राट अकबर का मार्ग सुलभ कर दिया। भारतीय भवन-निर्माणकला में उसका शासनकाल परिवर्तन का युग है।

अकबर के अन्तर्गत भवन-निर्माणकला—मुगल भवन-निर्माणकला सभी दृष्टियों से अकबर के शासनकाल से ही प्रारम्भ होती है। उसे भवन बनवाने की बडी लालसा थी। अबुलफ़जल ने ठीक ही लिखा है कि "शहशाह भव्य भवनों की योजनाएँ बनाते है और अपने मस्तिष्क और क्ष्दय की रचना को पाषाण तथा मिट्टी के वस्त्र पहनाते है।" फर्ग्युसन का कथन है कि फतहपुरसीकरी बडे आदमी (अकबर) के मस्तिष्क का दर्पण था। अकबर के शासनकाल ने शिल्पकला के विलक्षण विकास को देखा है। अकबर ने कला के प्रत्येक सूक्ष्म तत्त्व का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध किया और उदार तथा समन्वय की दृष्टि से उसने विभिन्न साधनो द्वारा कलापूर्ण विचारो को प्राप्त किया जिन्हे उसके शासनकाल के प्रवीण शिल्पियो ने मूर्त्त रूप दिया। उसके राज्यकाल मे हिन्दू और ईरानी प्रभाव दोनों ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुए। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उसके काल के भवनो को देखने से प्रतीत होता है कि राज्य मे भारतीय कला का अधिक बोलबाला था। अपनी ईरानी माता द्वारा प्राप्त ईरानी विचारो का अनुसरण करते रहने पर भी, हिन्दुओ के प्रति उसकी सहिष्णुता, उनकी सस्कृति के लिए उसकी सहानुभूति और अपने हित के लिए उन्हे अपने पक्ष मे कर लेने की नीति से उसने अपने अनेक भवनो मे हिन्दू शिल्प-शैली का प्रयोग किया जिसके अलकरण के तत्त्व हिन्दू और जैन मन्दिरो से लिये गये थे। आगरा किले मे जहाँगीरी महल और उसके वर्गाकार स्तम्भो तथा छोटी-छोटी मेहरावो की पंक्तियो मे, फतहपुरसीकरी के अनेक भवनो और लाहौर के किले मे हिन्दू शैली अलौकिक रूप से प्रकट हुई है। पुरानी दिल्ली मे हुमायूँ के प्रसिद्ध मकबरे मे भी जो प्राय ईरानी कला का प्रदर्शन करने वाला माना जाता है, कब्र की बनावट भारतीय है और इमारत के बाह्य भाग मे श्वेत सगमरमर का स्वच्छन्द प्रयोग भी भारतीय है।

अकबर के भवन-निर्माण के कार्य शिल्पकला की श्रेष्ठतम इमारतो तक ही सीमित नही थे, परन्तु उसने अनेक दुर्ग, राजप्रासाद, आमोद-प्रमोद के भवन, स्तम्भ (towers), सराय, शालाएँ, तालाब और कुएँ भी बनवाये। उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इमारते फतहपुरसीकरी के राजमहल है। इसमे सबसे अधिक भव्य इमारतें अधोलिखित है—जोधाबाई का महल और दो अन्य भवन जो सम्भवत. उसकी अन्य रानियो के निवास स्थान थे, हिन्दू रचना-कृति का बना हुआ दीवान-ए-आम; रचना, निर्माण और अलकरण मे स्पष्टतया भारतीय ढग से बना हुआ दीवान-ए-खास; 'फतहपुरसीकरी की शान' जामा मस्जिद, अकबर की गुजरात की विजय को चिरस्मरणीय करने के लिए बनाया हुआ विशाल बुलन्द दरवाजा और पाँच मजिलो वाला पच-महल स्पष्टत भारतीय बौद्ध विहारो का नक्शा प्रदर्शित करता है। फतेहपुरसीकरी की अन्य प्रसिद्ध इमारते, बीरबल का गृह, ख्वावगाह और आमेर की राजकुमारी का निवास-स्थान सुनहरा महल है।

इस युग की अन्य दो प्रसिद्ध इमारते इलाहाबाद का चालीस स्तम्भो वाला राजप्रासाद और सिकन्दरा मे अकबर का मकबरा है। इलाहाबाद का राजमहल जिसमें छत वाला बरामद हिन्दू स्तम्भो की पक्तियो पर अवलम्बित है, निश्चित रूप से भारतीय रचना-कृति का उदाहरण है। सिकन्दरा मे अकबर के मकबरे की विशाल-

काय इमारत जिसका निर्माण स्वयं अकवर ने कराया, पद जिसे जहाँगीर ने पूर्ण किया था, भारत के वौद्ध-विहारो की शिल्प-शैली के आधार पर वनी है। इसके पाच नर्गाकार चवूतरे एक के बाद एक ऊपर उठते है और ऊपर उठते हुए वे अपने आकार मे कम होते जाते है। इसकी अन्तिम मजिल के ऊपर अकवर का विचार सुनहरी छत वाला सगमरमर का गुम्वद वनवाने का था। यदि यह कल्पना पूर्ण हो जाती तो हिन्दुस्तान के सवसे वडे मुस्लिम सम्राट के मकवरे की गणना विश्व के सवसे शानदार मकबरों में होती और यह ताजमहल से द्वितीय श्रेणी पर होता। अकवर का अन्य विशिष्ट भवन-निर्माणकार्य लाल पाषाण का वना हुआ आगरा का किला है। इसकी प्राचीर सत्तर फुट ऊँची है और उसमे ऊँचे प्रवेश-द्वार हैं। अकवर ने आगरा नगर मे अनेक भवनो का निर्माण कर उसे सुशोभित किया। अकवर के भवनों मे प्रायः दो विशेषताएँ प्रमुख है—यदि एक ओर उनमे ओज और दृढता है तो दूसरी ओर भारतीय व मुस्लिम शैलियो का समन्वय।

जहाँगीर के अन्तर्गत भवन-निर्माणकला—जहाँगीर को वास्तुकला से उतना प्रेम न था जितना चित्रकला से। अतएव उसके पिता द्वारा वनवाये भवनों की तुलना मे उसके द्वारा निर्मित भवन सख्या मे कम थे। परन्तु उसके शासनकाल की इमारतें अपने गुणो के लिए विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से एक तो अकवर का मकवरा था जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है और दूसरी और दूसरी इमारत नूरजहाँ के पिता एतमादउद्दौला का मकबरा है जिसे सम्राज्ञी नूरजहाँ ने स्वय 1628 ई० मे आगरा मे वनवाया था। असन्तोषप्रद रचना-कृति का होने पर भी इसमें दुर्लभ सौन्दर्य है और यह सम्पूर्ण श्वेत सगमरमर का वना हुआ हे जिसमें विभिन्न रंगो के वहुमूल्य पाषाण सर्वोत्कृष्ट रमणीय ढग से जुडे हुए हैं। यह राजपूत शैली थी अथवा यह अधिक सम्भव है कि यह प्राचीनतम भारतीय शैली थी। अन्य महत्त्वपूर्ण इमारत, लाहौर के समीप रावी नदी के तट पर जहाँगीर का मकवरा है जिसे नूरजहाँ ने वनवाया था।

शाहजहाँ के अन्तर्गत भव्य-निर्माणकला—मुगल सम्राटो मे सबसे अधिक जानदार निर्माता शाहजहाँ था। उसके द्वारा निर्मित अनेक भवन, राजप्रासाद, दुर्ग, उद्यान और मस्जिदें आगरा, दिल्ली, लाहौर, कावुल, कश्मीर, कन्धार, अजमेर, अहमदावाद तथा अन्य स्थानो पर है। शाहजहाँ की इमारते अकवर की इमारतो की अपेक्षा भव्यता और मौलिकता मे निम्न कोटि की है, परन्तु सरसता, रमणीयता और सम्पकता व कलापूर्ण अलकरण मे वे उच्च-कोटि की है। फलस्वरूप, शाहजहाँ की इमारतें वडे पैमाने पर रत्नजडित आभूषणो के समान है। उसके राज्याश्रय मे जडिया (jeweller) और चित्रकार की कलाएँ सफलतापूर्वक सम्मिलित हो गयी। यदि अकबर की इमारतो का सौन्दर्य विराट है तो शाहजहाँ की इमारतो का सौन्दर्य सूक्ष्म और कोमल है। यदि अकवरकालीन कला मे महकाव्य की विराट गरिमा और दिगन्त का विस्तार है तो शाहजहाँ की कला मे अलकृत गीत-काव्य की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है। मणिकुट्टिम की चित्र-विचित्र कला शाहजहाँ के भवनों मे चरम पराकाष्ठा को पहुँची है। सोने के रग का मुक्त प्रयोग, नक्काशी की सूक्ष्मता तथा रत्नो व मणियों का कलापूर्ण जडाव शाहजहाँ की इमारतो मे विलक्षण है। शाहजहाँयुगीन स्थापत्य मे नक्काशीकला व चित्रकला की विशिष्टता भी अधिक है। यदि ताज मे नक्काशीकला का आधिक्य है तो दीवान-ए-खास मे चित्रणकला का। वस्तुतः शाहजहाँ के अन्तर्गत मुगल कला अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। हिन्दू प्रभाव, जो

अकवर के अन्तर्गत इतना दृढ़ था, शाहजहाँ की इमारतो मे सम्पूर्णतया विलुप्त हो गया था। शाहजहाँ के समय की प्रमुख इमारते दिल्ली के लाल किले मे दीवान-ए-आम व दीवान-ए-खास, जामा मस्जिद, मोमी मस्जिद, ताजमहल और साम्राज्य के विभिन्न भावों मे अनेक छोटी इमारते है। दीवान-ए-खास शाहजहाँ की अन्य इमारतो की अपेक्षा अधिक अलकरणयुक्त है। सगमरमर के इसी भवन मे शाहजहाँ मयूर वाले सिंहासन पर वैठकर मुगल राजकुमारो, सामन्तो और विदेशी राजदूतो से व्यक्तिगत रूप से मिलता था। उसकी बहुमूल्य रजत छत और संगमरमर, वहुमूल्य पाषाण और स्वर्ण का सम्मिश्रित अलकरण एव उसकी भव्यता, शान व सौन्दर्य उसकी दीवार पर अंकित निम्नलिखित पद सत्यता को प्रमाणित करते है :]

अगर फिरदौस वर रूए जमी अस्त।
हमी अस्तो हमी अस्तो हमी अस्त॥

(यदि पृथ्वी पर कही आनन्द का स्वर्ग है (तो) वह यही है, यही है, यही है।)

सच्ची कला की दृष्टि से आगरा की मोती मस्जिद शाहजहाँ के समय की वास्तुकला के विकास की चरम पराकाष्ठा है। अपनी पवित्रता, सादगी व अनुपात की पूर्णता और रचना-कृति के सामंजस्य के लिए यह अपने ही ढग की सबसे अधिक सुन्दर उच्च कोटि की इमारत है। इसकी मेहरावो और स्तम्भो मे हिन्दू प्रतीक और रचना-कृति की पुनरावृत्ति है जिन्हे अन्त मे मुस्लिम धार्मिक कार्यों के हेतु अपना लिया गया था। जामा मस्जिद जो दिल्ली मे सर्वसाधारण के समाज के लिये वनवायी गयी थी, मोती मस्जिद की अपेक्षा अधिक भव्य, गौरवशाली और सुन्दर प्रतीत होती है।

परन्तु शाहजहाँ के समय की सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण इमारत ताजमहल है। यह एक दिव्य मकवरा है जो शाहजहाँ की प्रेमिका सम्राज्ञी मुमताज महल की कब्र पर तीन करोड रुपयों की लागत से 22 वर्ष में वनवाया गया था। यह विश्व में दाम्पत्य-प्रेम, स्वामिभक्ति, सच्चा अनुराग और समन्वय का सर्वश्रेष्ठ शानदार स्मारक है। सुन्दरता, दिव्यता, अजकरण, रचना-कृति और कलापूर्ण वनावट के कारण यह विश्व की अद्भुत वस्तुओ मे से एक माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इसके निर्माण के लिए ईरान, अरव, तुर्की तथा अन्य विदेशो से शिल्पी आमन्त्रित किये गये थे। परन्तु विश्वास करने योग्य ऐसा कोई प्रमाण नही है जो इस कथन की पुष्टि करे कि यूरोपीय शिल्पियो ने ताज का नक्शा वनाया और पाषाण की जडाई के काम का निरीक्षण किया। इसके विपरीत विवेकपूर्ण आधार पर यह प्रमाणित कर दिया गया है कि ताज भारतीय प्रतिभा का फल है। इसकी पच्चीकारी का कलापूर्ण काम इतनी उच्च कोटि का है कि कला-मर्मज्ञ उसे देखकर आज भी आश्चर्य करते है।

शाहजहाँ के शासनकाल की अन्य प्रसिद्ध कलाकृति मयूर वाला सिंहासन है जिसे तख्त-ए-ताउस कहत है। यह स्वर्णिम पायो के एक प्रकार के पलग के समान था। इसकी लम्बाई $3\frac{1}{4}$ मीटर चौड़ाई 2 मीटर 30 सेण्टीमीटर और ऊँचाई 4 मीटर 60 सेन्टीमीटर थी। इसकी मीनाकारी की छत पन्ने बारह खम्भों पर आश्रित थी। जिनमे से प्रत्येक पर रत्नजडित दो-दो मयूर अकित थे। हीरो, पन्नो, लालो और मोतियो से जडा हुआ एक वृक्ष मयूर के प्रत्येक जोडे के वीच था। यह सिंहासन कई वर्षों के कठोर परिश्रम के वाद निर्मित हुआ था और उसकी लागत चौदह लाख से भी अधिक थी। 1739 मे नादिरशाह यह सिंहासन ईरान ले गया था। इसके

अतिरिक्त अजमेर में भी शाहजहाँ की बनवायी हुई कतिपय इमारतें है, जिनमे सबसे प्रसिद्ध जामा मस्जिद है जो ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के मकबरे के पश्चिम मे बनी है।

औरंगजेब के अन्तर्गत भवन-निर्माण—शाहजहाँ की मृत्यु के बाद वास्तुकला का पतन हो गया क्योंकि औरगजेब ने कट्टर धर्मानुयायी होने के कारण शिल्पकला को प्रोत्साहन नही दिया और न नवीन भवनों का निर्माण ही कराया। इसके शासन-काल मे जो कुछ थोडी बहुत इमारते बनी, उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अपने व्यक्तिगत प्रयोग के लिए बनवायी हुई दिल्ली मे सगमरमर की छोटी मस्जिद और दूसरी काशी मे विश्वनाथ मन्दिर के भग्नावशेषों पर बनवायी हुई विशाल मस्जिद तथा तीसरी इमारत लाहौर मे बादशाही मस्जिद है। परन्तु कला की दृष्टि से प्राचीन इमारतो की तुलना मे इनक स्थान निम्न कोटि का है।

मुगल उद्यान—मुगल सम्राट प्रकृति के प्रेमी थे। बाबर और उसके उत्तराधिकारी राजनीतिक जीवन की कठोरता से विरक्त हो कुंजो, उद्यानो और प्राकृतिक दृश्यों मे खूब आनन्द मनाते थे। फलस्वरूप, उन्होने विस्तृत उद्यान निर्माण कराये। उनके लगवाये हुए उद्यान और उनके अमीरो द्वारा लगाये हुए बगीचे, जिनमे कालका के पास पिंजीर का उद्यान है, मुगलो की सौन्दर्य-भावना प्रदर्शित करते है। जहाँगीर और उसकी प्रेमिका सम्राज्ञी नूरजहाँ, जहाँ-कही भी ठहरे, वही उन्होने उद्यान लगवाये। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा मे इन उद्योंगो से प्राप्त आनन्द का उल्लेख किया है। कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य को उन्होने मानवीय प्रयत्नो से बहुत ही बढाया। कश्मीर के शालीमार और निशात उपवन मुगलो के प्राकृतिक प्रेम, उद्यान-अभिरुचि और सौन्दर्यानुराग के सम्भवतः सर्वोत्कृष्ट नमूने है। लाहौर नगर का शालीमार उद्यान भी मुगलकालीन है।

हिन्दुओं की भवन-निर्माणकला और उसमें परिवर्तन—मुगलकाल मे हिन्दू नरेश भी कला को राज्याश्रय देते थे। उन्होने भी राजप्रासाद, दुर्ग, मन्दिर आदि निर्मित कराये थे। परन्तु उस युग में हिन्दुओ की भवन-निर्माणकला मे विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। हिन्दू नरेशो और अमीरो ने अपनी राजधानियो मे जो बडे-बडे राज-प्रासाद बनवाये, वे दीवान-ए-खास, दीवान-ए-आम, शीशमहल और शाही महलो की बारहदरी की नकल थे और फलस्वरूप उनकी शिल्पकला और प्राचीन हिन्दू भवनों और मुगल महलो दोनो की कला से भिन्न थी। इसमें राजपूत और ईरानी प्रभाव का समन्वय था। इस युग की हिन्दू भवन-निर्माणकला के शेष नमूने वीरसिंह बुन्देला का विशाल महल, बीकानेर का दुर्ग और राजप्रासाद, उदयपुर के भवन और झील-महल, जोधपुर दुर्ग और राजप्रासाद, आमेर के महल और अजमेर झील के भवन है। मुसलमानो का अनुकरण कर हिन्दू नरेश भी अपनी छतरियाँ और समाधियाँ बनवाने लगे थे। सूरजमल, छत्रसाल व उनकी रानी की छतरियाँ इसके उदाहरण है।

धार्मिक सहिष्णुता के कारण इस युग मे परम्परागत शिल्प-शैली के अनुसार मन्दिर-निर्माण के कार्य भी पुनर्जाग्रत हुए। प्रारम्भिक मुगलो की धार्मिक सहिष्णुता के कारण हिन्दू राजाओं, सामन्तों और व्यापारियो ने प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार किया और नवीन मन्दिरो का निर्माण कराया। मथुरा और वाराणसी मन्दिरो के लिए लोगो का ध्यान पुन. आकर्षित करने लगे। इन मन्दिरो में सबसे अधिक प्रसिद्ध

वीरसिंह का मन्दिर था जिसे शाहजहाँ ने नष्ट कर दिया था। उत्तर भारत के बहुसंख्यक बडे-बड़े मन्दिर जो आज भी विद्यमान है, इसी युग मे बने थे।

दक्षिण की भवन-निर्माणकला—इस युग मे बीजापुर व गोलकुण्डा के सुलतानों ने दक्षिण की भवन-निर्माणकला में चार चाँद लगा दिये थे। दक्षिण के सुलतानों के सुन्दर उद्यान, रमणीक राजप्रासाद, सुन्दरतम मस्जिदे और शानदार मकबरे राज्यों की धन-सम्पन्नता, सुलतानो की शिष्ट अभिरुचि, हिन्दू और मुस्लिम शैलियो का सुन्दर समन्वय और सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दी मे दक्षिण मे प्रचलित ऐश्वर्य की भावना प्रदर्शित करते है। गोल गुम्बद, इब्राहीम रोजा, ताज सुलताना का मकबरा, आदिलशाह द्वितीय का मकबरा, गगन महल, आसार महल, सतमजिल व मिथारी महल ने बीजापुर को दिल्ली व आगरा के समान ही वैभव प्रदान किया था। इसी प्रकार कुली कुतुबशाह का मकबरा, पाँच मस्जिदे और राजमहलो ने गोलकुण्डा को वह अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया था जो किसी भी रूप मे बीजापुर के सौन्दर्य से कम न था।

चित्रकला

भारत मे चित्रकला सदैव राजसभाओ की विशेषता रही है। संस्कृत साहित्य के प्रमाणो से यह प्रकट होता है कि भित्ति-चित्र चित्रकार की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने समझे जाते थे परन्तु नरेश और सामन्त मनुष्यो के चित्रो और तस्वीरो मे विशेष अभिरुचि रखते थे और राजसभाएँ चित्रकला को प्रोत्साहित करती थी। जम्मू, काँगडा और राजस्थान में चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ समृद्ध थी। चित्रकारो द्वारा जो विषय चुने जाते थे, वे प्राय पौराणिक और धार्मिक होते थे। रामायण और महाभारत की गाथाएँ तथा कृष्ण व गोपियो के जीवन की कथाएँ चित्रकार के प्रिय विषय होते थे। कभी-कभी हिन्दुओ के सगीत के राग भी चित्रकला मे किसी रूपक या प्रतीक के द्वारा चित्रित होते थे। किसी राग को किसी एक ऋतु-विशेष से सम्बन्धित करके हिन्दू चित्रकारो ने कतिपय विशिष्ट रागो को विशिष्ट विचारों से सम्बन्धित कर दिया था। इसके अतिरिक्त दैनिक हिन्दू जीवन के दृश्य, मन्दिर मे पूजन करती हुई कन्याएँ, वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ योगी, हाथी, चौपाये, हिरन आदि अत्यधिक चित्रित किये जाते थे। प्रकाश और अन्धकारयुक्त रात्रि के दृश्य भी चित्रकारी मे अति प्रिय थे। इन सभी रचनाओ में सादे और अलकरण के ढग से प्रकृति को प्रकट किया जाता था। महत्त्वहीन, जटिल मिथ्या तत्त्वो के अतिरिक्त सभी रूपो की अभिव्यक्ति इनमे होती थी। यह ऐसी कला थी जो देश के आदर्शों के अनुरूप ही थी।

दिल्ली के सुलतानो ने हिन्दुओ की चित्रकला को प्रोत्साहन नही दिया। इसके विपरीत, फीरोज तुगलक जैसे सुलतानो ने दीवारो के चित्रो से सुसज्जित करने और मनुष्यो के चित्र बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। चित्रकला के पुनर्जागरण का श्रेय मुगलो को है। मुगल-युग की चित्रकला भारतीय और ईरानी तत्त्वो का सुन्दर सुखद समन्वय है। तेरहवी सदी मे ईरान के मगोल विजेताओ ने चीनी कला का एक प्रान्तीय स्वरूप, जो भारतीय बौद्ध, ईरानी, बैक्ट्रिया और मगोलो के प्रभावो का सम्मिश्रण था, ईरान मे प्रस्तुत किया। मगोलो के तैमूरवशीय उत्तराधिकारियो ने उसे जारी रखा। इरानी राजसभा से घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण मुगल इस कला को भारत मे ले आये। अकबर के राज्यकाल मे इस भारतीय-चीनी-ईरानी कला की विशिष्टताएँ भारत की तत्कालीन चित्रकला की शैलियो की रचनाओं मे सम्मिलित होकर घुल-मिल गयी। ये शैलियाँ गुजरात, राजस्थान, विजयनगर, बीजापुर, अहमद-

नगर और कतिपय अन्य स्थानो मे प्रचलित थी। इसीलिए कहा जाता है कि प्रारम्भिक मुगल चित्रकला ईरानी कला से अधिक प्रभावित हुई थी पर धीरे-धीरे यह भारतीयता के रंग मे रग गयी। उपरोक्त वर्णित सम्मिश्रण के फलस्वरूप ही चित्रकला की एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसे भारतीय ईरानी शैली (Indo-Persian School) कहते है। परन्तु क्रमश: विदेशी मगोल तत्त्व विलुप्त हो गये और स्पष्टतया भारतीय प्रतिभा सर्वोपरि हो उठी। पटना की खुदावख्श लाइब्रेरी में सुरक्षित 'खानदान-ए-तिमुरिया' और 'पादशाहनामा' के चित्रो की नकलो से यह स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप मे, मुगलकालीन चित्रकला अकबर की राजसभा मे फली-फूली, जहाँगीर के युग मे चरम पराकष्ठा को पहुँची, शाहजहाँ के वैभवकाल में उसका उच्चतम उत्कर्ष दृष्टिगोचर हुआ और औरगजेव के शासनकाल मे अन्य ललितकलाओं के ह्रास के साथ उसका भी अवसान हो गया।

अकबर के शासनकाल में चित्रकला—अपने तैमूरवशी पुरखाओ के समान वावर भी चित्रकला को प्रोत्साहित करता था। वह प्रकृति के रम्य रूपो को देखकर अत्यन्त आह्लादित होता था। भारत ने निर्वासित हो जाने के वाद ईरान मे रहते समय हुमायूँ ने भी चित्रकला के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर ली थी। वह ईरान से लौटते समय अपने साथ मीर सैयद अली तवरिजी और ख्वाजा अब्दुस्समद नामक ईरान के दो निपुण चित्रकारों को 'दास्तान-ए-अमीर-हमजा' की सुन्दर प्रति पूर्णतया सचित्र वनाने के लिए भारत ले आया था। इन्होने अपने भारतीय सहायको के साथ कार्य करते हुए मुगल चित्रकला का केन्द्र स्थापित किया जो अकवर के शासनकाल मे प्रसिद्ध हो गया। ऐसा कहा जाता है कि अकवर ने इन दो चित्रकारो से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और हिन्दुओं के साथ उसके सक्रिय ससर्ग से इस युग की चित्रकला प्रभावित हुई। परिणामस्वरूप, हिन्दू-चीनी-ईरानी शैलियों का समन्वय हुआ। अकवर ने स्वयं चित्रकला को वडा प्रोत्साहन दिया। अकवर के शासनकाल मे सौ से अधिक चित्रकारो ने ख्याति प्राप्त कर ली थी और कम प्रतिभासम्पन्न चित्रकारो की सख्या तो सैकड़ो हो गयी थी। अकवर के दरवार मे ईरानी या अन्य विदेशी कलाकार सख्या मे कम थे। इनमे सवसे प्रसिद्ध अब्दुस्समद, फर्रुखवेग और जमशेद थे। हिन्दू चित्रकार अधिक प्रभुत्वशाली थे और अकवर के शासन मे सत्रह प्रमुख चित्रकारो में कम से कम तेरह हिन्दू थे। अवुलफजल का मत था कि समस्त विश्व से ऐसे विरले ही होगे जो कला में इनकी सानी रखते थे, अकवर विशेष रूप से उनकी प्रशंसा करता था। वे मनुष्यो की तस्वीर वनाने, पुस्तक को चित्रित करने और पशुओ के चित्र वनाने मे अत्यन्त ही निपुण थे। इनमे प्रमुख दसवन्त, वसावन, साँवलदास, ताराचन्द, लालकेसु, मुकुन्द, हरिवश और जगन्नाथ थे। पृष्ठभूमि के चित्रण तथा भाव-व्यजना मे वसावन अत्यन्त कुशल था।

अकवर ने चित्रकला को प्रत्येक सम्भव रूप मे प्रोत्साहित किया और 'चगेज-नामा', 'जफरनामा', 'रामायण', 'कालियादमन' जैसे अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थो के चित्रो का वनाने के लिए उसने प्रवीण और सफल चित्रकारों को नियुक्त किया था। जब सम्राट अकवर फतहपुरसीकरी मे निवास करता था तव चित्रकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ वनाई गई थी।

अकवर ने इस मत का प्रतिपादन करये कि "चित्रकार के पास ईश्वरीय सत्ता के प्रति साक्षात्कार करने के विचित्र साधन है," चित्रकला को धार्मिक रूप देने का

प्रयास किया। इस प्रकार मुसलमानो की दृष्टि मे चित्रकला को ऊँचा उठाकर, दरवार मे साप्ताहिक प्रदर्शनियो की व्यवस्था करके और उचित पुरस्कार प्रदान करके, कलाकारो के लिए चित्रशालाओ (Studios) का प्रवन्ध करके, सौ से अधिक कलाकारों को मनसबदार, अहदी और पैदल सिपाहियो के पदो पर नियुक्त करके तथा चित्रकला की सामग्री के उत्पादन और क्रय-विक्रय मे सुधार करके अकवर ने भारतीय चित्रकला को भी लेता गया था। परन्तु अकवरकालीन चित्रकला जनता की कला वनने की अपेक्षा दरवार की कला वन कर रह गई। सम्राट, राजसभा व राजाज्ञाओ का चित्रण ही इस समय की चित्रकला का प्रधान विषय था और इसके व्यक्तिचित्र ही साधारण जनता तक पहुँच सके।

जहाँगीर के शासनकाल में चित्रकला—चित्रकला की शैली जो अकवर के शासन के अन्तर्गत विकसित हुई थी, जहाँगीर के शासनकाल मे उसके उत्साहपूर्वक सरक्षण के कारण फलती-फूलती रही, अकवर के शासनकाल मे ईरानी व भारतीय शैली के समन्वय से जो नवीन शैली विकसित हुई, वह जहाँगीर के शासनकाल मे पुष्ट और परिपक्व होकर पूर्णता को प्राप्त हुई। सामंजस्य व समाहार के काल का अन्त हो गया एव अभिव्यक्ति व प्रसार के युग का सूत्रपात हुआ। जहाँगीर स्वय ऐतिहासिक चित्रो का अच्छा संग्रहकर्ता और उच्चकोटि का निपुण कला-मर्मज्ञ था। उसे चित्रकला का ऐसा अनुभव हो गया था कि वह चित्र को देख कर ही चित्रकार का नाम वता सकता था। प्राकृतिक दृश्य जहाँगीर के चित्रकारो के प्रिय विषय थे। जहाँगीर सौन्दर्योपासक था और उसके चित्रकार अपने सरक्षक की भावना मे रग गये थे। जहाँगीर के शासनकाल में पौधो, पुष्पो, पशु-पक्षियो और अन्य प्राकृतिक वस्तुओ का चित्रण अपनी प्रगति के सर्वश्रेष्ठ स्तर पर पहुँच चुका था। जहाँगीर स्वयं चित्रकला का विद्यार्थी होने के कारण भारत और उसके वाहर अन्य देशो की चित्रकला की समस्त शैलियो के सर्वोत्कृष्ट नमूने राज्य के चित्रालय मे निरन्तर एकत्र करता था। उसके उत्साह और उसके कलाकारो,से कला-चातुर्य से मुगल चित्रकला ईरानी प्रभावो से मुक्त हो गयी एवं नवीन भारतीय शैली का विकास हुआ जो हिन्दू परम्पराओ की ओर अधिक झुकती थी। जहाँगीर के समय भारतीय चित्रकला ने ईरानी कला के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। अव वह पूर्णतया भारतीय हो गयी और विदेशी तत्त्व भारतीय तत्त्व मे घुल-मिलकर एक हो गये थे। ऐसा माना जाता है कि मुगल चित्रकला जहाँगीर के शासनकाल मे अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। जहाँगीर का युग मुगल चित्रकला का स्वर्ण-युग था। इस काल की चित्रकला मे नवीनता, स्वाभाविकना, स्वस्यता, गतिशीलता और सजीवता का समावेश हो गया था। वह सम्राट जहाँगीर के मनोभावो की अभिव्यक्ति का सरल साधन और उसके रगीन व्यक्तित्व का सहज माध्यम वन गयी थी। व्यक्तिचित्र और आखेटो तथा युद्धो का दृश्य-चित्रण ही इस काल के प्रमुख विषय थे। प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म और भावपूर्ण, स्वाभाविक और यथार्थ हुआ जिसमे अलकारिक जडता नाममात्र को भी नही थी। असाधारण वृक्ष, पुष्प और पशु-पक्षियो के यथार्थ चित्र और नकल सम्राट की आज्ञा से किये जाते थे, परन्तु कभी-कभी उनकी यथार्थता मे भ्रम होता है। जहाँगीर के समय के प्रसिद्ध चित्रकार फारूखवेग, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, आका रजा और उस्ताद मसूर थे। यद्यपि हिन्दू चित्रकारो को जहांगीर की राजसभा मे अधिक प्रोत्साहन उपलब्ध नही हुआ, तो भी विशनदाम, केशव, मनोहर, माधव और तुलसी जैसे हिन्दू चित्रकारो ने यश प्राप्त

किया था। जहाँगीर के साथ मुगल कला की अन्तरात्मा का भी अन्त हो गया था। पर्सी ब्राउन (Percy Brown) ने ठीक ही कहा है कि "उसके (जहाँगीर) देहावसान के साथ ही मुगल चित्रकला की आत्मा भी विलीन हो गयी।"

शाहजहाँ के युग में चित्रकला— जहाँगीर के बाद चित्रकला का पतन आरम्भ हो गया। शाहजहाँ चित्रकला की अपेक्षा भवन-निर्माणकला मे अधिक रुचि रखता था और उसके शासनकाल मे दरबारी चित्रकारों की संख्या भी घट गयी। फलतः शाहजहाँकालीन चित्रकला मे सजीवता, मौलिकता और सरलता नही है। उसकी रचना व सृजन मे किसी भी प्रकार की विलक्षणता नही है। सम्राट जहाँगीर ने व्यक्तित्व से सयोजित कर चित्रकला मे जो जीवन की नवीन स्फूर्ति पैदा कर दी थी, वह शाहजहाँ के राजसभा के गहन शिष्टाचार मे विलुप्त हो गयी। राजसी शिष्टाचार, वैभव एव मर्यादाओं के परिणामस्वरूप चित्रकारो को राजसभा और राजमहलो के आन्तरिक जीवन की झाँकी के अवलोकनोपरान्त उसका चित्रण करने की राजाज्ञा न थी। अतएव शाही वैभव, धन-सम्पन्न सामन्तो, उनकी सभाओ, अमूल्य वस्त्राभूपण तथा रत्नजडित पर्दो के चित्रण तक ही उनकी चित्रकला सीमित थी। पर इस प्रकार के चित्रण मे अलकरण की प्रचुरता है। जहाँगीर की कला मे रगो का जैसा सुन्दरतम समन्वय है, उसकी अपेक्षा शाहजहाँ के दरबारी चित्रो मे श्रेष्ठ रगो और स्वर्ण का प्रयोग अधिक है—यही शाहजहाँ के समय की चित्रकला की विशिष्टता है। चित्रण मे रगों का इतना सूक्ष्म प्रयोग है कि अधिकतर दर्शको को यह भ्रम हो जाता है कि रंगो के स्थान पर मणियो के टुकड़े जडे गये हो। यद्यपि मुगलकाल के वैभव का चित्रण शाहजहाँकालीन चित्रकला ने पूर्णरूपेण किया, परन्तु चित्रकला की तूलिका शक्तिविहीन और नीरस थी, उसमे जीवन का अभाव झलकता था, भाव-व्यजता का ह्रास था और रगो की उत्पत्ति और प्रदर्शन मे सूक्ष्म बातो को भी प्रधानता दी जाती थी। इससे प्रकट होता है कि इस काल मे चित्रकला धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर होने लगी थी। यद्यपि इस समय चित्रों की सख्या मे कमी नही हुई थी, परन्तु उनके गुणो मे अवश्य ह्रास हो गया था।

शाहजहाँ के समय के चित्रो मे व्यक्ति-चित्र ही विशिष्ट माने गये है। ये चित्र प्रायः व्यक्तियो की स्थिर मुद्राओ के है। इनमे रेखाओं की स्पष्टता के साथ-साथ रगों और रेखाओ का चित्रण अति सूक्ष्म है। परन्तु इनमे भाव-व्यजना क्षीण है और मुख-मुद्राओ की आन्तरिक अभिव्यक्ति ने सजीवता का अभाव है। फलतः व्यक्तित्व व चरित्र के अध्ययन मे ये चित्र उत्तम साधन न बन सके। कालान्तर में जब इन व्यक्ति-चित्रों की माँग बढने लगी और इसके व्यवसाय मे बहुलता आ गई तब व्यक्ति-चित्र के स्वतन्त्र चित्रण की अपेक्षा उसके स्थान पर स्टेन्सिल (stencil) की सहायता से उनकी प्रतिलिपियाँ बनाई जाने लगी। चित्रकला के ह्रास का यह एक प्रमुख उदाहरण है। इसी प्रकार पशु-पक्षियो के चित्राकन में भी स्वाभाविकता और सजीवता का अभाव हो गया। नभ मे पख खोलकर विचरण करते हुए या उन्मुक्त वन-विहार करते हुए पक्षियो के चित्रों की अपेक्षा, उनके ऐसे अस्वाभाविक चित्र बनाये गये मानो वे जानबूझ कर चित्र बनवाने के हेतु स्वय तैयार होकर खड़े हो। राय कृष्णदास ने अपने ग्रन्थ 'भारत की चित्रला' मे मुगलकालीन चित्रकला का विवेचन करते हुए ठीक ही कहा है कि इस युग की कला मे अत्यधिक सूक्ष्मता, रगो की दिव्यता, अंग-प्रत्यंगो का प्रदर्श व हाव-भाव, मुद्राओं की स्पष्टता होने पर भी शाही दरबार के शिष्टाचार की जटिलता

और शाही दबदबा इतना अधिक है कि इन चित्रों में एक प्रकार का सन्नाटा दृष्टि-गोचर होता है।

शाहजहाँ के राज्यकाल मे मुगल चित्रकला से राजकीय आश्रय लगभग उठा लिया गया था। अतएव कलाकारो को सामन्तो और राजकुमारो के यहाँ नौकरियाँ ढूँढ़ने के लिए बाध्य होना पडा, बाजारो मे चित्र-गृह स्थापित करने पडे और अपनी जीविका-उपार्जन के हेतु अपने चित्र सर्वसाधारण को बेचने पडे। ऐसी दशा में कलाकारो को प्रगति कर श्रेष्ठता प्राप्त करने के कोई अवसर प्राप्त नही होते थे और उन्हें विपरीत परिस्थितियो में बहुत छोटे परिश्रम के हेतु कार्य करना पडता था। फिर भी मुगल राजकुमार दाराशिकोह (जिसका चित्रों का सग्रह इग्लैण्ड मे इण्डिया ऑफिस मे है) कला का उदार संरक्षक था। उसकी आकस्मिक मृत्यु से कला को बहुत भारी आघात पहुँचा। शाहजहाँ के शासनकाल के प्रमुख चित्रकार मीर हाशिम, अनूपचित्र और चितमणि थे।

औरंगजेब के राज्यकाल में चित्रकला—औरंगजेब कला को राज्याश्रय देना धर्म के पवित्र नियमो के विरुद्ध मानता था। इसलिए उसने मुगल चित्रकला को अन्तिम आघात पहुँचाया। उसके राज्यकाल में अन्य ललितकलाओ के समान चित्र-कला का भी ह्रास हुआ। ऐसा कहा जाता है कि बीजापुर के आसारमहल के चित्रों को उसने कुरूप कर नष्ट कर दिया था एव सिकन्दरा मे अकबर के मकबरे की आकृतियो पर सफेदी पुतवा दी थी। इतना होने पर भी चित्रकार सम्पूर्णतया विलीन नही हुए थे। औरगजेब के युद्धो और दुर्गो के घेरे के चित्र आज भी विद्यमान हैं जो इस बात को प्रमाणित करते है कि उसने पूर्णरूप से कला को निरुत्साहित नही किया था। इसके अतिरिक्त विभिन्न दशा मे उसके बहुसख्यक चित्र उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति से अंकित किये गये थे और ऐसा कहा जाता है कि वह समय-समय पर अपने विद्रोही पुत्र मुहम्मद सुलतान के चित्रो का निरीक्षण करता था जिससे वह कारागृह में उसकी दशा से अवगत हो जाय।

औरंगजेब के पश्चात चित्रकला—औरगजेब के बाद मुगल चित्रकला का अवशिष्ट वैभव भी विनष्ट हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात कतिपय शेष चित्रकार बगाल, मैसूर, हैदराबाद और अवध के प्रान्तीय राज्यो की राजधानियो मे चले गए और वहाँ उन्होने अपनी प्राचीन परम्पराओ को जारी रखा। परन्तु उन्हे वहाँ जो राज्याश्रय प्राप्त हुआ और जो कृतियाँ उन्होने वहाँ बनवायी, वे मुगलो के सरक्षण और कृतियो की अपेक्षा अत्यन्त निम्न कोटि की थी। फिर भी प्रान्तीय शासको के राज्याश्रय मे नयी-नयी शैलियो का उत्कर्ष हुआ।

मुगलकालीन चित्रकला की विशेषताएँ—मुगल चित्रो के विषय विविध रहे। उनमे आखेट, युद्ध, शाही राजसभा के जीवन, रामायण, महाभारत आदि भारतीय पौराणिक आख्यायिकाओं, ऐतिहासिक घटनाओ, शाहनामा जैसी अभारतीय गाथाओं, प्रकृति के नाना रूपो, जैसे पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि के चित्र है। परन्तु इन चित्रों मे न तो आध्यात्मिकता को स्थान है और न घरेलू जीवन को। यद्यपि मुगल चित्रकला मे भारतीय वातावरण को स्थान प्राप्त हुआ है, परन्तु इसमे भारतीय जीवन की भावनाएँ अभिव्यक्त नही हुई। इसमे न तो जनता का जीवन ही चित्रित हुआ न जनता का हृदय ही यद्यपि मुगल चित्रो मे केला, बड, पीपल, आम, मयूर, मृग, सिंह, गज, शृंग, आदि भारतीय वस्तुओं, विषय, प्राकृतिक वातावरण तथा भार-

तीय वस्त्राभूपणो का स्वाभाविक व यथार्थ चित्रण हुआ है परन्तु उसमे साधारण जनता के तत्कालीन जीवन की झाँकी नही झलकती। ये चित्र उस युग की जनता की दशा का वोध करने मे पूर्ण सहायक नही हैं।

शैली की दृष्टि से मुगल चित्रकला मे ईरानी अलंकरण के स्थान पर सजीवता और स्वाभाविता आ गई थी। इस चित्रकला मे रेखाओ की गोलाई और कोमलता, आकृतियो मे गति और स्फूर्ति, हस्त-मुद्राओ में राजीवता और उनके प्रयोग का वाहुल्य है। विविध चटकीले, सुनहरे और रुपहले रगो का भी प्रयोग खूव हुआ है। व्यक्ति-चित्र के चित्रण मे आकृति के अकन, व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण और मुख व मस्तक के वनाने मे चित्रकारों ने सूक्ष्मता और पटुता प्रदर्शित की है। परन्तु इस शैली में भाव व जीवन का अभाव-सा है। मुगलकाल में वैभव और विलास की परिधि में यह कला जकड़ गई और शाही दरवार के अदव कायदे मे वध गई थी। फलस्वरूप, इसमे एक प्रकार की कृत्रिमता और जड़ता उत्पन्न हो गई।

राजपूत या राजस्थानी चित्रकला—हिन्दुओं की प्राचीन चित्रकला-शैली मुगलों के अन्तर्गत विकसित नवीन शैली मे पूर्णतया विलीन नही हुई थी। ईरानी और मुगल शैलियो के सम्पर्क के फलस्वरूप इसकी पुन: जाग्रति हुई। राजपूत चित्रकला-शैली शैली राजस्थान और मध्य भारत के हिन्दू नरेशो की राजसभाओं मे समृद्ध थी। यह प्रारम्भिक हिन्दू परम्पराओ का प्रस्फुटित रूप था। इस शैली की अभिव्यक्ति हिन्दू है और इसे अजन्ता-शैली से उत्पन्न माना गया है। भक्ति-आन्दोलन और नवीन हिन्दू धर्म की प्रेरणा पाकर इसमे नवजीवन का संचार हुआ और यह नवीन दशा मे विकसित हुई। राजस्थान के जयपुर में इसका प्रधान केन्द्र रहने से इसे राजस्थानी कहा गया। सत्रहवी शताब्दी में यह पहाडी शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई और इसमे कतिपय विशिष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। 1550 ई० के आसपास राजस्थानी शैली का समुदय माना गया है और दो सौ वर्षों तक फलने-फूलने के पश्चात इसका पतन होने लगा। इसके पतन के साथ-साथ पहाडी शैली के उत्थान का युग है। अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे पहाड़ी शैली विभिन्न रियासतो मे फलती-फूलती रही। राजस्थानी और पहाडी शैली का अन्तर उल्लेखनीय है। यदि राजस्थानी चित्रकला-शैली अलकारिक है तो पहाडी भाव-प्रधान। राजस्थानी शैली की अपेक्षा पहाडी शैली के विपय अधिक विस्तृत है। उसमे रामायण, महाभारत व पुराणो की आख्यायिकाओ के अतिरिक्त लोक-कथाओ और कृपक-जीवन का सफल चित्रण है। यद्यपि दोनो मे रसो का उच्चतम चित्रण, रेखाओ मे भावानुकूलता और जीवन की गतिशीलता का प्रवाह है, परन्तु पहाडी शैली मे रागमालाओ का चित्रण कर चित्रकला और सगीत का सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है।

राजस्थानी चित्रकला व मुगल चित्रकला में अन्तर—यदि राजस्थान और पहाडी शैली मे अन्तर है तो राजस्थानी और मुगल चित्रकला-शैली मे भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। राजपूत शैली अपनी चमक-दमक और अलकरण के प्रभाव के कारण प्रसिद्ध थी। इसके विपय लोकप्रिय थे और उनसे सभी अवगत थे। अपने दिव्य गुणों के लिए प्रख्यात राजपूत जाति की भावनाओ को यह शैली रेखाओ और रंगो में अभिव्यक्त करती थी। सीधे-सादे ग्रामीण के जीवन, उसके धर्म तथा आमोद-प्रमोद को यह शैली स्पष्टतया प्रकट करती थी। गाँव के वाजार, पनघट, खेत, खलिहान, घरेलू काम-धन्धे और उद्योग-धन्धे, आमोद-प्रमोद सफलतापूर्वक चित्रित हुए हैं और चित्र-

कार की तूलिका से ये सजीव हो उठे हैं। यात्रा और यात्रा के विश्राम-स्थल तथा रामायण व महाभारत के चित्रो का भी अकन इस शैली मे हुआ है। अजन्ता की चित्रकला में जो स्थान बुद्ध और उनकी जीवन-घटनाओ ने लिया था, वही स्थान राजस्थानी शैली में कृष्ण और उनकी जीवन-लीलाओ ने ले लिया था। कृष्ण के साथ-साथ गाय, हाथी, मयूर आदि पशु-पक्षियो का चित्रण भी श्रेष्ठ हुआ है। शिव और पार्वती के भी कतिपय चित्र अकित हुए। इसके अतिरिक्त करुणा, सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, वात्सल्य आदि मानवीय गुणो का चित्रण इतना श्रेष्ठ हुआ है कि चित्र सौन्दर्ययुक्त हो गये और मूक भाव सहसा प्रकट हो सजीव हो उठे। इस प्रकार राजपूत शैली ने धर्म और मानव-जीवन का कला से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और उसकी आध्यात्मिक तथा भावनामय प्रेरणाओ से यह ऐहिक मुगल शैली से आगे बढकर अधिक श्रेष्ठ हो गयी। मुगल चित्रकला-शैली शाही राजसभा की शान-शौकत और वैभव मे ही सीमित रह गयी। मुगलो की विलासिता और वैभव के प्रदर्शन में ही सीमित रह गयी। मुगलो की विलासिता और वैभव के प्रदर्शन मे ही चित्रकला सकुचित और कृत्रिम हो गयी। इसके विपरीत राजस्थानी चित्रकला धार्मिक, रहस्य-मय और व्यापक होकर साधारण जनता की वस्तु बन गयी। यदि मुगल शैली मे ऐहिकता की पराकाष्ठा है तो राजस्थानी मे आध्यात्मिकता की। यदि एक का लक्ष्य मनोरजन था तो दूसरे का धर्म का क्रियात्मक रूप प्रदर्शित कर जन-जीवन की झाँकी झलकाना।

मुगल शैली के समान राजपूत शैली से भी व्यक्ति-चित्र उपलब्ध हुए है जिनमें सामन्तो और नरेशो के चित्र अधिकतर हुक्का पीते हुए है। इनमे यथार्थता पूर्णरूपेण है। मुगल सम्राटो की नकल करके हिन्दू राजा और सरदारगण भी अपने-अपने पुस्तकालयो मे चित्रो के सग्रह व सचित्र पुस्तके रखते थे जिनकी उत्कृष्टता व भव्यता की कल्पना जयपुर के सग्रह से की जा सकती है।

सुन्दर-लेखनकला

चित्रकला से अत्यधिक सम्बन्धित सुन्दर लेखनकला थी। यही एक ऐसी कला थी जिसका अभ्यास करने की अनुमति कट्टर धार्मिक मुसलमानो ने दी थी और मुस्लिम देशो मे तत्परता से इसका अभ्यास किया जाता था। सुन्दर अक्षर लिखने वाले प्रसिद्ध व्यक्तियो को उनके कार्यों के लिए प्रचुर धन प्रदान किया जाता था। मस्जिदो की सजावट के लिए सुन्दर लेखनकला का अधिक उपयोग किया जाता था। मस्जिदो के प्रवेश द्वारो, दीवारो और खिडकियो पर कुरान की आयते लिखी जाने लगी। विभिन्न प्रकार के अक्षर लिखे जाते थे। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध सुन्दर अक्षर और लेख लिखने वालो मे जिनकी एक सूची 'आईन-ए-अकबरी' मे सुरक्षित है, कश्मीर का मुहम्मद हुसैन सबसे अधिक प्रतिष्ठित था। अकबर ने इसे 'जर्रीकलम' की उपाधि दी थी।

संगीत

मुगल सम्राटो ने संगीत को भी राज्याश्रय दिया और उसे खूब प्रोत्साहित किया था। बाबर स्वय सगीत-प्रेमी था। उसने अनेक गीतो की रचना की जो उसके देहावसान के पश्चात भी प्रचलित रहे। हुमायूँ भी सगीत में रुचि रखता था। वह प्रति सोमवार और बुधवार को गायकों व सगीतज्ञो के सहवास का आनन्द उठाता था और उनके सरस गान सुनता था। सगीतकला के सरक्षण मे सूर बादशाह भी मुगलो

से पीछे नहीं थे। इनमें इस्लामशाह और आदिलशाह विशेष उल्लेखनीय हैं। अकबर भी संगीत मे अधिक अभिरुचि रखता था। उसे स्वयं संगीत की विशेषताओं का ज्ञान था और वह नक्कारा बड़े सुन्दर ढग से बजा लेता था। ऐसा कहा जाता है कि उसने कतिपय रागो की रचना भी की थी। उसके संगीत-प्रेम ने उसकी राजसभा में हिन्दू, ईरानी, तूरानी, कश्मीरी आदि संगीतज्ञों को आकर्षित कर लिया था। इनमें नर और नारी दोनों ही सम्मिलित थे। शाही दरबार के संगीतज्ञ सात समुदायों मे विभक्त थे और प्रत्येक के लिए सप्ताह में एक दिवस निश्चित था। उनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्वालियर का मियाँ तानसेन था जिसके विषय में अबुलफजल लिखता है, "भारत मे उसके समान गायक एक सहस्र वर्षों से नही हुआ है।" अकबर द्वारा शाही दरबार मे नियुक्त मालवा के बाजबहादुर के विषय में भी यही कहा जाता है कि वह हिन्दी के गीतो और संगीत के विज्ञान मे अपने युग का सबसे अधिक निपुण व्यक्ति था।" अकबर के दरबार में छत्तीस उच्च कोटि के गायक रहते थे। अबुलफजल और मुबारक के अतिरिक्त अब्दुर्रहीम खान-ए-खाना, राजा भगवानदास और मानसिंह जैसे अकबर के राज-दरबारी संगीतज्ञो को संरक्षण देते थे। इससे हिन्दुस्तानी संगीत के विकास को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रसिद्ध गायको द्वारा रागों के नवीन प्रकार प्रचलित किये गये और संगीत पर संस्कृत मे लिखे ग्रन्थो का फारसी भाषा मे अनुवाद किया गया। हिन्दू और मुसलमानों के सहवास और विचारो के आदान-प्रदान से संगीतकला की प्रभूत प्रगति हुई और तराना, ठुमरी, गजल, कव्वाली आदि नवीन रागो का सृजन हुआ। कतिपय विद्वानो का मत है कि प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीतों के सम्मिश्रण से एक नवीन संगीत-शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो दोनो शैलियो से अधिक उत्कृष्ट और मनोहारिणी थी।

संगीत-प्रेमी होने से जहाँगीर ने भी अपने पिता के दरबार की परम्पराओ को जारी रखा और संगीतज्ञों को प्रोत्साहित किया। शाहजहाँ भी संगीत का बड़ा रसिक और प्रेमी था। वह स्वयं कतिपय मधुर और सुखद हिन्दी गीतो का रचयिता था और वाद्य तथा गेय दोनों प्रकार के संगीत को वह सुनता एवं आनन्दित होता था। अन्य संगीतज्ञो के साथ-साथ उसने हिन्दू संगीतज्ञो को भी राज्याश्रय दिया था। प्रमुख हिन्दू संगीतज्ञो मे जगन्नाथ और बीकानेर के जनार्दन भट्ट विशेष उल्लेखनीय है। शाहजहाँ के देहावसान के पश्चात संगीतकला की अवनति हो चली थी। औरंगजेब का युग संगीत के परम अपकर्ष का युग था। यद्यपि औरंगजेब संगीत-विज्ञान मे निपुण था, परन्तु गाने-बजाने का प्रतिकार करता था। द्रव्य और संगीत को वह अधार्मिक कृत्य समझता था। इसलिए उसने संगीत को प्रोत्साहित नही किया और उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा दरबार से उसका सर्वथा बहिष्कार कर दिया। यही नही, उसने अपनी राजसभा से समस्त संगीतज्ञों को निकाल दिया फलतः संगीतज्ञ और संगीताचार्य मुगल दरबार से निराश होकर प्रान्तीय नरेशो और नवाबों की शरण मे चले गये। इस समय सबसे अधिक प्रसिद्ध और उल्लेखनीय संगीताचार्य भावदत्त था जो राणा अनूपसिंह के राज्याश्रय मे रहता था। मुगल सम्राट औरंगजेब के पश्चात मुहम्मदशाह रंगीले ने संगीत को प्रोत्साहित कर उसे जीवनदान दिया। उसके काल मे श्रीविहीन मुगल दरबार अदारंग और सदारंग 'ख्यालो' से गुंजित हो उठा। इसके अतिरिक्त शोरी मियाँ ने भी टप्पा गायन का प्रचार किया जिसकी विशिष्टता कण्ठ से दानेदार स्वर निकलना है। इसी समय हिन्दू और ईरानी शैलियों के सम्मिश्रण से और भी नवीन सुमधुर सरस संगीत-शैलियो व ध्वनियों का निर्माण हुआ। इनमे से

अधिकतर श्रृंगारिक हैं। इसके कतिपय वर्षों बाद श्रीनिवास ने संगीत पर 'रागतत्त्व नवबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की। थे उत्तर भारत के मध्ययुगीन संगीत पर लिखने वाले अन्तिम ग्रन्थकार माने गये हैं। मुगलों के अतिरिक्त दक्षिण के सुलतान भी संगीतज्ञों की एक सेना रखते थे। गोलकुण्डा मे तो बीस हजार संगीतज्ञ माने जाते थे। इसके अतिरिक्त समस्त हिन्दू राजसभाओं मे संगीत जीवन का एक आवश्यक अंग माना जाता था। मुगल-युग मे संगीतज्ञों की स्थिति मे परिवर्तन हो गया था। हिन्दू संगीत को प्रधानतया एक धार्मिक कला व कृत्य समझते थे और संगीत के प्रति प्रेम, श्रद्धा व भक्ति रखने से समाज मे संगीतज्ञों का स्थान निम्न नहीं होता था। दक्षिण भारत मे आज भी अनेक निपुण और सफल संगीतज्ञ सर्वश्रेष्ठ सामाजिक स्तर के ब्राह्मण है। यद्यपि मुस्लिम दरबारों में संगीत को खूब प्रोत्साहन मिला, परन्तु नृत्य व गाना-बजाना एक ही व्यवसाय समझा जाता था; क्योंकि संगीतज्ञों में प्रधानतया कुख्यात नर्तकियाँ होती थी। परिणामस्वरूप, शिक्षित मध्यम-वर्ग मे संगीत की लोकप्रियता कम हो गयी और लोक-संगीत को सामन्तों के भोग-विलास की वस्तु समझने लगे। कालान्तर में सर्वसाधारण में संगीत की शिक्षा को निरुत्साहित किया जाने लगा। फलतः पाठशालाओं और 'उस्ताद' के संगीत तथा लोकगीतों और लोकनृत्यों मे विभेद की उन भावनाओं का उत्कर्ष हुआ, जो उत्तरी भारत में आज भी दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत, दक्षिण भारत में राजा से लेकर रंक तक सभी व्यक्तियों का विषय संगीत बना रहा।

मुस्लिम-युग और मुगल शासन की देन

भारत मे मुस्लिम-युग और मुगल शासन की अधोलिखित देनें है :

1. **बाह्य देशों के सम्पर्क की पुनःस्थापना**—प्रारम्भिक बौद्ध-युग मे एशिया के अन्य देशो से भारत के जो घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए थे, वे आठवी सदी के लगभग विनष्ट हो गये थे। परन्तु बारहवी सदी के अन्त मे मुस्लिम विजय से इनकी पुनःस्थापना हो गयी। भारतीय जलसेना और भारतीय सामुद्रिक व्यापार पुनर्जीवित हो गये। सहस्रों विदेशी भारत मे आये और मुगलो के डेढ सौ वर्षों के शासन मे भारत का नाम विश्व मे उच्च स्तर पर हो गया और उसकी गणना सबसे अधिक सशक्त और सभ्य देशो में होने लगी थी।

2. **आन्तरिक शान्ति**—भारत के अधिकाश भाग मे, विशेषकर विन्ध्याचल के उत्तर मे, आन्तरिक शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित हो गयी थी। इससे उद्योग-धन्धों और वाणिज्य व्यापार को प्रोत्साहन मिला और लोग समृद्धशाली हो गये।

3. **एकसी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था**—लगभग दो सौ वर्षों के मुगल शासन ने समस्त उत्तर भारत और दक्षिण के अधिकाश भाग को एक समान केन्द्रीय शासन-व्यवस्था, सुदृढ व सुसगठित प्रान्तीय शासन, एक शासकीय भाषा, सिक्के और हिन्दू पुरोहितों तथा स्थायी ग्रामीण लोगो को छोड कर सबके लिए लोकप्रिय राष्ट्रीय भाषा प्रदान की। मुगल शासन-प्रणाली के कतिपय तत्त्व आज भी भारत में दृष्टिगोचर होते हैं। मुगल शासन काल मे प्रचलित भूमिकर-पद्धति, 'सूबा' और 'सरकार' मे देश का विभाजन और अन्न तथा सिक्को मे भूमिकर-संग्रह प्राचीन मध्ययुगीन दशा मे स्पष्ट सुधार थे।

मुगल साम्राज्य के सभी बीसो 'सूबो' मे एकसी शासन-व्यवस्था थी, एकसा ही शासकीय क्रम, एकसी ही शासकीय उपाधियाँ, और शासकीय भाषा फारसी थी।

अधिकारी और सैनिक दोनों ही अधिकतर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में स्थानान्तरित किये जाते थे और इस प्रकार सभी विशाल भारत की एकता का अनुभव करते थे।

4. **सांस्कृतिक जीवन**—मुस्लिम-युग और मुगल शासन ने हिन्दू संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। मुगलों ने जिन सामाजिक सुविधाओं, वेष-भूषा, शिष्टाचार व रीति-रिवाज को प्रसारित किया था, उन्हें सर्वसाधारण ने स्वीकृत किया। अचकन व पाजामे को प्रमुख स्थान दिया गया। हमारी सुन्दर हिन्दुस्तानी वेष-भूषा (स्त्री और पुरुष दोनों की) आज भी लगभग वही है जो हम मुगलकाल के चित्रों में देखते हैं। हमारी शानदार हिन्दुस्तानी भाषा और शिष्टाचार तथा वेष-भूषा के ढंग मुगल दरबारियों और नागरिकों की देन हैं। वसन, बोली, विचार, साहित्य, संगीत, चित्रकला और वास्तुकला सभी पर मुगलों की छाप है। ये न तो विशुद्ध रूप से हिन्दू हैं और न मुस्लिम, पर दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण और समन्वय है। विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के होने पर भी सामाजिक रीति-रिवाजों और वसनों में एकरूपता उत्पन्न हो गयी थी। वास्तव में संस्कृति के क्षेत्र में मुगलकाल में पुनर्जागृति और समन्वय दोनों ही हुआ।

5. **भोग-विलास की भावना और ललितकलाएँ**—भोग-विलास और ललितकलाओं की सामग्री पर मुस्लिम प्रभाव अधिक पड़ा और मुगलों ने भोग-विलास की बेजोड़ भावना प्रोत्साहित की। मुगलों ने, जो हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे, ललितकलाओं और ऐश-आराम की अनेक वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने भोजन की नवीन सामग्री, नये फल, पाकशास्त्र की नवीन प्रणालियाँ एवं नयी प्रथाएँ, सुगन्धित इत्र व तेल, सजावट के साधन आदि प्रचलित किये। ये सभी भोग-विलास की भावनाओं में रँगे हुए थे। फलस्वरूप, शाल बनाने, किमख्वाब, मलमल, दरियाँ व कालीन आदि जैसे सुन्दर एवं विलास की सामग्री के उत्पादन को उदारतापूर्वक प्रोत्साहन मिला। संगीत और चित्रकला को खूब प्रेरणा मिली। मुगलकालीन संगीत की छाप हमारे संगीत पर कव्वाली, ठुमरी, गजल आदि के रूप में आज भी विद्यमान है। इसी प्रकार तबला व सारंगी भी इसी मुस्लिम-युग की देन है। हमारा हिन्दुस्तानी संगीत और वाद्ययन्त्र आज भी वे ही हैं जो उस युग में मुगल सम्राटों, सरदारों और साधारण जनता को आनन्द देते थे। चित्रकला का नवीन रूप भी मुगलों की एक देन है। हमारे रमणीय और आनन्ददायक हिन्दुस्तानी चित्रों में आज भी उस रंग-बिरंगे युग की आभा झलकती है। मुगल चित्रकला-शैली की अनेक कृतियाँ आज भी विश्व के सबसे प्रसिद्ध अजायबघरों के संग्रहों की शोभा बढ़ा रही हैं। ईरानी और चीनी प्रभाव विनष्ट कर दिये गये और जहाँगीर के शासनकाल में चित्रकला के क्षेत्र मे भारतीयकरण का क्रम अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया था। मुगल-युग में भारतीय कलाकारों ने सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा प्रदर्शित की।

6. **हिन्दू-मुस्लिम कला** (Indo-Saracen Art)—मुस्लिम-युग और मुगल शासन की सर्वश्रेष्ठ देन भवन-निर्माणकला की नवीन शैली है जो विशेषकर महलों और मकबरों तथा उद्यान-निर्माण में विकसित हुई। सम्राटों के अपरिमित धन और ऐश-आराम की प्रबल भावना ने उन्हें उच्चतम सौन्दर्य के भवन निर्माण करने और उद्यान लगवाने की प्रेरणा दी। उनके लगाये हुए उद्यानों में आज भी लाखों मनुष्य आनन्द लेते हैं। मुगलों से पूर्व बाग केवल फल-फूलों के लिए वन के समान थे। परन्तु मुगलों के बाग विकसित उद्यानकला के प्रतीक थे। मुगलों के उद्यानों की विशेषता यह

थी कि उनमे ऊँचे स्थानों से नहरों को लाकर उनके जल से उद्यान में कृत्रिम जल-प्रपात निर्मित किये जाते थे। नहरों में झूमते हुए फव्वारे होते थे और नहरो के दोनो ओर रमणीय हरे-भरे वृक्षो की पक्तियाँ और रंग-बिरगे सुमनों की क्यारियाँ होती थी। उद्यान मे या तो सबसे ऊँचे या सबसे नीचे फव्वारे पर बारहदरी होती थी। वहाँ से उद्यान व उद्यान के समीप के समस्त दृश्यो का सिंहावलोकन किया जा सकता था। काश्मीर के शालीमार, निशात, इच्छोगिल, वेरीनाग और लाहौर के शालीमार उद्यान मुगलो की देन है।

मुगलो ने अनेक नवीन नगरो व भवनो का निर्माण करवाया। इनमें हिन्दू व मुस्लिम आदर्शो तथा कला-लालित्य और कला-शैलियों का सुन्दतरम समन्वय था। फतहपुरसीकरी नगर जिसे अकबर ने बसाया था और जिसके भवन भी अकबर ने बनवाये थे, भवन-निर्माणकला के हिन्दू-मुस्लिम विचारो के सम्मिश्रण का उदाहरण है, जो आज भी विद्यमान है। ताजमहल, मोती मस्जिद, एत्मादुद्दौला का मकबरा और लाल किला तथा उसके महल व मकबरो के विषय मे जितना अधिक कहा जाय, उतना ही कम है। इस युग के भवनो, महलों, मकबरों व मस्जिदों की विशेषता विस्तृत प्रांगण, जिसके चतुर्दिक प्रकोष्ठ, विशाल गुम्बद, भव्य दरवाजे, उच्च मीनारें और कटे व तराशे हुए पाषाण, टुकड़ो व ईटो की समानुपातिक जुडाई है।

7. **देशी भाषाओं के साहित्य का विकास** -- मुगलो ने सुरक्षा की भावना प्रदान की जिससे लोगो को अवकाश मिला और उनमे अपने मस्तिष्क के विचारो को प्रकट करने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। फलस्वरूप, समस्त प्रान्तो मे साहित्य का सहसा विकास हुआ। भक्ति और एकेश्वरवाद के आन्दोलनो को नवीन प्रेरणा मिली जिससे देशज भाषाओ के साहित्य भी प्रभावित हुए। अकबर के सुदीर्घ शासन की शान्ति व समृद्धि तथा उसके व उसके अधीनस्थ नरेशो के राज्याश्रय ने साहित्यिक प्रेरणा दी, जिससे सोलहवी शताब्दी के अन्त मे और सत्रहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे भारतीय बौद्धिक प्रतिभा विलक्षण रूप से प्रस्फुटित हो उठी। वाराणसी हिन्दू ज्ञान के पुनर्जागरण का केन्द्र हो गया। हिन्दू संस्कृति को प्रसारित करने का यह प्रमुख स्थान हो गया और पुन. विश्वविद्यालय का स्थान बन गया। खण्डदेव रघुनाथ शिरोमणि शाहजहाँ के मित्र और दाराशिकोह के गुरु कवीन्द्र आचार्य जैसे बडे-बडे विद्वान व आचार्य वाराणसी जैसे बडे केन्द्र को सुशोभित करते थे। मुसलमान कवियो ने भी अपनी रचनाओ द्वारा हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया। देशज भाषाओ, उर्दू तथा सस्कृत के साहित्यो पर उन लेखको व कवियो की छाप आज भी हमे दीखती है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुगल सम्राट की अनुकम्पा व सरक्षण का आनन्द उठाते थे।

8. **भारतीय फारसी साहित्य**—मुगलकाल मे फारसी साहित्य का भी अत्यधिक सृजन हुआ। भारतीय संस्कृति के कोष को भारतीय इस्लाम की यह एक प्रमुख देन है। मुस्लिम व मुगल युग में भारत मे फारसी भाषा के बडे-बडे कवि हुए जिनमे अमीर खुसरो, फैजी, मुहम्मद हुसेन आदि प्रसिद्ध थे। भारत के अनेक ग्रन्थ, जैसे रामायण, महाभारत, अथर्ववेद आदि का अनुवाद फारसी मे हुआ।

9. **हिन्दुस्तानी**—मुस्लिम शासन की अन्य देन शासकीय गद्य-शैली हिन्दुस्तानी है। फारसी भाषा मे लिखने वाले हिन्दू मुशियो का हिन्दुस्तानी के सृजन करने में अधिक हाथ था। बाद मे मराठा चिटनीसो ने इसे अपना लिया था।

10. **युद्धकला में सुधार**—इस युग में युद्धकला में सुधार हुआ। बारूद व तोपखाने का प्रसार हुआ जो हिन्दुओं की प्राचीन प्रथाओं से अधिक श्रेष्ठ थे। अश्व और अश्वारोही का महत्व सेना में अधिक बढ़ गया और उस युग मे यह कहावत प्रचलित हो गयी कि घोड़े की जीन मुसलमानो के लिए राजगद्दी के समान है। साहसी व दृढ़ अश्वारोही सेना के बल पर ही मुसलमानों ने अनेक युद्धों में विजयश्री उपलब्ध की। रणक्षेत्र में विशिष्ट संगठन और तोपों के समुचित प्रयोग से ही मुसलमानों को विजय प्राप्त करना सुलभ था। परन्तु सेना के हेतु खाद्य-सामग्री का उचित प्रबन्ध न होने के कारण सैनिको को अपने और अपने अश्व के लिए अन्य साधनों का उपयोग करना पड़ता था। फलतः खेतो में खड़ी फ़सलो का काटना, गाँवों को लूटना और उजाडना युद्धकाल में साधारण बात थी। हिन्दू नरेशों ने मुसलमानों की नकल करके गजसेना के स्थान पर अश्वारोही सेना और तोपखाने का प्रयोग करना आरम्भ किया।

11. **ऐतिहासिक साहित्य**—मुस्लिम शासको के उदार संरक्षण के फलस्वरूप ही भारत के पास ऐतिहासिक साहित्य का सुन्दर श्रेष्ठ सग्रह है। मध्य-युग और मुगल-काल के प्रसिद्ध इतिहासकार बरनी, मिनहाज-शीराज, बदायूनी, अबुलफजल, फरिश्ता और खाफीखाँ थे। ऐतिहासिक लेख, जीवनियाँ, आत्म-कथाएँ, पत्र, राज्य-वशों का वृत्तान्त आदि इस युग की देन है जो तत्कालीन इतिहास-निर्माण में बहुत सहायक है। प्रकार इस युग में भारतीय सस्कृति में आत्म-कथाओ, पत्रों, जीवनियों आदि का एक इस नवीन व उपयोगी तत्त्व आ गया।

12. **एकेश्वरवादी धार्मिक पुनरुत्थान और सूफी मत**—इस्लाम धर्म और इस्लामी समाज का हिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा। हिन्दू तथा मुसलमानो के परस्पर सम्पर्क से भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक जीवन अत्यन्त प्रभावित हुआ। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म मे ऐकेश्वरवादी पुनर्जागरण और हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था-विरोधी आन्दोलन तथा इस्लाम में सूफी मत प्रारम्भ हो गये। हिन्दुओं के सुधारवादी आन्दोलनो को मुसलमानो और उनके इस्लाम धर्म से प्रेरणा प्राप्त हुई। रामानन्द, कबीर, दादू, नानक और चैतन्य तथा इन सबके सम्प्रदाय इस पुनर्जागरण और आन्दोलन की ही उपज थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन धार्मिक विश्वासो में अन्ध-विश्वास भी घर कर गया। पीर और शहीद, साधु और सन्त उनके विलक्षण कार्यों मे कृष्ण और राम के समान माने जाने लगे और आज भी ग्रामो में यही भावना विद्यमान है। इस्लाम धर्म का सूफी सम्प्रदाय हिन्दुओं के वेदान्त का एक अंग है। अकबर और उसके प्रपौत्र दाराशिकोह के उदार सरक्षण में सूफी मत का खूब विकास व प्रचार हुआ और दाराशिकोह ने तो यह घोषणा कर दी थी कि उसे वेदान्त में पूर्ण सर्वेश्वरवाद या तौहीद (Pantheism) प्राप्त हुआ है। ईरान से आने वाले अनेक उदार विचार वाले व्यक्तियो ने भी मत के प्रसार व प्रचार मे खूब योग दिया।

13. **मुस्लिम प्रभाव के अन्य उदाहरण**—मुसलमानो के छह शताब्दियों के सुदीर्घ शासन का सांस्कृतिक प्रभाव बड़ा व्यापक रहा। आखेट, बाज का उड़ाना और अन्य खेल अपने ढंग, प्रणाली और शब्दों में मुस्लिम हो गये। हिन्दी, बंगाली, गुजराती और मराठी भाषाओं मे तथा शासन के अनेक विभागो में फारसी, अरबी और तुर्की शब्दो की प्रचुरता बढ़ गयी। युद्धकला मे मुगल सम्राट की सेना एक नमूना थी जिसका अनुकरण हिन्दू नरेशों ने बड़े उत्साह से किया। सभ्यता के विकास और तोपखाने के उत्कर्ष के कारण किलेबन्दी की कला में भी बहुत सुधार हुआ।

शासन-प्रणाली, दरवारी प्रथाएँ व वेष-भूषा, उच्च वर्गों का जीवन, भोग-विलास की सामग्री, ललितकलाएँ, वास्तुकला, उद्यान-निर्माणकला आदि पर मुस्लिम प्रभाव बडा गहन रहा। दरवारी जीवन, उपाधियाँ और राज्याधिकारियों की शासकीय कार्यवाही मे मुगल साम्राज्य नवीन आदर्श रखता था जिनका अनुकरण हिन्दू नरेश करते थे। राजस्थान और मालवा के कतिपय हिन्दू और राजपूत राज्यो मे बीसवी सदी मे प्रारम्भ के तीस वर्षो तक भी शासकीय भाषा उर्दू बनी रही और देवनागरी के स्थान पर फारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। मालगुजारी-प्रथा और दफ्तरो की व्यवस्था और प्रणालियों मे भी मुसलमानों ने परिवर्तन किये और हिन्दू राजाओ ने उनका अनुकरण किया।

मुसलमानो ने अधिक विलासप्रिय होने के कारण नागरिक जीवन को प्रोत्साहित किया। उन्होने अपने दैनिक जीवन की अधिक सुसंस्कृत अभिरुचि को भी प्रोत्साहन दिया और अपने दुर्गुणो मे भी वृद्धि की जिनका धनसम्पन्न हिन्दुओ और अधिकारी वर्ग ने अनुकरण किया। वाह्य प्राकृतिक सौन्दर्य मे सुवासित पदार्थो व इत्रो और कुछ अश तक सगीत और नृत्य मे भी मुस्लिम राजवशो ने समस्त भारतीय समाज की अभिरुचि का पथ-प्रदर्शन किया।

इसी युग मे मुसलमानो ने भारत मे कागज का प्रचार किया और परिणामस्वरूप ताड-पत्रों पर नुकीले लौह-कलम से लिखने की अपेक्षा अधिक आकर्षक और टिकाऊ पुस्तकों की सख्या मे अभिवृद्धि होने लगी। हस्तलिखित पुस्तको को सुन्दर एव चित्रयुक्त वनाना एक कला है जिसके लिए भारत मुगलों का ऋणी है। अकवर के समय से ही हिन्दू राजकुमारो के लिये हिन्दी और सस्कृत ग्रन्थों की नकल कर उन्हे आकर्षक ढग से सचित्र किया जाने लगा था और भारत मे फारसी पुस्तको की सचित्रता और सुन्दर लेखनकला को यूरोप मे भी उस समय यश प्राप्त हुआ था। पुस्तको की नकल करके उनका प्रचार कर ज्ञान की अभिवृद्धि करने की जो प्रथा प्रारम्भ हुई, उसके लिए हम मुसलमानो के ऋणी हैं। इसके पूर्व हिन्दू लेखक अपने ज्ञान और पुस्तको को गुप्त रखने का प्रयास करते थे। मुसलमानो की अन्य देन जो अभी तक प्रचलित है, यूनानी चिकित्सा-पद्धति है।

प्रश्नावली

1. मुगलकाल के समाज और सामाजिक रचना का सक्षिप्त वर्णन कीजिये।
2. मुगल साम्राज्य मे लोगों की आर्थिक व सामाजिक दशाओ का वर्णन कीजिये और सम्राटो के सरक्षण मे होने वाली हस्तकलाओ और ललितकलाओ के विकास का हाल लिखिये।
3. मुगलो के अन्तर्गत भारत के वाणिज्य-व्यापार और कल-कारखानों का सक्षेप मे वर्णन कीजिये और इस वात का विवेचन कीजिये कि उन दिनो भारत उस अर्थ मे धनाढ्य देश नही था जिस अर्थ मे आज धनी समझा जाता है।
4. "अकवर के अन्तर्गत मुगल राजधानी में कला और सस्कृति की ऐसी समृद्धि हुई थी, जैसी पहले कभी नहीं हुई।" इस कथन की सत्यता की व्याख्या कीजिये।
5. "मुगल दरवार की कला और सस्कृति हिन्दू और मुस्लिम आदर्शो के समन्वय की प्रतीक थी।" विवेचन कीजिए।

6. "ललितकलाओं और वास्तुकला मे मुगल-युग पूर्णरूपेण आविष्कार और पुनर्जागरण का काल ही नही परन्तु उन प्रणालियो की अविच्छिन्नता और उत्कृष्टता का युग था, जिनका सूत्रपात तुर्की-अफगानकाल के उत्तरार्द्ध में हो चुका था।" इस कथन का विवेचन कीजिये।
7. मुगल भवन-निर्माणकला के प्रमुख तत्त्वों को समझाइये और मुगल इमारतों के ठोस उदाहरण देकर अपने उत्तर की पुष्टि कीजिये।
8. मुगल राजवश के प्रथम शासकों के अन्तर्गत मुगल वास्तुकला और उसके विकास का विवेचनात्मक हाल लिखिये।
9. अकबर की मृत्यु के पश्चात मुगल वास्तुकला के प्रमुख तत्त्वों को समझाइये और अपने उत्तर के लिए शाहजहाँ के राज्यकाल के भवनों का वर्णन करते हुए उदाहरण दीजिये।

अथवा

"भवन-निर्माणकला-क्षेत्र में शाहजहाँ का शासनकाल सबसे अधिक प्रतिष्ठित है।" इस कथन की व्याख्या करके समझाइये।
10. "वास्तुकला और अन्य ललितकलाओ के क्षेत्र मे यह निर्विवाद है कि मुगल-काल मे सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ शाहजहाँ के शासनकाल मे हुई।" —व्ही० ए० स्मिथ। विवेचन कीजिये।
11. मुगल साम्राज्य मे चित्रकला के उत्कर्ष का हाल लिखिये। किन कारणों से इसका ऐसा विकास हुआ?
12. मुगलकाल मे चित्रकला के प्रकार और समुदय का विवेचन कीजिये।

अथवा

चित्रकला और स्थापत्यकला के क्षेत्र मे मुगलकाल की सफलता-सिद्धियों का संक्षेप मे वर्णन कीजिये।

अथवा

मुगल चित्रकला की प्रमुख विशिष्टताओ को समझाइये और राजपूत चित्रकला तथा मुगल चित्रकला दोनो की तुलना कीजिये।
13. "उसके (जहाँगीर के अवसान के) साथ ही मुगल चित्रकला की अन्तरात्मा भी विलीन हो गयी।"—पर्सी ब्राउन। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
14. महान मुगलों के अन्तर्गत भारत मे हुई शिक्षा की प्रगति का विवेचन कीजिये। उन्होने उसे कहाँ तक सुधारने का प्रयास किया?
15. मुगलो के अन्तर्गत हुई सगीत की प्रगति का सक्षिप्त हाल लिखिये।
16. मुगल-युग मे नारियो की दशा पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये।
17. मुगल-युग के राम व कृष्ण सम्प्रदायों के प्रमुख प्रवर्तकों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो और उपदेशो का विश्लेषण कीजिये और लोगो के जीवन और साहित्य पर इनका जो प्रभाव पडा, उनका मूल्याकन कीजिये।
18. हिन्दी साहित्य की प्रगति पर विशिष्ट प्रकाश डालते हुए मुगल-युग की साहित्यिक गतिविधि पर एक छोटा निवन्ध लिखिये।
19. मुगलकाल की देन का विवेचन कीजिये।

20. सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :
तुलसीदास, फतहपुररसीकरी, ताजमहल अवुलफजल, सूफी मत, सूरदास, अरवी, मुगल उद्यान, राजपूत चित्रकला-शैली, तानसेन ।

21. भारत मे राष्ट्रीय और सास्कृतिक एकता स्थापित करने के लिए अकवर द्वारा किये गये कार्यो का विवेचन कीजिये । यह अपने प्रयासों मे कहाँ तक सफल हुआ ?

15

भारत में ईसाई सामुद्रिक शक्तियाँ और महान पुनरुत्थान

पुर्तगाली—मध्य-युग में भारतीय शासको की नीति में सामुद्रिक नीति का सर्वथा अभाव था। फलस्वरूप, कालीकट मे वास्कोडिगामा के आगमन के पश्चात् 1499 ई० मे पुर्तगालियो की सामुद्रिक शक्ति, जिसका केन्द्र यूरोप मे था, भारतीय समुद्र मे प्रविष्ट हो गयी। लगभग डेढ़ सौ वर्षो के युग मे उन्होने भारत मे विशाल प्रादेशिक साम्राज्य ही नही, अपितु पश्चिमी समुद्रतट पर कतिपय स्थानो पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर अपने भारतीय व्यापार का साम्राज्य प्रतिष्ठित कर दिया। यद्यपि भारत मे यूरोप से अनन्त सामुद्रिक शक्तियो के आगमन के पश्चात पुर्तगाली साम्राज्य विलीन हो गया, तथापि भारत के सास्कृतिक जीवन के विकास मे उन्होने भी अपनी कुछ देन दी है। उन्होंने कुछ अंश तक भारतीय शब्द-भंडार और चिकित्सा-शास्त्र को अधिक सम्पन्न किया है। भारत की जडी-बूटियो पर गरसिया डी ओर्टा (Garcia de Orta) की पुस्तक एक महत्त्वशाली विषय पर सर्वप्रथम नियमित अध्ययन का उदाहरण है। वेरापोली और गोआ मे मुद्रणालयों का प्रयोग और पादरियो की शिक्षा के हेतु धार्मिक शालाओ की स्थापना ज्ञानक्षेत्र मे पुर्तगालियो की प्रशसनीय देन हैं। अलकरणयुक्त विशिष्ट भवन-निर्माणकला (Ornate *Manualesque* Architecture) जिसे उन्होने पश्चिमी समुद्रतट पर अधिक लोकप्रिय बनाया और उसके द्वारा प्रचारित बगलो के ढग के भवन विशेष उल्लेखनीय है। उत्साही कैथोलिक धर्म-प्रचारको के नाते पुर्तगालियो ने बहुसख्यक सीरियन (Syrian) ईसाइयो को कैथोलिक समुदाय के अन्तर्गत एकत्र कर लिया और पूर्व मे फिलीपाइन द्वीपसमूह को छोडकर भारत को कैथोलिक सम्प्रदाय का सबसे बड़ा क्षेत्र बना दिया। इन्ही धर्म-प्रचारको के प्रयास के परिणामस्वरूप भारत मे कैथोलिक सम्प्रदाय का वैयक्तिक अस्तित्व आज भी है और यहाँ के कैथोलिक ईसाइयों की सख्या ईसाइयो के विभिन्न सम्प्रदायो के सभी सदस्यो की सख्या से कही अधिक है। वर्तमान युग मे भारत की धार्मिक भवन-निर्माणकला और विशेषकर दक्षिण भारत की कला पुर्तगाली है। मीलापुर (Mylapore) का विशाल गिरजाघर तथा पश्चिमी समुद्रतट के अन्य गिरजाघर पुर्तगालियो के धार्मिक उत्साह के सबल प्रमाण है। व्यापार मे पुर्तगालियों के एकाधिकार ने भारतीय वस्तुओ के लिए और विशेषकर मसाले और मलमल के लिए विश्व मे विशाल पैमाने पर ऐसा बाजार स्थापित कर दिया था, जैसा अभी तक नही हुआ था और पुर्तगाली व्यापार ने ही भारत मे योरोप व चीन की वस्तुएँ, विशेषकर चीनी बरतन, प्रसारित की। पुर्तगाली व्यापार का अन्य महत्त्वपूर्ण अग विजयनगर राज्य को ईरानी घोड़े देना था। वस्तुत विजयनगर साम्राज्य का वाह्य व्यापार पुर्तगालियो के हाथो मे ही था।

डच—सत्रहवी सदी के प्रारम्भ में हालैण्ड के निवासी, डच लोगो ने मालावार और कॉरोमण्डल समुद्रतट पर अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये और 1654 ई० में लका जीत लिया। इससे पुर्तगालियों की सत्ता और व्यापार के एकाधिकार को भारी क्षति पहुँची। परन्तु डच लोग भारत मे कोई विशाल सैनिक शक्ति स्थापित न कर सके और अंग्रेजो की वढती हुई वस्तियो और व्यापार के कारण डचो के वाणिज्य-व्यापार का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त में अंग्रेजो ने उन्हें भारत से खदेड दिया।

अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का आगमन—1600 ई० मे पूर्वी देशो से व्यापार करने के लिए ब्रिटेन मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। पुर्तगालियो के विरोध का दमन करके इस कम्पनी ने भारत मे अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये और मुगल सम्राटो से कतिपय व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली। 1664 ई. में फ्रेंच ईस्ट कम्पनी की स्थापना के वाद फ्रान्स भी इस क्षेत्र मे कूद पड़ा। मद्रास के समुद्रतट पर इसने कुछ वस्तियो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अठारहवी सदी के मध्य मे दक्षिण भारत पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए फ्रान्सीसियो और अंग्रेजो मे निरन्तर संग्राम हुए जो कर्नाटक युद्ध के नाम से प्रख्यात है। दोनो पक्षो ने भारतीय राज्यो के प्रतिद्वन्द्वियो की सहायता प्राप्त की, परन्तु क्लाइव की प्रतिभा फ्रान्स की जलसेना का समुद्र से प्रभुत्वविहीन हो जाने के कारण अंग्रेजो के हाथ विजयश्री लगी। 1761 ई. में फ्रान्सीसी वस्तियों की राजधानी पॉण्डिचेरी पर अंग्रेजो का अधिकार हो गया और इस घटना से फ्रान्सीसियों को ऐसा भयकर आघात लगा कि वे फिर भारत मे उठ न सके। फ्रान्सीसियो की शक्ति के पतन और मैसूर नरेश टीपू सुल्तान के अवसान के पश्चात दक्षिण भारत अंग्रेजो के नियन्त्रण मे आ गया। इसी वीच मे उत्तर भारत मे वगाल, विहार और उड़ीसा कीमाल गुजारी वसूल करने का अधिकार (दीवानी) भी मुगल सम्राट शाहआलम की ओर से 1765 ई. मे अंग्रेजी कम्पनी को प्राप्त हो गया। इसके फलस्वरूप भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक राज्य प्रभुत्व रूपी शक्ति वन गयी, एक दृढ़ राजनीतिक सत्ता वन गयी।

भारत का ब्रिटिश साम्राज्य—वगाल, विहार और उडीसा की दीवानी के अधिकार प्राप्त होने के पश्चात इंगलैण्ड ने भारत मे सार्वभौमिक सत्ता के हेतु नियमित रूप से युद्ध किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सर्वप्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स (1774-1785 ई.) ने कम्पनी के प्रदेशो को एक सूत्र मे संगठित करने के लिए मराठो, हैदरअली, टीपू सुल्तान और रूहेलो से युद्ध किये और शासन मे सुधार भी किये। उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड कॉर्नवालिस ने कम्पनी के प्रदेशों के एकीकरण के कार्य को जारी रखा, शासन को विशुद्ध किया, अराजकता को दूर कर व्यवस्था स्थापित की और वगाल का प्रसिद्ध इस्तमरारी वन्दोवस्त किया। लॉर्ड वेलेजली के आगमन से एक नवीन युग प्रारम्भ होता है। अल्पकालीन युद्ध द्वारा उसने मैसूर की शक्ति का अन्त कर दिया और मराठो के नेता पेशवा को कम्पनी के अधीन कर लिया। सहायक सन्धियों द्वारा उसने भारतीय राज्यो को कम्पनी पर आश्रित कर दिया। इसके पश्चात लॉर्ड हेस्टिंग्स (1813-1818ई०) ने मराठा नरेश—होल्कर और सिन्धिया—की शक्ति कम कर दी, राजपूत राज्यों को अंग्रेजी संरक्षण मे ला दिया, पेशवा को राजगद्दी से उतारकर उसके दक्षिण के साम्राज्य को अंग्रेजी राज्य मे मिला लिया। 1845-48 ई० मे युद्ध करने के वाद पजाव भी अंग्रेजी राज्य मे मिला लिया गया और इसके

पश्चात् अवध का राज्य भी इसी बीच में डलहौजी की हड़प-नीति और गोद न लेने-देने की प्रथा ने सतारा, झाँसी, नागपुर आदि राज्यों को अंग्रेजी राज्य मे मिला दिया। 1856 ई० तक सिन्धु नदी से ब्रह्मपुत्र तक, हिमालय पर्वत से कुमारी अन्तरीप तक सार्वभौमिक रूप से अंग्रेजों का झंडा यूनियन जैक फहराने लगा। 1857 ई० में सिपाही-विद्रोह नामक एक राष्ट्रव्यापी क्रान्ति हुई। इसका उद्देश्य अंग्रेजों को भारत से खदेड़ना और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करना था। यद्यपि इसका निर्दयता से दमन किया गया, तथापि इसका महत्त्व दो प्रकार से है—प्रथम, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व सम्मान को पुन: उपलब्ध करने का यह अन्तिम प्रयास था। यह अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए सत्ताविहीन लोगो का साहसपूर्ण प्रयत्न था। द्वितीय, यह भारतीय इतिहास मे युग-विभाजन की एक महान रेखा है, क्योंकि इसके पश्चात आने वाले शासन के आदर्श, नीति, प्रणाली और व्यवहार इसके पूर्व के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से मौलिक रूप से भिन्न थे। 1858 ई० मे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारत का शासन अपने हाथो में ले लिया और भारतीय इतिहास के रगमंच से ईस्ट इण्डिया कम्पनी अदृश्य हो गयी। 1858 ई० से 1913 ई० तक भारत सरकार के कार्य प्रधानतया मालगुजारी वसूल करने, शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने और भारत की सीमाओं की सुरक्षा करने तक ही सीमित रहे। अंग्रेजी शासन ने तो समाज के पुनर्संगठन के हेतु, न जनसाधारण के नैतिक और भौतिक स्तर को ऊँचा करने के लिए और न देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए कोई योजना ही कार्यान्वित की। भारत मे अंग्रेजो ने सभ्यता व संस्कृति के सहायक साधन उपस्थित किये परन्तु सभ्यता व संस्कृति के प्रसार-कार्य स्वयं नही किये।

बीसवी श ाब्दी के प्रारम्भ से भारतीयों ने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए सक्रिय आन्दोलन प्रारम्भ किया। गाँधीजी के नेतृत्व मे सुदीर्घ काल तक सग्राम करते हुए भारतीयो ने अंग्रेजो को भारत की पूर्ण स्वाधीनता स्वीकृत करने के लिए बाध्य किया और अंग्रेजों के भारत छोड़ देने पर तथा अगस्त, 1947 ई० में भारत को पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेजों के अन्तर्गत भारत की भौतिक प्रगति

भारत मे अंग्रेजों के शासन के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट भौतिक प्रगति हुई जिसका विवरण निम्नलिखित है :

1. **यातायात**—उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत मे आवागमन के साधन तुलनात्मक दृष्टि से दोषयुक्त थे। रेलो से लोग अनभिज्ञ थे और भारतीय शासकों द्वारा निर्मित जो कतिपय सड़के थी, वे भी अपर्याप्त थी तथा दिन-प्रतिदिन उनकी दशा भी गिरती जा रही थी। लार्ड डलहौजी के समय से इस दिशा मे जो प्रगति हुई थी, उससे देश मे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो गयी।

(क) **रेलें**—रेलो का जाल बिछाने का श्रेय अंग्रेजी शासन को ही है। ये रेलें भारत की यातायात-प्रणाली का सबसे अधिक भाग हैं। 1857 ई० के सिपाही-विद्रोह के समय रेलों का सामरिक महत्त्व और अकालो के समय उसकी आर्थिक महत्ता का अनुभव हुआ। 1890 ई. के दुर्भिक्ष कमीशन की सिफारिशों पर अंग्रेज सरकार ने रेलो का निर्माण तत्परता से उत्साहपूर्वक किया। रेलो से जो आर्थिक लाभ हुआ उससे रेलें दूध पीते शिशु से दूध देने वाली गाय के समान हो गयीं। 1908 ई. के मैके

(Mackay) कमेटी की सिफारिशो के आधार पर रेलो के जाल ने देश के दूरस्थ प्रदेशों को जोड़ दिया और तब से अधिकाधिक रूप से रेलो का विस्तार होता ही गया।

(ख) **सड़कें**—भारत के प्रत्येक भाग मे पहाडो और मैदानो मे होती हुई अच्छी पक्की सडको का निर्माण हुआ। अनेक स्थानो मे डामर और सीमेण्ट की सड़के भी निर्मित हुई। इसके अतिरिक्त सहस्रो कच्ची सडके भी देश मे बन गयी।

(ग) **जलमार्ग**—यद्यपि कतिपय नदियो मे नावो द्वारा यातायात हो सकता है परन्तु देश के जलमार्गों का विकास सतोषजनक ढग से न हो सका। फिर भी इस दिशा मे प्रगति उल्लेखनीय रही।

(घ) **पोस्ट, टेलीग्राफ और टेलीफोन**—अग्रेजी शासन के अन्तर्गत डाक तथा तारक्षेत्र मे भी पर्याप्त प्रगति हुई। डाक व तार विभाग सन्देश भेजने का सरल और सुलभ साधन है। लार्ड डलहौजी ने सर्वप्रथम तार की लाइन डलवायी। दो पैसे के पोस्टकार्ड का प्रसार उसका ही सुधार है। डाकखाना जनसाधारण के लिए बैंक का काम करता है और वे इसमे अपना बचा हुआ धन जमा कर सकते है। यहाँ उनका धन-सुरक्षित रहता है और सकटकालीन अवस्था मे यह उनके काम आता है। टेली-फोन-प्रणाली ने दूरी का सम्पूर्णतया अन्त कर दिया, फलत. आज किसी बड़े नगर से कोई भी व्यक्ति अन्य किसी भी बडे नगर मे किसी भी मनुष्य से बात कर सकता है।

(ङ) **बेतार का तार** (Wireless) **और उड्डयन**—बीसवी सदी के ये दो आश्चर्यजनक आविष्कार है जिनका प्रचार अग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारत में हुआ। उड्डयन विभाग भारतीय यातायात तथा आवागमन का प्रमुख अंग माना जाता है। आज भारत विश्व के महत्त्वशाली देशो से हवाई मार्गो द्वारा जुड़ा हुआ है। बेतार के तार द्वारा आज विभिन्न स्थानो को तथा देश में भीतर और बाहर सन्देश भेजे और प्राप्त किये जाते हैं।

(उ) **रेडियो**—अग्रेजी शासन मे भारत मे रेडियो का प्रचार हुआ। इससे भारत समस्त विश्व के देशो से सम्बन्धित हो गया। आज रेडियो को राष्ट्रीय प्रगति के विभिन्न अगो के हेतु काम में लिया जा रहा है।

2. **कृषि और सिंचाई**—अग्रेजी शासन के समय सुदीर्घ काल तक कृषि के लिए कुछ नही किया गया। परन्तु लार्ड कर्जन ने कृषि विभाग की स्थापना की और तब से इस क्षेत्र में निरन्तर प्रगति हो रही है। 1925 ई. मे पूना मे कृषि सम्बन्धी एक अनुसन्धानशाला (Imperial Research Institute) स्थापित की गयी, कुछ प्रान्तो मे कृषि कॉलिज खोले गये और कृषको की ज्ञान-वृद्धि के लिए प्रयोगात्मक विशाल खेत बनाये गये। इससे विद्यार्थियो को कृषि-सम्बन्धी शिक्षा देना सुलभ हो गया, कृषको का कृषि सम्बन्धी ज्ञान बढ गया और वे कृषि के नवीन वैज्ञानिक सिद्धान्तो व साधनो से अधिक परिचित होने लगे, सिंचाई में उन्नति हुई और अनेक प्रान्तों मे नहरो का एक जाल सा बिछ गया जिसके परिणामस्वरूप लाखो एकड बंजर भूमि कृषि के योग्य हो गई। सक्कर बाँध, समतल घाटी योजना, हैवेल योजना, मण्डी जलविद्युत योजना और कुछ अन्योजनाएँ इन्जीनियरिंग कार्य-कुशलता के आश्चर्य-जनक उदाहरण है।

3. **व्यापार, वाणिज्य व उद्योग**—अठारहवी शताब्दी मे इंग्लैण्ड की रक्षित-व्यापार-नीति (Protectionist Policy) और उन्नीसवी सदी की मुक्त-व्यापार-नीति ने भारतीय व्यापार व उद्योग-धन्धो को भारी क्षति पहुँचाई। परन्तु अन्तिम दो विश्व-

युद्धों ने भारतीय वाणिज्य व उद्योग को खूब प्रोत्साहित किया। फलतः रुई व कपड़े का उद्योग, लोहा और फौलाद का उद्योग, पटसन, कोयला, पेट्रोलियम, सोना, मैंगनीज, रेशम, कागज, सीमेण्ट आदि भारत के प्रमुख उद्योग हो गये। यद्यपि आज उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी बाहर से नहीं आ रही है, श्रम अपर्याप्त है और औद्योगिक शिक्षण दोषपूर्ण है, फिर भी आश्चर्यजनक गति के भारतीय वाणिज्य और उद्योगों ने प्रगति की है।

4. **शिक्षा**—ब्रिटिश शासन में ही पाश्चात्य शिक्षा का बीजारोपण हुआ। पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास और ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं की शिक्षा का प्रसार भारतीय शिक्षण-संस्थाओं मे हो गया था। ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ समस्त देश मे स्थापित हो गई थी।

अंग्रेजी शासन की देन

लगभग दो शताब्दी के अंग्रेजी शासन ने भारत में अपनी देन छोड़ दी है जो अधोलिखित है :

1. **विशाल शासन-यन्त्र का संगठन व प्रबन्ध**—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के समय धीरे-धीरे एक शासन-व्यवस्था स्थापित हो रही थी। इसकी नीव लॉर्ड कार्नवालिस ने डाली थी। सिपाही-विद्रोह के पश्चात के युग मे केन्द्र व प्रान्तो मे इस शासन-यन्त्र का विकास हुआ। केन्द्रीय भारतीय नौकरियो मे भारतीय सिविल सर्विस (I.C.S.), भारतीय पुलिस सर्विस (I.P.S.) और भारतीय मेडिकल सर्विस (I.M.S.) भारतीय ऑडिट और एकाउण्ट्स सर्विस (The Indian Audit and Accounts Service), भारतीय इन्जीनियरिंग सर्विस (I.E.S.) आदि प्रमुख थी और प्रान्तीय नौकरियो मे माल-विभाग और न्याय-विभाग की नौकरियो ने ऐसे शासन-यन्त्र का निर्माण किया जिसने चालीस कोटि मनुष्यों के शासन का भार सँभाल लिया। ऐसा भार पहले किसी भी सत्ता को नही सहन करना पड़ा था। ऐसी विशाल कुशल शासन-व्यवस्था बड़े पैमाने पर शासन-कार्य चलाने के लिए योग्य व समर्थ ही नही थी, अपितु शान्ति व सुरक्षा बनाये रखकर दुर्भिक्ष, प्लेग, खाद्यान्न-समस्या, यातायात के साधन, कृषि सम्बन्धी योजना आदि को सँभालने में भी सशक्त थी। न्याय-दान उचित कानूनो के आधार पर पक्षपातरहित था और न्याय-व्यवस्था समुचित थी। भूमि का नाप व उपज का परिमाण निर्दिष्ट कर लिया गया था और कृषकों से सरकारी भूमि-कर की माँग पूर्णरूपेण स्पष्ट और निश्चित कर दी गई थी। सभी व्यक्तियो पर शासन का नियन्त्रण था। अंग्रेजो ने सुव्यवस्थित कुशल नौकरशाही द्वारा, जिसका अस्तित्व भारत मे पहले नही था, शासन किया। उन्होने यहीं के लोगो से अपने नियन्त्रण में देश का शासन-संचालन किया और उनके ही द्वारा देश पर नियन्त्रण रखा। वस्तुत: लगभग सौ वर्षों तक भारत ने शान्तिपूर्ण कुशल शासन का आनन्द उठाया परन्तु राष्ट्रीय प्रगति और सुख-वैभव की दृष्टि से अंग्रेजी शासन असफल रहा। वह लोगों की न्यायोचित माँगो को पूर्ण करने में असमर्थ था। अंग्रेजो की इस शासन-व्यवस्था ने व्यापारिक और आर्थिक शोषण की नीति अप्रत्यक्ष रूप से अपनाई, जिससे देश का धन बाहर ही बहता चला गया।

2. **लोकप्रिय राजनीतिक संस्थाओं का विकास**—भारत मे लोकप्रिय संस्थाओं मे वृद्धि के विकास का श्रेय अंग्रेजी शासन को ही है। भारत मे अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत ही जनता मे लोकतन्त्रवाद की विचारधाराएँ दृढ होती गयी और प्रजातन्त्र

की संस्थाओं का क्रमशः निर्माण होता चला गया। 1853 ई० में कतिपय मनोनीत (nominated) सदस्यों के हेतु इसका विस्तार भी किया गया। मिण्टो-मार्ले-सुधारों के समय से प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाएँ लोकमत को धीरे-धीरे प्रकट करने लगीं और कालान्तर मे ससदीय-कार्यों के शिक्षण के लिए ये बहुमूल्य स्थान हो गयी। मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधारो ने केन्द्र और प्रान्तो मे प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को कार्यान्वित करके और प्रान्तीय शासन मे थोड़ा उत्तरदायित्व देकर ससदीय प्रशिक्षण के कार्य को और भी आगे वढाया। वाद में 1935 ई. के भारत सरकार के कानून के अन्तर्गत प्रान्तो में स्वायत्त-शासन स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त लॉर्ड रिपन के स्थानीय स्वराज्य के सुधारो ने स्थानीय और म्यूनिसिपल शासन की नीव डाली। कालान्तर मे ये उच्च क्षेत्रीय प्रजातन्त्रीय सस्थाओ के लिए आधारशिला वन गये।

3. **देश का एकीकरण**—अंग्रेजी शासन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण देन भारत का एकीकरण है। सिपाही-विद्रोह के पश्चात अंग्रेजों ने जानवूझ कर एकीकरण की ऐसी प्रणाली का अनुकरण किया जिसका उद्देश्य भारतीय रियासतो मे सम्पूर्ण व सफल रूप से अंग्रेजी सत्ता स्थापित करना ही नही था वरन् समस्त भारत को एक करना था। रेल, डाक, तार, मुद्रा, नमक-व्यवस्था आदि प्रमुख वाह्य स्वरूप थे जिनके द्वारा एकता सुलभ हो गई। इसी प्रकार देशी रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तो का भेदभाव एक ही वाइसराय की अधीनता में न्यून हो गया। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त (Doctrine of Paramountcy) से अंग्रेजो ने स्वतन्त्र देशी रियासतो का अन्त कर दिया और उन्हे प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी सत्ता पर आश्रित कर दिया। इग्लैण्ड की रानी विक्टोरिया के साम्राज्वादी उपाधि ग्रहण करने और दिल्ली मे होने वाले तीन दरवारो ने विश्व के सम्मुख भारत की एकता प्रदर्शित कर दी। शासन की एकरूपता और यातायात के सुलभ साधनो ने इस एकता को और भी दृढ कर दिया। लोगो की सामाजिक विचार-धाराओ मे परिवर्तन हुआ, विभिन्न जातियो का समाजीकरण हुआ। लोगो ने प्रान्तीय दृष्टिकोण त्याग दिया और एक भारतीयता की भावना अपनाई। एकसी वेष-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, उत्सव, समारोह, राजनीतिक जाग्रति की भावना आदि ने इस प्रकार से उत्पन्न एकीकरण मे खूब सहयोग दिया।

4. **देशव्यापी शान्ति व सुरक्षा**—भारत की अंग्रेजो की अन्य महत्त्वपूर्ण देनें देशव्यापी शान्ति और आन्तरिक अराजकता तथा वाह्य आक्रमणो से सुरक्षा की देन है। विदेशी आक्रमणो से मुक्ति एवं आन्तरिक सुरक्षा से देश में सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गई। विस्तृत प्रदेशो मे प्रसारित ऐसी सुदीर्घकालीन शान्ति भारत मे पहले स्थापित नही हुई थी। ऐसी सार्वभौम शान्ति राष्ट्रीय विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शान्ति, सुरक्षा एव सुव्यवस्था के जिस कार्य का अकवर ने सूत्रपात किया था, पर मुगल साम्राज्य के पतन ने जिसे अवरुद्ध कर दिया था, अंग्रेजो ने व्यवधान उत्पन्न करने वाले विरोधी तत्वो को धीरे-धीरे नष्ट कर सर्वत्र शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित की।

5. **वाह्य देशों से सम्पर्क की पुन स्थापना**—विश्व के अन्य देशो से प्राचीन काल मे हमारा जो सम्पर्क था, अंग्रेजों ने उसे पुन स्थापित कर दिया। प्राचीन काल मे चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलाया द्वीपसमूह, वाली, वोर्नियो, ईरान, अफ्रीका, रोम साम्राज्य आदि से भारत का सम्पर्क था। मुगल राज्य के पतन के पश्चात ये वाह्य सम्वन्ध भी विच्छिन्न हो गये परन्तु अंग्रेजो ने पुन हमारा सम्वन्ध

विश्व के विभिन्न देशों से कर लिया। एशिया में ही नही अपितु अन्य महाद्वीपों से हमारा सम्बन्ध हो गया और विश्व के अन्य देशो को हमारे देश से सम्बन्धित कर दिया। मुस्लिम शासन के अन्तर्गत ऐसे सम्बन्धो की कल्पना स्वप्न में भी नही की जा सकती थी। अब भारत बदलते व प्रगति करते हुए महान विश्व के मुख्य घटना-प्रवाहों के सम्मुख है और विश्व मे होने वाले राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से प्रभावित होता है। अब आजकल एकान्त स्वावलम्वी जीवन व्यतीत करना हमारे सदस्य-ग्रामो के लिए भी असम्भव हो गया है। आज भारत अपनी प्राकृतिक सीमाओं के अन्दर एकान्त जीवन व्यतीत नही कर सकता। विश्व के अन्य देशों से यह इतना अधिक सम्बन्धित हो गया है कि विश्व की घटनाओ का प्रभाव भारत पर और भारतीय घटनाओ का प्रभाव अन्य देशों पर अवश्यम्भावी है।

6. **लोगों में एकान्विति** (Homogeneity)—अंग्रेजी शासन के एक समान स्वरूप और देशव्यापी शान्ति ने भारत मे विभिन्न जातियो और धर्मो को एक सूत्र में सगठित कर दिया। फलत. लोगों मे एकान्विति की भावना उत्पन्न हो गयी। सामाजिक समानता और जीवन व विचार की एकता की धाराएँ प्रबल हो गयी। राष्ट्रीयता के मूल आधार-स्तम्भ ये ही है।

7. **भारतीय समाज का आधुनिकीकरण**—अंग्रेजों की अन्य महान देन भारतीय समाज का आधुनिकीकरण है। धार्मिक और सामाजिक रूढियो की वेडियो से भारत मुक्त होने लगा। सती प्रथा, शिशु-हत्या, वाल-विवाह आदि कुरीतियो की अन्त्येष्टि हो गयी, अस्पृश्यता का जनाजा निकल गया और जाति-भेद का दुर्ग नष्ट हो गया। अंग्रेजी शासन के प्रभाव के अन्तर्गत ही आधुनिक सामाजिक प्रथाएँ, शिष्टाचार, खान-पान, वेष-भूषा, रहन-सहन आदि का प्रचार हुआ।

8 **आधुनिक शिक्षा**—अंग्रेजो की एक विशेष महत्वशाली देन भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा का देश में खूब प्रचार हुआ। इस विषय का विशिष्ट वर्णन अन्यत्र हुआ है। इस शिक्षा के फलस्वरूप देश मे भाषा की एकता का निर्माण और सांस्कृतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ। अंग्रेजी भाषा व शिक्षा ने स्वतन्त्रता की भावना को प्रोत्साहित किया, भारतीयो को अपनी हीन दशा का अनुभव कराया, इंगलैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति, फ्रान्स की ज्वलन्त क्रान्ति, अमरीका के स्वतन्त्रता-सग्राम और रूस की आर्थिक व राजनीतिक क्रान्ति के अध्ययन ने भारतीयो मे क्रान्ति की प्रवल भावना उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त भारत को पाश्चात्य सभ्यता के समीप लाने और भारत में नवाभ्युत्थान उत्पन्न करने का श्रेय भी अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय संस्कृति को ही है।

9. **प्रगति की नवीन भावना**—अंग्रेजी राज्य के प्रत्यक्ष कार्यो और अंग्रेजो के अप्रत्यक्ष उदाहरणो तथा पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता ने भारतीयो मे उन्नति की एक नवीन प्रवल भावना उत्पन्न कर दी। इसके साथ-साथ आलोचना की एक नवीन दिशा भी जाग्रत हो गयी। भारत के सर्वश्रेष्ठ विचारक तत्कालीन दशा से तीव्र असंतोष प्रकट करने लगे और इस असतोष के परिणामस्वरूप उन्होने हमारे राज्य, धर्म, शिक्षा, उद्योग-व्यवसाय, जीवन और विचारधारा को अधिकाधिक उत्तम बनाने का सतत प्रयत्न किया। वे पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठ वातो को ग्रहण करने लगे और अपने देश की दशा सुधारने का हार्दिक प्रयास करने लगे। हमारे सर्वोत्कृष्ट विचारक और सबसे अधिक प्रभावशाली सफल नेतागण पूर्वी अकर्मण्यता और भाग्यवाद

(fatalism) का घोर विरोध करने लगे। उन्होने अपनी दृष्टि भविष्य की ओर निर्दिष्ट कर दी। वे भूत की अपेक्षा भविष्य की ओर उत्सुकता से देखने लगे और उन्होने व्यवहार मे प्रगति के सिद्धान्त को अगीकार कर लिया। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि शासन मे अधिक विशुद्धता और कार्यक्षमता आ गयी तथा भारतीय जीवन के समस्त क्षेत्रो में विशिष्ट प्रगति हुई।

10. ललितकलाओं का पुनर्जागरण—अग्रेजी शासन की प्रसिद्ध एवं प्रशसनीय सफलता ललितकलाओ के क्षेत्र मे है। 1860 ई० मे एलेकजेण्डर कनिंघम पुरातत्त्व विभाग का सर्वप्रथम डाइरेक्टर नियुक्त हुआ। इस घटना ने तथा फर्युसन के चिरस्मरणीय ग्रन्थ ने, जिसमे भारत की वास्तुकता के भव्य स्मारको को विशद् विवरण है, ललितकलाओ के प्रति भारतीय अभिरुचि को पुन. जाग्रत कर दिया। भारत सरकार के हेतु शिलालेख सम्बन्धी विपयो के लिए डॉ० हल्टज (Hultz) की नियुक्ति भारतीय इतिहास को सूत्रवद्ध करने के एक महान कार्य का श्रीगणेश था। समस्त देश में शिलालेखो के लिए सरकारी खोज और प्राचीन भारतीय लिपियो के अध्ययन ने भारत को उस सामग्री की प्रथम किश्त प्रदान की जिससे उसके इतिहास की समुचित रचना प्रारम्भ की जा सके। कालान्तर मे अनेक शिलालेख उपलब्ध हो गये और उनके साराश उद्धृत किये गये। इन सवने भारतीयों मे ऐतिहासिक प्रवृत्ति जाग्रत कर दी तथा उनकी प्राचीन सफलता-सिद्धियो और राष्ट्रीयता मे अभिमान उत्पन्न कर दिया। भारतीयो को यह पूर्णरूपेण ज्ञात होने लगा कि उनके भाग्य मे केवल विदेशी आक्रमणकारियों की दासता स्वीकार करना ही नही था, अपितु वे एक ऐसे प्रगतिशील राष्ट्र थे, जिन्हे शताब्दियों तक निरन्तर प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता प्राप्त करने का श्रेय था। भारत मे अंग्रेजी शासन की सेवाओं मे नियुक्त यूरोपीय विद्वानो के अथक प्रयत्नो से भारतीय इतिहास के मौर्य, गुप्त, चालुक्य और पल्लव-युगो की स्वर्णिम गाथाएँ ग्रन्थो के रूप मे भारतीयो को विदित हुई और अन्त मे उन्होने अपनी भारतीय सस्कृति की देन को पहचान लिया।

भारत मे आधुनिक ढग पर सस्कृत के अध्ययन को जाग्रत करने का श्रेय भी अंग्रेज सरकार और उन विद्वानो को है जिन्हे अग्रेज सरकार आश्रय देती थी। पाश्चात्य विद्वानो ने सस्कृत साहित्य का अध्ययन किया और सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का यूरोपीय भापाओ मे अनुवाद किया। वाराणसी मे क्वीन्स कॉलेज स्थापित कर भारतीय नवयुवको को नियमित यथाक्रम से सस्कृत की शिक्षा देने का सर्वप्रथम प्रयास था। भारत के वेद, उपनिपद् तथा धर्मशास्त्र जैसे अनेक महान धार्मिक ग्रन्थ यूरोपीय विद्वानो के अनुवादो द्वारा भारत में इतने अधिक लोगो के हाथो मे अध्ययन के लिए आने लगे जितने आज दिन तक पहले कभी नही प्राप्त हुए थे।

वास्तुकला के क्षेत्र मे उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे न तो एलौरा, अजन्ता और महाबलिपुरम हमारे लिए कोई अर्थ रखते थे और न एलीफेण्टा की भव्य तक्षणकला, उड़ीसा के मन्दिर और चोल-युग की धातु मूर्तियाँ ही हमारे लिए कोई विशिष्ट महत्त्व की थी। भारतीय स्वयं अपने पूर्वजो की देन के प्रति उदासीन ही नहीं रहे अपितु उससे अनभिज्ञ हो गये थे। 'हिन्दू स्टुअर्ट' नामक व्यक्ति कदाचित सर्वप्रथम यूरोपीय था जिसने भारतीय तक्षणकला की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। कालान्तर में भारत अपने कला-कोप को पहले जान ले, इसके पूर्व ही यूरोपीय कला-मर्मज्ञो मे भारतीय कला के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। हमारी कलात्मक भावना के पुनर्जागरण के

लिए हम हैवेल, कुमारस्वामी, फर्ग्युसन और मार्शल जैसे व्यक्तियों के अति ऋणी है। उपरोक्त समस्त बातो का श्रेय निस्सन्देह ब्रिटेन को हे। यह वास्तव मे उसकी एक महान सफलता थी। ये सब बातें हमको हमारे इतिहास के नवीन अंग नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण (Renaissance) की ओर ले जाती हैं। अब हम इसका विवेचन करेंगे।

नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण

पुनर्जागरण का अर्थ और उसका महत्त्व—हमारे इतिहास की उन्नीसवी सदी की विशेषता नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण है। भारतीय पुनर्जागरण यूरोप के पुनर्जा- यह तो पुन जाग्रत राष्ट्रीय भावना द्वारा आत्माभिव्यक्ति की नवीन सृजनात्मक अन्तः प्रेरणा की खोज करने का प्रयास है जिसने दिव्य पुर्ननिर्माण के हेतु नवीन आध्यात्मिक बल दिया। अतएव भारतीय पुनर्जागरण भारतीय सास्कृतिक जीवन की नवीन यौवनावस्था है जिसने बिना प्राचीन सिद्धान्तो को तोड़े नवीन वेष-भूषा धारण कर ली है। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने ही वह मूलाधार प्रदान किया है जिस पर वर्तमान नवाभ्युत्थानोन्मुख भारत ने अपने भव्य भवन का निर्माण किया है। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण प्रमुखतः एक भावना का विषय है जिसने राष्ट्र के विकास की माँग के साथ-साथ धर्म, समाज और संस्कृति मे विलक्षण परिवर्तन कर दिये है। एक नवीन आत्म-जाग्रति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है जिससे भारतीय आत्मा की कला विकसित हो रही है और भारत वर्तमान और भूतकालीन विदेशी वातावरण द्वारा उत्पन्न बेडियो को तोड़ रहा है। आधुनिक भारत का विकास उन्नीसवी सदी के भारतीय पुनर्जागरण का केवल एक अंग-मात्र है। इस पुनर्जागरण ने भारतीय आत्मा को उसकी गहराई तक हिला दिया है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में महत्त्वशाली परिवर्तन उत्पन्न कर दिये है। आधुनिक भारत प्रत्येक विषय के लिए इस पुनर्जागरण का ऋणी है।

हैवेल ने कहा है, "बिना पुनर्जागरण के कोई भी सुधार सम्भव नही है" और यहाँ यह भी निश्चयात्मक ढग से कहा जा सकता है कि सामाजिक व धार्मिक सुधार तथा विस्तृत सास्कृतिक पुनर्जागरण के आधार पर ही नीति मे क्रान्ति हो सकती है। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में पुनर्जागरण की भावना प्रसारित हो गयी थी। अठारहवीं सदी में भारत सर्वतोन्मुखी पतन की जिस हीन दशा से घिर गया था, उसकी मुक्ति के हेतु अनेक व्यक्ति सक्रिय प्रयत्न करने लगे थे। ये ही प्रयत्न पुनर्जागरण के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुनर्जागरण का आन्दोलन एक विस्तृत आन्दोलन था जिसने राष्ट्रीय जीवन के लगभग समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया। पुनर्जागरण और पुनरुज्जीवन की भावना राष्ट्रीय जीवन के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में समाज, धर्म, साहित्य और राजनीति को प्रभावित करती हुई प्रसारित हो गयी। वास्तव में धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान, शिक्षा, राजनीति और समाज मे नवीनतम बातों का विकास हुआ। इन समस्त क्षेत्रो में ऐसे महान पुरुषो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने भारत के नाम को और भी अधिक चमकाया है।

भारतीय नवाभ्युत्थान प्रारम्भ मे एक बौद्धिक पुनर्जागरण था और इसने हमारे साहित्य, शिक्षा, कला और विचारधारा को प्रभावित किया। दूसरी पीढी से यह एक नैतिक शक्ति हो गयी और इसने हमारे समाज व धर्म को सुधारा। तीसरी पीढ़ी में इसने प्रारम्भ से ही भारत का आर्थिक दृष्टि से आधुनिकीकरण करने का प्रयास किया और अन्त मे राजनीतिक मुक्ति प्राप्त की।

पुनर्जागरण के पूर्व की दशा—जब अठारहवी सदी के मध्य मे भारत में अंग्रेजी सत्ता ने अपने पैर दृढता से जमा लिये थे, तब भारत राजनीतिक दुर्बलता और नैतिक पतन के निम्नतम स्तर पर था। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् समृद्धि नष्ट हो गयी थी, आबादी कम हो गयी थी, वाणिज्य और व्यापार मे विघ्न उत्पन्न हो गये थे, आर्थिक अव्यवस्था और अराजकता हो गयी थी तथा छोटी-छोटी रियासतो के निरन्तर संग्रामो के कारण सस्कृति पीछे ढकेल दी गयी थी। सामाजिक प्रथाओ व रूढियो मे, राजनीति, धर्म और कला के क्षेत्र मे हमने असृजनात्मक प्रवृत्ति अपना ली थी। हमने अपनी मानवता का प्रयोग करना भी त्याग दिया था। भारतीय सभ्यता व सस्कृति लगभग मरणोन्मुखी, क्षयशील एव प्रभावहीन हो चुकी थी। अठारहवी सदी के मध्य से लगभग सौ वर्ष तक वह पतन के अत्यन्त ही निम्न स्तर पर हो गयी थी। उस अन्धकारमय युग मे किसी भी भारतीय भाषा मे किसी भी सर्वश्रेष्ठ महत्त्वशाली कृति की रचना नही हुई थी। धर्म मे भी कोई नया विकास नही हुआ था और संरक्षण के अभाव मे लगभग समस्त ललितकलाएँ प्राणहीन हो विलुप्त हो गयी थी। लोगों की अनभिज्ञता तथा असावधानी एव विदेशियो के अति लाभ से ललितकलाओं के अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये थे। ऐसे कतिपय ग्रन्थ विदेशो में भी चले गये थे। थोडे समय के लिए एक बिल्कुल भिन्न पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क ने धर्म, कला, विज्ञान, दर्शन और बौद्धिक ज्ञान मे सृजनात्मक शक्ति का अन्तर कर दिया। शिक्षित वर्गो के लोग सभी पाश्चात्य वस्तुओ को बिना सोचे-समझे प्रशसा करने लगे और उन्हे अपनाने लगे तथा सभी देशी वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

सामाजिक जीवन के क्षेत्र मे अराजकता और अव्यवस्था का राज्य आ गया था। जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित नही थी। देहातों मे भाग्य की खोज करने वाले भाडे के सैनिको द्वारा लूट-खसोट, मार-पीट, खून-खच्चर और डाकेजनी की घटनाएँ होती थी। समाज के मूल मे जो सडन पैदा हो गई थी, वह सर्वप्रथम सैनिक और राजनीतिक निर्बलता के रूप में प्रकट हुई। देश उग्र सामुद्रिक शक्तियो के तीव्र आक्रमणो से स्वय अपनी रक्षा न कर सका। नौकरियो के सभी विभागों में भ्रष्टाचार, कार्यहीनता असमर्थता, अयोग्यता और छल-कपट घर कर गये थे। ऐसे पतन, विनाश, अव्यवस्था और अस्त-व्यस्तता के मध्य हमारा साहित्य, कला और धर्म नष्ट हो गया था। वस्तुत जब अंग्रेजी विजय प्रारम्भ हुई तब प्राचीन व्यवस्था नष्ट हो गई थी और उसके स्थान की पूर्ति करने के लिए कुछ भी नही था।

नवीन भारत का बीजारोपण (लगभग 1784–1830 ई०)—गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज से लेकर बैण्टिंक तक के युग मे प्राचीन व्यवस्था मृत हो चुकी थी। नवीन व्यवस्था के आगमन के हेतु यह अत्यन्त ही अनिवार्य था जिस प्रकार नवीन फसल की तैयारी के हेतु खेत मे पुरानी काटी हुई फसल के बचे-खुचे डण्ठलों को हटाना आवश्यक है, उसी प्रकार प्राचीन व्यवस्था-क्रम का विनाश भावी, सुखद, सुनहरी व्यवस्था के लिए भी अनिवार्य है। लार्ड कार्नवालिस के पश्चात आने वाला युग नवीन भारत के लिए बीजारोपण का काल था, क्योंकि इस युग के अन्त मे अर्थात विलियम बैण्टिक के शासनकाल मे भारतीय अपने देशवासियो के विचारो के पथ-प्रदर्शन मे, राष्ट्रीय जीवन के निर्माण मे और अपने देश के शासन चलाने में सम्मान-नीय भाग लेने लगे थे। परन्तु नवीन रूप से पोषित इन भारतीयो ने अपनी शक्ति और प्रेरणा पूर्व की अपेक्षा पश्चिम से प्राप्त की थी। इन्होंने अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा ली

थी, अतएव ये आधुनिक युग के कार्य के लिए पूर्णरूपेण सुसज्जित थे। भारत मध्य-कालीन युग से आधुनिक युग में प्रवेश कर रहा था। नवीन भारत के प्रादुर्भाव का यह उपाकाल था। भारतीय पुनरुत्थान का यह प्रारम्भ था।

पुनर्जागरण या पुनरुत्थान के कारण

1. **अंग्रेजों का आगमन और पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव**—अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजनीतिक हीनता और सामाजिक दुर्दशा के कारण भारत में अंग्रेज अपने पाँव दृढ व स्थाई रूप से जमाने मे समर्थ हो सके। उनके राजनीतिक विस्तार और प्रभुता के साथ-साथ उनकी आर्थिक सत्ता भी यहाँ स्थापित हो गई। उनके देश में हुए वैज्ञानिक आविष्कारो, मशीनों का असीम प्रयोग, व्यावसायिक क्रान्ति और वाणिज्य तथा व्यापार की अपार वृद्धि से भारत में अंग्रेज अपनी आर्थिक प्रभुता प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सफल हो सके। अपनी राजनीतिक सार्वभौमिकता और आर्थिक सत्ता के साथ-साथ अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति का भी बीजारोपण कर दिया। इससे भारत की प्राचीन लड़खड़ाती हुई व्यवस्था को गहरा आघात लगा। प्राचीनतम विचारधाराएँ, प्रणालियाँ तथा रूढियाँ विलुप्त होने लगी और नवीन विचारो और प्रथाओं ने उनका स्थान ले लिया। सांस्कृतिक धाराओं का एक नवीन रूप दृष्टिगोचर होने लगा। इसके अतिरिक्त भारत मे अंग्रेजो और उनके सुदृढ साम्राज्यवाद ने अनेक विरोधी तत्त्वो के मध्य हमें शान्ति, राजनीतिक एकता और शासकीय सभ्यता दी। इससे राष्ट्रव्यापी पुनर्जागरण का मार्ग सुलभ हो गया।

2. **विश्व के अन्य देशों से और विशेषकर पश्चिम से सम्पर्क**—अंग्रेजों के शासन से फलस्वरूप अमेरिका, यूरोप, चीन, जापान, रूस आदि देशो से भारतीय सम्पर्क बढा। इससे भारतीयो को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मक प्रवृत्तियों और अपरि-मित सम्भावनाओं के दृश्य निरन्तर दृष्टिगोचर होने लगे। परिणामस्वरूप, भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग जाग्रत हुआ। अंग्रेजों के आगमन से डेविड हैरी जैसे शिक्षाशास्त्री के प्रयासों, केरी जैसे धर्म-प्रवर्तकों के प्रयत्नो और मेकॉले जैसे शासकों के परिश्रम से भारत का पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढा, उसने भारतीयों के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में विशिष्ट परिवर्तन कर दिया। इन सबसे पुनरुत्थान को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

3. **अंग्रेजी शिक्षा**—भारतीय पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण यहाँ की अंग्रेजी शिक्षा है। इस अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ के लिए भारत ईसाई धर्म-प्रवर्तको का बहुत ऋणी है। इन्होने बंगाल, मद्रास व बम्बई मे अंग्रेजी पाठशालाएँ खोली। इनके उदा-हरण का अनुकरण कतिपय शिक्षाविदो और उदार भारतीयों ने किया जिनमें राजा राममोहन राय प्रमुख थे। इनकी सहायता व सहयोग से अनेक अंग्रेजी शालाएँ स्था-पित हो गयी जिनमे एक हिन्दू कॉलिज भी था जो बाद में कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलिज के रूप मे विकसित हो गया। 1835 ई. में बैण्टिक के शासनकाल मे लॉर्ड मेकॉले ने अपने निर्णय से भारतीय शिक्षणक्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। इसके अनुसार पाठशालाओ मे अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाने लगी। फलतः शीघ्र ही अंग्रेजी शालाओं की वृद्धि हुई। 1844 ई. में लॉर्ड हार्डिंग्ज ने यह घोषणा की कि शासकीय नौकरियों में उन व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जायेगी जिनका शिक्षण सरकारी अंग्रेजी शालाओं मे हुआ है। इससे अंग्रेजी शिक्षा को खूब

प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और दस वर्ष के पश्चात ही भारत में लन्दन विश्वविद्यालय के नमूने पर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयो की स्थापना हो गई।

स्कूलो और कॉलिजो मे दी जाने वाली अंग्रेजी शिक्षा ने लोगो के विचारों और दृष्टिकोण मे खूब परिवर्तन कर दिया। इस अंग्रेजी-शिक्षण ने भारतीय मस्तिष्क के बौद्धिक पृथक्करत्व को भग कर दिया और उसे पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और इतिहास के सम्पर्क मे ला दिया। फलस्वरूप, यहाँ ऐसी ही विशाल मानसिक प्रगति हुई जैसी यूरोप के राष्ट्रो मे पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दियो के पुनर्जागरण के समय हुई थी। स्कूलो, कॉलिजों और विश्वविद्यालयो मे हमारे नौजवान विद्यार्थियो के सम्मुख नवीन विचारो का एक संसार खुल गया। धार्मिक व पौराणिक भूगोल, काल्पनिक इतिहास और मिथ्या विज्ञान के स्थान पर, जिनसे वे परिचित थे, अब पृथ्वी के रूप व आकृति के विषय मे गम्भीर विशुद्ध सत्य, पश्चिम के नवीन विकसित सामाजिक राजनीतिक विचार, राष्ट्रो के उत्थान व पतन एव प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियम उनके ध्यान मे आ गये। इस सबने भारतीयो के हृदयो मे भूतकाल में भारत मे जो कुछ भी श्रेष्ठ था, उसके आधार पर राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन की तीव्र लालसा जाग्रत कर दी। वस्तुत: भारतीय पुनर्जागरण अंग्रेजी साहित्य, आधुनिक दर्शन और विज्ञान के अध्ययन से ही प्रारम्भ होता है।

4. **प्रारम्भिक ईसाई धर्म-प्रवर्तक**—जैसा ऊपर वर्णित है, सरकारी और ईसाई धर्म के प्रवर्तको के स्कूलो व कॉलिजो मे भारतीयों को अंग्रेजी माध्यम द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु इस नवीन पाश्चात्य ज्ञान के साथ-साथ हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज पर प्रारम्भिक ईसाई धर्म-प्रवर्तको के आक्रमण भी हुए। पश्चिमी देशो से भारत मे आये हुए उत्साही ईसाई धर्म-प्रवर्तक, जो हिन्दुओ की धार्मिक और सामाजिक सस्थाओ की ओर अपनी घृणा की अँगुली उठाने मे कभी नही चूकते थे, शिक्षा देने वाले और धार्मिक युद्ध करने वाले दोनो ही थे। जहाँ उन्होने शिक्षा के लिए अंग्रेजी स्कूल और कॉलिज स्थापित किये, वहाँ उन्होंने केवल नवीन धर्मनिरपेक्ष ज्ञान ही प्रदान नही किया परन्तु उन्होने यह भी शिक्षा दी कि विश्व मे ईसाई धर्म केवल एक सच्चा धर्म है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षित-वर्गों के हृदय में थोडे समय के लिए ईसाई धर्म के प्रति विशिष्ट अनुराग उत्पन्न हो गया। साथ-साथ उनमे तीव्र सन्देह की भावना जाग्रत हुई। परन्तु अन्त मे इन सबने हिन्दू धर्म को अपनी कुम्भकर्णी निद्रा से जगा दिया। हिन्दू धर्म की आन्तरिक प्रबल प्राणभूत शक्ति पुन स्वत्वारूढ हो उठी। फलत: ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन जैसे अनेक धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हो गये। ये आन्दोलन पुनर्जागरण के प्रमुख अग थे।

5. **भारतीय मुद्रणालय, पत्र-पत्रिकाएँ और साहित्य**—पुनरुत्थान के लिए भारतीय मुद्रणालय, दैनिक पत्र, मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएँ और साहित्य सशक्त, सहायक और उत्तेजक प्रमाणित हुए। हमने अपनी प्राचीन पैतृक सम्पत्ति को उन यूरोपीय लोगो के प्रयत्नो से ढूँढ लिया, जिन्होने भारतीय साहित्य और इतिहास का अध्ययन किया और ग्रन्थो को प्रकाशित किया। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने ग्रन्थो द्वारा हमारे हृदय मे हमारी ललितकलाओ के प्रति सक्रिय चेतना जाग्रत कर दी। अनेक पत्रो का प्रकाशन आरम्भ हुआ और हमे बाह्य विश्व के घनिष्ठ सम्पर्क मे ही नही लाये अपितु इन्होने हमारे देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयों

को भी हमारे सम्मुख प्रकट कर दिया। हमें अपनी दुर्दशा का आभास हुआ और इनके उन्मूलन के लिए हमारे शिक्षित-वर्ग ने दृढ संकल्प किया। इससे भारतीय पुनरुत्थान के अंग का कार्य आरम्भ हो गया।

उपरोक्त वर्णित सभी कारणो ने लोगों को झकझोर दिया और उन्हें युगों की तीव्र कुम्भकर्णी निद्रा से जाग्रत कर दिया। यह भारतीय पुनरुत्थान का सूत्रपात था। "भूत काल पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण और भविष्य के लिए नवीन महत्त्वाकांक्षाएँ इस नवीन पुनर्जागरण की विशिष्टताएँ रही। धर्म और विश्वास का स्थान विवेक और न्यायसगत निर्णय ने ले लिया था; अन्धविश्वास ने विज्ञान को आत्म-समर्पण कर दिया था, गतिहीनता का स्थान प्रगति ने ले लिया था एवं निर्दिष्ट दोषों और बुराइयों को दूर कर सुधार करने के तीव्र उत्साह ने युगो की उदासीनता व आलस्य पर विजय प्राप्त कर ली थी। शास्त्रों के परम्परागत अर्थों की समालोचनात्मक दृष्टि से जाँच की गई और नैतिकता तथा धर्म की नवीन धारणाओं ने सनातनी विश्वासो और प्रथाओ के ढाँचे को परिवर्तित कर दिया।" नवीन विचार और भावनाएँ प्रथम तो लोगों के एक छोटे-से समुदाय तक ही सीमित रही, धीरे-धीरे ये लोगों के विस्तृत क्षेत्र मे प्रसारित होती गयी और अन्त में इनका प्रभाव जनसाधारण तक पहुँच गया।

भारतीय नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण के लक्षण

1. **पुनरुज्जीवन के विविध आन्दोलन**—प्रारम्भ में पुनर्जागरण से लोगो ने महत्त्वशाली भारतीय तत्त्वो को त्याग दिया और उन सभी वस्तुओं की दासतापूर्ण नकल की जिन्हे पाश्चात्य देशवासी अच्छा समझते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि रंग व वर्ण के अतिरिक्त भारतीय और सभी बातो मे यूरोपीय बन रहे थे। इसे 'प्रगतिशील समुदाय' कहा जा सकता है। इसने यूरोप से जीवन के आदर्श और समाजशास्त्रीय तत्त्वो और मार्क्स के सिद्धान्तो को अपना लिया और भारत को उस मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया जो हमारी संस्कृति के बिल्कुल प्रतिकूल था। ऐसी परिस्थिति ने समय आने पर एक दृढ प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। फलस्वरूप, पुनरुज्जीवन की एक नवीन भावना का प्रादुर्भाव हुआ और उस प्रत्येक वस्तु का सहर्ष स्वागत किया जाने लगा जिसमें भूतकाल की सुगन्ध व रस होता था। वह पुनरुज्जीवनवादियो का समुदाय था। यह हृदय ने उनका पक्षपाती था जो प्राचीनतम तत्त्वो को अंगीकार करते थे। इन दोनो के मध्य एक नवीन आन्दोलन प्रकट हुआ जिसका सूत्रपात राजा राममोहन राय ने किया। यह भूत काल की ओर स्वयं स्पष्ट दृष्टि से देखता था और जहाँ अतीत की प्रशंसा की आवश्यकता होती थी, वहाँ प्रशंसा व समालोचना भी करता था और समय की माँग के अनुसार पश्चिम से शिक्षा भी ग्रहण करता था। इस समुदाय ने यूरोपीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ स्थाई तत्त्वो का भारतीय संस्कृति के तत्त्वों के साथ एकीकरण करने का प्रयास किया, पर इसमें भारतीय संस्कृति के प्रमुख लक्षणो का परित्याग नही किया गया। बीसवी सदी के आरम्भ मे एक नवीन आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसके प्रवर्तक श्री अरविन्द थे। इसके अनुसार भारतीय पुनर्जागरण भारत की आत्मा की शक्ति की नवीन देह मे पुनर्जन्म था। यह भारत की आन्तरिक और प्राचीन भावना का नवीन स्वरूप था। इसने सारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आध्यात्मिक उद्देश्य को अधिक कार्यान्वित करने पर जोर दिया। इसका लक्ष्य वे सभी उच्चतम कार्य हैं जिनका अन्त मानव में ईश्वरीय आत्मा की खोज और उसकी अभिव्यक्ति मे होता है। मनुष्य के मन, मस्तिष्क व भाव का विकास उनके अधिक सन्तोष और मनुष्य की श्रेष्ठ

प्रवृत्ति व प्रकृति के हेतु होना चाहिए। दूसरे शब्दो में, इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण वहु-मुखी आध्यात्मिकता मे वह चाभी प्राप्त कर ली जिससे केवल अतीत के कोप ही नही खोले जा सके अपितु पूर्व और पश्चिम दोनो के ही वास्तविक मूल्याकन के आधार पर वर्तमान का निरूपण किया जा सके।

2. **वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टिकोण**—भारतीय अपने वातावरण से अकर्मण्य, धर्म से अन्धविश्वासी, परम्परावादी और भाग्यवादी वन गये थे। पर अंग्रेजी शिक्षा से, पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति के सम्पर्क और संगर्ग से वे इन दुर्गुणो और दोपो को दूर कर सके। पुनर्जागरण ने उनकी जडता, अकर्मण्यता, अधविश्वास और भाग्य के भरोसे रहने की भावना तथा पलायनवाद को समाप्त कर दिया। अब उनमे वुद्धि विवेक की, वैज्ञानिक तर्क-वितर्क की भावना जाग्रत हुई। उन्होने वुद्धि-विवेक और वैज्ञानिक तर्क की कसौटी पर धर्म व समाज सम्वन्धी विचारो, प्रथाओं और सिद्धान्तो को जॉचना और परखना प्रारम्भ कर दिया। इससे उनको देशव्यापी जाग्रति और वहुमुखी प्रगति तथा व्यापक विकास करने की प्रेरणा मिली।

3 **हिन्दू धर्म का पुनरुज्जीवन**—पुनरुत्थान के प्रथम प्रवेश मे ही हमारे उत्साही युवकों ने भारतीय धर्मो के सिद्धान्तो और धार्मिक क्रिया-विधियों को त्याग दिया और शीघ्र ही वे ईसाई धर्म की ओर अधिक आर्कार्षित हो गये, क्योकि हिन्दू धर्म की आन्तरिक मूलभूत भावना की शिक्षा उन्हे कभी भी नही दी गई थी और उनके युग मे प्रचलित हिन्दू धर्म में वे अविवेक, अप्रियता तथा घृणा के अतिरिक्त कुछ भी नही पा सकते थे। ऐसे धर्म मे सुधार करना उन्हे असम्भव कार्य प्रतीत होता था। फलस्वरूप, सिपाही-विद्रोह के पूर्व के युग मे कृष्णमोहन वनर्जी लालबिहारी डे और कवयित्री तोरुदत्त के पिता गोविन्दत्त जैसे अनेक उच्च शिक्षित वगाली लोगो ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। परन्तु इस प्रवृत्ति का अन्त उन धार्मिक आन्दोलनो ने कर दिया जिनका उद्देश्य भारत मे धार्मिक और सामाजिक जीवन में प्राण फूंकना था। वगाल का ब्रह्मसमाज, वम्बई का प्रार्थनासमाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती का आर्यसमाज, विवेकानन्द का रामकृष्ण मिशन, मद्रास की थियोसोफीकल सोसाइटी और सिक्खो व पारसियो की सुधारवादी धार्मिक प्रवृत्तियाँ इन आन्दोलनो मे प्रमुख थी। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

इन धार्मिक आन्दोलनो के परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म की स्वाभाविक प्राणशक्ति अपने महान और दिव्य अतीत के साथ प्रकट होने लगी। प्रथम तो पुनरुज्जीवित हिन्दू धर्म अपनी प्रतिरक्षा मे लगा रहा, अपनी स्थिति को वनाये रखने मे सतर्क और डरपोक रहा तथा शत्रु से समझौता करने को भी उद्यत रहा परन्तु शीघ्र ही इसने आक्रमणकारी प्रवृत्ति अपना ली। यह साहसपूर्वक कूच कर शत्रु के खेमे मे भी प्रविष्ट हो गया तथा मानवो को एक सभ्य वनाने वाले प्रभावशाली धर्म के रूप मे अन्य धर्मो के साथ जीवित रहने का दावा दृढतापूर्वक डके की चोट पर करने लगा। यह नवीन हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म था जो पुनरुत्थान का प्रारम्भिक फल था।

इन धार्मिक आन्दोलनो के परिणामस्वरूप इस युग मे अनेक सुधारक, शिक्षक, सन्त और विद्वानों का उत्कर्प हुआ। उन्होने हिन्दू धर्म में उत्तरकाल मे घुसे हुए खराव तत्त्वो की निन्दा करके, उसके अनिवार्य और वाछनीय तत्त्वो को अनावश्यक सिद्धान्तो से पृथक करके और उसके प्राचीनतम सत्यो को अपने स्वयं के अनुभव से प्रमाणित करके हिन्दू धर्म को विशुद्ध कर सुधारा। वे यूरोप तथा अमेरिका मे इसका सन्देश ले

गये। वे अपने इस हिन्दू धर्म को उसके पौराणिक, सामाजिक और धार्मिक क्रिया-विधियों के स्वरूप से, जिसमे वह दब गया था, पृथक करने मे असमर्थ थे। उन्होने हिन्दू धर्म और उसके धार्मिक दर्शन को भारतीय जाति-प्रथा, पौराणिक गाथाएँ, धार्मिक क्रिया-विधियो और कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र रखकर उसकी व्याख्या की। इन सब बातो का परिणाम यह हुआ कि आज हिन्दू धर्म वैसा ही ताजा और सशक्त है, जैसा वह पहले किसी भी युग मे था। अब ऐसा कोई भय नही है कि हिन्दू धर्म ईसाई धर्म या पाश्चात्य सभ्यता से पराजित होकर दब जायेगा। जिस प्रकार मध्य-युग मे, मुसलमानो के दमन व आतक से और प्राचीन काल मे बौद्ध धर्म के पृथकत्व से हिन्दू धर्म बचकर जीवित रहा, उसी प्रकार आधुनिक युग मे भी ईसाइयो के धर्म-प्रचार के बावजूद भी यह जीवित रहा है। अब यह सार्वजनिक हित के लिए विश्व के किसी भी धर्म से समान स्तर पर उसके मित्र और सहयोगी के रूप मे टक्कर लेने मे समर्थ है। यदि आज विश्व अपनी अस्त-व्यस्त, अशान्त दशा मे आध्यात्मिक सन्देश की आवश्यकता का अनुभव करता है और अन्धकार मे, जिसने उसका मार्ग आच्छादित कर दिया है, पथ-प्रदर्शन के लिए प्रकाश को खोजता है तो पुनरुज्जीवित भारत अपने सबसे महान धर्म-प्रवर्तको के द्वारा इस आध्यात्मिक सन्देश व अनन्त प्रकाश को देने मे समर्थ है।

4. **सामाजिक सुधार**—ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनो और गाँधीजी जैसे नेताओ के प्रयासों के परिणामस्वरूप हमारी सामाजिक व्यवस्था मे महान परिवर्तन हुए। इन्होंने हिन्दू समाज मे महान हलचल उत्पन्न कर दी और सामाजिक सुधारो के लिए वैयक्तिक और सामूहिक प्रयासो को खूब प्रोत्साहन दिया। नवीन हिन्दू धर्म ने पीड़ित मानवता की सेवा-सुश्रूषा करने का बीड़ा उठाया। आज सैकड़ों और सहस्रो नर-नारी धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर रामकृष्ण मिशन, आर्यसमाज, थियोसोफीकल सोसायटी के भारतीय विभाग मे ही सेवा-कार्य नही कर रहे है, अपितु गाँधीजी तथा अन्य नेताओं द्वारा प्रारम्भ किये गये सामाजिक सेवा के अनेक क्षेत्रो मे भी कार्य कर रहे है। आधुनिक पुनः जागरण का एक विशाल अग सामाजिक सुधार है। वस्तुत नवाभ्युत्थान के आन्दोलन का सूत्रपात सामाजिक और धार्मिक सुधारो से ही हुआ। फलत. सती-प्रथा और शिशु-हत्या अतीत की अविश्वसनीय बात हो गयी। स्त्रियो को स्वच्छन्दतापूर्वक शिक्षा दी जा रही है। बाल-विवाह गैर-कानूनी हो गये है। विधवा-विवाह सम्भव हो गये है। बहु-विवाह अत्यन्त ही दुर्लभ हो गये है। पर्दा-प्रथा मृत है और नर-नारी की सामाजिक समानता पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी है। महिलाओ ने अनेक विभिन्न धन्धो को अपना लिया है और आज उनमे से कई विवेकशील प्रसिद्ध नेत्री हैं। विदेशी-यात्रा अब साधारण बात हो गयी है। अन्तर्जातीय खान-पान और अन्तर्जातीय विवाह पर से प्रतिबन्ध उठा लिये गये है। हिन्दू समाज के प्रतिक्रियावादी तत्त्व भग कर दिये गये है। जाति-व्यवस्था कम जटिल हो गयी है। महात्मा गाँधी को धन्यवाद है कि अस्पृश्यता का राक्षस पराभूत कर दिया गया है। इस प्रकार पुनरुत्थान ने इस ऐहिक जीवन और समाज के सुख-वैभव की ओर अधिक ध्यान देने के लिए भारत को बाध्य किया। इसने उस अकर्मण्यता और उदासीनता से भारतीयो का पीछा छुड़ाया जिसने पतन के युग में उनको अपने शिकजे मे जकड लिया था।

5. **भारतीय इतिहास की पुनःप्राप्ति**—पुनरुत्थान ने हिन्दू महानता की भावना को पुनरुज्जीवित और सुदृढ़ ही नही किया, अपितु भारतीय इतिहास की गौरवमय

दिव्य गाथाओं को भी प्रकाश मे लाने का सफल प्रयास किया। अनेक यूरोपीय विद्वानों के मन्द और शान्त श्रम ने भारत की महानता की विलुप्त गाथा को पुनर्निमित करने में खूब सहायता प्रदान की। 'जेम्स फर्ग्युसन, डॉ. बुलर, डॉ. फ्लीट, हैवेल, पर्सी ब्राउन, मार्शल और डॉ. आनन्दकुमार स्वामी जैसे पुरातत्ववेत्ताओ, मुद्रा और शिलालेख-विशेषज्ञो और कला-मर्मज्ञो ने हमारे प्राचीन स्मारको का यश-गौरव प्रकट किया और हमे हमारे अतीत पर गर्व करना सिखाया। धीरे-धीरे हिन्दू लोग इस बात को समझने लग गये कि अतीत की अनेक सदियो मे प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता-सिद्धि प्राप्त करने का श्रेय उनको है और वे किसी भी विदेशी जाति द्वारा अब पराजित नही हो सकते। अनेक नरेशो और सम्राटो के नाम जिनकी स्मृति सुदीर्घ काल से विलुप्त हो गयी थी, पुन प्रकाश में आये। अशोक के शिलालेखो का वर्गीकरण और उनके गुढाक्षरो को पढकर उनका स्पष्टीकरण करना साम्राज्यो के निर्माण की कहानी, समुद्रपार भारतीय साम्राज्य के विस्तार की गाथा और वास्तुकला के विलक्षण अतुलनीय स्मारको की कथा ने भारतीयो मे राष्ट्रीय गर्व की भावना उत्पन्न कर दी जिसे वे शताब्दियो पूर्व खो चुके थे। जदुनाथ सरकार, भण्डारकर, हरप्रसाद शास्त्री, महादेव गोविन्द रानाडे, राजवाड़े, सरदेसाई, मेकडॉनल्ड, रेपसन, स्मिथ, टॉड, ग्राण्ट डफ, एल्फिन्स्टन जैसे इतिहासज्ञों और भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट और इतिहास-मण्डल जैसी इतिहास-सस्थाओं ने भारतीय इतिहास मे हमारे राष्ट्रीय गर्व को ही प्रोत्साहित नही किया, अपितु भारत की महानता के प्राचीन इतिहास के निरूपण का मार्ग सुलभ कर दिया।

6. **हमारे प्राचीन साहित्य की पुनःप्राप्ति**—पुनरुत्थान के कारण हम अपने प्राचीन वैदिक और बौद्ध धर्म के साहित्य को पुन. प्राप्त करने मे समर्थ हो सके। वेद और उनकी टीकाएँ आर्यावर्त के मैदान मे से लगभग पूर्णरूपेण विलुप्त हो गयी थी। अब आर्यावर्त मे न तो कोई इन ग्रन्थो का विशुद्ध रूप से अध्ययन ही कर सकता था और न इनकी व्याख्या ही। इससे भी बढकर दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि यहाँ किसी के पास भी इन ग्रन्थो के मूल रूप की सम्पूर्ण हस्तलिखित प्रति नही थी। इसी प्रकार एक-सहस्र वर्ष तक बुद्ध विस्मृत हो चुके थे और बौद्ध धर्म का पाली और संस्कृत मे लिखा हुआ साहित्य भी लोग भूल चुके थे तथा उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु ये अग्रेज लोग ही थे, जिन्होंने हमारे वैदिक साहित्य को छापकर प्रकाशित किया और उसे हमारे सम्मुख लाये। यूरोपीय लोगो की विद्वत्ता और साहस ने ही बौद्ध धर्म के प्राचीन साहित्य को नेपाल, चीन, मध्य एशिया और जापान से हमे दिलवाया। अंग्रेज, फ्रेंच और जर्मन विद्वानों ने बौद्ध ग्रन्थो को यूरोप भेजा और यूरोप ने उन्हे छापकर हमारे लिए उनकी प्राप्ति सुलभ कर दी।

यूरोपीय विद्वानों ने, जिन्होने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था, भारतीयों की आँखें उस महान भण्डार के प्रति खोल दी जिसे उनके पूर्वज छोड गये थे। सर चार्ल्स विलकिंस, सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विलसन, म्यूर, मॉनियर विलियम्स और मैक्समूलर जैसे यूरोपीय विद्वानो के भारतीय सस्कृति के प्रति उत्साह ने भारत मे सस्कृत के आधुनिक अध्ययन को सर्वप्रथम प्रोत्साहित किया। इन्होने पाश्चात्य विश्व मे सस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो को प्रस्तुत करने मे अकथनीय प्रयास किये। विलकिस ने गीता का अनुवाद किया, जोन्स ने अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ 'मनुस्मृति,' 'शकुन्तला' और सस्कृत के अनेक नाटक सकलित किये। कोलब्रुक ने पाणिनि का व्याकरण व

'हितोपदेश' जैसे अनेक संस्कृत ग्रन्थों का संकलन किया। जर्मनी के ग्लासेनहेप ने संस्कृत के अनेक दर्शनग्रन्थों पर भाष्य लिखे और मध्वाचार्य पर भी उसने एक ग्रन्थ लिखा। पोलैण्ड के संस्कृत के महान पण्डित स्टेनिसला एफ. माइकेलस्की ने अपना समस्त जीवन संस्कृत और प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन हेतु अर्पण कर दिया। मैक्समूलर की प्रेरणा से भारत के अनेक धर्मशास्त्रों का अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित किया गया और पश्चिम में भारतीय दर्शन का अध्ययन किया जाने लगा। इन सब बातों से हमें प्राचीन बहुमूल्य ग्रन्थ पुनः प्राप्त हो गये, हम अपने प्राचीन विचारों, श्रेष्ठतम बातों को जान सके, भारत में विश्व की अभिरुचि जाग्रत करने में सहायता प्राप्त हुई और हमारी राष्ट्रीय भावना को अधिक प्रेरणा व उत्तेजना मिली।

7. भारत की देशी भाषाओं के साहित्य का विकास—प्रथम नवाभ्युत्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग कतिपय बहुश्रुत प्रतिभावान व्यक्तियों का उत्कर्ष था और द्वितीय, भारत की देशी भाषाओं के साहित्य का विलक्षण विकास। इस क्षेत्र में बंगाल सबका अगुआ रहा। बंगाल के महान लेखकों के प्रथम समुदाय में राजा राममोहन राय, अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ टैगोर, मधुसूदन दत्त, राजनारायण बोस, द्विजेन्द्रलाल राय और बंकिमचन्द्र थे। इनके चतुर्दिक ऐसे साहित्यिकों का उत्कर्ष हुआ जिन्होंने सृजनात्मक प्रतिभा वालों, श्रेष्ठ समालोचन व उचित प्रशंसा करने वालों, निपुण विद्वानों, संगीत व ललितकलाओं में विद्यासम्पन्न व्यक्तियों, संक्षेप में, मौलिक संस्कृति के सभी क्षेत्र के व्यक्तियों के लिए भूमि तैयार कर दी थी। ये सभी लेखक रवीन्द्रनाथ के प्रादुर्भाव के लिए उपक्रम थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने साहित्य व संस्कृति के सभी अंगों—गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, गल्प, निबन्ध, संगीत चित्रकला, नृत्य आदि को अपनी देन दी है। वे साहित्य के माने हुए सम्राट थे। इनका प्रभाव इतना विस्तृत और गहन हो गया था कि आन्ध्र, गुजरात, महाराष्ट्र और हिन्दी के साहित्य की नवीन भावनाएँ व प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में इनसे ही प्रस्फुटित हुई थीं। उर्दू-फारसी के मुहम्मद इकबाल, हिन्दी के प्रेमचन्द और बंगाल के शरतचन्द्र चटर्जी भारतीय साहित्य के अन्य महान् व्यक्ति हो गये हैं। इन्होंने नवीन शैलियाँ प्रस्तुत की और गद्य के क्षेत्र में विषयों को धर्मनिरपेक्ष बना दिया।

पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप देशी भाषाओं के साहित्यिकों की विभिन्न तीन पीढ़ियों का उत्कर्ष हुआ। प्रथम, पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा के कारण ऐसे लोगों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने यूरोप के साहित्य, दर्शन, इतिहास व विज्ञान को ग्रहण कर लिया और अपने देशवासियों के हित के लिए इनका प्रचार अपनी-अपनी भाषा के साहित्य में अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद करके किया। उन्होंने नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा का निर्माण करने का प्रयास किया। उन्होंने विचार या शैली में कोई क्रान्ति नहीं की। बंगाल के कृष्णमोहन बनर्जी, राजेन्द्रलाल मिश्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, हिन्दी के लल्लूलालजी और मराठी के 'अंग्रेजी अवतार' के लेखक इसी प्रथम पीढ़ी के हैं। इसके बाद साहित्यिकों की दूसरी पीढ़ी का उदय होता है जिसने देश-काल की नवीन क्रम-व्यवस्था को साहित्य में पूर्ण रूप से प्रकट करने की चेष्टा की। इस पीढ़ी का प्रत्येक महान साहित्यिक अपने-अपने विभाग का दिग्गज था। इस काल के साहित्यिकों ने अपनी अपनी भाषा के साहित्य में विदेशी भावना या शैली भारतीय परम्परा और आवश्यकता के अनुसार अपना ली। यद्यपि साहित्यिक भावना दृष्टिकोण, उक्ति व विषयों के निर्वाचन तथा निरूपण में ये पाश्चात्य हो गये थे,

तथापि प्राचीन भारत के जीवन व साहित्य मे जो कुछ भी श्रेष्ठ था, उससे इन्होने अपना सम्पर्क बनाये रखा। इन व्यक्तियो में बगाल के माइकेल मधुसूदन दत्त, बकिम-चन्द्र चटर्जी, हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। इसके बाद के आने वाले साहित्यिको ने इनकी परम्परा को निबाहा। तीसरी पीढ़ी उन साहित्यिको की है जिन्होने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र मे मौलिक साहित्य की रचना की है और जिसका प्रभुत्व आज भी विद्यमान है।

जहाँ तक भारत की विभिन्न देशी भाषाओ के साहित्य की बात है, हमारे आधुनिक साहित्य के विकास मे सदियो का कार्य थोड़े-से वर्षो मे पूर्ण हो गया। अग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ के पूर्व कतिपय देशी भाषाएँ इतनी कम विकसित और महत्त्वहीन थी कि आधुनिक विचारधाराएँ उनमे अभिव्यक्त नही हो सकती थी। पुनरुत्थान के पूर्व देशी भाषाएँ धार्मिक विषयो का ही वर्णन करती थी, इनमे पौराणिक गाथाएँ और वीरो की कथाएँ ही प्रमुख होती थी। गद्य का अस्तित्व तो नही के बराबर था। विचारो की अभिव्यक्ति कविता, गीतो और भजनो द्वारा होती थी। सारपूर्ण तेजस्वी कथनो और कहावतो तथा व्यापारिक पत्र-व्यवहार को छोड़कर अन्य बातों की अभिव्यक्ति के लिए कविता ही एक माध्यम था। सबसे अधिक बुरी बात तो यह थी कि स्कूलो के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का सर्वथा अभाव था। यूरोप मे 1857 ई० के पूर्व सदियों के लोकप्रिय इतिहास, उपन्यास और गल्प प्रौढों के लिए विद्यमान थे। वैसे ग्रन्थ भारत मे अज्ञात थे। पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप हमारी भाषाएँ अधिक सरल और अधिक कठिन दोनो ही हो गयी। यदि एक ओर उनमे लचीलापन, विभिन्नता, विलक्षणता और प्रवाह उत्पन्न हो गये तो दूसरी ओर उनके शब्दकोष में अत्यधिक वृद्धि हुई। उनकी प्राचीन काल की कठोरता और मिथ्या पाण्डित्य-प्रदर्शन विनष्ट हो गया। पुनर्जागरण के प्रारम्भ की दशा मे जब ईसाई धर्म-प्रवर्तको ने भारत की देशी भाषाओ मे बाइबिल का अनुवाद करना प्रारम्भ किया, तब एक गद्य-शैली का सूत्रपात हुआ। मुद्रणालय की स्थापना, भारतीय समाचार-पत्रो, मासिक पत्रो तथा पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन ने नवीन शैली के विकास में खूब योग दिया। अनेक लेखको ने विचारो को स्पष्टता के साथ-साथ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और शब्द-विन्यास की दृढता तथा विशुद्धता प्रदर्शित की।

देशी भाषाओ के साहित्य के अनेक अंगो मे अत्यधिक परिवर्तन व सुधार हुए। उन्नीसवी सदी के मध्य से ही भारतीय नाटक मे पूर्णरूपेण परिवर्तन हुआ। यह आधुनिक यूरोपीय नाटक की सम्पूर्ण नकल है। नाटक की शैली भी पश्चिमी ढग की हो गयी। यूरोपीय नाटक के अनेक अगों को अपनाने से भारतीय नाटक को लाभ ही हुआ। वस्तुत: उपन्यास और नाटक मे हमने पश्चिम से बहुत कुछ ग्रहण कर लिया। पश्चिम से ही हमने समालोचना की कला पूर्ण रूप से ले ली। इसी प्रकार हमारी देशी भाषाओ के गद्य साहित्य के अन्य अंगो का निरूपण भी पाश्चात्य नमूनो पर हुआ। मासिक पत्रो, दैनिक पत्रो तथा मुद्रणालयो ने हमारी देशी भाषाओं के साहित्य को लोकप्रिय कर दिया और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से ये धर्म-निरपेक्ष हो गये। नवाभ्युत्थान के पूर्व साहित्य मे धार्मिक विषयो का ही बाहुल्य था, परन्तु अब साहित्य के विषय जीवन के सभी अगो से सम्बन्धित रहने लगे है।

यूरोप के प्रभाव ने साहित्य मे देशभक्ति की भावना प्रज्वलित कर दी और हमारे अतीत के इतिहास के प्रति श्रद्धा व भक्ति उत्पन्न कर हमारे साहित्य को

सुसम्पन्न किया। राष्ट्रीयता की इस नवजाग्रत भावना ने भारतीय साहित्यों में दिव्य और श्रेष्ठ तत्त्व जोड दिये और उन्हें उत्तम मानवीय विचारधाराओ से ओतप्रोत कर दिया। यदि वकिमचन्द्र के उपन्यासो और द्विजेन्द्रलाल के नाटकों ने भारतीय इतिहास से अपनी-अपनी प्रेरणाएँ ली तो भारती व टैगोर के गीत, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ग्रन्थ व इकबाल के प्रारम्भिक गीत अत्यधिक राष्ट्रीय थे। वगला भाषा में एक ऐसे आधुनिक साहित्य का निर्माण हो गया जिससे जीवन का दृष्टिकोण विशाल हो गया और जिसके विविध अग सुसम्पन्न बन गये। अल्प काल मे ही वंगला साहित्य ने विश्व-विख्यात लेखक उत्पन्न किये। हिन्दी, गुजराती, मराठी, उर्दू तथा दक्षिण की बड़ी बड़ी द्राविड भाषाएँ—तेलगू, तमिल, मलयालम और कन्नड़—सभी में महत्त्वशाली विकास हुआ। फलस्वरूप, हमारे सर्वश्रेष्ठ साहित्य को अन्तरराष्ट्रीय सम्मान व ख्याति प्राप्त हो गयी एव उसमें विश्वव्यापी अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। इन भाषाओ के इस प्रकार के विकास से भारत मे विभिन्न भाषा-भाषियो और भाषा सम्बन्धी राष्ट्रीयताओ का एकीकरण हो गया। परन्तु इससे विविध भेद उत्पन्न करने वाली विशिष्टताओ की प्रवृत्तियो को भी प्रोत्साहन दिया जिससे अन्त में भाषावार प्रान्त बनाने की माँग बढी।

8. **अनुसन्धान की वैज्ञानिक भावना का विकास**—पुनर्जागरण के एक विलक्षण अग की अभिव्यक्ति अनुसन्धान की वैज्ञानिक भावना मे हुई। 1784 ई० मे वगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के पश्चात बहुसंख्यक यूरोपीय और भारतीय विद्वानों ने अध्ययन और अनुसन्धान की इस शाखा के लिए अपने आपको अर्पण कर दिया और उनके अथक परिश्रम का आश्चर्यजनक परिणाम हुआ। लॉर्ड कर्जन के प्राचीन स्मारकों के रक्षा सम्वन्धी कानून (The Ancient Monuments Preservation Act) ने अनुसन्धान के कार्य को उत्तेजना दी। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के तथा कतिपय अन्य सस्थाओ के पथ-प्रदर्शन में मोइनजोदडो, हरप्पा, नालंन्दा जैसे प्रागैसिहासिक स्थानों पर बहुमूल्य वैज्ञानिक उत्खनन-कार्य हुए जिससे भारत के प्राचीन इतिहास सम्वन्धी अनेक मतो में वहुत कुछ परिवर्तन हो गया। विभिन्न स्थलों पर अनुसन्धान व शिक्षा-केन्द्रो के समान अजायवघर (संग्रहालय) प्रतिष्ठित करने की ओर भी अधिक ध्यान दिया गया। विज्ञान और दर्शन के अध्ययन मे भी असाधारण प्रगति हुई। आधुनिक विज्ञान की उन्नति में भारत ने भी कम योग नही दिया है। विशुद्ध गणितशास्त्र के क्षेत्र मे रामानुजम की खोज और विज्ञान के अन्य विभाग में सर जगदीशचन्द्र वोस की खोज ज्ञान के क्षेत्र मे नवीन भारत की सच्ची देन है। आइन्स्टाइन की एक विशिष्ट खोज, Theory of Relativity के साथ एक भारतीय का नाम भी जुड़ा हुआ है। भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र के क्षेत्र मे विश्व-ख्याति प्राप्त करने वालो मे कतिपय प्रसिद्ध भारतीय भी है। यदि सर सी० वी० रमण और डॉ० मेघनाद साहा ने भौतिक विज्ञान मे अपूर्व कार्य किया है, तो पी० सी० राय, जे० सी० घोष और एस० एस० भटनागर भी रसायनशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों मे अपने-अपने कार्यों के लिए विश्व-विख्यात हैं। एन० सी० राय और साहनी ने भी अपनी-अपनी खोजो के लिए विस्तृत यश प्राप्त किया है। ज्योतिष के क्षेत्र मे एस० चन्द्रशेखर सवसे अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति है। डायनेमिक्स (*Steller Dynamics*) मे अपने मौलिक कार्य के लिए आज वे अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक माने जाते हैं। बी० एन० सियाल और एस० राधाकृष्णन जैसे शिक्षकों तथा अन्य लोगों की प्रेरणा से दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। राधाकृष्णन के ग्रन्थो और यूरोप व

अमेरिका मे उनके व्याख्यानो ने इन महाद्वीपो की अभिरुचि भारतीय विचारधाराओं मे अत्यधिक बढा दी है। राधाकृष्णन ने जिस अनूठे ढंग से भारत के धार्मिक और सास्कृतिक विचारो का प्रतिपादन किया है, उसने आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क को तरगित कर दिया है। इन सब कार्यो ने भारत को विश्व की दृष्टि मे बहुत ऊँचा उठा दिया है।

9. **ललित कलाएँ**—नवाभ्युत्थान की भावना से चित्रकला, वास्तुकला, सगीत, नृत्य जैसी विभिन्न ललितकलाओ के अध्ययन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। भारतीय कला की चेतना-शक्ति के पुनर्जागरण से भारत मे एक नवीन युग का उदय हुआ। मानव के सौन्दर्य के नेत्र प्राचीन भारतीय कला की दिव्यता के लिए खुल गये।

चित्रकला—सिस्टर निवेदिता और हैवेल उन विदेशियो मे से है जिन्होने भारत की कलात्मक अभिव्यजना की सच्ची भावना को पहचान लिया है और उसे विश्व के सम्मुख प्रकट किया है। इस भावना का अनूठा पुनरुज्जीवन अनेक आधुनिक भारतीय कलाकारो के कार्यो व ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर होता है। हैवेल और अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने नवीन आध्यात्मिक और सृजनात्मक चित्रकला की नीव डाली। हेवेल, जिसने भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी सहज स्वाभाविक सहानुभूति के कारण प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय कला के प्रमुख तत्त्वो को भलीभाँति पहचान लिया था, भारतीय चित्रकला के पुनरुत्थान को प्रोत्साहित करता रहा। भारतीयो पर अवनीन्द्रनाथ का प्रभुत्व क्रान्तिकारी और निश्चयात्मक रहा। अवनीन्द्र द्वारा स्थापित "The Indian Society of Oriental Art" नामक सस्था ने भारतीय कला की परम्पराओ के पुनरुज्जीवन के लिए कला का एक नवीन आन्दोलन प्रारम्भ किया। अवनीन्द्रनाथ ने अपने शिष्य, सुरेन्द्र गगोली, नन्दलाल बोस और असितकुमार हलधर सहित चित्रकला के पुनरुज्जीवन के कार्य के लिए बहुत कुछ किया। चित्रकला के पुनर्जागरण को प्रोत्साहित करने वाले अन्य प्रसिद्ध कलाकार अब्दुर्रहमान चगताई और अमृत शेरगिल थे। ललितकलाओ का पुनर्जागरण डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर और डॉ० ए० के० कुमारस्वामी का भी बहुत ऋणी है। यदि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कलाकारों के एक समुदाय को शिक्षा और प्रेरणा दी तो डॉ० कुमारस्वामी ने भारतीय कला की दिव्यता, यश और गौरव को प्रदर्शित करने एव भारतीय कला के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण मे क्रान्ति करने के लिए बहुत कार्य किये है। इनके अतिरिक्त शान्ति-निकेतन, बम्बई और लखनऊ तथा कलकत्ता के कला-मन्दिर (School of Arts) चित्रकला के पुनरुज्जीवन के लिए नवीन प्रतिभावान कलाकारो को उत्पन्न कर रहे है। बम्बई के कला-मन्दिर ने तो आधुनिक भारतीय वातावरण के लिए पाश्चात्य 'टेकनिक,' पद्धति और रीति का उपयोग कर चित्रकला मे एक नवीन शैली का विकास करने का प्रयत्न किया है।

वास्तुकला तथा तक्षणकला—चित्रकला के समान ही दो प्रकार से वास्तुकला और तक्षणकला मे पुनर्जागरण हुआ है—प्रथम, पुनरुज्जीवन उन भवनो मे दृष्टिगोचर होता है जो भारत के देशी निपुण कारीगरो और मिस्त्रियो द्वारा निर्मित किये गये हैं और जो भारतीय देशी रियासतो मे, विशेषकर राजस्थान मे उपलब्ध है। द्वितीय, पाश्चात्य नमूनो पर निर्मित किये हुए भवनों मे भी पुनरुज्जीवन का आभास है। इन भवनो मे नयी दिल्ली का पार्लियामेण्ट भवन, कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल और लखनऊ की कौसिल चैम्बर प्रमुख हैं।

संगीत और नृत्य—हमारे देश में संगीत और नृत्य में भी एक नवीन भावना का उत्कर्ष हुआ। इस क्षेत्र में भी पुनर्जागरण की एक नवीन लहर दौड़ गयी। कलकत्ता के संगीत-समाज और बम्बई के ज्ञानोत्तेजक-मन्दिर ने संगीत में एक नवीन पुनरुज्जीवन की भावना प्रज्वलित की। ज्ञानोत्तेजक-मन्दिर के एक सदस्य पण्डित वी० एन० भातखण्डे ने संगीत में नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया। उन्होंने सर्वप्रथम ग्वालियर में एक संगीत-शाला खोली और बाद में 1913 ई० में बड़ौदा में अखिल भारतीय संगीत अधिवेशन आयोजित किया। संगीत के पुनर्जागरण में सहायता देने वाले अन्य व्यक्ति विष्णु दिगम्बर थे जिनके शिष्य समस्त उत्तर भारत और बम्बई में व्याप्त थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अनेक गीत लिखकर भारतीय संगीत को पुनरुज्जीवित किया। अब बम्बई, पूना, कलकत्ता, बड़ौदा, लखनऊ, इन्दौर में भारतीय संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन व शिक्षा के लिए संगीत-शालाएँ खोल दी गयी हैं।

नृत्य में भी महान पुनर्जागरण दृष्टिगोचर होता है। भारतीय नृत्य को भी अनेक स्थलों पर प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। यदि दिलीपकुमार राय ने पश्चिम में भारतीय संगीत के प्रदर्शन से पाश्चात्य देशों में अधिक यश प्राप्त किया तो उदयशंकर ने भारत में और भारत के बाहर विदेशों में अपने नृत्य के प्रदर्शन से भारतीय नृत्यों में एक विशिष्ट अभिरुचि उत्पन्न कर दी। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञों ने उदयशंकर की उनकी नृत्यकला की निपुणता के लिए ही नहीं किन्तु आधुनिक विचारों को भारतीय नृत्य की परम्पराओं और 'टैकनिक' के साथ आश्चर्यजनक समन्वय करने के लिए भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। भारतीय नृत्य के अन्य प्रसिद्ध प्रदर्शक और प्रवर्तक श्रीमती रुक्मिणीदेवी, रामगोपाल, राधा, श्रीराम और कुमारी दमयन्ती जोशी हैं। असम के प्राचीन कुमारी नृत्य मण, विश्वभारती, मणिपुर, केरल कलामण्डलम, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, कलाक्षेत्र मद्रास, जैसी अनेक संस्थाओं में भारत के विभिन्न नृत्य और नाटकों को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रशंसनीय प्रयास किये जा रहे हैं। इनसे नृत्यकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हो रही है।

10. **औद्योगीकरण की भावना**—नवाभ्युत्थान ने आर्थिक क्षेत्र में भारतीयों को साधारण जनता की दरिद्रता और निर्धनता का कटु अनुभव कराकर पुनर्जागरण की एक नवीन भावना को जन्म दिया। अंग्रेजी सरकार की आर्थिक नीति के दोषों को और कृषि पर अत्यधिक निर्भर रहने की नीति के अवगुणों को भारतीय भलीभाँति समझने लगे। इनके निवारण के लिए औद्योगीकरण का सुझाव रखा गया। फल-स्वरूप, आर्थिक क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ, नवीन आर्थिक उद्देश्यों का उत्कर्ष हुआ तथा नवीन उद्योगों, व्यवसायों और कल-कारखानों का जन्म हुआ। इससे एक ओर पूंजी और श्रम में तो दूसरी ओर जमींदार और कृषक में संघर्ष का एक नया वातावरण बन गया। इन बातों ने भारत में समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार हेतु नवीनतम क्षेत्र निर्मित हो गया।

11. **नवीन कुलीनवंशीय मध्यम-वर्गों का उत्कर्ष**—सिपाही-विद्रोह के पश्चात अंग्रेजों ने अपने पिट्ठुओं का एक विशेष वर्ग बना लिया था। तोपों की सलामी की एक सूची निर्माण की गई थी और अनेक गर्वीली पदवियों का एक कोष बनाया गया था। 'फरजन्दे सेरे-दौलते इंगलिशिया' (अंग्रेजी साम्राज्य का प्रिय पुत्र), 'इन्दर महेन्दर' (देवताओं का सर्वोच्च देवता इन्द्र), 'सिपहे सल्तनत' (साम्राज्य की ढाल), 'खान-बहादुर,' 'राय-बहादुर', 'रायसाहब', "सर' (Knighthood), नाइट ग्राण्ड

कमाण्डर (Knight Grand Commander) जैसी दिव्य और भव्य उपाधियो की रचना की गयी। ये उपाधियाँ उन कुलीनवशीय भारतीयों और शासकीय पदाधिकारियो को दी जाती थी जो अग्रेज सरकार के अस्तित्व के पक्षपाती थे और सदैव इनकी जय-जयकार करते थे। इन उपायो के अनुसार कुलीनवशीय लोग अग्रेजी साम्राज्य के पक्ष में कर लिये गये थे। देशी राजकुमार, नरेश, वडे वडे जमीदार इन उपाधियो को प्राप्त करने मे तथा अग्रेजी सरकार की सवसे अधिक स्वामिभक्त प्रजा औरसेवक माने जाने मे परस्पर एक-दूसरे की स्पर्द्धा करते थे। वडे-वडे शासक और नरेश अग्रेज सम्राट से उपाधियाँ और पदक प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते थे और जव मिथ्या एवं अर्थहीन सैनिक उपाधियाँ उन्हे दी जाती थी तो वे अपने आपको अत्यधिक प्रतिष्ठित समझते थे। रायसाहव और नाइट ग्राण्ड कमाण्डर (Knight Grand Commander) की उपाधियाँ प्राप्त करने वाले महानुभाव अपने आपको ब्रिटिश साम्राज्य के स्तम्भ मानते थे। यदि कुलीन वशो के लोगो पर इस प्रकार विजय प्राप्त कर अग्रेजो ने उन्हे अपने पक्ष मे कर लिया तो उन्होने मध्यम-वर्ग के विकास और वृद्धि के लिए भी प्रोत्साहन दिया। यह मध्यम-वर्ग अग्रेजी साम्राज्य को एक भार की अपेक्षा स्वर्ण अवसर मानता था। इसे ये एक सौभाग्य की घटना मानते थे। मध्य युग मे भारतीय नौकरशाही-वर्ग—कायस्थ, ब्राह्मण, खत्री, और अन्य—पर क्षत्रियो का अथवा सामन्तीय रजवाडो का महत्त्व भी विलुप्त हो गया था। भारत के ब्रिटिश प्रान्तो मे नवावो, राजाओ, महाराजाओं, सरदारो और ठाकुरो को कोई भी शक्ति और अधिकार नही थे। धीरे-धीरे उनकी सव सत्ता छीन ली गयी थी। इसके अतिरिक्त जव से राजपूत, जाट, मेवाती जैसी लड़ाकू साहसी जातियो को भारतीय सेनाओ मे रहकर संतोप करना पडा, तव से इन वीर जातियो का महत्त्व चला गया था। अतएव अव सत्ता, अधिकार व प्रभाव उन जातियो को चले गये थे जिनमे से क्लर्क, वावू और पदाधिकारियो की विशाल सेना के लिए भरती होती थी। जव अग्रेजी शिक्षा का देशव्यापी प्रचार हुआ तव इन मध्यम-वर्ग की जातियो के भेद पूर्णतया स्पप्ट हो गये। उन्नीसवी सदी के अन्तिम वर्षों मे डबल्यू० वी० वनर्जी व फीरोजशाह मेहता जैसे वकील, सुरेन्द्रनाथ वनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले और वालगगाधर तिलक जैसे शिक्षक, राजा माधवराय और आर० सी० दत्त जैसे शासनकर्ता एव जी० सुब्रह्मण्य अय्यर और मोतीलाल घोप जैसे पत्रकार इन्ही जातियो मे से आये। उदार उद्योग-धन्धों के व्यक्ति, परोपकार और लोक-कल्याण के कार्य करने वाले मनुष्य तथा उच्च-अधिकारीगण भी इन्ही जातियो से लिये जाते थे। इन जातियो के लिए सरकारी नौकरी के अतिरिक्त वकीली, डॉक्टरी, मास्टरी, और पत्रकारिता के ही धधे खुले थे। ये जातियाँ दूसरो की अपेक्षा अधिक शिक्षित थी। उनमे राष्ट्र की तत्कालीन आवश्यकताओ का विस्तृत समुचित ज्ञान था एव उनमें एकता व दृढता की भावना विद्यमान थी तथा वे आधुनिक भारत की प्रगति के पक्ष मे थे। कालान्तर मे ये जातियाँ मध्यम-वर्गो के नाम से प्रख्यात हो गयी। प्राचीन कुलीनवशीय लोग और सामन्तीय रजवाडे अपनी दिव्य अतीत की स्मृति को याद करके जीवित रहने लगे परन्तु धीरे-धीरे वे अपना प्रभुत्व और प्रतिष्ठा खो वैठे।

पुनर्जागरण और पुनरुत्थान के कार्य मे इन मध्यम-वर्गों ने अत्यधिक भाग लिया। औद्योगिक क्षेत्र को छोडकर वाकी समस्त क्षेत्रो मे नवीव भारत का निर्माण इन मध्यम-वर्गों का ही कार्य था। ये नवीन शिक्षण और ज्ञान के प्रवर्तक थे तथा

जो नवीन भारत बन रहा था, उसके ये दीपदर्शक थे। इन्ही वर्गों ने ही पुनरुत्थान और पुनर्जागरण की भावना को प्रोत्साहित किया, धार्मिक आन्दोलनो और सामाजिक सुधारो को उत्तेजना दी और राष्ट्रीय आन्दोलनो की नीव डाली। उसे संगठित कर सफल बनाया। इन बातो का वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा।

व्यापक राष्ट्रीयता—पुनर्जागरण की भावना ने भारतीयो में सांस्कृतिक एकता, सगठन और समन्वय की भावना उत्पन्न की। उन्हें अपने राष्ट्र के प्रति अधिक गर्व और गौरव, प्रेम और लगाव उत्पन्न हुआ। भारत की प्राचीन गौरवमयी उपलब्धियो ने भारतीयो मे आत्मविश्वास और राष्ट्र प्रेम जाग्रत किया। राष्ट्रीयता की व्यापक लहर फैल गयी और इसकी परिणति स्वतंत्रता प्राप्ति मे हुई।

पुनरुत्थान या पुनर्जागरण के परिणाम

ऊपर पुनरुत्थान या नवाभ्युत्थान का अर्थ, उसका महत्त्व, उसके कारण व उसके विविध अगों का विवेचन हो चुका है। अब हम संक्षेप में यहाँ नवाभ्युत्थान के परिणामो पर प्रकाश डालेगे।

पुनर्जागरण-आन्दोलन ने उस आधार-शिला को रखा जिस पर आधुनिक भारत की नीव पड़ी। इस पुनरुत्थान से ही भारत ने कई शताब्दियो की कुम्भकर्णी निद्रा त्याग दी। इससे भारत मे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और आर्थिक क्षेत्र में विलक्षण जाग्रति और अपूर्व प्रगति हुई।

(1) **सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन तथा प्रगति**—सामाजिक क्षेत्र में पुनर्जागरण की जो लहर व्याप्त हुई उससे समाज की कायापलट हो गयी। जब ब्रिटिश राज्य भारत मे स्थापित हुआ था तब भारतीय समाज मे सती-प्रथा, बाल-वध, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, अशिक्षा, अस्पृश्यता और जटिल जाति-व्यवस्था जैसी घातक और अनिष्टकारी कुप्रथाएँ प्रचलित थीं, इससे समाज की दुर्दशा हो गयी थी और देश का अधःपतन हो गया था। परन्तु नवाभ्युत्थान के कारण इन कुप्रथाओ का निवारण हो गया और सामाजिक दशा सुधर गयी। फलतः आज भारतीय समाज प्रगतिशील हो रहा है। देश मे सर्वांगीण सुधार की ज्योति जगमगा रही है। आज अन्धविश्वास और श्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ने ग्रहण कर लिया है एवं उदारता व स्वतन्त्र विचार कट्टरता और शास्त्रवाद पर विजयी हो गये है। धार्मिक क्षेत्र मे जो जाग्रति हुई, उससे भारतीयो ने देशव्यापी दुर्व्यवस्था देखी और लोगो को विविध अन्धविश्वासो, जटिल रूढियो, बाह्य आडम्बरो, नीरस खर्चीली क्रियाविधियो, शुष्क कर्मकाण्ड तथा भ्रान्त विचारो मे फँसा देखा। इनके निवारण के लिए देशव्यापी धार्मिक आन्दोलन हुए। राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, श्री अरविन्द, महर्षि रमण प्रभृति महापुरुषों ने प्राचीन धार्मिक सत्यो को पुनः प्रतिष्ठित किया, विश्व को भारतीय आध्यात्मिकता का सन्देश दिया और भारत का मस्तक ऊँचा किया। भारतीयो को अपने हिन्दू धर्म में दृढ विश्वास हुआ, स्वर्णिम अतीत का ज्ञान हुआ और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिये आशा व विश्वास का सचार हुआ।

(2) **साहित्यिक प्रगति और परिवर्तन**—साहित्यिक क्षेत्र में जो पुनर्जागरण हुआ, उसके फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वानो और अंग्रेज पण्डितो ने संस्कृत का अध्ययन किया जिससे भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ। भारतीयो को अपने राष्ट्र के

विलुप्त यश-गौरव और अतीत के स्वर्णिम इतिहास का प्रामाणिक परिचय मिला। इससे भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण हुआ। भारतीयो ने अपने अतीत की निधि और सास्कृतिक देन की रक्षा का बीडा उठाया। अग्रेजी शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य विचारो के प्रचार से भारतीयों मे बौद्धिक जागरण हुआ जिसकी विलक्षण अभिव्यक्ति प्रान्तीय भाषाओं के विकास मे हुई। बकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र, प्रेमचन्द्र, इकबाल, मैथिलीशरण गुप्त, त्रयम्बक, बापूजी ठोमरे, वीरेशलिगम आदि विभूतियो ने देशी भाषाओ के साहित्य को सुसम्पन्न किया है।

(3) **ललितकलाओं का पुनरुज्जीवन और विकास**—पुनर्जागरण के फलस्वरूप भारतीयो का ध्यान विविध ललितकलाओ की ओर भी गया। चित्रकला ने प्राचीन परम्परा से प्रेरणा पाकर नयी शैली का विकास किया। सगीत और नृत्य मे भी प्राचीन शैलियो का उद्धार हो रहा है। सगीत और वाद्यो की शिक्षा अनेक स्थलों पर दी जा रही है और भारतीय नृत्यकला को पुनरुजीवित किया जा रहा है।

(4) **ज्ञान-विज्ञान में नवीन प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ**—ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयो ने नवीन भावनाओ, अनुराग और प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर अपूर्व योगदान दिया और प्रशसनीय उपलब्धियाँ प्राप्त की। वैज्ञानिक क्षेत्र मे प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बोस, श्रीनिवास रामानुज, चन्द्रशेखर वेकटरमण, मेघनाथ साहा, बीरबल साहनी, श्रीकृष्ण आदि ने अपने अनुसन्धानो और आविष्कारो से भारतीयो मे यह आत्मविश्वास जाग्रत कर दिया कि वैज्ञानिक क्षेत्र मे पाश्चात्य वैज्ञानिकों का ही एकाधिकार नही है अपितु भारतीय वैज्ञानिक भी उसमें अनूठी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकते है। इसके अतिरिक्त विज्ञान मे भारत का मस्तक ऊँचा कर वैज्ञानिक अनुसन्धानो मे अनुराग की जो वृद्धि इन्होने की है, वह भारत के उज्जवल भविष्य का सूचक है।

(5) **आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन और विकास**—आर्थिक क्षेत्र मे पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारो और यन्त्रो के आधार पर भारत का औद्योगीकरण करने का प्रयास किया गया है। इससे नवीन कल-कारखानो का जन्म हुआ, उत्पादन में वृद्धि हुई और टाटा, डालमिया, बिडला जैसे उद्योगपतियो का प्रादुर्भाव हुआ। इसके परिणामस्वरूप यद्यपि आर्थिक जीवन मे कायापलट हो गयी, तथापि पश्चिमी देशो के आर्थिक सिद्धान्त और नवीन राजनीतिक विचारधाराएँ देश मे प्रविष्ट हो गयी। देश साम्यवाद, समाजवाद, आदर्शवाद, पूँजीवादक व्यक्तिवाद आदि का सग्राम-स्थल बन गया। वास्तव मे यह सब भारत की पाश्चात्य सस्कृति की देन है।

(6) **राजनीतिक स्वतंत्रता**—पुनर्जागरण से राजनीतिक क्षेत्र मे जो जाग्रति हुई और नवचेतना का जो सचार हुआ उससे नवीन राष्ट्रीयता की देशव्यापी लहर उत्पन्न हुई और अग्रेजी सत्ता और सरकार के विरुद्ध सघर्ष और विद्रोह की भावना का उत्कर्ष हुआ, स्वतंत्रता और त्याग व बलिदान की भावना से ओत-प्रोत एक नवीन पीढी का प्रादुर्भाव हुआ। इसके परिणामस्वरूप दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल लाला लाजपतराय, पण्डित मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाधी, सरदार पटेल, राजगोपालाचारी, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू आदि के नेतृत्व मे अग्रेजो से सघर्ष कर भारत ने शताब्दियो की परतन्त्रता की शृ खलाओ को तोड़कर अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता पुनः प्राप्त की।

पुनर्जागरण की प्रगति के साथ-साथ भारत पर पश्चिम का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। अब नीचे हम पश्चिम के इस प्रभाव का विस्तृत विवेचन करते हैं।

भारत और पाश्चात्य देश व उनकी संस्कृति

भारत में पाश्चात्य ईसाई धर्मावलम्बी सामुद्रिक शक्तियों के आगमन से देश में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति भी आ गयी। इसने भारत में केवल नवीन तत्त्व ही प्रस्तावित नहीं किये, वरन भारतीय समाज के व्यवस्था-क्रम को भी भंग कर दिया। इससे परिवर्तन का युग प्रारम्भ हो गया जिसका अन्त अभी तक नहीं हुआ है और इससे भविष्य को अभी भी कोई निर्दिष्ट रूप में नहीं देख सका है।

विलक्षण विरोधाभास और अस्त-व्यस्तता— अंग्रेजी शासन ने देश में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर दी। स्वभाव से अंग्रेज प्रगतिशील और अनुदार माने जाते हैं। उनमें प्रगति और परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद उन्होंने यहाँ उन सभी व्यक्तियों और संस्थाओं का विरोध किया जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के लिए कार्य करते थे। इसके साथ-साथ उन्होंने समाज में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का संगठन कर उनको खूब प्रोत्साहन भी दिया। इसके अतिरिक्त यहाँ के लोगों को दास और अगम्य समझते थे। यह के निवासियों की प्राचीन दिव्य गौरवमयी संस्कृति की प्रशंसा करने और उसके विकस में सहायता देने के लिए अंग्रेज सर्वथा असमर्थ थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारत में विचार और कार्य में एक विलक्षण प्रकार का विरोधाभास और अस्त व्यस्तता उत्पन्न हो गयी। हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के उद्देश्य भी धुंधले हो गये और उनमें भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजों की छत्रछाया में हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति भी ऐसी कर दी गयी कि हमारा देश विरोधाभास का देश कहा जाने लगा। आर्थिक दृष्टि से भारत सुसम्पन्न देश कहा जाता है परन्तु वस्तुतः यह दरिद्र वैभवहीन लोगों से भरा पड़ा है; राजनीतिक दृष्टि से इसे स्वतंत्र गणतन्त्र मान गया है, किन्तु इसमें अज्ञानता और निरक्षरता का घोर अन्धकार है; धार्मिक दृष्टि से इसे आध्यात्मिक क्षेत्र व विश्व का दीप-दर्शक और पथ-प्रदर्शक समझा गया है लेकिन यहाँ के निवासी अनेक अवांछनीय अन्धविश्वासों और निरर्थक कर्मकाण्ड में अत्यधिक श्रद्धा रखते हैं; नैतिकता में यह बुद्ध और गाँधीजी के अहिंसा और सत्य के मार्ग का अनुकरण करने वाला समझा जाता है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यहाँ भ्रष्टाचार, पक्षपात काले बाजार का बोलबाला है।

पाश्चात्य संस्कृति की चुनौती और उसका परिणाम—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारी संस्कृति की विभिन्न धाराएँ शुष्क और नीरस हो गयी थी। ललितकला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म में सृजनात्मक प्रवृत्ति निष्क्रिय हो गयी थी और बौद्धिक जीवन नीरस हो गया था एवं समाज के विविध तत्त्वों में कुप्रथाओं के कारण सड़न-सी उत्पन्न हो गयी थी। इन सबके निवारण के लिए हमें गहरे आघात की आवश्यकता थी जो झकझोर कर हमारी कुम्भकर्णी निद्रा और अवांछनीय अकर्मण्यता को दूर करता। यह आघात पाश्चात्य देशवासियों और उनकी संस्कृति ने दिया। यह मान लेना कि इस आघात, चुनौती और पाश्चात्य सभ्यता का भारत में प्रवेश अंग्रेजी शासन के कारण ही हुआ, युक्तिसंगत नहीं है। कभी-कभी तो अंग्रेजों ने पश्चिम के लाभप्रद प्रभाव को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के द्वारा रोकना

चाहा, परन्तु चीन व जापान के समान भारत में भी पाश्चात्य प्रभाव ऐतिहासिक क्रम व काल का परिणाम है।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने हमारी समस्त प्राचीन धारणाओ, विश्वासो और महात्म्य को चुनौती दे दी। फलस्वरूप, धर्म. विश्वास और प्रथाओ के प्राचीन स्वरूप लडखडा गये; सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाएँ तुमुल नाद के साथ ढह गयी। तव पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता ने भारत मे हमारी सास्कृतिक सस्थाओ के भग्नावशेषों पर अपना भव्य भवन खडा करना चाहा। इस घटना ने पश्चिमी सभ्यता व सस्कृति के सम्पर्क में आने वालो के दृष्टिकोण में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयो ने जीवन के पाश्चात्य ढगो और रीतियो की नकल विवेकशून्य होकर की। वास्तव मे कुछ लोगो ने भारतीय भूमि पर नवीन यूरोप वसाने का प्रयत्न किया। परन्तु यह क्रम भारतीय नवाभ्युत्थान और पुनजर्गारण ने रोक दिया। फिर भी पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति वे हमारी सस्कृति पर स्थायी चिह्न छोड़े है। इनका विवेचन अधोलिखित है :

पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव समस्त वर्गों, ग्रामों और नगरों तक व्याप्त—इस्लाम के आगमन से प्रमुखतया हिन्दू सामन्तगण 'और कुलीनवंशीय लोग एव नगरो के निवासी ही प्रभावित हुए। उन्होने नगरो के सम्पूर्ण समाज का रूप और अग ही नही; अपितु उसकी प्रवृत्ति भी वदल दी। इसके विपरीत, पाश्चात्य संस्कृति ने, जिन परिवर्तनो का सूत्रपात किया, वे नगरो तक ही सीमित नही रहे, अपितु वे ग्रामो मे भी अपने प्रभाव की वृद्धि करते हुए पहुँच गये। पाश्चात्य सस्कृति से हमारे नगरवासी ही नही किन्तु ग्रामवासी भी अत्यधिक प्रभावित हुए। एक वर्ग-विशिष्ट पर ही नही वल्कि सभी वर्गों पर उसका प्रभाव पडा। समय, दूरी और गतिहीनता की समस्या को दूर करने वाले यातायात के आधुनिक साधनो के कारण पाश्चात्य प्रभाव और प्रसार का यह क्रम अत्यधिक शीघ्रता से होता गया।

शिक्षा में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव—पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता का सर्वप्रथम प्रभाव और प्रसार शिक्षण के क्षेत्र मे हुआ। ईसाई धर्म-प्रवर्तको द्वारा जो अग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ की गई थी, उसे मेकॉले के निर्णय और लार्ड हार्डिंग्ज के शासनकाल की घोषणा ने खूव प्रोत्साहित किया। शिक्षा की इस पाश्चात्य पद्धति ने भारत मे ऐसे शिक्षित वर्गो का निर्माण किया जिन्होने अपने आदर्श और विचार-प्रणालियाँ देश की प्राचीनतम परम्पराओं से नही किन्तु पश्चिम से ग्रहण की। इससे भारत मे शिक्षित और अशिक्षित वर्गो के मध्य विशाल खाई उत्पन्न होती गई। इसके साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा से देश मे नवीन मध्यम-वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे उनकी विविध समस्याओ का भी उत्कर्ष हुआ जिनको हल करने मे देश की कायापलट हो गई।

देशी भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव—पाश्चात्य सभ्यता व शिक्षा का प्रभाव हमारी देशी भाषाओ के साहित्यों पर खूव हुआ। इसने यद्यपि भारत के प्राचीन जीवन और साहित्य मे परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित कर दिया था, तथापि देशी भाषाओ के सर्वश्रेष्ठ नमूने, भावना, दृष्टिकोण, साहित्यिक युक्तियो, साधनो तथा विषय के निर्वाचन व प्रतिपादन मे पाश्चात्य ही रहे। उन्होने पश्चिमी सभ्यता व

संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने पश्चिम की भावना अर्द्धपूर्वीय वेष-भूषा में प्रदर्शित की।

अंग्रेजी माध्यम के द्वारा अंग्रेजी साहित्य ही नही अपितु पाश्चात्य देशों के विविध साहित्यो के अध्ययन का सुअवसर भी भारतीयों को मिला। इन साहित्यों में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, समानता आदि का साहित्य के विविध अगो के साथ-साथ जैसा निरूपण हुआ है, उसकी गहरी छाप हमारी देशी भाषाओं के साहित्यो पर पडी है। 1919 ई० के पूर्व के हमारे 'राजनीतिक नेतागणों ने अपने व्याख्यानों और लेखों हेतु पाश्चात्य साहित्य से ही प्रेरणा ग्रहण की और उन्हें पाश्चात्य साहित्य के ढंग पर ही ढाला एवं विचार तथा कार्य मे उन्होने सक्रिय रूप से अंग्रेज नेताओ व वक्ताओं की नकल की। अंग्रेजी ग्रन्थो और पुस्तकों ने हमारे देश में नवीन विचारधाराएँ प्रस्तुत की। पाश्चात्य साहित्य ने साहित्य के विविध क्षेत्रो में विभिन्न नमूने प्रदर्शित किये जिनकी नकल हमारे साहित्यकारों ने की।

हमारा गद्य साहित्य प्रायः अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद से ही शुरू होता है। हमारे गद्य साहित्यकारों ने पाश्चात्य आदर्शों के अनुकूल ही लेख लिखे है। उन्होने अपने लेखो व निबन्धों में पाश्चात्य कथानक शैली का अनुकरण किया। स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर भी इस अपवाद से मुक्त नही है।

भारतीय नाटको पर पाश्चात्य नाटको की छाप पड़ी। वर्तमान भारतीय नाटकों मे रंगमंच के विस्तृत संकेतो का प्रयोग तथा सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं का विश्लेषण पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव का फल है। इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नार्ड शॉ जैसे पाश्चात्य नाट्यकारों की शैली एवं प्रवृत्तियो की नकल भारतीय नाटककारों ने की। हमारे साहित्य मे एकांकी नाटक एवं समस्या नाटक का प्रादुर्भाव पाश्चात्य नाटक-साहित्य के प्रभाव का स्पष्ट फल है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री अश्क, श्री प्रेमी, श्री उदयशकर भट्ट, श्री कैलाशनाथ भटनागर, सेठ गोविन्ददास जैसे नाटककारों की कृतियों मे पाश्चात्य नाटक-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर है।

छोटी-छोटी कहानियों और उपन्यासों मे भी पाश्चात्य साहित्य की गहरी छाप है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो हमारे साहित्य मे इनका सर्वथा अभाव ही रहा। पश्चिमी गल्पो और उपन्यासो के अनुवाद के साथ-साथ इस क्षेत्र में मौलिक रचनाओं का भी प्रारम्भ हुआ। ये मौलिक रचनाएँ भी विचारधारा, शैली और विषय के चुनाव में पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त नही रही। उनमें पाश्चात्य कथानक और शैली का अनुकरण किया गया। समालोचना मे पाश्चात्य तत्त्वों को अपनाया गया।

काव्य के क्षेत्र में भी पश्चिम की छाप पडी। अंग्रेजी सॉनेट (Sonnet) और ओड (Ode) का अनुकरण करके 'चतुर्दश पदियाँ' और 'सम्बोधन गीत' लिखे गये। अतुकान्त कविताओ (Blank Verse) का भी खूब प्रचार बढा। बंगला मे मधुसूदन दत्त और हिन्दी मे अयोध्यासिह उपाध्याय ने अतुकान्त कविता मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। अंग्रेजी गीतो (Lyrics) का भी खूब अनुकरण होने लगा। प्रेम की कविताओं और छायावादी कविताओ मे अंग्रेजी विचारो और शैली का अनुकरण किया गया। निबन्ध में भी पश्चिम की नकल की गई। देशी भाषाओं के कोष और व्याकरण बनाने में पाश्चात्य विद्वानो का खूब हाथ रहा। ईसाई पादरियों और धर्म-प्रचारको ने बाइ-

बिल का सन्देश जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए देशी भाषाओं के लिए टाइप निर्माण किये, मुद्रणालय खोले और देशी भाषाओ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन भाषाओं के व्याकरण और शब्द-कोष बनाये। अधिकतर सभी प्रान्तीय भाषाओ के प्रथम व्याकरण-लेखक ईसाई पादरीगण है। पश्चिमी विद्वानो ने देशी भाषाओ के इतिहास भी लिखे है और उनके विकास और प्रचार के लिए संस्थाएँ भी स्थापित की है। 1848 ई० मे फार्ब्स ने 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसइटी' की स्थापना की जिससे साहित्य की उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न किये जाने लगे। अग्रेज पादरियो व धर्म-प्रवर्तको ने मराठी भाषा के ऐसे कोष व व्याकरण-ग्रन्थ निर्मित किये कि मराठी का नया विकसित रूप प्रकट होने लगा, पर यह रूप प्राचीन परम्पराओं से इतना भिन्न हो गया कि श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने तो अपने निबन्धो मे मराठी के इस नवीन अंग्रेजी रूप की खूब खबर ले ली।

पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत देशी भाषाओ के मुद्रणालय स्थापित किये गये और समाचार-पत्र व अखबार निकाले गये। 1780 ई मे हिकी (Hicky) ने प्रथम अग्रेजी पत्र 'बगाल गजट' प्रकाशित किया। इसका अनुकरण करके 1816 ई. मे देशी भाषा का प्रथम भारतीय पत्र 'बगाल समाचार' निकला और 1822 ई. से गुजराती 'बम्बई समाचार' प्रकाशित होने लगा। 1845 ई. में हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र 'बनारस अखबार' निकला। देशी भाषाओं के इन पत्रो तथा मालिको ने हमे विश्व के अन्य देशो से ही सम्बन्धित नही किया, वरन उन देशो ने साहित्यावलोकन मे तथा उनके श्रेष्ठ अगो का अनुकरण करने का सुअवसर भी दिया।

हमारे देश की प्राचीनतम भाषा संस्कृत के अध्ययन का पुनरुद्धार तो अग्रेजी भाषा के द्वारा हुआ। सस्कृत सीखने वाला प्रथम अंग्रेज चार्ल्स विल्किस था और संस्कृत का समुचित महत्त्व समझने वाला व्यक्ति सर विलियम जोन्स था जो 1783 ई. मे कलकत्ता की सुप्रीम कोर्ट का न्यायाधीश नियुक्त होकर भारत आया था और जिसने पूर्वी साहित्य और ज्ञान-विज्ञान की खोज करने के लिए 'बगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की थी। विल्किस, विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विलसन, विलियम्स, मैक्समूलर आदि विद्वानो ने सस्कृत का अध्ययन किया, प्रसिद्ध सस्कृत ग्रन्थो का सकलन और अनुवाद किया और विश्व का, विशेषकर भारतीयो का, ध्यान सस्कृत की ओर अधिक आकृष्ट किया।

पाश्चात्य सभ्यता और भारतीय राजनीति—राजनीतिक क्षेत्र मे पाश्चात्य ढग के विचारो और शासन ने हमे राजनीतिक एकता तथा वैधानिक नियमो की भावना और स्वतन्त्रता व समानता की प्रबल उत्कण्ठा दी है। पाश्चात्य विचार-प्रणालियो से ही भारत मे राष्ट्रीय चेतना व जाग्रति का विकास हुआ और उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुत राष्ट्रीयता की भावना पश्चिम से ली गई और इसने आधुनिक भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया है। वाशिंगटन, क्रॉमवेल, मेजिनी, गैरीबाल्डी, नेपोलियन आदि से हमने राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्रीयता के लिए प्रेरणा ली। राजनीतिक जाग्रति और राष्ट्रीयता की लहर मे देश के सभी तत्त्व एक हो गये। परन्तु इतने पर भी अग्रेजी शासन ने साम्प्रदायिकता और पृथक निर्वाचन की दूषित प्रणाली का सूत्रपात कर दिया। इसका अन्त हमे देश का विभाजन करके करना पड़ा।

अग्रेजी शासन की समानता, शान्ति, एकता और शासन-विधान के विकास तथा पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तो के प्रसार से हमारे देश मे लोकतन्त्रीय और

प्रजातन्त्रीय संस्थाओं पर अधिक जोर दिया जाने लगा। राष्ट्रीयता की भावना और प्रजातन्त्र के विचारो ने देश मे अंग्रेजी सत्ता और शासन के विरुद्ध तीव्र असंतोष के बीज बो दिये। देश की बढती हुई दरिद्रता और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के विनाश से यह असंतोष अधिक गहरा और देशव्यापी होता गया। फलस्वरूप, मध्यम-वर्ग अधिक उग्र हो गये और अपने स्वत्वों की रक्षा व राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए उनकी माँगे उत्तरोत्तर बढने लगी। इसके अतिरिक्त वे साम्यवाद, समाजवाद, व्यक्तिवाद जैसे पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों को अपनाने लगे।

भारतीय समाज और पाश्चात्य सभ्यता—पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के प्रभाव से हमारे समाज मे एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है। एक ओर अनुदार प्रतिक्रियावादियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अतीत की दुहाई देकर हमारे सामाजिक ढाँचे पर पश्चिम की काली छाया की वृद्धि को रोकना चाहा, सभी प्रकार की प्रगति का घोर विरोध किया और भूत काल के विचारो व प्रथाओं के अनुसार ही चलने के नारे लगाये। दूसरी ओर प्रगतिशील व्यक्तियों का उत्कर्ष हुआ जिन्होने अस्पृश्यता, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, देवदासी-प्रथा, बहु-विवाह, निरक्षरता आदि सामाजिक कुरीतियो की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट कराया और पश्चिम की अच्छी बातों को ग्रहण करने पर अधिक जोर दिया। इससे हमारी सामाजिक चेतना जाग्रत हो गई और नवीन मध्यम-वर्गों का उदय हुआ। इन वर्गो ने पश्चिम की अनेक बातों को ग्रहण कर लिया। समाज व देश की कायापलट करने में इन वर्गो का अधिक हाथ रहा। देशव्यापी क्रान्ति के अग्रगामी दूत और पथ-प्रदर्शक उत्पन्न करने का सौभाग्य इन्ही वर्गो का रहा है।

पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के सम्पर्क से हमारे प्राचीन नैतिक विचार इतने परिवर्तित हो गये हैं कि हम उनके प्राचीन स्वरूप को पहचान भी नही सकते। हमारी वेष-भूषा, खान-पान, आचार-विचार, शिष्टाचार-व्यवहार आदि पाश्चात्य प्रभाव की गहरी झलक प्रकट करते है। हिन्दू समाज के मूल आधार जाति-प्रथा का दुर्ग धराशायी हो रहा है एवं सामाजिक कुरीतियों की अन्त्येष्टि हो रही है। पश्चिम ने जीवन और चरित्र का नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया है। व्यक्तिवाद, समाजवाद और क्रान्ति की एक नवीन लहर समाज में दौड़ रही है। व्यक्तिवाद पर अधिक जोर देने से हमारे सामाजिक बन्धन ढीले पड गये है। सयुक्त परिवार प्रणाली और जाति-प्रथा को इसके गहरे आघात लगे हैं। पहले समाज और उसकी सस्थाओ के हित के लिए व्यक्ति सर्वस्व प्रदान कर देते थे। वे अपना अस्तित्व भी मिटा देते थे। परन्तु अब व्यक्ति अपने को समाज से ऊपर समझता है; वह समाज को गौण मानता है। इससे प्राचीन सामाजिक सन्तुलन बिगड़ गया और समाज का ढाँचा लड़खड़ाने लगा है।

परन्तु पश्चिम का प्रभाव हमारी सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओ के निवारण के लिए लाभप्रद हुआ। सामाजिक सुधारों की प्रेरणा पश्चिम के प्रभाव का ही परिणाम है। भारतीय स्त्रियों को धार्मिक और सामाजिक बेड़ियों से मुक्त करने और उनके उत्थान के प्रयत्न करने में पश्चिम के प्रभाव ने अत्यधिक योग दिया। अखिल भारतीय महिला परिषद की स्थापना हुई। महिलाओं के उत्थान व प्रगति के लिए इसने देशव्यापी सफल आन्दोलन किया।

भारतीय धर्म और पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति—धार्मिक क्षेत्र में भी पाश्चात्य प्रभाव से एक विशिष्ट क्रान्ति हो गई। अन्धविश्वास और श्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया एव उदारता तथा स्वतन्त्र विचार कट्टरता और शास्त्रवाद पर विजयी होने लगे। पश्चिम ने हमे भौतिवाद का नवीनतम दर्शन, बौद्धिक उत्तेजना और धार्मिक बातों के प्रति अन्वेषण और जिज्ञासा की तीव्र भावना प्रदान की। प्राचीन विश्वासों, परम्पराओ और सिद्धान्तो को विज्ञान, तर्क और समालोचना की कसौटी पर उतारा गया और उनमे से अनेक की निन्दा कर उन्हे त्याग दिया गया। कही-कही अच्छी बातो को भी छोड दिया गया क्योकि वे अतीत की परम्पराओ और प्रथाओ पर आश्रित थी। अनेक भारतीयो को हिन्दू धर्म ढकोसला-मात्र प्रतीत होने लगा और उन्होने पश्चिम की अनेक बातो के साथ-साथ ईसाई धर्म को भी ग्रहण कर लिया। भारतीय दर्शन के स्थान पर पाश्चात्य दर्शन और बाइबिल का गहन अध्ययन किया जाने लगा। सौभाग्य से इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द जैसे धार्मिक और सामाजिक सुधारको ने अपने आन्दोलन से इस प्रवृत्ति का अन्त कर दिया।

वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान की भावना—मध्य-युग में भारत की वैज्ञानिक अन्वेषण की भावना और अनुसन्धान की तीव्र लालसा का अन्त हो चुका था। आधुनिक युग मे पश्चिम के सम्पर्क से भारतीयो को यह अनुभव हुआ कि पश्चिम की अभूतपूर्व उन्नति का प्रमुख कारण विज्ञान की उन्नति है। उन्होने यह भलीभाँति जान लिया कि पश्चिम मे ज्ञान की वृद्धि और विकास के लिए विज्ञान ने अगणित मार्ग खोल दिये है। उन्होने पश्चिम के अन्वेषणो, आविष्कारो और वैज्ञानिको से जीवन का गतिशील दृष्टिकोण, तर्क और विचार करने का वैज्ञानिक व विवेकशील प्रणाली तथा जीवन के विविध क्षेत्रो मे विज्ञान का सुन्दर सदुपयोग करना सीखा। पश्चिम ने हमे वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान की भावना, प्रयोग की प्रणाली और साहसी कार्य करने की क्षमता प्रदान की है। पश्चिम मे ही हमने नवीन ज्ञान-विज्ञान और सत्य की खोज करने की प्रबल उत्कण्ठा एवं जीवन के आन्तरिक रहस्यो को समझ लेने की शक्ति, जिसे हम मध्य-युग में भूल चुके थे, पुनः प्राप्त कर ली है। इसके फलस्वरूप भारतीय शिक्षण-सस्थाओ और विश्वविद्यालयो मे वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण और परीक्षण की समुचित व्यवस्था हो गयी एव वैज्ञानिक अनुसन्धानो के लिए विविध सस्थाओ और प्रयोगशालाओ की स्थापना हुई जिनमे बगलौर के 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

भारत की ललितकथाएँ और पश्चिम—हमे अपनी प्राचीन ललितकलाओ और अतीत के गौरव का ज्ञान पश्चिम ने ही कराया है। इन्हे हम मध्य युग मे पूर्ण रूप से विस्मृत कर चुके थे। सिस्टर निवेदिता, हैवेल, फर्ग्युसन, हिन्दू स्टुअर्ट जैसे यूरोपीय विद्वानों ने भारत की ललितकलाओ के प्रधान तत्त्वो, प्रमुख प्रवृत्तियो एव कलात्मक अभिव्यंजना को विश्व के प्रमुख प्रदर्शित किया। कनिंघम, कुमारस्वामी, मार्शल, पर्सी ब्राउन, स्मिथ, टॉड, मैक्समूर ने भारत के अतीत के गौरव गाथाओ का सजीव वर्णन अपने ग्रन्थो मे किया। अंग्रेज और यूरोपीय विद्वानो ने भारत के शिलालेखो का स्पष्टीकरण किया, गूढाक्षरों का अर्थ निकाला, उत्खनन-कार्य किया एवं इतिहास-लेखन की विविध सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रकार पश्चिम के सफल प्रयासो के कारण ही हम अपने अतीत के गौरव को समझ सके और अपने पूर्वजो की देन को पुनः प्राप्त कर सके।

भारत का आर्थिक जीवन और पश्चिम का प्रभाव—आर्थिक क्षेत्र मे पश्चिम की भौतिक सभ्यता के उच्चतम जीवन-स्तर ने भारतीय जीवन-स्तर को चुनौती दे दी। फलस्वरूप, हमारे देश के जीवन की प्राचीन और सरल प्रणालियाँ व साधन नष्ट-भ्रष्ट होने लगे। अब पैतृक धन्धे और वर्ण-परम्पराओ के व्यवसाय जीवन-निर्वाह करने या सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए अनुपयुक्त हो गये। अग्रेजों की आर्थिक और व्यापारिक नीति के कारण भारत के प्राचीन उद्योग-धन्धे विशेषकर कुटीर उद्योग विनष्ट हो गये और देश कृषि-प्रधान हो गया। पर जनसख्या की वृद्धि और नवीन उद्योगो के अभाव से कृषि भी जीवन-निर्वाह का समुचित साधन न हो सकी। इससे नवीन आर्थिक समस्याओं का उत्कर्ष हुआ। इसी बीच जापान, जर्मनी और अमेरिका के पूँजीवाद और औद्योगीकरण ने भारतीयो मे जाग्रति पैदा कर उनकी आँखे खोल दी। देश के खनिज कच्चा माल, औद्योगिक साधनो का बाहुल्य और श्रम की प्रचुरता ने भी भारतीय को देश के औद्योगीकरण के हेतु उत्तेजित और प्रेरित किया। पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत देश में धीरे-धीरे नवीन उद्योगो और व्यवसायों का निर्माण हुआ और औद्योगीकरण की ओर ठोस कदम उठाये जाने लगे। इसके परिणामस्वरूप प्राचीन आर्थिक मूल्याकन परिवर्तित हो गया और रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा उठने लगा। जीवन की भौतिक दशाओ में हुए परिवर्तनो ने भारतीयो के दृष्टिकोण मे भी गहन परिवर्तन कर दिया। उन्हे अपनी दरिद्रता और आर्थिक हीनता अधिक अखरने लगी। इनके निवारण के लिए और आर्थिक उन्नति के लिए ठोस कदम उठाये जाने लगे। ग्रामो में कृषि उन्नति के साथ-साथ नगरो के उद्योगों की भी प्रगति होने लगी। इससे हमारे आर्थिक जीवन का आधुनिकीकरण होने लगा।

परन्तु पश्चिम की सबसे बड़ी आर्थिक और राजनीतिक घटना, जिसने भारत के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक विकास को प्रभावित किया, रूस की क्रान्ति है। मास्को मे ही नही, चीन देश में भी श्रमजीवियो द्वारा राज्य-शक्ति और अधिकार धारण कर लेने से भी भारत के नवयुवकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे साम्यवाद और समाजवाद की ओर अधिक झुकने लगे। श्रमजीवियो और कृषको की हीन दशा की ओर लोगो का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगा। 1920 ई० के पूर्व भारत में शायद ही श्रमिकों अथवा कृषकों का कोई सगठन रहा हो। परन्तु दोनों विश्वयुद्धो के बीच के युग मे और उसके बाद के काल मे श्रम-आन्दोलन और कृषकों की हलचल प्रारम्भ हो गयी तथा कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गयी। मार्क्स और एंजिल्स से प्राप्त सामाजिक आन्दोलन की विचारधारा भारत मे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए क्रान्तिकारी प्रमाणित हुई है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था-क्रम और भारतीय जीवन का परम्परागत ढाँचा सयुक्त परिवार-प्रथा और इस्लाम तथा हिन्दू धर्म के वैयक्तिक कानूनो पर आश्रित रहा है। पश्चिम मे आर्थिक व सामाजिक विचार और धर्म-निरपेक्षता इस व्यवस्था-क्रम और परम्परागत ढाँचे लिए घातक हो गये।

पश्चिम की नवीनतम विचार-प्रणालियो ने भारत मे स्वतन्त्रता की उत्कण्ठा, सामाजिक न्याय की तीव्र लालसा, क्रान्ति की दृढ भावना और विप्लवकारी अराजकता की चित्त-वृत्ति प्रस्तुत की। इन सबने धर्म, पूंजीवाद और शोषण के साम्राज्य को चुनौती दे दी और समानता की एक नवीन माँग उत्पन्न हो गयी तथा आर्थिक अगो पर आश्रित विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय भावना उदित हो गयी। इसके परिणाम-

स्वरूप विश्व प्राचीन रणक्षेत्र भारत आज पुन' विरोधी सास्कृतिक शक्तियो का सग्राम-स्थल बन गया है। नवीन मानवता के उदय होने के पूर्व ही भारत मे नवीनता और प्राचीनतम-मूल्याकन मे परस्पर संघर्ष छिड़ गया। इस सघर्ष के बीच भारत की युवक पीढी ऐसा समन्वय उत्पन्न कर सकती है जिससे हमारे देश की सांस्कृतिक देन और भी अधिक सुसम्पन्न हों जाय।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति पर भारत का प्रभाव

उपरोक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिम ने आधुनिक युग मे भारत को अत्यधिक प्रभावित किया और वह उसके प्रभाव से दब-सा गया है। वह बात ठीक है कि पाश्चात्य प्रभाव से भारत मे नवीन जाग्रति हुई और नवाभ्युत्थान का सूत्रपात हुआ। परन्तु भारत ने भी पाश्चात्य सस्कृति को कम प्रभावित नही किया। प्रस्तुत पुस्तक के नवम् अध्याय मे प्राचीन काल की पाश्चात्य सभ्यता व सस्कृति पर भारत के प्रभाव का विशद वर्णन है। मध्य-युग मे भी अरब और इटली के निवासी जो यूरोप में एशिया के व्यापार की प्रमुख शृंखला थे, भारत की व्यापारिक वस्तुओ के साथ-साथ भारतीय सास्कृतिक विचारधाराओ और तत्वो को पाश्चात्य देशो मे ले गये। इसके अतिरिक्त मध्य-युग में बर्नियर, सर टॉमस रो, टैवरनीयर, मीटर मण्डी, मनुची जैसे यात्रियों, जेसुइट पादरियो आदि ने भारत में भ्रमण किया था और यहाँ से सास्कृतिक प्रेरणा पश्चिम को ले गये थे। सर टॉमस रो ने भारत की सम्पन्नता के विचारो से इगलैण्ड के प्रसिद्ध कवि मिल्टन को इतना अधिक प्रभावित किया था कि उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) मे शैतान का वर्णन करते हुए भारत की प्रचुर सम्पत्ति का उल्लेख कर दिया। इसी प्रकार ड्राइडन भी इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने 'औरंगजेब' नाटक लिख डाला।

1671 ई० मे फ्रेंच यात्री बर्नियर प्रसिद्ध मुगल राजकुमार दाराशिकोह द्वारा फारसी भाषा मे अनुवादित 'उपनिषद' की पाण्डुलिपि फ्रान्स ले गया था। इसके पश्चात् फ्रेंच और जर्मन ईसाई (जेसुइट) पादरियो और धर्म-प्रवर्तको ने सस्कृति का अध्ययन किया एव वेदो तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित किये। एक जेसुइट पादरी ने तो 1732 ई० मे सस्कृति व्याकरण की रचना भी की। उसका प्रभाव यह हुआ कि फ्रान्स के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक वॉल्टेयर (Valtaire) की श्रद्धा व भक्ति भारत और उसके ज्ञान के प्रति अधिक बढ गयी और बाद मे एमिल (Amiel) ने तो इस बात पर बल दिया कि आध्यात्मिक प्रगति के लिए मानवता को 'आत्माओं का ब्राह्मणीकरण' करना अनिवार्य है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे यूरोपीय विद्वानो ने भारत की सस्कृत के अध्ययन के हेतु सामूहिक रूप से व्यवस्थित प्रयास किये। तीन अंग्रेज विद्वानो, सर चार्ल्स विल्किस, सर विलियम जोन्स और कोलब्रुक ने, जिसका उद्देश्य हिन्दू और यूरोपीय ज्ञान का सुन्दर समन्वय करना था, पाश्चात्य विश्व मे प्राचीन सस्कृत ग्रन्थों को प्रस्तुत करने का प्रशसनीय कार्य किया। 1785 ई० मे सर चार्ल्स विल्किस ने सर्वप्रथम हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गीता' का अनुवाद अंग्रेजी मे किया और 1785 ई० मे ही सर विलियम जोन्स ने 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की। इस सोसाइटी के तत्वावधान मे भारत के ऐसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थो का पाश्चात्य भाषाओ में अनुवाद हुआ जिससे यूरोप व अमेरिका मे भारतीय संस्कृति की ध्वनि गूँज उठी।

विलियम जोन्स ने '**मनुस्मृति**' का अंग्रेजी मे अनुवाद किया और कालिदास के 'शकुन्तला' तथा अन्य नाटकों के अनुवाद के साथ-साथ अन्य ग्रन्थो का सकलन भी किया। जोन्स ही सर्वप्रथम व्यक्ति था जिसने यह बताया कि सस्कृत सबसे अधिक वैज्ञानिक भाषा है और यूरोप की प्राचीन साहित्यिक भाषाओं, यूनानी व लैटिन तथा ईरान की पुरानी 'जन्द' का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके शब्दो मे बहुत समानता है और ये सब एक मूल से प्रादुर्भूत भाषाएँ हैं। इस प्रकार उसने इन भाषाओं से तुलनात्मक भाषाशास्त्र की नीव डाली। बाद मे इससे यह भी विदित हुआ कि इन भाषाओ को बोलने वाली जातियों के धर्म-कर्म, देव-गाथाओं, प्रथाओं और संस्थाओं में भी बढ़ा सादृश्य था। इस प्रकार आर्य जाति और उसके मूल निवासस्थान का पता लगा और उस पर अधिक चिंतन, मनन और खोज की जाने लगी।

विलियम जोन्स पुराणों के चन्द्रगुप्त तथा यूनानी लेखको के सेण्ड्राकोट्टस की अभिन्नता मानकर प्राचीन भारत के तिथिक्रम की आधारशिला रख दी। इससे 'प्राचीन अभिलेख और सिक्कों को पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे कोलब्रुक ने अनुवाद के क्षेत्र मे सबसे अधिक कार्य किया। उसने हिन्दू कानून, दर्शन, व्याकरण, धर्म और ज्योतिष का अध्ययन कर अनेक संस्कृत के ग्रन्थो का सकलन किया जिसमे पाणिनि का व्याकरण और 'हितोपदेश' प्रमुख थे। ऐसा कहा जाता है कि हैमिल्टन नामक अग्रेज ने कुछ जर्मन और फ्रान्सीसी विद्वानों को संस्कृत की शिक्षा दी। इससे जर्मनी और फ्रान्सीसी विद्वानो द्वारा भारतीय सस्कृति की खोज के अकथनीय प्रयत्न किये गये एव जर्मनी ने ही संस्कृत साहित्य के गुप्त कोष को सबसे अधिक प्रकाश मे लाने का सराहनीय कार्य किया। इसका प्रभाव जर्मन दार्शनिकों और लेखको पर खूब हुआ। प्रसिद्ध विद्वान शोपेनहोर (Schopenhaur) को तो 'उपनिषद' ईश्वरीय ज्ञान और प्रकाश जैसे प्रतीत हुए। उसने कहा था कि उपनिषद उसके जीवन की चिर-शान्ति है। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (Kant) का प्रमुख सिद्धान्त का अनुभव की वस्तुएँ और बातें स्वय उन वस्तुओ और बातों का केवल प्रतिभास हे, उपनिषदो का एक माना हुआ सिद्धान्त है। शिलर के 'मेरिया स्टुअर्ट' कालिदास के 'मेघदूत' का प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट है। प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) ने तो कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। गेटे ने अपने 'फॉस्ट' (Faust) की प्रस्तावना कालिदास के नाटक के अनुरूप ही दी है। मैक्समूलर ने तीस वर्ष के निरन्तर श्रम के पश्चात् 'ऋग्वेद' का अनुवाद पूर्ण किया। इस विद्वान को भारतीय संस्कृति से इतनी अधिक प्रेरणा मिली थी कि उसने अपनी मौलिक रचनाओ, सस्कृति की दिव्यता और विलक्षणता का अनुभव करा दिया। इसके अतिरिक्त उसने भाषा, विज्ञान और धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित कर धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

अमेरिका के विद्वान भी भारतीय संस्कृति, धर्म व दर्शन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक व विचारक इमरसन (Emerson), थोरु (Thoreau), कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) और अलकॉट पर भारतीय दर्शन का अत्यधिक प्रभाव रहा। इमरसन ने, जो बार-बार अपने साथी कवियो, लेखको और विचारको को 'गीत' और 'उपनिषद' पढ़कर सुनाया करते थे, वेदान्त पर खूब लिखा है। इमरसन के 'ओवर सोल' और 'सर्किल्स' ('The Over Soul' and Circles') जैसे निबन्ध और 'ब्रह्म' जैसी कविता मे 'उपनिषद' के विचारो के अतिरिक्त

कुछ है ही नहीं। कवि ह्विटमैन की कविता 'पैसेज टू इण्डिया' और 'लीव्ज ऑव दि ग्रास' मे भारत की अध्यात्म-विद्या और 'गीता' तथा 'उपनिषद' के विचारो की स्पष्ट आभा है। स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका भ्रमण करने पर वहाँ भारतीय संस्कृति और वेदान्त का अधिक प्रचार हुआ और आज भी वहाँ स्वामीजी के आश्रम भारतीय सस्कृति व दर्शन के केन्द्रस्वरूप विद्यमान है। थोड़े समय पूर्व जे० कृष्णमूर्ति ने अमेरिका मे भारतीय दर्शन व आत्मतत्त्व-ज्ञान को वैज्ञानिक ढग से लोगो के सम्मुख रखकर उन्हे प्रभावित किया है। यदि उत्तर अमेरिका मे वेदान्त के अध्ययन और अनुकरण के लिए 'केलीफोर्निया ग्रुप' की स्थापना हुई तो दक्षिण अमेरिका मे ब्राजील में एक सस्था, 'Circulo Esoterico da communaho do peosamanto in Sao Poulo' प्रतिष्ठित हुई है जिसका उद्देश्य भारत की अध्यात्म-विद्या को समझना और उसका अनुकरण करना है। इसके अतिरिक्त इण्डिया सोसाइटी और इन्टरनेशनल स्कूल ऑव वैदिक एण्ड एलाइड रिसर्च जिन्हे अमेरिका मे भारतीयो ने स्थापित और संगठित किया है, भारतीय सस्कृति के प्रसार मे प्रशसनीय कार्य कर रहे है। यूरोप व अमेरिका के समान ही इगलैण्ड के विद्वानो, लेखको, विचारकों, दार्शनिको और कवियों पर भी भारतीय धर्म व दर्शन का गहरा प्रभाव रहा है। शैले, वर्ड्सवर्थ, रॉवर्ट ब्राउनिंग और कारलाइल की कविताओ मे वेदान्त की आभा स्पष्टतया झलकती है। जब इमरसन ने सर्वप्रथम कारलाइल से भेंट की तो कारलाइल ने उसे 'गीता' की एक सुन्दर प्रति ही उपहार मे देने के लिए पसन्द की। टेनीसन ने भी अपनी कतिपय कविताओ मे भारतीय विषयो का वर्णन किया है। सर जान वुडरोफ (Sir John Woodroff) ने भारत के तान्त्रिक ग्रन्थो का अनुवाद और संकलन अग्रेजी भाषा मे किया और आधुनिक युग में पश्चिम को भारत के तन्त्रवाद का ज्ञान कराया। जिराल्ड हर्ड (Gerald Heard) और अल्डूस हक्सले (Aldous Huxley) जैसे अंग्रेज दार्शनिको के ग्रन्थो और विचारो मे भारतीय दर्शन का प्रभाव है और इन्होने इगलैण्ड मे एक योग-आश्रम की स्थापना भी की है। आयरलैन्ड के केल्टिक (Celtic), पुनर्जागरण के कवियो और विशेषकर जॉर्ज रसैल और यीट्स पर हिन्दू दर्शन का अत्यधिक प्रभाव रहा है। भारत के जीवन और अध्यात्मवाद की ओर इन दोनो का खूब झुकाव रहा है। रसैल की कविता तो भारतीय रहस्यवाद से ओतप्रोत है।

अग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारत मे अधिकारियो, व्यापारियो और धर्मप्रवर्तको के नाते अनेक अग्रेज भारतीयों के घनिष्ठ सम्पर्क मे आये। इनमे से अनेक भारतीय संस्कृति से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने भारत विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। एलफिन्स्टन, टॉड, मालकम, स्मिथ, डफ जैसे इतिहासज्ञ, सर एडविन आरनल्ड तथा किपलिंग जैसे कवि और थैकरे जैसे उपन्यास-लेखक ऐसे ही अग्रेजो मे से हैं। उन्नीसवी शताब्दी में अंग्रेजो का दैनिक जीवन इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उनमें भारतीय हुक्का, पुलाव और चटनियाँ अधिक लोकप्रिय हो गयी थी एवं भारतीय रीत-रिवाजो के प्रति अधिक अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी।

फ्रान्स का प्रसिद्ध विद्वान रोमाँ रोलाँ (Romain Rolland) भारतीय सस्कृति के गूढ़ अर्थ को समझने के लिए प्रख्यात है। उसने श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी पर श्रद्धा और भक्ति ने ग्रन्थ लिखे। प्रसिद्ध फ्रेंच रहस्यवादी पॉल रिचर्ड श्री अरविन्द के सिद्धान्तो से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। अन्य प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान सिलवेन लेवी (Sylvain Lewy) ने भारतीय कला, साहित्य और सस्कृति के

अध्ययन में प्रशंसनीय बहुमूल्य कार्य किया। फ्रान्स में 'Institute de Civilisation Indienne' एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य भारतीय जीवन और सभ्यता के विविध अगो को समझना, अध्ययन करना एव उनकी प्रगति व प्रसार करना है। पेरिस विश्वविद्यालय के लुई रेनो (Louis Renon) ने जो फ्रान्स में सस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान है, 1949 ई० मे उन्होंने शान्ति-निकेतन मे अपने व्याख्यान मे कहा था कि फ्रान्स के सर्वश्रेष्ठ विचारक और लेखक भारतीय विचार और सस्कृति से अधिक प्रभावित हुए है। रेनों वेद, व्याकरण तथा कोषों के पण्डित हैं। फ्रान्स के लियो विश्वविद्यालय मे 'शतपथ ब्राह्मण' के समस्त पदों पर वर्षों से काम चल रहा है।

प्रसिद्ध जर्मन विचारक काउण्ट हरमन केजरलिंग भारतीय अध्यात्म-विद्या या आत्मतत्त्व-ज्ञान से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि दर्शन के क्षेत्र मे उसने भारतीय दर्शन की सर्वश्रेष्ठता अगीकार कर ली थी और इसलिए उस पर यह आरोप लगाया गया था कि वह पश्चिम मे भारतीय मूल्याकन और मान्यताओ को प्रतिष्ठित कर रहा है। डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन तथा फिनलैण्ड मे पाली व संस्कृत पर अनुसन्धान हो रहे है। स्विटजरलैण्ड मे लूजर्न विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक डॉ० रेगामी 'कारण्डव्यूह' का संस्कृत सस्करण निकाल रहे है। इसी प्रकार स्विटजरलैण्ड मे एसकोना की अध्यात्म विद्या के अनुसधान की एक सस्था, 'The Summer School of Spiritual Research in Ascona' ने आधुनिक भारत के धर्मो का अध्ययन एक विशिष्ट विषय कर दिया है। हालैण्ड मे कर्न इन्स्टीट्यूट और इटली मे ओरिएटल इन्स्टीट्यूट अनुसन्धान के प्रख्यात केन्द्र है, जहाँ यूरोपीय विद्वानों के पथ-प्रदर्शन मे भारतीय कला, साहित्य और पुरातत्त्व पर महत्त्वपूर्ण मौलिक कार्य किया गया है। हालैण्ड के चार विश्वविद्यालयो ने सस्कृत और भारतीय इतिहास के अन्वेपण को ऊँचे स्तर पर पहुचाया है। यहाँ के विशेष-उल्लेखनीय प्राध्यापक जे० खोन्दा हैं जिन्होने 'महाभारत' का 'भीष्म-पर्व,' 'गरुड-पुराण' आदि को सम्पादित किया है। वेलजियम मे पादरी अध्यापक लामोत ने आचार्य नागार्जुन के 'प्रज्ञापारमिता शास्त्र' का अद्वितीय अध्ययन करके 'Le Traits de la Grand Vertu de Saggesse' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा। नार्वे के स्टेन कोनोव (Sten Konow) भारत के धार्मिक विचार के विकास के विषय मे अनुसधान करने के लिए प्रसिद्ध है। जर्मनी के ग्लासेनहैप (Glassenhap) संस्कृत के अनेक दर्शनशास्त्रो पर भाष्य लिखने के कारण प्रख्यात है। चेकोस्लोवाकिया के विण्टरनिट्झ (Witternitz) ने भारतीय साहित्य के इतिहास पर महान ग्रन्थ लिखने के कारण और इटली के प्राध्यापक तुच्ची (Tucci) ने भी वैष्णव विचारधाराओं के विशिष्ट अध्ययन करने के कारण यूरोप मे खूब यश प्राप्त किया है। तुच्ची ने सस्कृत तथा भारतीय अनुसंन्धान मे इटली को गौरवास्पद वना दिया है। उन्होने भारत, नेपाल, तिब्बत से अनोखे हस्तलेखो तथा चित्रों की सामग्री सगृहीत की है। पोलैण्ड के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रोफेसर स्टोनिसलॉ एफ० माइकलस्की (Stonislaw F. Michalski) ने, जो वॉरसा साइण्टिफिक सोसाइटी के ओरिएण्टल सेक्शन के सस्थापक हैं, प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति के अध्ययन हेतु अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले जर्मनी सस्कृत का बड़ा क्षेत्र था। वहाँ के प्रत्येक विश्वविद्यालय मे भारतीय साहित्य, धर्म, कला आदि का अध्ययन करने के लिए विशेष प्रबन्ध था। संस्कृत भाषा व उसका साहित्य आर्य साहित्य है। जर्मन भी आर्य जाति है। जर्मनी देश में प्राचीन आर्यो का साहित्य नही है पर भारत मे है। क्योकि वहाँ युगो से आर्यो का विकास होता रहा है, इसलिए जर्मनी मे सस्कृत के

लिए विशेप भावना व रुचि उत्पन्न हो गयी । शोपेनहोर, हुवोल्ट आदि विचारको ने सस्कृतान्तर्गत दर्शन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की । जर्मन भाषा का आदि स्रोत समझने के लिए भाषविज्ञो ने वहाँ संस्कृत को प्रथम स्थान दिया । द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद जर्मनी में पुनः संस्कृत का अध्ययन शुरू हो गया । मार्वुर्ज मे सस्कृत का एक उत्कृष्ट पुस्तकालय है । मुस्टर विश्वविद्यालय के डॉ० हाकर ने श्री शकराचार्य के 'वेदान्त' का अध्ययन करने के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया है । इसी प्रकार प्रख्यात सस्कृत प्राध्यापक हेलमुण्ट फ्रान ग्लासेनहैप ने भारतीय सम्प्रदायो पर कई निवन्ध लिखे है और बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म पर बड़े सर्वागपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर जर्मन साहित्य को सुसम्पन्न किया है । सस्कृत के कई ग्रन्थो का जर्मनी भाषा मे मधुर व रुचिकर अनुवाद करने मे श्री हरमान वेलर अधिक प्रसिद्ध है । जर्मनी के उत्तर में कील के विद्यापीठ मे वैष्णव आगम साहित्य तथा 'उपनिषदो' के एक प्रकाण्ड विद्वान है जिनका नाम ऑटोश्राडर है । ये भारत की तेलगू और तमिल भाषा भी पढाते हैं । जर्मनी का हैम्वर्ग नगर सारे यूरोप मे जैन अनुसन्धान का प्रख्यात केन्द्र है । यहाँ जैन पुराण तथा साहित्य, चरित्र साहित्य व प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ का अनुसन्धान हो रहा है । यही के डॉ० अल्जडॉफ दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो का ज्ञान रखते हैं और अनेक वार भारत-भ्रमण कर चुके है । यही पर डॉ० तवाडिया नामक भारत के एक पारसी सज्जन हिन्दी, मराठी व गुजराती पढाते है । बौद्ध धर्म मे भी जर्मन विद्वान रुचि रखते है । गोटिंगन विश्वविद्यालय के डॉ० वाल्टश्मिट लुप्त बौद्ध-परम्परा और महायान के विशेषज्ञ है । जर्मनी मे रूसी क्षेत्र मे वाल्टर रूबन सस्कृत के विद्वान और अध्यापक है । इनकी विशेषता यह है कि ये साम्यवाद के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए सस्कृत के काव्य-ग्रन्थो मे से भी सामाजिक सघर्ष के प्रमाण निकालने का प्रयत्न करते है । जर्मनी मे सस्कृत के अनेक ग्रन्थालय है, जैसे म्यूनिख व ट्यूलिंगन विद्यापीठ के पुस्तकालय । जर्मनी के रूसी क्षेत्र में हाले विश्वविद्यालय मे Biblio Theckder Dentschen Morgenlandisclle Gesllschaft नामक सस्था है जिसका पूर्वी देश के चालीस हजार ग्रन्थो का संग्रह अक्षुण्ण है । इसी प्रकार बॉन मे Bonner Orientalistisclle Studien नामक प्राच्य पुस्तकमाला कई वर्षों से ग्रंथो को प्रकाशित कर रही है । इगलैण्ड की इण्डिया सोसायटी और थोड़े समय पूर्व स्थापित 'सोसायटी फॉर कल्चरल फेलोशिप विद इण्डिया' (Society for Cultural Fellowship with India) लन्दन मे स्थापित स्कूल ऑव ओरिएण्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज (School of Oriental and African Studies) भी यह प्रमाणित करती है कि इगलैण्ड भी भारतीय संस्कृत की दिव्यता और माहात्म्य को स्वीकार करता है और भारत से अपने सास्कृतिक सम्बन्ध वनाये रखना चाहता है । इगलैण्ड मे प्रोफेसर टर्नर संस्कृत और आधुनिक भाषाओ के वेत्ता है । डा० वाके शास्त्रीय सगीत तथा भारतीय लोकनृत्यो मे निपुण है । प्राध्यापक व्रफ ने भर्तृहरि कृत 'वाक्यदीप' नामक व्याकरण दर्शन को अपना इष्टदेव माना ।

वीसवी शताब्दी मे थियोसोफीकल सोसायटी और उसके सभापतियों डॉ० एनी वेसेण्ट, डा० अरुण्डेल, सी० जिनराजदास और एन० श्रीराम ने यूरोप और अफीका मे सोसायटी के केन्द्रो द्वारा भारतीय सस्कृत के शाश्वत सत्य एव अध्यात्मवाद के प्रसार के हेतु सराहनीय कार्य किये है । डॉ० एनी वेसेण्ट, जिन्होने अपना समस्त जीवन भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अर्पण कर दिया था,

अपने लेखो, ग्रन्थों, व्याख्यानों, यात्राओं आदि के द्वारा पश्चिम में भारतीय संस्कृति व धर्म के माहात्म्य का प्रसार करती रही और विश्व में भारत का नाम उज्जवल कर उसका गौरव बढाती रही। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविंद, महात्मा गाँधी, डॉ० राधाकृष्णन, स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू आदि के ग्रन्थों, व्याख्यानो, विदेश-भ्रमण आदि से पश्चिम मे भारत विषयक ज्ञान व संस्कृति की वृद्धि हुई। यूरोप व अमरीका में अनेक स्थलो पर भारतीय कला व औद्योगिक प्रदर्शनी-तथा भारतीय संस्कृति के विविध कार्यक्रम के आयोजन किये गये। इससे भारतीय ललितकलाओं मे पश्चिम की अभिरुचि बढी। नन्दलाल बोस जैसे प्रतिभा-सम्पन्न भारतीय चित्रकार के चित्रो के पश्चिम में प्रदर्शन, उदयशकर, रामगोपाल, राधा बर्नीयर जैसे श्रेष्ठ कलाकारों द्वारा पश्चिम में भारतीम नृत्य के दिग्दर्शन से भारतीय ललितकलाओं के प्रभाव की आभा पश्चिम में बढ़ने लगी। इसके फल-स्वरूप यूरोप व अमेरिका मे भारतीय सस्कृति के शाश्वत सत्य को समझते और पूर्व तथा पश्चिम के जीवन में श्रेष्ठ व सुन्दर समवन्य करने के लिए सफल प्रयास किये जाने लगे।

प्रश्नावली

1. ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत हुई भारत की भौतिक प्रगति का वर्णन कीजिये।
2. 'भारत का आधुनिकीकरण अंग्रेजों का कार्य है और इसने समस्त भारतीय महाद्वीप को प्रभावित किया है।' (जदुनाथ सरकार)। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
3. भारत को अंग्रेजो की क्या देन रही है?
4. 'ब्रिटिश शासन की प्रथम सदी (1757-1858 ई०) मे भारत ने मध्य-युग से आधुनिक युग मे प्रवेश किया।" क्या आप इस मत से सहमत है?
5. "कार्नवालिस से बैण्टिक तक का युग अर्थात मोटे रूप से 1760 ई० से 1830 ई० तक का काल आधुनिक भारत के अन्धकारमय युग की अपेक्षा नवीन भारत के बीजारोपण का युग है।" इस कथन का विवेचन कीजिये।
6. पुनर्जागरण या पुनरुत्थान से क्या तात्पर्य है? भारतीय पुनर्जागरण के उदय और विकास के लिए कौन-कौन से तत्त्व उत्तरदायी है?
7. भारतीय पुनरुत्थान के कौन-कौन से प्रमुख अंग और लक्षण है?
8. भारतीय पुनर्जागरण के प्रधान फल और प्रभाव का विवेचन कीजिये?
9. "समाज के आधुनिकीकरण और देशव्यापी शान्ति के पश्चात अंग्रेजों की सबसे बड़ी देन पुनर्जागरण है जो हयारी उन्नीसवी शताब्दी की विशिष्टता है। आधुनिक भारत प्रत्येक बात के लिए इसका ऋणी है।" इस कथन को समझाइये।
10. भारत पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

अथवा

पश्चिम के सम्पर्क से भारतीय समाज किन महत्त्वपूर्ण बातों से प्रभावित हुआ ?

11. भारत मे क्रान्तिकारी परिवर्तन अंग्रेजो के कार्यों के अकालिक (incidental) और अप्रत्याशित (unexpected) परिणाम के रूप मे हुए।" इस कथन की व्याख्या कीज़िये।

12. "यह सत्य है कि यूरोपीय सस्कृति के प्रभाव से भारतीयो मे नवीन दृष्टिकोण का निर्माण हुआ, परन्तु यह बात भी निस्सन्देह सत्य है कि पश्चिम की ही नही अपितु मानव की सभ्यता और संस्कृति के लिए भारत की देन स्थायी रूप से प्रेरणा का अखण्ड स्रोत है।" इस कथन का स्पष्ट विवेचन कीजिये।

16

शिक्षा

शिक्षा वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति के लिए ही नही अपितु सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए भी अनिवार्य है। भारतीयों ने शिक्षा के इस गहन महत्त्व को समझ लिया था और इसलिए भारत मे सुदूर अतीत में भी शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था की गयी थी। राज्य द्वारा अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा का प्रबन्ध न होने पर भी शिक्षा का अत्यधिक प्रसार हुआ था। भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली से सैकडो वर्षो तक भारत का विशाल वैदिक साहित्य ही सुरक्षित नही रहा, बल्कि प्रत्येक युग मे दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन आदि विविध शास्त्रों और ज्ञान के क्षेत्र में ऐसे मौलिक विचारक और विद्वान उत्पन्न हुए जिनसे हमारे देश का मस्तक आज भी यश-गौरव से उन्नत है।

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति

वैदिक काल—वेदों में अनेक ऐसे उदाहरण है जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि सुदूर अतीत मे संगठित रूप से गुरुओं द्वारा शिक्षा दी जाती थी। 'ऋग्वेद के एक मन्त्र मे अनेक छोटे छोटे बालको के एक साथ पढने की उपमा दी गयी है। 'अथर्ववेद' में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये गये है और विद्याध्ययन पर प्रकाश डाला गया है। 'छान्दोग्य' और 'वृहदारण्यक' उपनिषदो मे इस बात का उल्लेख है कि अनेक ब्राह्मण अपने बालकों को घर पर ही शिक्षा देते थे तथा बहुत-से अपने गुरु के घर जाकर विद्याध्ययन करते थे। वैदिक युग मे शिक्षा का इतना अधिक प्रसार था कि 'छान्दोग्य 'उपनिषद' में अश्वपति कैकेय कहते है कि मेरे साम्राज्य मे अशिक्षित व्यक्ति कोई नही है। आर्यों में उपनयन-संस्कार के पश्चात शिक्षा अनिवार्य ही थी। इससे साक्षरता का अत्यधिक प्रसार हुआ होगा और सम्भवत: शत-प्रतिशत व्यक्ति साक्षर रहे होगे। पश्चिमी सभ्यता के मूल स्रोत यूनान देश में शिक्षा की समुचित व्यवस्था होने से यूनान के प्रमुख नगर एथेन्स में दस प्रतिशत और स्पार्टा मे चार प्रतिशत व्यक्ति ही साक्षर थे।

बौद्ध युग—शिक्षा का प्रसार बौद्ध-युग में भी बना रहा। गुरुकुल और आश्रम व्यवस्था के साथ-साथ इस युग में विशाल महाविद्यालय और विश्वविद्यालयो का निर्माण हुआ था। बौद्ध विहारो मे भी शिक्षण-कार्य किया जाने लगा था और जन-साधारण ने इससे खूब लाभ उठाया। ब्राह्मणों के घर व जैन साधुओ के स्थान भी छोटे-छोटे शिक्षा-केन्द्र थे। सशुल्क और नि:शुल्क दोनो प्रकार की शिक्षा का प्रचार था। चीन, जापान और अन्य पूर्वी देशो से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए भारत आते थे।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य व विशेषताएँ—प्राचीन भारतीय शिक्षा-

प्रणाली के चार प्रधान उद्देश्य थे। प्रथम उद्देश्य चरित्र-निर्माण था। ब्रह्मचर्य-अवस्था में शिक्षा द्वारा चरित्र-गठन इतना सुन्दर और आदर्श होता था कि मेगस्थनीज, मार्कोपोलो, ह्वानच्यांग आदि विदेशी यात्रियो ने भारतीय चरित्र की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। द्वितीय उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास था। तपोवनो और आश्रमों और कालान्तर मे विद्यालयो और विश्वविद्यालयो में, आचार्य-संरक्षण-स्वरूप, विद्यार्थी की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास और मौलिक भावनाओं और प्रवृत्तियो का प्रस्फुरण होता था। तीसरा उद्देश्य विद्यार्थी मे उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य की भावना जाग्रत कराकर सामाजिक और नागरिक अधिकारो व कर्त्तव्यो का समुचित ज्ञान कराना था। स्नातक को लोक-कल्याण के हेतु अपना स्वार्थ-त्याग करने की शिक्षा दी जाती थी एवं गृहस्थ व राजा के उच्चतम कर्त्तव्यो व अधिकारो का बोध कराया जाता था। चौथा उद्देश्य प्राचीन संस्कृति और साहित्य का सरक्षण करना था। वैदिक साहित्य तथा प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, तपोवन व आश्रम-प्रणाली तथा गुरु-शिष्य-परम्परा से सुरक्षित ही नही रहा, अपितु प्रत्येक युग मे वह समृद्ध और सुसम्पन्न होता रहा।

इन उद्देश्यो के साथ-साथ भारत की प्राचीन शिक्षण-प्रणाली की कतिपय विशिष्टताएँ भी रही है, जैसे उपनयन-सस्कार द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ करना, ब्रह्मचर्य-अवस्था, व्यावसायिक शिक्षा, स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था, चरित्र-गठन, सामाजिक व नागरिक गुणों का विकास, गुरु-शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध, गुरुकुल व आश्रम के जीवन का उच्चतम आदर्श, सादा जीवन उच्च विचार, समानता की भावना, साहित्यिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षण तथा उपयोगी ललितकलाओ की शिक्षा एवं विशिष्ट पाठ्य-विषय और पाठ्य-प्रणाली है। नीचे इनका सूक्ष्म विवेचन करना अप्रासगिक नही होगा।

उपनयन-संस्कार और ब्रह्मचर्य आश्रम—भारत की प्राचीन शिक्षण-पद्धति का मूल प्रारम्भ उपनयन-सस्कार से होता था। इस सस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर विद्याभ्यास के लिए उसका शिष्य बनता था। मनुस्मृति (2। 39) के अनुसार इस सस्कार के न करने पर मनुष्य समाज से पतित एव वहिष्कृत समझा जाता था। यह सस्कार 7 या 8 वर्ष की आयु मे होता था। मनुष्य-जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष के भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। इस काल मे मनुष्य विद्यार्थी रहकर गुरु से विद्या प्राप्त करता था एवं शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करता था। आठ वर्ष की आयु मे उपनयन-संस्कार के पश्चात या आश्रम में गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए भेज दिया जाता था। वहाँ वह ब्रह्मचर्य-अवस्था मे गुरु की आज्ञा और अनुशासन मे रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। उसका जीवन आमोद-प्रमोद से दूर संयम व सदाचार का था। उसका इन्द्रिय-निग्रह का व्रत बडा कठोर होता था। उसका भोजन सादा होता था। मास, मदिरा, गन्ध, रस, स्त्री आदि उसके लिए निषिद्ध थे और उसकी पोशाक भी सादी होती थी। प्रारम्भ मे ब्रह्मचारी को प्रतिदिन गाँव से भिक्षा माँगकर लानी पड़ती थी, परन्तु कालान्तर मे यह प्रथा विलुप्त हो गयी थी और तक्षशिला तथा नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयो में विद्यार्थियो के लिए वडे भण्डारो मे से भोजन-व्यवस्था होती थी। यह भोजन-व्यवस्था लोगो के दिये हुए दान से चलती थी। भिक्षा के नियम का मूल उद्देश्य यह था कि विद्यार्थी को विनयशील होना चाहिये और यह भी समझना चाहिये कि वह समाज की सहायता व

सहानुभूति से ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इसके अतिरिक्त शिक्षा की इस व्यवस्था से धनी व निर्धन दोनों ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे और समाज को भी यह बोध होता था कि नयी पीढी की शिक्षा के लिए उसे सतत दान व भिक्षा देकर यत्न करना चाहिए।

विद्यार्थी—विद्यार्थी दो प्रकार के होते थे। एक तो वे जो निरन्तर गुरु के यहाँ रहते थे। उनका जीवन गुरु के जीवन के साथ ही घुल-मिल जाता था। इन्हें 'अन्तेवासी' कहा जाता था। शिक्षा समाप्त करने पर जब वे अपने घर लौटते थे तो उनका 'समावर्तन' होता था। गुरु की वैयक्तिक देखरेख और संरक्षण में शिक्षा उत्तम होती थी। दूसरे साधारण प्रकार के विद्यार्थी होते थे, जो प्रतिदिन गुरु के घर केवल विद्याध्ययन के लिए आते थे और पढने के पश्चात प्रतिदिन अपने घर लौट आया करते थे। अधिकतर ऐसे विद्यार्थी बड़ी उम्र के होते थे जो अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त करने के लिए गुरु के पास आते थे।

गुरुकुल-प्रणाली—ब्रह्मचारियों को प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुलो में भेजा जाता था। कुछ गुरुकुल और आश्रम नगरो और गाँवो के कोलाहल और हलचल से दूर प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य वनो मे शान्तिमय स्थानों मे होते थे। ऐसे स्थानो मे विद्यार्थी चित्त की पूर्ण एकाग्रता और चिन्तन से स्वस्थ वातावरण में भलीभाँति विद्याभ्यास कर सकते थे। अनेक गुरुकुल और शिक्षा-केन्द्र शहरों और गाँवों मे ही होते थे, जैसे तक्षशिला का शिक्षा केन्द्र। राज्य की ओर से गुरुकुलों को कतिपय ग्राम दान कर दिये जाते थे जिनकी स्थायी आय से उनका व्यय चलता था। कतिपय गुरुकुल जनसाधारण के चन्दे और दान से भी चलते थे। सब दानों मे विद्यादान को श्रेष्ठ समझकर लोग मुक्तहस्त से गुरुकुलों और शिक्षा-केन्द्रों को दान देते थे। सेवा-वृत्ति, स्वावलम्बन, इन्द्रिय-निग्रह और सादगी गुरुकुल-जीवन की विशेषताएँ थी। जब तक ब्रह्मचारी गुरुकुल मे शिक्षा प्राप्त करते थे तब तक उनमें परस्पर ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का कोई भी भेद-भाव नही रहता था। समानता की भावना सब में थी। गुरु भी सबको समान समझता था और ब्रह्मचारीगण भी आपस मे एक-दूसरे को समान समझते थे। समानता की यह भावना रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र, व व्यवहार आदि मे दृष्टिगोचर होती थी। गुरु के पास रहकर सम्राट का पुत्र अपने राजसी ठाठ-बाट और ऐश्वर्य को भुला देता था तथा रंक का पुत्र अपने ऐहिक अकिंचनत्व को भूलकर अपनी निसर्ग-सिद्ध-सम्पत्ति को पहचानकर अपने अस्तित्व को समझ लेता था। फलतः विद्यार्थियों में परस्पर बड़ी प्रीति, सहिष्णुता और सहानुभूति थी। विद्या-समाप्ति तक ब्रह्मचारीगण निरन्तर गुरुकुलो मे ही रहते थे।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध—भारतीय शिक्षण-पद्धति में गुरु और शिष्य का आनन्दायक, सुमधुर पारिवारिक सम्बन्ध था। ब्रह्मचारी शिष्य अपने गुरु के घर उसके परिवार का सदस्य बनकर विद्याभ्यास के लिए रहता था। गुरु उसे अपने पुत्र के समान समझकर उसका पालन-पोषण करता था और समुचित शिक्षा भी देता था। वह अपने शिष्यो के अध्ययन की ही नही किन्तु खान-पान, वस्त्र, चिकित्सा आदि की भी पूरी चिन्ता करता था और आवश्यकता होने पर सरेणावस्था मे गुरु उनकी परिचर्या भी करता था। शिष्य भी गुरु को पिता के तुल्य समझते थे और पुत्र, दास तथा प्रार्थी की तरह उनकी सेवा करते थे।

शिक्षा-शुल्क—धनी और समर्थ शिष्य अपनी शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व या पश्चात गुरु-दक्षिणा के रूप मे गुरु को शिक्षा-शुल्क अर्पण करने थे और निर्धन

र्थीगण अपनी सेवाओ द्वारा शुल्क प्रदान करते थे। सेवा करके विद्याभ्यास करने वाले शिष्यो के लिए गुरु रात्रि को अध्ययन-अध्यापन के लिए विशेष श्रेणियो की व्यवस्था करते थे क्योकि ये शिष्य दिन मे उनके कार्यो में संलग्न रहते थे। शिक्षा-शुल्क पूर्व मे ही देने के अतिरिक्त अन्त मे गुरु-दक्षिणा के रूप मे भी कुछ धन-द्रव्य देने की प्रथा थी। इस प्रकार शुल्क की प्रणाली होने पर भी कोई भी ज्ञान-प्राप्ति से वंचित नही रहता था। साधारणतया गुरु किसी शिष्य को शिक्षा व ज्ञान देने से इन्कार नही करता था। किसी ब्रह्मचारी शिष्य की निर्धनता के बहाने वह उसे टाल नही सकता था, क्योकि शिष्य सदैव गुरु-सेवा के हेतु तत्पर रहता था। निर्धनता की अवस्था मे खान-पान और वस्त्र का व्यय भिक्षा के द्वारा पूर्ण हो जाता था। तक्षशिला, नालन्दा, जैसे विशाल विश्वविद्यालयो मे केवल प्रवेश के समय ही शुल्क लिया जाता था।

शिक्षा की अवधि—साधारणतया शिक्षा की अवधि बारह वर्ष की होती थी। सामान्यत उच्च शिक्षा बारह वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होकर चौबीस वर्ष की उम्र मे समाप्त हो जाती थी। किसी ब्रह्मचारी के विद्याध्ययन की समाप्ति पर बड़ा समारोह मनाया जाता था, जिसे 'समावर्तन' सस्कार कहते थे। इस अवसर पर गुरु सबको एकत्र करके अपना उपदेश देते थे।

अध्ययन के विषय—वैदिक युग और महाभारतकाल मे वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, दर्शन, कला आदि का अध्ययन किया जाता था। सक्षेप मे, भारतीय विद्या का विभाजन दो भागो मे था--परा विद्या और अपरा विद्या। परा विद्या में आत्मा और परमात्मा का ज्ञान होता था और शेष लौकिक विद्याओं का ज्ञान अपरा से। गुरुकुलो मे दोनो प्रकार की विद्यालयो की शिक्षा दी जाती थी। अपरा विद्या की शिक्षा वर्ण व व्यवसाय के अनुसार दी जाती थी। ब्राह्मणो को विशेषकर धर्म-कर्म की शिक्षा दी जाती थी; क्षत्रियो को धनुर्विद्या, युद्ध विद्या, राजनीति तथा अन्य साधारण शिक्षा दी जाती थी; वैश्यो को वाणिज्य व कृषि-विज्ञान की शिक्षा और शूद्रो को विविध साधारण कलाओ और हस्तकार्य की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार श्रम-विभाजन पर अवलम्बित समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने वर्ण के अनुसार समुचित शिक्षा प्राप्त होती थी। साधारणतया बालकों को श्रेष्ठ, सच्चरित्र और सासारिक कार्यो में सफल बनाने की शिक्षा दी जाती थी।

जातक ग्रन्थो से विदित होता है कि बौद्ध-युग में क्षत्रिय और ब्राह्मण युवक तीनो वेदो और अठारह शिल्पो का अध्ययन करते थे। इन शिल्पों मे धनुर्विद्या, सर्प-विद्या, जादू, गणित, कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य आदि सम्मिलित थे। इस युग में दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, चिकित्सा, मूर्ति, भवन व पोतनिर्माण विद्या में खूब प्रगति हुई थी, अतएव इनका भी अध्ययन किया जाता था। वेदो और यज्ञों की महत्ता कम हो जाने से वेदो और वैदिक विषयो का अध्ययन कम हो गया परन्तु नवविकसित विषय, जैसे व्याकरण, पुराण, न्याय, दर्शन, धर्मशास्त्र, स्मृति, तर्कशास्त्र, वैद्यक, काव्य, साहित्य, कोष, फलित एव गणित, ज्योतिष आदि के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। दिन-प्रतिदिन लौकिक विषयो का महत्त्व बढ़ता जाता था। कालान्तर मे चित्रकला और गृह-निर्माणकला पर भी उचित ध्यान दिया जाता था एव इन विद्याओ मे विशेष योग्यता प्राप्त की जाती थी। लकड़ी और पत्थर पर खुदाई करने की शिल्पकला की शिक्षा भी दी जाती होगी। अजन्ता व बाघ की गुफाये, एलीफेण्टा, महाबलिपुरम, राजगृह तथा अन्य स्थानो के कलात्मक

अवशेष तथा प्राचीन ग्रन्थ इस बात की ओर संकेत करते है कि विविध शिल्पकलाओं की शिक्षा की विशेष परम्पराएँ रही होंगी और तभी तो ललितकलाओं में इतनी प्रशंसनीय प्रगति सम्भव हो सकी। सक्षेप मे, गुरु, पुरोहित, योद्धा, वेदान्ती, शासक, सेवक, व्यवसायी, वणिक, शिल्पी आदि सभी प्रकार के व्यक्तियो के लिए शिक्षा-व्यवस्था थी और उनके अध्ययन के विषय निर्दिष्ट थे।

पाठ्य-प्रणाली—अधिकतर शिक्षा मौखिक होती थी। गुरु-मुख से पाठ श्रवण करने तथा उसके सम्मुख उसे दोहराने व प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली थी। विषय को कण्ठस्थ करने पर अधिक जोर दिया जाता था क्योकि अधिकाश वैदिक साहित्य लिपिबद्ध नही था। कालान्तर में विविध विषयो की पुस्तकें हस्त-लिखित ग्रन्थो के रूप मे तैयार करली गयी। यद्यपि रटने पर जोर दिया जाता था फिर भी इससे शिक्षित व्यक्तियों का पाण्डिय अत्यन्त गम्भीर होता था।

विद्यार्थियों पर व्यक्तिगत रूप से अधिक ध्यान दिया जाता था। गुरु एक-एक विद्यार्थी को अलग-अलग पढाता, उसका पाठ सुनता और अशुद्धियों को ठीक करता था। इस पद्धति का दोष यह था कि गुरु अधिक छात्रों को शिक्षा नही दे सकता था। साधारणतया तक्षशिला और नालन्दा में एक गुरु के पास 15-20 से अधिक विद्यार्थी नही रहते थे। शिक्षण-कार्य में गुरु बड़े और शिक्षित विद्यार्थियों का भी सहयोग लेता था। चीनी यात्री ह्वानच्याग के मतानुसार शिक्षा-प्रणाली श्रेष्ठ थी। प्रत्येक विषय के अध्यापक प्रकाण्ड पण्डित होते थे। विद्यार्थियो के मस्तिष्क में जबरदस्ती कोई भी बात ठूँसने का प्रयास नही किया जाता था बल्कि इसके विपरीत, उनके मानसिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सुस्त विद्यार्थियो को अच्छी प्रकार पढाया जाता था और मन्द-बुद्धि विद्यार्थियों को तीक्ष्ण-बुद्धि बना दिया जाता था। शिक्षा प्रश्न तथा वार्तालाप की प्रणाली से भी दी जाती थी। आवश्यक विषयों पर गुरु विद्यार्थियो के साथ वाद-विवाद करके ज्ञान की वृद्धि भी करते थे। कभी-कभी अन्य लोगो के साथ सार्वजनिक शास्त्रार्थ भी होते थे जिनके श्रवणार्थ ग्राम और नगर के लोग आते थे। इस प्रणाली से विद्यार्थियो में विचार और विश्लेषण की प्रवृत्ति विकसित होती थी। उनमें वाक्पटुता, चिन्तन, मनन, निरीक्षण, तुलना आदि विविध मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित एव पुष्ट होती थी और विद्यार्थियों को वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती थी।

अन्वेषण-कार्य—विद्वान अध्यापक और आचार्य अध्ययन-कार्य से अवकाश पाने पर अपना पर्याप्त समय विविध विद्याओ के अन्वेषण और अनुसन्धान के कार्यों में लगाते थे। परिणामस्वरूप, ये यहित्य, का०्य नाटक, वेदान्त, भाष्य, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, ज्योतिष, गणित, युद्ध-विद्या, चिकित्सा आदि विभिन्न ज्ञान-विकास के विषयों पर अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखने मे समर्थ हुए।

परीक्षाएँ, पदवियाँ एवं उपाधियाँ—प्राचीन भारत में शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त न तो किसी प्रकार की परीक्षाएँ ही होती थी और न विद्यार्थियों को कोई प्रमा-पत्र या उपाधियाँ ही दी जाती थी। परन्तु प्रतिदिन गुरु द्वारा कड़ी मौखिक परीक्षा लेने की प्रथा थी। गुरु प्रतिदिन नया पाठ पढाने के पूर्व गुरुतर मौखिक परीक्षा द्वारा यह जान लेता था कि शिष्य को पिछला पाठ पूर्ण रूप से स्मरण हुआ है या नहीं। शिक्षा-समाप्ति के पश्चात समावर्तन-सस्कार से पूर्व अनेक बार गुरु अपने शिष्यों को विद्वानो की मण्डलियों और परिषदों तथा राजसभाओं में उपस्थित करते थे। वहाँ

उनसे विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछे जाते थे अथवा उन्हें शास्त्रार्थ मे भाग लेना पड़ता था । इस प्रकार योग्यता, विद्वत्ता और पाण्डित्य की परीक्षा वाद-विवाद या शास्त्रार्थ द्वारा होती थी । कालान्तर मे विक्रमशिला विश्वविद्यालय मे समावर्तन के समय विद्यार्थियो को उपाधियाँ देने की प्रथा प्रचलित हो चली थी और मध्यकालीन बगाल मे तर्कचक्रवर्ती, तर्कालंकार आदि प्रतिष्ठित पदवियाँ दी जाने लगी थी ।

स्त्री-शिक्षा—पुरुषो के समान स्त्रियो को भी शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था । वैदिक युग मे उन्हे सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी । फलत कुछ स्त्रियाँ तो इतनी अधिक विदुषी हो गई थी कि उन्होंने अनेक वेद-मन्त्रों की रचना की और आध्यात्मिक विद्या पर शास्त्रार्थ किये । वालको और बालिकाओ की शिक्षा में विभिन्नता थी । यदि बालको की शिक्षा का उद्देश्य उन्हे श्रेष्ठ, सच्चरित्र और लौकिक जीवन मे सफल बनाना था तो बालिकाओ की शिक्षा का लक्ष्य उन्हे उत्तम गृहिणी और श्रेष्ठ माता बनाने का था । उस समय बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा (co-education) की प्रणाली नही थी । दोनो के लिए पृथक्-पृथक् गुरुकुल या शिक्षा-स्थान होते थे । इसका प्रमाण भवभूति के नाटक 'उत्तर-रामचरित' मे वर्णित कन्या गुरुकुल है । इसी प्रकार वात्स्यायन के 'कामशास्त्र' से भी यह प्रकट होता है कि कन्याओ को अन्य विपयो के साथ-साथ विविध ललितकलाओ की शिक्षा भी दी जाती थी ।

विशिष्ट शिक्षण-सस्थाएँ—प्राचीन भारत मे आजकल की भाँति सुसगठित शिक्षण-सस्थाएँ नही थी । पर ऐसी सस्थाओ का उत्कर्ष बौद्ध-युग में हुआ था । बौद्ध वहार इनका प्रथम स्वरूप था । इनमें प्रथम तो बौद्ध धर्म की भिक्षुणियों और बाद मे साधारण जनता को व्यवस्थित ढग से शिक्षा प्रदान की जाती थी । इन विहारों आधार पर नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयो का प्रादुर्भाव हुआ । नवी और दसवी शताब्दी में हिन्दू मन्दिरो ने भी शिक्षण-कार्य मे बौद्ध विहारो का अनुकारण किया ।

विभिन्न विशिष्ट स्थानो पर विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए समुचित प्रवन्ध था । शिक्षा के ऐसे केन्द्र प्राय पाँच प्रकार के थे—विशाल राजधानियाँ, प्रमुख तीर्थ-स्थान, बौद्ध विहार, हिन्दू मन्दिर और अग्रहार ग्राम । अनेक राजा और शासक स्वयं विद्वान होने से शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देते थे । स्वय लेखक व विद्याप्रेमी होने से वे विद्वानो व पण्डितो के उदार आश्रयदाता होते थे । उनकी राजसभाओ मे दूर-दूर के विद्वानों का जमघट रहता था । फलत उनकी राजधानियाँ विद्वानो, आचार्यो व साहित्यिको का केन्द्र होती थी और उनका लाभ उठाने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ आते थे । इस प्रकार कालान्तर मे राजधानियाँ शिक्षा-केन्द्र हो गयी । कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जैन, तक्षशिला, पैठन, कल्याणी आदि ऐसे ही शिक्षा-केन्द्र थे । प्रसिद्ध धार्मिक तीर्थस्थान प्राचीनतम काल से ही विद्वानो और पण्डितो के केन्द्र रहे के । ये लोग अपने पृथक-पृथक अध्यापन-केन्द्र चलाते थे । वाराणसी, काँची, नासिक व उज्जयिनी विद्वान ब्राह्मणो एव आचार्यों के कारण प्रधान शिक्षा-केन्द्र हो गये थे । साराणसी या काशी शिक्षा का उच्च केन्द्र माना जाता था । जब कभी पण्डितो मे साहित्यिक वाद-विवाद होता था तो काशी के पण्डितो की बात का निर्णय अन्तिम माना जाता था । उज्जैन तो हिन्दू ज्योतिष विद्या की शिक्षा के लिए प्रधान केन्द्र बन गया था । यहाँ एक उत्तम वेधशाला थी । यह प्राचीन भारत का ग्रीनविच था ।

eenwich) था । ऐसा माना जाता है कि प्रथम मुख्य मध्य रेखा उज्जैन में होकर डाली गई एवं ज्योतिष तथा खगोल विद्या सम्बन्धी समस्त गणना इसी आधार पर की जाती थी । यदि बौद्ध विहार बौद्ध संस्कृति, बौद्ध धर्म व बौद्ध दर्शन व शास्त्र के शिक्षण-केन्द्र थे तो कालान्तर में हिन्दू मन्दिर भी हिन्दू धर्म, संस्कृति और शास्त्रों के शिक्षण के प्रमुख केन्द्र बन गये, विशेषकर दक्षिण भारत मे । उन विद्वान ब्राह्मण कुलों को जो अध्यापन कार्य करते तथा धार्मिक क्रिया-विधियों के कार्य करते थे, राज्य की ओर से कुछ ग्राम स्थाई रूप से जीवन-निर्वाह के हेतु दान दिये जाते थे । ऐसे ग्रामों को अग्रहार कहते थे । इन ग्रामों में ब्राह्मण पठन-पाठन का कार्य करते थे । फलत ये ग्राम उच्च शिक्षण-केन्द्र बन गये थे । सर्वज्ञपुर (हसन जिले के आर्सिकेरी) तथा राष्ट्रकूट राज्य का काडिपुर (वर्तमान कलस) ऐसे ही अग्रहार गाँव थे जो शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे ।

प्राचीन भारत के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय

तक्षशिला—हमारे देश का सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला था । यह पश्चिमी पंजाब के रावलपिण्डी नगर के लगभग 28 किलोमीटर दूर पर स्थित था । ऐसा कहा जाता है कि राम के छोटे भाई भरत के कनिष्ठ पुत्र तक्ष ने तक्षशिला नगर बसाया था और वह उसका प्रथम शासक था । पुरातन-युग में यह सभ्यता का प्रसिद्ध केन्द्र रहा था । ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा बाद की छठी शताब्दी तक इस नगर की प्रगति हुई । परन्तु सीमा पर स्थित होने के कारण इसका सामरिक महत्त्व था । फलत. भारत पर निरन्तर होने वाले आक्रमणों के कारण यह नगर विध्वंस हो गया । यद्यपि रामायण और महाभारत के युग मे यह प्रख्यात शिक्षण-केन्द्र नहीं था, तथापि ईसा बाद की प्रारम्भिक सदियों मे यह स्थान इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि यहाँ देश-विदेश के विद्यार्थी वेद, अर्थशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओं के अध्ययन के लिए आते थे । राजगृह, वाराणसी, मिथिला जैसे दूरस्थ नगरो से भी अनेक छात्र यहाँ विद्याभ्यास के लिए आते रहते थे । पाणिनि जैसे व्याकरण के धुरन्धर पण्डित एवं अर्थशास्त्र तथा राजनीति के महापण्डित विष्णुगुप्त कौटिल्य और भृत्यकुमारजीव जैसे प्रख्यात शल्य-चिकित्सक (सर्जन) ने तक्षशिला विश्वविद्यालय मे ही शिक्षा प्राप्त की थी ।

तक्षशिला में आजकल के समान विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, सुव्यवस्थित विद्यापीठ या वेतनभोगी शिक्षक नहीं थे, न कोई निर्दिष्ट पाठ्यक्रम व शिक्षा-अवधि ही थी और न कोई परीक्षा, प्रमाणपत्र या उपाधियाँ ही थी । यह तो शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ विभिन्न विद्याओं और कलाओं के धुरन्धर पण्डित और विद्वान रहते थे । इनके घरों पर रहकर छात्र विद्याध्ययन करते थे । किसी-किसी ग्रन्थ में यहाँ के एक-एक आचार्य के पास पढ़ने वाले सौ छात्रों का उल्लेख है तो जातक ग्रन्थों मे पाँच सौ विद्यार्थियो का । प्राय यहाँ उच्च शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु सोलह वर्ष की थी और छह से आठ वर्ष का अध्ययन चलता था । निर्धन विद्यार्थी दिन में काम करते और रात्रि को अवकाश में पढ़ते थे । कभी-कभी छात्र शिक्षा समाप्त होने के पश्चात शुल्क देने की प्रतिज्ञा करते थे । शुल्क देने वाले छात्र गुरु के घर पुत्र के समान रहते थे । गुरु व्यक्तिगत रूप से छात्र की ओर ध्यान देता था और उसके श्रेष्ठ, सादे जीवन व उच्च आचरण पर विशेष बल दिया जाता था । यहाँ साहित्यिक, धार्मिक और लौकिक सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी जिसमे तीनो वेद और 18

शिल्प-विद्याएँ प्रधान थीं। व्याकरण, धनुर्विद्या, हस्त-विद्या, मन्त्र-विद्या, शल्य-विद्या और चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक आचार्य अपना पाठ्यक्रम और शिक्षाकाल निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र था। अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात छात्रगण शिल्पकलाओ और व्यवसायो का क्रियात्मक अनुशीलन और अध्ययन करने तथा विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यटन करते थे।

नालन्दा—तक्षशिला के समान दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा था। यह आधुनिक पटना के दक्षिण-पश्चिम मे 65 किलोमीटर दूर स्थित बड़गाँव मे विद्यमान था। शक्रादित्य (सम्भवतः कुमारगुप्त प्रथम, 414-454 ई०) ने एक बौद्ध विहार की स्थापना करके नालन्दा की नीव डाली थी। इसके पश्चात गुप्त राजाओ के उदार दानो से इसका बड़ा विकास हुआ। कालान्तर में इस विश्वविद्यालय मे चतुर्दिक गगन-चुम्बी विहार बन गये जिनके बीच-बीच मे सभा-गृह और विद्यालय स्थित थे। इनके चतुर्दिक बौद्ध आचार्यों प्रचारको के निवास के लिए चार मंजिल वाले भवन थे। इस विश्वविद्यालय में भव्य बौद्ध मन्दिर का केन्द्रीय देवालय था, कई विशाल पुस्तकालय थे और छह बड़े विद्यालय थे। कुल आठ बड़े-बड़े हॉल और तीन सौ छोटे कमरे थे जिनमें प्रतिदिन व्याख्यान होते थे। विश्वविद्यालय मे तीन प्रमुख भव्य भवन थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक। रत्नोदधि नौमंजिला था जिसमे धार्मिक और तान्त्रिक ग्रन्थ रखे जाते थे। भिक्षुओ के लिए अनेक कक्ष थे। कुछ कमरे एक ही भिक्षु के हेतु व कुछ दो के लिए थे, पर पर सभी मे शयन के लिए एक या दो प्रस्तर-शैयाएँ, दीपक तथा पुस्तको के हेतु निर्दिष्ट ताक थे। ह्वानच्याग के वर्णनानुसार नालन्दा की सबसे ऊपर की मंजिल बादलो से भी ऊँची थी। वहाँ बैठकर व्यक्ति यह देख सकता था कि नभ मे घन किस प्रकार अपनी आकृति और रूप बदलते है।

नालन्दा में लगभग दस सहस्र विद्यार्थी शिक्षा को ग्रहण करते थे। इसका यश-गौरव इतना था कि कोरिया, चीन, तिब्बत, मंगोलिया, मध्य एशिया आदि दूर-दूर देशों के छात्र विद्याध्ययन के लिए यहाँ आते थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नही लिया जाता था। उनको भोजन, वस्त्र, शैया, निवास-स्थान, चिकित्सा शिक्षा सभी कुछ निःशुल्क था। प्रवेश के समय विद्यार्थियों से बड़े कठिन प्रश्न पूछे जाते थे। उनका समुचित उत्तर देने पर ही उनका प्रवेश सम्भव था। बहुधा दस में से दो-तीन प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थी ही सफल होते थे।

शिक्षा केवल धार्मिक विषयो तक ही सीमित नही थी और न किसी विशेष एक धर्म या सम्प्रदाय से ही उसका सम्बन्ध था। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य, धर्म और दर्शन के अतिरिक्त वेद, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, व्याकरण, चिकित्सा, दर्शन, तन्त्र-मन्त्र आदि का भी अध्ययन होता था। ग्रह-नक्षत्र आदि को देखने और उनका अध्ययन करने के लिए यहाँ एक वेधशाला थी। 'धर्मगंज' नामक विशाल पुस्तकालय नालन्दा की एक विशेषता थी। वाद-विवाद तथा व्याख्यान द्वारा शिक्षा दी जाती थी और प्रतिदिन एक सहस्र व्याख्यान होते थे। शिक्षा विभाग में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभाकर मित्र, जिनमित्र, भद्रसेन, जिनचन्द्र, शान्तिरक्षित, शीलभद्र आदि प्रसिद्ध आचार्य थे। आचार्य शान्तिरक्षित के समय नालन्दा विश्वविद्यालय की कीर्ति विश्वव्यापी हो चुकी थी और विश्वविद्यालय के एक अन्य कुलपति शीलभद्र अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे जिनके चरणों पर बड़े-बड़े सम्राट भी अपना मस्तक झुकाते

थे। नालन्दा मगध और भारत का ही ज्ञान-भण्डार नही था, अपितु विश्व मे ज्ञान-विज्ञान का पथ-प्रदर्शक भी था और आठवी शताब्दी तक उसे अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। ग्यारहवी शताब्दी में पालवंशी राजाओं द्वारा विक्रमशिला विश्व-विद्यालय को प्रोत्साहन देने से तथा बारहवी शताब्दी मे तुर्को के भयकर आक्रमणों और अमानुषिक प्रहारों से यह विद्यालय नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

वलभी—सातवी शताब्दी मे सौराष्ट्र मे वलभी नामक विश्वविद्यालय था जो नालन्दा के समान ही प्रसिद्ध था। अनेक विद्यार्थी अपनी उच्च शिक्षा पूर्ण करने के लिए नालन्दा तथा वलभी में निवास करते थे। इस विश्वविद्यालय को राजाओ के प्रचुर दान से पूर्ण सहायता प्राप्त होती थी। कई बार समूचे भारत के विद्वान विवाद-ग्रस्त तथा सम्भव और असम्भव सिद्धान्तो पर वाद-विवाद और विचार-विनिमय करने के लिए वलभी में एकत्रित हुए थे। यहाँ के आचार्यगण अपने पाण्डित्य और विद्वत्ता के लिए समस्त देश में प्रख्यात थे और इसलिए देश के दूर-दूर के प्रदेशों से छात्र यहाँ अध्ययन के लिए आते थे।

विक्रमशिला—विहार मे भागलपुर से लगभग 38 किलोमीटर दूर पथरडाटा स्थान पर पालवश के नरेशो ने आठवी शताब्दी मे विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। यह अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित था। चार शताब्दियों तक यह भारत का प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र रहा। इस विश्वविद्यालय के चतुर्दिक चार प्रवेश-द्वार थे और प्रत्येक पर प्रवेशार्थी विद्यार्थियो की परीक्षा के हेतु एक विद्वान पंडित रहता था। यहाँ भारतीय विद्यार्थियो के साथ-साथ अन्य विदेशी छात्र भी विद्याध्ययन करते थे। उनके निवास, भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था विश्व-विद्यालय की ओर से होती थी। विदेशी विद्यार्थियो के लिए अनेक सुविधा और साधन थे। इस विश्वविद्यालय का तिव्वत के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध होने के कारण यहाँ तिव्वती विद्यार्थियो के लिए धर्मशाला की विशेष व्यवस्था थी। यहाँ के अनेक विद्वान आचार्य तिव्वत गये थे और उन्होने अनेक सस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद तिव्वत की भाषा मे किया था। इस विद्यालय में रत्नवज्र, कृष्णसमरवज्र, लीलावज्र, तथा गतरक्षित, दीपंकर श्रीज्ञान, वोधिभद्र, कमलरक्षित और नरेंद्र श्रीज्ञान जैसे धुरन्धर आचार्य थे। इनमें दीपंकर श्रीज्ञान विशेष उल्लेखनीय है। इन्होने लगभग दो सौ पुस्तकें लिखी एव अनुवादित की। इस विश्वविद्यालय मे एक विशाल पुस्तकालय, सहस्रों तान्त्रिक देवालय एव मध्य मे वोधिसत्व की भव्य प्रतिमा थी। यहाँ धर्म, साहित्य, व्याकरण, न्याय, दर्शन तथा तन्त्र-मन्त्रशास्त्र का विशेष अध्ययन होता था। शिक्षा समाप्त हो जाने पर यहाँ पाल नरेशों द्वारा उपाधियाँ और पदवियाँ प्रदान की जाती थी। 1203 ई० के विजयमदान्ध मुहम्मद विन विख्तयार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय को दुर्ग समझकर आक्रमण किया और वर्वरता से इसका विध्वस कर दिया।

कश्मीर—ग्यारहवी शताब्दी मे विदेशी यात्री अलवरूनी ने कश्मीर को शिक्षा का वड़ा केन्द्र वताया है। दूर-दूर देशों के विद्यार्थी यहाँ साहित्य और वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के पण्डित और आचार्यगण अपने अलग-अलग अध्यापन-केन्द्र चलाते थे। नालन्दा या विक्रमशिला जैसा कोई सुसगठित या सुव्यवस्थित विश्वविद्यालय यहाँ नही था।

उपरोक्त वर्णन से ऐसा भास होता है कि भारतीय शिक्षण-पद्धति ऐसी सुसम्पन्न थी कि उसने भारतीयो की शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियो का ऐसा उच्चतम

विकास हुआ कि ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों मे प्राचीन युग मे भारतीय विश्व का नेतृत्व करते रहे। परन्तु धर्मोन्मत्त मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस शिक्षण-प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

मुस्लिम-युग में शिक्षा-व्यवस्था

मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक युग मे यवनो ने अनेक शिक्षण-सस्थाएँ विध्वस कर दी, आचार्यों को कत्ल कर दिया और हस्तलिखित ग्रन्थो से भरे हुए अनेक पुस्तकालयों मे आग लगा दी। इससे प्राचीन शिक्षण-पद्धति अस्त-व्यस्त हो गयी परन्तु जब शान्ति व व्यवस्था स्थापित हुई तब दिल्ली के मुसलमानों ने शिक्षा की ओर किंचित ध्यान दिया। यद्यपि शिक्षा का कोई क्रम निर्दिष्ट नही था और न कोई सुव्यवस्थित विद्यालय ही स्थापित किये गये थे, तथापि अनेक स्थानों पर मस्जिदो मे मकतब खोले गये, जिनमें कुरान की आयतों व अरबी का अध्ययन होता था। संस्कृत का स्थान अब अरबी और फारसी ने ले लिया था। हिन्दू जनता के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नही थी। स्त्री-शिक्षा की ओर तो किसी का ध्यान ही नही था।

कालान्तर मे जब हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियो का सम्मिश्रण हुआ और मुगलकाल में अराजकता का दमन होकर शान्ति व व्यवस्था स्थापित हुई, तब शिक्षा मे भी परिवर्तन हुआ। मुगल सम्राटो और शासको ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। मुगल सम्राट स्वय साहित्य व शिक्षा के प्रेमी थे और पण्डितो, विद्वानो तथा आचार्यों के उदार संरक्षक थे। बाबर ने सुन्दर लेखन कला की ओर विशेष ध्यान दिया। हुमायूँ ने एक ग्रन्थालय स्थापित किया, ज्ञान-विज्ञान के अनेक विद्वानो को आश्रय दिया, कलाओ और विद्याओं का प्रसार किया, एव जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने अनेक पाठशालाएँ स्थापित की। शिक्षा-प्रणाली और पाठ्य-क्रम मे सुधार हुआ और शिक्षा-व्यवस्था पहले की अपेक्षा सुव्यवस्थित हो गयी।

मुस्लिम युग मे शिक्षा के उद्देश्य थे—मुसलमानों मे ज्ञान का प्रकाश करना, इस्लाम धर्म का ज्ञान प्रदान करना, इस्लाम धर्म का प्रसार करना था। मुस्लिम युग में शिक्षा का प्रारम्भ "बिस्मिल्लाह" सस्कार से किया जाता था। बिस्मिल्लाह संस्कार का प्रारम्भ बालक के 4 वर्ष, 4 मास तथा 4 दिन का होने पर किया जाता था। इस अवसर पर बालक को नवीन वस्त्र धारण कराकर किसी विद्वान मौलवी के समक्ष उपस्थित किया जाता था। मौलवी बालक को कुरान की भूमिका सुनाता और उससे बिस्मिल्लाह शब्द कहलाता था। प्रारम्भ मे बालक को लिपि-ज्ञान कराया जाता था और जब उसे लिपि का ज्ञान हो जाता था, तब उसे कुरान का 30 वाँ भाग पढ़ाया जाता था और उसके बाद बालक को लिखना सिखाया जाता था।

मुस्लिम शासनकाल मे शिक्षण-संस्थाएँ दो प्रकार की थी—(2) मकतब, और (5) मदरसे। गाँवो और नगरों में मस्जिद से सम्बन्धित मकतब होते थे। मकतब एक छोटी-सी पाठशाला के समान थे। यहाँ बालक-बालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। उन्हे लिखना-पढना, गणित, कुरान, प्रख्यात धर्मोपदेशको और सन्तो की जीवन-गाथाएँ और ऐतिहासिक कहानियाँ पढायी जाती थी। शिक्षा मुस्लिम धर्म के अनुसार होती थी। अरबी और फारसी की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस युग में लेखनकला को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था और छात्रों को सुन्दर अक्षर और लिपि लिखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता था। छात्रो की नैतिकता के विकास पर अधिक बल दिया जाता था और इसके लिये गुलिस्ता और

वोस्तां पढ़ाये जाते थे। हिन्दू बालकों के लिए शिक्षा की कोई पृथक् व्यवस्था नहीं थी। मकतबों मे शिक्षा ग्रहण करना उनके लिए कठिन था। अतएव पण्डित या ब्राह्मण अपने-अपने घरो मे हिन्दू बालकों को शिक्षा देते थे। मकतब से ऊपर मदरसे होते थे। ये उच्च शिक्षण-संस्थाएँ थी जिनमें मुस्लिम दर्शन, कानून, धर्म, साहित्य व्याकरण, इतिहास, चिकित्सा और तर्कशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। कुछ मदरसो मे वास्तुकला और शिल्पकला की भी शिक्षा दी जाती थी। अध्ययन-अध्यापन का माध्यम अरबी भाषा था। उच्च मदरसों के साथ विशाल पुस्तकालय जुड़े हुए थे। इन मदरसों में अरबी, फारसी, और मुस्लिम धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् अध्यापन-कार्य करते थे। ऐसे मदरसे दिल्ली, आगरा, फतहपुरसीकरी, जौनपुर, बदायूँ, बीदर आदि प्रसिद्ध नगरो मे थे। इनके व्यय के लिए मुस्लिम नरेशो और शासकों की ओर से भूमि तथा धन की व्यवस्था थी।

मुस्लिम युग मे गुरु-शिष्य के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। दोनो अपने-अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग थे। मुस्लिम शिक्षा मे दड को प्रमुख स्थान था और दण्ड प्रणाली अत्यन्त कठोर थी। मुस्लिम शिक्षा प्रणाली का यह बडा दोष था कि शिक्षा मे इस्लाम धर्म की प्रमुखता थी और शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा सगठन इस प्रकार था कि उससे मुख्यतया मुसलमान ही लाभान्वित होते थे उसमें सार्वजनिकता का पूर्ण अभाव था।

दिल्ली सुलतानों ने इस्लामी शिक्षा का प्रसार किया। इल्तुतमिश पथम सुलतान था जिसने दिल्ली मे "मदरसे मुइज्जी" नामक प्रथम मदरसा स्थापित किया। अलाउद्दीन के समय में दिल्ली मंगोल आक्रमणो के कारण विदेशो मे छाये मुस्लिम विद्वानों के मिलन का स्थान बन गया था। अलाउद्दीन ने हौजेखास के पास एक मदरसा बनवाया था। तुगलक सुलतानों ने इस्लामी शिक्षा के प्रसार मे अधिक योगदान दिया। मुहम्मद तुगलक ने 1346 मे दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया। फिरोज तुगलक के शासनकाल मे दिल्ली शिक्षा का केन्द्र बन गया था। फिरोज तुगलक ने उच्च शिक्षा के प्रसार के लिये 30 मदरसे स्थापित किये। 'मदरसाये फिरोजशाही' उसका सबसे प्रसिद्ध मदरसा था जो दिल्ली में हौजखास के समीप बनवाया गया था। इस समय सुन्दर वातावरण में निर्मित दिल्ली के समीप सीरी का प्रसिद्ध मदरसा भी था। सैयद सुलतानों के समय बदायूँ शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। सिकन्दर लोदी ने भी मदरसे खोले और विद्वानो को राज्य की ओर से अनुदान दिये। इस समय जौनपुर भी शिक्षा व साहित्य का बडा केन्द्र बन गया था।

दक्षिण भारत मे भी बहमनी सुलतानों ने कई मकतब व मदरसे स्थापित किये। दक्षिण भारत मे वजीर मुहम्मद गवा ने बीदर मे एक बड़ा मदरसा स्थापित किया जिसके पास पुस्तकालय मे हजारों बहुमूल्य ग्रन्थ थे।

मुगलो के शासनकाल मे इस्लामी शिक्षा की विशेष प्रगति हुई। मुगल बादशाह विद्यानुरागी होने से उन्होने कई मकतब और मदरसे स्थापित किये। हुमायूँ ने दिल्ली मे एक बडा मदरसा और ग्रन्थालय स्थापित किया और पुराने किले मे शेरशाह के आरामगाह को ग्रन्थालय मे परिवर्तित कर दिया। अकबर के शासनकाल मे शिक्षा के सभी क्षेत्रो मे उन्नति हुई। उसने विद्वानो को सरकार की ओर से जागीरें व वजीफे दिये। उसने राजधानी मे एक सग्रहालय स्थापित किया जिसमे 24000 बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ थे। उसने सस्कृत के कई ग्रन्थो का फारसी मे अनुवाद करवाया। उसने आगरा, फतेहपुर सीकरी और अन्य स्थानो मे कई मदरसे खोले। उसने तकनीकी

शिक्षा के विकास में भी विशेष रुचि ली। जहाँगीर ने उन मदरसों का जीर्णोद्धार करवाया जो 30 वर्षों मे वीरान हो गये थे। शाहजहाँ ने दिल्ली मे जामा मस्जिद के पास एक मदरसा बनवाया और विद्वानों को सरक्षण दिया। औरंगजेब धर्मांध बादशाह होने से उसने हिन्दू मदिरो व शिक्षण संस्थाओ को नष्ट कर दिया। उसने इस्लाम धर्म और इस्लामी शिक्षा के लिये कई मदरसो और मकतबों की व्यवस्था की। उसने राज्य के ग्रन्थालय मे बहुमूल्य ग्रन्थो को रखवाया और इस्लामी शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाया।

स्त्रियो की शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नही थी, यद्यपि प्रारम्भ मे बालक और बालिकाएँ साथ-साथ पढते थे, परन्तु ऊँची कक्षाओ मे उनकी शिक्षा के लिए कोई प्रवन्ध नही था। मुसलमानो मे पर्दा-प्रथा होने से अधिकांश स्त्रियाँ शिक्षा से वचित रहती थी। परन्तु राजकुमारियो की शिक्षा का अच्छा प्रवन्ध हो जाता था। सामन्तगण भी अपनी कन्याओ की शिक्षा की व्यवस्था कर लेते थे। व्यावसायिक शिक्षा या विभिन्न शिल्पकलाओ की शिक्षा के हेतु भी कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी शिक्षा प्राय. उस व्यवसाय या शिल्पी के जानने वाले उस्ताद के पास रहकर ही प्राप्त की जाती थी।

अंग्रेजी शासनकाल में शिक्षा

1. **प्रारम्भिक युग**—मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात हमारे देश मे शिक्षा की प्रगति धीमी पड गयी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से और देश के राजनैतिक मामलो मे उसके द्वारा हस्तक्षेप होने से भारत की राजनीतिक परिस्थिति डावाँडोल होने लगी। इसका प्रभाव हमारी शिक्षा तथा शिक्षण संस्थाओ पर भी पड़ा। अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी देश मे शिक्षा-प्रसार करने के प्रति उदासीन रही। भारतीयो मे शिक्षा की उन्नति के लिए कोई ध्यान ही नही दिया गया और अंग्रेज ईस्ट इण्डिया ने उसे अपना कर्तव्य ही नही समझा। उसका प्रमुख उद्देश्य धनोपार्जन होने से प्रत्येक कार्य मे उसकी व्यापारिक नीति रही। इसके अतिरिक्त वह यह सोचती थी कि भारतीय धर्म-प्रेमी है, ऐसा न हो कि कम्पनी के शिक्षा-कार्य से वे अपने धर्म पर आघात समझे और कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह कर दें। अन्त मे जब ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने उसे भारतीय शिक्षा की ओर ध्यान देने को बाध्य किया तब उसने भारत मे प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को जारी रखने में सहयोग व सहायता दी।

परन्तु कम्पनी द्वारा इस दिशा मे कोई निश्चयात्मक कदम उठाने के पूर्व देश मे ईसाई धर्म-प्रचारको, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कतिपय अधिकारियो और जन-सेवा के भावी उदार भारतीयों के प्रयत्नो से शिक्षा मे प्रगति हो चली थी। 1725 ई० मे यूरोपीय धर्म-प्रचारको (missionaries) ने नास्तिको (ईसाई धर्म में अविश्वास करने वाले) और मुसलमानो के वच्चो के लिए सत्रह पाठशालाओ की स्थापना की एव ईसाइयो के हेतु चार मिशनरी शालाएँ भी स्थापित की। 1727 ई० मे प्रथम अंग्रेजी प्रोटेस्टेण्ट 'मिशन' मद्रास पहुँचा और शिक्षा की ओर बाद में प्रयास किया। 1804 ई० मे लन्दन 'मिशनरी सोसाइटी' ने लका, दक्षिण भारत और अन्त में बंगाल में भी अंग्रेजी पाठशालाएँ स्थापित की। इन मिशनरी शालाओं मे नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी और इनमें उच्च-वर्ग के वे ही हिन्दू अपने बालको को शिक्षा

के लिए भेजते थे जो अपने लड़कों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कारकुन की नौकरी दिलवाना चाहते थे।

इन ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कलकत्ता से पच्चीस किलोमीटर दूर सेरामपुर (श्री रामपुर) को अपना केन्द्र बना लिया। वहाँ से वे भारतीयो की शिक्षा और उनका धर्म परिवर्तन करने के प्रयत्न करने लगे। वहाँ उन्होंने एक पत्र निकाला और एक मुद्रणालय स्थापित कर छब्बीस देशज भाषाओ मे वाईविल का अनुवाद कर प्रकाशित कर दिया। ईसाई धर्म-प्रचारकों मे केरी, टॉमस, मार्शमैन, वार्ड और डेविड ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने शिक्षा-क्षेत्र मे प्रशसनीय कार्य किया। इन प्रचारकों के प्रयत्नों से ही 1810 ई० में कलकत्ता में विशप्स कालिज (Bishop's College) की स्थापना हुई।

शिक्षाक्षेत्र मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियो ने भी प्रमुख भाग लिया। 1781 ई० मे वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता मे एक मदरसा स्थापित किया। इसमे अरवी माध्यम के द्वारा मुसलमान वालकों को शिक्षा दी जाती थी। 1791 ई० में वाराणसी के अग्रेज रेजीडेण्ट जोनाथन डकन ने सस्कृत कालिज की स्थापना की। इसमे हिन्दुओ को धर्म, साहित्य और कानून की शिक्षा दी जाती थी जिससे ऐसे योग्य हिन्दू सहायक प्राप्त हो सके जो यूरोपीय न्यायाधीशो को न्याय-दान में सहायता दें। 1784 ई० में कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के विलियम जोन्स ने वारेन हेस्टिंग्स की सहायता से 'वगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की। प्राचीन भारतीय विचारो और तत्त्वों को विश्व के समक्ष प्रकट करके इस संस्था ने आधुनिक भारत के सास्कृतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

जन-सेवा व परोपकारी भारतीयों ने भी इस युग के शिक्षाक्षेत्र मे प्रशंसनीय कार्य किये। इनमे राजा राममोहन राय, राजा राधाकान्त देव और जयनारायण घोपाल विशेप उल्लेखनीय है। राजा राममोहन राय, डेविड और सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन प्रमुख न्यायाधीश हाइड ईस्ट ने 1816 ई० में कलकत्ता मे हिन्दू कॉलिज की स्थापना की जो कालान्तर मे कलकत्ता का प्रसिद्ध प्रेसीडेंसी कॉलिज हो गया। 1817 ई० मे राजा राममोहन राय ने हिन्दू वालको की नि.शुल्क शिक्षा के हेतु कलकत्ता मे एक अंग्रेजी पाठशाला खोली।

2. ईस्ट इण्डिया कम्पनी की 1813 ई० की सनद और शिक्षाक्षेत्र में अनुदान की नीति—1813 ई० में जव ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सनद मे परिवर्तन किया तव भारतीय शिक्षा के लिए कम्पनी का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया गया और निश्चित किया गया कि प्रति वर्प कम्पनी कम से कम एक लाख रुपया शिक्षा की प्रगति के लिए व्यय करे। 1823 ई० में इसी धनराशि मे से 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी' और 'कलकत्ता स्कूल सोसाइटी' को शिक्षा के हेतु अनुदान (Grants) दिये गये और इस अनुदान-वितरण के लिए एक कमेटी 'Committee of Public Instiuction' की भी स्थापना की गयी। इस कमेटी ने विशुद्ध संस्कृत शिक्षा की ओर ध्यान दिया एवं 1824 ई. मे कलकत्ता में और 1825 ई. में दिल्ली मे सस्कृत कॉलिज की स्थापना की। कलकत्ते के मदरसे के लिए कम्पनी ने 1819 ई० से तीस हजार रुपया वार्षिक अनुदान देना प्रारम्भ कर दिया। 1816 ई. मे मद्रास मे भी एक महाविद्यालय तथा कतिपय पाठशालाएँ खोली गयी।

1835 ई. के पूर्व तीन प्रकार की शालाएँ विद्यमान थीं—(1) वर्नाक्यूलर पाठशालाएँ, (2) ईसाई मिशनरी स्कूल जिसमे अग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था थी, और

(3) ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकारी पाठशालाएँ जिनमे शिक्षा या तो अंग्रेजी अथवा हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा दी जाती थी। 1830 ई. तक कम्पनी की सरकार अपनी उपेक्षा को हटाकर शिक्षा-प्रचार की समर्थक हो गयी। 1823 ई. और 1833 ई० के बीच शिक्षा का प्रधान अंग-अंग्रेजी का प्रचार ही समझा जाता था। लोग अरबी या संस्कृत माध्यम को छोडकर उच्चतम शिक्षा के लिए अंग्रेजी माध्यम को ही अधिक पसन्द करते थे। ईसाई पादरियो और धर्म-प्रचारको तथा राजा राममोहन राय जैसे धर्म-सुधारको के शिक्षा-प्रसार के कार्य से अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। कम्पनी ने भी शिक्षा का समर्थन किया क्योंकि उसे अपने दफ्तरो, गोदामो और कारखानो में अंग्रेजी ढग से शिक्षित व अंग्रेजी भाषा मे पूर्ण अवगत ऐसे युवको की आवश्यकता थी जो कम्पनी के कारकुन बने।

3. अंग्रेजी माध्यम का निश्चय और शिक्षा-प्रसार (1835-1854 ई०)—इसी बीच शिक्षा के माध्यम की समस्या के लिए दो विभिन्न विरोधी समुदायो का उत्कर्ष हुआ। राजा राममोहन राय और उसके अनुयायी अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष मे थे और विलसन तथा अन्य विद्वान देशी भाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष मे थे। वे संस्कृत व अरबी की प्रगति चाहते थे। इसी बीच लॉर्ड मेकॉले जो भारत के गवर्नर-जनरल की कौंसिल का कानून-सदस्य (Law-Member) था, 'Committee of Public Instruction' का सभापति हो गया। उसने कमेटी मे 2 फरवरी को अंग्रेजी शिक्षा और माध्यम का समर्थन किया। वह इस बात पर सहमत हो गया कि संस्कृत या अरबी सीखने की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा को सीखना अधिक सरल है। उसका मत था कि पूर्वीय भाषाओ मे अध्ययन के हेतु कोई साहित्य ही नही है। उसने पूर्वी साहित्य की हँसी उडाते हुए उसकी निन्दा की। एक अंग्रेज कूटनीतिज्ञ के नाते उसने यह स्पष्ट कह दिया था कि "हमे अपनी समस्त शक्ति लगाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी बना सके जिसमे व्यक्ति, जाति और रंग तो भारतीय ही रहे परन्तु रुचि, विचार और भाषा मे पूर्ण अंग्रेज हो।" वास्तव मे उस समय भारत मे अंग्रेजी साम्राज्य को सुदृढ रखने के हेतु यह अनिवार्य था कि भारतीय अपनी संस्कृति और सभ्यता का विस्मरण कर अंग्रेजी सभ्यता व संस्कृति को ग्रहण कर ले। इसके अतिरिक्त शासन-कार्य मे भाग लेने-देने के लिए यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि यहाँ के निवासी अंग्रेजी भाषा को सीखे। इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रसार भी आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप, मेकॉले के प्रयास से तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड विलियम बैण्टिक ने 7 मार्च 1835 ई० को अपनी कौंसिल मे एक प्रस्ताव स्वीकृत कर दिया। इसके अनुसार अंग्रेज सरकार का उद्देश्य भारतवासियो मे यूरोपीय साहित्य व विज्ञान का प्रसार करना हो गया और शिक्षा के हेतु कम्पनी का जो धन स्वीकृत होता था, उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा के प्रयास मे व्यय करना निश्चित हो गया। इससे शिक्षा के माध्यम के विवाद का अन्त हो गया तथा अंग्रेजी राज्यभाषा घोषित हो गयी। बम्बई, मद्रास और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की प्रान्तीय सरकारो ने इस नीति व योजना का अनुमोदन किया।

उपरोक्त प्रस्ताव के परिणामस्वरूप 1835-36 ई० में 23 राजकीय पाठशालाएँ खोली गयी और 1843 ई० तक इनकी संख्या 51 हो गयी। 1842 ई० मे Committee of Public Instruction के स्थान पर Council of Education की स्थापना हुई, पर इसके कार्य बंगाल तक ही सीमित रहे। तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी

प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में 1843-1853 ई० तक के काल में 'हल्कावन्दी' पाठशालाओं की योजना कार्यान्वित हुई। इसके अनुसार शिक्षा व राजस्व के लिये कतिपय ग्रामों को एक मण्डल में संगठित किया और प्रत्येक मण्डल के जमींदार को उसकी पाठशाला के लिए अपने भूमि-कर पर एक प्रतिशत कर देना पड़ता था। 1853 ई. के पश्चात यह योजना अन्य जिलों में भी कार्यान्वित की गयी। इस प्रकार शिक्षा का व्यय सरकार और जमींदार दोनों ही उठाने लगे। बम्बई और मद्रास प्रान्तों मे भी ऐसे ही प्रयास किये गये, पर इन सबमें एकरूपता का अभाव था। 1835 ई0 में बैण्टिक ने कलकत्ते में एक मेडिकल कालिज की स्थापना की, रुड़की में थॉमसन इंजीनियरिंग कालिज खोला गया और मद्रास में 1852 ई० में मद्रास यूनिवर्सिटी हाईस्कूल की स्थापना की गयी। सरकारी स्कूलों में कतिपय छात्रवृत्तियाँ देने की व्यवस्था की गयी और देशी भाषाओं की प्रगति में भी कुछ धन व्यय किया गया। 1835-45 ई० तक के युग मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 'शिक्षा के छनाई सिद्धान्त' (Filtration Theory of Education) का पालन किया अर्थात 'उच्च-वर्गविशेष को शिक्षा दी, वह अपने आप ही छनकर वृहत समाज में पहुँच जायगा।' इस सिद्धान्त के अतिरिक्त इस युग की अन्य प्रमुख विशेषता वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों तथा अंग्रेजी हाईस्कूलों का उत्कर्ष है। अंग्रेजी शिक्षा की माँग इतनी बढ़ गयी थी कि सरकार उसे पूर्ण करने मे असमर्थ रही।

अंग्रेजी शिक्षा के इस प्रकार के प्रसार से अंग्रेजी साहित्य, सभ्यता व संस्कृति का प्रचार भी होने लगा और कालान्तर मे भारतीयों के हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। भारतीय युवकों में अंग्रेजों की मानसिक दासता भरने लगी। भाषा, वेश-भूषा और व्यवहार में वे अपने आपको 'अंग्रेजों का मानस पुत्र' कहने लगे। अंग्रेजी संस्कृति की चकाचौंध में वे प्रत्येक भारतीय वस्तु को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। भारतीयों की मौलिकता, विचार-स्वातन्त्र्य और कार्यक्षमता कुण्ठित होने लगी। भारतीय पाश्चात्य सभ्यता में रंगे जाने लगे और अंग्रेजों का अन्धानुकरण करने लगे। इससे अराष्ट्रीयता की प्रवृत्तियाँ जाग्रत हुईं और भारतीय सस्कृति को भारी आघात लगा। इन हानियों के होने पर भी अंग्रेजी शिक्षा लाभप्रद प्रमाणित हुई। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों को पश्चिमी विज्ञान व साहित्य की विशेषताओं की कुंजी प्राप्त हो गयी। उनकी प्राचीन विचारधाराएँ परिवर्तित हुईं एवं उनका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हुआ। अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार से भारतीय संस्कृति और यूरोपीय संस्कृति का परस्पर सम्पर्क हुआ। भारतीयों को अपनी संस्कृति के अभावों का अनुभव होने लगा एवं उन्हे सामाजिक कुरीतियाँ व अन्धविश्वास स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगे। फलतः नवाभ्युत्थान और सामाजिक व धार्मिक सुधारों का युग प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी शिक्षा व साहित्य द्वारा पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का प्रचार व प्रसार भारत मे होने लगा जिससे भारत में राजनैतिक जागृति और उग्र राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष हुआ। भारतीय धीरे-धीरे शासन-सुधारों की माँग करने लगे और अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ हो गया।

4. चार्ल्स वुड की योजना व अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार (1854-1882 ई० तक)— 1844 ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑव कन्ट्रोल के प्रेसीडेण्ट चार्ल्स वुड ने एक शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाकर कम्पनी के डाइरेक्टरों के मण्डल को कार्यान्वित करने के लिए भेजी। यह योजना भारतीय शिक्षा-इतिहास में युग-प्रवर्तक है। इसका

ध्येय अंग्रेजी और देशी शिक्षा के प्रसार का सुधार करना था। इस योजना मे अधोलिखित बातें थी :

(1) प्रत्येक प्रान्त में एक डाइरेक्टर की अधीनता मे शिक्षा विभाग की स्थापना करना; (2) देश के प्रमुख स्थानों पर विश्वविद्यालय खोलना, (3) अध्यापकों के प्रशिक्षण (training) की व्यवस्था करना, (4) सरकारी कालिजों और हाईस्कूलों को बनाये रखकर उनकी संख्या मे वृद्धि करना; (5) नवीन मिडिल स्कूलो की स्थापना करना व प्राथमिक शिक्षा के लिए वर्नाक्यूलर स्कूलो की वृद्धि करना; (6) अनुदान देना और छात्रवृत्तियाँ प्रदान करना, तथा (7) स्त्रियो की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था करना।

यद्यपि चार्ल्स वुड की योजना पूर्ण रूप में स्वीकार नही की गयी तथापि उसकी कुछ बाते मान ली गयी। इसके अनुसार भारत के तत्कालीन प्रत्येक प्रान्त मे शिक्षा विभाग की स्थापना हो गयी। इसका प्रमुख अधिकारी डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन (Director of Public Instruction) नियुक्त हुआ जिसकी सहायता के लिए निरीक्षकगण भी नियुक्त हुए। अब शिक्षा विभाग पर शासकीय रंग चढने लगा था।

विश्वविद्यालय—सन् 1854 से 1882 की अवधि में अंग्रेज सरकार के प्रोत्साहन के कारण महाविद्यालयीन शिक्षा में प्रगति हुई। सरकार द्वारा देश में 13 महाविद्यालयो की स्थापना की गयी। सन 1854 तक सारे भारतवर्ष मे 22 महाविद्यालय थे। इनमें 13 महाविद्यालयो का संचालन सरकार करती थी और 9 महाविद्यालय ईसाई मिशनरियों द्वारा सचालित थे। सन 1882 तक महाविद्यालयो की सख्या बढकर 72 पहुँच गयी थी। सन 1869 मे लाहौर यूनीवरसिटी कालेज की स्थापना की गयी जिसने कुछ वर्षों बाद पंजाब विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया। सन 1872 मे विलियम म्योर ने "म्योर सेन्ट्रल कालिज" खोला। सन 1864 मे अवध के तालुकेदारो ने लखनऊ "लखनऊ केनिंग कालिज" स्थापित किया। मुसलमानो के नेता सैयद अहमद खां ने सन 1875 मे "मुस्लिम एंग्लो ओरियन्टल कालेज" की स्थापना अलीगढ में की जो वर्षों बाद अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय मे परिवर्तित हो गया। सन 1861 में मद्रास प्रान्त मे तिनावेली कालिज स्थापित किया गया। 1857 ई० मे लन्दन विश्वविद्यालय के ढाँचे पर बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। 1882 ई० मे लाहौर में पजाब विश्वविद्यालय और 1887 ई० में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षक सँस्थाएँ थी न कि शिक्षा देने वाली। इनका एक चान्सलर (जो प्रान्त का गवर्नर होता था), एक वाइस-चान्सलर (जो प्रधान होता था) और सदस्य (Fellows) होते थे। इन विश्वविद्यालयो की सम्पत्ति तथा अन्य मामलों का प्रबन्ध एक सीनेट (Senate) करती थी। अपनी परीक्षाओं द्वारा ये अपने सम्बन्धित कालिजों के अध्ययन-अनुक्रम (courses of study) पर नियन्त्रण रखते थे। सर्वप्रथम मैट्रिकुलेशन या एण्ट्रेन्स परीक्षा होती थी जिसके उत्तीर्ण होने पर विद्यार्थी कालिज मे भरती होते थे। इसके बाद इण्टरमीडिएट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ होती थी। विश्वविद्यालय मे सम्बन्धित कालिज प्रथम और द्वितीय श्रेणी के वर्गों में

विभक्त थे। यह विभाजन इण्टरमीडिएट परीक्षा के विद्यार्थियों की शिक्षा अथवा बी० ए० की श्रेणी के अनुसार होता था।

माध्यमिक शालाएँ—कॉलिजो के नीचे माध्यमिक वर्नाक्यूलर विद्यालय थे। सन् 1854 से 1882 के युग मे प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षा माध्यमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। सरकार ने अपनी ओर से अनेक माध्यमिक विद्यालय खोले। साथ ही व्यक्तिगत प्रयास से भी अनेक विद्यालय खोले गये। माध्यमिक विद्यालयो को खोलने मे ईसाई मिशनरियो ने भी योगदान दिया। इनमे हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी और इनका उद्देश्य विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के लिए विद्यार्थियो को तैयार करना था। इससे विश्वविद्यालयो में अयोग्य विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार ये विद्यालय शिक्षाक्षेत्र मे समुचित कार्य करने मे असफल रहे।

प्राथमिक शालाएँ—माध्यमिक शालाओ के नीचे प्राथमिक शालाएँ थी। इन शालाओ की शिक्षा में भी दो भाग थे—निम्न प्राथमिक परीक्षा और उच्च प्राथमिक परीक्षा। प्रथम मे पठन-पाठन, लेखन व अकगणित का अध्ययन होता था, और द्वितीय मे इन विषयो के साथ-साथ भूगोल, इतिहास व प्रारम्भिक विज्ञान भी सम्मिलित कर लिये जाते थे।

1854 ई० से 1882 ई० तक के युग मे विश्वविद्यालय की शिक्षा में प्रभूत प्रगति हो रही थी। परन्तु प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मे कोई प्रशंसनीय उन्नति नही हुई थी। इसके अतिरिक्त प्रान्तो मे भी शिक्षा का स्तर भिन्न-भिन्न था। प्राविधिक शिक्षा (technical education) का तो सर्वथा अभाव ही था। रुड़की और कलकत्ता में इजीनियरिंग कॉलिज; पजाब, बम्बई, मद्रास व कलकत्ता में मेडिकल कॉलिज स्थापित हो गये थे, सन 1879 मे पूना मे एक कृषि विभाग की स्थापना की गयी थी। मद्रास मे सैदयत स्थान पर सन 1884 मे परीक्षण के लिये सरकार ने एक कृषि फार्म स्थापित किया और बाद मे उसका विकास करके उसे कृषि कालेज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। पर देश के विस्तार व शिक्षा की माँग को देखकर ये सब नगण्य थे।

5. हण्टर कमीशन और शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन (1882-1901 ई० तक)—1882 ई० मे तत्कालीन गवनर-जनरल लार्ड रिपन ने सर डवल्यू० डवल्यू० हण्टर के सभापतित्व मे बाईस सदस्यों का एक एज्यूकेशन कमीशन नियुक्त किया। इसका कार्य यह था कि वह इस बात की जाँच करे कि 1854 ई० की शिक्षा-योजना के सिद्धान्त कहाँ तक कार्यान्वित हुए और उस योजना को अधिक सफल बनाने के लिए कौन से उपाय अपनाये जायँ। प्राथमिक शिक्षा की दशा की जाँच कर उसके प्रसार के लिए सुझाव रखना भी इसका अन्य उद्देश्य था। इस हण्टर कमीशन ने भारतीय शिक्षा के विषय मे महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे। इसने यह सलाह दी कि देशी भाषाओ की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय और शिक्षा-प्रसार के लिए वैयक्तिक प्रयत्नो और व्यवस्था पर अधिक निर्भर रहा जाय।

विश्वविद्यालय-शिक्षा का प्रभाव—1882 ई० से 1901 ई० तक विश्वविद्यालयो ने सैकडो स्नातक (Graduates) और सहस्रों मैट्रिकुलेट व्यक्ति उत्पन्न कर दिये। परन्तु ये मनोवाछित पद प्राप्त न कर सके, अतएव वे असतुष्ट और राजनीतिक दृष्टि से विद्रोह व कोलाहल करने वाले तत्त्व बन गये।

माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा—1882 ई. से भारतीय शिक्षा-नीति का इतिहास विश्वविद्यालयों द्वारा स्कूलो पर प्रगतिशील प्रभुत्व का इतिहास रहा है। इसी युग में School Leaving Certificate परीक्षा-प्रणाली का जन्म हुआ एवं मद्रास, पंजाब तथा यू. पी. के अनेक विद्यालयो मे हस्तकला की शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। फिर भी माध्यमिक शिक्षा की विशेष प्रशसनीय उन्नति नही हुई।

प्राथमिक शिक्षाक्षेत्र मे समस्त प्राथमिक शालाओं मे हिन्दी या उर्दू माध्यम द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अंग्रेजी प्राथमिक विद्यालय उच्च और माध्यमिक विद्यालयों से सम्बद्ध कर दिये गये। ये नवीन प्राथमिक विद्यालय दो भागो में विभक्त कर दिये गये—प्रथम लोअर या निम्न विद्यालय जिनमें तीसरी कक्षा तक अध्ययन होता था और द्वितीय अपर या उच्च जिसमें तीसरी से पाँचवी कक्षा तक की शिक्षा दी जाती थी। 1882 ई० के बाद स्थानीय स्वराज्य मे प्रगति होने लगी। फलतः हण्टर कमीशन के सुझाव के अनुसार म्युनिसिपैलिटी और लोकल बोर्ड जैसी स्थानीय स्वराज्य-सस्थाओ को उनकी शाखाओ का प्रबन्ध करने का अधिकार पर दे दिया गया। प्राथमिक शिक्षा के उत्तरदायित्व का भार अब स्थानीय संस्थाओ पर पडा। पर प्रान्तीय आय से इन पाठशालाओं को आर्थिक सहायता दी जाने लगी।

6. **शिक्षाक्षेत्र में सुधार का युग** (1901-1935 ई० तक), **विश्वविद्यालय शिक्षा**—(अ) **लॉर्ड कर्जन और यूनीवर्सिटी एक्ट, 1904 ई.**—भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड कर्जन (1899-1905 ई०) ने तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली मे सुधार करना चाहा। उसने शिक्षा विभाग मे केन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया और देश की शिक्षा-प्रणाली को सरकार के निरीक्षण मे करना चाहा। उसने भारत की शिक्षण-पद्धति पर विचार-विनिमय करने के लिए शिमला मे सितम्बर, 1901 मे एक कान्फ्रेन्स आमन्त्रित की। इसके पश्चात जनवरी, 1902 मे उसने टॉमस रेले के सभापतित्व में एक यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त किया जिनका उद्देश्य भारतीय विश्वविद्यालयो की दशा की जाँच करना और विश्वविद्यालयो के विधान व कार्य मे सुधार करने, उनके शिक्षण के स्तर को उच्च करने एव विद्या का प्रसार करने के लिए सुझाव रखना था। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर 1904 ई. मे यूनीवर्सिटी एक्ट स्वीकृत किया गया। इस कानून ने विश्वविद्यालयो पर सरकारी नियन्त्रण को दृढ कर दिया। सीनेटो (Senates) के निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम कर चान्सलर द्वारा निर्देशित सदस्यो की सख्या मे वृद्धि कर दी। यद्यपि विश्वविद्यालयो की कार्यकारिणी, सिण्डीकेट (Syndicate) में कॉलिज के अध्यापको की सख्या बढ गयी परन्तु इसमे वे ही व्यक्ति सदस्य होते थे जो सीनेट के सदस्य हो। सीनेटों और सिण्डीकेटो के अधिकारक्षेत्र को कम कर दिया गया। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्ति को निकालने व नियुक्ति को रद्द करने का अधिकार भी सरकार ने अपने हाथो मे ले लिया। विश्वविद्यालयो के अन्तर्गत कॉलिजो के निरीक्षण के नियम भी कठोर कर दिये गये और नवीन कालिजो को विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत करने की शर्तें भी कडी कर दी गयी। सरकार ने यह अधिकार अपने पास रख लिया कि वह चाहे जिस सस्था को विश्वविद्यालयों के अधीन रहने दे या न रहने दे। विश्वविद्यालय की परीक्षाओ और पाठ्यक्रम के लिए नवीन विभागों (Faculties) का निर्माण हुआ। विश्वविद्यालयो की स्वतन्त्रता में इस कानून द्वारा इतनी काट-छाँट कर दी गयी थी कि व्यावहारिक रूप मे सरकार की विना स्वीकृति के कुछ भी नही किया जा सकता

था। उतना दोषपूर्ण कानून होने पर भी इसके आधार पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय की ओर से पढ़ाने का विभाग खोला गया।

(ब) सुधार व संशोधन—1906 ई. में एक अन्य एक्ट स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों मे विज्ञान की शिक्षा देने का प्रयास किया गया। 1910 ई. मे भारत सरकार के गृह विभाग के हाथों से शिक्षा का प्रबन्ध निकालकर नवनिर्मित शिक्षा विभाग को सौंप दिया गया। इसके बाद ढाका और पटना यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त हुए, पर युद्ध व अन्य कारणों से इनके सुझाव कार्यान्वित न हो सके; फिर भी विश्वविद्यालयों के संविधान दुहराये गये और संशोधित किये गये एवं उन्हे अध्यापन सम्बन्धी अधिक अधिकार प्रदान किये गये तथा पाठ्यक्रम में भी सुधार व संशोशन किये गये। शासकीय अनुदान की सहायता से कॉलिज-भवनो का जीर्णोद्धार व वृद्धि दोनो हुए, पुस्तकालयो व प्रयोगशालाओ का विकास किया गया, नवीन कक्षाएं खोली गयीं एवं अध्यापको की वृद्धि की गयी तथा डाक्टरी, इंजीनियरी, कृषि, पशुचिकित्सा, कलात्मक और औद्योगिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। स्त्री-शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया गया। सरकार ने सार्वजनिक शिक्षा-सस्थाओ की आर्थिक सहायता मे वृद्धि की और उन संस्थाओ के निरीक्षण करने का अधिकार भी अपने हाथ में रखा।

(स) सेडलर कमीशन—परन्तु ज्यो-ज्यों समय व्यतीत होता गया, विश्वविद्यालय की शिक्षा का स्तर निम्न हो गया। अतएव 1917 ई. मे लार्ड चेम्सफोर्ड (भारत का गवर्नर-जनरल, 1916-21) ने माइकेल सेडलर के सभापतित्व में कलकत्ता यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने विस्तारपूर्वक यह सम्मति दी कि कलकत्ता विश्वविद्यालय को पुन क्रम मे लगाया जाय, ढाका मे एक शिक्षण-विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय और बगाल के हाईस्कूल तथा इण्टर कालिजों की शिक्षा को सरकार के अधिकार में लाया जाय। इस कमीशन की रिपोर्ट पर काम करने के लिए अन्य विश्वविद्यालयों ने भी कमेटियाँ नियुक्त कीं जिनकी रिपोर्ट के आधार पर शिक्षण-विश्वविद्यालयों (teaching universities) की स्थापना हुई एव हाईस्कूल और इण्टर कालिजों की शिक्षा के प्रबन्ध के लिए बोर्ड स्थापित हुए। 1919 ई. मे मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों ने भी शिक्षा को प्रान्तीय विषय कर दिया और अब प्रत्येक प्रान्त मे शिक्षा का उत्तरदायित्व मन्त्री पर हो गया। इस प्रकार अब शिक्षा पर से केन्द्रीय सरकार का अधिकार बिलकुल हट गया।

(द) विश्वविद्यालय की संख्या में वृद्धि—राजनीतिक चेतना, शिक्षा की प्रगति तथा स्थानीय व साम्प्रदायिक भावनाओ के कारण विभिन्न स्थानों मे अनेक विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई। 1917 ई, से 1922 ई. तक के काल मे विश्वविद्यालयो की संख्या पाँच से चौदह हो गयी। पटना, लखनऊ, रंगून व आन्ध्र विश्वविद्यालय स्थानीय देशभक्ति के कारण निर्मित हुए, वाराणसी विश्वविद्यालय धार्मिकता, अलीगढ़ साम्प्रदायिकता तथा ढाका धार्मिकता व साम्प्रदायिकता दोनो के कारण स्थापित हुए। मैसूर तथा उस्मानिया विश्वविद्यालयों की स्थापना इस काल में हुई, तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्तिनिकेतन में विश्वभारती और पूना मे इण्डियन वीमन्स यूनीवर्सिटी (Indian Women's University) भी इसी युग मे निर्मित हुई।

माध्यमिक शिक्षा—शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ देश के विभिन्न प्रान्तो मे माध्यमिक शालाओं का विकास हुआ। परन्तु इनमें औद्योगिक शिक्षण का सर्वथा अभाव रहा।

प्राथमिक शिक्षा—लॉर्ड कर्जन के 1904 ई० के प्रस्ताव ने यह वात स्वीकार कर ली थी कि "प्राथमिक शिक्षा का क्रियात्मक विस्तार करना राज्य का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।" इसका फल यह हुआ कि देश मे प्राथमिक शिक्षा का प्रसार हुआ। 1912 ई० मे इस वात की घोषणा की गयी कि प्राथमिक शालाओ की सख्या मे पचहतर प्रतिशत वृद्धि की जाय। 1917 ई० तक प्रति 8 वर्ग मील पर एक प्राथमिक विद्यालय था। 1919 ई० के वाद प्रान्तीय सरकारों ने नवीन शिक्षा सम्वन्धी कानूनो द्वारा म्युनिसिपल तथा जिला वोर्डों को यह अधिकार दिया कि वे अपने अधीनस्थ क्षेत्रों मे प्राथमिक शिक्षा नि:शुल्क व अनिवार्य कर दें।

हार्टजोग कमेटी—जव 1927-28 ई० मे भारतीयो की प्रगति की जाँच करने के लिए Indian Statutory Commission नियुक्त हुआ, तव इस कमीशन ने भारत मे शिक्षा की उन्नति की जॉच करने के लिए सर फिलिप हार्टजोग (Sir Philip Hertzog) की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की रिपोर्ट वड़ी लाभदायक थी, पर यह कार्यान्वित नही हुई।

7. **नवीन शिक्षण-योजनाओं का युग** (1935-1952 ई०)— **विश्वविद्यालय की दोषपूर्ण शिक्षा का प्रसार और यूनीवर्सिटी कमीशन,** 1949 ई०—इस युग मे भी नवीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए, जैसे त्रावनकोर, उत्कल, सागर, राजस्थान, पूर्वी पजाव, गौहाटी, पूना, रुडकी, कश्मीर, वडौदा व गुजरात विश्वविद्यालय। इस युग मे विश्वविद्यालयो मे विद्यार्थियो की सख्या मे वृद्धि होने लगी। पर इन्हे इस शिक्षा से समुचित लाभ नही हुआ। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से विश्वविद्यालय की अधिकाश शिक्षा निरर्थक ही होती रही। विश्वविद्यालय का शिक्षित युवा-वर्ग कृषि व हस्त कौशल को हेय समझता रहा। उपयुक्त औद्योगिक शिक्षा का अभाव होने से विश्वविद्यालय की शिक्षा और विश्वविद्यालय के महाविद्यालयो मे वृद्धि हुई परन्तु यह सव अधिकांश रूप मे अवाछनीय दिशा मे हुई। कतिपय विश्वविद्यालयों को छोडकर अनेक मे अनुसन्धान, अन्वेषण तथा वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव रहा है। इसलिए 1947 ई० में राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के वाद कांग्रेस सरकार ने सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री एव विश्वविख्यात दार्शनिक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता मे 1949 ई० मे यूनीवर्सिटी कमीशन (University Commission) नियुक्त किया। इसके अधोलिखित सुझाव मुख्य थे :

(1) शिक्षा को उसके तत्त्वो में पूर्णरूपेण भारतीय वनाया जाय। (2) विश्वविद्यालय में योग्य विद्यार्थियो को ही भरती किया जाय और शेष के लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय। (3) कृषि व ग्राम-सुधार की शिक्षा हेतु ग्राम्य विश्वविद्यालय स्थापित किये जायँ। (4) विद्यार्थियो व अध्यापको के मध्य वैयक्तिक सम्पर्क के हेतु ट्यूटोरियल कक्षाएँ (tutorial classes) प्रारम्भ की जायँ। (5) हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य हो। (6) अध्यापको के वेतन मे वृद्धि की जाय। (7) प्रथम डिग्री कोर्स तीन वर्ष का रखा जाय। (8) प्राथमिक शालाओ और कॉलिजो मे सह-शिक्षा (co-education) हो परन्तु माध्यमिक शालाओ मे नही। (9) शिक्षण का स्तर ऊँचा उठाया जाय। (10) वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के स्थान पर 'Objective Test' प्रारम्भ किये जायँ।

उपरोक्त सुझाव अभी पूर्ण रूप से कार्यान्वित नही किये गये है।

माध्यमिक शिक्षा—1935 ई० के बाद माध्यमिक शालाओ की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, परन्तु शिक्षा-स्तर उच्च नही हुआ। यत्र-तत्र औद्योगिक शिक्षण, जैसे कताई-बुनाई, लुहारी, सुनारी, जिल्दसाजी आदि प्रारम्भ हो गया था, तथापि परम्परागत साहित्यिक शिक्षा ही प्रधान रही। विद्यार्थियों के व्यावहारिक ज्ञान की कोई व्यवस्था नही रही और न उसके मानसिक विकास व सांस्कृतिक उत्थान के लिए कोई विशेप प्रयास ही किये गये। 1937 ई० में स्थापित कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने माध्यमिक शिक्षा के लिए सुधार करने के प्रयत्न किये।

सार्जेन्ट रिपोर्ट—द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में युद्धोत्तर शिक्षा के लिए योजना बनाने के हेतु भारत सरकार ने सर जॉन सार्जेन्ट की अध्यक्षता में 1944 ई० में एक समिति नियुक्त की। इसकी रिपोर्ट मे पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत शिक्षा (basic education), हाईस्कूल शिक्षा, महाविद्यालय-शिक्षा, औद्योगिक, व्यापारिक तथा कला-शिक्षा, प्रौढ शिक्षा, मूक-वधिर तथा अन्धों की शिक्षा, शिक्षाक्षेत्र में मनोरंजन और सामाजिक प्रवृत्तियाँ, शिक्षा-प्रबन्ध आदि विपयो पर अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये गये और दीर्घकालीन योजना रखी गयी। यद्यपि भारत सरकार ने सार्जेन्ट शिक्षा, योजना की स्वीकृति दे दी थी परन्तु अर्थाभाव के कारण यह कार्यान्वित न की जा सकी। फिर भी प्रत्येक प्रान्तीय सरकार माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे सुधार करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसके पाठ्यक्रम मे विविध ढंग से प्रयोग किये गये।

मुदालियर कमीशन—स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिये मुदालियर कमीशन की नियुक्ति हुई और उसने सन 1953 मे अपनी विस्तृत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी। इसमें माध्यमिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष करने, उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं मे इन्टरमीडियट कक्षाओ का प्रथम वर्प जोड़ने और द्वितीय वर्ष से महाविद्यालय के स्नातक कक्षाओ के साथ जोडकर उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ मे 11वीं कक्षा तक और महाविद्यालय के स्नातक पाठ्यक्रम को तीन वर्प का करने का तथा बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय खोलने का, विशाल सख्या में विभिन्न प्रकार के औद्योगिक (टेकनीकल) स्कूल प्रारम्भ करने, ग्रामीण स्कूलो मे कृषि शिक्षा, पशु विज्ञान, उद्यान विज्ञान, तथा कुटीर उद्योगों के शिक्षण की व्यवस्था करने, शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा या क्षेत्रीय भाषा करने, पाठ्यक्रम को अधिक विविध और व्यवहारिक बनाने, चारित्रिक विकास पर बल देने, विद्यार्थियो के स्वास्थ्य और शारीरिक कल्याण पर विशेष जोर देने, अध्यापकों की दशा सुधारने के लिये उनके वेतन, प्रशिक्षण, और सेवा प्रतिबन्धो के लिये, संक्षेप में जनतन्त्र की आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा के स्वरूप को ढालने के हेतु अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये।

प्राथमिक शिक्षा—माध्यमिक शालाओं के साथ-साथ प्राथमिक शालाओं की सख्या मे आशातीत वृद्धि हुई। स्थानीय समितियाँ तथा शिक्षा कौंसिल, जो पहले प्राथमिक शिक्षा का नियन्त्रण किया करती थी, समाप्त कर दी गयी। विभिन्न प्रान्तों मे प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार के शिक्षा विभाग ने प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना, उनकी देखभाल, उनके लिए व्यय की स्वीकृति, निरीक्षण, प्रशिक्षित (trained) शिक्षक, उनमें नवीन योजनाओं का प्रयोग आदि का प्रवन्ध अपने हाथों में ले लिया है। प्राथमिक शिक्षा; को नि:शुल्क और अनिवार्य किया

जा रहा है क्योंकि जाग्रत नागरिकों के हेतु, जो सफल प्रजातन्त्र शासन के लिए अनिवार्य है, प्राथमिक शिक्षा मेरुदण्ड के समान है। प्राथमिक शिक्षा मे गाँधीजी की वर्धा योजना या 'वेसिक शिक्षा' और माण्टेसरी शिक्षण-पद्धति को कार्यान्वित किया जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा पर पहले को अपेक्षा धन अधिक व्यय किया जा रहा है और विविध प्रकार के प्रयोग किये जा रहे है। 1948 ई० मे केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री समिति (Central Advisory Board of Education) ने भी नि शुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के हेतु योजना वनायी है।

औद्योगिक यिक्षा—भारत मे कलात्मक, औद्योगिक एवं व्यवसायिक शिक्षा की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया। जो भी थोड़े वहुत औद्योगिक विद्यालय है, वे देश की जनसख्या और आवश्यकताओ को देखते हुए अपर्याप्त है। 1936 ई० मे भारत सरकार ने भारत मे औद्योगिक शिक्षा के विकास के लिए इग्लैण्ड से दो विशेपज्ञ आमन्त्रित कर एक कमेटी का निर्माण किया था जिसके अध्यक्ष एवट थे। इस कमेटी ने औद्योगिक सस्थाओ के निर्माण व शिक्षा की योजना प्रस्तुत की थी। अव स्वतन्त्र भारत की सरकार इस शिक्षा की प्रगति करने में विशेष उल्लेखनीय है। अनेक नवीन के औद्योगिक शिक्षण-सस्थाएँ स्थापित की जा रही है तथा औद्योगिक शिक्षा के अध्ययन के हेतु छात्रवृत्तियाँ देकर विदेशो मे विद्यार्थियो को विशेष अध्ययन के लिए भेजा जा रहा है।

प्रौढ़ शिक्षा—सामाजिक प्रजातन्त्र के विकास व सफलता के हेतु शिक्षित नागरिको की आवश्यकता होती है। शिक्षित लोगो की संख्या कुल जनसख्या की केवल 12 प्रतिशत (1947-48 ई०) है। इस छोटी संख्या मे भी अनेक ऐसे है जो प्राथमिक शिक्षा के पश्चात् अधिक समय व्यतीत हो जाने के कारण निरक्षर वन जाते है। भविष्य में इस देश का शासन किसी विशेष वर्ग द्वारा नही वरन् जनसाधारण के प्रौढ समाज द्वारा होगा और प्रौढो पर ही यह उत्तरदायित्व होगा कि ऐसे व्यक्तियों का निर्वाचन करें जो देश का शासन-सचालन दक्षतापूर्वक कर सके। अतएव सामाजिक, नैतिक व राष्ट्रीय दृष्टि से प्रौढो का शिक्षित होना अनिवार्य है। प्रौढ़ो के बौद्धिक और भावपूर्ण दृष्टिकोणो मे महान् व स्थायी परिवर्तन करने के लिए उनमे नवजीवन और नयी भावनाओ का प्रादुर्भाव करने के लिए, उनकी आलोचनात्मक शक्तियो का विकास करने के लिए प्रौढ शिक्षा की विविध योजनाएँ वनायी गयी और केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारे भी इस दशा मे सतत् प्रयत्नशील है। इस कार्य के लिए एक अखिल भारतीय संस्था भी है। केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री समिति ने भी प्रौढ शिक्षा के लिए अपने सुझाव रखे हैं, प्रौढ पाठशालाओं एव पुस्तकालयो का संगठन किया है एव प्रौढ शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत किया है।

स्त्री-शिक्षा—सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक प्रगति के लिए स्त्री-शिक्षा अनिवार्य है। अशिक्षित स्त्री-समाज गृहस्थ जीवन को ही नही अपितु व्यक्तिगत और राष्ट्रीय चरित्र को भी अत्यधिक प्रभावित कर उसे दु खद वना देता है। इसीलिए प्राचीन भारत मे और मध्यकालीन भारत मे स्त्री-शिक्षा का प्रचार था। राजनीतिक उथल-पुथल और सामाजिक अव्यवस्था होने पर भी स्त्री-शिक्षा की परम्परा उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे वनी है। यद्यपि इस शिक्षाक्षेत्र मे धार्मिक भावनाओ की प्रधानता रही परन्तु ऐहिक उद्देश्य भी विद्यमान थे। उन्नीसवी शताब्दी मे नवाभ्युत्थान (Renaissance) के कारण स्त्री-शिक्षा को नवीन प्रोत्साहन मिला। परन्तु इस दिशा मे

महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों ने और सरकार ने अधिक भाग लिया। कतिपय ईसाई पादरियों, धर्मोपदेशकों और राजा राधाकान्त देव, कलकत्ता के राजा वैजनाथ राय और राजा राममोहन राय जैसे उदारवृत्ति शिक्षा-प्रेमियों ने सरकार के कदम उठाने के पूर्व स्त्री शिक्षा के लिए प्रयत्न किये। परन्तु उन्हें न तो कोई विशेष प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई और न सरकार ने उनकी सहायता ही की।

1849 ई० में कलकत्ता में गवर्नर-जनरल की कौंसिल के कानून-सदस्य ड्रिंक वाटर वेथुन और पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों के उच्चवर्गीय हिन्दू परिवारों की कन्याओं के लिए सर्वप्रथम स्कूल स्थापित किया गया। लॉर्ड डलहौजी ने कन्या-पाठशालों की सहायता के लिए अनुदान दिये। यद्यपि 1854 ई० की चार्ल्स वुड की योजना मे स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने और कन्या-शालाओ को अनुदान देने की नीति का समर्थन किया गया था, तथापि लॉर्ड केनिंग के समय और बाद में 1867 ई० मे यह घोषणा की गई थी कि कन्या-शालाओं को सरकारी सहायता और अनुदान की अपेक्षा वैयक्तिक अनुदान पर निर्भर रहना चाहिये और सरकार स्त्री-शिक्षा की ओर स्वय कोई कदम नही उठावेगी। फिर भी 1870 ई० में बंगाल, पंजाब, बम्बई और उत्तर-पश्चिम प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) में कन्या-शालाओ को सरकार की ओर से उदारतापूर्वक अनुदान दिये गये। 1882 ई० मे लॉर्ड रिपन के समय के हण्टर कमीशन ने स्त्री-शिक्षा को विशिष्ट रूप से प्रोत्साहित करने का सुझाव रखा। अतएव पहले की अपेक्षा सरकार ने कन्या-शालाओं को अधिक अनुदान भी दिये और नवीन सरकारी कन्या-शालाएँ भी स्थापित की। फलतः कुछ ही वर्षों में स्त्री-शिक्षा की प्रभूत प्रगति हुई।

शासकीय प्रयासों और धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नो के अतिरिक्त ब्रह्मसमाज, आर्य-समाज, सर्वेण्ट्स ऑव इण्डिया सोसाइटी जैसी अनेक सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं ने स्त्री-शिक्षा के कार्य को खूब प्रोत्साहित किया। ब्रह्मसमाज में केशवचन्द्र सेन, शशी-पाद बनर्जी, श्रीमती जे.सी. वोस और श्रीमती पी.के. रॉय जैसे व्यक्तियो ने स्त्री-शिक्षा के लिए ठोस प्रयास किये। इस समाज के अनेक सदस्यों ने महिलाओं में शिक्षा व संस्कृति के प्रसार व प्रगति के हेतु समय-समय पर 'बाम बोधिनी,' 'अबला बान्धव,' 'महिला,' 'अन्तःपुर,' 'भारत,' 'भारत महिला' जैसे पत्र निकाले। आर्यसमाज ने भी अनेक स्थानों पर कन्या-गुरुकुल स्थापित कर स्त्री-शिक्षा मे पर्याप्त सहायता पहुँचाई। बड़े-बडे नगरों में स्त्री-शिक्षा के लिए महिला विद्यापीठ, सेवा-सदन, गर्ल्स हाई स्कूल व मिडिल स्कूल, हस्तकला भवन आदि स्थापित किये गये। दक्षिण शिक्षा समिति ने भी स्त्री-शिक्षा के लिए सफल प्रयत्न किये। पूना फर्ग्युसन कॉलिज से सम्बन्धित कर्वे और भण्डारकर के प्रयासो से 1916 ई० मे महिला विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। अखिल भारतीय सम्मेलन ने भी स्त्री-शिक्षा पर अधिक बल दिया और अखिल भारतीय महिला-कोष खोला गया। इसके अतिरिक्त कस्तूरबा फण्ड ने भी यथेष्ट सहायता दी ही है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी जैसी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओ ने भी अनेक कन्या-शालाएँ स्थापित की। देश की राजनीतिक और सामाजिक जाग्रति ने स्त्री-शिक्षा को अत्यधिक प्रोत्साहित किया और अब आजकल स्त्रियाँ कॉलिजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने लगी हैं। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति मे रगी होने के कारण स्त्री-शिक्षा मे भारतीय सस्कृति के उच्च आदर्शो का अभाव रहा है।

स्त्री-शिक्षा की यह प्रगति नगरों तक ही सीमित रही है। देहातो में कन्याओ के लिए शिक्षा की पर्याप्त सुविधा नही है। ग्रामीण कन्याओ एव महिलाओ को भी शिक्षित एव सुसंस्कृत बनाने की ओर प्रयास करना चाहिए।

विविध शिक्षण-प्रणालियों के प्रयोग—विश्व मे शिक्षा-प्रणालियो के विषय में समय-समय पर विविध प्रयोग होते रहे। परन्तु अग्रेजी शासनकाल मे भारत का सरकारी शिक्षा विभाग एक विशिष्ट ढग से चलता रहा और शिक्षा भी पाश्चात्य सभ्यता व सस्कृति से प्रभावित होती रही। उसमे देश, काल व समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता न थी। वैयक्तिक सस्थाएँ भी सरकारी नमूने का अनुसरण कर प्रगति करती रही। सर्वप्रथम, आर्यसमाज ने प्राचीन वैदिक पद्धति पर बड़े पैमाने पर शिक्षा देने का प्रयत्न किया और गुरुकुलो की स्थापना की। इसके अतिरिक्त प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन आदि जैसी कतिपय सस्थाओ मे बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ हस्तकला की शिक्षा भी दी जाने लगी। कलकत्ता के पास बोलपुर में टैगोर के शान्ति-निकेतन मे शिक्षाक्षेत्र मे स्वतन्त्र प्रयोग किये गये। गुजरात के भावनगर मे दक्षिणमूर्ति ने बालको की शिक्षा मे नवीन प्रयोग किये। उनके प्रयोगो में मॉण्टेसरी-पद्धति की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। बालको की शिक्षा के हेतु विविध संस्थाओ मे डाल्टन-प्रणाली और किंडरगार्टन-पद्धति के प्रयोग भी होने लगे। इसी बीच थियोसोफिकल सोसाइटी ने 1939 ई० मे मद्रास मे मैडम मॉण्टेसरी को आमन्त्रित किया और मॉण्टेसरी शिक्षण-पद्धति का प्रचार किया। इस प्रणाली के आधार पर बालको की ज्ञानेन्द्रियो का वैज्ञानिक ढग से विकास किया जाता है। मैडम मॉण्टेसरी ने स्वय भारत के विभिन्न स्थानो पर मॉण्टेसरी-शिक्षण के हेतु अनेक शिक्षको को ट्रेनिंग दी और नवीन बाल-पाठशालाओ की स्थापना की। परन्तु ये सब प्रणालियाँ रूप व आदर्श मे विदेशी और हमारे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे असमर्थ-सी रही। अतएव महात्मा गाँधी ने देश के हित को ध्यान मे रखकर शिक्षा का पुनर्निर्माण करने के लिए एक योजना बनाई जिसे वर्धा-शिक्षा-योजना कहते है। इसका उद्देश्य बालको को बुनियादी शिक्षा या व्यावहारिक ज्ञान देकर शिक्षित करना है। इसमे कताई-बुनाई, कृषि, सुनारी, लुहारी, जिल्दसाजी आदि हस्तकलाओ के द्वारा बालको को शिक्षा दी जाती है। ऐसी आशा की जाती रही कि यह योजना देश की निरक्षरता को दूर कर, बेकारी की समस्या को हल कर समाज व देश के उत्कर्ष मे सहायता पहुँचायेगी, पर यह बुनियादी शिक्षा का प्रयोग भी असफल रहा।

कोठारी कमीशन सन, 1964—ब्रिटिश युग और स्वतन्त्र भारत मे शिक्षा की विभिन्न समस्याओ पर विचार करने के लिए समय-समय पर शिक्षा आयोगो की नियुक्ति की गई। परन्तु अभी तक नियुक्त किये गये किसी भी आयोग मे शिक्षा के समस्त स्तरो और मदो पर विचार कर रिपोर्ट प्रस्तुत नही की गई थी। इस अभाव को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने 4 जुलाई 1964 को दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. कोठारी की अध्यक्षता मे एक कमीशन की नियुक्ति कर दी। इस कोठारी कमीशन ने 29 जून 1966 को अपनी विस्तृत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी। इस कमीशन के सुझाव व सिफारिशे अधोलिखित है।

मातृभाषा को विद्यालय, महाविद्यालय और उच्च शिक्षास्तर का माध्यम बनाना चाहिये। प्रत्येक विद्यार्थी को तीन भाषाएँ पढनी चाहिये—(क) मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा, (ख) संघीय भाषा या सह-राजभाषा, (ग) एक आधुनिक भारतीय

भापा या योरोपीय भापा जो कि (क) और (ख) से भिन्न हो। प्रत्येक विश्वविद्यालय मे स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर तक एक साथ दो भारतीय भापाओ के शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये। आयोग ने अंग्रेजी के अलावा अन्य विदेशी भापाओ के विशेपकर रूसी भापा के सीखने पर भी वल दिया। विद्यालयो की छुट्टियाँ कम की जायँ। राष्ट्रीय एकता के लिए वस्तुशिल्प तथा सगीत जैसे विपयो को पाठ्यक्रम मे स्थान दिया जाय। विचारो के आदान-प्रदान के लिए एक प्रान्त के अध्यापक तथा विद्यार्थी एक दूसरे प्रदेश मे अध्ययन-अध्यापन के लिए आवागमन करे। योग्य, प्रतिभाशाली और वुद्धिमान छात्रो को विदेशो मे अध्ययन के लिए भेजा जाय। छात्रो के कल्याण और सर्वांगीण विकास के लिए छात्र कल्याण कोप तथा अन्य सुझाव दिये। दलित वर्ग और पिछड़े हुए वर्गो के विद्यार्थियो के लिए भी तथा स्त्री-शिक्षा, क्षेत्रीय असमानता (Regional Imbalances), ग्रामीण क्षेत्रो मे शिक्षा, देश की आर्थिक तथा औद्योगिक प्रगति के लिए कृपि, प्राविधिक और व्यावसायिक तथा जीविका सम्वन्धी शिक्षा के लिए शिक्षितो मे वेरोजगारी उन्मूलन के लिए, शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था व विकास नीति के लिए भी कमीशन ने प्रशसनीय सिफारिशें प्रस्तुत की है। आयोग ने शिक्षको-महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के प्राध्यापको की विभिन्न श्रेणियों के लिए वेतन-मान निर्धारित कर उनको कार्यान्वित करने का सुझाव दिया। विश्वविद्यालयीन स्तर पर वेतन के भार का 80 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार और 20 प्रतिशत प्रान्तीय सरकार वहन करे। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारो ने कोठारी कमीशन (आयोग) के कई सुझाव मान्य कर उन्हे कार्यान्वित भी कर दिया है।

प्रश्नावली

1. प्राचीन युग मे भारत की शिक्षण-पद्धति के क्या प्रमुख उद्देश्य थे और उनकी प्राप्ति मे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई थी ?
2. प्राचीन काल में भारत मे जो शिक्षा-प्रणाली, थी, उसका विवेचन कीजिये।
3. प्राचीन भारतीय शिक्षण-प्रणाली आधुनिक शिक्षा-पद्धति से किन-किन वातों मे भिन्न थी ?
4. प्राचीन भारत में कौन-कौन सी शिक्षण-सस्थाएँ थी और उनका प्रवन्ध किस प्रकार होता था ?
5. मुसलमानों के शासनकाल मे शिक्षा की क्या व्यवस्था थी ?
6. अग्रेजी राज्य मे शिक्षा-प्रसार के लिए कव और कौन-कौन से प्रमुख प्रयत्न किये गये ?

   अथवा

   ब्रिटिश शासन के युग मे हुई भारतीय-शिक्षा के इतिहास की प्रमुख महत्त्वशाली घटनाओ का वर्णन कीजिये।
7. 1858 ई० के पश्चात अग्रेजी सरकार की शिक्षा-नीति का वर्णन कीजिये। उसके प्रमुख उद्देश्य क्या थे और वास्तविक शिक्षा की प्रगति मे वे कहाँ तक सहायक हुए ?

8. 1858 ई० से 1904 ई० तक के युग में भारत में हुई शिक्षा की प्रगति का विवेचन कीजिये और लार्ड कर्जन के समय यूनीवर्सिटी एक्ट की व्याख्या कीजिये।
9. आधुनिक भारतीय शिक्षण-पद्धति के क्या दोष रहे ? 1882-1935 ई० तक के युग मे अंग्रेज सरकार ने उनके निवारण के लिए क्या प्रयत्न किये ?
10. टिप्पणियाँ लिखिए—तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा, चार्ल्स वुड की शिक्षण-योजना, हन्टर कमीशन, 1904 ई० का यूनीवर्सिटी एक्ट, सेडलर कमीशन, प्रौढ शिक्षा, स्त्री-शिक्षा में आधुनिक योजनाएँ, बीसवी सदी में विश्वविद्यालय-शिक्षा की प्रगति, वर्धा-शिक्षा योजना, सार्जेण्ट रिपोर्ट, 1949 ई० का यूनीवर्सिटी कमीशन, मुदालियर कमीशन और कोठारी कमीशन।

17

आधुनिकीकरण

ईसा की उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हमारे देश में युगान्तर आरम्भ होता है। यह आधुनिकीकरण का सूत्रपात था। इसका श्रीगणेश तब हुआ जब हमने पश्चिमी शिक्षा, सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित होकर ज्ञान व प्रकाश के लिए अपना मुँह पूर्व से पश्चिम की ओर मोड़ा और देश में आधुनिकीकरण कर सर्वांगीण सुधार की ज्योति को जगमगाया।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हमारे देश में धर्मान्धता, अन्धविश्वास, अस्पृश्यता, सामाजिक रूढ़ियाँ, कुप्रथाएँ आदि ऐसे दोष उत्पन्न हो गये थे कि हमारा सामाजिक और आर्थिक जीवन जीर्ण और जर्जरित हो गया था, उसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अंग्रेजों की विशिष्ट व्यापारिक नीति के कारण भारत का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त और असन्तुलित हो गया था। दरिद्रता और भुखमरी का ताण्डव नृत्य होने लगा था और उद्योग-धन्धे विनष्ट हो गये थे। फलतः आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया और समृद्धि का प्रवाह शुष्क हो गया था। इस आर्थिक दुर्दशा ने भारत से सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया। विभिन्न ललितकलाओं की प्रगति रुक गई, जीवन नीरस हो गया और भारत का प्राचीनतम आध्यात्मिक स्रोत सूख गया। पश्चिम के प्रभाव के अन्तर्गत धीरे-धीरे इन दोषों का निवारण किया गया और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की प्रगति के साथ-साथ आधुनिकीकरण भी किया गया।

अंग्रेजो के आगमन के पूर्व हमारा आर्थिक जीवन कैसा था? अंग्रेजी प्रभुता प्रतिष्ठित हो जाने पर अंग्रेजों की आर्थिक नीति क्या रही? उससे हमारा आर्थिक जीवन किस प्रकार अपंग और असन्तुलित हो गया और किस प्रकार उसमें आधुनिक परिवर्तन हुए? इसका वर्णन अगले पृष्ठों मे किया जायेगा।

अंग्रेजों की व्यावसायिक और आर्थिक नीति

भारत एक कृषिप्रधान देश है। परन्तु कोई भी देश केवल एक ही व्यवसाय पर नहीं चल सकता। भारत जैसे विस्तृत और घने बसे हुए देश के लिए विशेष रूप से कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो का आश्रय लेना अनिवार्य है। इसलिए भारत में कृषि के साथ-साथ उद्योग-धन्धे भी प्रचलित थे। इससे आर्थिक जीवन सुव्यवस्थित था। मध्य-युग में भारत की कृषि और विभिन्न व्यवसायों की दशा यथेष्ट रूप से श्रेष्ठ थी। इसलिए यहाँ यूरोपीय व्यापारियों का आगमन हुआ था जिनमें अंग्रेज भी थे। धीरे-धीरे व्यापार और कूटनीति के सहारे अंग्रेजों ने यहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित

कर लिया। उन्होने अपनी व्यावसायिक और आर्थिक नीति से देश के जीवन में बड़ी उथल-पुथल मचा दी।

भारत में गत दो शताब्दी तक अंग्रेजो का शासन विद्यमान रहा। इस दीर्घ काल मे उन्होने अपने देश के लाभार्थ एक विशिष्ट आर्थिक नीति का अनुकरण किया। अठारहवी शताब्दी के अन्त मे और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इंगलैण्ड में महान औद्योगिक क्रान्ति हुई। अनेक कल-कारखानो का उत्कर्ष हुआ और इगलैण्ड की उत्पादन-शक्ति अत्यधिक बढ गयी। प्रत्येक प्रकार की वस्तुओ का निर्माण भीमकाय मशीनो से होने लगा और विविध प्रकार के तैयार व्यापारिक माल के ढेर के ढेर हो गये। इसके दो परिणाम हुए—प्रथम, इगलैण्ड को कच्चे माल की आवश्यकता हुई, और द्वितीय, अपनी मिलो तथा कारखानो मे उत्पादित अपरिमित माल को निर्यात करने की आवश्यकता। उस काल तक भारत पूर्ण रूप से अग्रेजो के आधिपत्य मे आ चुका था। उस युग मे भारत ही एक ऐसा देश था, जहाँ वे समस्त कच्चे माल प्राप्त होते थे जिनसे इगलैण्ड के कल-कारखानो मे वस्तुएँ निर्मित होती थी। यहाँ पर कच्ची रुई, कच्चा जूट, खदानो से सरलतापूर्वक निकाला हुआ अस्वच्छ, पर अच्छे गुणो वाला कोयला और लोहा होता था तथा खाद्य-पदार्थों का अभाव नही था। इसके अतिरिक्त इगलैण्ड मे बने हुए माल के लिए भारत के नगर व ग्राम अच्छी मण्डियाँ थी। अतएव भारत मे अग्रेजो की व्यापारिक और आर्थिक नीति इगलैण्ड की उपरोक्त दोनो आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए निर्दिष्ट की गयी थी।

अपनी आर्थिक नीति के अनुसार अग्रेजी शासन ने भारत में कच्चे माल की उपज बढाने के लिए प्रयास किये। सिंचाई के साधनो द्वारा कृषि को प्रोत्साहन दिया गया और विदेशी पूँजी से खानो का माल निकाला गया। सडके, रेल, मोटर तथा जलपोत द्वारा यातायात के अधिक सुलभ साधन प्रस्तुत किये गये जिससे देश की खाद्य-सामग्री तथा कच्चा माल अधिक परिमाण में एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलता से भेजा जा सके और उसका सुगमता से निर्यात किया जा सके। इस प्रकार भारत का अधिकाधिक कच्चा माल व खाद्यान्न इंगलैण्ड भेजा जाने लगा और वहाँ से मिलो तथा कारखानो का बना हुआ माल प्रचुर सख्या व अपरिमित मात्रा मे यहाँ आने लगा। इनमे कपडा, लोहे व फौलाद की वस्तुएँ, औषधियाँ, चीनी के बर्तन तथा दैनिक जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली अनेक वस्तुएँ होती थी। इस प्रकार भारतीय औद्योगिक और उत्पादन क्षेत्र मे अंग्रेजो ने अकर्मण्यता की नीति का अनुसरण किया तथा भारतीय सार्वजनिक निर्माण व उत्पादन के प्रति अत्यन्त ही उपेक्षा की नीति का पालन किया।

भारत का अधिकाधिक कच्चा माल व खनिज पदार्थ इगलैण्ड जाने, वहाँ के बने हुए माल का यहाँ अपरिमित आयात होने से एव अग्रेजो की अकर्मण्यता व उपेक्षा की नीति से भारत के उद्योग-धन्धो की भारी क्षति हुई। विदेशों से मशीनो का बना हुआ सस्ता माल भारत के बाजारो में बिकने लगा। हाथ का बना हुआ महँगा स्वदेशी माल प्रतिस्पर्धा मे विदेशी माल के सम्मुख टिक न सका। इससे भारतीय उद्योग-धन्धो का ह्रास होने लगा। भारत अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पाश्चात्य देशो पर निर्भर रहने लगा। भारतीय उद्योगो और व्यवसायो की अवनति होने पर लोग कृषि की ओर झुके और खेती के हेतु जमीन की माँग बढने लगी। परन्तु भूमि की उत्पादन-शक्ति की सीमा होती है। एक निर्दिष्ट सख्या से अधिक

व्यक्तियो के लिए भूमि भी अपर्याप्त हो गयी। इसी बीच जनसंख्या मे अत्यधिक वृद्धि होती गयी, पर उत्पादन की वृद्धि का पलडा बराबर ही रहा। इस प्रकार देश की औद्योगिक और व्यावसायिक उन्नति रुक गयी और भूमि-खण्ड पर आवश्यकता से अधिक मनुष्य आश्रित हो गये। इनके स्वाभाविक परिणाम भयकर दरिद्रता और प्रचण्ड दुर्भिक्ष थे। अंग्रेजी शासन की ऐसी अवांछनीय स्वार्थलोलुप नीति के कारण देश के आर्थिक जीवन का सन्तुलन बिगड़ गया।

अंग्रेजी शासन में भारतीय अर्थ-व्यवस्था के क्षत-विक्षत होने के कारण—भारत की सम्पन्न और व्यवस्थित व सगठित अर्थ-व्यवस्था अग्रेजी शासनकाल मे क्षत-विक्षत हो गयी। आर्थिक दशा पतनोन्मुख हो गयी। कृषि-व्यवस्था बिगड़ गयी और उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। सन 1757 मे प्लासी के युद्ध के बाद ज्यों-ज्यों अग्रेजो का दबदबा और नियन्त्रण बढता गया, भारत का व्यापार और उद्योग-धन्धे नष्ट होते गये। दरिद्रता फैलती चली गयी। इसके कारण अधोलिखित है—

(1) **अंग्रेज कम्पनी के कर्मचारियों का भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अर्थ-लोलुपता**—बगाल का राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए मीर जाफर और मीर कासिम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अर्थलोलुप कर्मचारियों को बड़ी-बड़ी धनराशियाँ दी। प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी और उनके कर्मचारियो को आठ वर्ष में साढे सात करोड़ रुपये दिये गये। सन 1765 में इलाहाबाद की संधि से कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल जाने के बाद प्रशासन पर व्यय करने के बाद जो धन कम्पनी बचाती थी उससे भारतीय वस्तुएँ खरीदकर कम्पनी विदेशों को भेजती थी। इससे कम्पनी को लाभ होता था, पर भारत को 15 करोड़ रुपये की क्षति होती थी। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड को जो सोना प्रति वर्ष भेजा जाता था, उससे भी भारत को हानि होती थी। अग्रेज सरकारी नौकर और व्यापारी नैतिक और अनैतिक उपायों से जो भी धन अर्जित करते थे, उसका बड़ा अंश इंग्लैण्ड भेज दिया जाता था। ऐसा अनुमान है कि प्लासी की विजय के बाद 23 वर्ष में सन 1780 तक लगभग 60 करोड़ रुपये इंग्लैण्ड भेजे जा चुके थे।

(2) **भूमि कर में लूट-खसोट और अत्याचार**—अंग्रेज कम्पनी को बगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो जाने पर भूमि कर की वसूली मे कम्पनी ने असीम अत्याचार और लूट-खसोट की। कम्पनी भूमि की स्वामिनी हो गयी थी, इसलिए भूमिकर की वसूली का कार्य कम्पनी के कर्मचारियो के हाथ में आ गया। कर्मचारी बुरी तरह कृषकों का शोषण करने लगे। उनके भूमिकर में प्रतिवर्ष वृद्धि की गई जिससे कृषक तो दरिद्र होते गये और कम्पनी का कोष अधिक सम्पन्न। बंगाल के नवाब के शासन के अन्तिम वर्ष (सन 1764-65) मे नवाब के कर्मचारियों ने कृषक से आठ लाख सतरह हजार पौंड भूमि कर के रूप मे वसूल किये थे। कम्पनी के शासनकाल के प्रथम वर्ष में भूमिकर की यह धनराशि बढ़कर डेढी से भी अधिक हो गयी थी और कम्पनी ने सन 1765-66 में चौदह लाख सतरह सहस्र पौण्ड वसूल किये। यह धनराशि प्रतिवर्ष बढ़ती गयी और यह सन 1771-72 में तेइस लाख इकतालीस हजार, सन 1775-76 में यह अट्ठाईस लाख अठारह हजार पौण्ड हो गयी। जब 1793 में कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त लागू किया। तब भूमि कर की यह राशि बढ़कर चौंतीस लाख पौण्ड हो चुकी थी। कम्पनी के अट्ठाइस वर्ष के शासन मे भूमिकर आठ लाख से चौंतीस लाख हो गया था। इसी बीच बंगाल में

भीषण दुर्भिक्ष सन 1770 मे पडा । इसमे कृषि तो चौपट हो गयी पर एक तिहाई आवादी भी नष्ट हो गयी । इसके वावजूद भी कम्पनी ने दुर्भिक्ष के अगले वर्ष सन 1771 में सन 1768 मे वसूल किये गये भूमिकर ने अधिक राशि भूमिकर में वसूल की ।

कृषको से अधिक भूमिकर वसूल ही नही हुआ अपितु कृषको के साथ क्रूरतापूर्ण अमानुषिक व्यवहार भी हुआ । मद्रास प्रान्त मे एक सरकारी प्रतिवेदन में इस क्रूरता की ओर इगित करते हुए लिखा गया था कि—"निश्चित भूमिकर प्राप्त करने के लिए कभी-कभी तो ऐसी यातनाएँ दी जाती थी, जैसे धूप मे खडा रखना, मुर्गा वनाना, भोजन अथवा शौच के लिए न जाने देना, कोडे मारना, शिकजे में कसना, गधे या भैस की पूँछ से सिर के वाल वाँध देना आदि ।" इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कृषक नष्ट होने लगे । अनेकानेक कृषक, कृषक न रहकर श्रमिक वन गये । अनेक कृषको पर प्रतिवर्ष ऋण का भार वढता चला गया । इन सवका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि कृषि चौपट हो गयी और "भारत मे कम्पनी के अधीन क्षेत्र का एक तिहाई भाग वन के रूप मे वदल गया जिसमें केवल जगली जानवर रहते थे ।

(3) **पासपोर्ट या दस्तक प्रथा और उसके दुष्परिणाम**—सन 1656 मे शाहजादा शुदा से अग्रेजो ने अपने व्यापारिक माल पर ढाई प्रतिशत चुंगीकर लगता था, उसे मुक्त करवा लिया था । इसके वदले मे अग्रेज शाहजादा को 3,00,000 पौण्ड प्रति वर्ष देते थे । शाहशुदा के पश्चात वगाल के नवाव ने इस प्रथा से होने वाली आर्थिक हानि का अनुभव किया और वाद में वगाल के नवाव और कम्पनी पर यह समझौता हुआ कि अग्रेजो को चुंगीकर पर माफी तो दी जाएगी पर उस व्यापारिक माल पर दी जाएगी जो वाहर से आया है या वाहर भेजा जायेगा । इसके लिए अग्रेज कम्पनी को पासपोर्ट या दस्तक दिये जाते थे । मुगल सम्राट फर्रुख सियर के शासनकाल मे यह समझौता हुआ कि अग्रेज कम्पनी अपने कर्मचारियो को जो पासपोर्ट, आज्ञापत्र या दस्तक प्रदान करे, उनका उपयोग किसी निजी व्यापार के लिए नही होगा । चुगी नाको पर इस दस्तक को वतलाने पर किसी प्रकार की चुंगी नही ली जाती थी । कम्पनी के कर्मचारियो ने इस दस्तक प्रथा का दुरुपयोग किया । कम्पनी के कर्मचारियो ने चुंगी नाको पर दस्तक प्रस्तुत कर अपने निजी व्यापारिक माल पर भी महसूल देना वन्द कर दिया । ज्यो-ज्यो कम्पनी की सत्ता और दवदवा वढता वढता गया, उसका व्यापार और दस्तको का दुरुपयोग भी वढता गया । अव कम्पनी के कर्मचारी दस्तको का उपयोग अपने निजी व्यापार के लिए ही नही करते थे, अपितु इन दस्तकों को भारतीय व्यापारियो को भी वेच दिया करते थे । इससे सरकार को घोर आर्थिक हानि होती थी । दस्तक के आधार पर अंग्रेज व्यापारी और उनके भारतीय पिट्ठू व्यापारी लूट मचाने लगे थे । इन्होने व्यापार के प्रमुख भाग पर अधिकार कर लिया था । और वे अधिकाधिक धन-सम्पन्न हो रहे थे । भारतीय व्यापारी नष्ट हो गये थे । दस्तक का दुरुपयोग और भारतीय व्यापार का नाश मीर जाफर और मीर कासिम के शासनकाल मे सवसे अधिक हुआ । नवाव मीरकासिम ने तो कलकत्ता के गवर्नर और कौसिल से इस अधा-धुन्धी की कई शिकायते की थी, पर कोई भी परिणाम नही निकला । अन्त मे क्षुब्ध होकर मीरकासिम ने सव चुगीकर हटा दिया, इससे अग्रेज और भारतीय व्यापारी दोनो ही चुंगी कर से मुक्त हो गये,

जिससे भारतीय व्यापार को हानि न हो। इससे कम्पनी सरकार मीरकासिम से अप्रसन्न हो गयी और अन्त मे उसे अपने सिंहासन से हाथ धोना पड़ा।

(4) **कम्पनी का व्यापार पर एकाधिकार**—अंग्रेज कम्पनी और उसके कर्मचारियो ने समस्त व्यापार अपने हाथों में ले लिया था। अंग्रेज कर्मचारियों और उनके गुमाश्तो पर नवाव का नियन्त्रण प्रायः समाप्त हो गया था। इस समय इंग्लैण्ड और यूरोप में रुई के वस्त्रो की माँग अधिक थी। इसलिये अंग्रेज और उनके गुमाश्ते सूती वस्त्रो को वडी मात्रा मे खरीदते थे। वे इसके लिए वुनकरो को पेशगी रुपया देते थे और उनसे एक शर्त नामा लिखवा लिया करते थे कि वे एक निर्दिष्ट दिनांक, निश्चित मात्रा मे और एक निर्धारित मूल्य पर कपड़ा अंग्रेजो को देंगे। इस शर्त के अनुसार वुनकर अपना वुना हुआ माल अंग्रेजो के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापारी को भी नही दे सकते थे। अंग्रेज कर्मचारी और उनके गुमाश्ते कपड़े के मूल्य की जो दर निर्धारित करते थे वह वाजार मे प्रचलित दर या भाव से वहुत ही कम होती थी। इस प्रकार अंग्रेज कपड़े के लिए वुनकरो को कीमत में जितने रुपये देते थे, उससे मजदूरी और लाभ तो दूसरी वात थी, रुई के दाम भी वसूल नही हो पाते थे। इससे वुनकरो को निरन्तर घाटा होता रहता था। जो वुनकर कपड़ा वुनकर कम्पनी को वेचने के लिए पेशगी रुपया नही लेते थे, या इकरारनामे पर हस्ताक्षर नही करते थे, या निश्चित समय पर कपड़ा वुनकर नही देते थे, अंग्रेज उन वुनकरों को दण्ड देते थे, उनके निवास स्थान पर सैनिक नियुक्त किये जाते थे जो उन पर अत्याचार करते थे। अनेक जुलाहों को पकडकर कैद कर दिया जाता था, उनको शारीरिक यातनाएँ दी जाती थी. कोड़े मारे जाते थे। कच्चे रेशम का काम करने वाले वुनकरों के साथ भी ऐसा दुर्व्यवहार किया जाता था। इन सव अत्याचारों और यातनाओं से तग आकर अनेक वुनकरों ने अपने अँगूठे कटवा दिए ताकि वे कपड़ा वुनने मे अपनी असमर्थता प्रदर्शित कर सकें और पेशगी मूल्य लेकर कम कीमत में कपड़ा वेच देने की परेशानी से मुक्त हो सके। अनेकानेक वुनकरो ने अपना व्यवसाय और धधा छोड़ दिया था। अनेक जुलाहे वेकार हो गये थे। इससे रुई और रेशम के कपड़े के धन्धे और व्यापार चौपट हो गये थे। वगाल का विकसित सूती और रेशमी वस्त्र उद्योग समाप्त हो गया था।

जैसा ऊपर वर्णित है, अंग्रेज कम्पनी और उनके व्यापारियो ने भारत मे चल रहे अपने व्यापार को चुगीकर से पूर्णतया विलकुल मुक्त करवा लिया था। उन्होने अपनी राजनीतिक सत्ता और अधिकार का उपयोग व्यापारिक तथा औद्योगिक लाभ के लिये किया। अव अंग्रेज अपना व्यापारिक माल विना किसी प्रकार का कर दिये, भारत से वाहर विदेशों को भेजने लगे। जो माल वे विदेशो से भारत के लाकर वेचते थे, उस पर भी वे कर नही देते थे। कम्पनी के इस करमुक्त व्यापार का लाभ अपने निजी व्यापार के लिए कम्पनी के कर्मचारियों ने भी लिया। इसका दुष्परिणाम भारतीय व्यापारियो और भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिए भयंकर हुआ। सरकार कर की राशि से वचित हो गयी और भारतीय व्यापारियो को खूव घाटा हुआ।

(5) **इंग्लैण्ड की कर आयात नीति**—सत्रहवी सदी के अन्त तक और अठारहवी सदी के प्रारम्भ तक भारत के सूती और रेशमी वस्त्रो की माँग इंग्लैण्ड और यूरोप के विभिन्न देशो मे वहुत अधिक थी। इसी बीच इंग्लैण्ड में नयी औद्योगिक क्रांति हो रही थी और इनके वहाँ वड़ी-वड़ी मीलों के सूती वस्त्र वनाये जा रहे थे। भारतीय

वस्त्रों को इंग्लैण्ड के बने वस्त्रो से प्रतिस्पर्धा करना पड़ रही थी। इसलिये इंग्लैण्ड के व्यापारियो और कारखानो के मालिको ने भारतीय वस्त्रो के विरुद्ध आवाज वुलन्द की और इंग्लैण्ड की ससद ने अपने देश के नव विकसित उद्योगो के लिये संरक्षण की नीति अपनायी। सन् 1700 मे इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट मे यह नियम वनाया कि कोई अंग्रेज सन् 1701 के वाद वंगाल में वने रेशमी वस्त्रो का उपयोग नही करेगा। इंग्लैण्ड मे आयात होने वाले सूती वस्त्रो पर भी प्रतिवध लगाये गये। सन् 1720 मे ससद मे पारित अधिनियम मे छपे हुए वस्त्रों से आयात व उपयोग पर प्रतिवध लगाये गये। इसके वाद सन् 1747, 1759, 1764 मे भारतीय सूती और रेशमी वस्त्रों और भी अधिक प्रतिवध लगाये गये और सन् 1765 तक भारत के सूती और रेशमी वस्त्रों पर इंग्लैण्ड मे 45 प्रतिशत आयात कर लगा दिया गया। उन दिनों वगाल मे वस्त्र छपाई का काम बहुत अच्छा होता था और छपे हुए वस्त्र और छीट इंग्लैण्ड मे प्रचुर मात्रा मे मँगाये जाते थे। इसके विरुद्ध इंग्लैण्ड मे शोर हुआ और ईस्ट इंडिया कपनी के संचालको पर दवाव डाला गया कि भारत के ऐसे कपडो का इंग्लैण्ड मे आयात वन्द कर दिया जाय। इसलिये सन् 1782 मे इंग्लैण्ड मे भारतीय वस्त्रो का आयात चार वर्षो के लिए वन्द कर दिया गया। इसके वाद भी भारत से आने वाले कपड़ो पर इंग्लैण्ड मे इतनी अधिक चुंगी ली जाती थी और जहाजों का इतना अधिक किराया वढा दिया गया था कि इंग्लैण्ड के वाजारों मे भारतीय वस्त्रो का मगाना और बेचना असम्भव हो गया था। ऐसी स्थिति मे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय वस्त्रो का इंग्लैण्ड मे आयात वन्द-सा कर दिया। इसलिये भारतीय वस्त्रो के लिये इंग्लैण्ड के बाजार एकदम वन्द हो गये। सन् 1787 में इंग्लैंड को निर्यात की गयी ढाका की मलमल का मूल्य 30 लाख रुपये था जो घटते-घटते सन् 1817 में बिलकुल वन्द हो गया। इसी बीच भारत के रेशमी कपडो की विक्री भी प्रतिकूल आयात नीति के कारण इंग्लैण्ड मे वन्द हो गयी। अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे कम्पनी की सचालक समिति ने अपने अंग्रेज कर्मचारियो को यह आदेश दिया था कि वे भारत मे वन रहे रेशमी वस्त्रो के उत्पादन को निरूत्साहित करें और उत्पादको को कच्चे रेशम को लपेटने के काम मे लगाये और आवश्यक होने पर रेशमी वस्त्रो के उत्पादको को दडित करें। फलतः कम्पनी के कर्मचारियो ने रेशमी वस्त्र वनाने वालो और कच्ची रेशम को लपटने वालो पर असीम, बर्वर अत्याचार किये। कहा जाता है कि कई बुनकरो के हाथो के अगूठे कटवा दिये गये जिससे कि वे रेशमी वस्त्र नही बुन सके। जब क्लाइव वगाल मे दूसरी वार गवर्नर (सन् 1765-67) था तव अनेक वार ऐसा हुआ कि कम्पनी के सिपाहियो को भेजकर आरमिनिया के व्यापारियो की कोठियो और गोदामो के दरवाजे तोड़कर रेशम बाँटने वालो को वहाँ से बलपूर्वक उठा लिया जाता था और अंग्रेज कम्पनी की फेक्ट्री मे काम करने के लिये वाध्य किया जाता था। धीरे-धीरे भारत का वस्त्र-उद्योग समाप्त हो गया और जुलाहे वेकार और वेरोजगार हो गये। लॉर्ड विलियम वेन्टिक ने सन 1834 मे अपनी रिपोर्ट मे लिखा था कि, "व्यापार के इतिहास मे ऐसी दुर्दशा का दृष्टान्त, जो भारतीय उद्योग और व्यापार की हुई है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कपडा बुनने वाले जुलाहो की हड्डियाँ, भारत के मैदानो को श्वेत वना रही है।"

(6) **भारतीय उद्योग धन्धों का विनाश**—इंगलैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप वहाँ वड़ी-वड़ी मिले और कल कारखाने स्थापित हो चुके थे। इनमें

कम लागत पर वस्त्रो का तथा अनेक अन्य दैनिक जीवन के उपयोग की वस्तुयें निर्मित होने लगी थी। ये कपडे और वस्तुयें भारत में बने कपडों और अन्य व्यापारिक वस्तुओं से सस्ती होती थी। भारतीय कपड़े इंगलैंड के मीलो मे बने कपडो की प्रतिस्पर्धा में टिक नही सके। स्वतन्त्र व्यापार के नाम पर इगलैंड के कपड़े और वहाँ की बनी हुई अनेक वस्तुएँ बिना आयात कर चुकाये भारत मे आने लगी। भारत के वस्त्र उद्योग से लिए विदेशी बाजार तो पहिले ही हाथ मे निकल चुके थे। अब भारतीय बाजार भी समाप्त हो गये। औद्योगिक बस्तियों और नगरों के लाखो व्यक्ति बर्बाद हो गये। वे अपनी जीविका उपार्जन के लिए नगर छोड़कर गाँवो मे चले गये। अनेकानेक शिल्पी, दस्तकार, कारीगर और बुनकर बेकार हो गये और आजीविका के लिये कृषि पर निर्भर रहने लगे। इसमे कृषि पर भी बोझ बढा और चरागाहो की कमी हो गयी। इस प्रकार अंग्रेज सरकार ने अपने देश के उद्योग-व्यवसाय व व्यापार को बढाने के लिए भारत के उद्योगो और व्यापार को विध्वंस कर दिया।

(7) **भयंकर दुर्भिक्ष और उनके दुष्परिणाम**—जब विभिन्न उद्योगों का विनाश हो रहा था और बेकार लोगों की संख्या मे प्रबल वृद्धि हो रही थी, तब निरन्तर दुर्भिक्ष पड़ने लगे। उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे सात बार दुर्भिक्ष पडा। इसमे पन्द्रह लाख लोग भूख व प्यास से तड़प-तडप कर मर गये। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इन दुर्भिक्षो की संख्या मे और भी अधिक वृद्धि हो गयी। पचास वर्ष की अवधि में लगभग चौबीस दुर्भिक्ष पडे जिसमे दो करोड़ से भी अधिक लोग काल-कलवित हो गये। इनमें अनेकानेक कुशल श्रमिक, दक्ष शिल्पकार और सुयोग्य जुलाहे सदा के लिए समाप्त हो गये। कृषि और उद्योग व्यवसाय मृत प्रायः होते गये और आर्थिक व्यवस्था चरमराती गयी।

(8) **नवीन बन्दरगाहों में अंग्रेज व्यापारियों और माल को अधिकाधिक सुविधायें**—उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ तक भारत मे अच्छे, बड़े मजबूत और टिकाऊ जहाज बनते थे। उस समय तक इंगलैण्ड मे भी ऐसे जहाज नही बनते थे। इंगलैण्ड और यूरोप के कई देशों के व्यापारी भारत में निर्मित जहाजो का उपयोग करते थे। पर अंग्रेज सरकार ने इस **जहाज** उद्योग को भी समाप्त कर दिया। इंगलैण्ड के व्यापारियो की ईर्ष्या और उनके दबाव के कारण इंगलैंड की संसद ने ऐसा कानून बनाया जिससे भारत में जहाज बनाने के उद्योग में कडा प्रतिबन्ध लग गया। उन्नीसवी सदी मे भारतीय बन्दरगाहो का विकास किया गया और अंग्रेज व्यापारिक कम्पनियो और व्यापारियो को वहाँ अधिकाधिक सुविधाएँ दी गयी। लार्ड डलहौजी के शासनकाल में भारतीय बन्दरगाहो की सुविधाओ मे वृद्धि कर इंगलैण्ड के व्यापारिक माल के निर्बाध प्रवेश का मार्ग और भी अधिक प्रशस्त कर दिया गया। फलत: उन्नीसवी सदी के मध्य तक भारत के उद्योग-धन्धे और विदेशी व्यापार लगभग नष्ट हो गये थे। ढाका, मुर्शिदाबाद, लखनऊ, वाराणसी, नासिक, तंजौर, मदुरा, सूरत, अहमदाबाद तथा पजाब व काश्मीर मे ऊन के वस्त्र बुनने के केन्द्र उजड गये।

(9) **भारतीय उद्योग-व्यवसायियों और व्यापारियों में अंग्रेज व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा करने का अभाव**—भारतीय व्यापारी समृद्ध और धन सम्पन्न थे। थे। परन्तु अंग्रेज व्यापारी और कम्पनी के कर्मचारी भारतीय व्यापारियों और उद्योग

व्यवसायियो को व्यापार व उद्योगों के लिए कोई प्रोत्साहन नही देते थे । वे भारतीय व्यापारियो से केवल अनिवार्य दशा मे, विकल्प विहीनता की परिस्थिति मे ही व्यापार करते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज कम्पनी के कर्मचारियो के अनियमित, अनैतिक और अनुचित व्यवहार से, उनकी धनलोलुपता और अत्याचार से भारतीय व्यापारी क्षुब्ध होकर अंग्रेज कम्पनी से प्रतिस्पर्धा नही करना चाहते थे । इसीलिए उन्होंने अंग्रेज व्यापारियो के व्यापार और व्यवसाय मे पूँजी नही लगायी । धीरे-धीरे अंग्रेजो के व्यापारिक क्षेत्र से भारतीय लुप्त होते चले गये । इसके आर्थिक परिणाम भी दुखदायी रहे ।

(10) **भारतीय व्यापारिथ वस्तुओं की कम माँग और उनमें प्रतिस्पर्धा की दुर्बलता**—अनेक देशी राज्यों के अंग्रेजी साम्राज्य मे विलय हो जाने के कारण तथा देशी राजाओं और सामन्तो के पतन से तथा भारत मे विदेशी पदाधिकारियो और कर्मचारियो के बाहुल्य से भारतीय वस्तुओ की खपत की और माँग कम होने लगी । उनके लिये भारतीय नरेशों का जो सरक्षण और प्रोत्साहन था, नरेशों के पतन के कारण वह समाप्त हो गया । इसके अतिरिक्त इग्लैण्ड और यूरोप के कल कारखानों व. मीलों मे बना माल सस्ता, सुन्दर, आकर्पक और टिकाऊ होता था जिससे उसकी माँग भारत मे दिन-प्रतिदिन वढने लगी । इसके विपरीत भारतीय वस्तुओ मे इतना आकर्पण और टिकाऊपन भी नही था । इससे विदेशी व्यापारिक वस्तुओ से प्रतिस्पर्धा करने मे भारतीय माल टिक नही सका ।

(11) **राष्ट्रीय व्यापारिक भावना का अभाव**—अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति भारत में फैलने से भारत मे इग्लैण्ड मे वने सभी प्रकार के माल की माँग और खपत वढती चली गई । इस समय भारतीय शिक्षित युवको मे व्यापार व उद्योग व्यवसाय के लिए राष्ट्रीय भावना नही थी । वे स्वय अपने दैनिक जीवन मे भारतीय वस्तुओ की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं का ही अधिक उपयोग करते थे । उनमे स्वदेशी वस्तुओ के उपयोग और विदेशी वस्तुओ के वहिष्कार की राष्ट्रीय भावना का अभाव था ।

(12) **अंग्रेज राजनीतिज्ञों का इग्लैण्ड की वस्तुओं और व्यापार को प्रोत्साहन**—अंग्रेजों का मूल प्रारम्भिक उद्देश्य भारत से व्यापार करना था और इस लक्ष्य की पूर्ति में सदैव सलग्न रहे । भारत मे राजसत्ता और अधिकार प्राप्त हो जाने के वाद अंग्रेज राजनीतिज्ञों और अधिकारियो ने भारतीय उद्योग-व्यवसायो और व्यापार की अपेक्षा अपने देश के ही उद्योग-धन्धो और व्यापार को खूब संरक्षण और प्रोत्साहन दिया । वे अपने राष्ट्र के वैभव और समृद्धि हेतु इग्लैण्ड मे वनी वस्तुओं का उपयोग करने लगे । इससे भारतीय उद्योगों और व्यापार को गहरा आघात लगा । अंग्रेज तो चाहते थे कि आर्थिक दृष्टि से भारत पगु हो जाय, भारतीय अर्थ-व्यवस्था विशृंखलित हो जाय । ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सचालन समिति ने स्वय सन 1771 मे यह स्वीकार कर लिया था कि वगाल मे अंग्रेज सत्ता और नियन्त्रण स्थापित हो जाने के वाद आर्थिक तथा व्यापारिक अव्यवस्था फैल गयी थी । इससे कालान्तर में समस्त भारत एक महान आर्थिक प्रलय में डूव गया ।

(13) **अन्य कारण**--भारत मे प्रचलित जाति-प्रथा की जटिलता, शारीरिक परिश्रम के प्रति तिरस्कारपूर्ण हेय दृष्टिकोण, पारलौकिक वाद तथा इस ससार की

भौतिक उपलब्धियों के प्रति उदासीनता, भाग्यवादिता आदि ने भी आर्थिक दरिद्रता में अपना योगदान दिया।

धन-निष्कासन और बढ़ती हुई निर्धनता

अंग्रेज शासन काल में उन्नीसवी और बीसवी सदी में आर्थिक जीवन की प्रमुख विशेषता थी—बढती हुई दरिद्रता। यह निर्धनता अंग्रेज सरकार की आर्थिक नीति का परिणाम थी। भारत से इग्लैण्ड को सोने-चाँदी की मुद्राओ के रूप मे और कच्चे माल तथा वस्तुओं के निर्यात के रूप मे धन भेजा जाता था। इसके बदले मे भारत को कुछ नही प्राप्त होता था। उसका आर्थिक विकास नहीं हो पाता था। जिन वस्तुओ को अंग्रेज सरकार और व्यापारी भारत के बाहर भेजते थे, उनका मूल्य भारत में व्यक्ति को तो अवश्य मिल जाता था पर भारत राष्ट्र को उसके बदले में कुछ नही प्राप्त होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी जितना राजस्व भारत से कमाती थी, उसी धन से वस्तुएँ खरीदकर बाहर भेजती थी। उन वस्तुओं के बदले मे भारत को सोने-चाँदी की मुद्राएँ नही प्राप्त होती थी। भारत से इंगलैण्ड को विभिन्न रूप मे धन निष्कासित होता था, जैसे अंग्रेज अधिकारियो व कर्मचारियों द्वारा इग्लैण्ड में अपने परिवारजनों को धन भेजना, इनके द्वारा अपनी समस्त बचत समय-समय पर इंग्लैण्ड भेजना, भारत मे रेलों तथा अन्य विभिन्न सार्वजनिक कार्यों के लिए इग्लैण्ड से लिए गए ऋण, उसके मूलधन व ब्याज को चुकाने के लिए धन को भारत से इग्लैण्ड भेजना, अंग्रेज अधिकारियो और प्रशासको द्वारा सरकारी व निजी उपयोग के लिए इंग्लैण्ड मे निर्मित वस्तुओं की खरीद के लिये भारत से धन भेजना, मुद्रा परिवर्तन के घाटे की पूर्ति के लिए भारत से इंग्लैण्ड को धन भेजना आदि। दादाभाई नौरोजी के अनुसार सन 1870 के पहले भारत की आय 50 करोड़ थी, उसमें से 12 करोड रुपये इंग्लैण्ड भेजे जाते थे। सन 1884 में अग्रेज सरकार ने ब्रिटिश कम्पनियों को आर्थिक लाभ की गारण्टी देकर भारत मे रेलो के निर्माण के लिए ठेके देने प्रारम्भ किये थे। इससे रेलों का निर्माण तो अधिक और तीव्र गति से हुआ, पर ब्रिटिश पूंजीपतियो ने ब्याज के रूप में भारत से बहुत-सा धन खीच लिया।

अंग्रेज सरकार की आय का 75 प्रतिशत से अधिक भाग गाँवों तथा कृषकों से प्राप्त होता था और गाँवो से प्राप्त होने वाले भूमिकर का नगण्य अश ग्रामीण क्षेत्रों पर व्यय किया जाता था। सरकार की एक-तिहाई से अधिक आय सुरक्षा और शांति हेतु अग्रेज सेना पर व्यय होती थी और आय का कुछ प्रतिशत प्रशासन पर शहरो में व्यय होता था। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रो से कर के रूप मे धन लिया जाता था और वह नगरो में व्यय होता था। गाँवो को इसके बदले मे कुछ भी उपलब्ध नही होता था। इससे गाँवो की निर्धनता दिन-प्रतिदिन बढती गयी। नगरो के लिए एक भाग से धन प्राप्त करके उसके कुछ अश को अन्य नगरो पर व्यय करना ही था। इससे भारत का आर्थिक विकास नही हुआ।

धन निष्कासन के सम्बन्ध मे एक और तथ्य विशेष उल्लेखनीय यह है कि अंग्रेज सरकार ने ब्रिटिश हित में ऋण लेकर रेलो का निर्माण किया, नहरों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान नही दिया। नहरे और सिचाई भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिये आवश्यक थे। पर अंग्रेज सरकार ने इनकी उपेक्षा की। अंग्रेज सरकार ने सन 1880 तक रेलों पर 12 करोड़ 50 लाख पौड व्यय किये जबकि नहरो पर

केवल 1 करोड 20 लाख पौड ही व्यय किये गये। रेलो पर किये गये व्यय का बडा भाग इग्लैण्ड के पूंजीपतियो के हाथो मे चला गया।

युद्धों का और कम्पनी के ऋण का आर्थिक दुष्परिणाम—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी भारत विजय और भारत पर अधिकार बनाये रखने का सारा व्यय भारतीय जनता से करो के रूप मे वसूल किया। ब्रिटिश साम्राज्य के हितो की सुरक्षा के लिए जब कभी भारतीय सेनाएँ भारत से बाहर बर्मा, अफगानिस्तान, मिस्र, जावा, चीन आदि देशो को भेजी गयी, तब उन सेनाओ का व्यय भी भारत को सहन करना पडा। केवल अफगानिस्तान, के युद्ध मे ही पन्द्रह करोड रुपयो का व्यय भारत को वहन करना पडा, इसमे जो जनहानि हुई वह तो अलग ही थी। इस प्रकार ब्रिटेन के हित मे लडे युद्धो का व्यय भी भारत को देना पडता था। यदि किसी वर्ष कम्पनी की आय कम होती तो कम्पनी इग्लैण्ड की सरकार से भारी धन ऋण मे ले लेती और उसे भारत को चुकाना पडता था। सन 1858 मे इंग्लैण्ड की सरकार ने कम्पनी के समस्त ऋणो को भारत द्वारा चुकाये जाने का निर्णय लिया। यह धनराशि छ. करोड पंचानवे लाख पौड थी। इस प्रकार युद्धों और कम्पनी के ऋण का भार भारतीय जनता पर पडा। इससे भारत मे वित्तीय स्थिति सकटमय बनी रही।

करों का बढता हुआ बोझ और बढ़ती हुई दरिद्रता—अग्रेज सरकार ने भारतीयो पर कर भी अधिकाधिक लगाये थे। इन करो से प्राप्त राशि किसी न किसी रूप मे इग्लैण्ड को चली जाती थी। करो का बोझ भारतीयो पर अधिक पडा। निर्धन और कम आय वाले व्यक्ति पर करो का बोझ प्रतिवर्ष बढता रहा। दु ख की बात यह है कि भारतीयो से वसूल किये जाने वाले करो की धनराशि को भारतीयों पर व्यय नही किया जाता था। इससे उन करो का बोझ उत्तरोत्तर अधिक होता था। नमक कर मे अधिक वृद्धि कर दी गयी और देशी राज्यो से समझौता करके नमक उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करके नमक कर लगा कर। खाद्य पदार्थ महँगे होते गये और जीवनोपयोगी पदार्थ दुर्लभ होते गये। सरकार की आर्थिक नीति शोपण की और इग्लैण्ड के हित साधनो की थी। भारतीयों को तकनीकी शिक्षा नही दी जाती थी जिससे वे उद्योग व व्यापार के लिए सुयोग्य व दक्ष नही बन सके। अंग्रेज सरकार यह चाहती थी कि भारत मे उद्योग-धन्धो की प्रगति व विकास नही हो और इग्लैण्ड की मशीनो का बना हुआ माल सदा अच्छी कीमत पर खपता रहे। अग्रेज सरकार के आर्म्स एक्ट ने भारतीयो को नि सहाय बना दिया था और वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट ने उनकी कलम और जबान बन्द कर दी थी। ऐसी स्थिति मे उनकी विपन्नता ने उनकी स्थिति दयनीय कर दी थी।

अग्रेज सरकार द्वारा लगाये गये विभिन्न करो के बोझ और अग्रेजों की शोपण नीति भारतीय दरिद्रता की वृद्धि मे सहायक बन गयी। फलत भारतीयो की आय दिन-प्रतिदिन कम होकर उनमे विपन्नता बढती गयी। डिग्बी के अनुसार सन 1850 मे भारतीयो की दैनिक आय प्रति व्यक्ति आधुनिक 12 पैसे के बराबर थी। सन 1882 मे सरकारी ऑकडों के बराबर यह आय घटकर 9 पैसे प्रतिदिन प्रति व्यक्ति रह गयी और सन 1900 मे यह घटकर लगभग 4 पैसे रह गयी। इस प्रकार सरकार की धन निष्कासन की नीति से तथा भारतीयों पर करो के अधिकाधिक बोझ से तथा आर्थिक शोपण से अग्रेज सरकार दरिद्रता की वृद्धि करने मे अधिक सहायक हुई।

अंग्रेज सरकार की भारत के लिये अहितकर' आयात-निर्यात नीति—उन्नीसवी सदी में भारत मे अंग्रेजों की आर्थिक नीति और आयात-निर्यात करनीति इंग्लैण्ड मे प्रचलित विचारधाराओ से प्रभावित होती थी तथा इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के आधार पर बनायी जाती थी। इस समय इंग्लैण्ड में औद्योगिक उन्नति और मुक्त-व्यापार करने की नीति का प्रभाव था। फलतः अंग्रेज सरकार इंग्लैण्ड में अधिकाधिक उत्पादित वस्तुओं का आयात भारत में करती थी और इंग्लैण्ड के मिलो और कारखानो मे उपयोग के लिए भारत से अधिकतम कच्चे माल का निर्यात करती थी। अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इंग्लैण्ड मे वहाँ के उद्योगो और व्यवसायों को संरक्षण देने के लिए और उनका समुचित विकास करने के लिए भारत मे निर्मित विभिन्न वस्तुओ को इग्लैण्ड मे आयात करने पर अनेक प्रतिबन्ध और कर लगा दिये गये। इससे प्रभावित होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में निर्मित वस्तुओं और वस्त्रो को यूरोप के देशों के बाजारों में बेचने लगी। परन्तु थोड़े वर्षो बाद ही वहाँ अमेरिका और कनाडा से आये कच्चे माल से तथा उनसे बनी विभिन्न वस्तुओं और वस्त्रों के बाजार मे बिकने से भारतीय माल की खपत और बिक्री कम हो गयी। इससे भारतीय उद्योगों-व्यवसायों को गहरा आघात लगा।

उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार का स्वरूप परिवर्तित हो गया। सन 1813 से चार्टर एक्ट से भारत का व्यापार (चाय के व्यापार को छोडकर) मुक्त कर दिया गया। इस व्यापार मे भाग लेने के लिए अंग्रेज व्यापारियों को छूट दे दी गई। इससे इग्लैण्ड के साधारण व्यापारी भी इंग्लैण्ड में निर्मित वस्तुओं को भारत मे आयात कर बेचने लगे। इससे एक ओर भारत में इंग्लैण्ड मे बनी वस्तुओं का आयात प्रतिवर्ष अधिकाधिक बढता गया और दूसरी ओर भारत के कुटीर उद्योगो में बनी वस्तुओं और वस्त्रो के निर्यात में प्रतिवर्ष कमी आती गयी। भारत से भारत मे बनी वस्तुओं को बाहर भेजने की अपेक्षा यहाँ से अंग्रेज व्यापारियो ने कच्चा माल इंगलैण्ड अधिक भेजा जिसका उपयोग वहाँ के कल-कारखानों मे होता था। आर. सी. दत्त के अनुसार, सन 1794 मे भारत मे आयात किये गये उत्पादित वस्त्रो की कीमत केवल 156 पौण्ड थी। यह सन 1813 में बढ़कर एक लाख से अधिक की कीमत का हो गया था। सन 1814 मे इंगलैण्ड से भारत मे केवल 8 लाख गज के लगभग कपडा आयात किया जाता था। सन 1835 मे यह मात्रा 5 करोड 17 लाख गज से अधिक हो चुकी थी। इसके विपरीत सन 1814 में 12 लाख 66 हजार गज कपड़ा भारत से इग्लैण्ड को निर्यात किया जाता था जो सन 1835 मे घटकर केवल तीन लाख गज रह गया था।

सन 1857 के बाद तो अग्रेज सरकार की भारत मे आर्थिक नीति इंग्लैण्ड के हित में अपनायी गयी थी। भारत सरकार ने सन 1857 के विद्रोह के दमन से उत्पन्न आर्थिक सकट का सामना करने के लिए भारत मे आने वाली वस्तुओ पर 3½ से 5 प्रतिशत की वृद्धि की और इसके कुछ समय बाद ही इसे बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया। इग्लैण्ड के उद्योगपतियों को इससे हानि पहुँचती थी। इसलिये इग्लैण्ड के व्यापारियो और उद्योगपतियो के दबाव के कारण भारत में अंग्रेज सरकार ने इंगलैण्ड के सूत और रुई के वस्त्रों पर सन 1864 मे आयात कर को 10 प्रतिशत से घटाकर 7½ प्रतिशत कर दिया। फिर भी भारत मे लगाये गये आयात करो के विरुद्ध इंग्लैण्ड में निरन्तर प्रचार होता रहा। फलत. सन 1875 में आयात कर

घटाकर 5 प्रतिशत कर दिया और सन 1879 मे तो यह आयात कर विलकुल समाप्त कर दिया गया। लार्ड लिटन ने 27 अन्य वस्तुओं पर से आयात कर हटा दिया। तम्बाखू पर लगे आयात कर को 20 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर दिया गया और वाद मे इसे भी निरस्त कर दिया गया।

भारत से वाहर विदेशो मे जाने वाली वस्तुओ पर निर्यात कर लगाया जाता था। यह निर्यात कर कम करके 3½ प्रतिशत रखा गया। तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड ब्रुक पर इंग्लैण्ड की सरकार के आयात-निर्यात नीति के विषय मे दवाव डाला। फलत, तेल, चावल, नील तथा लाख के अतिरिक्त सभी वस्तुओ पर से निर्यात कर हटा दिया गया।

अंग्रेज सरकार की यह आयात-निर्यात नीति इग्लैण्ड के हित में थी। इससे भारत का आर्थिक शोपण होता था। इग्लैण्ड के सूत और वस्त्रो पर आयात कर को निरस्त करने पर देश मे वडा क्षोभ उत्पन्न हो गया और भारतीय समाचार पत्रो ने इस नीति की कटु आलोचना की और यह मत व्यक्त किया कि अग्रेज भारत का वेरोक-टोक शोपण कर रहे है। भारतीयो का यह तीव्र रोप सन 1905 मे वग-भग के समय विदेशी और विशेपकर अग्रेजी वस्त्रो के वहिप्कार के रूप मे अभिव्यक्त हुआ।

अग्रेजो की अहितकारी दूषित आयात-निर्यात कर नीति के कारण भारतीय उद्योग विकसित नही हो पा रहे थे। सन 1921 मे एक आयोग गठित किया गया जिसने सरकार से अनुशसा की कि वह अपनी कर नीति मे परिवर्तन करे और भारतीय उद्योग-धधो को सरक्षण प्रदान करे और इसके लिए विदेशों से आने वाली वस्तुओ पर आयात कर लगाये। फलत सन 1924 मे आयात-निर्यात कर सम्बन्धी एक समिति (Board) स्थापित की गयी। इसकी अनुशंसा पर भारत सरकार ने भारत मे विदेशी वस्तुओ के आयात पर कर लगाना प्रारम्भ कर दिया। इससे भारतीय वस्त्र और व्यापारिक माल विदेशी माल के साथ प्रतिद्वन्दिता मे टिक सका। इससे भारतीय उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ तथा वस्त्र, लोहा, शक्कर, पटसन आदि उद्योग उन्नति कर सके।

भारतीय व्यापार व उद्योग, 1757-1857 ई. तक—अग्रेजी शासन की प्रथम शताब्दी (1757-1857 ई.) के पूर्वार्द्ध मे भारत का विदेशी व्यापार यूरोप के विभिन्न देशो—फ्रास, इग्लैण्ड, हालैण्ड आदि के हाथो मे आ गया था। इसमे अग्रेजो का सवसे अधिक भाग रहता था। अठारहवी शताब्दी के अन्त तक भारत में अग्रेजो ने एक के बाद एक यूरोप के व्यापारी देशो को पराजित कर स्वय अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और अग्रेजो की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथो मे ही भारत का विदेशी व्यापार पूर्णरूपेण आ गया था। इस समय भारत से सूत व रेशम के वस्त्र, कच्चा रेशम, शक्कर, नमक, जूट और अफीम वाह्य देशो को भेजा जाता था। ढाका की मलमल की माँग विश्व के विभिन्न देशो मे वहुत थी। अग्रेजी व्यापार का केन्द्र इस युग मे वगाल था। इस समय भारत का प्रमुख व्यवसाय सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र वुनना था। ढाका, लखनऊ, अहमदावाद, नागपुर और मदुरा इस व्यवसाय के केन्द्र थे। पजाव व कश्मीर मे श्रेप्ठ शाल वनाये जाते थे। ताँवा, पीतल और काँसे के वर्तन व वस्तुएँ तो समस्त भारत मे वनायी जाती थी और वाराणसी, तजौर, पूना, नासिक और अहमदावाद इसके प्रसिद्ध केन्द्र थे। सोने-चाँदी के तारों

का काम, संगमरमर, चन्दन की लकडी, हाथी दाँत तथा काँच पर कलापूर्ण नक्काशी के काम एव रत्नो के जडने का काम प्रमुख उद्योग थे। इसके अतिरिक्त चमडे की वस्तुएँ बनाने, कागज बनाने, सुवासित द्रव व पदार्थ बनाने आदि के व्यवसाय भी प्रचलित थे। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत में जलपोत-निर्माण का व्यवसाय इगलैण्ड की अपेक्षा अधिक उन्नत था।

अठारहवी शताब्दी के अन्त में भारत के उद्योग-व्यवसाय की अवनति होने लगी थी और उन्नीसवी सदी के मध्य तक यह अवनतिपूर्ण हो गयी थी। इसके अधोलिखित कारण है।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय उद्योग-व्यवसायों की अवनति के कारण

1 **विस्तृत अर्थ-निस्सृति** (Large Economic Drain)—अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी और इसके अधिकारियो ने राजाओं और नवाबों से करोडो रुपये वसूल किये, घूस ली, अपरिमित धन देश से बाहर भेजते रहे। मीरजाफर, मीरकासिम, चेतसिह, अवध के नवाब, कर्नाटक के नवाब आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण है, अग्रेजी कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार के अतिरिक्त अनेक अंग्रेज अधिकारी व्यक्तिगत रूप से वाणिज्य-व्यापार करने और अपरिमित धन-संग्रह करने मे संलग्न रहते थे। कम्पनी के अग्रेज अधिकारियो व कर्मचारियो को इस विषय मे अनेक सुविधाएँ थी और बगाल के नवाबो की ओर से तो इन्हे 'दस्तक' की विशिष्ट सुविधा थी, जिनका दुरुपयोग इतना अधिक हुआ कि बंगाल के व्यापार-व्यवसाय को अतुलनीय हानि उठानी पडी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि प्रति वर्ष अपरिमित धन देश से बाहर जाता रहा। इस अर्थ-निस्सृति से देश मे दरिद्रता की वृद्धि की, पूँजी को अपग कर दिया और भारतीय व्यापार व व्यवसाय को भारी क्षति पहुँचायी।

2. **अंग्रेजी प्रतिस्पर्द्धा और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की नीति**—जब भारत के रेशमी व सूती वस्त्र इगलैण्ड मे अधिक लोकप्रिय हो गये, तब अपने देश के व्यवसाय के हित मे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने 1700-1720 ई० तक के युग में ऐसे कानून स्वीकृत किये जिनसे भारतीय वस्त्रो का पहनना या उनका अन्य उपयोग करना निषिद्ध कर दिया गया। 1780 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरो ने बगाल से सूती वस्त्रो को इंग्लैण्ड में कम्पनी द्वारा आयात करना निपिद्ध कर दिया। इगलैण्ड मे सूती वस्त्रो के आयात को रोकने के लिए शासन ने जो कानून बनाये थे, उससे इग्लैण्ड के वस्त्र-उत्पादन को खूब प्रोत्साहन मिला। इसी बीच मशीनो के प्रयोग तथा वाष्प-शक्ति के उपयोग से इग्लैण्ड के वस्त्र-उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। फलत भारत मे इग्लैण्ड से उत्पादित कपड़ा अत्यधिक मात्रा मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी व बाद मे अग्रेज व्यापारियो द्वारा लाया जाने लगा और भारतीय वस्त्र-उत्पान व्यवसाय इस प्रतिस्पर्द्धा मे न टिक सका।

3 **देश की अव्यवस्थित राजनीतिक दशा**—अग्रेजी शासन के प्रारम्भिक युग मे अंग्रेजो की कूटनीति तथा पारस्परिक युद्धो से देश मे अव्यवस्था बनी रही जिसके फलस्वरूप देश में व्यापार व व्यवसाय उन्नति करने मे सर्वथा असमर्थ रहे।

4. **पूँजी और व्यापार**—यदि देश का बाह्य व्यापार अग्रेजों के हाथ मे आ गया था तो आन्तरिक व्यापार भी अग्रेजो के साथ-साथ उनके सहायक एव विशिष्ट व्यापारिक समुदाय के हाथ मे चला गया जिससे देश की पूँजी, व्यापार, व्यवसाय,

उद्योग न उत्पादन की वृद्धि मे लगने की अपेक्षा देश से निर्यात ही होती रहती। जो कुछ पूँजी अवशिष्ट रही, वह कृषि मे लग गयी। कालान्तर मे देश का वाणिज्य-व्यापार यूरोपीय लोगो के हाथ मे जाने के कारण यहाँ उन्होने अपनी व्यापारिक व्यवस्था और पाश्चात्य बैंकिंग प्रणाली स्थापित की जिसमे भारतीयो का भाग नगण्य था।

5. **अंग्रेज सरकार की उदासीनता**—भारत के उद्योगो और व्यवसायो के प्रति अग्रेज सरकार की नीति अकर्मण्यता की रही। भारतीय कलाओ और उद्योगो को प्रोत्साहित करने मे सरकार उदासीन और असमर्थ रही। उसने भारतीय उद्योगो के सरक्षण के हेतु न तो कोई विशिष्ट नीति अपनायी और न उद्योग की अवनति को रोकने का कोई सफल प्रयास ही किया। इसके विपरीत यहाँ की अग्रेज सरकार ने देश की औद्योगिक प्रगति मे रोडे अटकाये और इगलैण्ड के उद्योग-व्यवसायो को प्रोत्साहित किया।

उपरोक्त कारणो का प्रभाव यह हुआ कि उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विश्व के वाणिज्य-व्यापार तथा उद्योग-व्यवसायो मे दो सहस्त्र वर्षो से भारत का जो श्रेष्ठ पद था, वह विनष्ट हो गया। धीरे-धीरे वह कच्चे माल के उत्पादन का देश और मशीनो द्वारा पश्चिम मे बनाये हुए सस्ते माल की विशाल मण्डी मे परिवर्तित कर दिया गया। यहाँ की विदेशी अग्रेजी सरकार ने इस दुर्भाग्य को टालने का कोई प्रयास नही किया।

भारतीय वाणिज्य उद्योग, 1858-1905 ई० तक—उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जब 1819 ई० मे स्वेज नहर का मार्ग खुल गया, तब भारत का वाह्य व्यापार अत्यधिक बढ गया। इस नहर के प्रारम्भ होने के पाँच वर्ष मे भारत का वार्षिक आयात व निर्यात प्रति वर्ष लगभग 90 करोड़ रुपये का था। 1928-29 ई० में यह 600 करोड रुपये का हो गया। इस व्यापार मे निर्यात की अपेक्षा आयात का भाग अधिक रहता था। भारत मे बनी हुई वस्तुएँ अब भारत से वाह्य देशों को जाने की अपेक्षा इग्लैण्ड और यूरोप के देशो की मशीनो से बनी हुई सस्ती वस्तुएँ भारत मे आने लगी तथा भारत कच्चा माल, जैसे कपास, जूट, तिलहन, गेहूँ, चाय आदि वाह्य देशो को भेजने लगा। अग्रेजी शासन द्वारा स्थापित शान्ति, व्यवस्था व सुरक्षा तथा रेल, सडक, तार, डाक, नहर, जलपोत जैसे आवागमन के साधनो के विकास के कारण एव मुक्त व्यापार नीति (Free Trade Policy) अपनाने से भारत के आन्तरिक व बाह्य व्यापार मे अत्यधिक वृद्धि हुई।

अग्रेजी शासन, पाश्चात्य सभ्यता व शिक्षा ने तथा मशीनो द्वारा निर्मित सस्ती वस्तुओ ने भारतीयो की सामाजिक व आर्थिक रुचि मे परिवर्तन कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत मे ही निर्मित वस्तुएँ धीरे-धीरे बाजारो से अदृश्य होने लगी और उनका स्थान मशीनो से बनी हुई विदेशी वस्तुओ ने ले लिया। इससे भारत के गृह उद्योग विनष्ट हो गये। भारत मे आने वाली वस्तुओ मे प्रधानतया अब विलास की सामग्री थी, जैसे रेशमी व सूती वस्त्र, चमडा और चमड़े की वस्तुएँ, कमरो की सजावट का सामान, फर्नीचर, घडियाँ, चीनी व काँच की वस्तुएँ, बर्तन, कागज, खिलौने, स्टेशनरी, सिगरेट, सुवासित पदार्थ, तेल, खेल के सामान, गाडियाँ, साइकिलें, मोटरें व मोटर-साइकिले आदि। दैनिक जीवन की अनेक नवीन अनिवार्य वस्तुओ का भी हमारे देश मे आयात होने लगा, उदाहरणार्थ, दियासलाई, साबुन, टार्च वायु-

मीनियम और लोहे के पॉलिश किये हुए बर्तन व वस्तुएँ, छाते, सीने की मशीनें, काँच और सस्ते चीनी के बर्तन, मिट्टी का तेल आदि।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे कतिपय शिक्षित भारतीय दूरदर्शी राष्ट्रप्रेमी उद्योगपति और व्यवसायी तत्कालीन आर्थिक नीति तथा व्यावसायिक परिवर्तन को समझने लगे थे। फलत: धीरे-धीरे भारतीय उद्योगो का आधुनिक वैज्ञानिक ढग से सगठन किया जाने लगा। कपास, जूट, लोहा, कागज, चमडा आदि के उद्योग बडे पैमाने पर संगठित किये गये। यद्यपि इनमे से अधिकांश की व्यवस्था व पूँजी यूरोपीय लोगों की थी तथापि यह शुभ प्रारम्भ था। औद्योगिक पुनर्जागरण का यह सूत्रपात था। सन 1955 मे बगाल मे हुगली नदी के किनारे सबसे प्रथम पटसन (जूट) मिल का प्रारभ हुआ। पन्द्रह वर्षो की अवधि मे वहाँ 90 से अधिक जूट मिल स्थापित हो गये। पर जूट की मिले अग्रेज और यूरोपीय पूँजीपतियों के हाथो मे रहे। जूट की मिलों की वृद्धि के साथ-साथ भारत मे जूट के माल का निर्यात भी बढा और एशिया, आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के बाजार से डंडी मे बने जूट के माल को हटाकर भारतीय जूट का माल बिकने लगा। यद्यपि कलकत्ता मे 1818 ई० मे एक सूती कपडे की मिल स्थापित हो गयी थी तथापि इसका प्रारम्भ वस्तुत बम्बई में 1854 ई० में हुआ जब वहाँ सर्वप्रथम कपडे की मिल खोली गयी। सन 1861 तक सूती कपड़े के मिल 12 थे, सन 1874 में यह सख्या 51 हो गयी, सन 1875 मे 36 और सन 1878 मे यह सख्या बढकर 42 हो गयी। 1877 ई० के बाद रुई-उत्पादन के क्षेत्रो मे, जैसे नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि स्थानो मे अनेक सूती कपड़े के कारखाने स्थापित किये गये। 1905 ई० के स्वदेशी आन्दोलन ने इस उद्योग को अत्यधिक प्रोत्साहित किया और देश के विभिन्न स्थानो मे अनेक मिलो का निर्माण किया गया। इस उद्योग को इग्लैण्ड के मैनचेस्टर और लॅकाशायर की मिलो के कपडो की प्रतिस्पर्द्धा, इंग्लैण्ड का सरक्षण और मुक्त व्यापार की नीति तथा भारत मे अग्रेजी शासन की उदासीनता का सामना करना पडा। फलत. इसकी प्रगति धीमी रही।

रेलो के निर्माण के साथ-साथ कोयले की माग भी बढ़ी। फलत. रानीगज और मध्य प्रदेश मे कोयले की नयी खाने खोली गयी। सन 1830 मे रानीगज तथा उसके आसपास के जिलो मे कोयले के खानो की सख्या 56 हो गयी। इसके बाद धनबाद के क्षेत्र मे तथा अन्य स्थानों मे कोयले की खानो मे वृद्धि हो गयी। लोहा, चमड़ा, शक्कर और कागज के उद्योगो मे भी प्रगति हुई। मद्रास, कानपुर और आगरा मे चमडे का उद्योग विकसित हुआ। मद्रास मे सन 1869 मे सेना के लिये चमडे का सामान बनाने के लिये सरकार ने चमडे का कारखाना खोला।

भारतीय व्यापार, व्यवसाय व उद्योग, 1905-1947 ई० तक—सुदीर्घ काल तक भारत के औद्योगिक व व्यापारिक क्षेत्र मे इग्लैण्ड की सर्वोपरि अधिकार व सत्ता रही। परन्तु धीरे-धीरे भारतीय नवीन उद्योगो के क्षेत्रो मे प्रवेश कर गये। सन 1913 मे बिहार मे टाटानगर मे लोहे और इस्पात का कारखाना खुला। प्रथम विश्वयुद्ध के समय सैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भारतीय उद्योग-धन्धे विकसित किये गये। यातायात और आवगमन के साधनो मे वृद्धि हो जाने से औद्योगीकरण मे खूब सहायता प्राप्त हुई। अनेक छोटे कारखाने देश मे स्थापित हो गये। परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के पश्चात भारतीय व्यापार के क्षेत्र मे विश्व के अन्य देश, जैसे जर्मनी,

अमेरिका, जापान आदि भी आ गये। परिणामस्वरूप, प्रतिस्पर्द्धा और वाणिज्य दोनों की ही वृद्धि हुई। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918) के कारण यह व्यापार कम हो गया, विशेष्रकर भारत में आयात। इस युद्ध के पश्चात् देश के वाणिज्य-व्यापार मे वृद्धि हुई, परन्तु 1932-34 के आर्थिक मदी (economic depression) के कारण इसमे क्षति हुई और भारत का आयात व निर्यात दोनो ही कम हो गये। द्वितीय विश्वयुद्ध से पुनः इस व्यापार मे वृद्धि हुई। एशिया, अफ्रीका व यूरोप के देशो के साथ भारत का व्यापार बढा।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे लार्ड कर्जन के शासनकाल से अग्रेजी सरकार की औद्योगिक नीति मे परिवर्तन होने लगा। अकर्मण्यता व उदासीनता की नीति पहले की अपेक्षा कम होने लगी और औद्योगीकरण की दिशा मे विशेष प्रयत्न किया जाने लगा। राजनीतिक आन्दोलन, देश की दरिद्रता, दुर्भिक्ष और आर्थिक असतोप ने भी अग्रेजी सरकार को अपनी नीति बदलने के लिए बाध्य किया। 1905 ई० मे व्यापार व उद्योग के लिए एक सरकारी विभाग (Imperial Department of Commerce and Industries) खोला गया। प्रथम विश्वयुद्ध ने भारत की औद्योगिक दरिद्रता ही प्रकट नही की अपितु सरकार को भी औद्योगीकरण का सैनिक व आर्थिक महत्त्व विदित करा दिया। फलत सैनिक आवश्यकताओ से विवश होकर अग्रेज सरकार को औद्योगिक विकास के लिए सक्रिय नीति अपनानी पड़ी और फरवरी 1917 ई० में उसने म्युनीशन बोर्ड (Munition Board) की स्थापना की। यद्यपि इस बोर्ड का कर्तव्य सरकारी भण्डार-गृहों की वस्तुओं की खरीद और युद्ध-सामग्री के निर्माण-क्रय पर नियन्त्रण रखना था तथापि भारतीय कारखानो से सामग्री मोल लेकर तथा उद्योग सम्बन्धी अनेक प्रकार की नवीन सूचनाएँ देकर इसने भारतीय औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया। भारतीय जनता की औद्योगीकरण की माँग को सतुष्ट करने के लिए सरकार ने 1916 ई० मे इण्डस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) की स्थापना की। इसका उद्देश्य औद्योगिक विकास की योजना बनाना, व्यापार तथा उद्योग मे भारतीय पूँजी को लगाने के नवीन साधन बतलाना और उद्योगो को प्रोत्साहित करने के नवीन उपाय सरकार को सुझाना था। इस कमीशन के सुझावो को सरकार ने स्वीकृत कर उन्हे कार्यान्वित करने का प्रयास किया। इसी कमीशन के आधार पर उद्योगों के लिए एक राजकीय विभाग "Department of Commercial Intelligence and Statistics" खोला गया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त मे भी औद्योगिक विभाग की स्थापना की गयी जिससे केन्द्र और प्रान्त की सरकारे इस क्षेत्र मे परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य कर सके। 1919 ई० के सुधारों के बाद सरकार ने 1921 ई० मे एक 'फिसकल कमीशन' (Fiscal Commission) की स्थापना की। इसने सरक्षण की नीति का सुझाव रखा। अतएव 1923 ई० मे उद्योग धन्धो के संरक्षण के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय करने के हेतु सरकार ने 'आयात बोर्ड' (Tariff Board) की स्थापना की। इसकी सिफारिश के आधार पर लोहा, फौलाद, सूत, कागज, शक्कर, नमक, दियासलाई और अन्य उद्योगो को सरक्षण मिल गया।

1930 ई० के बाद अनेक कानूनों द्वारा आयात व निर्यात मे महत्त्वशाली परिवर्तन कर दिये गये। इन कानूनों मे 1932 ई० का Indian Tariff Amendment Act विशेष उल्लेखनीय है। इस कानून से भारत मे इग्लैण्ड और अंग्रेजी उपनिवेशो मे आने वाले माल को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी जिससे भारत के

उद्योगो को आघात पहुँचा । इसी बीच देश की औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रगति के लिए सरकार ने विदेशो से अनेक समझौते किये और बाह्य देशो में भारतीय ट्रेड कमिश्नर नियुक्त किये ।

प्रान्तीय सरकारे भी औद्योगिक विकास के विषय मे धीरे-धीरे अपनी-अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने लगी और देश में स्थापित गैर-सरकारी भारतीय व्यापारिक सस्थाओ (Indian Chambers of Commerce) ने भी उद्योग-धन्धो के विकास के लिए प्रयास करना प्रारम्भ किया । 1937 ई० मे जब प्रान्तों मे लोकप्रिय सरकारे स्थापित हुई तब औद्योगिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के प्रयत्न किये गये और पण्डित नेहरू की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय योजना समिति स्थापित हुई । परन्तु द्वतीय विश्वयुद्ध (1939-45 ई०) के प्रारम्भ हो जाने से इस दिशा मे कोई उल्लेखनीय कदम नही उठाया जा सका । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारत मे युद्ध-सामग्री बनाने के हेतु विभिन्न प्रकार के कल-कारखानों का निर्माण हुआ । इससे औद्योगिक शिक्षा की प्रगति हुई एव देश के औद्योगिक और व्यावसायिक विकास को प्रोत्साहन मिला । युद्ध की समाप्ति पर सरकार की औद्योगिक नीति मे परिवर्तन हुआ और इस आशय की घोषणा की गयी कि देश के प्रमुख व्यवसायो व उद्योगो, जैसे लोहा, फौलाद के कारखानो, कोयले की खानो, रासायनिक पदार्थो का उत्पादन करने वाले कारखानो एव इजन, मशीनो के पुर्जे, रेडियो, जहाज बनाने वाले कल-कारखानो की व्यवस्था व नियन्त्रण सरकार के हाथो मे रहेगे । 1947 ई० मे जब देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई एव राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो गयी तब सरकार ने राष्ट्रीयकरण (nationalisation) की नीति अपनाने की घोषणा की परन्तु देश की दशा को देखते हुए प्रमुख उद्योगो का राष्ट्रीयकरण दस वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया । फिर भी राष्ट्रीय सरकार अनेक उद्योग धन्धो को प्रोत्साहन दे रही है और स्वय भी विशाल कारखाने खोल रही है । चित्तरजन मे रेलवे इजन बनाने का विशाल कारखाना, सिन्दरी मे वैज्ञानिक ढग के खाद बनाने के तथा पूना के पास पेनिसिलिन बनाने के कारखाने स्थापित किये गये है । मशीनें, रासायनिक पदार्थ आदि की आवश्यकताएँ अधिकाश मे देश मे उत्पन्न हुई वस्तुओ से पूर्ण होने लगी हे । सीमेण्ट, काँच, चमडा, जूट, कागज, प्लास्टिक, रबर, रेशम, फौलाद, शक्कर, सूती वस्त्र, वनस्पति घी, ऊनी वस्त्र, जहाज बनाने आदि के उद्योग-धन्धों मे प्रभूत प्रगति हो रही हे। खनिज-उत्पादन और शोधन उद्योग भी उन्नति कर रहा है । इस प्रगति व परिवर्तन के फलस्वरूप देश के वाणिज्य-व्यापार का स्वरूप भी बदल गया, स्वयं सरकार की व्यापारिक नीति भी परिवर्तित हो गयी । अब देश से कच्चे माल का निर्यात घट गया । उसका अधिक उपयोग अब देश मे ही किया जाने लगा । इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओ का आयात सरकारी नियन्त्रण मे होने लगा । उन्ही वस्तुओ को देश मे मँगाने के लिए लाइसेस दिये जाते हे जिनकी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है । अब व्यापारिक नीति का यह उद्देश्य हो गया कि देश मे बनाई हुई वस्तुओ का निर्यात बाह्य देशो की वस्तुओ के आयात के अनुपात मे अधिक किया जाय जिससे देश को अधिक धन (Favourable trade Balance) प्राप्त हो ।

औद्योगिक श्रम

श्रम-आन्दोलन व श्रमिक संघ (Trade Unions)—भारत मे औद्योगीकरण के साथ-साथ औद्योगिक श्रमिको और उनकी समस्याओं का सूत्रपात भी हुआ । मिलो

और कारखानो के मालिकों व उद्योगपतियो ने न तो श्रमिको की दशा की ओर ध्यान दिया। और न आधुनिक उद्योगवाद के अभिशापो से श्रमिको की रक्षा करने हेतु सरकार ने किसी प्रकार से कोई हस्तक्षेप किया।

नवीन कारखानों व मिलो के कारण औद्योगिक श्रमिको मे प्राचीन सदाचार-युक्त पारिवारिक जीवन नही रहा। उनमे धार्मिक नियन्त्रण व जातीय बन्धन ढीले पड गये। उनके निवासस्थानो की कोई समुचित व्यवस्था नही थी। उन्हे या तो अस्वास्थप्रद चालों मे अथवा गन्दी मजदूर-बस्तियो मे रहना पडता था। उनके जीवन की नैतिकता का सदैव ह्रास होने लगा। ऐसी दशा मे उन्हे जीवन के नये-नये प्रलोभन व दुर्गुण आकर्षित करने लगे। इनमे उन्हे अधिक मजदूरी मिलने से और भी अधिक सहायता मिलने लगी। उन्हे प्रारम्भ मे मिलो व कारखानो मे प्रतिदिन बारह घण्टे कार्य करना पडता था। उनके काम करने के स्थानो मे शुद्ध वायु एव प्रकाश का समुचित प्रबन्ध नही था। निरन्तर दीर्घ समय तक एक सा कार्य करते रहने से वे थक जाते थे। उनके लिए कोई निश्चित विश्रामकाल, स्थान व मनोरजन के साधन नही थे। न तो उनके लिए स्वास्थ्य, स्वच्छता व चिकित्सा का कोई प्रबन्ध ही था और न उनके बालको के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था ही थी। उनके काम के परिणाम व समय को देखते हुए उन्हे वेतन भी कम प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त वे सदैव उद्योगपतियो व मिल-मालिको के अत्याचार व अन्याय के शिकार बने रहे। यह क्रम वर्षों तक चलता रहा। औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप अनेक कल-कारखानो मे श्रमिकों की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि होने लगी। इस वृद्धि के साथ-साथ श्रमिको मे कष्टो की सामूहिक अनुभूति भी बढने लगी। धीरे-धीरे श्रमिको मे जाग्रति होने लगी।

श्रमिक जाग्रति के साथ-साथ श्रमिकों के संगठन भी निर्मित होने लगे। प्रारम्भ मे ये संगठन छोटे और स्थानीय होते थे। परन्तु कालान्तर में ये देशव्यापी हो गये। सर्वप्रथम, 1890 ई० में बम्बई मे मिल मजदूर सभा स्थापित की गयी। इसके पश्चात रेल कर्मचारी समाज (1897 ई०), कलकत्ता मुद्रण सघ (1905 ई०), बम्बई डॉक संघ, तथा कामगार हितवर्द्धक सभा, बम्बई (1906 ई०) की स्थापना हुई।

परन्तु देशव्यापी मजदूर-सघवाद औद्योगिक विकास और श्रमिक असतोष के कारण हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के समय श्रमिको का जीवन महँगाई के कारण अत्यन्त ही कष्टमय हो गया था। युद्धकाल मे पूँजीपतियो ने अनेक उद्योग-धन्धो द्वारा अपरिमित धनोपार्जन किया, परन्तु श्रमिको की ओर उन्होने किंचित भी ध्यान नही दिया। परिणामस्वरूप, श्रमिको मे अशान्ति की भावना बढने लगी। उनमे एक जाग्रति और चेतना उत्पन्न हुई एव अपनी कठिनाइयो को दूर करने की माँग प्रस्तुत करने के लिए उनमे एक सगठित सघर्ष करने की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि उन्हे विनाश से अपनी रक्षा करने एव उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अपने भीतर एक सगठित कार्य-शक्ति उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात औद्योगिक और व्यावसायिक उन्नति बड़ी तीव्रता से हुई। इससे मजदूरो की मांग मे वृद्धि हुई। वे अपनी मागो की पूर्ति के लिए हड़तालो का अधिकाधिक आश्रय लेने लगे। पारस्परिक सयुक्त प्रयत्न और सगठन के बल पर उन्हे सफलता भी उपलब्ध होने लगी। परिणामस्वरूप, मजदूर-सगठन दृढतर होने लगा।

परन्तु श्रमिक सगठन की दशा मे निश्चित महत्त्वपूर्ण कदम प्रथम-विश्वयुद्ध के बाद उठाये गये । 1918 ई० मे बी. पी. वाडिया ने मद्रास लेबर यूनियन की स्थापना की और 1920 ई० में नारायण मल्हार जोशी ने सर्वप्रथम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस की स्थापना की । इसी वर्ष अखिल भारतीय रेलवेमेन्स फेडरेशन की स्थापना भी हुई । इसका सम्बन्ध ट्रेड यूनियन काँग्रेस से था । इसके पश्चात देश के औद्योगिक व व्यावसायिक केन्द्रो मे श्रमिक संघो का प्रादुर्भाव हुआ और हडताले होने लगी । इन श्रमिक सघो को कानूनी रूप देने के लिए 1926 ई० मे इण्डियन ट्रेड यूनियन एक्ट स्वीकृत हुआ । इससे श्रमिको को वैध रूप मे कार्य करने का अधिकार प्राप्त हो गया । श्रमिको की निरक्षरता, उचित नेतृत्व का अभाव, भारतीय श्रमिकों का कृषि सम्बन्धी दृष्टिकोण एव उनमे विभिन्न जाति, सम्प्रदाय व वर्गो के लोगो के होने से श्रमिक सघो की प्रगति अवरुद्ध होने लगी, परन्तु फिर भी श्रमिक सघ आन्दोलन विस्तृत होने लगा । 1929 ई० मे कम्युनिस्टो के कारण ट्रेड यूनियन काँग्रेस मे मतभेद हो गया और नरम दल ने उससे अलग होकर ट्रेड यूनियन फेडरेशन के नाम से अपना अलग सगठन बना लिया । 1931 ई मे कलकत्ता मे ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस के अधिवेशन पर उसमे फिर मतभेद हो गया और वामपक्षियों ने ऑल इण्डिया रैड ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस की स्थापना की । इस प्रकार श्रमिको की तीन संस्थाएँ हो गयी, जिनमे से एक कम्युनिस्टों की, दूसरी नरम दल वालो की और तीसरी शेष बचे हुए लोगो की थी । यह फूट छह वर्ष तक बनी रही परन्तु 1938 ई० मे मतभेद दूर हो गया और ट्रेड यूनियन काग्रेस तथा ट्रेड यूनियन फेडरेशन सम्मिलित हो गये ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ट्रेड यूनिययन काँग्रेस की नीति युद्ध मे तटस्थ रहने की थी, परन्तु उसका एक दल युद्ध [illegible] मे सहायता करने के पक्ष मे था । अत [illegible] दल ने श्री एम. एन. राय और जमनादास मेहता के नेतृत्व मे नवीन श्रमिक संघ स्थापित किया जिसका नाम इण्डियन फेडरेशन ऑव लेबर रखा गया । ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस मे साम्यवादी दल का प्राधान्य होने से, उसमे राष्ट्रीय कॉंग्रेस के जो मजदूर-नेता थे, उन्होने श्रमिको का एक नया सगठन बनाने का निर्णय किया । अतएव 1947 ई० के मई के माह मे इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काँग्रेस नामक सँस्था स्थापित की गयी । इस सस्था की नीति यह है कि हड़ताल उसी समय होनी चाहिए जब श्रमिको के सम्मुख अन्य कोई मार्ग ही न रहे । आज भारत के श्रमिकों की सबसे बड़ी सस्था यही है । अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संगठन (I. L. O.) ने भी इसे भारत के श्रमिको की प्रतिनिधि-संस्था स्वीकृत कर लिया है । 1948 ई० में भारत की समाजवादी पार्टी ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से हिन्द मजदूर सभा की स्थापना की । इस सभा का उद्देश्य श्रमिको के शोषण का अन्त कर समाजवादी समाज की स्थापना करना है ।

श्रमिकों की दशा सुधारने के प्रयत्न—श्रमिक आन्दोलन और संगठन के कारण सार्वजनिक जाग्रति की पृष्ठभूमि मे सरकार ने श्रमिको की दशा सुधारने के लिए अधोलिखित अनेक महत्त्वपूर्ण कानून बनाये और मिल तथा कारखाने के मालिकों ने भी अनेक सुविधाएँ प्रदान की ।

1911 ई० में फैक्टरी एक्ट बनाया गया जिसके अनुसार स्त्रियो तथा बालकों के काम करने के घण्टे क्रमशः नौ और सात कर दिये गये और आधे घण्टे का अवकाश अनिवार्य कर दिया गया । औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य व सुरक्षा के हेतु भी कुछ

नियम बनाये गये । 1921 ई० मे वाशिंगटन में अन्तरराष्ट्रीय श्रम कान्फ्रेंस हुई थी, जिसके सुझावो के आधार पर भारत मे श्रमिको के हेतु 1922 ई० मे कानून बनाया गया । इसके अनुसार बारह वर्ष की आयु से कम के बालको का कारखाने मे काम करना निषिद्ध कर दिया गया, उनके काम करने के प्रतिदिन 6 घण्टे कर दिये गये, अनिवार्य विश्राम निश्चित कर दिया गया, प्रौढ श्रमिको के हेतु काम के ग्यारह घण्टे कर दिये गये, समय से अधिक काम करने के लिए उन्हे अधिक वेतन देना निश्चित कर दिया गया और सप्ताह मे एक दिन छुट्टी का रखा गया । 1923 ई० मे वर्कमेन्स कम्पेनसेशन एक्ट (Workmen's Compensation Act) पास हुआ । इसके अनुसार विभिन्न वर्गो के औद्योगिक श्रमिकों को विशिष्ट प्रकार की चोट लगने तथा मृत्यु हो जाने पर उनकी क्षतिपूर्ति की जाती थी ।

औद्योगिक अशान्ति, श्रमिक आन्दोलन का प्रभाव और जिनेवा मे अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक सगठन मे भारत की सदस्यता के कारण श्रमिको की दशा को सुधारने के लिए प्रोत्साहन मिला । फलत. 1929 ई० मे तत्कालीन औद्योगिक श्रमिको की दशा की जाँच करने और सुधार के लिए सुझाव रखने के हेतु रॉयल कमीशन की नियुक्ति हुई। 1931 ई० मे इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमे दिये गये कतिपय सुझावो को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो ने कार्यान्वित किया । इसके पश्चात 1934 ई० मे एमेण्डमेण्ट ऑफ दी वर्कमेन्स कम्पेनसेशन एक्ट (Amendment of the Workmen's Compensation Act) और 1934 ई० मे इण्डियन फेक्टरीज एक्ट स्वीकृत हुए । इस फैक्टरी एक्ट के अनुसार बारह वर्ष से कम आयु के बालको का कारखानों मे काम करना निषिद्ध कर दिया गया, उनके लिए प्रतिदिन 5 घण्टे का काम निश्चित कर दिया गया, बालको व स्त्रियो से दिन मे ही काम कराने का नियम बना दिया गया, स्थायी कारखानो मे श्रमिको को एक सप्ताह मे 48 घण्टे और मौसमी कारखानो मे 50 घण्टे काम करने का नियम बना दिया गया, एक वर्ष तक काम करने पर सवेतन अवकाश का नियम एव नियत घण्टो के अतिरिक्त काम करने पर दूने वेतन की दर देने का नियम बना दिया गया । कारखानो मे स्वच्छता, प्रकाश तथा हवा एव बड़े कारखानो मे भोजनालय (canteens) की व्यवस्था की गयी । इसके अतिरिक्त 1934 ई० मे ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट (Trade Disputes Act) बना । इसके अनुसार कारखाने वालो और श्रमिको के झगड़ो की जाँच करने के लिए स्वतन्त्र व्यक्तियो की कचहरी तथा दोनो दलो के प्रतिनिधियो को सम्मिलित करके समझौते करने वाले बोर्ड (Conciliation Board) स्थापित करने की व्यवस्था की गयी । 1936 ई मे पेमेण्ट ऑफ वेजेज एक्ट स्वीकृत हुआ जिससे श्रमिकों के वेतन नियमित करने का प्रयास किया गया । 1936 ई० मे इण्डियन माइन्स एक्ट भी स्वीकृत हुआ । इसके अनुसार खानो मे काम करने वालो के लिए भी एक दिन मे अधिक से अधिक 10 और सप्ताह मे 54 घण्टे काम लेने का प्रबन्ध किया गया । तेरह वर्ष से कम आयु वाले बालको तथा स्त्रियो का खानो मे काम करना निषिद्ध कर दिया गया एव श्रमिको को एक सप्ताह मे एक दिन की छुट्टी अनिवार्य कर दी गयी । इस माइन्स एक्ट का भी कई बार सशोधन किया गया । 1948 ई० मे कोल माइन्स प्रॉवीडेण्ट फण्ड एण्ड बोनस स्कीम एक्ट (Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act) स्वीकृत हुआ जिसके द्वारा खानो में काम करने वालो के लिए प्रॉवीडेण्ट फण्ड तथा बोनस की प्रथम बार व्यवस्था करने का सरकार द्वारा प्रयत्न किया गया ।

उपरोक्त कानूनों के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों मे Y. M. C. A., The Social Service League, The Depressed Classes Mission Society आदि संस्थाओ द्वारा श्रमिको की दशा सुधारने के प्रयत्न किये गये। 1937 ई० के बाद जब देश के विभिन्न प्रान्तो मे कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल स्थापित हुए तब बिहार, बम्बई, कानपुर, मध्य प्रदेश आदि स्थानों में श्रमिकों की दशा की जाँच करने एव उसके लिए सुझाव प्रस्तुत करने हेतु विभिन्न कमेटियाँ स्थापित की गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके बाद श्रमिको की दशा सुधारने की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया। इसी बीच पूंजीवाद तथा श्रम की समस्याएँ भी बढी और मिलमालिको तथा श्रमिको के पारस्परिक झगडो मे वृद्धि भी हुई। अतएव 1947 ई० मे औद्योगिक विवाद अधिनियम (Industrial Disputes Act) स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार उस कारखाने के मालिक को जिसमे सौ से अधिक श्रमिक काम करते है, झगडे के कारणो को दूर करने के लिए एक वर्क्स कमेटी (Works Committee) स्थापित करना अनिवार्य कर दिया गया। झगडो को मिटाने के लिए समझौता करने वाले अधिकारियो (Conciliation Officers) की नियुक्ति भी अनिवार्य कर दी गयी। सार्वजनिक उपयोगिता वाले कारखानो मे समस्त झगड़ो के हेतु समझौता करना अनिवार्य हो गया एवं उनमे छह सप्ताह का नोटिस दिये बिना हडताल करना गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। 1948 ई० मे एक नवीन फैक्टरीज एक्ट स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार किसी कारखाने मे कोई भी उस समय तक नियुक्त नही किया जायेगा जब तक उसके स्वास्थ्य एव सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न की जाय। इस कानून के अतिरिक्त इसी वर्ष एम्पलॉयीज स्टेट इन्श्योरेन्स कॉरपोरेशन एक्ट (Employees' State Insurance Corporation Act) स्वीकृत हुआ। इससे श्रमिको को अपने स्वास्थ्य तथा आकस्मिक घटनाओ के लिए बीमा कराना अनिवार्य हो गया।

कृषि

अंग्रेज सरकार की कृषि-नीति—अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत मे उद्योग-व्यवसाय और कृषि दोनो मे सन्तुलन था। कृषि के साथ-साथ अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे होते थे। परन्तु अंग्रेज शासको ने ऐसी नीति अपनाई कि भारत कृषि पर निर्भर रहने के लिए बाध्य हो गया और कालान्तर मे कृषि-जीवन भी अस्त-व्यस्त हो गया, देश की भूमि-शक्ति नष्ट हो गई एवं खाद्यान्न-पूर्ति के लिए अब विदेशों का मुँह ताकना पड़ा।

अंग्रेजी शासन के समय जब इंग्लैण्ड व यूरोप का मशीनों से बना हुआ सस्ता माल भारत मे बिकने लगा, तब भारत मे यहाँ का हाथ का बना हुआ माल उसकी प्रतिस्पर्द्धा न कर सका एवं भारतीय उद्योग-धन्धे अवनत होने लगे। इस बीच यातायात के साधनो मे सुधार होने से देश मे मशीनो से बनी विदेशी वस्तुओं की और भी अधिक भरमार हो गई। इससे उद्योग-व्यवसायो के नष्ट होने मे सहायता प्राप्त हुई। फलत. जीविकोपार्जन हेतु लोग कृषि की ओर झुके। कृषि के लिए भूमि की माँग बढ़ने लगी। इसी बीच जनसख्या भी बढने लगी और लोग भूमि पर ही आश्रित होकर रहने लगे। इससे जीवन-निर्वाह के लिए कृषि को अधिक भार सहना पड़ा। परन्तु कृषि मे प्राचीन पद्धतियो का ही प्रयोग किया गया। नवीनता को न अपनाने से कृषि की उन्नति न हो सकी। इसके अतिरिक्त कृषकों के पास जो कुछ भी भूमि थी, वह कई छोटे-छोटे टुकड़ो मे विभक्त हो गई। जमीदारी-प्रथा, बेगार की रस्म, प्राकृतिक

विपत्तियाँ और महाजन के कर्जे से कृषकों की दशा और भी हीन हो गई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि कृषि से निर्वाह करना भी दुष्कर हो गया, बेकारी द्रुत गति से बढने लगी और समाज मे एक ऐसा निम्नतम निर्धन-वर्ग उत्पन्न हो गया जिसके पास कोई सम्पत्ति नही रह गई।

उपरोक्त समस्याओं को हल करने के लिए दो उपाय थे। प्रथम, औद्योगीकरण जिससे कृषि का भार कम हो व बेकारी व दरिद्रता दूर हो, द्वितीय, कृषि मे नवीन वैज्ञानिक ढगों को अपनाकर उत्पादन मे वृद्धि कर उन्नति की जाय। परन्तु अंग्रेज शासको ने इन उपायो को नही अपनाया। उन्होने उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक देश के औद्योगीकरण को यथासम्भव रोकने का प्रयास किया और कृषि की उन्नति करने के लिए कोई कदम नही उठाया।

कृषि की प्रगति व कृषि विभाग—प्रारम्भ मे अंग्रेजी शासन मे कृषि का कोई पृथक विभाग नहीं था। 1880 के अकाल आयोग (Famine Commission) की सिफारिशो पर विभिन्न प्रान्तो में कृषि विभाग खोले गये। 1901 ई० मे केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को कृषि सम्बन्धी परामर्श देने के लिए इन्पेक्टर-जनरल ऑव एग्रीकल्चर नामक अधिकारी नियुक्त किया गया। परन्तु 1912 ई० मे यह पद तोड दिया गया और उसके कर्तव्य पूसा के डाइरेक्टर ऑव एग्रीकल्चर रिसर्च इन्स्टीट्यूट को सौप दिये गये। यह 1929 ई० तक भारत सरकार का कृषि-परामर्शदाता रहा।

वैज्ञानिक ढंग के आधार पर कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न लॉर्ड कर्जन के शासनकाल मे हुआ। कृषि के वर्तमान विभाग का श्रेय लॉर्ड कर्जन को है। 1905 ई० मे लॉर्ड कर्जन के प्रयास से केन्द्रीय व प्रान्तीय कृषि विभाग का ठीक दिशा मे पुनर्संगठन हुआ। उच्च कृषि-शिक्षा के लिए 1903 ई० मे पूसा मे एग्रीकल्चर इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई। 1905 ई मे भारत सरकार को कृषि सम्बन्धी सिफारिशे करने के लिए अखिल भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना की गई। 1906 ई० मे इण्डियन एग्रीकल्चर सर्विस निर्मित की गई, क्रमश: कृषि-विज्ञान की शिक्षा के लिए स्कूलों और कालिजो की व्यवस्था की गई। 1908 ई० मे पूना मे कृषि कॉलिज की स्थापना की गई और ऐसे ही कॉलिज कालान्तर मे लायलपुर, नागपुर, कानपुर, कोयम्बटूर, इलाहाबाद और माण्डले मे खोले गये। इस समय देश के विभिन्न प्रान्तो मे बहुत से कालिजो मे कृषि सम्बन्धी शिक्षा दी जा रही है।

1919 ई० के सुधारो के बाद कृषि प्रान्तीय विभाग हो गया परन्तु कृषि की अनुसन्धान-सस्थाओ का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर ही रहा। कृषि सम्बन्धी नियुक्त लिनलिथगो कमीशन ने 1928 ई मे कृषि की विभिन्न समस्याओ के विषय मे विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये। इनकी सिफारिशो के आधार पर 1929 ई० में इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च की स्थापना हुई। इसका प्रमुख कर्तव्य भूमि सम्बन्धी अनुसन्धान को प्रोत्साहित करना तथा प्रान्तो के कृषि विभागो को इस विषय मे सहायता देना था। कृषि की उपज को बेचने के लिए अधिक सुविधा प्रदान करने के हेतु भारत सरकार ने 1935 ई० मे एक केन्द्रीय मार्केटिंग विभाग खोला जो विभिन्न प्रान्तो को भी इस क्षेत्र मे सहायता देता रहा है। 1937 ई० में प्रान्तो में उत्तरदाई सरकार स्थापित हो जाने के बाद प्रान्तो मे कृषको की रक्षा तथा समृद्धि के लिए कानून पास किये गये जिनसे वे जमीदार व महाजन के चंगुल व अत्याचारो से बच सके। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात कृषि के क्षेत्र मे अधिक प्रयत्न करने का

प्रयास किया गया। खाद्य-संकट का सामना करने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन प्रारम्भ किया गया एव अनेक प्रान्तो मे बजर भूमि को तथा वन्य-प्रदेशों को ट्रैक्टरों और वैज्ञानिक ढंगो से कृषि के उपयुक्त बनाया गया। वर्षा बढ़ाने के लिए नये पेड लगाये जा रहे है। उत्तमोत्तम खाद तथा वैज्ञानिक यन्त्र कृषको को उपलब्ध कराने के प्रयत्न हो रहे है। सिचाई की सुविधा मे वृद्धि करने के लिए अनेक बाँध बनाने की भी योजनाएँ बन रही हैं एव उन्हे कार्यान्वित किया जा रहा है। कृषकों की दशा सुधारने के लिए जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है। कोऑपरेटिव सोसाइटियों, शिक्षण-शिविरो एवं स्वास्थ्य-गृहो मे भी प्रगति हो रही है। परन्तु भारत कृषि के क्षेत्र मे अभी भी बहुत पिछडा हुआ है और हमारे कृषक कृषि-विज्ञान की देन से अभी दूर है।

ग्राम-सुधार—प्राचीन काल में भारत ग्रामों का देश था। ग्राम एक प्रकार से गणतन्त्र थे जो अपने स्थानीय स्वशासन-प्रबन्ध के अधिकार रखते थे। वे स्वाश्रयी थे परन्तु भारत मे अंग्रेजी शासन ग्रामो के लिए अभिशाप प्रमाणित हुआ। अंग्रेजी राज्य-काल मे ग्रामो की गणतन्त्रता विलुप्त हो गई। वे अज्ञान, अशिक्षा, कूट तथा भेदभाव के केन्द्र हो गये और उन पर जमीदारो की प्रभुता बढ़ती गई। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ग्रामो में से अनेक लोग धनोपार्जन के लिए नगरो मे आ बसे। अब ग्रामो में कृषको और भूमिविहीन श्रमिक ही अधिक रहने लगे। कृषि की अवनति, बेकारी और दरिद्रता के साथ ग्रामो की दुर्दशा भी बढती गई।

राष्ट्रीय जीवन के पुनर्जागरण तथा गाँधीजी की प्रेरणा से ग्रामो की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। धीरे-धीरे यह भावना दृढ होने लगी कि यदि भारतीय जीवन को सुखी व समुन्नत बनाना है तो कृषको के जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि हमारी 70 प्रतिशत जनता ग्रामो पर निर्भर है। फलतः ग्राम के आर्थिक, सास्कृतिक व सामाजिक सुधार के हेतु ग्राम-सुधार का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। ग्राम-सुधार कोई एक कार्य नही है वरन अनेक कार्यो का सामूहिक नाम है। इसमे ग्रामीणो का स्वास्थ्य, चिकित्सा, स्वच्छता, शिक्षा-प्रचार, पुस्तकालयो तथा वाचनालयो की स्थापना, कृषकों की ऋण से मुक्ति, कृषि सम्बन्धी सुधार, छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों व गृहशिल्प की उन्नति, कुएँ, सड़कें, मनोरजन के साधन आदि वे कार्य सम्मिलित है जिनमे ग्रामो की सुख-सुविधाओं में वृद्धि हो।

ग्राम-सुधार की ओर सर्वप्रथम काँग्रेस ने ध्यान दिया और महात्मा गाँधी ने अखिल भारतीय ग्राम उद्योग सस्था (All India Village Industries Association) स्थापित की। सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया और ए० एल० ब्रेयन को ग्रामोद्धार का कमिश्नर नियुक्त किया। उन्होंने पंजाब के गुड़गाँव जिले मे ग्राम-सुधार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। बगाल और मध्य प्रदेश में भी ऐसे प्रयोग किये गये। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर फ्रेडरिक साइक्स ने 1933 ई० मे ग्राम-सुधार की एक योजना बनायी जिसके अनुसार जिलाधीशों के पथ-प्रदर्शन में जिला-कमेटियो ने कार्य किया। 1935-36 ई० मे सरकार ने इस विषय मे अधिक रुचि दिखायी और दो करोड से अधिक रुपया ग्रामोद्धार के लिए स्वीकृत कर देश के विभिन्न प्रान्तो मे बाँटा गया, परन्तु इनका पूर्ण उपयोग नही हुआ। 1937 ई० मे जब प्रान्तो मे काँग्रेस सरकार का निर्माण हुआ तो उन्होने ग्राम सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। ग्रामो मे पंचायतों, पाठशालाओं, वाचनालयों, बीज-गोदामो, अस्पतालो आदि की स्थापना हुई, प्रौढ़

शिक्षा व निरक्षरता-निवारण का प्रयत्न किया गया एवं ग्राम के छोटे-छोटे उद्योग-धन्धो को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया। 1939 ई० मे द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से ग्रामोद्धार का कार्य ढीला पड गया। परन्तु युद्ध के बाद 1947 ई० मे कांग्रेस ने जब पुन: शासन सँभाला तो इस दिशा मे फिर प्रगति आरम्भ हो गयी। प्रान्तों मे इस कार्य हेतु अलग विभाग भी खोला गया और ग्राम-सुधार को अच्छे ढग से सगठित किया जाने लगा है।

ग्रामो की प्रगति करने और कृषको की दशा सुधारने के लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात जमीदारी-उन्मूलन कर साहसी कदम उठाया।

दुर्भिक्ष—हमारे देश मे कृषि वर्षा पर आश्रित है। वर्षा के अभाव मे देश को सदैव दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। यद्यपि भूत काल मे अनेक शताब्दियों मे दुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ है परन्तु अंग्रेजी शासनकाल मे दुर्भिक्ष का अत्यन्त ही विकराल रूप प्रकट हुआ। वर्षा का अभाव, खाद्यान्न की कमी एव अपर्याप्त धन के कारण दुर्भिक्ष की भयकरता बढ़ जाती है। दुर्भिक्ष का प्रभाव मनुष्यो पर ही नही होता अपितु पशु भी उसके प्रकोप से वचित नही रहते। 1770 ई० मे बगाल मे दुर्भिक्ष पड़ा, 1786 ई० मे पजाब मे और 1737-38 ई० मे पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे। पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने अकाल-पीड़ितो की सहायता के लिए कोई विशेष प्रयत्न नही किये। 1866-67 ई० मे उड़ीसा मे अकाल का प्रकोप हुआ, 1898-1900 ई० में बम्बई प्रान्त को अकाल का सामना करना पड़ा, 1912 ई० मे फिर दुर्भिक्ष पडा और 1943-44 ई० मे बगाल का दुर्भिक्ष सरकारी नीति व समाजद्रोही व्यापारियों की नीति के कारण हुआ।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो तक सरकार के पास दुर्भिक्ष सम्बन्धी कोई निर्दिष्ट नीति नही थी और न अकाल-पीडितो की सहायता के हेतु सुव्यवस्थित सरकारी सगठन ही। अतएव 1880 ई० के अकाल आयोग ने अकाल-पीडितो की सहायता के लिए तकावी देने, मुफ्त आर्थिक सहायता देने, श्रम की व्यवस्था करने, मालगुजारी की छूट देने आदि की सिफारिशे की। इनके आधार पर सरकारी दुर्भिक्ष-नीति निर्धारित की गयी एव अकाल-पीडितो की सहायता के लिए एक सहायता-फण्ड (Famine Relief Fund) भी स्थापित किया गया। 1919 ई० के सुधारो के पश्चात प्रत्येक प्रान्त की सरकार एक निर्धारित धनराशि प्रति वर्ष इस फण्ड मे देती है। नवीन विधान मे दुर्भिक्ष-पीडितो का व्यय सम्पूर्णतया प्रान्तीय विषय बन गया। दुर्भिक्ष की रोकथाम के लिए अन्य साधनो के साथ-साथ सिंचाई के साधनो को भी उन्नत करने का प्रयास किया गया।

सिंचाई एवं नहरें—भारत जैसे कृषिप्रधान देश मे सिंचाई का विशेष महत्त्व रहा है। वर्षा के अभाव को दूर करने, दुर्भिक्ष से बचने एव कृषि की दशा सुधारने के लिए सिंचाई के साधनो को उन्नत करना अनिवार्य समझा गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल मे इस ओर विशिष्ट ध्यान नही दिया गया। पश्चिमी जमुना नहर, पूर्वी जमुना नहर एव गगा नहर जैसी कतिपय प्राचीन नहरो का जीर्णोद्धार किया गया तथा पंजाब मे बारी दोआब नहर का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत मे कतिपय प्राचीन बाँधो की मरम्मत भी की गयी। परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे सरकार का ध्यान रेलो के निर्माण की ओर अधिक जाने से

नहरों तथा सिचाई की कार्य ढीला हो गया। परन्तु बार-बार दुर्भिक्ष पडने से सरकार और जनता का ध्यान इस ओर अधिक हो गया। 1901 ई० में तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड कर्जन ने एक सिंचाई कमीशन की नियुक्ति की। इसने सिंचाई के अनेक योजना-कार्य सुझाये एव बीस वर्ष के लिए सिंचाई-कार्यक्रम की एकरूपता प्रस्तुत की। अन्त मे इसी कमीशन की सिफारिशो के आधार पर राजकीय सिंचाई विभाग बन गया और तब से प्रान्तीय सरकारों ने सिंचाई के साधनो और नहरों के निर्माण करने मे विशेष प्रगति की है, सिंचाइ के हेतु विभिन्न प्रकार के मार्ग निकाले गये जिनमें कुएँ, तालाब, विभिन्न प्रकार की नहरे, ट्यूबवैल, नदियों द्वारा सिंचाई, अस्थायी बाँध, जहाँ बाढ़ का पानी एकत्र किया जा सके, प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त सिंचाई के हेतु वैज्ञानिक ढग से आधुनिक स्थायी बाँध भी निर्मित किये गये। इनमे बम्बई का लायड डैम, सिन्ध का सक्खर बैरेज, पंजाब मे सतलज की योजना, मद्रास प्रान्त मे कावेरी-जलवितरक, निजाम सागर, उत्तर प्रदेश मे शारदा-अवध नहरें एवं दक्षिण मे भण्डारा बाँध प्रमुख है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार एव प्रान्तीय सरकारो ने सिंचाई की सुविधाओ में वृद्धि करने तथा नदियो पर बाँध बाँधकर उनके जल से विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करने की अनेक योजनाओ को कार्यान्वित किया है। इनमें पजाब की भाकरा-नागल योजना, बिहार व पश्चिम बगाल का दामोदर बाँध, बिहार व नेपाल की कोसी योजना, उडीसा का हीराकुड बाँध, मद्रास का रामसागर, मध्य प्रदेश व बम्बई की नर्वदा-ताप्ती योजना, हैदराबाद-मद्रास की तुगभद्रा योजना, बिहार, उत्तर प्रदेश व नेपाल की गण्डक नदी योजना, मध्य भारत की चम्बल योजना, राजस्थान की जवाई नदी और माही नदी का बाँध आदि प्रमुख है।

यातायात के साधन

1. **सड़कें**—किसी देश के आर्थिक जीवन मे यातायात के साधनो का विशेप महत्त्व रहता है। भारत में यातायात के साधनो का निर्माण करने और उनका समुचित प्रबन्ध करने की परम्परा मौर्य-युग से ही चली आ रही है। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के समय अठारहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे आवागमन के साधनो की दशा दयनीय थी। कम्पनी के शासन के प्रारम्भिक युग मे कम्पनी का ध्यान सैनिक मार्गो, भवनो तथा निवास-स्थानो के निर्माण की ओर ही केन्द्रीभूत था। कम्पनी ने लॉर्ड विलियम बैण्टिक के समय तक यातायात के साधनो के महत्त्व को नही समझा था। लॉर्ड विलियम बैण्टिक को ही इस बात का श्रेय है कि उसने कलकत्ता और उत्तरी प्रान्तो को परस्पर सम्बन्धित करने वाली सडक के महत्त्व को समझ लिया और उसकी योजना को उत्तर-पश्चिम प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर टॉमसन और डलहौजी ने कार्यान्वित किया।

उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे देश के प्रत्येक प्रान्त मे एक सैनिक समिति (Military Board) थी, जिसका कार्य सडक तथा गृह-निर्माण था। बाद मे 1854 ई० मे तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी ने सार्वजनिक निर्माण (Public Works) का एक विभाग स्थापित किया और इसी के अधीन बम्बई और मद्रास के विभाग भी रखे गये। इस विभाग के अन्तर्गत नहरो, सडको और रेलो का निर्माण-कार्य रखा गया। परन्तु बाद मे ये तीनो कार्य अलग-अलग विभागो के अन्तर्गत कर दिये गये। बीसवी शताब्दी मे मोटर-यातायात की उन्नति के लिए सडको का निर्माण तथा उनका प्रबन्ध महत्त्वपूर्ण समझा गया। 1929 ई० मे Standing Committee of

Roads की स्थापना हुई और सडको के निर्माण के लिए Road Fund नामक एक कोप रखा जाने लगा।

द्वितीय महायुद्ध के समय सडकों का महत्त्व अधिक वढ गया और मोटर याता-यात के लिए कुछ नवीन सडको का निर्माण भी हुआ। दिसम्वर 1943 ई० मे नागपुर मे विविध प्रान्तो के चीफ इंजीनियरो की एक सभा हुई और सडकों के निर्माण के लिए पचवर्षीय योजना वनाई गई जो अप्रैल, 1947 ई० से कार्यान्वित की गई। फलतः बंगाल, पजाब, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तो में सडको का विस्तार हुआ। आज देश मे ग्राण्ड ट्रक रोड्स अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें एक दिल्ली-कलकत्ता, दूसरी कलकत्ता-मद्रास, तीसरी मद्रास-वम्बई और चौथी वम्वई-आगरा-दिल्ली को परस्पर सम्वन्धित करती है। इसके अतिरिक्त उत्तम छोटी सडकें दक्षिण व उत्तर भारत के कतिपय प्रान्तों में है। राजस्थान और पजाब के कतिपय भाग तथा उडीसा व पश्चिम वगाल मे सडको की अवहेलना की गयी है।

यद्यपि आज लगभग 5 लाख 35 हजार किलोमीटर लम्बी पक्की सडके है, परन्तु देश के आन्तरिक भागो में पहुंचने के लिए अत्यन्त असन्तोषजनक व्यवस्था है। आज के वैज्ञानिक युग मे छोटे कस्वो व गाँवो मे यात्रा के लिए रेल या मोटर का कोई प्रवन्ध नही है। वहाँ पहुँचने के लिए या माल ले जाने के लिए स्वयं के पैरो, मजदूरों, जानवरो या बैलगाडियो पर निर्भर रहना पडना है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात मोटर-यातायात मे खूब वृद्धि हुई। यात्रियो के लिए मोटर-लॉरियो तथा माल ढोने के लिए मोटर-ट्रको का उपयोग द्रुत गति से बढ रहा है। भारत के विभिन्न प्रान्तो मे मोटर यातायात को खूब प्रोत्साहित किया जा रहा है एवं बम्वई, मद्रास, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश व बिहार आदि मे मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनायी जा चुकी है। देश की राष्ट्रीय सरकार भी इस ओर प्रयत्नशील है।

2. रेले—भारत मे रेलो का निर्माण अग्रेजी शासन की देन है। भारत मे रेलों का इतिहास 1845 ई० से प्रारम्भ होता है जबकि बम्वई से कल्याण, कलकत्ता से रानीगज और मद्रास से अरकोनम तक की रेलवे लाइन का निर्माण करने की स्वीकृति दे दी गयी थी। फलस्वरूप, 1853 ई० में थाना और बम्बई के बीच जी आई पी रेलवे कम्पनी ने देश की सवसे प्रथम लाइन खोली, 1854 ई मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ता से 27 मील दूर तक रेलवे लाइन और 1856 ई० मे मद्रास से अर्काट तक की लाइन प्रारम्भ कर दी गयी। प्रारम्भ मे इन लाइनो के डालने का उद्देश्य सामरिक स्थानों को परस्पर सम्बन्धित कर सेनाओ के आवागमन को अधिक प्रगतिशील करना था। इंग्लैण्ड के व्यापारिक हितों की रक्षा करना भी इनका एक लक्ष्य था।

भारत मे रेलो के निर्माण का इतिहास चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग (1853-69 ई०) मे रेलवे लाइनों का निर्माण ज्वाण्ट स्टॉक कम्प-नियो द्वारा हुआ था। भारत सरकार ने इन कम्पनियो की लगी हुई पूँजी पर पाँच प्रतिशत व्याज की गारण्टी और सरकार ने पच्चीस वर्षों के पश्चात् इन रेलवे लाइनों को निश्चित दर पर खरीदने का अधिकार सुरक्षित रखा। परन्तु यह 'गारण्टी-प्रणाली' हानिकारक हुई। इन कम्पनियों को पाँच प्रतिशत व्याज सरकार की ओर से प्राप्त हो जाने के कारण इन्होने रेलों के निर्माण व सचालन में मितव्ययता से काम नही लिया। फलत इन कम्पनियो को घाटा रहा जिसे भारतीय राजस्व से पूरा

किया गया। इस प्रकार भारत की निर्धन जनता को व्यर्थ मे आर्थिक भार उठाना पड़ा। अतएव 'गारण्टी प्रणाली' को त्यागकर अंग्रेज सरकार ने स्वय पूंजी उधार लेकर रेलवे निर्माण करने की नीति अपनायी। यह द्वितीय युग था। इसमें 1869-80 ई० तक सरकार की ओर से राजस्थान, सिन्धु-घाटी, उत्तर बंगाल व उत्तर पंजाब में रेलवे लाइने खोली गयी। परन्तु 1874-79 ई० के मध्य के दुर्भिक्ष और 1878-1886 ई० के अफगान युद्ध ने भारतीय राजस्व को अव्यवस्थित कर दिया और राज्य द्वारा निर्माण व संचालन की नीति त्याग दी गयी और पुन. पहले की अपेक्षा सरल शर्तो पर प्राचीन 'गारण्टी प्रणाली' की नीति अपना ली गयी। यह तृतीय युग था। इस युग में इस 'नवीन प्रणाली' के अन्तर्गत छ 'हजार से अधिक किलोमीटर की रेलवे लाइन खोली गयी। नवीन लाइनों के निर्माण के लिए सरकार ने वैयक्तिक कम्पनियों को प्रोत्सहित किया और नीलगिरि, दिल्ली-अम्बाला-कालका, बंगाल सेण्ट्रल और बंगाल नॉर्थ-वेस्टर्न नामक चार कम्पनियाँ स्थापित हुई। परन्तु यह प्रयोग सफल नही हुआ। इसके पश्चात अंग्रेजी सरकार ने देशी रियासतों को भी अपने राज्य में रेलों के निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया और सर्वप्रथम निजाम स्टेट में रियासत की रेल खोली गयी। 1900 ई० मे सर्वप्रथम रेलो से अंग्रेज सरकार को लाभ हुआ और इसके वाद लाभ मे प्रति वर्प प्राय: वृद्धि ही होती रही। 1905 ई० मे रेलो के सुप्रवन्ध के हेतु रेलवे वोर्ड की स्थापना की गयी जिसमे एक सभापति, दो सदस्य और एक मन्त्री नियुक्त हुए।

भारत में रेलवे-संचालन की जाँच करने व इस दिशा में अन्य सुझाव रखने के लिए 1908 ई० मे मेके समिति (Makay Committee) नियुक्त की गयी जिसने रेलों के विस्तार के लिए एक विशाल योजना वनायी। परन्तु विश्वयुद्ध के कारण यह योजना कार्यान्वित नही की जा सकी। इसके वाद 1921 ई० मे Acworth Commission ने रेलो के विकास की अन्य योजना वनायी और रेलो पर कम्पनी के प्रवन्ध का अन्त करने का सुझाव दिया। पर सरकार ने इसे अस्वीकृत कर दिया। रेलो की कम्पनियाँ प्रति वर्प भारत से एक करोड रुपये लाभ के रूप में इगलैण्ड ले जाती थी। पर इन कम्पनियो के सचालकगण रेलो के लाभ को उत्पन्न करने वाले यात्रियों, व्यापारियों, उद्योगपतियों व उत्पादकों की सुविधाओं की ओर किंचितमात्र भी ध्यान नही देते थे। इसके विरुद्ध जनता ने आन्दोलन किया। परिणामस्वरूप, सरकार ने अनेक रेलो को अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया। इस प्रकार 1925 ई० में ईस्ट इण्डिया रेलवे और जी० आई० पी० रेलवे, 1929 ई० मे ब्रह्मा रेलवे, 1930 ई० में सदर्न पजाव रेलवे, 1942 ई० मे वी० वी० एण्ड सी० आई० रेलवे सरकार ने अपने अधिकार मे ले ली। इसके वाद रेलों के इतिहास का चतुर्थ युग प्रारम्भ होता है। इस युग मे रेलों के प्रवन्ध व संचालन मे परिवर्तन हुए एवं यात्रियो की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा जाने लगा। 1947 ई० मे राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जाने के वाद रेलो के सचालन की ओर विशेष ध्यान दिया गया और समस्त रेलवे-यातायात भारत सरकार के नियन्त्रण मे आ गया। रेल के डिब्बों और इंजनों के निर्माण के लिए राष्ट्रीय सरकार ने स्वय कारखाने भी खोले है। देश की विभिन्न रेलवे लाइनें मिलाकर 9 विशाल समुदायों मे विभक्त कर दी गयी है।

सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से रेलों का विशेप महत्त्व रहा है। रेलों के कारण भारत के विभिन्न प्रान्तो के निवासी परस्पर एक-दूसरे के सन्निकट आये एवं

उन्हे राजनीतिक व सांस्कृतिक एकता की अनुभूति होने लगी। सामाजिक परिवर्तनों का मार्ग सुलभ हो गया, जाति-बन्धन ढीले पड गये, अछूत-समस्या प्रभावित हुई, विविध ललितकलाओ की धाराओ के प्रवाह मे तीव्र गतिशीलता आ गयी व देश के सास्कृतिक और ऐतिहासिक स्थानो के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई।

3. **डाक, तार और टेलीफोन**—यातायात मे डाक, तार और टेलीफोन का भी अपना महत्त्व है। यो तो मध्यकालीन युग मे डाक व्यवस्था विद्यमान थी, पर अंग्रेजो ने उसे अधिक सुव्यवस्थित कर दिया। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल में डाक एक स्थान से दूसरे स्थान को पैदल हरकारो द्वारा भेजने की व्यवस्था थी। यत्र-तत्र घोडागाडियो का भी उपयोग होता था। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे डाकखानो की सख्या बहुत ही कम थी। 1836 ई० मे भारत मे कुल 276 डाकखाने थे। लार्ड डलहौजी ने डाक व तार विभाग को सुसंगठित किया और एक-से पोस्ट-कार्ड की व्यवस्था की। प्रत्येक साधारण पत्र के लिए डाक-दर आधा आना कर दी गयी एव बाद मे टिकट-व्यवस्था भी प्रारम्भ कर दी गयी। ज्यों ज्यों यातायात के साधनो मे सुधार होता गया, डाक-व्यवस्था भी अच्छी होती गयी। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे डाकखानो की संख्या मे वृद्धि एवं देश के अनेक भागो में डाकखानो की सुविधाएँ सुलभ हो गयी। 1948-49 ई० में भारत मे कुल 26,760 डाकखाने थे। 1949 ई० से डाक विभाग ने हवाई जहाज से डाक लाने-ले-जाने और बेतार के तार से सन्देश भेजने की व्यवस्था भी कर दी है।

भारत मे डलहौजी ने 1854 ई० में तार-व्यवस्था प्रारम्भ की और सर्वप्रथम कलकत्ता से आगरा तक टेलीग्राफ लाइन डाली गयी। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में तार-घरो की सख्या और टेलीग्राफ लाइन की लम्बाई मे खूब वृद्धि हो गयी। 1912 ई० तक तार के लिए अलग विभाग था जो डाइरेक्टर-जनरल ऑफ टेलीग्राफ नामक अधिकारी के नियन्त्रण मे था और यह विभाग भारत सरकार के व्यापार व उद्योग विभाग के अन्तर्गत था। 1914 ई० मे डाक और तार सम्मिलित कर दिये गये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात डाक व तार विभाग का अत्यधिक विस्तार हुआ और ग्रामीण क्षेत्र को भी इससे सुविधा पहुँचाने के प्रयत्न किये गये। पहिली बार जून, 1949 ई० मे देवनागरी लिपि मे हिन्दी भाषा मे तार भेजने की व्यवस्था की गयी।

हमारे देश के आर्थिक जीवन मे डाक व तार के बहुत लम्बे समय के पश्चात टेलीफोन ने प्रवेश किया। परन्तु हमारी टेलीफोन-व्यवस्था पाश्चात्य देशो की अपेक्षा अधिक व्ययसाध्य है। अतएव इसका प्रयोग धनिको, व्यापारियो, उद्योगपतियो व सरकारी विभागो तक सीमित रहा। छोटे-छोटे नगरो व ग्रामो मे आज भी इस सुविधा का अभाव है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात टेलीफोन का उपयोग अधिक बढ गया। भारतीय व्यवस्था का विस्तार हो जाने से टेलीफोन का प्रसार द्रुत गति से हुआ और टेलीफोन के नवीन मण्डलो (Districts) का निर्माण कर छोटे-छोटे नगरों को भी सम्बन्धित किया जा रहा है।

4. **ध्वनि-विस्तार और नागरिक उड्डयन** (Broadcasting and Civil Aviation)—अन्य देशो की अपेक्षा भारत मे ध्वनि-विस्तार और नागरिक उड्डयन का प्रवेश बहुत अवधि के बाद हुआ। अनेक वर्षों तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के रेडियो-क्लब सीमित रूप से ध्वनि-विस्तारण करते रहे और सरकार उन्हे आर्थिक सहायता देती रही। कई वर्षों तक समझौते की बातचीत चलते रहने के पश्चात

ध्वनि-विस्तार के लिए एक Indian Broadcasting Company की स्थापना हुई और 1927 ई० में इस कम्पनी ने बम्बई और कलकत्ता में ध्वनि-विस्तार का कार्य आरम्भ किया। परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण 1930 ई० में इस कम्पनी का दिवाला निकल गया। तब से भारत सरकार ने ध्वनि-विस्तार को अपने नियन्त्रण में लेकर इण्डियन स्टेट ब्रॉडकास्टिंग सर्विस (Indian State Broadcasting Service), जिसे आजकल ऑल इण्डिया रेडियो (All India Radio) कहते हैं, की स्थापना की और 1936 ई० में दिल्ली के रेडियो-स्टेशन का निर्माण किया। द्वितीय महायुद्ध के कारण अत्यन्त ही शक्तिशाली ट्रान्समीटर इस स्टेशन पर लगाये गये जिससे दूरस्थ विदेशो को भी समाचार भेजे जा सकें। आजकल ऑल इण्डिया रेडियो भारत सरकार के सूचना और ध्वनि-विस्तार विभाग का एक अंग है। सरकार ने ध्वनि-विस्तार के प्रचार के लिए आठवर्षीय योजना बनाकर उसे कार्यान्वित करने का प्रयास किया। अनेक नवीन स्थलों पर रेडियो-स्टेशन खोले गये। विविध प्रान्तों व राज्यों की माँगों को ध्यान में रखकर विभिन्न भाषा-भाषियों के लिए तथा नागरिकों व ग्रामीणो के लिए राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि कार्यक्रम विभिन्न रेडियो-स्टेशनों से प्रसारित किये जाते है। हमारे देश की सास्कृतिक प्रगति में ध्वनि-विस्तार का विशेष महत्त्व है। संगीत व साहित्य को इसने खूब प्रोत्साहित किया और लोगो को एक नवीन सास्कृतिक दृष्टिकोण प्रदान किया। इसके अतिरिक्त विचार व सस्कृति के क्षेत्र मे इसने पूर्व व पश्चिम के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे और विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के समय वायुयानो का प्रयोग केवल युद्ध में ही होता था; परन्तु इस महायुद्ध के पश्चात वायुयानों का उपयोग असैनिक कार्यों के लिए भी होने लगा। हमारे देश मे भी इसके लिए Civil Aviation Department की स्थापना की गयी और वायुयान चलाने के लिए तथा उससे सम्बन्धित अन्य कार्यो के शिक्षण की सुविधा सहारनपुर मे Civil Aviation Training Centre की स्थापना करके की गयी। दक्षिण-पूर्वी एशिया मे यह केन्द्र सर्वोत्तम माना गया है। 1948 ई० में इलाहाबाद मे भी ऐसा ही एक केन्द्र स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त भारत मे 24 सहायता-प्राप्त फ्लाइंग क्लब तथा 3 सरकारी फ्लाइंग क्लब हैं, जहाँ विमान-चालको को शिक्षा दी जाती है। सरकारी वायुयानों के अतिरिक्त देश के विभिन्न प्रान्तो में यात्रियों की सुविधा के हेतु वायुयान चलते हैं एव देश के समस्त नगर एयर सर्विसेज (Air Services) द्वारा जोड दिये गये है। इस दिशा मे दिन-प्रतिदिन प्रगति हो रही है, विश्व के विभिन्न देशो की अपनी-अपनी एयर सर्विसेज है, जिनसे उन्हें कई गुना लाभ प्राप्त होता है। भारत ने भी वाह्य देशो मे वायुयान द्वारा जाने वाले यात्रियों की सुविधा के हेतु 1953 ई० मे एयर इण्डिया इण्टरनेशनल लिमिटेड (Air India International Ltd.) की स्थापना की जिसके अन्तर्गत वायुयान अन्तरराष्ट्रीय वायुमार्गों में चलते है। इसके अतिरिक्त सोलह विदेशी कम्पनियो के वायुयान भी हमारे देश मे आते-जाते है। कम्पनियो के साथ भारत सरकार ने यातायात सम्बन्धी समझौते किये है। इन सबके परिणामस्वरूप देश मे वायुयान यातायात को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। इन वायुयानो मे यात्री ही नही आते-जाते अपितु डाक और माल भी भेजा और लाया जाता है।

5. **नदियों के जलमार्ग**—रेलो के विस्तार के पूर्व भारत मे नदियाँ यातायात का साधन थी। सिन्धु नदी मे समुद्र से लेकर अटक सोलह सौ किलोमीटर की दूरी तक नावे चलती थी, चिनाव में तेरह सौ किलोमीटर की दूरी वजीराबाद तक, सतलज में 1300 किलोमीटरों की दूरी लुधियाना तक, गगा में कानपुर और जमुना मे आगरा तक नावें चलती थी। परन्तु आज ये नदियाँ इतनी दूरी तक नौवहन (navigation) के योग्य नही है क्योकि अग्रेजी शासन के युग में नदियो के यातायात को उन्नत करने का कोई विशेष प्रयत्न नही किया गया। रेलों व मोटरो के बढते हुए यातायात ने भी नदियो के यातायात को भारी क्षति पहुँचायी। कलकत्ता और इलाहाबाद के बीच गगा नदी मे और सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र नदियो मे यात्री और माल ढोने के लिए नावो के स्थान पर स्टीमरो की व्यवस्था की गयी। गगा व सिन्धु मे तो यह नियमित नौवहन की व्यवस्था दीर्घ काल तक न चल सकी परन्तु ब्रह्मपुत्र मे तेरह सौ किलोमीटर दूर डिब्रूगढ तक स्टीमर-व्यवस्था बनी रही। दक्षिण भारत मे कतिपय नदियो और उनकी नहरो मे नौवहन-व्यवस्था आज भी विद्यमान है। मद्रास प्रान्त मे गोदावरी व कृष्णा नदी की नहरे व बकिंघम नहर यातायात के अच्छे साधन है। उडीसा में भी 250 किलोमीटर तक नहर नौवहन के लिए उपयुक्त है। पश्चिम बगाल मे नदियों द्वारा माल लाया और ले जाया जाता है। कलकत्ता से नावो और स्टीमरों द्वारा बहुत-सा माल देश के आन्तरिक भागो मे आता और जाता है। भारत सरकार ने डेन्यूब कमीशन के सदस्य और नदियो के विषय मे निपुण ओटो पॉपर (Otto Popper) को भारत मे नदियो के नौवहन की जाँच करने एव उसकी प्रगति के लिए सुझाव रखने के हेतु नियुक्त किया था।

6. **बन्दरगाह**—भारत के बाह्य और आन्तरिक व्यापार के हेतु अग्रेजी शासन मे नवीन बन्दरगाहो का निर्माण हुआ है। ये बन्दरगाह देश के समस्त प्रदेशो से रेलों द्वारा सम्बन्धित है। देश के बाह्य व्यापार को इनसे खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन बन्दरगाहो मे बम्बई, कलकत्ता, कोचीन, मद्रास और विजगापट्टम प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्रतट पर पोरबन्दर, बालासोर, भावनगर, कालीकट व मंगलौर, कच्छ मे कच्छ, माण्डवी, द्वारका व काँडला, पूर्वी तट पर कुड्डलोर, कटक, गोपालपुर, काकिनाडा, मछलीपट्टम व तूतीकोरन तथा दक्षिण मे मनार की खाडी मे लका से लगभग 35 किलोमीटर दूर धनुषकोटी बन्दरगाह था जो अब नष्ट हो गया है।

साहूकार और बैंक

देश के आर्थिक जीवन मे धन के लिए साहूकारो और बैंको का सदैव महत्त्व रहा है। भारत मे आधुनिक बैंक व्यवस्था का सूत्रपात अग्रेजी शासन मे हुआ। इसके पूर्व देश मे साहूकार-वर्ग बैंको का कार्य करता था। ये साहूकार विभिन्न प्रान्तो मे महाजन, मारवाडी, चेट्टी, सर्राफ, सेठ आदि नामो से प्रख्यात थे। ये स्वय विभिन्न प्रकार का व्यापार करते थे, उत्पादन का कार्य भी करते थे एव अनेक व्यक्तियों को ऋण भी देते थे। प्रमुख व्यापारिक नगरो और मण्डियो मे इनकी आढत होती थी जिनके द्वारा ये अपना वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। देश के विभिन्न भागो मे इनकी उत्तम साख होती थी एवं हुण्डियो द्वारा रुपयो का भुगतान करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक शासनकाल मे साहूकारो की व्यवस्था चलती रही। अठारहवीं शताब्दी मे तो स्वयं ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी अपने ऋण व रुपयो के भुगतान के हेतु देशी

साहूकारों का आश्रय लेती थी। बीसवी सदी मे देश मे आधुनिक वैकों की व्यवस्था स्थापित हो जाने पर भी साहूकारो का अस्तित्व विलुप्त नही हुआ। छोटे-छोटे कस्बों और ग्रामो के आर्थिक जीवन में आज भी ये महत्त्वशाली हैं। कृपकों, शिल्पियों, श्रमजीवियो, मध्यम-वर्ग के लोग एवं छोटे-छोटे व्यापारियो को आज भी इन साहूकारों की शरण लेनी पड़ती है। कतिपय छोटे-छोटे व्यवसायो मे भी ये पूँजी लगाते हैं एव लोगो को ऋण देते है। परन्तु इनके ब्याज की दर इतनी अधिक होती है और ऋण-देने के ढग इतने अवाछनीय होते है कि ऋण लेने वालो के लिए ये घातक प्रमाणित हुए हैं। इनसे निर्धनो एव मध्यम-वर्ग की दरिद्रता न्यून होने की अपेक्षा अधिक बढ गयी। फलत. देश के आर्थिक जीवन का सन्तुलन डावाडोल होता रहा।

भारत में आधुनिक वैक-व्यवस्था का प्रादुर्भाव अठारहवी शताब्दी मे बम्बई और कलकत्ता मे विद्यमान अग्रेजी एजेन्सियो के वैको स हुआ। ये वैक अपने-अपने नोट प्रचलित करते थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार मे सहायता करते थे। इसके बाद प्रेसीडेन्सी बैंक स्थापित हुए। सर्वप्रथम कलकत्ता में 1806 ई० मे वैक ऑफ बगाल स्थापित हुआ, 1804 ई० मे बैंक ऑफ बोम्बे और 1843 ई० मे वैक ऑफ मद्रास का जन्म हुआ। 1862 ई० के पूर्व ये वैक ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ऋण देते थे व अग्रेज व्यापारियो को उनके व्यापार के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करते थे एवं नोट भी चलाते थे। इन बैको पर सरकारी नियन्त्रण रहता था। 1862 ई० मे ये नोट चलाने के अधिकार से वचित कर दिये, पर प्रान्तो के विभिन्न नगरो मे इन्हे सरकारी खजाने का कार्य सौपा गया। 1921 मे तीनों प्रेसीडेन्सी वैको को मिलाकर इम्पीरियल वैक की स्थापना की गयी। इसका भी भारतीय सरकार ने राष्ट्रीयकरण करके इसे स्टेट बैंक का नाम दे दिया है। 1836 ई० से ही एक केन्द्रीय वैक के निर्माण करने का विचार चल रहा था। 1859 व 1867 मे पुन: इस पर विचार किया गया। 1913 ई० में चेम्बरलेन कमीशन और बाद में हिल्टन-यंग कमीशन ने इस विषय पर सावधानी से विचार कर एक विशिष्ट केन्द्रीय वैक स्थापित करने का सुझाव रखा। फलत 1934 ई० मे भारत की व्यवस्थापिका-सभा मे रिजर्व वैक ऑफ इण्डिया एक्ट स्वीकृत किया और 1935 ई० मे रिजर्व वैक ऑफ इण्डिया स्थापित होकर उसका कार्य प्रारम्भ हो गया। भारत सरकार के नोट निकालने का कार्य इसी वैक का है। 1949 ई० मे इस वैक का राष्ट्रीयकरण हो गया। देश के समस्त राष्ट्रीयकृत वैको पर इसका नियन्त्रण है। इससे इन बैंको के असफल होने या दिवाला निकालने की सम्भावना नही रही।

रिजर्व वैक और स्टेट बैक के अतिरिक्त देश मे विदेशी एक्सचेज वैको की शाखाएँ भी है। इनके प्रमुख दफ्तर अमेरिका, इगलैंड या अन्य देशो मे है। इनका कार्य आयात-निर्यात व्यापार मे मुद्रा-विनिमय करना है, परन्तु ये भारत में विदेशी व भारतीय व्यापारी-वर्ग की आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे सर्वथा असमर्थ रहे। अतएव अनेक उद्योगपतियो और धनिको ने ज्वाइण्ट स्टॉक वैको की स्थापना की। ज्यो-ज्यो वाणिज्य व्यापार और पूँजी मे वृद्धि होती गयी, त्यो-त्यो ये वैक भी बढ़ते गये। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में स्वदेशी आन्दोलनो ने इन वैको को खूब प्रोत्साहन दिया। 1913 ई० और बाद मे 1930 ई० के आसपास आर्थिक कठिनाइयों के कारण इनमे से अनेक वैक असफल हो गये। द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद भी इन वैको की सख्या मे वृद्धि होती गयी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय

वाणिज्य-व्यवसाय में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप इन बैंको की शाखाओं की सख्या भी बढी एव उनका संगठन भी सुदृढ हो गया तथा व्यापारी-वर्ग भी इनका उपयोग दिन-प्रतिदिन अधिक कर रहा है। परन्तु फिर भी भारत जैसे विशाल उप-महाद्वीप के आर्थिक सगठन व व्यापारिक विस्तार की दृष्टि से बैंक यथेष्ट नही है।

इन बैंकों के अतिरिक्त भारत मे कोआपरेटिव बैंक भी है जो सहकारिता आन्दोलन की छाया मे पनप रहे है। पजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, बगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश आदि समस्त राज्यो मे ऐसे कोआपरेटिव बैंक है जो प्रधानतया कृषि की उन्नति और कृपको की आर्थिक दशा सुधारने के लिए स्थगित किये गये है।

ऊपर हमारे आर्थिक जीवन मे हुए युगान्तर और आधुनिकीकरण का विवेचन किया गया है। हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन मे भी ऐसे ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिससे धर्म, समाज व देश की कायापलट हो गयी और एक नवीन आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ। अब हम इसका विवेचन करेंगे।

सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल मे भारत में अग्रेजी साम्राज्य की नीव पड़ चुकी थी। पश्चिम की राजनीतिक सत्ता की प्रस्थापना के साथ-साथ पाश्चात्य सस्कृति की आँधी भी देश को झकझोरने लगी थी। ब्रिटिश सत्ता के विकास ने पुरानी धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था पर प्रबल आघात किया। हम अपने सास्कृतिक पतन की निम्नतम अवस्था मे थे एव हमारे नवसृजन की शक्ति एकदम शिथिल व निश्चेष्ट हो गई थी। हम एक अभूतपूर्व सास्कृतिक सकट की चिन्ताजनक दशा में से गुजर रहे थे। यदि हमारा एक कट्टरपथी जन-वर्ग केवक्ष धार्मिक कूप-मन्डूकता और अन्ध-विश्वासो व रूढियो के साथ चिपके रहने मे ही जीवन की सार्थकता समझकर किसी प्रकार के पुनर्सस्कार को अस्वीकृत करने पर तुला बैठा था तो दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित शिक्षित भारतीयों को धीरे-धीरे ऐसा वर्ग समाज मे उत्पन्न हो गया था जो अपनी निजी संस्कृति को हेय मानकर प्रत्येक बात के लिए पश्चिम की ओर सतृष्ण नयनों से निहारने लगा था और पाश्चात्य सभ्यता के रग में अपना रग बदलने की ओर प्रवृत्त हो रहा था। इस वर्ग ने भारतीय धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था को निरर्थक बताया। देश में और विशेषकर बगाल मे ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार जोरो से बढ़ने लगा। फलत अनेक शिक्षित हिन्दू स्वतन्त्रता-युद्ध के पूर्व ईसाई हो गये, जैसे कृष्णमोहन बनर्जी, लालबिहारी दे, कवयित्री तोरुदत्त के पिता गोविन्ददत्त आदि। ऐसे अन्धकारपूर्ण वातावरण की डावाँडोल स्थिति मे कतिपय ऐसे लोगो का प्रादुर्भाव भी हुआ जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दू धर्म व संस्कृति में उतनी श्रेष्ठता व महानता निहित है जितनी अन्य धर्मो व संस्कृतियो मे। ये लोग विकृतियो को दूर करने के लिए धार्मिक व सामाजिक सुधार-आन्दोलनों की ओर प्रवृत्त हुए। इनमे राजा राममोहन राय अग्रगामी थे और उनका ब्रह्मसमाज सर्वप्रथम सुधारवादी आन्दोलन था।

यहाँ यह बात विशेप रूप से उल्लेखनीय है कि ये धार्मिक व सामाजिक सुधार भारतीय नवाभ्युत्थान (Renaissance) के परिणाम थे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रत्येक देश में नवाभ्युत्यान के युग के बाद सुधार का युग आता है, जैसा यूरोप मे नवाभ्युत्थान के पश्चात हुआ। भारत मे भी हमारे सामाजिक सम्बन्धो मे, हमारे जीवन के साधारण दृष्टिकोण मे एव हमारे धार्मिक सिद्धान्तो, प्रथाओ व रूढ़ियो में

फारसी भाषा में 'मिरातुल अखबार' नामक एक पत्र का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस प्रकार वे पत्रकला के क्षेत्र मे भी हमारे अग्रदूत थे और राजनीति के क्षेत्र मे नवीनयुग के अग्रगण्य प्रवर्तक थे। उन्होने वैधानिक रूप से राजनैतिक आन्दोलन करने का मार्ग बताया। वे नव-सस्थापित विदेशी शासन-तन्त्र के साथ सहयोग की नीति बरतने और उसकी सद्भावनाओ पर विश्वास रखने के हिमायती थे। बाद के अनेक उदार नीति-धर्मी राष्ट्र-नेताओ ने इसी नीति का अनुकरण किया। उनकी विशद राजनीति केवल एक जाति-विशेष के हित-अहित के संकीर्ण घरौदे में ही बन्द राजनीति थी, बल्कि वह एक प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय आदर्श से ओतप्रोत थी, जिसमें ससार भर के पीड़ित और शोपित-जनो के प्रति संवेदना और सौहार्द्र की एक सच्ची भावना निहित थी। उनके निकट-सम्पर्क मे आने वाले पादरी आदम ने लिखा है, "स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी कार्यो मे फूट-फूट कर टपकी पड़ती थी।" वे ही इस आधुनिक युग मे सबसे प्रथम थे जो समुद्र-यात्रा के सामाजिक निषेध का उल्लघन करके इंगलैण्ड गये और वहाँ पश्चिम को भारत का भ्रातृत्व का सन्देश सुनाया एव आने वाली पीढ़ियो के लिए उस नयी दुनिया से परिचय पाने का मार्ग खोल दिया। इगलैण्ड में रहकर उन्होने भारत की तत्कालीन रेवेन्यू व जुडीशियल व्यवस्थाओं पर अपने स्पष्ट विचार प्रदर्शित करते हुए देश की जनता की यथार्थ स्थिति व आवश्यकताओ पर पूर्ण प्रकाश डाला और भारत के सम्बन्ध मे पश्चिम में व्याप्त गलत धारणाओ को दूर करते हुए वहाँ के सामयिक पत्रों मे लेख लिखकर सभी प्रकार से भारत की प्रतिष्ठा की वृद्धि करने का प्रयत्न किया। ये ही सब बातें इस कथन की पुष्टि करती है कि राजा राममोहन राय ने भारतीयों के उत्कर्ष के लिए उन समस्त आन्दोलनो की नीव डाली जो उन्नीसवी शताब्दी की विशेपता थी। स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, "राममोहन राय ही को भारत के आधुनिक युग के उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है।" वे न केवल भारत ही के प्रत्युत विश्व के अन्य महापुरुषो की श्रेणी मे प्रतिष्ठित किये जाने योग्य एक अद्वितीय रत्न थे। वे एक महान समाज-सुधारक, विशुद्ध धर्म-प्रवर्तक, राजनीतिज्ञ, शिक्षाशास्त्री, साहित्य-महारथी, पत्रकार, दर्शनशास्त्री व तत्त्वज्ञानी थे। उनका एक सार्वभौमिक व्यक्तित्व था। यदि एक ओर वे कुसंस्कार जनित अन्ध रूढियो के विध्वसक के रूप मे उग्र रूप से समाज के मकडी-जालो को झाड़ते-बुहारते दिखायी दिये तो दूसरी ओर सभी क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों की एक ऐसी बहुमूल्य देन भी अपने पीछे छोड़ गये कि शायद ही किसी व्यक्ति ने इतनी विभिन्न प्रकार की देन किसी जाति या राष्ट्र को प्रदान की हो। वे प्रत्येक दृष्टि व पहलू से इस देश के आधुनिक युग के पिता थे।

प्रार्थनासमाज—महाराष्ट्र में 1819 ई० में 'प्रार्थना-सभा' नामक एक आस्तिक समाज की स्थापना की गयी। परन्तु इसका प्रभाव सीमित था और यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया। इसके बाद 1937 ई० मे एक अन्य अधिक महत्त्वशाली आस्तिक सस्था 'प्रार्थना-समाज' का निर्माण हुआ। इसके प्रमुख उद्देश्य : (1) विवेकपूर्ण उपासना करना, (2) जाति-प्रथा को अस्वीकार करना, (3) विधवा-विवाह का प्रचार करना, (4) स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देना, (5) बाल-विवाह का बहिष्कार करना, एवं (6) अन्य सामाजिक सुधार करना था। ब्रह्मसमाज के प्रभाव के अन्तर्गत इसकी खूब उन्नति हुई। केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय, पी० सी० मजूमदार और

बाबू महेन्द्रनाथ बोस जैसे महान ब्रह्मसमाजियो के बम्बई मे भ्रमण व भेंट के लिए आने से प्रार्थनासमाज के कार्य को खूब प्रोत्साहन मिला। इसके कार्यकर्ताओं के लिए एक रात्रि पाठशाला खोली गयी और 'सुबोध पत्रिका' नामक पत्र निकाला गया। प्रार्थनासमाज के अनुयायियो ने अपना ध्यान प्रमुखतया अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह और महिलाओ तथा हरिजनो की शोचनीय दशा मे सुधार करने की ओर अधिक आकृष्ट किया। उन्होने पढरपुर मे अनाथाश्रम स्थापित किया और रात्रि-पाठशालाएँ, विधवाश्रम, अछूतोद्धार के हेतु सस्थाएँ तथा ऐसी ही अन्य उपयोगी सामाजिक सस्थाएँ निर्मित की। बम्बई और मद्रास प्रान्तो मे प्रार्थनासमाज की शाखाएँ स्थापित हो गयी थी। प्रार्थनासमाज ने हिन्दू धर्म से अलग होकर कोई नवीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित करने का प्रयास नही किया था और न उसने ईसाई धर्म का समर्थन ही किया था। इसने अपने सिद्धान्त और आस्तिकवाद महाराष्ट्र के सन्तो और भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्धित रखे और सामाजिक सुधारो के कार्यो पर अधिक जोर दिया। इससे इसके सदस्य विभिन्न धर्मो, सम्प्रदायो और मत-मतान्तरो के होने पर भी सुसगठित रहे और ब्रह्मसमाज के समान इनमे कोई फूट या विभाग न हो सका। पर निश्चित नियमो के आधार पर प्रार्थनासमाज का सगठन न होने से उसका आन्दोलन अधिक शक्तिशाली नही बन सका। प्रार्थनासमाज की सफलता का श्रेय प्रधानतया जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे को है।

रानाडे बम्बई हाईकोर्ट के प्रसिद्ध न्यायाधीश ही नही थे, परन्तु एक शिक्षा-शास्त्री, इतिहासज्ञ, उत्साही समाज-सुधारक और भारत की राष्ट्रीय काग्रेस के जन्मदाताओ मे से थे। उनकी प्रतिभा व बुद्धि विलक्षण थी, उनका चरित्र सात्विक और पवित्र था एव उनका राष्ट्र-प्रेम श्रेष्ठ था। 1842 ई० मे नासिक जिले के एक ग्राम मे उनका जन्म हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर मे हुई थी और बम्बई मे एम० ए०, एल-एल० बी० की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात वहाँ के एलफिन्स्टन कॉलिज मे वे प्राध्यापक हो गये। 1886 ई० मे बम्बई सरकार ने आपको ओरिएण्टल ट्रान्सलेटर (Oriental Translator) नियुक्त किया और धीरे-धीरे वे इस पद से उन्नति करते-करते बम्बई हाई कोर्ट के जज हो गये। जब वे पूना मे जज थे तब उन्होने 1871 ई० मे वहाँ 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना की, उसका मुख्य-पत्र निकालने की व्यवस्था की और निरन्तर बाईस वर्षो तक उसके लिए कार्य किया। अनेक सुधारवादी सस्थाओ और सघो तथा बम्बई विश्वविद्यालय से उनका दीर्घ काल तक सम्बन्ध रहा। वास्तव मे वे एक उदार समाज-सुधारक और सच्चे देशभक्त थे। उन्होने साहित्य, राजनीति, धर्म, शिक्षा, उद्योग-व्यवसाय, समाज आदि मे अथक परिश्रम से सुधार के कार्य किये। समाज-सुधार के साथ-साथ वे औद्योगीकरण और राष्ट्रीय प्रगति के भी कट्टर हिमायती थे। महादेव गोविन्द रानाडे से नवजागरण के सन्देश को खूब प्रेरणा प्राप्त हुई। नि सन्देह वे भारत के आधुनिक पुनरुत्थान के महान नेताओ मे से थे।

रानाडे की प्रेरणा से उनके आध्यात्मिक नेतृत्व के अन्तर्गत 1884 ई० मे 'डक्कन एज्यूकेशनल सोसाइटी' की स्थापना हुई। गोखले, तिलक और आगरकर जैसे व्यक्ति इसके सदस्य थे। इनका उद्देश्य सादा जीवन और उच्च विचार था और इन्होने 75 रुपये प्रति मास जैसे थोड़े से वेतन को स्वीकार कर देश के युवको को सादे साधनो से शिक्षा देने का बीड़ा उठाया। इस संस्था का एक छोटा सा स्कूल था जो कालान्तर मे प्रगति करते-करते महाराष्ट्र मे प्रसिद्ध शिक्षण-केन्द्र हो गया और आज भी पूना मे फर्ग्युसन कॉलिज के नाम से प्रख्यात है।

इसी सोसाइटी के एक सदस्य गोखले ने 1905 ई० में 'सोसाइटी ऑफ सरवेन्ट्स ऑफ इण्डिया' की स्थापना की। इस संस्था ने भी प्रार्थनासमाज के समान शिक्षा और समाज-सुधार मे प्रमुख भाग लिया। इस सोसाइटी का मूल सिद्धान्त यह था कि सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकता से ओतप्रोत कर दिया जाय। इस सोसाइटी का उद्देश्य यह था कि भारत में सेवा के लिए राष्ट्रीय मिशनरियाँ (Missionaries) तैयार की जायँ और भारतीयों के वास्तविक हितो को सर्व प्रकार से प्रोत्साहित किया जाय। विविध क्षेत्रो में इस सोसाइटी के सदस्यों ने उसके उद्देश्यो को कार्यान्वित करने के सफल प्रयास किये। इसके एक प्रमुख सदस्य नारायण मल्हार जोशी ने बम्बई मे 'सोशल सर्विस लीग' की स्थापना की और श्रमिको की दशा सुधारने के लिए 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस' को स्थापित किया। इसके एक अन्य दूसरे सदस्य और उपसभापति हृदयनाथ कुँजरू ने इलाहाबाद मे जन-सेवा के लिए 'सेवा-समिति' नामक सस्था स्थापित की। सोसाइटी के एक अन्य सदस्य श्रीराम बाजपेयी के नेतृत्व मे इसी सेवा-समिति से स्काउट्स एसोसिएशन का प्रादुर्भाव हुआ। सोसाइटी की मद्रास शाखा ने ग्रामोद्धार की ओर विशेष ध्यान दिया और गुजरात मे ठक्कर बापा के नेतृत्व मे भीलो के उद्धार के लिए 'भील सेवामण्डल' की स्थापना हुई।

उपरोक्त वर्णित ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज दोनों ही नवाभ्युत्थान (Renaissance) की प्रारम्भिक उपज थे। यह पाश्चात्य विचार का परिणाम और पाश्चात्य विवेकशीलता के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का प्रतिफल था। विशिष्टता मे इनसे विभिन्न अन्य दो उग्र सुधारवादी आन्दोलन भी इनके बाद हुए हैं जिन्होने भारत के अतीत से प्रेरणा ग्रहण की एवं उसके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों से अपने मूल सिद्धान्त उपलब्ध किये। इन आन्दोलनो से हिन्दू धर्म मे नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हो गयी। ये आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन थे।

आर्यसमाज—गुजरात के संन्यासी दयानन्द सरस्वती (1824–1883 ई०) ने सुधारे हुए उग्र हिन्दू धर्म का उपदेश दिया। उन्होने आर्यसमाज की स्थापना की और लूथर के समान धर्म मे प्रविष्ट हुए दोष को दूर करने का बीड़ा उठाया एव उपनिषदो तथा वेदो की प्रारम्भिक सादगी को धर्म मे पुन: स्थापित करने का प्रयास किया। उनका आर्यसमाज हिन्दू धर्म को वैदिक आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न था। उन्होने केवल वेद को प्रमाण माना और उसके अध्ययन का द्वार जाति-पाँति का विचार छोड सबके लिए खोल दिया। उन्होने अनेकेश्वरवाद, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद एव बहुदेववाद का विरोध किया, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एक ईश्वर की आराधना व उपासना का उपदेश दिया, जाति के प्रतिबन्धों, बाल-विवाह, अन्धरूढिवादिता, अशिक्षा, पर्दा-प्रथा, छुआछूत तथा समुद्रयात्रा-निषेध के विरुद्ध आवाज बुलन्द की एवं विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया। उन्होंने बड़ी दृढता से हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरव, सभ्यता और आदर्श का स्मरण कराकर उन्हे स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा की। उन्होंने विविध राष्ट्र-हितमूलक सुधारो का प्रचार कर भारतीय समाज को एक ही सूत्र में सगठित कर उसे अन्धरूढ़िवादिता के जंजाल से मुक्ति दिलायी। इस प्रकार सॉंस्कृतिक पुनर्जागरण के महायज्ञ में उन्होंने महत्त्वशाली भाग लिया। 1877 ई० मे आर्यसमाज की स्थापना कर उसके प्रचार से उन्होने देश के धर्म-आँगन मे एक व्यापक क्रान्ति का सूत्रपात किया, जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अगो को हिलाने मे सहायता दी। उन्होने शुद्धि-आन्दोलन को जन्म दिया जिसके अनुसार बहिष्कृत लोगो, अन्य धर्मावलम्बियो और ईसाई तथा

मुसलमान बनाये हुए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया जाता था। इस साहसपूर्ण नीति ने देश के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति का स्वर जगाया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' जिसमे वेदों की आलोचना है, उनके विचारों व सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाला प्रतिनिधि ग्रन्थ है। दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा के हेतु, रचनात्मक प्रयास के रूप मे ठोस कदम बढाया। इसके अतिरिक्त उनकी 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेश' की आवाज ने कालान्तर में इस देश में 'स्वराज्य' की आवाज बुलन्द करने में बहुमूल्य योग दिया। योगिराज अरविन्द घोष के शब्दो में दयानन्द सरस्वती "परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि के एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का संस्कार करने वाले एक अद्भुत शिल्पी थे।" वे प्राचीन और अर्वाचीन के बीच के हमारे युग-सेतु के एक महत्त्वपूर्ण आधारस्तम्भ है एवं राममोहन राय और गाँधी के बीच की युग-सन्धि के सबसे महान राष्ट्र-निर्माता व संस्कृति तथा धर्म के प्रधान आचार्य है।

आर्यसमाज संग्रामी प्रवृत्ति वाले हिन्दू धर्म का प्रतीक है। राष्ट्रीयता के अग के रूप में तथा ईसाई धर्म व इस्लाम के सिद्धान्तो के प्रतिरोध के रूप मे आर्यसमाज का अत्यन्त महत्त्वशाली भाग रहा है। सामाजिक सेवाओं और सुधारों पर अधिक जोर देकर आर्यसमाज उत्तर भारत मे हिन्दू-पुनर्जागरण के क्षेत्र मे आज भी एक महत्त्वशाली तत्त्व है। आर्यसमाज देश व जाति के लिए सबल मंच बन गया। इस विशाल संस्था की लगभग डेढ हजार विविध शाखाएँ आज भी विभिन्न स्थानो में प्रस्थापित है जिनके द्वारा जातिभेद-उच्छेद, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि-सस्कार, धार्मिक सुधार, लोक-सेवा, आदि के रूप मे निरन्तर सुधार-संगठन का न्यूनाधिक क्रम जारी है और अनेक विशाल कॉलिज, पाठशालाएँ और गुरुकुल उसके तत्वावधान मे श्रेष्ठतम शिक्षण कार्य कर रहे है। वास्तव मे आर्यसमाज के दिव्य धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और शिक्षण सम्बन्धी कार्यों ने भारत के राष्ट्रीय जीवन के निर्माण मे बहुत योग दिया है। इसने हिन्दुओ के धार्मिक और सामाजिक जीवन को स्वस्थ करने के लिए निरन्तर सघर्ष किया और हिन्दू जाति को सबल व क्रियाशील बनाया।

रामकृष्ण मिशन—प्राचीन या पूर्वी और अर्वाचीन या पश्चिमी विचारो का समन्वय रामकृष्ण मिशन मे निहित है जो उन्नीसवी शताब्दी का अन्तिम महान धार्मिक आन्दोलन था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस (1833–1886 ई०) एक महान विभूति थे जिन्होंने अन्य सुधारकों के समान किसी समाज या सस्था की स्थापना नही की। उन्होने अपनी इष्टदेवी काली की भक्ति, ध्यान और योग से यह अनुभव कर लिया कि सब धर्म एक ही सनातन धर्म के अश और अग है। उन्होने सभी मत मतान्तरो की साधन-प्रणालियो से ईश्वर का साक्षात्कार किया। उन्होने देश को फिर से सब धर्मों की मूलभूत एकता, ईश्वर की लौकिक सत्ता एवं आध्यात्मिक जीवन की महत्ता में विश्वास जमाने की सबल प्रेरणा दी एव निर्गुण-सगुण, एक-अनेक, द्वैत-अद्वैत, मूर्ति-अमूर्ति, सबका मूल्य बताकर सुन्दर समन्वय किया। वे पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियो के समन्वय का स्वप्न सार्थक करने के लिए इस युग मे अवतीर्ण हुए थे।

इनके प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द (1861–1902 ई०) ने इनकी मृत्यु के पश्चात् आध्यात्मिक उत्थान और जन-सेवा का कार्य जारी रखने के लिये 'श्री रामकृष्ण मिशन' के नाम से एक सस्था स्थापित की। 1893 ई० मे शिकागो मे विश्व धर्मपरिषद मे वे उपस्थित हुए। वहाँ हिन्दू विचारो पर प्रवचन करते हुए साहसपूर्वक

यह घोषणा की कि वेदान्त सभी के लिए धर्म है। उन्होंने यूरोप व अमेरिका मे भारत के विशद दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए समस्त धर्मों की शाश्वत सत्य-तत्त्वो की मूल-भूत एकता, वेदान्त की महत्ता और धर्म के क्षेत्र मे समन्वय की आवश्यकता पर उपदेश दिये। उस देश में ही नही अपितु पाश्चात्य देशो मे भी उन्होने वेदों और उपनिषदों के प्राचीन आत्मज्ञान का सन्देश गुंजा दिया। विश्व के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता और सर्वोपरिता की साहसी घोषणा करने से उन हिन्दुओ मे नवीन प्रेरणा व शक्ति का सचार हुआ जो यूरोपीय संस्कृति व सभ्यता के सम्मुख अपने को हेय समझते थे। इससे भारतीयो के मन में आत्म-गौरव का एक सशक्त भाव उदित हुआ जिससे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मार्ग के प्रशस्त होने मे निर्दिष्ट सहायता प्राप्त हुई। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं ने राष्ट्रीयता, हिन्दू सभ्यता व संस्कृति की शक्ति में वृद्धि की। उन्होने भारतीयो को नवयुग की प्रेरणा दी। उनकी नसो मे जागरण का नूतन स्वर भर, हमारी आध्यात्मिक और नैतिक भित्ति को पुनः दृढ बनाकर हमारे सर्वतोन्मुखी उत्थान की एक विशाल पृष्ठभूमि तैयार कर दी। उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखाएँ भारत व अमेरिका मे स्थापित हुई। इस मिशन को भारत की प्राचीन सस्कृति से प्रेरणा प्राप्त हुई है और यह धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का समर्थन करता है। विशुद्ध वेदान्द सिद्धान्त इसके आदर्श हैं और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिकता का विकास करना इसका लक्ष्य है। भारत के विभिन्न स्थानो में अपनी शाखाओ द्वारा यह मिशन परोपकारिता के दिव्य कार्य और देश-हितकारी साधनो से समाज-सेवा कर रहा है। अस्पताल खोलकर रोगियो की सहायता व सेवा-सुश्रुषा करना, अनाथालयो और आश्रमो द्वारा दीन-दुखियो की सेवा करना तथा विद्यालयो व वाचनालयो द्वारा ज्ञान व शिक्षा का प्रचार करना आजकल इस मिशन का विशेष कार्य है। विवेकानन्द और उनके इस मिशन ने नयी परिस्थितियों के अनुरूप हिन्दुत्व की नयी अभिव्यक्ति के लिए असाधारण कार्य किया।

थियोसोफीकल सोसाइटी (The Theosophical Society) –1875 ई० मे न्यूयॉर्क मे रूसी महिला मैडम ब्लेवेट्स्की और कर्नल एस० एस० ऑलकॉट ने थियोसोफीकल सोसाइटी या ब्रह्मविद्या-मण्डल की स्थापना की थी। 1882 ई० मे इस संस्था का अन्तरराष्ट्रीय प्रमुख केन्द्र अड्यार (मद्रास) हो गया और तब भारत से ही इसका प्रचार अन्य देशो को होने लगा। यह कोई साम्प्रदायिक सस्था व आन्दोलन नही है। इसका प्रमुख उद्देश्य समस्त धर्मो की मूलभूत एकता, आध्यात्मिक जीवन का महत्त्व और विश्व-बन्धुत्व का प्रचार करना है। भारत मे यह सस्था डॉ० एनी बेसेण्ट के सभापतित्व मे एक अनुपम शक्ति हो गयी और इसने विश्व का और विशेषकर भारतीयों का भारतीय सस्कृति और हिन्दू धर्म की उत्कृष्टता की ओर ध्यान आकर्षित कर धार्मिक सहिष्णुता पर अधिक जोर दिया। इसने भारत मे हिन्दू धर्म की जाग्रति की प्रेरणा दी और शिक्षा तथा समाज सुधार के अनेक कार्य किये। इसने वाराणसी, मद्रास, मदनपल्ली आदि स्थानो में साधारण व उच्च-शिक्षा के साथ-साथ वैज्ञानिक हिन्दू धर्म के अध्ययन का भी प्रयत्न किया। इसका स्थापित किया हुआ वाराणसी का सेण्ट्रल हिन्दू कॉलिज, वाराणसी या काशी हिन्दू यूनीवर्सिटी में परिवर्तित हो गया। इसी संस्था ने सर्वप्रथम अछूतो के लिए पाठशालाएँ निर्माण कर राष्ट्रीय कार्य की ओर ठोस कदम बढाया। थियोसोफीकल सोसाइटी द्वारा स्थापित शालाओ तथा संस्थाओं का वातावरण बडा विशुद्ध और शिक्षाप्रद रहा है और इनसे भारतीय सस्कृति के

पुनर्जागरण में खूब प्रोत्साहन मिला है। इस संस्था ने भारतीयो मे नवीन प्रेरणा-शक्ति, अतीत श्रद्धा, भविष्य मे विश्वास व आशा उत्पन्न की एव हिन्दू मस्तिष्क मे. धार्मिक हीनता की भावना को दूर कर आत्म-गौरव की नवीन भावना का सचार किया। थियोसोफीकल सोसाइटी के आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की प्राचीन रूढ़ियो, विश्वासों और कर्मकाण्ड का प्रवल वैज्ञानिक समर्थन कर प्राचीन भारतीय आदर्शो और परम्पराओ को पुनरुज्जीवित किया है। आधुनिक काल मे समस्त भारत में व्याप्त अपनी विभिन्न शाखाओ सहित यह संस्था सामाजिक व धार्मिक सुधारो एव राष्ट्रीय निर्माण-कार्यों के लिए महत्त्वपूर्ण अग रही है।

राधास्वामी सत्संग—राधास्वामी सत्संग की स्थापना 1861 ई० में शिवदयाल जी (1818-1878 ई०) ने आगरा में की। इस सस्था के छठे गुरु स्वामी आनन्दस्वरूप के समय मे इसने आश्चर्यजनक प्रगति की और दयालवाग नामक एक उन्नतिशील और औद्योगिक उपनिवेश की स्थापना की। राधास्वामी ईश्वर का नाम है और वे स्वय पृथ्वी पर मनुष्य के रूप मे अवतरित हुए थे एव उन्होने अपना नाम सन्तसद्गुरु वतलाया था। इस प्रकार राधास्वामी सत्सग के गुरु ईश्वर के अवतार माने जाते हैं और इसी से सस्था में गुरुभक्ति की प्रधानता है। इस सस्था के अनुयायी विना किसी जाति-पाँति व भेद-भाव के ईश्वर की आराधना करते है। ये ईश्वर, ससार व जीवात्मा को सत्य मानते है। कवीर, दादू, नानक आदि सन्तो की वाणियाँ इनके धार्मिक ग्रन्थ है। वास्तव मे ये समस्त धर्मों को समान मानते है तथा प्रेम व भ्रातृत्व का प्रचार करते है। सक्षेप में राधास्वामी सत्संग भक्ति-मार्ग व योग-मार्ग का एक मिश्रण है। इस सस्था ने धार्मिक जाग्रति के साथ औद्योगिक प्रगति कर, जाति के प्रतिबन्धो का वहिष्कार कर, शिक्षा का प्रसार कर सास्कृतिक जागरण और राष्ट्र-निर्माण के कार्य मे वहुमूल्य योग दिया।

विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों में समानता—जैसा ऊपर वर्णित है, अठारहवी शताव्दी मे हिन्दू धर्म, समाज, सभ्यता व सस्कृति का खूब पतन हो चुका था। इस पतन से देश का उद्धार करने के लिए अनेक सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने अपने-अपने ढंग के आन्दोलनो मे सांस्कृतिक पतन की वीमारी को रोकने की चेष्टा की। परिणामस्वरूप, हमे उनके आन्दोलनो मे अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती है और उनमे मूलभूत सिद्धान्तो मे भी काफी साम्य है। इस कथन की पुष्टि अधोलिखित विवेचन से स्पष्ट की जाती है :

1. समस्त धार्मिक आन्दोलनो का आरम्भ प्राचीन हिन्दू धर्म के सिद्धान्तो पर हुआ और सवको ही भारतीय संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त हुई है।

2. वहुदेववाद का सभी ने खण्डन कर एकेश्वरवाद पर अधिक वल दिया।

3. सवने हिन्दू धर्म की अन्धरूढिवादिता, कुरीतियाँ और कुसस्कारो को दूर कर धर्म के वास्तविक विशुद्ध रूप को प्रकट करने का प्रयास किया।

4 सभी ने वाह्य आडम्वरो का परित्याग कर, विशुद्ध आचरण कर, निर्गुण आराधना, आध्यात्मिक उपासना एव नैतिक जीवन का उपदेश दिया।

5. सभी ने समस्त धर्मो की मूलभूत एकता का प्रदर्शन किया तथा समस्त-धर्मो के प्रति सहिष्णुता की भावना जाग्रत कर हिन्दू विचार एव भारतीयो की मनोवृत्ति को अधिक उदार कर दिया।

6. वर्ण-व्यवस्था की जटिलता का, जाति-पाँति के कठोर प्रतिबन्धों तथा सम्प्रदायो के पारस्परिक विभेदो का घोर विरोध एवं एकता के सूत्र मे सुसगठित समाज के निर्माण पर अधिक बल दिया।

7. सभी ने देश के अतीत के वैभव व महानता का वर्णन किया जिससे राष्ट्रीयता के विकास मे सहायता मिली।

8. सब ने भारतीय स्त्री समाज की हीन दशा की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कराया और उनके उद्धार व प्रगति के हेतु प्रयत्न किये।

9 सभी ने भारतीयो के हृदयो में अपने देश, धर्म व संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न कर राष्ट्रीय भावना मे मूल्यवान योग दिया।

धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम—उपरोक्त वर्णित इन आन्दोलनो से हिन्दू समाज मे देशव्यापी क्रान्ति हो गयी और सामाजिक सुधारो तथा देशहित के कार्यो के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रयत्न करने की खूब प्रेरणा मिली। जाति-प्रथा की जटिलता, सती व पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, छुआछूत, अन्ध-विश्वास आदि नष्ट हो गये तथा विधवा-विवाह व स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन मिला और स्त्रियों को समान अधिकार प्राप्त हो गये। इन आन्दोलनो से नैतिकता व धर्म के नवीन विचार जाग्रत हुए, भविष्य की उन्नति के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई, समाज व धर्म दोनो का परिमार्जन हुआ जिससे नवीन भारत का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त इन आन्दोलनो से जो नवीन हिन्दू धर्म उत्पन्न हुआ, उसने शोषित और पीड़ित मानवता की सेवा-सुश्रूषा करने का बीड़ा उठाया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इन आन्दोलनो की यह बड़ी भारी देन है।

यदि इन आन्दोलनो के परिणामस्वरूप हिन्दुओं मे नवजीवन का संचार हुआ और राष्ट्रीयता की जाग्रति हुई तो मुसलमान भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे। उनके समाज में भी धार्मिक आन्दोलनों की लहर दौड़ पड़ी। इसका विवेचन करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

मुसलमानों में धार्मिक आन्दोलन—यद्यपि मध्य-युग मे मुसलमान शासक थे। परन्तु आधुनिक युग मे शासन-सत्ता धीरे-धीरे उनके हाथो से चली गयी थी। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक युग मे वे बड़े-बड़े पदो से वंचित ही नही हुए, अपितु कला व कौशल भी उनके हाथ से लगभग निकल गया था। अपनी दुर्बल आर्थिक स्थिति व सामाजिक दशा के कारण दीर्घ काल तक मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा व पाश्चात्य सभ्यता से वंचित ही रहे। यद्यपि उनका समाज इस्लाम के कारण छुआछूत और जातीय भेदभाव से मुक्त था तथापि उसमे बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा दीर्घ काल से प्रचलित थी। कालान्तर में उनके सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अनेक कुसंस्कार, कुरीतियाँ और अन्धरूढ़िवादिता घर कर गयी।

वर्तमान युग मे नवाभ्युत्थान जाग्रति के फलस्वरूप भारतीय मुसलमानों मे भी प्रतिक्रिया हुई। हिन्दुओ के नव-जागरण और धार्मिक आन्दोलनो ने इसे और अधिक बल दिया। फलतः भारतीय मुसलमान भी अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन को सुधारने के लिए प्रयत्नशील हुए।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत मे मुसलमानो मे एक धर्म-सुधार प्रारम्भ हुआ जो अरब के मुहम्मद अब्दुल वहाब के शिष्यो द्वारा सचलित सुधार से

साम्य रखता था। इस्लाम धर्म के इस सुधारवादी आन्दोलन के संचालक शाह अब्दुल अजीज, सैयद अहमद बरेलवी, शेख करामत अली व हाजी शरायतुल्ला थे। शाह अब्दुल अजीज ने इस्लाम के सुधार के लिए आचार-विचार को पूर्णतया कुरान पर अवलम्बित करने का आदेश दिया। पर मुसलमानों के सर्वप्रथम नेता जिसने मुसलमानों की सामाजिक कुरीतियो को दूर करने और विशुद्ध आदर्शो की स्थापना करने की चेष्टा की, सैयद अहमद बरेलवी थे। इन्होने ईश्वर की एकता पर पुनः बल दिया तथा प्रत्येक मुसलमान को इस्लाम की व्याख्या करने का अधिकार दिया। ये सन्त-पूजा के विरोधी थे तथा धर्म-परिवर्तन पर इस्लाम धर्म ग्रहण करने वालों में विद्यमान इस्लाम विरोधी प्रथाओ को नष्ट करना चाहते थे। इनका उद्देश्य इस्लाम की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक प्रगति करना और भारत मे पुन: इस्लाम का राज्य स्थापित करना था। ये भारत को दारुल-इस्लाम (शान्ति का घर) न मान कर दारुलहर्ब (युद्ध का घर) मानते थे और गैर-मुसलमानो के विरुद्ध धार्मिक युद्ध करने का आदेश देते थे। ये पाश्चात्य शिक्षा व संस्थाओ का विरोध करते थे। इन प्रतिक्रियावादियो ने भारत मे साम्प्रदायिकता के बीज बोने में सहायता दी।

बरेलवी के आन्दोलन के विपरीत शेख करामत अली का आन्दोलन विशुद्ध रूप से धार्मिक और शान्तिपूर्ण था। इसने भारतीय मुसलमानो को पाश्चात्य शिक्षा व विचारो की ओर प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे अहमदियां आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसके जन्मदाता पंजाब के गुरदासपुर जिले मे कादियान के निवासी मिर्जा गुलाम अहमद (1839-1908 ई०) थे। ये धार्मिक सुधारक थे और इन्होने एक सम्प्रदाय की स्थापना की। ये अपने आपको ईश्वर का पैगम्बर बतलाते थे जो विशुद्ध इस्लाम को पुन स्थापित करने के हेतु आया था। यह अहमदिया आन्दोलन आर्यसमाज और ईसाई धर्म-प्रचारको के विरुद्ध ही नही था अपितु मुस्लिम सुधारक सर सैयद अहमद के बुद्धिवाद व पश्चिमीकरण का भी विरोधी था। अहमदिया आन्दोलन का उद्देश्य था कि कुरान की आज्ञाओ का आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से पालन किया जाय क्योकि उनका अक्षरशः पालन असम्भव है। इसने सन्तो की पूजा को घृणा की दृष्टि से देखा और जिहाद (धर्म-युद्ध) को अनिवार्य नही बतलाया। सामाजिक विषयो मे इस आन्दोलन ने प्राचीन परम्पराओ का समर्थन किया, पर्दा-प्रथा, तलाक तथा बहुविवाह-प्रथा को उचित माना। 1914 ई० मे इस आन्दोलन मे नवीन लाहौरी दल का उत्कर्ष हुआ जो मिर्जा अहमद को पैगम्बर नही अपितु सुधारक समझता था। इस प्रकार भारतीय इस्लाम के पुनरुत्थान के लिए प्रगतिशील और प्रतिगामी दोनो ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई।

उपरोक्त धार्मिक प्रवृत्तियो से अधिक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन सर सैयद अहमदखाँ (1817-1898 ई०) और मौलवी चिरागअली (1844-1895 ई०) का था। मुसलमानो की जाग्रति का अधिकाश श्रेय सर सैयद अहमद को है। उन्होने बुद्धिवाद, पूर्वी शिक्षा, आधुनिक विज्ञान तथा प्राचीन विश्वास के बीच साम्य स्थापित करके भारतीय मुसलमानो के राजनीतिक, धार्मिक, शिक्षात्मक और सामाजिक विचारो मे परिवर्तन करने का प्रयास किया। उन्होने मुस्लिम सस्कृति और पाश्चात्य विज्ञान तथा उन्नति के समन्वय का उपदेश दिया और मुसलमानो को उनके उत्थान के लिए अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता की ओर आकृष्ट किया तथा मुस्लिम-यूरोपीय सौहार्द्र स्थापित करने के लिए विशेष प्रयास किया। उन्होने मुस्लिम समाज की

कुरीतियों और अन्धविश्वास को दूर करने का प्रयास किया। वे पर्दा-प्रथा के विरोधी थे और स्त्री-शिक्षा का समर्थन करते थे। समाज-सुधारक के अतिरिक्त वे धर्म-सुधारक भी थे। वे इस्लाम को प्राचीन, सरल और विशुद्ध रूप देना चाहते थे और इस्लाम में घुसे पीरी और मुरीदी परम्परा के दोष को दूर करना चाहते थे। उन्होंने कुरान की विस्तृत टीका लिखी जिसमें उन्होंने परम्परागत अर्थों के स्थान पर तर्क और ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर अर्थ किया। धार्मिक व सामाजिक सुधारक के अतिरिक्त वे आधुधिक शिक्षा के प्रसारक भी थे। उनकी धारणा थी कि मुसलमानों की प्रगति के लिए पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान के साथ उनका सम्पर्क अनिवार्य है। अतएव उन्होने मुसलमानों में शिक्षा-प्रसार के हेतु अलीगढ़ मे Mohammedan Anglo-Oriental College की स्थापना की जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से हमारे सम्मुख आया। सर सैयद अहमद कुरान के ही टीकाकार नही वरन पत्रकार और उर्दू गद्य के एक प्रसिद्ध लेखक भी थे। 'तहजीबुल अखलाक' नामक उनकी स्वय की एक पत्रिका थी जिसमें लेख लिखकर वे सामाजिक सुधारों का प्रचार व समर्थन करते थे। उन्होंने अपने धार्मिक तथा सामाजिक लेखो से मुसलमानो को जगाया और उनमे नवीन आशा का सचार किया। पानीपत के ख्वाजा अल्ताफ हुसैन हाली, बिजनौर के मौलवी नजीर अहमद और आजमगढ के मौलवी शिवली नुमानी ने सर सैयद अहमद को उनके कार्यों मे खुब सहयोग दिया था। मौलवी चिरागअली से भी इन्हे काफी सहायता मिली। मौलवी चिरागअली विद्याप्रेमी, प्रभावशाली लेखक और उत्साही सुधारक थे। उन्होंने मुसलमानों को अपने चरित्र और रीतिरिवाजो में उन्नति करने का उपदेश दिया। उन्होने बहुविवाह-पद्धति का घोर विरोध किया एवं मुस्लिम विवाह-पद्धति मे प्रविष्ट दोषों को दूर करने की चेष्टा की। इनके अतिरिक्त शिक्षित मुस्लिम-वर्ग ने भी बाल,विवाह, बहु-विवाह और बुर्के व पर्दे का घोर विरोध किया। लखनऊ के शेख अब्दुल हलीम, उर्दू के प्रख्यात कवि मुहम्मद इकबाल, और सैयद अकबर हुसैन ने इन मे खूब सहयोग दिया। परन्तु शिक्षा के अभाव, अन्धविश्वास और रूढिवादिता की पृष्ठभूमि मे भारतीय मुसलमानो मे सुधार की प्रगति धीमी रही।

बीसवी शताब्दी मे और विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात मुस्लिम लीग और जिन्ना ने मुसलमानों में सुधार के साथ-साथ अपूर्व राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर दी। इस राजनीतिक जाग्रति का आधार कटु साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुस्लिम के दो विभिन्न राष्ट्रों का सिद्धान्त था। फलत भारत का विभाजन हो गया और पाकिस्तान का निर्माण हुआ।

अन्य धर्मावलम्बियों में जाग्रति—भारत के अन्य धर्मावलम्बियों में भी सुधार की भावना जाग्रत हुई। पारसी-वर्ग भी सुधार की ओर अग्रसर हुआ। पारसियों में दादाभाई नौरोजी और एस० एस० बंगाली प्रमुख थे। इन्होने पारसियो की सामाजिक दशा सुधारने तथा पारसी धर्म पुनरुत्थान कर उसे पूर्व पवित्रता की श्रेणी में लाने के हेतु 1851 ई० में 'रहनुमाई मज्दयास्नन' सभा की स्थापना की। यह धार्मिक तथा सामाजिक सुधार था। इसके पश्चात् 1910 ई० मे पारसी धर्म गुरु ढोला के प्रोत्साहन से एक फारसी अधिवेशन का उद्घाटन हुआ जिसने पारसी-वर्ग की अत्यधिक सेवा की। पारसियों ने अपने सुधार के साथ-साथ देश के सामाजिक और राजनीतिक उत्थान में भी हाथ बँटाया। देश मे अनेक पारसी संस्थाएँ पारसी-वर्ग की दानशीलता

तथा धर्म-परायणता की द्योतक हैं। दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, सर दीन शैदुलजी आदि पारसी नेताओं ने भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति मे वहुमूल्य योग दिया।

सिक्खो ने भी इस धार्मिक जाग्रति के प्रभाव मे अपने धार्मिक व सामाजिक जीवन को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया। प्रभावशाली व प्रगतिशील सिक्खो ने अमृतसर मे प्रख्यात खालसा कॉलिज की स्थापना की। इसके अतिरिक्त 'प्रधान खालसा दीवान' नामक एक केन्द्रीय सस्था का निर्माण भी किया। इसका उद्देश्य समाज व शिक्षा की दृष्टि से सिक्खो मे सुधार करना था।

इसी प्रकार भारतीय ईसाइयो मे भी प्रगति व सुधार हुए। परन्तु उनमे अन्ध-विश्वास व रूढ़िवादिता कम थी। अतः इसमें सुधार और परिवर्तन भी अपेक्षाकृत कम हुए। विवेकशील ईसाई पादरियो और दूरदर्शी ईसाई धर्माधिकारियो ने भारतीय ईसाइयो मे प्रचलित अनेक धार्मिक प्रथाओ में जो अन्तर है, उसे दूर करके एक विशाल संगठन करने की चेष्टा की। प्रारम्भ मे शिक्षा-प्रचार के लिए ईसाई धर्म-प्रचारको ने शिक्षा के हेतु विद्यालय खोले और आदिवासियो व दलित-वर्गो को ईसाई धर्म मे सम्मिलित कर लिया। इन नवीन ईसाइयो को शिक्षा की सुविधा देकर उन्नत किया गया। अनाथालयो, औषधालयों, विद्यालयों आदि परोपकारी संस्थाओ के द्वारा ईसाई धर्म-प्रचारको ने जनता की खूब सेवा की तथा भारतीय शिक्षा व साहित्य को उन्नत करने मे अनमोल योग दिया।

हिन्दू समाज

प्रस्तुत अध्याय मे पीछे आर्यसमाज का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि हिन्दू समाज का संगठन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर हुआ था। कालान्तर मे 'सयुक्त परिवार' और 'आश्रम-प्रणाली' का प्रादुर्भाव हुआ। सयुक्त परिवार का सचालन व सरंक्षण परिवार मे आयु, अनुभव व पद मे सबसे बड़े व्यक्ति के हाथ मे होता था। पारस्परिक सहयोग व सहानुभूति, स्नेह व प्रेम पर यह परिवार-प्रथा अवलम्बित थी। मानव-जीवन के चार आश्रम या भाग—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—कर दिये गये थे। गृह्य व धर्म-सूत्रों द्वारा सामाजिक व्यवस्था को सचालित किया गया था। समाज मे स्त्री का समुचित मान व पद था और उसके लिए शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। परन्तु मध्य-युग मे धार्मिक नैतिकता विलीन हो जाने और राजनीतिक दासता के कारण हिन्दुओ की उपरोक्त सामाजिक व्यवस्था विकृत हो गयी। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का सन्तुलन अव्यवस्थित हो गया और उसका विकास व प्रगति अवरुद्ध हो गयी। वर्ण-व्यवस्था व आश्रम-प्रथा छिन्न-भिन्न हो गयी, प्रमुख जातियाँ सकुचित उपजातियो मे विभक्त हो गयी जिनमे परस्पर जटिल जाति-नियन्त्रणो व भेदो की अलघ्य खाइयाँ निर्मित हो गयी। आधुनिक युग के प्रारम्भ मे जाति-प्रथा की जटिलता व अपरिवर्तनशीलता अत्यधिक बढ गयी, विभिन्न जातियो तथा उप-जातियो मे पारस्परिक खान-पान, विवाह व सामाजिक समागम वर्जित हो गया, छुआछूत की समस्या विकृत रूप में प्रकट हो गयी, समुद्र-यात्रा निषिद्ध कर दी गयी, इसकी अवहेलना करने वालों को परिवार व समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था, मुसलमानो के प्रभाव से पर्दा-प्रथा की वृद्धि हो गयी, निरक्षरता बढने लगी और हिन्दुओ का दृष्टिकोण सकुचित हो गया। धार्मिक प्रभुता व अन्धविश्वास, पुरोहितवाद और कर्म-काण्ड, विकृत रूढ़िवाद तथा जाति के नियन्त्रणो के भँवर में

पड़कर हिन्दू समाज बहु-विवाह, बाल-विवाह, बाल-विधवा, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, शिशु-हत्या, देवदासी-प्रथा, कुलीन-प्रथा और अन्धरूढ़िवादिता के बोझ से डूबने लगा।

परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवाभ्युत्थान से उत्पन्न जाग्रति के परिणामस्वरूप हिन्दू-समाज में ये दोप धीरे-धीरे कम होते गये और हिन्दू समाज का धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक सन्तुलन पुनः पूर्ववत व्यवस्थित होने लगा। इसके प्रमुख कारण पाश्चात्य सभ्यता, पाश्चात्य शिक्षा, नवीन आर्थिक परिस्थितियाँ और दृष्टिकोण, यातायात के सरल व सुगम साधन, विशाल नगरो की वृद्धि, बड़े-बड़े कल-कारखानों का निर्माण, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ, क्लब, विद्यालय, महाविद्यालय, सिनेमा, नाट्यगृह, होटल, नवनिर्मित कानून आदि है। उपरोक्त वर्णित धार्मिक आन्दोलन तथा जन-जाग्रति ने भी इस सामाजिक प्रगति के लिए खूब योग दिया। समाज की इस कायापलट को समझने के लिए सामाजिक सुधारों का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

सामाजिक सुधार

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत अधोलिखित सामाजिक सुधार हुए। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यूरोप और इंगलैण्ड मे सुधारो का आन्दोलन धर्म से अलग ही रहा परन्तु भारत में सुधारों का आन्दोलन धार्मिक सुधारो के साथ-साथ ही हुआ। अधोलिखित सामाजिक सुधार विशेप उल्लेखनीय है :

1. **शिशु-हत्या**—सर्वप्रथम महत्त्वशाली सामाजिक सुधार जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किया, वह शिशु-हत्या का अन्त करना था। शिशुओ की यह अमानुषिक हत्या शिशु को गगा के मुहाने पर समुद्र में फेंककर या कन्याओं को उचित पुष्टिकारक भोजन से वचित कर या माता के स्तनो को विषयुक्त करके की जाती थी। यह हत्या 1795 ई० के बंगाल रेग्युलेशन 21 और 1805 ई० के रेग्युलेशन 6 से निषिद्ध कर दी गयी।

2. **सती-प्रथा का अन्त**—भारत मे द्वितीय महत्त्वपूर्ण सुधार सती-प्रथा का अन्त था जो राजा राममोहन राय के निरन्तर प्रयासों से सफल हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का नाश करने के लिए सरकार का हाथ बँटाया और सती-प्रथा के विरुद्ध सक्रिय प्रचार किया। इस व्यावहारिक विरोध के फलस्वरूप लॉर्ड विलियम वैण्टिक ने 1829 ई० मे सती-प्रथा गैर-कानूनी घोपित कर दी।

3. **बहु-विवाह और बाल-विवाह**—आधुनिक युग मे राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने बहु-विवाह के विरुद्ध आवाज-बुलन्द की और उनका यह कार्य उनके पश्चात आने वाले अनेक उत्साही कार्यकर्ताओ ने जारी रखा। 1872 ई० के नेटिव मैरिज एक्ट (Native Marriage Act) द्वारा, जो केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नो से स्वीकृत हुआ था, बाल-विवाह का उन्मूलन कर दिया गया, बहु-विवाह को दण्डनीय अपराध घोपित कर दिया गया, विधवा-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह उन लोगों के लिए स्वीकृत कर दिये गये जो इस कानून के अधीन होना चाहते थे। आर्यसमाज ने भी बाल-विवाह का अन्त करने के लिए कठिन प्रयत्न किया और आधुनिक युग के सबसे बड़े पारसी सुधारक बी० एम० मालाबारी ने भी बाल-विवाह के विरोध मे 1884 ई० मे सक्रिय आन्दोलन आरम्भ किया। फलस्वरूप, 1891 ई० मे एज ऑव कन्सेन्ट (The Age of Consent) कानून स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार

घोर विरोध होने पर भी विवाह की आयु दस वर्ष से वारह वर्ष कर दी गयी। 1901 ई० में बडौदा राज्य की सरकार ने 'Infant Marriage Prevention Act' द्वारा विवाह के लिए कन्या की आयु 12 वर्ष और लड़को की 16 वर्ष कर दी। 1930 ई० मे व्यवस्थापिक-सभा और राज्य-सभा (Council of State) ने अजमेर के हरविलास शारदा द्वारा प्रस्तावित Child Marriage Restraint Bill स्वीकृत कर दिया। इसके अनुसार 18 वर्ष से कम की आयु वाले लड़के और 14 वर्ष से कम आयु वाली लड़की का विवाह दण्डनीय अपराध कर दिया गया। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियो और शिक्षा ने विना किसी प्रयास के ही लडके और लडकियो की वैवाहिक आयु सुधारको और कानून-निर्माताओं की आशा से भी अधिक वढा दी है। सामाजिक परम्परा के अनुसार विभिन्न वहानो की आड मे हिन्दू पति अपनी पत्नी के जीवित रहने पर भी अन्य विवाह कर सकते थे और अनेक ने किये भी, परन्तु शिक्षा-प्रचार व प्रगति के साथ-साथ सामाजिक दृष्टिकोण वदल गया और इस प्रथा का प्रायः अन्त हो चुका है।

4. **विधवा-विवाह आन्दोलन**—अठारहवी शताब्दी के मध्य मे हिन्दू समाज मे विधवा-विवाह को प्रचलित करने के लिए प्रयास किया गया, पर वह असफल रहा। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1802–1891 ई०) ने विधवा-विवाह के लिए तीव्र आन्दोलन किया और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारत सरकार के पास एक निवेदन-पत्र भी भेजा। उनके भगीरथ-प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 1856 ई० मे एक कानून बना जिसके अनुसार विधवा-विवाह कानूनी मानकर विवाहित विधवाओ की सन्तान की वैधता (legitimacy) घोषित कर दी गयी। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने विधवा-विवाह को लोकप्रिय वनाने के हेतु दिव्य प्रयास किये। सभी प्रान्तो मे विधवा-विवाह-आन्दोलन के समर्थक होने लगे। 1861 ई० मे स्थापित वम्वई की विधवा-विवाह-संस्था, अहमदावाद मे प्रारम्भ की गई विधवा-पुर्नविवाह-सस्था, मैसूर का महारानी स्कूल, पजाव मे पवित्र सस्था और लखनऊ की हिन्दू विवाह सुधार लीग, सभी ने विधवाओ की दयनीय दशा को सुधारने के लिए प्रशंसनीय कार्य किये। अनेक प्रगतिशील उदार विचार वाले दानशील व्यक्तियो ने विधवाओ के लिए आश्रमों की व्यवस्था की एव उनकी शिक्षा आदि का प्रवन्ध भी किया। शालाओ, अस्पतालों तथा अन्य संस्थाओ मे शिक्षित विधवाओ को नौकरियाँ देकर उनके वैधव्य जीवन की जटिलता, नीरसता व यातनाओं को कम किया गया। समय-समय पर शिक्षित-वर्ग ने उनके विवाह भी कराये और विधवा-विवाह को सामाजिक दृष्टि से निष्कलंक वतलाकर प्रोत्साहित किया गया।

5. **स्त्री-शिक्षा व स्त्रियों की प्रगति**—प्राचीन भारत मे स्त्री-शिक्षा का प्रचार खूव था। मध्यकालीन भारत में यत्र-तत्र इसका अस्तित्व विद्यमान था पर मुगल साम्राज्य के पतन के वाद से ही स्त्री-शिक्षा को किसी प्रकार का प्रोत्साहन प्राप्त नही हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे फिर इस परम्परा की जाग्रति हुई और स्त्री-शिक्षा को नवीन प्रेरणा मिली। 1857 ई० के सिपाही-विद्रोह के पूर्व हिन्दू कन्याओ के लिए स्कूल स्थापित किये गये और ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ईसाई धर्म को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की पुत्रियो के लिए शालाएँ खोली। मई, 1849 ई० मे सर्वप्रथम कलकत्ता मे हिन्दू वालिका विद्यालय नाम से एक वालिका विद्यालय की स्थापना हुई। लार्ड डलहौजी ने इस वालिका विद्यालय के लिए रुपयों का अनुदान दिया। 1857

ई० तक लगभग सौ राजकीय महिला विद्यालयों की स्थापना हो गयी। सिपाही-विद्रोह के बाद सरकार तथा अनेक सामाजिक संस्थाओं, जैसे ब्रह्मसमाज, आर्य-समाज, थियोसोफीकल सोसाइटी, सरवेण्ट्स ऑव इण्डिया सोसाइटी से स्त्री-शिक्षा को खूब प्रोत्साहन मिला। दक्षिण शिक्षा-समिति ने भी स्त्री शिक्षा की समस्या हल करने के लिए महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की। 1907 ई० मे Indian Women's Association की स्थापना के बाद से स्त्री-शिक्षा की ही ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, अपितु उनकी साधारण दशा सुधारने के प्रयत्न भी किये गये। 1909 ई० में पूना मे श्रीमती रानाडे द्वारा स्थापित पूना सेवा सदन, 1908 ई० मे मालावारी द्वारा स्थापित सेवा सदन सोसाइटी और 1914 ई० मे Women's Medical Service ने नर्स और मिडवाइफ के प्रशिक्षण के लिए शिशु स्वास्थ्य रक्षा तथा मातृत्व की प्रगति के हेतु और विधवाओ को नौकरियाँ दिलाने के लिए प्रशसनीय कार्य किये। 1916 ई० में दिल्ली मे स्थापित लेडी हार्डिग मेडीकल कॉलिज स्त्रियों को एम० बी०, बी० एस० की शिक्षा दे रहा है और भारतीय रेडक्रॉस सोसाइटी का Maternity and Child Welfare Bureau भी महिलाओं को लाभप्रद सेवाओं की शिक्षा दे रहा है। इसके अतिरिक्त स्त्रियो के लिए अनेक विद्यालय और महाविद्यालय खोले गये और इस दिशा मे प्रतिदिन प्रगति होती जा रही है। निम्न-वर्गो मे स्त्रियो की उन्नति की ओर ध्यान दिया जा रहा है। यदि एक ओर निर्धन पुरुषों की भाँति उसी वर्ग की स्त्रियाँ अपनी जीविकोपार्जन हेतु मिलो में मजदूरी, अन्य सस्थाओ मे कार्य और खेतो मे काम कर रही है तो दूसरी ओर शिक्षित स्त्रियाँ विद्यालयो, शिशुगह, आश्रमो और अस्पतालों का सचालन कर रही है, प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय शासन सेवा मे प्रवेश कर रही है, सरकारी और गैर-सरकारी पदो के लिए चुनी जाने लगी है, और देश-विदेश मे भारत सरकार के राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व कर रही है। 1947 ई० के बाद स्त्रियाँ न्याय-विशेषज्ञ, मन्त्री और राजदूत भी होने लगी हैं। भारत के नवीन कानूनों और विधान से स्त्रियों को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाकर उन को आर्थिक स्वतन्त्रता दी गयी और समान अधिकार देकर समस्त लिंग-भेदो (sex differences) को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार साहित्य, शासन और स्वदेश रक्षा के क्षेत्र स्त्रियो के लिए समान रूप से खोल दिये गये।

6. **महिला मताधिकार आन्दोलन**—1917 ई० के पश्चात इस आन्दोलन को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई और स्त्रियाँ अनेक कौसिलो, सस्थाओ, कॉरपोरेशनों और म्युनिसिपैल्टियो मे सदस्य होने लगी। कतिपय ने भारतीय कॉग्रेस मे भाग लिया। उनसे सम्बन्धित मताधिकार की योग्यताएँ उदार कर दी गयी और उन्हे मत देने का अधिकार दिया गया। 1935 ई० के भारत सरकार के एक्ट ने स्त्रियो को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभा मे स्थान (seats) दिये। भारत के नवीन सविधान मे प्रत्येक वालिग स्त्री को मताधिकार दिया गया है।

7. **पर्दा-प्रथा का अन्त**—स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित ही पर्दा-प्रथा का उन्मूलन है। शिक्षित हिन्दू महिलाओ ने ही नही अपितु शिक्षित मुस्लिम महिलाओ ने भी पर्दा-प्रथा का वहिष्कार किया है। यद्यपि दक्षिण भारत मे इस प्रथा का अस्तित्व ही नही था, तथापि सारे देश मे सामान्य जाग्रति, शिक्षा आदि के प्रभाव से इस प्रथा का अन्त हो रहा है।

8. **दास-प्रथा का अन्त**—समाज में दासत्व एक भयंकर अभिशाप रहा है। 1811 ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने भारत मे दासों के आयात पर रोक लगा दी और 1832 ई० मे दासों का एक जिले से दूसरे जिले मे क्रय-विक्रय अपराध मान लिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के 1733 ई० के आज्ञापत्र (Charter) के द्वारा भारत मे दासता का अन्त कर दिया गया और 1834 ई० के कानून के अनुसार यह गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया तथा भारतीय दण्ड-विधान के अनुसार दास-व्यापार एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया।

9. **दलित-वर्ग की उन्नति**—आधुनिक युग वर्ग-व्यवस्था के सबसे अधिक विकृत स्वरूप, अछूतों की समस्याओ, मे व्यक्त हुआ। अछूत हिन्दू समाज के अंग होते हुए भी उससे वहिष्कृत माने जाने लगे। मन्दिरो, सार्वजनिक स्थानों, कुओं, उत्सवों, शालाओं आदि के उपयोग से हिन्दू वंचित कर दिये गये। दक्षिण भारत में सवर्ण हिन्दू अछूतो की छाया-मात्र के स्पर्श से ही अपने को अपवित्र मानने लगे। वे राजनीतिक नौकरियो, अधिकारो मे व मतो से भी वंचित कर दिये गये। दरिद्रता व अशिक्षा ने उनके नैतिक स्तर को अत्यधिक गिरा दिया। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक नियन्त्रणों, अयोग्यताओ व असुविधाओ के वोझ से वे कराहने लगे। अस्पृश्यता का कलंक हिन्दू समाज का उपहास करने लगा।

समाज-सुधार-आन्दोलन के फलस्वरूप दलित जातियों मे भी नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इनकी दशा सुधारने के लिए ईसाई धर्म-प्रचारको, ईसाई संस्थाओ, थियोसोफीकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन और विशेषकर आर्यसमाज ने खूब प्रयत्न किये। यदि ईसाई धर्म-प्रचारको ने अनेक अछूतो को ईसाई बना लिया तो आर्यसमाज ने 'शुद्धि' द्वारा उनमें से अनेक को पुनः हिन्दू समाज मे ले लिया। 1916 ई० मे बम्बई में स्थापित दलित वर्ग मिशन समाज (The Depressed Classes Mission Society of Bombay), गाँधीजी के हरिजन आन्दोलन, हरिजन सेवक संघ, 'हरिजन, पत्र व श्री गोखले के अनेक कानूनो ने दलित-वर्ग की उन्नति मे अमूल्य योग दिया है। इन्होंने उनकी शिक्षा को प्रोत्साहित किया, उनको काम दिलाया, धन्धो मे लगाया' उनकी सामाजिक अयोग्यताओ का निवारण किया, उदार धर्म के सिद्धान्तो की उन्हे शिक्षा दी, चरित्र द्वारा व्यक्तित्व-निर्माण और स्वस्थ नागरिकता का उपदेश दिया। स्वयं हरिजन भी अपने मानवीय अधिकारों के लिये आन्दोलन करने लगे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे अछूतो की दशा अपेक्षाकृत सुधरने लगी। अनेक मन्दिर तथा सार्वजनिक स्थान हरिजनो के लिए खोल दिये गये, उनके लिए शिक्षा का भी समुचित प्रवन्ध कर दिया गया, सरकारी नौकरियो मे प्रवेश करने के लिए उन्हे विशेष सुविधाएँ दी गयी और भारत के नये विधान मे उन्हे सभी प्रकार के अधिकार देकर भारत से अस्पृश्यता को सदैव के लिए विनष्ट करने का प्रयास किया गया। परन्तु दलित-वर्गो की आर्थिक दशा आज भी सन्तोषप्रद नही है।

10. **जाति-प्रथा की शिथिलता**—आधुनिक युग मे और विशेषकर बीसवी शताब्दी मे जाति-प्रथा की जटिलता वहुत कुछ ढीली हो गयी और उसके नियन्त्रणों मे शिथिलता आ गयी। पहले खान-पान और विवाह के विषय मे जातीय वन्धनो में जकड़ा हुआ हिन्दू अपना पैतृक पेशा भी नही छोड सकता था और विदेशियो के सम्पर्क से दूषित होने के भय से जलपोत द्वारा विदेशी-यात्रा भी नही कर सकता था। शिक्षित-वर्ग ने क्रमश. इन नियमो की उपेक्षा करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम, खान-

पान और समुद्र-यात्रा के बन्धन तोड़े गये। रेल व मोटरों में प्रवास की आवश्यकताओं, आधुनिक औषधियों के सेवन, होटलों के खान-पान, आधुनिक शिक्षा व उदार पाश्चात्य विचारों ने जातियों के छुआछूत और खान-पान के बन्धनों को शिथिल कर दिया। समूचे देश मे एक कानून लागू होने तथा समानता के सिद्धान्त का पालन होने से प्राचीन जाति-भेद समाप्त हो गया और कानून द्वारा अनेक प्रान्तों मे जाति-बहिष्कार दण्डनीय अपराध बना दिया गया। देश के सभी भागों में विभिन्न जातियों मे पारस्परिक खान-पान और अन्तर्जातीय विवाह को खूब प्रोत्साहन मिलता रहा। आर्थिक परिस्थितियों के प्रहार से विवश होकर अनेक लोग अपने पैतृक धन्धों को छोड़कर विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को स्वतन्त्रतापूर्वक करने लगे हैं। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के प्रतिबन्ध अपेक्षाकृत शिथिल हो गये हैं, पर उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है।

11. **संयुक्त परिवार-प्रथा**—परिवर्तित दशा में संयुक्त परिवार की व्यवस्था भी बदल गयी। कुटुम्ब के विभिन्न लोगों की नौकरी, वाणिज्य या उद्योग और स्थानाभाव के कारण एक ही परिवार के लोगों को विभिन्न स्थानों में रहना पड़ता है। परिवार के सदस्यों की आय व धन्धे में अन्तर होने के कारण परिवार में प्रचलित उदारता, स्नेह, सहयोग व सहायता का अन्त हो गया। स्वतन्त्रता, समानता और व्यक्तिवाद की पाश्चात्य विचार-शृङ्खलाओं के कारण संयुक्त परिवार-व्यवस्था को भारी आघात लगा और भारत में यह द्रुत गति से लुप्त होती जा रही है।

साहित्यिक जाग्रति

आधुनिक युग मे धार्मिक तथा सामाजिक जाग्रति के साथ-साथ साहित्यिक जाग्रति भी हुई। इसके अधोलिखित कारण है :

(1) भारतीय नवाभ्युत्थान के कारण संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेजी मे हुआ। अंग्रेजो द्वारा संस्कृत के अध्ययन से भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ। इससे हमे भारत के लुप्त गौरव का प्रामाणिक परिचय मिला और अंग्रेजी शिक्षित समाज ने भारतीय संस्कृति को अंग्रेजी भाषा के द्वारा समझा। फलस्वरूप, भारतीय संस्कृति की विभिन्न विचारधाराओं को पुन. प्रकट करने और भारत के गौरवमय अतीत को व्यक्त करने के लिए देशी भाषाओ की विभिन्न शाखाओ का आश्रय लिया गया।

(2) जीवन और समाज के समस्त क्षेत्रो मे सम्पूर्ण सुधार करने की प्रबल भावना ने साहित्य मे एक नवीन प्रेरणा दी।

(3) विश्व के विभिन्न देशो के सम्पर्क तथा पाश्चात्य देशो के साहित्य के अध्ययन से देशी भाषाओ मे परिवर्तन होने लगा और उनमे आधुनिकता का समावेश हो गया।

(4) अठारहवी शताब्दी मे युद्ध से उत्पन्न अशान्त वातावरण के पश्चात उन्नीसवी शताब्दी मे अंग्रेजी शासन ने भारत में शान्ति और सुव्यवस्था के वातावरण का निर्माण कर दिया था। इससे भारतीयों को अपने साहित्य के विषय मे सोचने और अपने श्रेष्ठ विचारो को अभिव्यक्त करने के अवसर प्राप्त हुए।

(5) अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार से भारत का वौद्धिक जागरण ही नही हुआ, अपितु इस शिक्षा ने भारतीयो के समक्ष साहित्यक्षेत्र के नवीन विचार और आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किये।

(6) मुद्रणालयो के अधिकाधिक प्रचार से पुस्तको की संख्या और प्रसार ही नही बढा, अपितु ज्ञान-कोष मे भी वृद्धि हुई। साहित्य को देश-काल के अनुसार वनाने व उसमे उन्नति करने मे वडी सुगमता हो गई। पत्र-पत्रिकाओं का नवीन मार्ग खुल गया और प्राय: सभी विपयो पर देशी भापाओ मे पुस्तके प्राप्त होने लगीं। इसके अतिरिक्त प्रतिभावान व बुद्धिशाली हिन्दू, यूरोप के इतिहास व साहित्य मे जो कुछ श्रेष्ठ व स्वस्थ था, उसके सम्पर्क मे आये और उससे उन्होने लाभ उठाया।

(7) ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ईसा का सन्देश भारतीय जनता तक पहुँचाने के लिए लोक-भाषाओ की प्रगति की ओर अधिक ध्यान दिया। कलकत्ता के पास सिराम-पुर के व्रेप्टिस्ट धर्म-प्रचारको ने वंगला, हिन्दी आदि. लोक-भापाओ के मुद्रणालय स्थापित किये और देशी भापाओ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके व्याकरण और शव्द-कोप निर्मित किये। प्राचीन सुविकसित देशी भाषाओ के अतिरिक्त इन्होने छोटी और अविकसित भाषाओ को भी ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अपनाया। इस प्रकार इन धर्म-प्रचारको ने लोक-भापाओं का आधुनिक स्वरूप निश्चित किया, उनके साहित्य को अपनाया और इस भारतीय लोक-साहित्य की वहुमूल्य सेवाएँ कीं।

(8) वीसवी शताव्दी के प्रारम्भ मे राष्ट्रीय जाग्रति और स्वतन्त्रता-आन्दोलन के कारण लोक-भाषाओं को खूव प्रोत्साहन मिला।

विकसित लोक-साहित्य की विशेषताएँ—उपरोक्त कारणो से पिछले सौ वर्षों में सभी प्रान्तीय भापाओ के साहित्य मे उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी गयी। साहित्य की विविध शाखाएँ—उपन्यास, नाटक, काव्य, निवन्ध, कहानी आदि अधिक सम्पन्न हो गयी। इस साहित्यिक प्रगति मे भी श्रेणियाँ रही। सर्वप्रथम, जिन्हे अग्रेजी मे शिक्षा प्राप्त हुई थी, वे लोक-भाषाओ मे यूरोप की साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनाने लगे और देशी भापाओ में अंग्रेजी पुस्तको का अनुवाद करने लगे। उन्होने अपनी विचार-धाराओ व शैली मे कोई परिवर्तन नही किया। कुछ समय वाद साहित्य मे नवीनता को स्थान दिया गया और साहित्य की विभिन्न शाखाओ मे प्रगति हुई। साहित्य मे भारतीयता की झलक दीखने लगी। पर साहित्यिकों की शैली व विचारधारा पाश्चात्य ही रही। नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, ऐतिहासिक वर्णन आदि मे अग्रेजी साहित्य की छाप स्पष्ट प्रकट होने लगी। एकाकी नाटक, अतुकान्त कविताएँ, चतुर्दशपदियाँ (Sonnets), छायावाद, रहस्यवाद आदि इसके उदाहरण है। देशी भाषाओ के साहित्य में विचारधारा, शैली और विषयो का चुनाव अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य से प्रभावित हुआ। गद्य के क्षेत्र मे भी पाश्चात्य गद्य-शैली का प्रभाव झलकता है। वास्तव मे हमारा गद्य साहित्य अग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद से प्रारम्भ होता है। कुछ समय पश्चात हमारी भाषाओ का गद्य साहित्य पाश्चात्य नमूने पर निर्मित हुआ।

वीसवी शताव्दी के प्रारम्भ से राष्ट्रीय जागरण और स्वतन्त्रता-आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना की धारणाएँ उत्पन्न हुई। राष्ट्रीयता की इस लहर ने देशी भाषाओ के साहित्य को श्रेष्ठतम मानवीय, विचारधाराओ से सम्पन्न किया। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ इसके पथ-प्रदर्शक थे।

उपरोक्त बातो के अतिरिक्त हमारी देशी भाषाओं के साहित्य में लचीलापन, विभिन्नता, प्राकृतिक धारावाही प्रवाह, मधुरता और आधुनिकता उत्पन्न हो गई। भाषाओं के कोप अधिक विस्तृत हो गये और भाषाओं में इतनी अधिक स्पष्टता, सरसता, पवित्रता, निर्दिष्टता और शक्ति आ गई कि आधुनिक युग के विविध विषय और विभिन्न विचारधाराओ की अभिव्यक्ति सरलता से हो सकी।

हिन्दी—यद्यपि हिन्दी साहित्य का इतिहास अति प्राचीन है परन्तु उसका वास्तविक आधुनिक साहित्यिक रूप अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ। इस आधुनिक युग मे हिन्दी साहित्य की विचारधारा लौकिक व पारलौकिक दोनों ही थी। इस काल मे गद्य का विकास व विस्तार हुआ, भाव का नवीन रूप और धार्मिक भावनाओ का आधुनिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जीवन के समस्त विभागो पर साहित्य में दृष्टिपात हुआ, वर्णनात्मक और नीतिकाव्य की प्रधानता रही, साहित्य के सभी क्षेत्रों मे राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात हुआ और क्रियात्मक साहित्य का प्रणयन हुआ।

यद्यपि हिन्दी साहित्य मे ब्रजभाषा का बोलबाला रहा, पर आधुनिक युग में खडी बोली का प्रचार बढता गया और अठारहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में 'सुखसागर' के लेखक सदासुखलाल और 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक इंशाअल्लाखाँ खडी बोली के लेखक थे। हिन्दी गद्य का विकास उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ, जब 'प्रेमसागर,' 'सिंहासन बत्तीसी' के लेखक लल्लूलाल और 'नासिकेतोपाख्यान' के रचयिता सदल मिश्र विद्यमान थे। इसी समय कैरी की हिन्दी की बाइबिल के कुछ अंश (New Testament) का प्रकाशन 1809 ई० मे हुआ और 1818 ई० में सम्पूर्ण बाईबिल का हिन्दी रूपान्तर छाप दिया गया। कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलिज में मुद्रणालय और 1837 ई० में दिल्ली में मुद्रणालय हो जाने से हिन्दी पुस्तको का प्रकाशन तीव्र गति से होने लगा। पर इस समय हिन्दी की कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। यह हिन्दी गद्य का शैशवकाल था। हिन्दी गद्य के प्रसार मे ईसाइयों का बहुत कुछ योग रहा। सर्वप्रथम, हिन्दी मे शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें उन्होंने तैयार की। इसके बाद हिन्दी मे 1830 ई० मे राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत', जुगलकिशोर ने 1827 ई० मे 'उदन्त मार्तण्ड' और राजा शिवप्रसाद ने 1846 ई० मे 'बनारस अखबार' काशी से निकाला। इस समय साहित्यिक क्षेत्र में दो समुदाय हो गये। एक हिन्दी में उर्दूपन के पक्ष में था दूसरा विशिष्ट हिन्दी के पक्ष में। राजा शिवप्रसाद प्रथम और लक्ष्मन सिंह द्वितीय के समर्थक थे। परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1851–1886 ई०) ने शुद्ध हिन्दी का प्रयोग कर अपनी प्रतिभा व सद्भावना से हिन्दी को सुव्यवस्थित और परिमार्जित कर दिया। उन्होने भाषा को 'चलताऊ, मधुर और स्वच्छ' बनाया और वास्तव में वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य को नये मार्ग पर लाकर खडा कर दिया। भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली', 'अन्धेर नगरी,' 'भारत दुर्दशा' जैसे मौलिक नाटक लिखे, 'कर्पूर मंजरी,' 'मुद्राराक्षस' आदि नाटको का हिन्दी मे अनुवाद किया, कई पत्रो का सम्पादन किया, ब्रजभाषा में कविताएँ लिखी और 'काश्मीर कुसुम' तथा 'बादशाह दर्पण' इतिहास लिखे। इस प्रकार उन्होने अपने विविध लेखो और विभिन्न रचनाओ से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया और तरुण लेखकों को साहित्यिक प्रेरणा दी। भारतेन्दु के मार्ग का अनुसरण करने वालों मे प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय, पण्डित बद्रीनारायण चौधरी, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवासदास, पण्डित बालकृष्णभट्ट, पण्डित

अम्बिकादत्त व्यास और गदाधरसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं, प्रतापनारायण की रचनाओं मे विनोदप्रियता विशेष थी। उनकी प्रतिभा 'हठी हम्मीर,' 'सगीत शाकुन्तल' 'गौसकट नाटक' और विविध प्रकार के निबन्धो मे प्रकट हुई है। बालकृष्ण भट्ट निबन्ध-लेखक व आलोचक के रूप मे प्रकट हुए। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य साहित्य मे वही काम किया जो अग्रेजी गद्य साहित्य मे एडीसन व स्टील ने किया था।

अब हिन्दी गद्य साहित्य के उत्थान का द्वितीय युग (1869-1584 ई०) प्रारम्भ होता है। इस काल मे बग भाषा की ओर अधिक झुकाव रहा, उसके ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी मे किया गया जिससे परिमार्जित व सुन्दर सस्कृत पदविन्यास की परम्परा हिन्दी मे आयी। साथ ही व्याकरण की शुद्धता और भाषा की स्वच्छता की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। इसके प्रवर्तक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। उनकी प्रेरणा से हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि हुई और अभिव्यजना-प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ। समालोचना की दृष्टि से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रथम विस्तृत आलोचना का मार्ग निकाला और मिश्र-बन्धुओ और पद्मसिह शर्मा ने आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। शर्माजी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस युग मे मौलिक नाटको की रचना कम हुई परन्तु बगला के नाटको का और विशेषकर द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्र बाबू के नाटको तथा सस्कृत व अंग्रेजी के नाटको का अनुवाद हुआ। इसी प्रकार बगाल के उपन्यासो का भी हिन्दी अनुवाद खूब हुआ। परन्तु बाबू देवकीनन्दन खत्री और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी ने हिन्दी मे मौलिक उपन्यास लिखे। बाबू देवकीनन्दन के प्रभाव से तिलिस्म और ऐटारी के उपन्यासो की हिन्दी मे बहुत दिनो तक भरमार रही।

हिन्दी साहित्य का प्रचार और उसको समृद्धि के हेतु 1894 ई० मे बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिह के प्रयत्नो से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई जो आज भी विद्यमान है। इस सभा के स्थापित हो जाने के बाद से हिन्दी मे नाटक, उपन्यास, इतिहास, निबन्ध, समालोचना तथा वैज्ञानिक विषयो पर पुस्तके व पत्र-पत्रिकाएँ बडी सख्या में निकलने लगी।

बीसवी शताब्दी मे हिन्दी गद्य साहित्य मे एक नवीन युग प्रारम्भ होता है। युग मे हिन्दी साहित्य के विभिन्न अगो की अरबी पूर्ति हुई और साहित्य पुष्ट तथा प्रौढ हो चला। यद्यपि प्रारम्भ मे नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, काव्यस्वरूप, मीमासा आदि समस्त क्षेत्रो मे पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा, पर धीरे-धीरे मौलिकता की झलक दृष्टिगोचर होने लगी। गल्प और उपन्यासक्षेत्र मे प्रेमचन्द, जयशकर प्रसाद, जैनेन्द्रकुमार, बेचन शर्मा उग्र, चण्डीप्रसाद, सुदर्शन, विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक,' चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास आदि प्रमुख लेखक है। इनमे प्रेमचन्द सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उनके मौलिक उपन्यासो मे निम्न व मध्यम श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का सच्चा स्वरूप मिलता है। चरित्र-चित्रण और व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो का मार्मिकता से वर्णन करने मे प्रेमचन्द अद्वितीय रहे। उनके उपन्यास 'सेवासदन,' 'गोदान' व 'गबन' हिन्दी साहित्य की निधि है। ऐतिहासिक उपन्यास-क्षेत्र मे 'गढ़ कुण्डार' और 'झाँसी की रानी' के लेखक वृन्दावनलाल वर्मा प्रसिद्ध है। वर्तमान नाटकक्षेत्र मे स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद और श्री हरिकृष्ण प्रेमी अधिक प्रसिद्ध

है। प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त,' 'जनमेजय का नागयज्ञ,' ध्रुवस्वामिनी,' 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रख्यात है और प्रेमीजी का 'रक्षा-बन्धन'। हिन्दी के कई अच्छे कवियों और नाटककारो ने कुछ एकाकी नाटक भी लिखे है। विश्वविद्यालयों के उपयुक्त निबन्ध भी लिखे गये। इनके अतिरिक्त निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक ढंग से विस्तृत आलोचकों में लाला भगवानदीन, रामचन्द्र शुक्ल व श्यामसुन्दरदास विशेष उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक ब्रजभाषा में कविता होती रही। परन्तु भारतेन्दु ने गद्य के समान काव्य ब्रजभाषा को भी परिष्कृत कर दिया। ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियो मे लाला सीताराम, जगन्नाथदास 'रत्नाकर,' श्रीधर पाठक, वियोगी हरि और लाला भगवानदीन अधिक प्रसिद्ध है। बीसवी शताब्दी के आरम्भ होते-होते खड़ी बोली मे भी कविता होने लगी और कार्यक्षेत्र मे एक नवीन धारा प्रवाहित हुई एवं कवि नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त हुए। उससे काव्यत्व का श्रेष्ठ स्फुरण हुआ। आधुनिक काव्यक्षेत्र में 'प्रियप्रवास' के लेखक अयोध्यासिंह 'हरिऔध,' 'रामचरित चिन्तामणि' के रचियता रामचरित उपाध्याय और 'साकेत' तथा 'यशोधरा' के रचयिता मैथिलीशरण गुप्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैथिलीशरण गुप्त प्रतिनिधि और सामंजस्यवादी कवि माने जाते है। विश्वयुद्ध के पश्चात हिन्दी काव्यक्षेत्र मे 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अनुसार कवि-कल्पना प्रत्यक्ष जगत से अलग एक रमणीक स्वप्न घोषित की जाने लगी और कवि सौन्दर्यभावना के मद मे झूमने वाला एक लोकातीत जीव। इस 'वाद' मे अभिव्यजनाप्रणाली तथा शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गयी। इस क्षेत्र मे कवि जयशकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला,' सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा है। प्रसादजी की काव्य-प्रतिभा 'आंसू,' 'लहर' और 'कामायनी' मे अभिव्यक्त हुई, निरालाजी की प्रसिद्धि 'तुलसीदास,' पन्तजी की 'पल्लव,' 'गुंजन, 'युगान्त,' और 'युगवाणी' एव महादेवी वर्मा की 'यामा' मे निहित है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपने यहाँ देवनागरी लिपि मे लिखी हिन्दी को प्रान्तीय भाषा घोषित कर दिया। उसका अनुकरण बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश ने भी किया। संविधान मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया गया और अब हिन्दी को विभिन्न भाषा-भाषी राष्ट्रभाषा के रूप मे अपना रहे हैं।

उर्दू—अपने प्रारम्भिक विकास मे उर्दू भाषा अरबी व फारसी की अत्यन्त ऋणी रही है। आधुनिक युग मे अरबी व फारसी के प्राचीन ग्रन्थों मे अच्छे-अच्छे संस्करण भारत में प्रकाशित होने लगे, जिनका व्यापक प्रचार अफगानिस्तान, ईरान तथा अन्य मुसलमानी राज्यो मे हो रहा है। भारत मे 'मदरसतुल आलिया,' कलकत्ता, 'दारुल-उलूम', देवबन्द (सहारनपुर) और 'नदवतुल उलमा' लखनऊ जैसे विद्यालयों मे अरबी तथा फारसी की अच्छी व्यवस्था रही है। इनमे भारत से बाहर के देशों के विद्यार्थीगण भी शिक्षा पाते हैं। पर आधुनिक ब्रिटिश शासनकाल अरबी, फारसी की अपेक्षा उर्दू की उन्नति के लिए ही अधिक प्रख्यात है।

दिल्ली के मुगल सम्राटों की उन्नति और अवनति के साथ उर्दू की भी उस स्थान में विशेष उन्नति और अवनति होती रही। मुगल बादशाहो की अवनत दशा में भी दर्द, सोज और सौदा जैसे कवियों ने कुछ समय तक उनके दरबार मे अपनी अनुपम रचनाओ द्वारा बड़ा यश प्राप्त किया। दर्द ने उर्दू कविता को 'भाषा दोहारो'

के प्रभाव से मुक्त किया और अपनी श्रेष्ठ सूफी विचारधाराओ से गम्भीर बना दिया। सोज ने गजलें लिखकर बड़ी कीर्ति प्राप्त की। सौदा ने उर्दू में हिन्दी शब्दो की बड़ी काट-छाँट कर उर्दू काव्य मे 'कसीदा' अर्थात हास्य-रस की रचनाओ का प्रचार किया। मीर तकी की प्रसिद्धि दिल्ली के मुगल सम्राट के दरबार मे हुई थी। उर्दू गजलो का यह 'शेखसादी' कहा जाता है। इसकी गजले दूर-दूर तक लोग भेट की तरह ले जाया करते थे। मीर ने बहुत-सी 'मसनवियाँ' और 'कसीदे' भी लिखे है। शाह आलम के दरबार के कवि सैयद इंशाअल्लाहखाँ उर्दू तथा हिन्दी दोनो मे कविता करते थे। इनमे हास्य-रस की मात्रा अधिक थी। मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय अपना उपनाम 'आफताब' रखकर कविता करते थे। इसी प्रकार अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय भी 'जफर' उपनाम से कविता करते थे। इनके समय मे गालिब और जौक जैसे कवियो से दिल्ली दरबार साहित्य की दृष्टि से देदीप्यमान हो उठा। जौक ने उर्दू भाषा को परिष्कृत बनाया और 'कसीदा' एव 'गजल' मे अच्छा यश प्राप्त किया। गालिब उच्चकोटि के उर्दू के कवि थे। उन्होने उर्दू के साहित्यिक स्तर को एकदम ऊँचा उठा दिया। गालिब की रचनाएँ श्रेष्ठ विचारो से ओत-प्रोत और मौलिक है। उर्दू के गद्य और पद्य दोनो मे ही उन्हे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। गालिब 'उर्दू के तुलसी या सूर' है।

मुगल सम्राटों की दशा बिगड जाने पर अनेक कवियो ने लखनऊ के नवाबों का आश्रय लिया और इस प्रकार लखनऊ मे उर्दू का एक नवीन साहित्यक्षेत्र खुल गया। लखनऊ में नासिख और आतिश ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। लखनऊ काव्यक्षेत्र में नासिख की कविता सनद मानी जाती है। इन्होने विशेषत. गजले ही लिखी है और कुछ तारीखे भी। आतिश की कविता मे प्रसाद, सुकुमार्य-गुण, नैसर्गिकता, भावों की उच्चता, गाम्भीर्य, धार्मिक विचारादि अधिक है। लखनऊ मे 'मर्सियों' का बड़ा प्रचार हुआ। 'मर्सिये' शोक-गीतो को कहते है जो मृत की प्रशंसा या स्मृति में लिखे जाते है। इन 'मर्सियो' मे कही-कही मर्मस्पर्शी भाव प्रकट किये गये है। मर्सियो का उर्दू साहित्य मे विशेष स्थान है। इसके कारण उर्दू साहित्य में लम्बी-लम्बी कविताओं का सूत्रपात हुआ जिनमे प्राकृतिक दृश्यो तथा मनुष्य के मानसिक विचारो का अच्छा वर्णन होने लगा। उर्दू साहित्य मे वीर-रस की कविताओ के अभाव को 'मर्सियो ने पूरा किया। लखनऊ के अनीस, दबीर आदि ने 'मर्सियो' में खूब ख्याति प्राप्त की। उर्दू साहित्य को गन्दा करने वाली 'रेखती' कविता का प्रचार लखनऊ के व्यसनी दरबार में अधिक हुआ। अवध के अन्तिम बादशाह वाजिदअली को इस कविता का बड़ा शौक था।

लखनऊ मे आश्रयदाताओं के राज्य-भ्रष्ट होने पर उर्दू कविता का केन्द्र रामपुर बन गया। रामपुर के नवाबो यूसुफअलीखाँ और कल्बअलीखाँ स्वय विद्वान और कवि थे एवं गुणियो के उदार आश्रयदाता थे। रामपुर के बाद हैदराबाद, भोपाल, पटना, टोंक, फर्रुखाबाद, मुर्शिदाबाद आदि स्थान उर्दू साहित्य के केन्द्र हो गये। आधुनिक युग मे अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य का प्रभाव उर्दू पर पड़ा और उर्दू कविता की गतिविधि बदलने लगी। केवल शृंगार-रस को छोड़कर इसका भी प्रवाह समाज और देश की ओर हो गया। कवियो की प्रवृत्ति नवीन विषयों की ओर झुकी, स्वाभाविक वर्णन को विशेषता दी जाने लगी और गजलो का स्थान 'मुसद्दस' तथा 'मसनवियों ने ले लिया। आजाद और हाली के साथ उर्दू साहित्य में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। उर्दू

साहित्य के इतिहास में आजाद का स्थान अनूठा और उच्च है। ये उर्दू के अमर कवि तथा गद्य-लेखक हे। इनकी गद्य-लेखन-शैली निज की है और कविता को नवीन ढग देने के ये उन्नायक है। हाली का भी कवि, समालोचक तथा गद्य-लेखन की दृष्टि से उर्दू साहित्य के इतिहास मे बहुत ऊँचा स्थान है। हाली की कविताएँ प्रकृति-सौन्दर्य और सामाजिक समस्याओ से सम्बन्धित हैं। उर्दू काव्य के क्षेत्र मे अकबर इलाहाबादी, डॉ० सर मुहम्मद इकबाल, 'हाफिज' जालन्धरी और 'जोश' मलीहाबादी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अकबर अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। परन्तु जीवन के दृष्टिकोण और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम मुहम्मद इकबाल ने किया। प्रारम्भ मे इनकी रचनाओ मे उदार राष्ट्रीयता थी परन्तु बाद मे इनकी कृतियाँ सकीर्ण साम्प्रदायिकता से कलुषित हो गयी।

उर्दू गद्य की उन्नति सर्वप्रथम कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलिज मे हुई। इस कॉलिज के प्रथम प्रिंसीपल डॉ० जॉन बॉर्टविक गिलक्राइस्ट ने अनेक योग्य विद्वानों को एकत्र करके उर्दू की कुछ पुस्तकें लिखवायी। 1839 ई० से उर्दू को अदालती भाषा बना देने से उत्तर भारत मे इसका खूब प्रचार हुआ। आधुनिक उर्दू गद्य-परम्परा के प्रवर्तन में गालिब और सर सैयद अहमदखाँ का नाम उल्लेखनीय है। गालिब के पत्र, भूमिकाएँ और आलोचनाएँ प्रसिद्ध है। गालिब ने गद्य की उन्नति मे खूब भाग लिया। सर सैयद अहमदखाँ ने प्रभावोत्पादक सरल अखबारी भाषा का प्रचार किया और विविध विषयो पर उन्होने लेख लिखे। उर्दू साहित्य मे सर सैयद अहमदखाँ का स्थान अद्वितीय है। अनेक लेखको ने इनकी शैली का अनुकरण किया। इसके अतिरिक्त मौलवी अल्ताफ हुसैन 'हाली' और मौलाना शिबली ने भी गद्य के विकास मे अपनी रचनाओ द्वारा खूब योग दिया। कालान्तर में लखनऊ से भी गद्य साहित्य का उत्कर्ष हुआ। पण्डित रतननाथ 'सरशार' और मौलवी अब्दुल हमीद जैसे उपन्यासकारो और मौलाना मुहम्मद हुसैन ने उर्दू गद्यक्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। पाश्चात्य सम्पर्क से उर्दूक्षेत्र मे नाटक का प्रारभ हुआ और पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटको की सख्या बढने लगी। बंगला, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओ के नाटकों के भी अनुवाद किये गये। 'बेताब' काश्मीरी, तुलसीदत्त, 'शैदा', हरिकृष्ण जौहर, मुंशी जगनकिशोर, इब्राहीम, गणहूर हकीम अहमदशुजा आदि उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार है। उर्दू मे गल्प और उपन्यास के क्षेत्र मे हिन्दी, बगला आदि के अनूदित ग्रन्थो के अतिरिक्त स्वतन्त्र मौलिक उपन्यास व गल्प भी लिखे गये। वजीर अहमद, आजाद, सरशार, मिर्जा मुहम्मद हादी, मुंशी धनपतराय (प्रेमचन्द) आदि इस क्षेत्र मे प्रसिद्ध है। उर्दू पत्रकारिता ने भी अब विशेष प्रगति की है। आजकल अलीगढ और हैदराबाद उर्दू साहित्य के मुख्य केन्द्र है। अलीगढ के मुस्लिम विश्वविद्यालय ने उर्दू की ओर विशेष ध्यान दिया, हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाकर उसकी प्रभूत प्रगति की गयी और औरंगाबाद मे 'अंजुमन तरक्की उर्दू' ने अच्छा साहित्य प्रकाशित किया है। (ब्रजरत्नदास कृत 'उर्दू साहित्य का इतिहास' और रामबाबू सक्सेना कृत 'हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर')।

बंगला—बंगला साहित्य का आरम्भ कई शताब्दियों पूर्व हुआ था। मध्यकालीन युग मे सन्त भक्तो ने अपने भक्ति साहित्य से इसे सुसम्पन्न किया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ मे पश्चिम बंगाल मे नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द की राजसभा बंगला मे कवियो का प्रमुख स्थान था। इन कवियो में रामप्रसाद एव 'आनंदमंगल' व

'विद्या-सुन्दर' के रचयिता भारतचन्द्र राय गुणाकर प्रधान थे। भारतचन्द्र की कृतियों मे संस्कृत शब्दो व छन्दो का बाहुल्य है। पूर्व बंगाल में इसी युग मे विक्रमपुर के नरेश राजवल्लभ की राजसभा मे जयनारायण सेन एव उनकी भतीजी आनन्दमयी ने बड़ा यश प्राप्त किया था। ग्राम-साहित्य की प्रगति भी भजन-कीर्तन, यात्रा और 'कवि-वालाओं' द्वारा हो रही थी। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे चन्द्रनगर मे ऐण्टनी नाम का एक पुर्तगाली बडा प्रसिद्ध 'कविवाला' था। इसी समय करमअली और अलीराज जैसे मुसलमानो ने भी मधुर गीतो की रचना बगला मे की।

बंगला गद्य का विकास उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से होता है। इस समय सेरामपुर (श्रीरामपुर) के ईसाई धर्म-प्रवर्तकों और फोर्ट विलियम कॉलिज, कलकत्ता के पण्डितों और मौलवियो ने बगला मे आधुनिक गद्य साहित्य के निर्माण का प्रयास किया। डॉक्टर केरी, मार्शमैन, वार्ड और ग्रेसी हॉलहेड ने बंगला मे कई पुस्तकें निकाली। फोर्ट विलियम कालिज मे शिक्षा के लिए बगला के विधिवत अध्ययन और अध्यापन का प्रबन्ध किया गया और प्राय सभी विषयो पर बंगला में पुस्तकें लिखी गयी। परन्तु राजा राममोहन राय ने प्रभावोत्पादक गद्य-शैली का विकास किया। इसीलिए वे आधुनिक बंगला साहित्य के 'गद्य के पिता' कहे जाते है। परन्तु उनकी भाषा मे फारसी शब्दो का बाहुल्य था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बगला को संस्कृत का पुट देकर आधुनिक रूप प्रदान किया। अक्षय कुमार दत्त ने भी अपने निबन्धों द्वारा गद्य के विकास मे सहयोग दिया। ब्रह्मसमाज के अनेक कर्मठ कार्यकर्ताओ ने, जैसे देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र सेन, पण्डित शिवनाथ शास्त्री आदि ने श्रेष्ठ धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। अब तक बंगाल मे अंग्रेजी राज्य और पाश्चात्य शिक्षा के कारण आचार-विचार और रहन-सहन में बडा परिवर्तन हो गया था। समाज-सुधार ने जोर पकड़ा और देशभक्ति ने नवीन प्राण फूँक दिये। इसके साहित्य ने राष्ट्रीयता के क्षेत्र मे पदार्पण किया और इसके साथ-साथ बगला साहित्य मे पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा।

बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार, बंकिमचन्द्र चटर्जी, जिनकी रचनाओ मे प्राचीन और अर्वाचीन भारत का सुन्दर समन्वय है, नवीन विचार और शैली के प्रणेता हैं। इनके समय से बंगला साहित्य के नवीन युग का श्रीगणेश होता है। उन्होने तत्कालीन बंगला के भद्देपन को दूर कर उसे परिष्कृत किया एवं उसे श्रेष्ठ विचारो की अभिव्यक्ति के योग्य बना दिया। उनके बाद उपन्यास के क्षेत्र में उमेशचन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णकुमारी घोषाल, तारकचन्द्र गंगोली, पण्डित शिवनाथ शास्त्री आदि ने खूब यश प्राप्त किया। बीसवी शताब्दी मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरतचन्द्र चटर्जी ने उपन्यास-क्षेत्र मे अद्वितीय सफलता प्राप्त की। उनके उपन्यासो का अनेक भाषाओ मे अनुवाद हो चुका है। निबन्ध-क्षेत्र मे कालीप्रसन्न घोष, राजकुमार मुकर्जी, चन्द्रनाथ वसु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि ने अपनी रचनाओ से बंगला के वैभव मे वृद्धि की है। नाटकों के क्षेत्र मे रामनारायण तर्करत्न ने 1854 ई० मे 'कुलीन कुल सर्वस्व' नामक प्रथम मौलिक नाटक बगला मे लिखा। इसके बाद 'तिलोत्तमा' और 'शर्मिष्ठा' नाटक के रचयिता माइकेल मधुसूदन दत्त, 'नील दर्पण' के लेखक दीनबन्धु मित्र, गिरीशचन्द्र, अमृतलाल बोस और द्विजेन्द्रलाल राय ने मौलिक नाटक लिखकर बगला को सुसम्पन्न किया। घोष के नाटकों में काव्य का लालित्य है और राय के नाटक तो विविध भाषाओं मे अनूदित हो चुके है। आत्म-कथाओ और जीवन-चरित्रो का भी बंगला मे

बाहुल्य रहा। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी आत्म-कथाएँ लिखी है। राममोहनराय, अक्षयकुमार दत्त, मधुसूदन दत्त, महाराजा मणीचन्द्र नन्दी, विद्यासागर आदि के प्रशसनीय जीवन-चरित्र भी रोचक बंगला भाषा में लिखे गये है।

राजा राममोहन राय, मधुसूदन दत्त, तोरुदत्त, श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनके बन्धु हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अंग्रेजी मे भी रचनाएँ की है और उसके गद्य एवं पद्य के वैभव में वृद्धि की है।

काव्यक्षेत्र मे बंगला साहित्य सुसम्पन्न रहा। पद्य में मधुसूदन दत्त ने अंग्रेजी के कवि मिल्टन के आधार पर 'चतुर्दशपदी' (Sonnet) और अतुकान्त काव्य (Blank Verse) का प्रचार किया। इनका प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाथवध' है। यही छाप साहित्य के अन्य कवियो की रचना मे प्रतिबिम्बित होती है। इनके बाद हेमचन्द्र, गिरीशचन्द्र घोष, बिहारीलाल चक्रवर्ती, नवीन सेन, रंगलाल, कामिनी राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा सत्येन्द्रनाथ दत्त की कृतियो का भी बडा सम्मान हुआ है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बंगला के निर्माण मे बहुत हो रहा है। उन्होने अपनी अद्वितीय कृतियो से भारत मे ही नही अपितु समस्त विश्व मे ख्याति प्राप्त की है और साहित्य मे उन्हे 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ है। इनका प्रभाव भारत की अन्य भाषाओ के साहित्य पर भी हुआ है। बंगला में विज्ञान तथा दर्शन के श्रेष्ठ, उच्च और सूक्ष्म विचारो को सुन्दर, रोचक व सरल भाषा मे अभिव्यक्त करने का श्रेय श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी को है। साराश मे विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा बंगला का साहित्य बहुत उन्नत, सुसम्पन्न और मौलिक है। (डॉ. ईश्वरीप्रसाद द्वारा लिखित 'भारत का इतिहास—भाग 2,' गंगाप्रसाद मिश्र कृत 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य' और सरकार व दत्त कृत 'मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री—भाग 2।')

मराठी—1818 ई० मे महाराष्ट्र मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो गयी थी। इसका परिणाम मराठी साहित्य पर भी हुआ। महाराष्ट्र में स्वराज्य के साथ-साथ लोगों की कर्तृत्व-शक्ति भी विलीन हो गयी थी, पर अंग्रेजी प्रभुत्व के कारण समाज व साहित्य मे नवीन भावनाओ का उत्कर्ष हुआ। महाराष्ट्र मे अंग्रेजो की विद्या, कला, शास्त्र, साहित्य आदि मे प्रवीण होने को ही विद्वत्ता माना जाने लगा और अँग्रेजी संस्कृति के गुणानुवाद में ही जीवन की इतिश्री समझी जाने लगी। 1818 ई० के बाद का कुछ वर्षों का मराठी साहित्य ऐसी ही भावनाओ से ओतप्रोत रहा। फलतः अँग्रेजी पुस्तको का अनुवाद इस काल के मराठी साहित्य की प्रधानता रही है। शेक्स-पियर के अँग्रेजी नाटको व संस्कृत के नाटकों का अनुवाद भी किया गया। इसी बीच अँग्रेजी पादरियो ने ईसाई धर्म के प्रचारार्थ मराठी भाषा के व्याकरण व शब्द-कोश तैयार किये। इनसे प्रेरणा लेकर दादो व पाण्डुरंग ने 'मराठी भाषेचे व्याकरण' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। इससे उन्हे मराठी भाषा का 'पाणिनि' कहते हैं। इसके पश्चात साहित्य, शास्त्र, संस्कृत, प्राकृत तथा अँग्रेजी व्याकरण, कोष, धर्म-शास्त्र, व्यवहार, नीतिशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, विविध कला आदि अनेक विषयों पर निबन्ध एव पुस्तकें लिखी गयी। काव्य, उपन्यास, नाटक आदि मे भी उल्लेखनीय प्रगति होने लगी। इस युग में 'लोक-हितवाद' गोपालहरी देशमुख ने अपने 'शतपत्रों' में आर्य-धर्म, आर्य संस्कृति के अध्ययन व अध्यापन आदि की कटु आलोचना करके अंग्रेजी साहित्य व साम्राज्य की प्रशंसा की। देशमुख, भण्डारकर, रानाडे आदि तत्कालीन श्रेष्ठ व्यक्तियो के बहुमुखी साहित्य मे भी देश-प्रेम की प्रचुर भावना होने

पर भी अंग्रेजी साहित्य का आदर्शवाद स्पष्ट झलकता है। इससे मराठी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुई। एक ओर प्राचीन मराठी साहित्य की परम्पराओ को वनाये रखने का प्रयत्न किया जा रहा था तो दूसरी ओर अंग्रेजी शासको के प्रभाव मे अँग्रेजी साहित्य की प्रवृत्तियो को अपनाने का प्रयत्न किया जा रहा था।

अर्वाचीन मराठी साहित्य के तीन युग माने गये है—प्रथम 1818 ई० से 1874 ई० तक, द्वितीय 1874 ई० से 1934 ई० तक और तृतीय 1934 ई० से आज तक। मराठी साहित्य के प्रथम उपन्यास, प्रथम कोप, प्रथम व्याकरण के निर्माण का श्रेय प्रथम युग को है। द्वितीय युग के निर्माण करने वाले प्रसिद्ध निवन्ध-लेखक विष्णुशास्त्री चिपलूणकर थे। इस समय महाराष्ट्र मे राजकीय दासता के साथ-साथ मानसिक दासता और साहित्यिक निर्जीवता आ गयी थी। उसे चिपलूणकर के 'निवन्धमाला' नामक मासिक पत्र ने दूर कर दिया। महाराष्ट्र मे इस महान पण्डित ने भारतीय सभ्यता, साहित्य व संस्कृति का जीर्णोद्धार अपनी लेखनी से किया। आत्म-तिरस्कार और आत्म-प्रवचना की भावना मराठी साहित्य मे से दूर करने और मराठी निवन्ध साहित्य की प्रभावशाली प्रगति का श्रेय चिपलूणकर को है। इस युग मे साहित्यिक प्रगति के साथ-साथ महाराष्ट्र मे राजकीय उन्नति भी हो रही थी। फलतः राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत 'केसरी', 'मराठा सन्देश' व 'काल' पत्र निकाले गये। इसी वीच लोकमान्य तिलक के अद्वितीय त्याग व देश-सेवा के कार्यों से मराठी साहित्य और भी अधिक जीवित हो गया। इसी काल मे राजकीय, सामाजिक और धार्मिक तीनो प्रकार के सुधारो की साहित्यिक प्रवृत्तियों का उत्कर्ष हुआ। लोकमान्य तिलक के 'केसरी' मे लिखे निबन्ध का उनका 'गीता रहस्य', आगरकर के 'सुधारक' मे लिखे गये निवन्ध, हरिभाऊ आप्टे की 'पणलक्षान्त कोणघेत', म्हैसुरचा वाघ' जैसे सामाजिक व राजकीय उपन्यास, श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का 'सुदाम्याचे पोहे' गो० व० देवल का 'शारदा' नाटक, वा० म० जोशी की 'सुशीलेचादेव', शिवराम पराजपे के 'काल' नामक पत्र मे कटु निबन्ध, अच्युतराव कोल्हट के 'सन्देश' मे लिखे गये तीक्ष्ण निवन्ध, इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे का जीवन भर का इतिहास सम्वन्धी कार्य, पारसनीस व राजाराम भागवत के ऐतिहासिक सशोधन-कार्य आदि मराठी साहित्य मे चिरस्मरणीण है। हरीभाऊ आप्टे को आधुनिक मराठी उपन्यास का जनक और श्रीकृष्ण कोल्हटकर को विनोद का जनक माना गया है। इसी युग मे महाराष्ट्र मे अनेक समाजोपयोगी व साहित्योपयोगी संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ और मराठी साहित्य पूर्णरूपेण क्रियाशील हो गया। न० चि० केलकर ने निवन्ध, इतिहास, काव्य, नाटक आदि अनेक रूप से मराठी साहित्य को विशाल व समृद्ध किया। इसी से इन्हे महाराष्ट्र मे 'साहित्य सम्राट' की उपाधि से विभूषित किया गया। अण्णा किर्लोस्कर, कृष्णाजी खाडिलकर, श्रीपाद कोल्हटकर, रा० ग० गडकरी, मामा वरेरकर इस काल के प्रमुख नाटककार है। कोल्हटकर जिनका 'महाराष्ट्र गीत' आज भी प्रसिद्ध है, इस काल के प्रसिद्ध कवि व नाटककार थे। इस युग में 'केशवसुत' उर्फ कृष्णाजी केशव दामले ने मराठी काव्य मे कायापलट कर दी। इसके वाद रेवरेण्ड तिलक, विनायक दत्त, वालकवि ठोमरे, ताँवे, चन्द्रशेखर और विनायक सावरकर ने भी कविता-देवी को अपने काव्य-आभूपण पहनाये। विनायक सावरकर की कविता ओज, देशभक्ति न स्वतन्त्रता आदि भावो से ओतप्रोत है। इनका 'अठारह सौ सत्तावन का स्वातन्त्र्य-समर' अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इस युग मे गल्प-लेखको के सम्राट वि० स० खाण्डेकर और उपन्यासक्षेत्र मे कायाकल्प करने वाले प्रो० ना० सी० फड़के की लेखनी प्रारम्भ हुई। ये दोनों ही

अपने क्षेत्र के युग-प्रवर्तक माने गये है। इस युग के अन्य प्रशंसनीय लेखक वि० वि० वैध, डॉक्टर केतकर, गो० स० सरदेसाई, महामहोपाध्याय द० वा० पोतदार वि० सी० गुर्जर, नाथ माधव, साने गुरुजी, माडखोलकर, देशपाण्डे, विभावरी शिरूरकर, कुमुदिनी प्रभावलकर, ना० ह० आप्टे आदि है। माडखोलकर के उपन्यास और आलोचनात्मक पुस्तके तथा साने गुरुजी का सात्विक साहित्य मराठी साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। इस युग के काव्य मे रविकिरण मण्डल के गिरीश, यशवन्त और माधव ज्यूलियन की त्रिमूर्ति तथा उपन्यास के क्षेत्र में फडके, खाण्डेकर व माडखोलकर की त्रिमूर्ति विशेषत: उल्लेखनीय है। इन त्रिमूर्तियों ने आधुनिक युग मे मराठी साहित्य मे विशिष्ट परम्पराओं को जन्म दिया।

मराठी साहित्य का तृतीय युग 1934 ई० से 1940 ई० के मध्य में प्रारम्भ होता है। इस युग मे तरुण पीढी के साहित्यिको में पश्चिमी साहित्य का बढता हुआ प्रभाव, विश्वव्यापी दृष्टिकोण, स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रवृत्ति, मूल कारणों को खोजने की जिज्ञासा, आन्तरिक दृष्टिकोण में अन्तर आदि स्पष्ट रूप से मराठी साहित्य मे दृष्टिगोचर होने लगे। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक जगत की बढती हुई दौड-धूप, यान्त्रिकयुगीन मानव के बदलते हुए सौन्दर्याकर्षण, धर्म, कर्म व ईश्वर के प्रति अनिष्ठा व सयम की विशिष्ट झलक भी मराठी वाङ्मय में स्पष्टत: दीखने लगी। साथ ही छोटी कहानियाँ, एकाकी नाटक, छाया नाटक, भाव गीत, 'भावकणिका' रेडियो पर प्रसारित छोटे नवीनतम नाटक आदि का भी खूब प्रचार होने लगा। इस युग की अन्य विशेषता मानस-विश्लेषण की प्रधानता, सर-रियलिज्म (Sur-realism) का उत्कर्ष और साहित्य मे 'टेकनिक' के समर्थक फडके और 'टेकनिक' के विरोधक य० गो० जोशी का विवाद है। बाल मर्टेकर, मनमोहन, कुसमाग्रज उर्फ वा० नि शिखाडकर, संजीवनी मराठे, अनिल देशपाण्डे, विनायक कुलकर्णी, अनन्त काणेकर, चिन्तामणि जोशी, ग० दि० माडगूलर आदि सन्धिकाल के प्रतिनिधि माने गये हैं। यद्यपि प्रह्लाद केशव अत्रे ने बीते हुए युग की नाटक-परम्पराओ को कतिपय समय के लिए बनाये रखा परन्तु आधुनिक युग में ये हास्याचार्य माने गये है। कमतनूरकर, रागणेकर, ताम्हनकर, शुक्ल, टिपणीस, औधकर, वर्तक ताम्हनकर, नागेन जोशी, शकुन्तला परांजपे, मुक्ता दीक्षित आदि ने नाटक के क्षेत्र मे अपनी-अपनी रचनाएँ की है। विनोबा भावे, धनंजय, गाडगिल, काका कालेलकर, रामचन्द्र जोग, नरहरी, फाटक, डॉ० केशव वाटवे, कृष्णजी कुलकर्णी, ग० वा० कवीश्वर आदि को समालोचनात्मक मौलिक ग्रन्थ लिखने का श्रेय प्राप्त है। उच्च कोटि के निबन्ध तथा शास्त्री मौलिक साहित्य का निर्माण इसी युग मे माना जाता है। इस युग में गम्भीर विषयो का शास्त्रीय ढंग से लालित्यपूर्ण भाषा मे विवेचन करने की सामर्थ्य वि० स० खाण्डेकर, प्रो० ना० सी० फडके और ग० त्र्यं० माडगोलकर की लेखनी मे है। इनकी रचनाएँ गुण व सख्या दोनों में ही विपुल है। काव्य मे तुकान्त कोमल-पद व भावगर्भित तथा शास्त्रीय पाण्डित्यपर्ण ढंग से साहित्यिक विषयो का विवेचन ही आधुनिक मराठी साहित्य की विशिष्टता है।

गुजराती—मराठों के आक्रमण और लूट-खसोट से उत्पन्न अनिश्चित राजनीतिक परिस्थिति के कारण अठारहवीं शताब्दी में गुजराती साहित्य की कोई विशिष्ट प्रगति न हो सकी। फिर भी सन्त भक्तो की परम्परा चलती रही। इन सन्त भक्तो मे सहजानन्द द्वारा स्थापित स्वामीनारायण सम्प्रदाय के विद्वान साधु और भक्त प्रमुख थे जिन्होंने गुजराती काव्यक्षेत्र को सुसम्पन्न किया। इस सम्प्रदाय के प्रेमानन्द और ब्रह्मानन्द काव्यक्षेत्र में प्रख्यात है। प्रेमानन्द के पद और ब्रह्मानन्द के भजन

आज भी गुजरात मे बहुत लोकप्रिय है। भक्तों की परम्परा के कारण अठारहवी शताब्दी मे गुजराती में 'गर्वा साहित्य' का उत्कर्ष हुआ। 'गर्वा' एक प्रकार का मधुर नृत्य होता है जिसमें कन्याएँ और रमणियाँ भजन या गीत गाती हुई वृत्ताकार नाचती है। वल्लभ और हरीदास जैसे कवियो ने अम्बा या काली माता तथा कृष्ण व कलिकाल पर 'गर्वा साहित्य' लिखा है। गुजरात के भक्त कवियों में धीरा भगत, नीरा भगत और भोज भी प्रसिद्ध है। हिन्दी के कबीर व सूरदास के पदो के समान गुजराती मे धीरा भगत की 'अवलवाणी' प्रसिद्ध है। उसने 'काफी' पदो द्वारा ज्ञान का उपदेश दिया है। भोज के नैतिकता पर लिखे पद तो आज भी गुजरात और काठियावाड की सडकों पर तम्बूरो पर गाये जाते है। ये पद 'चाबक' नाम से प्रख्यात है। तुलसीदास के समान गिरधर ने भी उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे रामायण की रचना काव्य में की है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे भी दिवालीवाई) राधावाई, कृष्णावाई, पूरीनाई, गौरावाई जैसी भक्त कवयित्रियो ने भक्ति-काव्य की परम्परा बनाये रखी। गुजराती साहित्य मे दयाराम (1777-1852 ई०) अत्यन्त प्रसिद्ध कवि माने जाते है। फारसी के हाफिज, हिन्दी के सूर और अंग्रेजी के बायरन से इनकी तुलना की जाती है। उन्होने गुजराती मे लगभग दो सौ ग्रन्थो की रचना की है और सहस्रों पद लिखे है। कुछ गद्य भी लिखा है। प्राचीन शैली के ये अन्तिम प्रसिद्ध कवि माने जाते है। इनकी रचनाएँ गुजराती के अतिरिक्त ब्रज-भाषा, मराठी, पजाबी, सस्कृत और उर्दू मे भी है। इनकी 'गुबियाँ' या पद गुजरात में अत्यन्त ही रुचि से गाये जाते है। दोहा या सोरठा में वीर-रस की कविताएँ भी गुजरात व काठियावाड़ में खूब रची गयी।

जव गुजरात मे अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ हुआ, पढाने के लिए गुजराती में पुस्तके लिखी गयी। आधुनिक गुजराती साहित्य के लिए सगठित प्रयास फोर्ब्स द्वारा 1848 ई० मे 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' की स्थापना के पश्चात हुए। आधुनिक गुजराती साहित्य का सूत्रपात दलपतराम और नर्मदाशकर से होता है। दलपतराम की कविताएँ 'चतुराई पूर्ण' तथा 'सभा रजनी' है। इनकी भाषा बडी सरल, सुन्दर और प्रभावशाली है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन मे उनके उच्चतम भाव और कवि-प्रतिभा का परिचय मिलता है। पारसियो ने भी गुजराती साहित्य की उन्नति में खूब योग दिया। ऐसा माना जाता है कि गुजराती मे अतुकान्त कविता का प्रचार सर्वप्रथम एक पारसी ने ही किया।

गुजराती गद्य का वास्तविक विकास अंग्रेजी शासन से प्रारम्भ होता है। कतिपय पादरियो ने गुजराती गद्य मे बाइबिल का अनुवाद करने का प्रयत्न किया और रणछोडदास गिरधरभाई ने प्रारम्भिक शिक्षा के योग्य गुजराती में पुस्तके लिखवाने का प्रयास किया। परन्तु आधुनिक गद्य के अग्रगण्य नर्मदाशंकर ही है। उनका 'राज्य-रग', इतिहास साहित्य की दृष्टि से उच्च श्रेणी का ग्रन्थ है। उसके बाद नवलराम गद्य के अच्छे लेखक माने गये है। उनका प्रमुख विषय आलोचना था। गुजरात साहित्य मे नाटक को उच्च श्रेणी पर पहुँचाने का श्रेय रणछोडभाई उदयराम को है। इसी प्रकार आधुनिक ढग के उपन्यास लिखने मे सर्वप्रथम प्रयास नन्दशंकर तुलजाशकर ने किया जिनका 'करणघेलो' उपन्यास अधिक प्रख्यात है। इसी प्रकार गोवर्धनराम त्रिपाठी का 'सरस्वती चन्द्र' भी गुजराती का प्रसिद्ध उपन्यास है। गुजरात के अन्य लेखको मे कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, रमणाल बसंतलाल देसाई, धूम्रकेतु, चन्द्रवदन मेहता, महादेव देसाई, चुन्नीलाल और वलवन्तराय आचार्य है। इन सबमे मुशी अत्यधिक प्रसिद्ध है। इन्होने उपन्यास, गल्प, सामाजिक नाटक, निवन्ध, गुजराती साहित्य का इतिहास, जीवन-चरित्र आदि लिखे है। भाषा और शैली में

इनकी तुलना अंग्रेज लेखक कारलाइल (Carlyle) से की जाती है। इनके प्रसिद्ध उपन्यास 'पृथ्वीवल्लभ', 'कौटिल्य', 'जय सोमनाथ' और 'भगवान परशुराम' हैं। (कृष्णलाल एम० झवेरी कृत 'माइलस्टोन इन गुजराती लिटरेचर', द्वितीय संस्करण')

तामिल—दक्षिण भारत की द्राविड़ भाषाओं में तामिल का स्थान सर्वप्रथम है। इसका साहित्य सुसम्पन्न है। ब्रिटिश शासन के समय इसमें आधुनिकीकरण की प्रवत्तियो का आरम्भ हुआ। प्राचीन काल से तामिल मे गद्य-ग्रन्थ विद्यमान थे, पर अधिकांश में ये टीकाएँ थी, मौलिक ग्रन्थों का अभाव था। कतिपय जैन ग्रन्थों में तामिल व प्राचीन गद्य का नमूना दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक ग्रन्थ का प्रारम्भ वीर्य मुनि और अनुमुग नलवर ने किया। ईसाई धर्म-प्रवर्तको ने भी तामिल गद्य के विकास मे बडा योग दिया। 1675 ई० मे स्पेनिश धर्म-प्रवर्तकों (Missionaries) ने सर्वप्रथम तामिल ग्रन्थ छापा और 1831 ई० में 'तामिल पत्रिका' नामक प्रथम पत्र ईसाइयो के प्रचारको ने प्रकाशित किया तथा पादरी वेसची (Beschi) ने तामिल गद्य में लिखने का श्रीगणेश किया। गद्य साहित्य में शेल्व केशवराम मुदली का नाम बड़ा प्रख्यात है। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ शास्त्री ने कई प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद तामिल भाषा मे किया। गद्य के अन्य लेखकों में राजम अय्यर, माधवैह, श्रीनिवास आयंगर और श्रीनिवास शास्त्री तथा 'हिन्दू' पत्र के प्रसिद्ध सम्पादकगण प्रख्यात हैं। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की कृतियों से भी तामिल समृद्ध हुई है। उपन्यास के क्षेत्र में वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्री, राजम अय्यर, सरदन पिल्लई, माधवैह, चेट्टियर आदि ने खूब यश प्राप्त किया है। राजम अय्यर की सर्वोत्तम कृति 'कमलाम्बल', सरवन पिल्लई की 'मोहनांगी' और माधवैह की 'पद्मावती' है। तामिल के नाटककारो में सुन्दरम पिल्लई और राष्ट्रीय तथा रहस्यवादी कवियों मे भारती का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अन्य भाषाओं के समान तामिल में भी वैज्ञानिक विषयो पर ग्रन्थ लिखे गये है और इस क्षेत्र मे सूर्यनारायण शास्त्री ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

तेलगू—यह भाषा दक्षिण के पूर्वी तट पर और उसके आन्तरिक प्रदेश में वोली जाती है। अठारहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे इस भाषा पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। सी० पी० ब्राउन नामक एक अंग्रेज ने 1824 ई० में तेलगू के प्राचीन ग्रन्थों का संकलन कर उन्हें प्रकाशित कर सुरक्षित रखने का प्रशंसनीय कार्य किया। तेलगू साहित्य मे 'नीति चन्द्रिका' के रचयिता चिन्नयमूरी की लेखन-शैली वडी उच्च कोटि की मानी गयी है। इस साहित्य के लेखकों ने संस्कृत, भारत की अन्य भाषाओ तथा यूरोप की भाषाओ के प्रमुख ग्रन्थों का अनुवाद करने मे विशिष्टता प्रदर्शित की है। आधुनिक तेलगू साहित्य का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार वीरेशलिंगम है जिसने विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। नाटक, उपन्यास, गल्प, विज्ञान आदि क्षेत्र इसकी प्रतिभा से वंचित नही है। परन्तु नाटक के क्षेत्र में लक्ष्मीनरसिंहम्, सुब्बारायडू और वेंकटेश्वर कवुलु के नाम विशेष उल्लेखनीय है। सी० आर० रेड्डी का नाम भी तेलगु साहित्य में प्रसिद्ध है। आजकल 'आन्ध्र साहित्य परिषद्' तेलगू साहित्य की प्रगति के लिए अत्यधिक प्रयास कर रही है।

अन्य भाषाएँ—भारत की अन्य भाषाओं, जैसे कन्नड़, मलयालम, सिन्धी, पंजावी, असमी, उड़िया आदि का भी यथेष्ट विकास हुआ है और साहित्य के विविध क्षेत्रों मे भी श्रेष्ठतम रचनाएँ की गयी हैं। असमी साहित्य मे आधुनिक युग का प्रारम्भ 1899 ई० में 'जोनाकी' नाम के पत्र के प्रकाशन से होता है। लक्ष्मीनाथ वरुआ, चन्द्रकुमार तथा हेमचन्द्र गोस्वामी जैसे 'जोनाकी' के सम्पादकों ने असमी साहित्य के क्षेत्र मे प्रशंसनीय रचनाएँ लिखी हैं। इसके पश्चात् कमलाकान्त, नलिनीवालादेवी,

विरंचिकुमार वरुआ आदि ने अपनी कृतियों से असमी को समृद्ध किया है। इसी प्रकार बगला-पुनर्जागरण के प्रभाव के अन्तर्गत राधानाथराय, मधुसूदनराव और फकीरमोहन सेनापति जैसे प्रसिद्ध लेखको की कृतियों से उडिया साहित्य का आधुनिकीकरण हुआ है। साराश यह है कि भारत की सभी भाषाओ मे गद्य, पद्य, नाटक, गल्प, उपन्यास, निवन्ध, जीवन-चरित्र, पत्रकारिता आदि क्षेत्रो मे प्रभूत प्रगति हुई है। इनमे भारत की श्रेष्ठ प्राचीन साहित्यिक परम्पराओ का पुनरुत्थान ही नही हुआ है, अपितु पूर्व और पश्चिम की उच्चतम साहित्यिक प्रवृत्तियो का सुन्दर समन्वय भी हुआ है।

ललितकलाएँ

मुगलों के पतन के वाद ब्रिटिश सत्ता भारत में स्थापित हो गयी थी। इसकी प्रारम्भिक दशा में भारतीय ललितकलाएँ अवनति के गह्वर मे दब गयी थी। अठारहवी शताब्दी परिवर्तन का युग होने से इन ललितकलाओ की दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गयी थी। वास्तविक कलात्मक कृतियो को उत्पन्न करने और उन्हे पहचानने व प्रशंसा करने की शक्ति एवं सामर्थ्य का ह्रास हो चुका था। कलाओ के क्षेत्र मे सृजनात्मक प्रतिभा और कलात्मक स्तर विलुप्त हो चुके थे। दिल्ली, जयपुर, हैदरावाद, लखनऊ और मैसूर जैसे प्राचीन प्रसिद्ध नगरो मे दुर्बल निर्जीव कलाकार यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते थे। कला के इस प्रकार के अध पतन के अधोलिखित कारण है :

ललितकलाओं के पतन के कारण—(1) मुगल सम्राटो के उदार सरक्षण मे कलाओ की प्रभूत प्रगति हुई थी। उनके पतन के पश्चात देश मे स्थापित ब्रिटिश सरकार ने कलाओ और कलाकारों की ओर कोई ध्यान नही दिया। राज्याश्रय के अभाव मे और अंग्रेज सरकार की उपेक्षा व उदासीनता की नीति के कारण ललितकलाओ की प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

(2) कही-कही कलाकारो को देशी राजदरवारो मे आश्रय प्राप्त हुआ और वहाँ उन्हे प्रोत्साहन मिला। परन्तु देशी राजाओ, नवावो और सामन्तों को ब्रिटिश शासन मे विदेश जाना पडा। इससे वे विदेशी कलाकृतियो को पसन्द करने लगे और उनमें उनकी अभिरुचि वढने लगी।

(3) पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आ जाने पर साधारण जनता भी तड़क-भड़क वाली विदेशी वस्तुओ और कलाकृतियो के भुलावे मे पड़ गयी।

(4) सरकारी और गैर-सरकारी प्रदर्शनियों में भारतीय कलाओं की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं और कलाओ को अधिक प्रोत्साहित किया गया।

(5) विद्यालयो, महाविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे कलाओ को कोई स्थान नही दिया गया। शिक्षा कलाविहीन कर दी गयी।

(6) देश के आर्थिक सन्तुलन के अव्यवस्थित हो जाने और मशीनो द्वारा विविध वस्तुओ के असीम उत्पादन से प्राचीन कलात्मक वस्तुओ की माँग घट गयी एव कलाकारो को विवश हो अपना व्यवसाय छोड़कर अन्य धन्धो की शरण लेनी पडी।

(7) उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे प्राचीन प्रवीण कलाकारो, शिल्पियो, उस्तादो, चित्रकारो आदि के वंशजो में कला की अभिरुचि भी दूषित हो गयी थी। उनकी प्रतिभा पाश्चात्य शैली के सम्मुख पराभूत हो गयी थी। फलत. वे पाश्चात्य कला की नकल करने लगे और विदेशी कला की शैलियो और भावो को अपनाने लगे। रवि वर्मा ने इस प्रकार के कार्य मे ख्याति प्राप्त की पर उनकी रचनाओ मे मौलिकता का अभाव है।

(8) अधिकाश विदेशी अधिकारीगण और कई भारतीय भी ललितकलाओं

के वास्तविक अर्थ को समझने मे असमर्थ थे ; अतएव उनकी प्रगति के लिए उन्होंने कोई प्रयास नहीं किये ।

इस प्रकार विविध कारणों से भारतीय कलाओं के नष्ट-भ्रष्ट होने की नौबत आ गयी । पर इसी समय राष्ट्रीय पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ हुआ और भारतीयों का ध्यान ललितकलाओं की ओर गया । विदेशो मे भी भारतीय कलाओ के प्रति लोगो को जागरूक किया गया । इस प्रकार भारतीय कला के जीवन मे पुनरुज्जीवन की लहर उत्पन्न करने का श्रेय फर्ग्युसन, कलकत्ता कला विद्यालय (School of Arts) के प्रिन्सिपल हैवेल, अन्य प्रिन्सिपल पर्सी ब्राउन ('हिन्दू स्टुअर्ट'), डॉ० आनन्दकुमार स्वामी, मिस्टर निवेदिता, अवनीन्द्रनाथ टैगोर आदि को है । डॉ० कुमार स्वामी की शिक्षा-दीक्षा इंगलैण्ड मे हुई थी और वे लगभग तीस वर्ष तक अमेरिका मे वोस्टन के अजायबघर (संग्रहालय) मे भारतीय विभाग के क्यूरेटर रहे थे । वहाँ रहकर उन्होंने भारतीय ललितकलाओ की ओर अमरीका और भारत के निवासियों का ही नही, अपितु विश्व का भी ध्यान आकर्षित किया । उन्होंने कला के क्षेत्र मे भारत की सृजनात्मक प्रतिभा और उसकी सफलताओ और रचनाओ का दिग्दर्शन विश्व को कराया । इसी प्रकार प्रिन्सिपल हैवेल ने भारत की ललितकलाओ प्रमुख के तत्त्वो को भलीभाँति पहचान लिया और अपने ग्रन्थों और लेखो द्वारा भारतीयो को अपनी प्राचीन कलाओ के मर्म और महत्त्व का परिचय कराया और चित्रकला के पुनरुज्जीवन पर जोर दिया । इसी प्रकार प्रिन्सिपल पर्सी ब्राउन ने भी वास्तुकला के प्रमुख तत्त्वों को प्रदर्शित किया और भारत की भवन-निर्माणकला को विश्व के सम्मुख प्रकट किया । अवनीन्द्रनाथ जिनका जन्म 1871 ई० मे हुआ था, प्रारम्भ में कला के यूरोपीय शिक्षणो द्वारा शिक्षित किये गये थे; परन्तु भारतीय चित्रों के सम्पर्क मे आने से उन्हे प्रेरणा मिली और एक प्रवीण भारतीय कलाकार से शिक्षा ग्रहण कर वे चित्रकला के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए । इसके पश्चात जब हैवेल से उनकी भेंट हुई तब हैवेल ने भी उन्हे विविध भारतीय चित्र बताकर उनकी भावनाओ को अत्यधिक प्रोत्साहित किया । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अवनीन्द्रनाथ को भारतीय चित्रकला को पुनरुज्जीवित करने की प्रेरणा दी । फलत: अवनीन्द्रनाथ ने एक नवीन चित्रण-शैली का विकास किया । अब हम भारतीय ललितकला के विविध अगो पर प्रकाश डालेगे ।

स्थापत्यकला या भवन-निर्माणकला—प्राचीन काल और मध्य-युग मे भारत की स्थापत्यकला की अपनी विशिष्टताएँ थी । इसका अपना विशेष महत्त्व था । मुगलकाल की भव्य इमारतें विश्व की अद्भुत वस्तुओ मे मानी जाती है । परन्तु अंग्रेजी शासन में इस दिव्य स्थापत्यकला की अवनति हो चुकी थी । जब यूरोपीय लोग भारत मे आये तब यहाँ पाश्चात्य ढंग की इमारते बनाने का कार्य शुरू हुआ और पुर्तगालवासियो ने कतिपय गिरजाघर और महल एक विशेष शैली से निर्मित किये । प्रारम्भ में अंग्रेजो ने भी 'कॉलोनियल' शैली के भवन बनवाये जिसमे सादगी थी । कही-कही उन्होंने भारतीय ढग से इमारतें भी बनवायी । सूरत मे उस समय के बने अंग्रेजों के मकबरे बिलकुल मुसलमानी शैली के है । जब धीरे-धीरे अंग्रेजो ने प्रान्तो की राजधानियो (बम्बई, मद्रास, कलकत्ता) की स्थापना की तब उनमें इंगलैण्ड मे बने तत्कालीन ढंग के भवनो का अनुकरण किया गया । इन भवनो मे गॉथिक (Gothic), रोमन और विक्टोरियन-युग की भवन-निर्माण-शैली की विशेषताओं का सम्मिश्रण था । भारतीय नरेशों, नवाबों, सामन्तो और धनिकों ने ऐसे भवनों को आदर्श समझकर अपने-अपने स्थानो मे इनकी नकल की । धीरे-धीरे इन पाश्चात्य भवनो का अत्यधिक प्रचार हुआ । ब्रिटिश शासन में Public Works Department

की स्थापना हो जाने पर तो पाश्चात्य ढंग की भवन-निर्माणकला को खूब प्रोत्साहन मिला। परन्तु इस विभाग ने भारतीय स्थापत्यकला के अस्तित्व को स्वीकार ही नही किया और न सरकारी अधिकारियो और इजीनियरो ने भारतीय वास्तुकला की परम्पराओ की ओर विशिष्ट ध्यान ही दिया।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत मे स्थापत्यकला के विषय मे दो प्रमुख मत प्रचलित हो गये थे। प्रथम, वे जो भारतीय स्थापत्यकला का पुनरुज्जीवन चाहते थे और हिन्दू तथा मुस्लिम ढगो की वैसी इमारते बनाने के पक्ष मे थे, जैसी राजस्थान और अन्य देशी रियासतो व स्थानो मे बन रही थी। द्वितीय, वे लोग थे जो पाश्चात्य ढग की स्थापत्यकला के आधार पर भवन बनाने के पक्ष मे थे। द्वितीय मत का खूब विस्तृत प्रचार हुआ। फलतः पाश्चात्य शैली के आधार पर लॉर्ड कर्जन के समय कलकत्ता के 'विक्टोरिया मेमोरियल हॉल' का निर्माण हुआ और भारत की राजधानी नई दिल्ली को बनाने की घोषणा की गयी। यह कार्य अँग्रेज इजीनियरो को सौंपा गया। नई दिल्ली के भवनो मे भारतीयता का अभाव रहा है और जैसा डॉक्टर जेम्स कजिन्स ने कहा है कि उनके निर्माण मे मौलिकता और कल्पना से काम नही लिया गया। "सेक्रेटेरियट के दफ्तर और कौसिल भवन 'कैदखाने' से जान पड़ते है। ये इमारते अधिकतर 'इटालियन ढंग' की बनायी गयी है। कही-कही जाली, छज्जा तथा छतरी देकर इनमे हिन्दुस्तानीपन लाने का प्रयत्न किया गया है। वाइसराय के भवन मे इस ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया है।" (गगाशकर मिश्र कृत 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य,' पृष्ठ 639)। आजकल लोहे के सीखचो की जालियो को सीमेण्ट और ककरीट मे दबाकर उनके आधार पर सस्ते भवन शीघ्रतापूर्वक निर्मित किये जा रहे है। इन भवनो मे सादगी है और वास्तुकला मे लालित्य का सर्वथा अभाव है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारी राष्ट्रीय स्थापत्यकला विलुप्त हो रही है।

पाश्चात्य स्थापत्यकला का इतना अधिक प्रचार होने पर भी अनेक देशी नरेशो, नवाबो, राजकुमारो और सामन्तो ने भारतीय ढग की इमारते बनवायी हैं जिनमे कला का लालित्य और कल्पना-शक्ति का वैभव स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मैसूर आदि स्थानो के आधुनिक भवन भारतीय मिस्त्रियो और शिल्पियो की कला के श्रेष्ठतम नमूने है। वाराणसी, हरिद्वार और महेश्वर के घाट, मथुरा के मन्दिर, दिल्ली का बिरला मन्दिर तथा अनेक जैन मन्दिर जो ब्रिटिश-युग मे ही निर्मित हुए हैं, मजबूती और कला मे अनुपम है और भारतीय कारीगरो की शिल्पकला के उदाहरण है।

चित्रकला—अध्याय चौदह मे चित्रकला का विवेचन करते हुए मुगल शैली, राजस्थानी शैली और कांगडा शैली पर यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयास किया जा चुका है। मुगल शैली के चित्राकन मे व्यक्ति-चित्र, राजसभा व आखेट के दृश्य, वृक्ष, पुष्प, पत्ते, पशु-पक्षी आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस शैली मे स्वाभाविकता का प्रमुख स्थान था। राजस्थानी शैली का सम्बन्ध प्राचीन भारत की चित्र कला से था। इसमे पौराणिक और जनसाधारण के दैनिक जीवन के दृश्य अकित करने की चेष्टा की गयी। मुगल शैली मे विलासिता का प्रदर्शन था और वह ऐहिक थी; राजस्थानी शैली रहस्यमयी व धार्मिक थी और आध्यात्मिक-प्रधान थी। मुगलो के पतन के पश्चात राजस्थानीशैली के चित्रकार पजाब की छोटी-छोटी पहाडी रियासतों मे आकर बस गये और मुगल शैली के पटना और लखनऊ मे। राजस्थानी शैली के कलाकारो का प्रधान स्थान काँगड़ा बन गया। कालान्तर मे उन्होने 'काँगडा शैली' या 'पहाड़ी कला' को जन्म दिया। राजस्थानी शैली अलकारिक थी पर पहाड़ी भाव-

प्रधान हो गयी। दोनों में ही रसों का सुन्दर समन्वय हुआ है। कांगडा शैली के कलाकारों ने कवियो और नायकों से प्रेरणा लेकर चित्रांकन के विषयों को अत्यन्त व्यापक कर दिया। उन्होने पौराणिक नायको के साथ-साथ लोक-गाथाओ और कृषक-जीवन के दृश्य भी अंकित किये। इसके अतिरिक्त उन्होंने रागमालाओ को चित्रित कर संगीत के अटूट सम्बन्ध को प्रदर्शित करने का प्रयास किया। राजा संसारचन्द्र के शासनकाल मे पहाडी शैली की प्रभूत प्रगति हुई और टेहरी-गढ़वाल एव बुन्देलखण्ड की रियासतो मे इसका व्यापक प्रचार हुआ। गढ़वाल के चित्रकारों मे भोलाराम, माणकू और चैतू ने बडा यश प्राप्त किया। कांगडा शैली के व्यक्ति-चित्र इतने सुन्दर और आकर्षक बनने लगे थे कि उन्नीसवी शताब्दी में अनेक नगरो मे उनकी मांग हो रही थी। पंजाब मे महाराजा रणजीतसिंह की राजसभा मे भी कांगडा शैली के चित्रकार विद्यमान थे जिनमे प्रख्यात कपूरसिंह भी था। पंजाब के सिक्खों के पतन और अंग्रेजी के आधिपत्य के कारण इन चित्रो का राज्याश्रय विलुप्त हो गया। इसके बाद 1905 ई० के भीषण भूकम्प से कांगडा नगर और वहाँ के अवशिष्ट चित्रकारो का अन्त हो गया और इस प्रकार चित्रकला को एक भारी आघात लगा। (गंगाशंकर मिश्र कृत 'भारत मे ब्रिटिश राज्य, पृष्ठ 642)

उन्नीसवी शताब्दी में राजस्थानी शैली अपने विकृत रूप मे जयपुर, उदयपुर और नाथद्वारा मे अभी भी साँस ले रही थी। मुगल शैली के चित्रकार यत्र-तत्र दिल्ली, लखनऊ और पटना मे अभी भी विद्यमान थे। पर अब उनका कार्य नकल करना मात्र रह गया था। उनकी 'टेकनिक' मुगलिया होते हुए भी चित्र निर्जीव थे। अनेक अंग्रेज इन चित्रकारों से अपने ढंग के चित्र बनवाने लगे। इससे इन कलाकारों पर पाश्चात्य चित्रकला का प्रभाव पड़ने लगा। पटना के चित्रकार तो यूरोपीय चित्रकला से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होने 'पटना शैली' नामक नवीन शैली को जन्म दिया जिसमें भावना के प्रभाव के साथ-साथ कठोरता भी आ गयी थी।

दक्षिण भारत में चित्रकला की परम्पराएँ बनी रही। अठारहवी शताब्दी मे हैदराबाद मुसलमान चित्रकारो का केन्द्रस्थल बन गया और लाहौर तथा मैसूर हिन्दू चित्रकारो का। अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे उत्तर भारत के अनेक चित्रकार तंजौर के नरेश सरफोजी की राजसभा में आश्रय पा रहे थे। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे तंजौर मे राजा शिवाजी के शासनकाल (1833-56 ई०) मे इन चित्रकारो के अठारह वंश विद्यमान थे। पूरे व्यक्ति, चित्र के साथ-साथ ये लोग हाथीदाँत और लकड़ी पर भी कलात्मक रचनाएँ करते थे। मैसूर मे राजा कृष्ण राज वादयारे के शासनकाल मे भी चित्रकला की प्रभूत उन्नति हुई। परन्तु 1838 ई० के पश्चात वहाँ भी यह कला लुप्त हो गयी। (पर्सी ब्राउन, 'इण्डियन पेंटिंग')

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी सरकार ने भारतीयो की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। तब बम्बई, मद्रास और कलकत्ता मे कलाशालाएँ (Schools of Arts) स्थापित की गयी। इनमे पाश्चात्य ढग की शैलियों के आधार पर ड्राइंग, मॉडलिंग (Modelling) और चित्रकला की शिक्षा दी जाने लगी और यह कहा जाने लगा कि पूर्व की कला, कला ही नही है। इससे भारतीय कलाकारो की प्रतिभा पाश्चात्य शैली से प्रभावित हुई और रवि वर्मा नामक एक केरल के चित्रकार ने पाश्चात्य शैली में भारतीय कल्पनाओ को प्रकट करने के प्रयास किये। परन्तु उनकी रचनाओ मे मौलिकता का अभाव ही नही रहा अपितु वे भद्दी हो गयी। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारतीय पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप चित्रकला के क्षेत्र में भी पुनरुज्जीवन की ज्योति जाग उठी। इसका श्रेय कलकत्ता की कलाशाला के प्रिन्सि-

पल हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को है। इन्होंने अजन्ता और मध्ययुगीन चित्रो के मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर चित्रकला क्षेत्र मे शक्तिशाली और सफल आन्दोलन किया। 1903-4 ई० में अवनीन्द्रनाथ ने एक नवीन चित्रकला-शैली को जन्म दिया। यह विदेशी शैलियों की अनेक बातो को ग्रहण कर लेने पर भी पूर्णतया भारतीय रही। वास्तव में इनमे पूर्व व पश्चिम की चित्रकलाओं का सुन्दर समन्वय है। कालान्तर मे यह 'बगाल शैली' के नाम से प्रख्यात हो चली। इसमे 'वाटर-कला' और 'वाश-टेकनिक' का अधिक प्रयोग होने लगा। अजन्ता के चित्रो से प्रेरणा ले, भारतीय चित्रकला की परम्परा को ग्रहण कर तूलिका से कल्पना साकार कर ली गयी। फलत उच्च कोटि की मौलिकता के साथ-साथ सौन्दर्य, सुकुमारता और सुभावना का आकर्षक व मधुर सामजस्य उत्पन्न हो गया। अवनीन्द्रनाथ के अतिरिक्त बगाल शैली के प्रमुख प्रतिभासम्पन्न चित्रकार नन्दलाल बोस है जिनकी कल्पना सशक्त, सजीव और श्रेष्ठ है। उनके चित्रो मे अजन्ता की आत्मा ही नही बोल उठी अपितु भाव भी प्राणरूप हो उठे। अवनीन्द्रनाथ के प्रसिद्ध शिष्यो मे नन्दलाल बोस के अतिरिक्त सुरेन्द्र गंगोली, असीत हलधर, के० एम० मजूमदार और जैमिनी राय भी है जिन्होने बगाल शैली को अधिक व्यापक बनाया। असित कुमार हलधर के तत्वावधान मे लखनऊ मे चित्रकला के एक प्रसिद्ध केन्द्र का उत्कर्ष हुआ जिसमे ईश्वरदास ने इन दिनों ख्याति प्राप्त कर ली।

बगाल में चित्रकला के पुनरुज्जीवन का जो आन्दोलन हुआ था, इसका प्रभाव गुजरात मे भी हुआ और वहाँ भी चित्रकला मे एक नव-जाग्रति उत्पन्न हो गयी। फलत अहमदाबाद मे रविशंकर रावल की प्रेरणा से उनके तत्वावधान मे एक कला-केन्द्र स्थापित हो गया जिसकी उपज कणु देसाई है। कणु देसाई की रंजनात्मक शैली ने 'प्रिण्ट' और 'फिल्म' की तत्कालीन रुचि को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य परम्पराओ की 'स्वाभाविक शैली' (academic or naturalistic style) ने भारत मे अनेक प्रसिद्ध चित्रकार उत्पन्न किये जिनमें बम्बई के हल्डनकर, लालकाका, वी० आर० राव और माली तथा कलकत्ता के जे० पी० गगोली, एच० मजूमदार और अतुल बोस प्रमुख है। वर्तमान काल के अन्य चित्रकारो मे देवीप्रसाद राय चौधरी, रहमान चगताई और जैनुल आबदीन भी विशेष उल्लेखनीय है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व मे चित्रकला की आधुनिक धाराओ और प्रवृत्तियो ने बंगाल के पुनरुज्जीवन-आन्दोलन और 'स्वाभाविक शैली' के प्रवर्त्तको और समर्थकों को एक कड़ी चुनौती दे दी। इसमे पजाबी पिता और विदेशी माता से उत्पन्न अमृत शेरगिल प्रमुख थी। लन्दन और पेरिस में चित्रकला मे अच्छी ख्याति प्राप्त करने के बाद यह भारतीय कला की ओर झुकी और उसने अपनी प्रतिभा से चित्रकला मे खूब यश पाया। उसके चित्राकन मे 'डिजायन' घनत्व (mass and volume), अजन्ता के चित्रों की कोमलता व गढनशीलता (plasticity) तथा सरलता थी। इससे उसकी तूलिका भारतीय चित्रकारो के विकास की स्वाभाविकता की प्रतीक बन उठी। दुर्भाग्य से 1941 ई० मे उसकी समय से पूर्व मृत्यु हो जाने से भारतीय चित्रकला को भारी आघात लगा। भारतीय चित्रकला की परम्पराओं को आत्मसात करके, स्वरूप तथा तन्त्र मे प्रत्यक्षत: भारतीय कला को उत्पन्न करने मे अमृत शेरगिल की तरह बहुत कम लोग सफल हुए हैं।

आधुनिक चित्रकार आजकल के जीवन को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करने का प्रयास करते है परन्तु उनके ढग समय के प्रतीक होने की अपेक्षा कल्पनामय अधिक

है। इनकी कृतियों को अधिक लोकप्रिय नही कहा जा सकता क्योंकि ये साधारण मनुष्य की समझ की शक्ति से बाहर है। यद्यपि ये यूरोप की आधुनिक प्रवृत्तियो से प्रभावित हुए है तथापि इनमे से कुछ ने सम्पूर्णतया भारतीय शैली का विकास किया हे। देश और विदेश मे इन्हे चित्रकला-प्रदर्शनियो मे खूब यश-गौरव प्राप्त हुआ है। ऐसे आधुनिक चित्रकारों का प्रमुख केन्द्र बम्बई है। इनमें बैंदरे, हेब्बर, चावडा, रजा, न्यूटन-सूजा, पलसीकर आदि प्रधान है। इसी प्रकार कलकत्ता में रथिन मौइत्र, गोपाल घोष और पारितोष सेन तथा दिल्ली मे कृष्णलाल और मागो प्रख्यात है। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता की प्राचीन कलाशालाओ के अतिरिक्त देश मे जयपुर, लखनऊ, बडौदा, इन्दौर आदि स्थानों पर कलाशालाएँ प्रतिष्ठित हो चुकी है और दिन-प्रतिदिन नवीन प्रतिभासम्पन्न कलाकारों का उत्कर्ष हो रहा है।

आजकल के कलाकार राजा-रानी, अमीर और उमराव के वैभावशाली विलासमय जीवन को छोडकर कृषक और श्रमिक के दैनिक जीवन का आलेखन करने, स्त्री-पुरुष के प्रणय-शृंगार के स्थान पर श्रम का सौन्दर्य देखने और दिखलाने का प्रयास कर रहे हे। 'कल्पना के स्वप्नलोक का आकाशीय उड्डयन छोड़कर वास्तविक जीवन-भूमि पर चलने का और दैनिक जीवन के सौन्दर्यविहीन माने गये क्षेत्रो मे से कला-सौन्दर्य को प्रकट करने का प्रयत्न हमारे कलाकार कर रहे है।' कलाकारो का यह कर्तव्य है कि वे जनसाधारण की दैनिक जीवन-कथा को अपने देश मे विकसित हुई कला की भाषा मे प्रकट करें। अपनी कृतियो मे उन्हे अपने समाज और समय की प्रतिकृति अंकित करनी है। साथ ही साथ देश के निर्माणशील और स्वस्थ प्रभावों का भी स्वागत करना है।

संगीत—अठारहवी शताब्दी मे संगीत और नृत्य की भी उपेक्षा की जाने लगी थी। इस शताब्दी के प्रारम्भ में मुहम्मदशाह अन्तिम मुगल सम्राट था जिसके दरबार मे सगीत को प्रोत्साहन व राज्याश्रय प्राप्त हुआ। इनकी राजसभा मे श्रेष्ठतम सगीतज्ञ थे जिनमे अदारंग और सदारंग प्रमुख थे। ये वीणा के लिए प्रख्यात थे। इन्ही दिनो शोरी ने हिन्दुस्तानी संगीत मे 'टप्पे' का प्रचार किया। मुहम्मदशाह के शासनकाल मे हिन्दू और फारसी संगीत-शैलियो के सम्मिश्रण की सुमधुर ध्वनियों की रचना हुई परन्तु उनमे अधिकतर शृंगारिक थी। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात्त इस कला का ह्रास हो गया और अवशिष्ट कुशल सगीतज्ञ देशी रियासतो मे राज्याश्रय के लिए चले गये। धीरे-धीरे सगीत ऐसे वर्ग के हाथ मे चला गया जिसने सासारिक आमोद-प्रमोद और विलासिता को साधन बना लिया। फलत. लोग संगीत और नृत्य से घृणा करने लगे। जब अंग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हुआ था तो वे दीर्घ काल तक भारतीय-संगीत और नृत्य को समझने मे सर्वथा असमर्थ रहे। वे इसे उपेक्षा और उदासीनता से देखते रहे। पर कतिपय भारतीय संस्कृति के प्रशसक अंग्रेजो ने इसके तत्त्वो को समझा और सर विलियम जोन्स, विलियम ओसर्ले, कप्तान डे और विलर्ड ने भारतीय सगीत और नृत्य की विशेषताओ को पहचान लिया। इसी बीच 1813 ई० में पटना के रईस मुहम्मद रजा ने संगीत पर 'नगमाते आसफी' की रचना की। उत्तर भारत मे संगीत पर इसका खूब प्रभाव पड़ा और उसके राग-लक्षणो का गीतों में अधिक प्रचार हुआ। इसी समय राजस्थान मे सगीत-प्रेमी जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने एक सगीत-सम्मेलन किया जिसके परिणामस्वरूप 'सगीतसागर' नामक ग्रन्थ लिखा गया। 1842 ई० मे कृष्णानन्द व्यास ने कलकत्ता से 'सगीत कल्पद्रुम' नामक एक पुस्तक प्रकाशित करवायी जिसमे हिन्दुस्तानी गीतो का सुन्दर सकलन किया गया था।

दक्षिण भारत मे संगीत का प्रचार बना रहा। तंजौर के राजा तुलजाजी (1763–1787 ई०) की राजसभा मे सगीतज्ञो का खूब आदर-सत्कार होता था। स्वयं तुलजाजी निपुण सगीतज्ञ होने से संगीतज्ञो के उदार आश्रयदाता थे। तुलजाजी ने स्वयं संगीत पर 'सगीत सारामृत' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की भी रचना की। इसी अठारहवी शताब्दी मे श्रीनिवास ने भी सगीत पर 'रागतत्त्व नववोध' नामक सुन्दर ग्रन्थ लिखा। दक्षिण के प्रसिद्ध सगीतज्ञ त्यागराज (1800-50 ई०) तंजौर के ही रहने वाले थे। इनके भजनो व कीर्तनो का प्रचार दक्षिण भारत मे अत्यधिक रहा। सुदूर दक्षिण के कोचीन और ट्रावनकोर के नरेश भी वड़े सगीतप्रिय रहे हैं। वहाँ के पेरूमल महाराज की सगीत-रचनाएँ आज भी संस्कृत, तामिल, तेलगू, मलयालम, मराठी और हिन्दुस्तानी मे उपलब्ध हैं। (पाँपले कृत 'म्यूजिक ऑव इण्डिया', पृष्ठ 20-23; और मिश्र द्वारा लिखित 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य', पृ० 643)

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारतीय पुनरुत्थान और राष्ट्रीय भावना जाग्रत होने पर हमारे देश की महान सास्कृतिक निधि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ और हमने उसे जानना और अध्ययन करना चाहा। इसी बीच भारतीय भापाओ के साहित्यो मे नाटको की वाढ-सी आ गयी और रंगमंच लोकप्रिय होने लगा। फलतः सगीत और नृत्य की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम, वंगाल मे इस दिशा मे प्रगति हुई। राजा सुरीन्द्रमोहन ठाकुर ने सगीत का वृहद इतिहास तथा अन्य अनेक उपयोगी पुस्तको की रचना की। महाराजा जतीन्द्रमोहन ठाकुर और कवीन्द्र रवीन्द्र के वन्धु ज्योतीन्द्र नाथ ठाकुर ने सगीत के पुनरुत्थान मे अत्यधिक योग दिया। धार्मिक क्रिया-विधियों मे भी सगीत को उचित स्थान दिया जाने लगा। राजा राम-मोहन राय और महर्पि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व मे ब्रह्मसमाज ने सारी धार्मिक विधियो मे सगीत को अपनाया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो अपने गीतो से वंगाली संगीत मे इतना अधिक परिवर्तन कर दिया कि वह 'रवीन्द्र सगीत' के नाम से प्रसिद्ध हो चला हैं।

वीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही सगीत की ओर विशेप ध्यान दिया जाने लगा। सगीत के 'पुनरुज्जीवन और प्रचार' के लिए अनेक स्थानो मे 'सगीत समाज' या 'सगीत मंडल' प्रतिप्ठित किये गये। इनमे से कलकत्ता का 'सगीत समाज' और वम्वई का 'ज्ञानोत्तेजक मण्डल' और लाहौर का 'गन्धर्व महाविद्यालय मण्डल' विशेप उल्लेखनीय है। धीरे-धीरे पूना, वड़ौदा, पटना, लखनऊ, ग्वालियर, इन्दौर आदि प्रमुख नगरो मे गायन व वादन की शिक्षा के लिए और सास्कृतिक कार्यक्रम मे सगीत के उपयोग के हेतु शालाएँ, समितियाँ, विद्यापीठ आदि स्थापित किये गये। ऐसे विद्यालयो मे संगीत को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय विष्णु दिगम्वर पलसीकर और भातखण्डे को है। भातखण्डे ने सर्वप्रथम 1915 ई० मे महाराजा वड़ौदा की अध्यक्षता मे अखिल भारतीय सगीत सम्मेलन आयोजित किया। 1919 ई० मे 'अखिल भारतीय संगीत परिपद' (All India Music Academy) की स्थापना की गयी। श्री भात-खण्डे ने सगीत क्षेत्र मे अत्यन्त प्रशंसनीय मिशनरी (Missionary) कार्य किया है। उन्होने अनेक सगीत-सम्मेलनो का आयोजन कर प्रसिद्ध सगीतज्ञो को एकत्र किया और उनके अनुभव तथा प्रख्यात संगीत-ग्रन्थो के आधार पर सारंग, तोड़ी, विलावल आदि अनेक रागो के विविध स्वरूप निर्दिष्ट किये। कतिपय वर्गो मे पूर्व वगाल के सगीतज्ञो ने परम्परागत भारतीय सगीत के क्षेत्र मे, उसके आधारभूत सिद्धान्तो का विना परित्याग किये, पाश्चात्य सगीत विज्ञान और प्रणालियो को अपनाने का प्रयास किया है जिससे गायन और वादन मे सुन्दर समन्वय उत्पन्न हो सके। आजकल शिक्षा

के साथ-साथ जनता की अभिरुचि परिवर्तित हो गयी हे और संगीत को विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम मे स्थान प्राप्त हो गया है एवं शिक्षित-वर्ग ने इसे अपना लिया है। रेडियो और फिल्म-उद्योग ने भी संगीत को खूब प्रोत्साहन दिया है।

नृत्य--सगीत के साथ-साथ भारतीय नृत्य को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। भारतीय नृत्य में पाश्चात्य 'टेकनिक' से सुधार कर उसका पुनरुज्जीवन करने का प्रयत्न किया जा रहा है और इसमे खूब सफलता भी प्राप्त हुई है। वस्तुतः भारतीय नृत्य और भरतनाट्यम्, कथाकली, मनीपुरी और कत्थक का खूब प्रचार हो रहा है। भरतनाट्यम् दक्षिण भारत का है और श्रीमती रुक्मिणी देवी, राधा श्रीराम और रामगोपाल ने इसका व्यापक प्रसार किया है। कथाकली कठिन नृत्य है और साधारणतया इसे पुरुष ही करते है। परन्तु 'लास्य' और 'मोहिनी कथाकली' का नृत्य इतना सुन्दर आकर्षक और प्रभावोत्पादक है कि स्त्रियाँ भी इसे नाचती हैं। कथाकली नृत्य में मैडम सिमकी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह कथाकली का प्राण रही है और यूरोप तथा अमेरिका मे इसने यह नृत्य प्रस्तुत कर भारतीय नृत्यकला का प्रचार किया और पश्चिम मे तहलका मचा दिया। मनीपुर नृत्य कला भी अद्भुत है और इसका प्रचार रामगोपाल ने किया है। परन्तु नृत्य के क्षेत्र में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम उदय शंकर का है जिन्होने नृत्यकला को एक नवीन और अनुपम रूप दिया है। प्राचीन शास्त्रीय संगीत और नृत्य के साथ-साथ लोकगीत और लोक-नृत्य (folk dances) को भी पुनरुज्जीवित करने के प्रयत्न किये गये। भील-नृत्य; सथाल-नृत्य, नागा-नृत्य और इन आदिम जातियो के लोकगीतों को प्रदर्शित किया जा रहा है। लोकगीतों और लोक-नृत्यो पर अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी है। इनमे जन-जीवन की अनुपम झाँकी झलकती है। नृत्यकला की शास्त्रीय और वैज्ञानिक शिक्षा आजकल शान्तिनिकेतन, केरल कला-मण्डलम, कलाक्षेत्र, प्राचीन कुमारी नृत्य संघ आदि संस्थाओ मे दी जा रही है।

नाट्यकला और रगमंच—सगीत और नृत्य के साथ-साथ भारतीय नाट्यकला और रंगमच में भी परिवर्तन हुआ। नाट्यकला प्रारम्भ मे भ्रमण करने वाली रास-मण्डलियों तक ही सीमित थी। धीरे-धीरे इनका स्थान थियेटरो ने ले लिया। दीर्घ काल तक पारसियो द्वारा स्थापित कम्पनियो ने इन थियेटरो मे पाश्चात्य नाट्यकला और रंगमच का भद्दा अनुकरण किया। पुनरुज्जीवन की प्रगति के साथ-साथ इन व्यवसायी नाटक-कम्पनियो के नाटको, नाट्यकला और रगमच में सुधार हुए। वर्तमान सिनेमा-गृहो ने नाट्य-गृहो का स्थान ले लिया है, परन्तु फिर भी बडे-बड़े नगरो में परमार्थ और कला के लिए नाट्य-मण्डल और नाट्य-गृह है। इनमे आधुनिक पाश्चात्य नाटक-प्रणालियो, साधनों और रगमंच का उपयोग होता है। लेकिन अभी तक हमारे देश मे राष्ट्रीय रंगमच का अभाव रहा है।

कतिपय वर्षों में फिल्म- उद्योग ने संगीत व नृत्य के कलाकारो को रोजी देकर कलामय जीवन बनाये रखा है पर फिल्मी निर्देशको और सयोजको को भारतीय संगीत और नृत्य की परम्पराओ का पूर्ण ज्ञान न होने से फिल्मी उद्योग भारतीय सगीत व नृत्यकला को समुचित प्रोत्साहन देने मे असमर्थ रहा है। फिल्मों मे नृत्य व संगीत को पाश्चात्य ढग और 'टेकनिक' पर घसीटा जा रहा है। बेहूदी कविताओ और भद्दे गीतों पर रचा हुआ फिल्मों का अशास्त्रीय सगीत और नृत्य भारतीय जीवन को अधिक ऊँचा न उठा सका। इसके विपरीत, उसने कुत्सित मनोवृत्तियों को जाग्रत कर सामाजिक जीवन को दूषित करने और नैतिकता को विध्वस करने की

चेष्टा की है। सौभाग्य से जनता, सरकार और कतिपय कलाकार अब जाग उठे है और इस दिशा में शीघ्र ही सुधार होने की सम्भावना है।

वैज्ञानिक प्रगति

उन्नीसवी शताब्दी मे पुनर्जागरण के बाद भारतीयों को यह अनुभव होने लगा था कि पाश्चय देशों की प्रभूत प्रगति का प्रमुख कारण अनुसन्धान व अन्वेपण करने की उत्कण्ठा और विज्ञान की उन्नति है। अतएव उन्होंने भी अपने देश मे इस दिशा की ओर कदम बढाने का संकल्प किया। शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया। ज्योतिप तथा गणित की शिक्षा का प्रचार तो था ही, पाश्चात्य ढग की चिकित्सा तथा इजीनियरिंग के अध्यापन का भी प्रबन्ध किया गया। कलकत्ता और बम्बई में मेडिकल कॉलेज और रुडकी इजीनियरिंग कॉलिज स्थापित किये गये। 1876 ई० में महेन्द्रलाल सरकार ने 'वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिपद' स्थापित की जिसने वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान का कार्य प्रारम्भ किया। यद्यपि 1907 ई० तक विज्ञान की विविध शाखाओ के अध्यापन और अध्ययन की कोई भी व्यवस्था व सुविधा विद्यालयो और विश्वविद्यालयो मे न थी, परन्तु फिर भी सर जगदीशचन्द्र बोस ने 1897 ई० मे भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र मे खोज की। पेड़-पौधो मे उनके जीव-विपयक अन्वेषणो ने विज्ञान के क्षेत्र में तहलका मचा दिया और भारतीयो को यह आत्म-विश्वास करा दिया कि विज्ञान पर यूरोपवासियो का ही अधिकार नही है। इसके बाद भारत के अन्य विद्वानों ने भी अपनी वैज्ञानिक योग्यता का परिचय दिया। 1902 ई० में प्रफुल्लचन्द्र राय ने 'हिन्दू रसायन का इतिहास' लिखा जिसमे पाश्चात्य देशों को हमारी रासायनिक प्रगति का परिचय मिला। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय मे विज्ञान के लिए बी० एस सी० और 1980 ई० मे एम० एस-सी० की शिक्षा की सुविधा व व्यवस्था हो गयी। 1914 ई० मे इसी विश्वविद्यालय मे विज्ञान का पृथक कालिज स्थापित किया गया। 1911 ई० मे टाटा के उदार दानो से भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र मे अन्वेपण और अनुसन्धान-कार्य करने के हेतु दक्षिण भारत में बंगलौर मे 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' की स्थापना की गयी। इसी वर्ष विज्ञान के क्षेत्र मे प्रयोग और अनुसन्धान-कार्य करने मे आर्थिक सहायता देने के लिए 'इण्डियन रिसर्च फण्ड एसोसिएशन' खोला गया। भारत मे विज्ञान की उन्नति करने, अनुसन्धान के कार्य को प्रोत्साहित करने और सर्वसाधारण को उससे अवगत कराने, वैज्ञानिको मे परस्पर सम्पर्क व सहयोग उत्पन्न करने और विज्ञान मे जनता की अभिरुचि बढाने के लिए 1914 ई० मे 'इण्डियन साइन्स कॉग्रेस एसोसिएशन' की स्थापना की गयी। यह आज भी वार्पिक सम्मेलनों तथा अन्य प्रणालियो द्वारा विज्ञान के क्षेत्र मे प्रशसनीय कार्य कर रही है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों ने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दिया और विश्व मे अत्यधिक यश प्राप्त किया। श्रीनिवास रामानुजम् ने 1918 ई० में गणितज्ञों को अपनी विलक्षण बुद्धि से आश्चर्यचकित कर दिया। 1920 ई० मे जगदीशचन्द्र बोस ने पेड़-पौधो के क्षेत्र मे, 1930 ई० में भौतिक-विज्ञान मे चन्द्रशेखर वेकटरमण और 1931 ई० में मेघनाद साहा ने अपनी मौलिक खोजो से बड़ा नाम पाया। श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमण को तो अपनी खोज के लिए 1939 ई० मे 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ। इन्होने भौतिक-विज्ञान मे खोज के कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए बगलौर मे 'रमण इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स' की स्थापना की। बीरबल साहनी ने वनस्पति-विज्ञान मे अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। इन वैज्ञानिक अन्वेपणो व

अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप शिक्षा में विज्ञान को उत्तरोत्तर श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त होने लगा। धीरे-धीरे भारत के अनेक कॉलिजों और विश्वविद्यालयों मे विज्ञान की ऊँची शिक्षा दी जाने लगी तथा परीक्षा और अनुसन्धान की व्यवस्था की गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय युद्धकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत मे वैज्ञानिक अनुसन्धानों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और इसमे खूब प्रगति हुई। 1940 ई० मे भारत सरकार ने 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान की परिषद्' की स्थापना की। युद्धकालीन आवश्यकताओं के लिए विज्ञान तथा उद्योग के सम्बन्ध में अनेकों अनुसन्धान-समितियाँ विविध विश्वविद्यालयों और वैज्ञानिक संस्थाओं मे खोज का कार्य करने मे संलग्न हो गयी। इन समितियों ने रासायनिक रंगों, प्लास्टिक व्यवसाय, रेडियो एव अन्य उद्योगों के क्षेत्र मे सन्तोषजनक कार्य किया। इन्ही दिनो रसायन-शास्त्र और भौतिक विज्ञान मे भी अनुसन्धान हुए। फलस्वरूप, चन्द्रशेखर रमण के शिष्य श्रीकृष्णन को 1940 ई० मे भौतिक विज्ञान में खोज करने के लिए, 1943 ई० मे शान्तिस्वरूप भटनागर को रसायनशास्त्र में भौतिक खोज करने के कारण और इसी प्रकार भाभा, चन्द्रशेखर और महालनोबिस को अनुसन्धान-कार्य करने के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई और ये सभी विश्वविख्यात 'रॉयल सोसाइटी' के सदस्य बना लिये गये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात 1948 ई० सरकार की ओर से वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए एक अलग विभाग खोला गया और इसके लिए एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिषद् भी प्रतिष्ठित की गयी। धीरे-धीरे वैज्ञानिक अनुसन्धान में अनुराग व अभिरुचि की वृद्धि हुई और जनता तथा राष्ट्रीय सरकार दोनों ही इस क्षेत्र मे द्रुत गति से आगे बढ़े। फलत शासन ने अणु-शक्ति की खोज के लिए एक पृथक विशिष्ट समिति स्थापित की। इसके अतिरिक्त पूना मे राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, दिल्ली में राष्ट्रीय भौतिकशास्त्र की प्रयोगशाला, जमशेदपुर में राष्ट्रीय धातुशोधनशाला, धनबाद मे राष्ट्रीय ईंधन अनुसन्धानशाला और दिल्ली मे केन्द्रीय शीशा व चीनी के बर्तनों की अनुसन्धानशाला भी स्थापित की गयी है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के हेतु अन्य केन्द्रीय प्रयोगशालाओं के निर्माण की योजनाएँ भी हैं (श्री हरिदत्त वेदालंकार कृत 'भारत का सास्कृतिक इतिहास', पृष्ठ 272)। भौतिक-विज्ञान और रसायन-विज्ञान के अतिरिक्त वनस्पति-विज्ञान, पशु-पक्षी-विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान, मनुष्य-शरीर रचना-विज्ञान में भी प्रगति की जा रही है। भूगर्भ विषयक प्रगति के लिए जियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (Geological Survey of India) जिसकी स्थापना 1851 ई० में हुई थी और पशु-पक्षी-विज्ञान के और शारीरिक-विज्ञान के लिए जूलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया (Zoological Survey of India) जिसकी स्थापना 1916 ई० मे हुई थी और वनस्पति-विज्ञान के हेतु बॉटेनिकल सर्वे ऑव इण्डिया (Botanical Survey of India) प्रशंसनीय कार्य कर रहे है। इन्होंने अनेक व्यावहारिक वैज्ञानिकों को शिक्षण देकर तैयार किया है तथा वैज्ञानिक अध्ययन और आर्थिक उपयोगिता के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है।

उपसंहार

1947 ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात सरकार और जनसाधारण का ध्यान भारतीय सस्कृति व सभ्यता के पुनरुद्धार की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गया है। केन्द्रीय सरकार ने एक सांस्कृतिक ट्रस्ट की योजना भी बनायी है तथा भारतीय सस्कृति सम्बन्धी एक केन्द्रीय सस्था दिल्ली मे स्थापित भी कर दी गयी है। यूरोप और अमेरिका जैसे पाश्चात्य महाद्वीपों की जनता भारत की सभ्यता व संस्कृति

को समझने के लिए उत्सुक है । भारत विषयक ज्ञान के लिए वह जागरूक है, क्योंकि आधुनिक भौतिकवाद में आक्रान्त होकर वह विविध यन्त्रणाएँ भोग रही है और बडे-बडे वादों के अन्दर लुप्त स्वार्थों से वह रौंदी जा रही है। पश्चिम की आधुनिक वैज्ञानिक सस्कृति के अणु-बम ने तो विश्व की सुख-शान्ति को भयंकर खतरे में डाल दिया है । फलतः पश्चिमी देश भारत की ओर देख रहे है । भारत अपनी संस्कृति के अध्यात्मवाद द्वारा उन्हे शाश्वत शान्ति का अनुभव करा सकता है । परन्तु भारतीय सस्कृति प्रगतिशील विज्ञान से पृथक् हो जाने के कारण जडवत् हो गयी है । उसे पश्चिम का भौतिकवाद और विज्ञानवाद अपनाना होगा और अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए साहित्य, कला, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म सभी मे भारतीय आदर्शों को लेकर प्रगति करनी होगी ।

भारतीय सस्कृति जिसमें सुदूर-अतीत से ही आर्य, द्राविण, ईरानी, यूनानी, चीनी, मुस्लिम आदि विभिन्न सस्कृतियो का सम्मिश्रण होता रहा, आज भी उतनी विशाल होनी चाहिए कि उसमे पाश्चात्य सभ्यता व सस्कृति का मिश्रण हो जाय । हमें आज ऐसी मानवीय सस्कृति की आवश्यकता है जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय सस्कृति का ही एकीकरण न हो अपितु जिसमे पूर्व और पश्चिम के समन्वय का विकास भी हो । भारतीय सस्कृति ही इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है और भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ पूर्व व पश्चिम की सस्कृतियो का सुखद सम्मिलन और सामजस्य हो सकता है । इसी पर समस्त मानव-जाति का सतत् कल्याण निर्भर है ।

प्रश्नावली

1. भारत मे अंग्रेजो की व्यावसायिक और आर्थिक नीति क्या थी ? उसका देश की प्रगति पर क्या प्रभाव पडा ?
2. आधुनिक युग मे भारत के आर्थिक विकास का सक्षेप में वर्णन कीजिए ।
3. ब्रिटिश शासनकाल मे भारत व्यापार व उद्योग का सक्षिप्त इतिहास लिखिये और बताइये कि भारतीय समाज पर अग्रेजो की आर्थिक नीति का क्या प्रभाव पडा ?
4. भारतीय उद्योग-व्यवसाय आधुनिक युग के प्रारम्भ मे क्यो अवनत हो गये थे ?
5. भारत मे औद्योगिक श्रम के विकास का विवेचन करते हुए उसके सुधार करने के प्रयत्नो पर प्रकाश डालिये ।
6. कृषि की प्रगति पर टिप्पणी लिखिये और कृषि तथा कृषक की दशा सुधारने के लिए अँग्रेज सरकार ने जो कार्य किये उन पर प्रकाश डालिये ।
7. ग्राम-सुधार पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिये ।
8. भारत के आर्थिक जीवन के आधुनिकीकरण पर एक रोचक निबन्ध लिखिये ।
9. भारतीय समाज के दोषों का वर्णन कीजिये और उनको दूर करने के लिए किये गये प्रयत्नो का उल्लेख कीजिये ।
10. "उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे धर्म और समाज मे सुधारवादी आन्दोलनो की बाढ सी आ गयी ।" इस कथन की पुष्टि कीजिये ।

अथवा

उन्नीसवी सदी में भारत मे हुए सुधारवादी आन्दोलन का सक्षेप मे वर्णन कीजिये ।

11. "राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के पिता माने जाते है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

अथवा

"राजा राममोहन राय ही को भारत के आधुनिक युग के उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है" (रवीन्द्रनाथ टैगोर)। इस कथन का विवेचन कीजिये।
12. आधुनिक युग में साहित्यिक जाग्रति के क्या कारण थे? भारत के विकसित लोक-साहित्य की विशेपताओं पर प्रकाश डालिये।
13. हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी और गुजराती इनमें से किसी एक की साहित्य-प्रगति पर रुचिकर निबन्ध लिखिये।
14. आधुनिक युग मे भारत की विविध ललितकलाओ के पुनरुज्जीवन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये।
15. क्या आप इस मत से सहमत है कि केवल ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही भारत मे राष्ट्रीय एकता की भावना सफल हो सकी?
16. "भारत के आधुनिकीकरण का श्रेय अग्रेजों को है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।
17. दयानन्द सरस्वती अथवा रामकृष्ण परमहस के धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का उल्लेख कीजिये।
18. टिप्पणियाँ लिखिये :

प्रार्थनासमाज, महादेव गोविन्द रानाडे, शान्तिनिकेतन, सोसाइटी ऑव सर्वेन्ट्स ऑव इण्डिया, स्वामी विवेकानन्द, Ancient Monument Preservation Act, हरिजन आन्दोलन, श्रीदयानन्द अहमदिया आन्दोलन, रामकृष्ण मिशन, डॉ० कुमारस्वामी, आधुनिक भारतीय चित्रकला और संगीत, श्री रामकृष्ण परमहंस, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमण, राजा राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, असहयोग आन्दोलन, थियोसोफीकल सोसाइटी, ब्रह्मसमाज, वकिमचन्द्र चटर्जी, विश्वभारती और आधुनिक युग मे वैज्ञानिक प्रगति।

पुस्तक के अन्तिम दो अध्याय—"भारत मे शिक्षा" और "आधुनिकीकरण,, लिखने में सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित डॉ० ईश्वरीप्रसाद कृत 'भारतवर्ष का इतिहास;' इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित डॉ० सरकार व डॉ० दत्त कृत 'मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री'; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रो० हरिदत्त वेदालकार कृत 'भारत का सांस्कृतिक विकास,' तपेश्वरी साहित्य मन्दिर, कानपुर' द्वारा प्रकाशित प्रो० विद्यार्थी कृत 'इण्डियाज कल्चर थ्रू एजेज'; इण्डियन प्रेस; इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित डॉ० ईश्वरीप्रसाद कृत 'भारतवर्ष का इतिहास—भाग 2' दिल्ली; हिन्दी प्रकाशन मण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित गगाशकर मिश्र कृत 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य' और जेको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई द्वारा प्रकाशित शिशिरकुमार मित्र कृत 'डिवीजन ऑव इण्डिया' तथा अन्य विभिन्न ग्रंथोमे अधिक सहायता ली गयी।

सहायक ग्रन्थों की सूची

[प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में लेखक ने अधोलिखित हिन्दी व अंग्रेजी ग्रन्थों से अधिक सहायता ली है। इनकी सहायता के बिना पुस्तक लिखना असम्भव था। अतएव वह उनके विद्वान अनुभवी लेखकों और उदार प्रकाशकों का हृदय से अत्यन्त ही आभारी है।]

हिन्दी

(1) भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

(2) भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार,
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

(3) प्राचीन भारत का इतिहास—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी,
नन्दकिशोर एण्ड ब्रादर्स, वाराणसी।

(4) भारत का इतिहास, भाग 1 और 2—डॉ० ईश्वरीप्रसाद,
इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

(5) भारतीय सभ्यता—सुखसम्पत्तिराय भण्डारी,
महावीर ग्रन्थ प्रकाशन मन्दिर, भानपुरा, म० प्र०।

(6) भारतीय संस्कृति का विकास—बी० एल० शर्मा,
लक्ष्मी प्रकाशन मन्दिर, खुर्जा।

(7) भारतीय संस्कृति और अहिंसा—धर्मानन्द कोशम्बी,
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।

(8) भारत की प्राचीन सस्कृति—रामजी उपाध्याय,
किताब महल, इलाहाबाद।

(9) भारत का इतिहास—भाग 2—विश्वेश्वरप्रसाद,
सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

(10) भारत में ब्रिटिश साम्राज्य—गंगाशंकर मिश्र,
बिरला हिन्दी प्रकाशन मण्डल, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

(11) प्राचीन भारत } मूल लेखक—श्री निवासाचारी तथा रामास्वामी आयंगर
अनुवादक—गोरखनाथ चौबे,

(12) मुगल भारत प्रकाशक—रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

(13) उर्दू साहित्य का इतिहास—ब्रजरत्नदास,
हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी।

(14) हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल,
काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

(15) प्राचीन भारत का कला-विकास—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
(16) भारतीय चित्रकला } रायकृष्णदास,
(17) भारतीय मूर्तिकला } नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
(18) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा।

अंग्रेजी

1. Majumdar, R. C., Ray Chaudhary, H. C. & Dutta, K. : An Advanced History of India (Macmillan & Co. Ltd , Bombay).
2. Sarkar, J. N. : India Through Ages (M. C. Sarkar & Sons, Calcutta).
3. Pannikar, K. M. : A Survey of Indian History (National Information & Publication Ltd., Bombay).
4. Ishwari Prasad : Short History of Muslim Rule in India (Indian Press, Allahabad).
5. Ghosh, N. N. : Early History of India (Indian Press, Allahabad).
6. Ishwari Prasad : The History of Medieval India (Indian Press, Allahabad).
7. Tara Chand : Influence of Islam on Indian Culture (Indian Press, Allahabad).
8. Sarkar & Dutta : Modern Indian History, Vol. II (Indian Press, Allahabad).
9. Cultural Heritage of India—3 Vols (Ramakrishna Centenary Committee, Calcutta).
10. Majumdar & Altekar : A New History of Indian People, Vol. VI (Moti Lal Banarsi Dass, Lahore).
11. Luniya, B. N. : Evolution of Indian Culture (Lakshmi Narain Agarwal, Agra).
12. Mitra, Sisir Kumar : The Vision of India (Jaico Publishing House, Bombay).
13. Vidyarthi, M. L. : India's Culture Through the Ages (Tapeshwari Sahitya Mandir, Kanpur).
14. Rawlinson & Seligman : A Short Cultural History (The Cresset Press, London).
15. Humayun Kabir : Our Heritage (The National Information & Publications Ltd., Bombay).
16. Ishwar Topa : Our Cultural Heritage.
17. Rawlinson, H. G. : Intercourse Between India and the Western World.
18. Nehru, Jawahar Lal : The Discovery of India.
19. Mukerji, R. K. : Hindu Civilization.
20. Roy, D. N. : The Spirit of Indian Culture (Calcutta University).

21. Archaeology in India (Ministry of Education, New Delhi).
22. Dutt : Indian Culture (Calcutta University).
23. Thomas : Indianism and its Expansion (Calcutta University).
24. Winternitz, M. : A History of Indian Literature (Calcutta University).
25. Percy Brown : Indian Painting (Y M. C. A., Calcutta).
26. Percy Brown : Indian Architecture, 2 Vols (Taraporewala & Sons, Bombay).
27. Lew, N. R. : History and Culture (Luzac & Co., London).
28. Jhaveri, Krishna Lal, M. : Milestones in Gujarati Literature (N. M. Tripathi & Co. Ltd., Bombay).
29. Sharma, S. R. : Renaissance of Hinduism (Hindu University, Varanasi).
30. Zacharias, H. C E. : Renascent India.
31. Andrews, C. E. : Indian Renaissance.
32. Fergusson, J , Burgess, J. & Spiers, R. P. : History of Indian and Eastern Architecture (John Murray, London).
33. Longman's History of India from Beginning to A. D. 1526 (Orient Longmans, Bombay).
34. Cambridge History of India, Vols. I—VI (Relevant Portions).
35. Majumdar, R. C. : Ancient Indian Colonies in the Far East. Vol. I—Champa, Vol. II—Suvarnadvipa (Modern Publishing Syndicate, Calcutta).
36. Shah, K. T. : The Splendour that was 'Ind' (Taraporewala & Sons, Bombay).

अधोलिखित पुस्तकों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का विवरण है। इनकी भी सहायता अप्रत्यक्ष रूप से ली गयी है।

1. Ray Chaudhary, H. C. : Political History of Ancient India.
2. Acharya, P. K. ; Elements of Hindu Culture and Sanskrit Civilization.
3. Dutta, R C. : History of Civilization in Ancient India.
4. Grierson : Modern Vernacular Literature of Hindustan.
5. Farquhar, J. N. : Modern Religious Movements in India.
6. Havell, E. B. : Indian Sculpture and Painting.
7. Smith, V. A. : History of the Fine Art in India and Ceylon.
8. Coomarswamy, A. K : History of Indian and Indonesian Art.
9. Sir Philip Hartog : Indian Education—Past and Present.
10. Arthur Matthew : Education of India.
11. Ranade, M. G : Religious and Social Reforms.
12. Havell, B. E. : Essay on Indian Art, Industry and Education.

13. Iyengar, P. T. : Life in Ancient India.
14. Kohli, S. R. : Indus Valley Civilization.
15. David Rhys : Buddhist India.
16. Law, B. C. : Buddhistic Studies.
17. Kern : Manual of Indian Buddhism.
18. Banerji, R. D. : Age of the Imperial Guptas.
19. Jouvean Dubreuil : Ancient History of the Deccan.
20. Bhandarkar, R. G. : Early History of the Deccan.
21. Senart : Castes in India.
22. Blunt : Caste System of Northern India.
23. Dutt : Origin and Growth of Caste in India.
24. Chatterji, Bijanraj : India and Java.
25. Chatterji, Bijanraj : Indian Cultural Influence in Cambodia.
26. Travels of Fa-Hien.
27. Watters : On Yuan Chwang.
28. Farquhar : Outine of the Religious Literature of India.
29. Ray Chaudhary, H. C. : Early History of the Vaishnava Sect.
30. Bandarkar, R. C. : Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Movements.
31. Moreland : India from Akbar to Aurangzeb.
32. Edward & Garret : Moghul Rule in India.
33. Sarkar, J. N. : Studies in Moghul India.
34. Smith, V. A. : Oxford History of India.
35. Law, N. N. : Promotion of Learning in India During Muhammadan Rule.

में हुई। उसने राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत होकर मराठों को सैनिक समुदाय में संगठित किया और बीजापुर तथा मुगल सेनाओं को पराजित कर भयंकर प्रतिरोध के होने पर भी हिन्दू राज्य की स्थापना की। स्वदेश-भक्त, वीरयोद्धा, सेनापति, शासक और राजनीतिज्ञ के रूप में शिवाजी अपने समकालीन लोगो में अधिक उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित थे।

शिवाजी का उत्तराधिकारी उनका पुत्र शम्भाजी (1680–1689 ई०) हुआ। औरगजेब ने उसे वन्दी वनाकर उसका वध कर दिया और उसके अबोध पुत्र शाहू को अपने संरक्षण में ले लिया। इसके वाद मराठों की स्वतन्त्रता के लिए मुगलों से एक दीर्घकालीन युद्ध प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात शाहू महाराष्ट्र में लौट आया और सतारा में राजगद्दी पर वैठा। शाहू के शासनकाल मे महाराष्ट्र में शक्तिशाली पेशवाई शासन-विधि का प्रादुर्भाव हुआ। द्वितीय पेशवा वाजीराव (1720–1740 ई०) ने हिन्दू-पद-पादशाही के सिद्धान्त की घोषणा की जिसका अभिप्राय यह था कि अखिल भारतीय हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की जाय और महाराष्ट्र उसका केन्द्र हो। तृतीय पेशवा वालाजी वाजीराव (1740–1761 ई०) के शासनकाल में यह कल्पना मूर्त्त स्वरूप हो गयी और मराठा साम्राज्य के अन्तर्गत लगभग समस्त भारत आ गया। 1757 ई० में जब मराठों ने अपने मनमाने ढंग से कठपुतली मुगल सम्राट की सन्धि की शर्तें लिखवायी तब मराठों ने मुगलो की प्रभुसत्ता को सम्पूर्णत: नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अब दिल्ली में मुगल सम्राट की केवल छाया ही शासन कर रही थी। परिणामस्वरूप, 1761 ई० में पानीपत के रणक्षेत्र में अफगान शासक अहमदशाह के नेतृत्व में मुस्लिम सत्ताओं और मराठों के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। यद्यपि पानीपत के युद्ध का परिणाम मराठो के विपक्ष में हो गया, तथापि वे इस आघात से शीघ्र ही सँभलकर उठ खड़े हुए।

1761 ई० के पश्चात उत्तर भारत में मराठा शक्ति सामन्तवादी बड़े मराठा नरेशों (ग्वालियर के सिन्धिया, इन्दौर के होल्कर, नागपुर के भोसले और बड़ौदा के गायकवाड़) द्वारा स्थापित की गयी। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थ भाग मे अंग्रेजो ने धीरे-धीरे एक के वाद दूसरी इन चारों सत्ताओ को पराजित कर दिया और स्वतन्त्र मराठों का अन्तिम चिह्न विलुप्त हो गया।

मुगलों के अन्तर्गत जीवन[1]

डॉक्टर वेनीप्रसाद ने अपने ग्रन्थ 'जहाँगीर' मे लिखा है कि "मुगलों का एक सांस्कृतिक साम्राज्य था।" प्रोफेसर एस० आर० शर्मा ने अपनी पुस्तक, "The Crescent in India" में मुगल सस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मुगल संस्कृति के तत्त्व विशुद्ध रूप से न तो हिन्दू है और न मुस्लिम, परन्तु दोनो का सुन्दरतम समन्वय है। प्रारम्भिक मुसलमानो ने प्रत्येक वस्तु जो हिन्दू थी, विनष्ट कर दी, पर मुगलो ने उनको अपने मे मिलाकर, उनका एकीकरण कर अमर सास्कृतिक तत्त्वो की रचना की। सच वात तो यह है कि दिल्ली-सुलतानो के शासन से उत्तरार्द्ध मे सामजस्य,

---

1. यह प्रधानतया निम्नलिखित पुस्तकों पर आधारित है :
   (a) An Advanced History of India by Dr. R. C. Majumdar and others, (contd.)

सहिष्णुता और सहयोग की जो प्रवृत्तियाँ समुचित हुई थी, मुगल शासन मे वे पूर्णतया प्रस्फुटित हुई एवं सुन्दर सास्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई। इसकी छाप हमारे सास्कृतिक जीवन के विभिन्न अंगो पर आज भी दृष्टिगोचर होती है। मुगल शासन मे आर्थिक समृद्धि और शान्तिमय जीवन ने इस सास्कृतिक समन्वय व विकास में पूर्ण सहयोग दिया।

सामाजिक दशा

समाज की रचना—मुगलकाल मे समाज सामन्तवादी आधार पर संगठित था जिसमे बादशाह सर्वप्रधान था। बादशाह के नीचे शासकीय सामन्त थे जिनके विशिष्ट अधिकार, सुविधाएँ एव सम्माननीय पद होते थे। यह सामन्त-वर्ग इच्छानुकूल शासन चलाता था। इन सामन्तो मे विभिन्न श्रेणियाँ व स्तर थे। यद्यपि सामन्तवाद मे विदेशी तत्त्व भी सम्मिलित थे, परन्तु किसी को भी धन-द्रव्य बाहर ले जाने की आज्ञा नही थी। सामन्तो के नीचे छोटा और मितव्ययी मध्यम-वर्ग था और इसके नीचे निम्न-वर्ग थे।

भोग-विलासपूर्ण उच्च जीवन का स्तर—सामन्त लोग धन-द्रव्य और सुख-सुविधाओ मे डूबे रहते थे और धनाढ्य लोग अपने पास साधनो की प्रचुरता के कारण भोगविलास, ऐश्वर्य और मद्यपान मे सलग्न रहते थे। मुगल पदाधिकारी भी आमोद-प्रमोद मे अपना जीवन व्यतीत करते थे। भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन मुगल राज दरबार और मुगल-युग के सम्मान के लिए एक आवश्यक वस्तु थी। उच्च-वर्गो के वस्त्र, भोजन और जीवन-निर्वाह एव रहन-सहन मे भी विलासिता की आभा झलकती थी। इसमे धनवान और सामन्तो के जीवन-स्तर तथा साधारण लोगों के जीवन-स्तर से वृहद् अन्तर होना स्वाभाविक था। इस युग में भारतीय राजसभाओ और सामन्तो के जीवन मे सबसे अधिक आकर्षक तत्त्व भोग-विलास की अतुलनीय भावना थी। बादशाह का दरबार धन और सस्कृति का केन्द्र था। अकबर ने ही मुगल दरबार के दिव्य और शानदार जीवन का सूत्रपात किया। जब कभी सम्राट बाहर पर्यटन करने जाते थे, तब किसी भी रूप मे उनकी शान-शौकत मे कमी नही होती थी और राजधानी भी अपनी दिव्यता और भव्यता के साथ भ्रमण करती थी। दूरस्थ प्रदेशो मे युद्ध-सचालन करते समय भी शाही दरबार के रग-ढग मे विरक्ति की कोई भावना नही रहती थी। सम्राट, दरबार और अपने सरक्षकों का अनुकरण करके सामन्त भी अपव्यय और भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे। राजवश, सामन्त और उच्च-वर्ग के लोगो के जीवन का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक सुख, विलास व ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करना था, यद्यपि उनमे दानशीलता, वीरता, विद्या-प्रेम आदि गुण थे। उनमे गर्व और आत्मसम्मान कूट-कूट कर भरा था। वे शोषक थे और श्रमिको व निम्न श्रेणी के लोगो द्वारा उत्पन्न धन का अपव्यय करते थे। वेश-भूषा, भोजन और जीवन के ढगो मे सामन्तो और उच्च-वर्गो ने ऐश आराम की भावना प्रदर्शित की। वे बेल बूटेदार कपडे, छपे हुए रेशम और मलमल के वस्त्र बडे-बडे सामन्तो की साधारण वेश-भूषा थी। बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करना बादशाह और दरबारी अपनी शान समझते थे। भोजन बहुमूल्य, अत्युत्तम, विशिष्ट व स्वादिष्ट होता था,

(b) The Cambridge History of India, Vol. IV.
(c) Muslim Rule in India by Dr. Ishwari Prasad.